श्रीमद्भगवद्गीता

शाङ्करभाष्यं उपक्रमणिका

ओंनारायणःपरोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम् । अण्डस्यान्तस्त्विमेलोकाःसप्त द्वीपाचमेदिनी ॥१॥ सभगवान्सृष्ट्वेदंजगत्तस्यचस्थितिंचिकीर्षुर्मरीच्यादीनग्रेसृष्ट्वा प्रजापतीन्प्रवृत्तिलक्षणंधर्मंग्राहयामासवेदोक्तंततोऽन्यांश्च सनकसनन्दनादीनुत्पाद्य

भाषा अनुवाद

इस संसारमे यह सब किसीके इच्छा रहती है कि दुख दूर होय और निरन्तर सुख मिलै परन्तु उसको कोई उपाय बिनाजाने बहुतेरे लोग अनेक अनेक यतन करि वेद पुराण निहारि हारिबैठे और अपने मनके मनोरथको न पहुंचे तब परम दयालु भगवान वासुदेव श्रीकृष्णजीने उसको एक अति उत्तम उपायरूप गीताशास्त्र महाभारतके बीच अर्जुनको उपदेश किया जिसमे ज्ञान निष्ठा और ज्ञाननिष्ठाका कारणरूप जो कर्मनिष्ठा अर्थात् कर्मके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है यही दोनो निष्ठा मे प्रवृत्त कहे कहता हुआ जो गीताशास्त्र तिसका तात्पर्य कहनेके लिये भगवान भाष्यकार शंकराचार्य सकल इतिहास पुराणोंके साथ गीताकी एकवाक्यता अर्थात् किसीसे विरोध नहीं है यह जनाते हुये ग्रन्थके आरम्भमे अन्तर्यामी परमेश्वर का प्रतिपादक कहे कहनेवाला एक पुराणका श्लोक मङ्गलाचरण किया है ॥ उसका अर्थ यह है कि जो अव्यक्तनाम माया जगत्की प्रकृति तिससे प्रगट सकल स्थावर जङ्गमकी शरीर समूहमे अधिष्ठित कहे टिके जो सकल जीव तिनके आश्रयभूत अन्तर्यामी नारायण हैं और उसी मायासे अंडाकार यह ब्रह्मांड प्रगट भयाहै कि जिस ब्रह्मांडके भीतर सकल

निवृत्तिधर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास। द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। तत्रैको जगतः स्थितिकारणं प्राणिनां साक्षादभ्युदयनिःश्रेयसहेतुर्यः सधर्मो ब्राह्मणाद्यैर्वर्णिभिराश्रमिभिः श्रेयार्थिभिरनुष्ठीयमानो दीर्घेण कालेन अनुष्ठातॄणां कामोद्भवाद्धीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेनाधर्मेणाभिभूयमाने धर्मे प्रवर्द्धमाने चाधर्मे जगतः स्थितिं परिपालयिषुः स आदिकर्त्ता नारायणाख्यो विष्णुर्भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवादंशेन कृष्णः किल सम्बभूव ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद्वैदिको धर्मस्तदधीनत्वाद्वर्णाश्रमभेदानां। स च भगवान् ज्ञानैश्वर्य्यशक्तिबलवीर्य्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् स्वमायया देहवानिव जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन्निव लक्ष्यते स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयमर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नायोपदिदेश गुणाधिकैर्हि गृहीतोऽनुष्ठीयमानश्च धर्मः प्रचयं

भाषा अनुवाद

लोक और समुद्र समेत यह सातद्वीपवसुन्धरा जो पृथिवी सो धरी भई है ॥ १॥

सोई नारायण जगतको सिर्जन करि इस सृष्टिके पालन करनेके लिये मरीचि अत्रि आदि दश प्रजापतियोंको पहले उत्पन्न किया और उनको वेदविहित प्रवृत्ति लक्षण धर्मकी शिक्षा दिया फेर सनकादिकोंको उपजाय उनको ज्ञान वैराग्य निवृत्ति लक्षण धर्मका उपदेश किया। जो वैदिक कहे वेदविहित धर्म दो प्रकारका है पहला जगतकी स्थिति करनेवाला जिसको प्रवृत्ति लक्षण कहते हैं दूसरा मुक्तिका देनहार निवृत्ति लक्षण है जिसको ब्राह्मण आदि चारों वरण औ चारो आश्रमी अपने कल्याणके अर्थ अनुष्ठान अर्थात् धारण करते हैं ॥

जगतमें लोगोंकी कामनावशसे विवेकज्ञानके नाशक अधर्मकी वृद्धि भई तो जगतकी स्थिति कहे पालनकी इच्छा करिके वही आदि कर्त्ता नारायण ब्राह्मण औ ब्राह्मणके आधीन वेदविहित धर्मको रक्षाके निमित्त देवकीके गर्भमें वसुदेवसे अंश रूप आप प्रगट भये। सोई भगवान सदा ज्ञान ऐश्वर्य्यशक्ति बल वीर्य तेजसे सम्पन्न कहे युक्त अपनी वैष्णवी त्रिगुणमयी मायाको अपने वश करके और आप मुक्तरूप मायाके द्वारा उत्पन्न भये ऐसे देखपड़ेथे अपने किसी प्रयोजनके विना भी लोगों

गमिष्यतीति। तंधर्म्मंभगवतायथोपदिष्टंवेदव्यासःसर्वज्ञोभगवान् गीताख्यैःसप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध। तदिदंगीताशास्त्रंसमस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतंदुर्विज्ञेयार्थं तदर्थाविष्करणायानेकैर्विवृतपदपदार्थवाक्यार्थन्यायमप्यत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेनलौकि कैर्गृह्यमाणमुपलभ्याहंविवेकतोर्थनिर्द्धारणार्थंसंक्षेपतोविवरणंकरिष्यामि। तस्या स्यगीताशास्त्रस्यसंक्षेपतः प्रयोजनंपरंनिःश्रेयसंसहेतुकस्यसंसारस्यात्यन्तोपरमलक्षणं तच्चसर्व्वकर्म्मसन्न्यासपूर्व्वकादात्मज्ञाननिष्ठारूपाद्धर्म्माद्भवतितथेममेवगीतार्थधर्म्ममुद्दि श्यभगवतैवोक्तंसहिधर्म्मःसुपर्य्याप्तोब्रह्मणः पदवेदनइत्यनुगीतासुकिञ्चान्यदपितत्रैवो क्तंनैवधर्म्मीनचाधर्म्मीनचैवहिशुभाशुभी। यःस्यादेकासनेलीनस्तूष्णींकिञ्चिदचिन्त यन्। ज्ञानंसन्न्यासलक्षणमितिच। इहापिचान्तेउक्तमर्जुनायसर्व्वधर्म्मान्परित्यज्य मामेकंशरणंव्रजेति। अभ्युदयार्थोपियः प्रवृत्तिलक्षणोधर्म्मोवर्णाश्रमांश्चोद्दिश्यविहि तःसचदेवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपिसन्नीश्वरार्पणबुद्ध्यानुष्ठीयमानःसत्त्वशुद्धयेभवतिफला भिसन्धिवर्जितःशुद्धसत्त्वस्यचज्ञाननिष्ठायोग्यता प्राप्तिद्वारेणज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन

भाषा अनुवाद

पर अनुग्रह प्रकाश करिके प्रगटे जिसमे इस धर्मको सबलोग जानिकारि ग्रहण करें क्योंकि बडोंके आचरण किये हुये धर्मको सबलोग ग्रहण करेंगे यह विचारि श्रीकृष्णजी ने संग्राम के बीच शोकसागरमे निमग्न कहे डूबे हुये अर्जुनसे वेदोक्त प्रवृत्ति निवृत्ति दोना प्रकारके धर्म उपदेश किया था सोई भगवत्का कहा हुआ उपदेश सात सै श्लोकमे सर्वज्ञ भगवान वेदव्यासजी ने यह गीता निबन्ध किया अर्थात् बनाया सकल वेदोके अर्थका सारसंग्रह स्वरूप इस गीता का तात्पर्यार्थ लोगो को अति दुर्ज्ञेय कहे जानवे योग नहीं है इसी से बहुतोने यद्यपि इस गीताका अर्थ प्रकाश किया तौभी साधारण लोग उसका उलटा भाव अर्थ ग्रहण करलेते है यह जानि कै यथावत कहे ठीक ठीक अर्थ निर्धारण करनेके लिये हम संक्षेपमे विवरण करनेमे प्रवृत्त भये है दुःखरूप इस संसारसे उपरतिरूप जो निर्वाण कहे मुक्ति सोई गीताशास्त्रका प्रयोजन है परन्तु सर्वकर्म परित्याग पूर्वक ज्ञाननिष्ठारूप निवृत्ति धर्मके अनुष्ठान करने से वह प्रयोजन सिद्ध होता है अनुगीता आदि ग्रन्थोमे भगवान् आप यही सकल

चनिःश्रेयसहेतुत्वमभिप्रतिपद्यतेतथाचेममर्थमभिसन्धायवक्ष्यतिब्रह्मण्याधायकर्माणि यतचित्ताजितेन्द्रियाः। योगिनःकर्मकुर्वन्तिसङ्गंत्यक्त्वात्मशुद्धये इति। इमं द्विप्रकारंधर्मं निःश्रेयसप्रयोजनंपरमार्थतत्त्वञ्चवासुदेवाख्यं परब्रह्माभिधेयभूतंविशेषतोऽभिव्यञ्जयन्विशिष्टप्रयोजनसम्बन्धाभिधेयवद्गीताशास्त्रंयतस्तदर्थविज्ञानेनसमस्तपुरुषार्थसिद्धिरतस्तद्विवरणेयत्नःक्रियतेमया अत्रच धृतराष्ट्रउवाच धर्मक्षेत्र इत्यादि।

भाषा अनुवाद

अभिप्राय प्रमाणरूप प्रगट देखाया है और जो वर्णआश्रमके विषयमें जगत का स्थिति साधन करने सहायक कर्मनिष्ठारूप प्रवृत्तिलक्षण धर्म इसमें कहीं कहीं कहा है वह यद्यपि देवादिलोक प्राप्तिका हेतु है पर तौभी ईश्वरार्पण बुद्धि से किया हुआ चित्तशुद्धिके साथ ज्ञाननिष्ठाकी योग्यताके द्वारा निर्वाण मुक्तिका साधनहोताहै यह बात इसी ग्रन्थमें पीछू कही जायगी इसी भांति निर्वाणमुक्तिका कारणरूप दो प्रकारका धर्म और वासुदेव जो परब्रह्मपरमार्थ तत्त्व सोई विशेष रूपसे प्रगट करते विशेष प्रयोजन अभिधेय औ सम्बन्धविशिष्ट इस गीताशास्त्रके अर्थ ज्ञानसे सब पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं इसलिये इसका तात्पर्य खोलनेको मैं यत्न करताहूं इस विषयमें धृतराष्ट्र ने कहा कि हे सञ्जय इत्यादि।

इति शाङ्करभाष्य उपक्रमणिका॥

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथम अध्याय।

धृतराष्ट्रउवाच। धर्मक्षेत्रेकुरुक्षेत्रेसमवेतायुयुत्सवः। मामकाःपाण्डवाश्चैव
किमकुर्वतसञ्जय ॥ १ ॥ सञ्जयउवाच। दृष्ट्वातुपाण्डवानीकंव्यूढंदुर्योधनस्तदा।

भाषा अनुवाद

नेत्रहीन धृतराष्ट्र युद्धमे संदेह करते हुये प्रशंसा वाक्यसे धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रका विशेषण देकर आत्महितकारी सञ्जयसे पूछा कि हे सञ्जय धर्मक्षेत्र धर्मभूमि जो कुरुक्षेत्र वहां मेरे पुत्र दुर्योधन आदिक और पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिरादि सब युद्ध की इच्छा करिके इकट्ठे हो क्या करतेहैं इससे यह आया कि धृतराष्ट्रके पूर्वपुरुषों मे कोई कुरुनाम राजा थे जिनका यह कुरुक्षेत्र धर्मस्थान है वहां धर्म वृद्धि होय संग्राम छोड मेल करके राज्यका विभाग तो न कर देंयगे यह भीतरी अभिप्राय है और रणभूमि मे सैन्यदल देखि सशंकित कहे डरे से कौन है क्या धीरवीर भीष्मपितामह के साथ मेरी प्रबल सेना को देखि शत्रुवोंको भय भई है या हिंसा की भय दोनो मानि संग्राम से निवृत्त हो जायंगे यह धृतराष्ट्र सञ्जय से पूछते है पाण्डवा यह सम्बोधन दे कर जनाया कि मेरे भाई पाण्डु रोगी थे और उन को मृग रूप धरि मैथुन करत हुये ऋषिने शाप भी दिया था कि जब तुम स्त्रीसंग करोगे तुर्त मरजावगे तो फेर युधिष्ठिरादि मेरे भाई के पुत्र कैसे हो सकते है इस से ये जारज है और राज्य के लिये लडने को आये कुरुक्षेत्र से यह इन का सोलह आना अन्याय है और मामका कहने से झलकाया कि मेरे पुत्र जो कुरुक्षेत्र गये सो अपने बडों के स्थान पर गये कुछ अन्याव नहीं किया पर इन का आवना पराई जगह अन्याय है ॥ १ ॥ तब सञ्जयने धृतराष्ट्र से कहा कि

आचार्यमुपसङ्गम्यराजावचनमब्रवीत् ॥२॥ पश्यैतांपाण्डुपुत्राणामाचार्य्यमहतींचमूं व्यूढांद्रुपदपुत्रेणतवशिष्येणधीमता ॥ ३ ॥ अत्रशूरामहेष्वासाभीमार्जुनसमायुधि ॥ युयुधानोविराटश्चद्रुपदश्चमहारथः ॥ ४ ॥ धृष्टकेतुश्चेकितानःकाशिराजश्चवीर्य वान् । पुरुजित्कुन्तिभोजश्चशैव्यश्चनरपुङ्गवः ॥ ५ ॥ युधामन्युश्चविक्रान्तउत्तमौ जाश्चवीर्यवान् । सौभद्रोद्रौपदेयाश्चसर्व्वएवमहारथाः ॥ ६ ॥ अस्माकन्तु विशि

भाषा अनुवाद

राजा पांडुपुत्र युधिष्ठिरादिका सैन्यदल व्यूहाकार रचना रचित युद्धके लिये तयार खडा देखि आप के पुत्र राजा दुर्य्योधन द्रोणाचार्य के निकट जाय कर वच्यमाण यह बात कही है इस से यह जानाया कि भय औ शंका तुमारे ही पुत्र को भई है कि घवडाय के गुरू के निकट दौड गये ॥ २ ॥ सोई दुर्य्योधन की सब बातें सञ्जय नव श्लोकसे कहते हैं कि हे आचार्य देखियेतो यह युधिष्ठिरका सैन्यदल जिस को आपका शिष्य द्रुपद का पुत्र बुद्धिनिधान धृष्टद्युम्न ने रचा है सो महात्मा आप के सामने बडे विस्तारमे युद्ध करने को तयार निडर खडा है इस से यह आया कि जिस मे द्रोणाचार्य्य क्रोध करैं ॥ ३ ॥ और इस सेना के बीच युद्ध करने मे भीम अर्जुन के समान धनुर्धारी महाबली और और कितने योद्धा हैं तिन के नाम दुर्य्योधन द्रोणाचार्य से कहते हैं कि युयुधान जो सात्यकी और राजा विराट महारथी द्रुपद राजा ॥ ४ ॥ और धृष्टकेतु चेकितान राजा औ बलवान काशीराज औ पुरुजितराजा कुन्तिभोज औ शैव्य ये सब राजा नरश्रेष्ठ औ बलवान हैं ॥ ५ ॥ पराक्रमी युधामन्यु नाम राजा और बलवान उत्तमौजा नाम एक राजा और सुभद्राके पुत्र अभिमन्यु औ द्रौपदीके गर्भसे युधि ष्ठिरादि पांचजनेसे उत्पन्न प्रतिविंद्यादि पांचभाई ये सब महारथी वीर हैं महा रथीका लक्षण जो अस्त्रशस्त्रमे निपुण हो दश हजार धनुर्धारी योद्धोंके साथ अकेला युद्ध कर सके उसी को महारथी कहते हैं और असंख्य योद्धोंके साथ युद्ध करने मे जो समर्थ उसे अतिरथी शास्त्र मे कहते हैं और एक योद्धा के साथ जो युद्ध करे सोरथी है उस से भी कम अर्द्धरथी कहावते हैं ॥ ६ ॥ जो प्रबल शत्रु सेनादल देखि डरे से बोलते हो तो मेल क्यों न करलो लडाई से क्या फल

ष्टायेतान्निबोधद्विजोत्तम । नायकाममसैन्यस्यसंज्ञार्थंतान्ब्रवीमिते ॥ ७ ॥ भवान्
भीष्मश्चकर्णश्चकृपश्चसमितिञ्जय. । अश्वत्थमाविकर्णश्चसौमदत्तिर्जयद्रथ. ॥ ८ ॥
अन्येचबहव.शूरामदर्थेत्यक्तजीविताः । नानाशस्त्रप्रहरणा.सर्वेयुद्धविशारदाः ॥९॥
अपर्य्याप्तंतदस्माकंबलंभीष्माभिरक्षितं । पर्य्याप्तन्त्विदमेतेषांबलंभीमाभिरक्षितं ॥१०॥
अयनेषुचसर्वेषुयथाभागमवस्थिता. । भीष्मनेवाभिरक्षन्तुभवन्त.सर्वएवहि ॥ ११ ॥

भाषा अनुवाद

है ऐसा द्रोणाचार्य न कहैं इस शङ्का से दुर्य्योधन कहता है कि मेरे पक्ष मे जो नायक कहे सेनापति है वे सब आप से छिपे नहीं हैं तौभी उन के नाम आप को स्मरण कराने के लिये कहता हूं ॥ ७ ॥ साढ़े ये दो श्लोक से कहते हैं कि संग्रामविजयी आप औ भीष्मपितामह कर्ण कृपाचार्य्य अश्वत्थमा विकर्ण औ सोम दत्त का पुत्र भूरिश्रवा औ जयद्रथ ये सब वीर अपनी ओर हैं तो फेर डर किस बात का है यह आशय जानो ॥ ८ ॥ अब कहते हैं कि और भी धीर वीर शूर जो मेरे अर्थ प्राण परित्याग करने की निश्चय करि राखे हैं और नाना प्रकारके शस्त्र चलावनेवाले तथा युद्धविद्यामे विशारद कहे अति निपुणवे सब लोगभी आप की कृपा से इधर तयार हैं ॥ ९ ॥ इस के अनन्तर दुर्य्योधन ने जो कहा सोई धृतराष्ट्र से सञ्जय कहते हैं कि ऐसे ऐसे शूर वीरों से भरी पूरी और भीष्म पितामह से रक्षित हो के भी हमारी सेना अपर्य्याप्त कहे पाण्डव की सेना के साथ युद्ध करनेमे असमर्थ सो जानी जाती है और विपक्ष पाण्डवों का अपूर्ण दल आलसी भीमसेन से रक्षित पर्य्याप्त अर्थात् समरमे समर्थ सो देख पड़ै है । दूसरा अर्थ दुर्य्योधन अपने हृदयकी निडरता प्रकाश करते हुये द्रोणाचार्य्यसे कहते है कि हमारा ग्यारह अक्षौहिणी सैन्य दल महात्मा बुद्धिमान भीष्मपितामह जिस को हरतरह से रक्षा करते है निसन्देह शत्रुवों का पराभव करने को समर्थ है और इन बिचारों की एकतो सात अक्षौहिणी मात्र थोडी सेना दूसरे चपलबुद्धि महा गवांर भीमसेन से परिपालित है कहो हमारा सामना क्या करेगा पराभव करना अर्थात् जितना तो बडी दूर है ॥ १० ॥ इस से अब तुम सब लोगों को यही करना उचित है कि शत्रु के सैन्यदल के भीतर प्रवेश करने का क्रम से

तस्यसंजनयन्हर्षंकुरुद्धःपितामहः । सिंहनादंविनद्योच्चैःशंखंदध्मौप्रतापवान्॥१२॥
ततःशङ्खाश्चभेर्यश्चपणवानकगोमुखाः । सहसैवाभ्यहन्यन्तसशब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥
ततःश्वेतैर्हयैर्युक्तेमहतिस्यन्दनेस्थितौ । माधवःपाण्डवश्चैवदिव्यौशङ्खौप्रदध्मतुः ॥१४॥
पाञ्चजन्यंहृषीकेशोदेवदत्तंधनञ्जयः । पौण्ड्रंदध्मौमहाशङ्खंभीमकर्मावृकोदरः
॥१५॥ अनन्तविजयंराजाकुन्तीपुत्रोयुधिष्ठिरः । नकुल-सहदेवश्चसुघोषमणिपु
ष्पकौ ॥१६॥ काश्यश्चपरमेष्वासःशिखण्डीचमहारथः । धृष्टद्युम्नोविराटश्चसात्य

भाषा अनुवाद

अलग अलग हो अपनी अपनी रणभूमि पर खडे हो कर भीष्मजी की सब कोई रक्षा करो जिस मे और कोई शत्रु की ओर का योधा पीछू से इनको न मारने सकै इस की अभिप्राय यह है कि भीष्मजीं के बल से हमारा जीवन है ॥ ११ ॥ तब तो ऐसी ऐसी राजा दुर्योधन की सनमान और अपनपौ की बातें सुनि भीष्मजीने जो किया सो कहते है कि दुर्योधनके सन्तुष्ट होने के कारण कुरुवंश के वृद्ध पितामह उछल के आगे बढि सिंहनाद करि के शङ्ख को बडे धुधुकार शब्द से बजाया ॥ १२ ॥ भीष्म पितामह की युद्ध मे ऐसी उत्साह देखि सकल सेना के सरदार लोग जिस भांति युद्ध उत्सव मे प्रवृत्त भये सोई कहते है कि तदनन्तर शङ्ख भेरी कहे तूर ही पणव जो ढ्दङ्ग अनक जो नगारा गोमुख वाद्य विशेष तत्काल एक बारगी जो समोने बजाया तो वह शब्द एक बडा आश्चर्यभूत भयानक धूधूकार भया कि पृथिवी दहल उठी ॥ १३ ॥ तिस के बादि पाण्डवों की सेना मे युद्ध की तयारी पांच श्लोक से कहते है कि इधर तो हंस से श्वेत वरण चार हय संयुक्त सूर्य के समान प्रकाशमान रथ पर सवार श्रीकृष्ण औ अर्जुन ने भी अति उत्तम दोनो शङ्ख धुधुकारे कि तीन लोक हिल उठे ॥ १४ ॥ अब किसने कौन शङ्ख बजाया सो कहते है कि पाञ्चजन्य नामक शङ्ख श्रीभगवान ने और अर्जुनने देवदत्त नाम शङ्ख बजाया फेर भीमकर्मा भीमसेनने भयानक पौंड्र नामक महाशङ्ख बजाया ॥ १५ ॥ तिस के अनन्तर अनन्तविजय नाम शङ्ख कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने बजाया और सुघोष नाम शङ्ख नकुलने औ मणिपुष्प नाम सहदेवने बजाया ॥ १६ ॥ और धनुर्धारी काशीराज शिखण्डी औ धृष्टद्युम्न

किश्चापराजितः ॥१७॥ द्रुपदोद्रौपदेयाश्चसर्वशःपृथिवीपते । सौभद्रश्चमहाबाहुः शङ्खान्दध्मुःपृथक्पृथक् ॥१८॥ सघोषोधार्त्तराष्ट्राणांहृदयानिव्यदारयत् । नभश्च पृथिवींचैवतुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥१९॥ अथव्यवस्थितान्दृष्ट्वाधार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वजः । प्रवृत्तेशस्त्रसंपातेधनुरुद्यम्यपाण्डवः । हृषीकेशंतदावाक्यमिदमाहमहीपते ॥२०॥ अर्जुनउवाच । सेनयोरुभयोर्मध्येरथंस्थापयमेऽच्युत ॥२१॥ यावदेतान्निरीक्षेहंयोद्धुकामानवस्थितान् । कैर्मयासहयोद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥ योत्स्यमानानवेक्षेहं यएतेऽत्रसमागताः धार्त्तराष्ट्रस्यदुर्बुद्धेर्युद्धेप्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥ सञ्जय उवाच ॥

भाषा अनुवाद

तथा विराट राजा और युद्ध मे अपराजित जो सात्यकी ॥ १७ ॥ और द्रुपद राजा तथा द्रौपदी के पांच पुत्र प्रतिविन्ध्यादि और सुभद्रा के पुत्र महाबाहु अभिमन्युजी हे पृथ्वीनाथ धृतराष्ट्र ये सब के सब भिन्न भिन्न ध्वनि करने लगे ॥ १८ ॥ वही उन सबों की शङ्खध्वनिने तुमारे पुत्र दुर्योधन और उन के पक्षपातियों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया और वह ध्वनि प्रतिध्वनिरूप से आकाश औ पृथिवीतल मे व्याप्त हो छाय रही ॥ १९ ॥ उस समय मे अर्जुनने श्रीकृष्णजी को जो जनाया सो चार श्लोक से सञ्जय धृतराष्ट्र के निकट प्रगट करते हैं कि हे महाराज धृतराष्ट्र इस प्रकारकी शङ्ख ध्वनि होने पर भी तुमारे भगवान से यह बात कही ॥ २० ॥ श्रीकृष्ण से अर्जुन इतनी ही बात कहो कि पुत्र लोगों को उत्साह युद्ध मे देख कर कपिध्वज अर्जुनने धनुष चढ़ाय उस काल हे अच्युत दोनो दलके बीच मेरे रथको खडा करो ॥ २१ ॥ जो कहो कि क्या तमासगीर हो कि खडे हो देखोगे तुम तो आप योद्धा लडनेवाले हो इससे सेना के मध्य रथ किस लिये खडा किया जायगा इस बात पर कहते है कि उतनी देर रथ खडाकरो कि जबतक हम देखें कि युद्धको कामना करि खडी भई सेनाके बीच किस के साथ लडना हमें उचित है ॥ २२ ॥ दुर्बुद्धि दुर्योधन का मनोरथ सिद्ध करने के अर्थ जो राजा लोग इस युद्ध भूमि पर आय इकठ्ठे भये हैं उन को जब तक हम देखें तबलों रथ दोनो सेना के मध्यमे स्थापन करो ॥ २३ ॥ तिस के बाद क्या भया सो कहते हुवे सञ्जय बोले कि हे महाराज धृतराष्ट्र अर्जुन की

एवमुक्तोहृषीकेशोगुडाकेशेनभारत　सेनयोरुभयोर्मध्येस्थापयित्वारथोत्तमं ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्चमहीक्षिताम्।　उवाचपार्थपश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति
॥२५॥　तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थःपितॄनथपितामहान्। आचार्य्यान्मातुलान्भ्रातॄन्
पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।　श्वशुरान्सुहृदश्चैवसेनयोरुभयोरपि ॥२६॥　तान्
समीक्ष्यसकौन्तेय सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।　कृपयापरयाविष्टोविषीदन्निदमब्रवीत्
॥२७॥　अर्जुनउवाच।　दृष्ट्वेमान्स्वजनान्कृष्णयुयुत्सून्समवस्थितान्।　सीदन्ति
ममगात्राणिमुखञ्चपरिशुष्यति ॥२८॥　वेपथुश्चशरीरेमेरोमहर्षश्चजायते।
गाण्डीवंस्रंसतेहस्तात्त्वक्चैवपरिदह्यते॥ २९॥　नचशक्नोम्यवस्थातुंभ्रमतीवचमे

भाषा अनुवाद

यह प्रार्थना सुनिके श्रीकृष्ण दोनो सेनाके बीचमे उस उत्तम रथको ले जाय कर खडा किया ॥२४॥ फेरि भीष्म द्रोण औ और और राजावोके सामने रथको खडा करिके श्रीभगवानने कहा कि युद्ध करनेके हेतु एकट्ठी हुयी यह कुरुवंशीयों की सेनाको देखो और जिनके साथ युद्ध अनुचित मानि तुमारा मन मलीन भया है इनके साथ युद्ध करना ही पडेगा क्यों कि संग्राममे शस्त्रधारी राजों के सामने से हटना क्षत्री के योग्य काम नही है ॥ २५ ॥ तहां खडे हुये चचा दादा आचार्य्य मामा भाई भतीजे पाते नाती औ मित्र बन्धु ससुर सुहृदो को दोनों तरफ अर्जुन ने देखा ॥ २६ ॥ तो सो कुन्तीपुत्र अर्जुन उन सब बंधुवो को लडने के लिये संग्राम मे खडे देखि परम कृपा से युक्त अति कातर स्वभाव हो विषाद करते भये यह वचन बोले ॥ २७ ॥ उस समय अर्जुन ने जो कहा सो संजय कहते है कि हे राजा तब अर्जुन कृष्णसे बोले कि हे श्रीकृष्ण युद्ध की इच्छा करि संग्राम भूमिमे खडे हुये इन स्वजन बंधुवोको देखि मेरे हाथ पाव ढीले होगये और सारी शरीरमे पसीना पसीना हो आया मुख भी सूखता जाता है ॥ २८ ॥ और देह कांपती है रोवा खडे हो हो उठते हाथसे गाडीव धन्वा भी गिरापडता है सर्वांगकी खाल जली सी जाती है ॥२९॥ और मेरे अब खडे होनेकी सामर्थ्य भी नहीं रही मेरा मन भ्रमता है और निमित्त असगुन भी उलटे पुलटे देखता हूं बांई आंख और हाथ भी फरकते है ॥३०॥ इससे मैं अपना अब कल्यान नही देखता हूं

मनः। निमित्तानिचपश्यामिविपरीतानिकेशव॥ ३०॥ नचश्रेयोनुपश्यामिहत्वा स्वजनमाहवे। नकांक्षेविजयंकृष्णनचराज्यंसुखानिच॥ ३१॥ किंनोराज्येन गोविन्दकिंभोगैर्जीवितेनवा। येषामर्थेकांक्षितंनोराज्यंभोगाःसुखानिच॥ ३२॥ तइमेऽवस्थितायुद्धेप्राणांस्त्यक्त्वाधनानिच। आचार्याःपितरःपुत्रास्तथैवचपितामहाः ॥ ३३॥ मातुलाःश्वशुराःपौत्राःश्यालाःसम्बन्धिनस्तथा। एतान्नहन्तुमिच्छामि घ्नतोपिमधुसूदन॥३४॥ अपित्रैलोक्यराज्यस्यहेतोःकिन्नुमहीकृते। निहत्यधार्त्त राष्ट्रान्नःकाप्रीतिःस्याज्जनार्दन॥ ३५॥ पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः। तस्मान्नार्हावयंहन्तुं धार्त्तराष्ट्रान्सबान्धवान्। स्वजनंहिकथंहत्वासुखिनःस्याम

भाषा अनुवाद

कि स्वजन बंधु वों को संग्राम मे मारके हे कृष्ण नहीं चहिये हमै विजय और नराज्य और सुख की भी इच्छा हमै नहीं है॥ ३१॥ देखो क्या कर ना हमै राज्य लेकर हे गोविन्द और भोगसे भी मुझे क्या काम है और जीने से भी हमै क्या प्रयोजन है कि जिनके वास्ते हम राज्य भोगओर सुख की आकांक्षा करते है वेई पांडव प्राणधन छोड के मेरे सामने संग्राम मे खड़े है और आचार्य पितृ पितामह पुत्र पौत्र येई सकल देख पड़े है॥ ३२॥३३॥ जो कहो कि कृपा करिके चाहो तुम इन्हे छोडो पर ये सब संग्राम मे अब तुमको मारें होगे विनमारे किसी तरह न छोडेगे इससे तुम इन सबको संहार करिके राज्य भोग क्योन करो तो हे मधुसूदन ये लोग चाहें हमैं मारें परन्तु मारते हुये भी मामा नाती पोते भतीजे ससुरे संबंधी इन को हम मारने की इच्छा नहीं करते है॥ ३४॥ जिन को हम तीन लोक की राज्य संपदा के वास्ते भी मारने की इच्छा नही रखते तो हे जनार्द्दन केवल पृथिवी भर की राज्य के हेतु दुर्य्योधन आदि की नाश करि के हमारी काप्रीति अर्थात् कौन बडा कार्य्य सिद्ध होगा तात्पर्य यह कि कुटुम्बको नाश करि हमको संसार का कोई सुख नही है॥३५॥ जो कहो कि घरमे आगलगावे या विष पिलाय मारे अथवा वध करने को खड्ग उठावे और धन हरन करे या भूमि छीनले और स्त्रीहरिले ये छवो आततायी कहावते हैं इनके मारने मे दोष नहीं है ऐसा शास्त्र अर्थात् नीतिमे लिखा हैं

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वितीय अध्यायः ।

सञ्जय उवाच । तन्तथाकृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणं । विषीदन्तमिदंवाक्य
मुवाचमधुसूदनः ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच । कुतस्त्वाकश्मलमिदंविषमेसमुपस्थि
तम् । अनार्य्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥ माक्लैव्यंगच्छकौन्तेयनैतत्
त्वय्युपपद्यते । क्षुद्रंहृदयदौर्बल्यंत्यक्त्वोत्तिष्ठपरन्तप ॥ ३ ॥ अर्जुन उवाच ।

भाषा अनुवाद

अहिंसा परम धर्म है इस से भिक्षाकरि निर्वाह करना हीं हमें उचित है ऐसी ये सब अर्जुन की बातैं सञ्जय के मुख से सुनि और युद्ध से विमुख अर्जुनको जानि अपने पुत्र का अचल राज्य मानि मन प्रसन्न स्वस्थ हृदय धृतराष्ट्र को देखि फेरि सञ्जय धृतराष्ट्र की उस दुष्ट आशा को दूर करते हुये यह वचन बोले कि हे राजन इस प्रकार कृपायुक्त अश्रुधारा पूर्ण लोचन विषाद करते हुये अर्जुन से दुखमोचन श्रीभगवान ब्रह्मविद्या जो ज्ञान तिससे प्रबोध करते हुये यह वचन कहते भये सो सुनो ॥ १ ॥ अर्जुनको कातर देखि यह वचन श्रीकृष्ण बोले कि हे अर्जुन ऐसे असमय मे लड़ाई के बीच मूरख कायर क्रूरकपूत शास्त्र विहीन मनुष्यों के योग्य जो लोक मे दुर्यश करने वाला है औ अस्वर्ग्य कहे जिससे स्वर्ग जाय और नरक मिले ऐसा कश्मल अर्थात् मोह अर्जुन इस नामसे भूतलमे प्रसिद्ध धीरवीर तुम ऐसे पुरुष को आय कर प्राप्त भया यह बड़ाही आचरज है ॥ २ ॥ फेर भी भगवान अर्जुन से कहते है कि हे परन्तप शत्रु संहार करनेवाले अर्जुन हे कौन्तेय कुन्तीपुत्र अब तुम वीरभावको छोड इस क्लीब कहे नपुंसकके भावको न

कथंभीष्ममहंसंख्येद्रोणञ्चमधुसूदन। इषुभिःप्रतियोत्स्यामिपूजार्हावरिसूदन ॥
४ ॥ गुरूनहत्वाहिमहानुभावान्श्रेयोभोक्तुंभैक्ष्यमपीहलोके। हत्वार्थकामांस्तु
गुरूनिहैवभुञ्जीयभोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥ नचैतद्विद्मःकतरन्नोगरीयोयद्वा

भाषा अनुवाद

गही यह तुमारे योग्य नहीं है इस आचरण के करने से तुमारी शोभा जगतमे कुछ नहीं होगी इससे इस क्षुद्र कहे तुच्छ हृदय की दुर्बलता कहे कादरपन को छोड कर हमारे कहने से उठो और धीरज धरि धर्म के अनुसार कार्य करो कुन्तिपुत्र सम्बोधन देने से जनया कि मातृस्वभाव कन्या को होता है पुत्रको तो पितृस्वभावही उचित है और परन्तप कहने से सोचाया कि उठ कर शत्रुवोंको मारलो तुम अनेक वार संग्राममे जय पाय चुके हो क्यों घवडाते हौ ॥ ३ ॥ इस प्रकार भगवतसे प्रबोध कराये भी गये अर्जुन तौ भी शोकग्रस्त महा व्याकुल अपने मनका मनोरथ प्रकाश करते हुये कृष्ण भगवान से फेरि कहने लगे कि हे मधुसूदन पूजा करनेके योग्य जो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य तिनसे संग्राम में हम वाणोंसे कैसे युद्ध करैं औ उनको मारैं कि जिनके साथ हम वचनसेभी संग्राम करने की बात नही कर सकते है तो हे अरिसूदन कहे शत्रुनाशन साक्षात् युद्ध कैसे करैं इहा शत्रुनाशन कहनेसे अभिप्राय यह कि यत्न कहे उपायसे शत्रु नाश करने वाले हौ ॥४॥ फेर भी अर्जुन कहते है कि यद्यपि युद्ध करना राजों का धर्म है तौ भी लोभसे जीविका ही के अर्थ वे लोग युद्ध मे अनर्थ रूप पाप करते है और जो कहो कि इन लोगों को विना मारे तुमारी देहयात्रा कहे जीवनवृत्ति भोजन, वस्त्र भी न चलेगा तो निर्वाह कहो संसार मे कैसे होगा इस बात पर अर्जुन कहते है कि जिस लिये महानुभाव महात्मा गुरू लोगों को न मार के भीषमांग खाना भी मेरेजान लोक परलोकमे श्रेय कहे अति उत्तम कल्याण रूप है और नहीं गुरू आदि वडे लोगों को मारिके उनके लोहूसे लपटे भये भोग हम चाहते है क्यों कि जो आप यह कहो कि परलोक मे जो होगा सो होगा किसने देखा है अब जो उपस्थित है सो करो तो कहते हैं कि केवल परलोक ही मे दुख नहीं है यहां भी दुर्यश औ सन्ताप रूप दुख होता ही है और जो कहो कि रहै

जयेमयदिवानोजयेयुः । यानेवहत्वानजिजीविषामस्तेवस्थिताःप्रमुखेधार्त्तराष्ट्राः ॥
६ ॥ कार्पण्यदोषोपहतस्वभावःपृच्छामित्वांधर्मसंमूढचेताः । यच्छ्रेयःस्यान्निश्चि
तंब्रूहितन्मेशिष्यस्तेहंशाधिमांत्वांप्रपन्नम् ॥ ७ ॥ नहिप्रपश्यामिममापनुद्याद्यच्छो
कमुच्छोषणमिन्द्रियाणां । अवाप्यभूमावसपत्नमृद्धंराज्यंसुराणामपिचाधिपत्यं ॥८॥

भाषा अनुवाद

परलोक यहां लोकमे तो सुख मिलेगातो है श्रीकृष्ण तुच्छ अल्प सुखके हेतु मुक्ति और स्वर्गलोकमे यश ऐसी बडी वस्तु कौन मूर्ख छोडेगा ॥५॥ और जो कदाचित हम अधर्म अङ्गीकार करैं तौभी तो हमारी जय या पराजय क्या होयगी यह भी तो हम नहीं जानतेहै कि दोनो मे क्या होगा सोई कहतेहै कि होय हमी रणमे उनको जय करलें नतुवा वेई सबहमे जीतैं परन्तु हमारी जीत होने से भी विचार कर देखो कि वह हमारी हारही है क्यों कि जिनको नाश करिके हम फेरि और संसार मे प्राणधारण करना नहीं चहते हैं सोई धृतराष्ट्रके पुत्र सब इकट्ठे हुये रणभूमिमे हमारे सामने युद्धके अर्थ खडे है ॥६॥ इन कुटुम्बके लोगों का वध करिके हम अपने प्राण कैसे करि राखैंगे इस चिन्ता को कार्पण्य कहते और दोष जो कुलक्षय कृत पापहैं यही दोनो वातोंसे हमारी शूरता नष्ट होगई अर्थात् चली गई इस से अब धर्मके विचार मे भी हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है कि संग्राम छोड भिक्षान्नसे भोजन करना क्षत्रिय को उचित कि अनुचितहै इस संदेह से व्याकुल होय हम अब आपही से पूछते है कि जिस मे हमारा अत्यन्त परम कल्याण होय सो आप क्षमा करिके हमसे कहो क्यों कि हम आपके शिष्य औ शर णागत है हमैं अब और कुछ नही सूझै है शरणागतपर दया करना आप ऐसे महात्मोको उचित है ॥७॥ जोकहो कि तुमहीं आप अपने मनसे विचारकरके जो करने योग्य होय सो करो न क्यो तिसपर कहते है कि इन्द्रियोंकी चैतन्य शक्तिका नाश करनेवाला जो यह शोक हमै आपके प्राप्त भयाहै सो किसीभी उपायसे दूर होगा यह हम किसीभी भांतिसेनही देखतेहै और यद्यपि हम निष्कण्टक पृथिवी भरका राज्य करैं या देवाधिपत्य कहे स्वर्गका राज्य इन्द्रपदभी प्राप्त करैं अर्थात् पावैं तौभी इसशोकसागरके पार जानेकी कोइ उपायहमनहीं देखतेहैं ॥८॥ इस

सञ्जय उवाच । एवमुक्त्वाहृषीकेशंगुडाकेशःपरन्तप. । नयोत्स्यइतिगोवि न्दमुक्त्वातूष्णींबभूवह ॥९॥ तमुवाचहृषीकेश.प्रहसन्निवभारत । सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदंवचः ॥१०॥ श्रीभगवानुवाच ॥ अशोच्यानन्वशोचस्त्वंप्रज्ञावादांश्च

भाषा अनुवाद

प्रकारकी वातैं भगवानसे कहके अर्जुनने फेर क्याकिया सो सञ्जय धृतराष्ट्रसेकहते है कि निद्राविजयी शत्रुनाशन धनञ्जय अर्जुननेभगवानसे कहा कि हेगोविन्द हम युद्ध न करेंगे जो होय सो होय यह कहिकार रथकेउपर मौन होय वैठ रहे ॥९॥ तिसके अनन्तर क्या भया सो संजय कहते है कि दोनो सेना के वीच मे विषाद को प्राप्त भये अर्जुन को सम्बोधन करि भगवान हंसते हुये वच्यमाण ये वचन कहने लगे हे भारत धृतराष्ट्र सुनो ॥१०॥ यह ग्रन्थ प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक से ले कर और द्वितीय अध्यायके दशवें श्लोक तक जो तीन वाक्य है तिन के मध्य मे प्रथम अध्याय के दूसरे श्लोक से ले के द्वितीय अध्याय के नवये श्लोक पर्य्यन्त यो वाक्य व्याख्या करने के योग्य है क्यो कि उस मे प्राणियों के सांसारिक दुख का कारणभूत जो शोक मोहादि रूप दोष तिसकी उत्पत्ति का हेतु रूपअहङ्कार यो कारणस्वरूप अविद्या वर्णन की गई है और राज्य आदि ममता रूप भ्रान्तिज्ञान निमित्तक स्नेह देखाया औ उस के वियोग से उत्पन्न स्नेह मोह भी देखाया है अर्जुन अपना चत्रिय का जो धर्म्म युद्ध करना तिसमे आपही प्रवृत्त हो के भी जिस शोक मोहके द्वारा विवेकज्ञानसे रहित हो कर युद्धसे विरक्त और परधर्म भिक्षा मे प्रवृत्त भये ये ठीक है शोक मोहयुक्त प्राणीमात्र वहुधा स्वधर्म छोड परधर्म अङ्गीकार कर लेते हैं और जो स्वधर्म मे प्रवृत्त है वे भी फल की कामना से अह ङ्कार पूर्व्वक प्रवृत्त होते है । इस कारण धर्म अधर्म की प्रवलताके हेतु सेउत्तम अधम जोनियोंमे जन्म और सुख दुःख आदि प्राप्ति रूप यह संसार किसी प्रकार छूटता नही इस से शोक मोह ये दोनो संसार होने के कारण है केवल संन्यास पूर्व्वक आत्मज्ञान निष्ठाके विना शोकमोहके निवारणकी और कोई उपाय न देखि भगवान वासुदेव लोकके उपर अनुग्रह करते हुये अर्जुनको उपलक्षण करि इस गीताशास्त्र मे सोई ज्ञाननिष्ठा का उपदेश करते है । इसविषयमे कोई कहते

भाषा अनुवाद

है कि सर्व्व कर्म परित्याग करि के केवल आत्मज्ञानसे मुक्ति नहीं होती है परन्तु श्रुति स्मृति विहित कर्मनिष्ठा के सहित जो तत्त्वज्ञाननिष्ठा है उस से कैवल्यमुक्ति प्राप्ति होती है इस मे प्रमाण इसी गीताके दूसरे अध्यायमे ३३ ४७ आदि श्लोकों से कहा है और युद्ध आदि कर्म भी क्षत्री को अधर्म नहीं है वलु उस के न करने से दोष है यह भी इसी द्वितीय अध्याय के ३३ श्लोक मे निश्चय करिके कहा है। तो उपर की उक्त अभिप्राय अत्यन्त असत् है कि जिस हेतु ज्ञाननिष्ठा औ कर्म निष्ठा दोनो पृथक पृथक कहा है अर्थात् इसी द्वितीय अध्याय के ११ श्लोक से ले कर ३१ श्लोक तक जो परमार्थ तत्त्व निरूपण किया गया है तद्विषयक बुद्धि का नाम सांख्य बुद्धि और सोई बुद्धि युक्त ज्ञानी भी सांख्य कहावते है और इस सांख्य बुद्धि उत्पन्न होनेके पूर्व्व देहादि व्यतिरिक्त कहे भिन्न जो आत्मा उसको कर्तृत्व आदि की अपेक्षा करि के धर्म अधर्म विचार पूर्वक जो मोक्ष का साधन रूप योग निरूपण अर्थात् कहा गया है तद्विषयक बुद्धि का नाम योगबुद्धि है सोई बुद्धियुक्त कर्मी पुरुष का भी नाम योगी है इस प्रकार से दोनो निष्ठा दिखाई है उन के बीच सांख्य नाम ज्ञाननिष्ठा औ योग रूप कर्मनिष्ठा ये दोनो भी आगे पृथक पृथक कही जायगी इसीसे सांख्य बुद्धिका आश्रय ज्ञाननिष्ठा औ योगबुद्धिका आश्रय कर्मनिष्ठा ये दोनो निष्ठा एक कालमे एक पुरुष करके अनुष्ठान करीजायं यह किसी प्रकारसे सम्भव नहीं होता है यही शतपथ ब्राह्मणमे कहा है कि यो ज्ञान औ कर्म समुच्चय अभिप्रेत हो तो ये सब विभाग वचन और किसी प्रकार सम्भव नहीं है। और इस प्रकारसे अर्जुनको प्रश्न भी ठीक नही होती है क्यों कि ज्ञान औ कर्म एक कालमे एक पुरुष को नितान्त असम्भव है यह पूर्व न कहने से अर्जुन किस प्रकार कर्मसे ज्ञानको श्रेष्ठ जानि भगवानसे मिथ्या आक्षेप करैंगे और सर्व उपदेश मे ज्ञान औ कर्म इन दोनों के मध्यमे जो श्रेय हो सो हमको छपाकर कहो इस प्रकार एक विषयक प्रश्न होंवा कहो किस तरह सम्भव है जो भगवतके उक्त वचनोंका अर्थ न समझके अर्जुन ऐसी प्रश्न किये हों तौ भी अर्जुनसे भगवानके ऐसे प्रतिवचन सम्भव नहीं होतेहै क्षत्री का स्वधर्म जो युद्ध रूप स्मृतिविहित कर्म तिसके सहित ज्ञान सम्पादन करना भी विहित नही है। क्योंकि सो होने से

भाषसे । गतासूनगतासूंश्चनानुशोचन्तिपण्डिताः ॥ ११ ॥ नत्वेवाहंजातुनासंन

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनका इस प्रकारका अनुयोग करना कभी सम्भव होता नहीं इसीसे गीताशास्त्र मे लेशमात्र भी श्रौत या स्मार्त्त कर्म के सहित ज्ञान सम्पादन का प्रतिपादन करने को कोई भी समर्थ न होंयगे। अज्ञान किम्वा राग आदि दोष वशते कर्ममे प्रवृत्त मनुष्य को यज्ञ दान तप आदि के द्वारा सत्त्व शुद्धि पूर्वक पर मार्थ तत्त्वज्ञान होनेसे परलोक संग्रहके अर्थ जो फेरिभी कर्ममेप्रवृत्ति होय तो उस कर्मको कर्म नहीं कहते है सुतरां तिसके सहित ज्ञान का सम्पादन नहीं होता है जैसे भगवान श्रीकृष्ण के सकल धर्म समुचित नहीं और जैसे काम्य कर्ममे कामना न रहने से फेरि और वह काम्य कर्म नहीं हो सकता है जिस हेतु उस मे फलाभिसन्धि कहे फलकी इच्छा नहीं है। तो फेरि जो जनक आदि राजा कर्म के द्वारा मुक्त हुये थे यह ग्रन्थों मे वर्णन किया है सो केवल लोक संग्रह के अर्थ मात्र अर्थात् सब कर्म का परित्याग होने से भी गुण औ गुणी ज्ञान वशते कर्म आभास के साथ उन की मुक्ति भई थी अर्थात् कर्म के त्याग मे अधिकार होने से भी कर्म त्याग न करि के उस के सहित निर्वाण पद प्राप्त किया और जो कहो कि जनकादि राजा पूर्व मे तत्त्वज्ञानी नहीं थे तौ भी ज्ञान के साधन भूत सकल कर्म ईश्वर को समर्पण करने से उनको सत्त्व शुद्धि अथवा ज्ञान की उत्पत्ति भई थी भगवानने इस गीता शास्त्र मे यही प्रति पादन करि के पीछे सोई प्रकार शुद्ध सत्वगुण मनुष्य की ज्ञाननिष्ठा निरूपण किया है इस से केवल तत्त्वज्ञानसे जो मुक्ति होती है और उसमे जो कर्मके सहायताकी अपेक्षा न करे यही इस गीता शास्त्र का निश्चित अर्थ है यह अर्थ आगे प्रकरण पाय के देखाया जायगा इस प्रकार गीता शास्त्रका तात्पर्य्य अर्थ निर्णय किया गया है परन्तु अब धर्ममे व्यग्र मिथ्या भ्रमविशिष्ट कहे युक्त महत् शोक सागरमे डूबे हुये अर्जुन को आत्म ज्ञान के विना उद्धार होने की और कोई उपाय न देखि करके भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति तत्त्वज्ञान का उपदेश करते है। प्रथम आध्याय के २८ श्लोक से लेकर तुम जो कुटुम्बके जनोंका शोक करते हो सो वे सब तुमारे

त्वंनेमेजनाधिपाः । नचैवनभविष्यामः सर्व्वेवयमतःपरं ॥ १२ ॥ देहिनोऽस्मिन्
यथादेहेकौमारंयौवनंजरा । तथादेहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्रनमुह्यति ॥ १३ ॥

भाषा अनुवाद

शोचनेके योग्य नहीं है और द्वितीय अध्यायके २ श्लोकसे लेके इमसे प्रबोध कराये अर्थात् समझाये गये भी तुमजो पण्डितमानी के समान ये वचन उच्चारण करते अर्थात् कहते हो कि भीष्म पितामहो को संग्राममे हम कैसे मारें इससे यह प्रतीति होती है कि तुम यथार्थ पण्डित नहीं हो जिस हेतु बुद्धिमान पण्डित जोहैं वे गतप्राण अगतप्राण अर्थात् मरे औ जीवते को नहीं शोचते हैं कि बन्धु विहीन हम कैसे जियेंगे ।११। भीष्म आदिके प्रति जो शोच करना अनुचित है इसमे श्रीभगवान कारण कहते हैं कि देखो हम परमेश्वर हमारा शरीर धारण कराना केवल लीला के अर्थ है इससे इस देह के होने जाने बशते हम कभूं पूर्व्वमे नही रहे थे यह सम्भव नहीं होता जिस हेतु हम अनादि और हमारे अंशते उत्पन्न तुम और ये सब राजा लोग भी कभी नहीं रहे थे यह भी सम्भव नहीं है इससे हम जैसे पहले थे तैसे अब भी हैं फेरि आगे भी हम सब होयगे इससे आत्म स्वरूप देह के जन्म औ मरणका स्वभाव हो है तो फिरि स्वजन विनाश काहो शोक का विषय कैसे है नहीं हो सकता है ॥ १२ ॥ जो कहो कि तुम ईश्वर तुमारा जन्म औ विनाश न होना सम्भवहै परन्तु हम लोग जीवहैं इससे हमारा जन्म मरण प्रसिद्धहै इस विषयमे भगवान कहतेहै कि देखो देहाभिमानी जीवको इस स्थूल शरीर मे जैसे कौमार यौवन औ वृद्धा अवस्था प्राप्त होती है परन्तु जीव स्वरूप को नहीं होती है और यही सब अवस्थो के मध्यमे पूर्व्व अवस्थाके बीत गये और और अवस्था प्राप्त भये पर भी संस्कार बशते सोई हम है यह ज्ञान रहता है तैसेही जीवको भी स्थूल देह केनाश होने पर लिङ्ग शरीर के द्वारा देहान्तर प्राप्ति होनेसे भी आत्माका नाश नही होताहै देखो तुर्तके भये हुये बालकको पूर्व्व देहके संस्कार बशते जन्म होतेही मातृ दूध पीनेमे प्रवृत्ति देख पडती है इसीसे स्थूल देहके जन्म नाश भयेपर धीर पुरुष मूढ नहीं होते अर्थात् आत्माका जन्म मरण अङ्गीकार नही करतेहै ॥१३॥ औरजो कहो कि हम भीष्म आदिके प्रति

मावास्पर्शांस्तुकौन्तेयशीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥१४॥ यंहिनव्यथयन्त्येतेपुरुषंपुरुषर्षभ। समदुःखसुखंधीरंसोऽमृतत्वाय कल्पते॥१५॥ नासतोविद्यतेभावोनाभावोविद्यतेसतः। उभयोरपिदृष्टोन्त स्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥१६॥ अविनाशितुतद्विद्धियेनसर्वमिदंततं। विनाशम

भाषा अनुवाद

शोक नहीं करते है परन्तु उनके वियोग मे हमै दुःख करना ही होगा इस लियें हम अपनेको शोचतेहैं इसबात पर कहतेहै कि सकल वस्तु जिसकेद्वारा परिमाण की जांय ऐसी जो सब इन्द्रिय वृत्ति कहे संयोग और उनके द्वारा जो विषयों का स्पर्श होना यही शीत उष्णादि के द्वारा सुख दुख देता है किन्तु वे शीतादिक सब अनित्य है इससे उनको धीरज धरके सहो जैसे जल अग्नि धर्म आदि संयोग से कालस्वभाव वशते शीत उष्ण होनेसे सुख दुख है तैसे इष्ट औ अनिष्ट प्राप्त होने से भी सुख दुख होता ही है परन्तु वह अनित्य और मिथ्या है इससे तुमको उनका सहना उचित है तुम ऐसे धीर वीर पुरुष को उन मे हर्ष विषाद करना अति अयोग्य और वृथा है॥१४॥ जिस हेतु कोई उपाय अवलंबन करि शीत उष्ण का वारन करने से कष्टकरि उनका सहना ही उचित है क्यों कि उसमे बडा फल है यही कहते है कि हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन जिन धीर पुरुषों को सुख दुख समान भाव है अर्थात् शीत उष्ण मे क्लेश बोध नहीं होता सोई विक्षेप रहित पुरुष धर्म औ ज्ञानके द्वारा मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी है॥१५॥ और जो कहो कि तौभी अति दुःसह शीत उष्ण उनको हम कैसे कर सहै और जो बडा क्लेश करिके किसी तरहसे सहै तो कदाचित इस आत्माका नाश हो सकता है यह शङ्का करि कहते है कि विचार से तो वे सब सहे जाय सकते है देखो जैसे अति तुच्छ औ अनात्मधर्म अर्थात् शरीरके धर्म जो शीत उष्ण प्रभृतिहै उनका आत्मासे कुछ संबंध नहीं है और सत् स्वभाव जो आत्मा उसका कभू भी विनाश नही होता है यथार्थ दर्शी तत्त्वज्ञानी पुरुष इसी प्रकार से सत असत इन दोनो पदार्थ को निर्णय किया है इससे विवेक ज्ञानके द्वारा शीत उष्ण आदि तुम सह्य करो घबडाते काहेलिये हो॥१६॥ अविनाशी सत वस्तु का स्वरूप सामान्य से वर्णन करिके फेरि विशेष

व्ययस्यास्यनकश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥ अन्तवन्तइमेदेहानित्यस्योक्ताःशरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्यतस्माद्युध्यस्वभारत ॥ १८ ॥ यएनंवेत्तिहन्तारंयश्चैनंमन्यते
हतम्। उभौतौनविजानीतोनायंहन्तिनहन्यते ॥१९॥ नजायतेम्रियतेवाकदाचिन्ना
यंभूत्वाभवितावानभूयः। अजोनित्यःशाश्वतोऽयंपुराणोनहन्यतेहन्यमानेशरीरे॥

भाषा अनुवाद

रूपसे कहते हैं कि जो इस अनित्य देहमें साक्षीरूप सबठौर व्याप्त होकर रहा है वही आत्मा को तुम अविनाशी जानो जिस हेतु उसके विनाश करने को किसी की सामर्थ्य नहीं है ॥१७॥ अब उत्पत्ति विनाश धर्म विशिष्ट देहादिकी अनित्यता देखावते हैं-कि नित्य अर्थात् सदा एक रूपसे स्थित और इसीसे ,अविनाशी औ अपरिमेय कहे जानने जोग नहीं ऐसा जो देही कहे आत्मा है और सुख दुख आदि धर्मविशिष्ट नश्वर अर्थात् विनाश होनेवाली यह देह है ऐसा तत्वज्ञानी कहते हैं इसीसे जानो कि जो स्वरूपसे आत्माका विनाश तथा सुख दुख आदिका संबंध नहीं है तो मोहजनित शोक को परित्याग करिके युद्धमें तुम प्रवृत्त होउ और अपना क्षत्रीका परमधर्म जो युद्ध सो कभूं न छोडो छोडना नहीं चाहिये ॥ १८ ॥ भगवान की इन सब बातों से महात्मा भीष्म पितामहादिक के मृत्यु हेतुक जो अर्जुन को दुख शोक आय के प्राप्त भया था सो सब दूर भया और अब कुटुम्ब के वध करनेवाले हम हैं यह दुख जो प्रथम अध्यायके ३४ श्लोकमें कहा है सो उस दुखके उत्पन्न होने मे कोई हेतु नहीं है यह प्रतीति भगवान करावते हैं कि यह आत्मा न किसीसे मरता और न किसीको मारता है फेर जो कोई इस को हन्ता जानता और इस को हत मानता है वे दोनो भी कुछ नहीं जानते हैं ॥ १९॥ आत्माका नाश नहीं है यह बात षड्भाव,विक्रिया कहे विकारका अभाव कथन के द्वारा भगवानदृढ करते हैं कि आत्मा का जन्म होता नहीं अर्थात् उसका जन्मरूप विकार नहीं है और कभी मरता भी नहीं अर्थात् विनाश रूप विकार उसका नहीं है और आत्मा उत्पन्न होके विद्यमान है यहभी नहीं अर्थात् वर्त्तमान रूप विकार नहीं है जो जन्म धरे है सोई वर्त्तमान भी होता यह तो अज तथा पूर्वसे सदासर्वदा विराजमान है इसका फेरि जन्म लेकर विद्यमान होना

२० ॥ वेदाविनाशिनंनित्यंयएनमजमव्ययं। कथंसपुरुषःपार्थकंघातयतिहन्तिकं

भाषा अनुवाद

कहां यह अतिही असम्भव है और यह नित्य सदा एकरूप अर्थात् इसका दृद्धि रूप विकार नहीं है और यह शाश्वत अर्थात् क्षयरहित है और पुराण अर्थात् इसका परिणाम नहीं है परिणाम कहते बदलने को अर्थात् रूपान्तर होने को आत्मा पुरातन होके भी देहके साथ नयासा होता दीखै है देखो शरीर संयोग से परिणत होके भी रूपान्तर को प्राप्त नहीं होता है ज्योंका त्योंही रहता और भी कहते कि पहले नही था अब भया और वढता है यह कुछ वात भी आत्मा मे नहीं है इस अर्थमे भी वृद्धिरूप विकार रहित होता है इस विषयमे अज औनित्य ये दोनो शब्दोंके रहनेसे और कुछ कहनेका प्रयोजन नहीं है इसीप्रकार आत्मा का जन्म विद्यमानता वृद्धि परिणाम अपक्षय कहे घटना औ विनाश ये छ विकारो का अभाव सांख्य शास्त्रमे निर्णय किया है अब जो वाकी रहा सो कहते है कि शरीर हत होनेसे भी आत्मा हत नही होता जिस हेतु वह अविनाशी है ॥२०॥ पूर्व श्लोकमे आत्माको षडविकार रहित कहा है इससे आत्मा हनन क्रिया जो मारना तिसका कर्त्ता कहे करने वाला नही है यह वात अच्छी प्रकार से सिद्ध भई सोई भगवान कहते है कि जो कोई इस आत्माको घटने वढने से रहित तथा जन्म हीन औ अविनाशी जानते है हे अर्जुन वे किस वास्ते किसी को मारेंगे कारण यह कि आत्मा जो अविनाशी उसके वध की उपाय कोई नही है और आप प्रेरणा करि और किसी से किसी को भी किस लिये घात करावे गा इस कहने से श्रीकृष्णजी की यह अभिप्राय जानी गई कि भीष्म आदिके वधमे प्रयो जक कहे प्रेरक रूप दोष हमै कभी न दीजो अर्थात् तुमारे कहने से यह काम हमने किया है ऐसी कभी कहियो नही ॥ २१ ॥ जो कहो कि आत्मा अविनाशी भी होय पर तौ भी उस की इस स्थूल देह का नाश देख कर हम शोच करते है तो देखो जैसे मनुष्य जीर्ण कहे पुराने वस्त्र परित्याग कहे उतार कर और नये कपडे धारण करते अर्थात् पहिरते है तैसे ही आत्मा पूर्व प्राचीन शरीर कहे देह को छोड कर और नूतन कहे नई देह ग्रहण करता है इस से कर्म के अनु

॥२१॥ वासांसिजीर्णानियथाविहायनवानिगृह्णातिनरोऽपराणि। तथाशरीराणि विहायजीर्णान्यन्यानिसंयातिनवानिदेही॥ २२ ॥ नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणिनैनंदहति पावकः। नचैनंक्लेदयन्त्यापोनशोषयतिमारुतः॥ २३ ॥ अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम क्लेद्योऽशोष्यएवच। नित्यःसर्वगतःस्थाणुरचलोऽयंसनातनः॥२४ ॥ अव्यक्तोऽयम चिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते। तस्मादेवंविदित्वैनंनानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥ अथ

भाषा अनुवाद

सार देहका अवश्य होनहार जो जन्म औ नाश तिस से शोच करना तुम ऐसों पण्डित को उचित नहीं है॥ २२॥ अब २१ श्लोकमे कहा जो आत्माके वधके साधनका अभाव कहे निरुपाय अर्थात् किसी प्रकार से आत्मा का वध नहीं हो सकता है यह देखाय करि अब आत्मा अविनाशी है इस बातको दृढ़ करते हैं कि सकल अस्त्र शस्त्र इस आत्मा को छेदन नहीं करि सकते और अग्नि भी इस को दग्ध करने को समर्थ नहीं है जल इस को आर्द्र कहे गीला नहीं करि सकता और वायु भी इस को सुखाय नही सकती है क्योंकि यह अवयव कहे अंश रहित हैं और इन सब की सामर्थ्य अवयव सहित मे है अर्थात् भौतिक कहे पञ्चभूत निर्म्मित वस्तुमेहै ॥२३॥ इसका कारण यह कि आत्मा अस्त्रशस्त्र से छिन्नभिन्न वि या आगसे दग्ध और जलसे आर्द्र और वायुसे सूखभी नही सकता है इसी से आत्मा नित्य औ अविनाशी तथा सर्व्वत्र विद्यमान है और स्थिरस्वभाव अचल अनादिहै ॥२४॥ और यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् चक्षुरादि कर्म्मइन्द्रियों का विषय नहीं है यह बात भी कहचुके हैं और अचिन्त्य अर्थात् मनकोभी अगम्य कहे ध्यान से बाहरहैं और अविकारी अर्थात् जन्मनाश अथवा छोटा बड़ा नया पुराना होना अथवा किसी रूपमे बदलना भी नहीं इसकाहै ऐसे ही तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं इससे जन्म नाश शून्य कहे रहित आत्माके स्वरूप को अच्छी तरह से जान बूझ कर तुम इस झूठे शोक संताप को परित्याग करो ॥ २५॥ और विचार करि देखो जबकि आत्माके जन्म तथा नाश का अभाव है तौ फेरि आत्मा के अर्थ शोक करना किसी प्रकार उचित नहीं है यह बात निर्धार करके ठहराई गई है अब जो देह के जन्म औ नाशसे आत्मा का जन्मनाश है कदाचित ऐसा अभी

अथचैनंनित्यजातंनित्यंवामन्यसेमृतं। तथापित्वंमहाबाहोनैवंशोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥
जातस्यहिध्रुवोमृत्युर्ध्रुवंजन्ममृतस्यच। तस्मादपरिहार्य्येऽर्थेनत्वंशोचितुमर्हसि ॥२७॥
अव्यक्तादीनिभूतानिव्यक्तमध्यानिभारत। अव्यक्तनिधनान्येवतत्रकापरिदेवनः ॥

भाषा अनुवाद

कार करि मानो तौभी तुमको शोच करना अनुचित है यह कहते हैं कि पुण्यऔ पाप तथा तिन के फल सुखं दुख औ जन्म नाश इन सब का आत्मा के साथ सम्बन्ध रहनेसे यद्यपि देहके जन्म होनेसे आत्मा का जन्म और देहके नाशसे आत्मा का नाश है इस रीतिसे उसके जन्मनाश को नित्य मानो पर तौभी जन्म नाश अवश्य भावी अर्थात् निश्चय होने वाला ही है फेरिभी उसके अर्थ तुम को शोचना क्या योग्य है नहीं है ॥ २६ ॥ काहेसे शोचना योग्य नहीं है इसका हेतु कहते हैं कि जिसलिये जो वस्तु जन्म ग्रहण करती है उसके आरब्ध कर्म के क्षय होनेसे निश्चय उसकी मृत्यु अर्थात् नाशहोताहै ऐसेही मरेकाभी पूर्व्व देहकृत कर्मवशते फेर अवश्यही जन्म होताहै इसोसे एवंभूत अनिवार्य्य कहे अमेट अवश्यभावी कहे होने वाले जन्म औ मरणके विषयमे तुमको शोच करना तुमको किसीतरह योग्य होतानहीं क्योंकि तुम विद्वान कहे पण्डित होउ पण्डितका अर्थ यहहै कि सत अ सत्की विवेकिनी कहे विचार करनेवालीबुद्धिकोपण्डाकहतेहैं सो जिसके होयसो पण्डित है आत्मासे भिन्नजो कुछहै सो असत्जानो सत एक आत्माहीं है ॥२७॥ और जो कहो कि देहादि का स्वभाव जो जन्म मरण आदि तदुपाधिक आत्माका जन्म मरण विचारि करि हम शोचते है तोभीशोच करना तुमको न चाहिये इस पर भगवान कहते है कि अव्यक्तादि अर्थात् अव्यक्त कहे प्राणियो की उत्पत्ति का मूल कारण जो प्रकृति माया सो प्राणियोकी उत्पत्तिके पूर्व्वकारणरूपसे सब जीवों को अपने भीतर लीन कर के अव्यक्त कहे अप्रकट रहती है और व्यक्त मध्य अर्थात् जन्म मरणके मध्यमे सकल प्राणी वर्त्तमान अवस्था मे विराजमान रहते है और अव्यक्त निधन अर्थात् अन्त मे स्वकारण जो माया तिसमे सब प्राणी लीन हो के रहते हैं इस से हे अर्जुन ऐसे रहनेवाले प्राणियोंको मृत्युसे किसीतरह शोच करना न चाहिये जैसे जगे हुये मनुष्य को स्वप्न मे देखी भई वस्तु के अर्थ शोक

२८॥ आश्चर्यवत्पश्यतिकश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदतितथैवचान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोतिश्रुत्वाप्येनंवेदनचैवकश्चित्॥ २९॥ देहीनित्यमवध्योऽयंदेहेसर्वस्यभारत। तस्मात्सर्वाणिभूतानिनत्वंशोचितुमर्हसि॥ ३०॥ स्वधर्ममपिचावेक्ष्यनविकम्पितुम

भाषा अनुवाद

करना अयोग्य है तैसे यह भी जानो॥ २८॥ तौ फेरि बडे विद्वान लोग जो शोक करते चले आते हैं सो केवल आत्मा विषयक अज्ञानता ही से होता इस अभिप्राय से आत्मा की दुर्ज्ञेयता कहे ज्ञान कठिनता का निरूपण करते हैं कि कोई तो शास्त्र आलोचना करिके इस आत्मा को जानि बूझके भी आश्चर्य ऐसा जानते अर्थात् सर्वगत नित्य ज्ञान औ आनन्दस्वरूप आत्मा के अलौकित्व हेतु से असम्भव जो इन्द्रजालिक कौतुक तिस के समान देखि आश्चर्य से घबडाय कर विस्मययुक्त होते हैं और कोई आश्चर्य केनाईं कहते कोई आश्चर्य के तुल्य सुनते और कोई आत्मज्ञानरूप विपरीत कहे उलटी भावनासे अभिभूत होके इस आत्मा का तत्त्व सुनि के भी जानि सकते नहीं अर्थात् बहुत देखि सुनि के भी अच्छी तरह से आत्मा का जानना अति कठिन है॥ २९॥ इस प्रकार आत्मा का दुर्विज्ञेय स्वभाव अर्थात् बडे कष्टसे भी उसका जानना कठिन है यह संक्षेप से उपदेश करि के अब शोक न करना इस विषयसे कहते हैं कि जैसे सब प्राणियोंकी नश्वर कहे नाश होनेवाली देह मे वर्त्तमान यह देही कहे आत्मा सो देह नाश होने से भी नष्ट नहीं होता है क्यों कि आत्मा नित्य औ अवध्य है इसी से भूत जो प्राणी तिन की देह नाश के अर्थ तुम को शोक करना उचित नहीं है॥ ३०॥ प्रथम अध्याय के २९ श्लोकमे अर्जुनने कहा है कि हमारी शरीर कांपती औ रोवां खडे होते तथा हाथसे धनुष बाण गिरे पडते हैं सो यहभी तुमको अयोग्य असम्भव है जिस हेतु स्वधर्म जो संग्राम तिसमे प्रवृत्त हो के फेरि भीष्मपितामह आदि के हनन करने से अविनाशी आत्मा का विनाश मानि तुमारा डरना औ कांपना यह युक्तिसे सिद्ध होता नहीं और ३१ श्लोकमे कहा है कि ये अपने जनोंको नाश करि के हम श्रेय कहे कल्यान नहीं देखते उस बात पर भगवान कहते हैं कि धर्म युक्त जो न्याय युद्ध तिसकी अपेक्षा अर्थात् उससे रहित कर क्षत्रियोंको और कौन कल्याण

र्हसि । धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्त्रियस्यनविद्यते ॥ ३१ ॥ यदृच्छयाचोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतं । सुखिनःक्षत्त्रिया.पार्थलभन्तेयुद्धमीदृशं ॥ ३२ ॥ अथचेत्त्वमिमं धर्म्यंसंग्रामंनकरिष्यसि । ततःस्वधर्मंकीर्त्तिञ्चहित्वापापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥ अकी

भाषा अनुवाद

करनेवाला कर्म है अर्थात् कोई भी नहीं है ॥३१॥ और जो कहो कि गुरु आदि अनेक प्राणियोंकी हिंसायुद्धमें होयगी औ शास्त्रमें अहिंसापरमधर्म कहा है इससे युद्ध करना अति अनुचित है इसपर श्रीकृष्ण कहते कि जैसे वेद विहित जो यज्ञमें हिंसा सो हिंसा नहीं है तैसे ही शास्त्रसम्मत जो क्षत्री का परम धर्म युद्ध तिसमें हिंसा औ पापकी कल्पना वृथा करते हो और परम श्रेयरूप महाफल आपसे आप आय तुम को उपस्थित कहे प्राप्त भया है इस से अब तुम किस कारण कम्पमान होते हो सोइ यह हठकरके कहतेहैं कि हे अर्जुन वे मांगे वेयतन किये आप से प्राप्त परमश्रेय कहे कल्याण साधन युद्ध जिससे परम कल्याण सिद्ध होय ऐसा युद्ध अति भाग्यवान क्षत्री लोग पावतेहैं क्योंकि इस से स्वर्गका द्वार वेरोक टोक खुला रहता है अथवा जो इस प्रकार का युद्ध पावें सोई सुखी है इस श्लोक से प्रथम अध्याय का छत्तीसवां श्लोक कहा गया कि किस तरह आत्मीयजनोंको नाश करि सुखी होयगे इसी बात का भगवानने उत्तर दिया है ॥ ३२ ॥ और जो यह स्व धर्म रूप संग्राम न करोगे तो केवल फल प्राप्ति न होगी यही नहीं है और उलटा प्रत्यवाय कहे अधर्म भी होगा सोई दोष कहते हैं कि जो तुम इस धर्म जनक उपस्थित कहे प्राप्त भये युद्ध करने में प्रवृत्त न होउगे तो तुम अपने धर्म औ कीर्त्तिके त्याग करनेसे अवश्य पाप के भागी होउगे इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ३३ ॥ और जो कहो कि स्वधर्म औ कीर्त्ति जाय हम हिंसा न करेंगे तौ यह न करने से केवल स्वधर्म औ कीर्त्ति ही का त्याग नही है और भी है सो कहते हैं कि युद्ध छोडने से लोग तुमारा अयश कहेंगे और वह अयश चिरकाल कहे बहुत दिनो तक संसार मे रहेगा और तुम क्षत्रियोंके बीच युद्ध करने मे प्रसिद्ध वीर हो देखो जो जिसबातमे ख्यात कहे नामीहैं और लोग उसको प्रतिष्ठित बडा करि जानते मानतेहैं तो फेरि उसका उसी बातमे अयश यह मरनेसे भी अधिक

र्त्तिञ्चापिभूतानिकथयिष्यन्तितेऽव्ययां । सम्भावितस्यचाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥
३४ ॥ भयाद्रणादुपरतंमंस्यन्तेत्वांमहारथाः । येषाञ्चत्वंबहुमतोभूत्वायास्यसि
लाघवं ॥ ३५ ॥ अवाच्यवादांश्चबहून्वदिष्यन्तितवाहिताः । निन्दन्तस्तवसामर्थ्यं
ततोदुःखतरंनुकिं ॥ ३६ ॥ हतोवाप्राप्स्यसिस्वर्गंजित्वावाभोक्ष्यसेमहीं । तस्माद्,

भाषा अनुवाद

हैं और सब पाप औ दोषों का दाता है इस को अच्छी तरह विचार कर देखो ॥
३४ ॥ भगवान कहते हैं कि अर्जुन तुम को अब युद्ध करना हीं उचित है क्यों
कि तुम तो यह जानते हो कि प्राणियों के उपर दया करि हम संग्राम छोड़ते
पर महारथी वीर तुम को भयसे युद्ध विमुख जानेंगे जो तुम को पूर्व काहे पहिले
सकल गुण सम्पन्न कहे युक्त जानते थे वे लोग अब तुम को कर्ण आदिक योद्धों
के भय से युद्ध विमुख जानेंगे देखो जिन दुर्योधन आदिकों को तुम बहुमत कहे
मान्य रहे उनके निकट अब तुम कैसे लघु कहे हलके होउगें तो इस हंसीके डर
से युद्ध करना तुमको अवश्य हैं ॥ ३५ ॥ इस से अब तुम युद्ध से निवृत्त न होउ
और जो कहो कि भीष्म तथा द्रोण आदिका वध बड़ा कष्ट है तो देखो तुमारे शत्रु
गण तुमारी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुये तुमारे प्रति अनेक अनेक अयोग्य दुर्वचन
कहेंगे तो इस से और दुःख कौन हैं यह कष्ट से भी महा कष्ट हैं ॥ ३६ ॥
तो युद्धकरि गुरूआदिके वधसे निन्दा होगी औ संग्राम छोड़नेसे शत्रु निन्दा करैंगे
इस दुविधा चिन्ता के उपर कहते हैं और दूसरे अध्याय के छठयें श्लोक में जो
अर्जुन ने कहा कि इन को हम मारैं या येई हमै जय करि लेंय इसका भी उत्तर
श्रीकृष्ण करते हैं कि जय करैंगे या पराजय पावेंगे इसकी निश्चय करिके अब तुम
उठो जो कहो कि इस दैव आधीन जयपराजयका क्या निश्चयहै तो इस युद्धमें जो
तुमारी मृत्यु होयगी तो स्वर्गवास पावोगे और जो शत्रुवों को जीतोगे तो पृथिवी
का राज्य औ भोग करोगे तिससे हे कौन्तेय अर्जुन युद्ध करने की निश्चय करिके
उठो तुमारेतो दोनोंहाथ लड्डूआ हैं ॥३७॥ जो कदाचित बन्धुवधहेतुक पापही की
निश्चयकरि रावेहउसके डरसे युद्धमें निश्चयकरिके नहो उठि सकते हो यह
कहो तो सुहृद मित्रोंके जीवन और मरणनिमित्तक सुख औ दुखकी समता कहते हैं

त्तिष्ठकौन्तेययुद्धायकृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥ सुखदुःखेसमेकृत्वालाभालाभौजयाजयौ । ततोयुद्धाययुज्यस्वनैवंपापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥ एषा तेऽभिहितासांख्येबुद्धिर्योगे त्विमांशृणु । बुद्ध्यायुक्तोययापार्थकर्मबन्धंप्रहास्यसि ॥ ३९ ॥ नेहाभिक्रमनाशो

भाषा अनुवाद

कि प्रथम सुख औ दुख तथा लाभ औ हानि जय पराजय इनकोसमान जानिकरि औ प्रीति विरोध को भी त्याग करि के तब युद्ध मे प्रवृत्त होउ इस प्रकार से युद्ध करने से पाप न प्राप्त होयगा अर्थात् न लगेगा ॥ ३८ ॥ पूर्व कथित जो ज्ञान योग उस को कहि करि अब उस का साधन जो कर्मयोग सो कहते हैं कि वस्तु औ तत्त्व को प्रकाश करनेवाला सांख्य नामक तत्त्वज्ञान तुम से कहा गया अर्थात् तत्त्वज्ञानके विषयमे जो बुद्धि सो मैंने तुमको कहाहै इससे जो तुमारे मनमे तत्त्व ज्ञानका बोध न भयाहोय तौ फिरि चित्तशुद्धिके द्वारा तत्त्वज्ञान उत्पन्नहोनेकेअर्थ अब यह कर्मयोग अर्थात् कर्मयोग के विषय की बुद्धि हम कहते हैं सो सावधान हो कर सुनोकि हे अर्जुन जिस हेतुसे ईश्वरार्पित कर्मके द्वारा चित्त की शुद्धि हो कर ईश्वर के प्रसाद से प्रत्यक्ष ज्ञान को प्राप्त करि अर्थात् पाय करि इस बन्धन से अनायास अर्थात् सहजमे छूटि जाउगे ॥३९॥ और जो कहो कि जैसे खेती औ वनिज वैपार आदि कर्मों मे कदाचित् कहे कभूं कभूं विघ्नो की बाहुल्य कहे बढ़तायत से फल के हानि की भी सम्भावना है अर्थात् निष्फल परिश्रम भी होता है और मन्त्र अनुष्ठान कहे जप यज्ञ आदिक मे भी विघ्न अथवा अङ्ग विकल होने से प्रत्यवाय कहे दोष औ कर्म निष्फल होता है तैसे जो यह कर्म जो विघ्नो के मारे पूरा न हो उठै तौ कैसे कर्मबन्ध की हानि कहे नाश होगा और उलटे दोष लगने का डर है इसवास्ते भगवान कहते हैं कि यह निष्काम कर्मयोग का आरम्भ करने से जो पूरा न भी हो उठै तौ भी निष्काम कर्म निष्फल होता नही और इसमे दोष पाप भी नहीं लगता है जिस हेतु ईश्वर को उद्देश करि अर्थात् ईश्वर के अर्थ किये कर्म मे विघ्न होते ही नहीं और ईश्वराराधन के अर्थ इस धर्म के थोडे आचरण से भी बडे भयानक संसार से रक्षा होती है अर्थात् ईश्वरार्पित कर्म रक्षा करता है इस से यह काम्यकर्म की तरह कुछ अङ्ग विकल होने से भी

ऽस्तिप्रत्यवायोनविद्यते। स्वल्पमप्यस्यधर्मस्यत्रायतेमहतोभयात् ॥ ४० ॥ व्यवसा
यात्मिकाबुद्धिरेकेहकुरुनन्दन। बहुशाखाह्यनन्ताश्चबुद्धयोऽव्यवसायिनां ॥ ४१ ॥
यामिमांपुष्पितांवाचंप्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताःपार्थनान्यदस्तीतिवादिनः ॥

भाषा अनुवाद

निष्फल नहीं होता है तात्पर्य यह कि ईश्वरार्थ कर्म करने से जो दोष न लगे और महत् फलहै तो साक्षात् ईश्वर की आज्ञा करनेमे और क्या कहनाहै ॥४०॥ जो कहो कि कणाद आदि आचर्यों के मत मे ज्ञान कर्म उपासना रूप अनेक प्रकार की बुद्धि कही हैं और आप जहां ज्ञानयोग रूप भी कर्मरूप दोही प्रकार बुद्धि के कहा सो कैसे सम्भव होय इस अभिप्राय पर उक्त इन दोनो के भी विप रीत कहे उलटा भिन्न प्रकार कहते हैं कि हे कुरुनन्दन अर्जुन यह ईश्वर आरा धन रूप कर्मयोगमे व्यवसायात्मिका बुद्धि अर्थात् मद्भक्तिके द्वारा अवश्य ही उद्धार होगा ऐसी निश्चयात्मिका कहे निश्चयरूप बुद्धि की निष्ठा एक ही है और अव्यव सायी अर्थात् आराधन के बहिर्मुख कामी कहे सकाम कर्म करनेवालो की अनन्त वासना से अनेक प्रकार की बुद्धि होती है और उस मे भी कर्मका फल और अश्व मेध राजसूय आदि यज्ञ का अङ्ग दिग्विजय की भांति गुरु काला आदि नाना प्रकार बहुत शाखा प्रशाखा विशिष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है परन्तु भगवत् आरा धन के अर्थ नित्यकर्म वा नैमित्तिक कर्म तुच्छ अङ्ग विकल कहे अधूरा भी होने से नष्ट नही जाता हैं यथासाध्य कहे जितना वा जैसा अपने से हो सके उतना और वैसाही करो यही उस धर्म की विधि है ईश्वरार्पित कर्म विघ्न औ दोष को शान्त करि देता इस से उस के करने मे कदाचित वैगुण्य नही होती अर्थात् उस को विगुण नही कह सकते हैं और काम्यकर्म तैसा नही है इस से दोनो के बीच बडा अन्तर है सो एक बुद्धि को के रहो दुविधा मन से दूर करो ॥४१॥ जो कहो कि सांख्ययोग रूप बुद्धि एक ही प्रमाणभूत है तो फेरि वही सब के चित्त मे क्यो नही स्थिर होती अर्थात् जो सकाम मनुष्य हैं वे भी ये कष्ट रूप सकल कामना त्याग करि भगवद्भक्ति ही से मुक्त होवगे ऐसी निश्चयरूप बुद्धि काहे से नही करते है तिस पर कहते हैं कि विपलता कहे इन्द्रयन की तरह

४२ ॥ कमात्मानःस्वर्गपराजन्मकर्मफलप्रदां । क्रियाविशेषवहुलांभोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥ भोगैश्वर्यप्रसक्तानांतयापहृतचेतसां । व्यवसायात्मिकाबुद्धिःसमा

भाषा अनुवाद

अति सुन्दर यह जो उत्तम स्वर्ग आदि फल सुनावनेवाली श्रुति कहे जो वेदवाक्य हैं जिस को कामी कहे सकाम मनुष्य सब कहते है सोई स्वर्ग आदि फल श्रुति रूप वेदवाक्य से विचार शून्य मनुष्यों को अर्थात् उस पर विश्वास करनेवालों को भगवद्भक्ति से निश्चय मुक्त होंयगे ऐसी बुद्धि उत्पन्न कभी नहीं होती है इस श्लोक के आगेवाले तीन श्लोकोके साथ इस श्लोक की अन्वय है जो कहो कि वे मनुष्य ऐसे काहे लिये कहते है तो उनका सिद्धान्त भगवान कहते है कि जिस लिये वे सब लोग अति मूढ औ अज्ञानी हैं उन के अज्ञानमे अब हेतु कहते हैं कि वेदके बीच मे जो सब वाक्य हैं सो केवल प्रशंसा परक है अर्थात् चतुर्मासया जीवों को अक्षय स्वर्गफल होता है और यज्ञके शेष मे सोमलता पी करि अमर होते है इत्यादि जो पलास पुष्प के समान पुष्पित वेदवाक्य है अर्थात् निर्गन्ध फूल के तुल्य इनी वेदवाक्योसे काम्य कर्ममे वेलोग निरत हैं इससे कहते है कि यह वेदोक्त स्वर्ग आदि फल को छोड कर और ईश्वरतत्त्व प्राप्त करने योग्य वस्तु कुछ नहीं है इसी मतको वेलोग कहते है ॥४२॥ अतएव कामात्मा कहे कर्मबुद्धि स्वर्गादि फल प्राप्तिरूप कासना ही है परम पुरुषार्थ जिन के मत मे ऐसे जो मूढ हैं तेई जन्म कर्म तथा स्वर्ग फल देनेवाली जो वेदवाक्य सब हैं और भोग ऐश्वर्य प्राप्त होने के अर्थ साधनभूत जो वेदोक्त कहे वेदविहित अनेक अनेक क्रियों की आधिक्य कहे बहुतायत हैं जिन से मूढजन ऐसे बचन बोलते है अर्थात् जन्म ही है कर्म का फल तिस के देनेवाली वाक्यों को कहते है ॥ ४३ ॥ भोग औ ऐश्वर्य्य से आसक्त तथा ऊपर लिखी विषलता के तुल्य सुन्दर वेदवाक्य से आक्षष्ट कहे खैंचा गया है चित्त जिन का उनकी समाधि अर्थात् चित्तकी एकाग्रतारूप परमेश्वर मे जो एक निष्ठा तिसमे निश्चयात्मिकाबुद्धि होती नहीं इससे कर्मरूप जो बुद्धि उस मे कर्त्ता स्वरूप अहङ्कार अर्थात् हम कर्त्ता हैं इस वासना के मारे उन विचारोंको ऐसी एकनिष्ठा निश्चयात्मिका बुद्धि आपसे आप उत्पन्न कैसे होय यह भगवानने कहा

धौनविधीयते ॥ ४४ ॥ त्रैगुण्यविषयावेदानिस्त्रैगुण्योभवार्जुन। निर्द्वन्द्वोनित्यस त्त्वस्थोनिर्योगक्षेमआत्मवान् ॥ ४५ ॥ यावानर्थउदपानेसर्वतःसंप्लुतोदके। तावान् सर्वेषुवेदेषुब्राह्मणस्यविजानतः ॥ ४६ ॥ कर्मण्येवाधिकारस्तेमाफलेषुकदाचन।

भाषा अनुवाद

॥ ४४ ॥ स्वर्ग आदि फल जो परम फल नहीं है तौ फेरि वेदों ने किस लिये स्वर्ग आदि फल के साधन नाना प्रकार के कर्मों का विधान किया है तो कहते हैं कि सकाम अधिकारी जनो के अर्थ वेद कर्मफल का प्रतिपादन अर्थात् कहते हैं परन्तु तुम निष्काम होउ निष्काम होने की उपाय यह है कि निर्द्वन्द्व अर्थात् सुख दुःख शीत उष्ण हानि लाभ जन्म मरण आदि से रहित होउ अर्थात् ये सब सहो जो कहो कि कैसे इनको सहै तो कहते हैं कि धैर्य अवलम्बन करि के सहो और अप्राप्त वस्तु को प्राप्ति करने की इच्छा जो योग है औ प्राप्त भई वस्तु की रक्षा करना जो क्षेम है इन दूनो को परित्याग करि के सावधान होउ क्यों कि सुख दुख मे आसक्त औ अप्राप्त वस्तु की इच्छा प्राप्त का रक्षण इस मे व्याकुलचित्त असावधान जो है यह निष्काम कैसे हो सकेगा त्रैगुण्य जो त्रिगुणात्मक संसार सो है विषय कहे कथनीय जिनको ऐसे तो वेद है पर तुम निस्त्रैगुण्य कहे सांसारिक भाव सुख दुःखादि से रहित होउ ॥ ४५ ॥ जो कहो कि वेदोक्त कर्म औ तत्फल् वासनाके फल सकल त्याग करिके निष्काम ईश्वराराधनके अर्थ जो व्यवसायात्मिका बुद्धि सो कुबुद्धि है इस शङ्का को निवारण करते हुये भगवान कहते हैं कि जिस से जल पान किया जाय सो उदपान अर्थात् बावडी कुआ ताल तिन में जो अल्प जल हो तो सब काम साधने के अर्थ अर्थात् स्नान पान आदि करने के वास्ते तहां तहां भ्रमण करिके सब काम सिद्ध होयंगे परन्तु संप्लुतोदक कहे एक महा कुण्ड जिस मे अगाध जल भरा है उस एक ही से सब निर्वाह हो सकते हैं तैसे ही वेदोक्त जो कर्मके फल सो सब भगवद्भक्तियुक्त ब्रह्मपरायण पुरुष की भक्ति ही से मिलते हैं देखो ये स्वर्ग आदि सम्पूर्ण तुच्छ सुख ब्रह्मानन्द के भीतर ही अन्तरभूत हैं इस ब्रह्मानन्द के कणमात्र आनन्द को प्राप्त हो के सर्व प्राणी जीते रहते हैं यह श्रुतिमे कहाहै इससे निश्चयात्मिका जो बुद्धि सोई सुबुद्धि है ॥ ४६ ॥

माकर्मफलहेतुर्भूर्मातेसङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥ योगस्थःकुरुकर्माणिसङ्गंत्यक्त्वाधनञ्जय। सिद्ध्यसिद्ध्योःसमोभूत्वासमत्वंयोगउच्यते ॥४८॥ दूरेणह्यवरंकर्मबुद्धियोगा

भाषा अनुवाद

जो ऐसा कहतेहो कि समस्त कर्म का फल परमेश्वरकी आराधना करने हीसे होगा तो हम भगवतका आराधनही सब छोड़कर करें और कर्म करनेसे क्या प्रयोजन है इस शङ्काको निवारण करते हुये सिद्धान्त कहते हैं कि तत्त्वज्ञानके अर्थी जो तुम सो तुमको कर्ममात्र करने का अधिकार है और बन्धन का हेतुभूत कर्म के फलकी अभिलाषा करिके ये अनेक प्रकार की कामना करनेमें कभी तुमारा अधिकार नहीं है जो कहोकि कर्म करनेसे उसका फल अवश्य होहीगा जैसे कि आहार करनेसे तृप्ति होती ही है इसपर कहते हैं कि सो होय पर उसका पुण्य पाप नही लगता है जैसे अज्ञान बालक जो नीचका अन्न खाय तो उसका धर्म न जाय क्योंकि धर्म नाश के अर्थ नहीं खाया सो तुम फलके अर्थ कर्म मे प्रवृत्त न होउ निष्काम कर्म करो जो कर्मफलकी तृष्णासे कर्म करोगे तो कर्मफल प्राप्तिके हेतु होउगे जब फल की इच्छासे कर्म मे मनुष्य प्रवृत्त होता है तब फल औ जन्म दोनोका हेतु हो जाताहै नीच ऊंच योनिमे जनमिजनमिके फल भोगता है और जो कर्मफल को न चाहै तो दुःखरूप कर्म करने से क्या प्रयोजन है ऐसी मतिभी तुमको मति होय अर्थात् न करनेमे भी रुचि न होय तात्पर्य यह कि सकाम कर्म न करो निष्काम तो अवश्यही करो ॥ ४७ ॥ तो फिरि क्या करना चाहिये सो कहते हैं कि हे धनञ्जय अर्जुन योग कहे ईश्वर मे जो एक निष्ठा उसी मे स्थित होयके कर्म करो और हमी इसके कर्त्ता हैं ऐसे अभिमानको त्याग करिके केवल ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करो अर्थात् निष्काम कर्मका फलरूप तत्त्वज्ञान की प्राप्ति अप्राप्तिमे समता पूर्वक कहे समचित्त होय केवल ईश्वरार्पण जानिकै कर्मअनुष्ठान करो जिसहेतु ऐसी ही समता को साधुलोग योग कहते है क्योंकि इसीसे चित्त स्थिर होता हैं यह सुबोधिनीका अर्थ हैं। ईश्वरार्पण शब्दका भाव अर्थ यह है कि हम अपने हृदय मे टिके हुये अन्तर्यामी रूप परमेश्वर के आधीन हैं वही अन्तर्यामी हमारी वासना के अनुसार शुभ अशुभ जिस कर्म मे हमको लगावते उसी

धनञ्जय। बुद्धौशरणमन्विच्छकृपणाःफलहेतवः ॥४९॥ बुद्धियुक्तोजहातीहउभेसु
कृतदुष्कृते। तस्मात्योगाययुज्यस्वयोगःकर्मसुकौशलं ॥ ५० ॥ कर्मजंबुद्धियुक्ता
हिफलंत्यक्त्वामनीषिणः। जन्मबन्धविनिर्मुक्ताःपदंगच्छन्त्यनामयं ॥ ५१ ॥ यदाते

भाषा अनुवाद

को हम उनकी प्रेरणा से करते हैं ऐसे विचारकर किये हुये सब कर्मों को भग
वत अर्पण कहते हैं सोई पञ्चदशी मे कहा है कि जानामिधर्मंनचमेप्रवृत्तिर्जाना
म्यधर्मंनचमेनिवृत्तिः। त्वयाहृषीकेशहृदिस्थितेनयथानियुक्तोस्मितथाकरोमि ॥४८॥
जितने काम्य कर्म हैं सब को निकृष्ट कहे नकारे कहते हैं व्यवसायात्मिका बुद्धि
के द्वारा किये जो कर्मयोग उनका नाम बुद्धियोग और वह ज्ञान साधन का
उपाय है निष्काम बुद्धियोग की अपेक्षा सब काम्यकर्म अत्यन्त अपकृष्ट जो काम्य
कर्म ऐसा तुच्छ ठहरे तो हे धनञ्जय बुद्धिशब्द वाच्य कहे ज्ञान तिसको आश्रय
करि निष्काम कर्मयोगरूप भक्तियोगका अनुष्ठान करो चिन्तनीय पालनकरनेवाले
ईश्वर ही को बुद्धिका आश्रय करो कर्मफलके अभिलाषी जो नर हैं सो कृपण औ
दीन हैं श्रुतिने भी यही कहा है कि हे गार्गि ईस अक्षर स्वरूप ब्रह्मको न जानि
जो संसार मे लोकान्तरगामी होते हैं वेई कृपण अर्थात् निकृष्ट है इस से बुद्धि
कहे ज्ञान उसमे आश्रय लेउ ॥ ४९ ॥ पूर्व जो कहा कि सुख दुख आदि से
समान बुद्धि होकर स्वधर्म को करै तो बुद्धियोगयुक्त होने से क्या होता है सोई
बुद्धियोग की श्रेष्ठता कहते हैं कि सुकृत जो पुण्य स्वर्ग आदि का देनहार औ
दु कृतजो पाप नरकवासकी प्राप्ति करनेका साधन इनदोनोको बुद्धियोगयुक्त पुरुष
इसी जन्म मे भगवत् की कृपामे परित्याग करते है जिससे हे अर्जुन तुम बुद्धियोग
रूप निष्काम कर्म करो जिससे योग कर्मके बीच मे कौशल कहे चातुर्य है अर्थात्
सकल कर्म बन्धन होने के कारण हैं तौ भी ईश्वर की आराधना से मुक्ति प्राप्ति
करना चातुर्य है इसी को योग कहते सो बुद्धियोगयुक्त तुम होउ ॥५०॥ सुख दुख
आदिमे समता युक्त भी भये और सुकृत दुःकृत कर्मके फलको परित्याग किये भी
अर्थात् निःकाम कर्म किये से भी फेरि मोक्ष कैसे होगी इस शङ्कापर कर्मको
मोक्षको साधनता है यह कहते कि कर्मके फल की अभिलाष छोड करिके केवल

मोहकलिलंबुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदागन्तासिनिर्वेदंश्रोतव्यस्यश्रुतस्यच॥ ५२॥
श्रुतिविप्रतिपन्नातेयदास्थास्यतिनिश्चला। समाधावचलाबुद्धिस्तदायोगमवाप्स्यसि॥
५३॥ अर्जुनउवाच। स्थितप्रज्ञस्यकाभाषासमाधिस्थस्यकेशव। स्थितधीःकिंप्र
भाषेतकिमासीतव्रजेतकिं॥ ५४॥ श्रीभगवानुवाच। प्रजहातियदाकामान्सर्वान्

भाषा अनुवाद

ईश्वराराधनार्थ कर्म करते हुये बुद्धिमान मनुष्य ज्ञानी होके जन्मरूप बन्धन से छूटि करि सकल उपद्रव से रहित जो विष्णुपद जिसको मोक्ष कहते तिस को सह जमे पावते हैं॥५१॥ जो कहोकि कब हम उस विष्णुपदको पावेंगेतो दोश्लोकसे कहते हैं कि मोह जो देहादिक मे आत्मबुद्धि अर्थात् आत्मास्वरूप जो कुछ है सो देह है ऐसा जो दृढ़ विश्वास सोई दुरवगाह अज्ञान गहन वन है सो जब इस पूर्व कथितरूप परमेश्वर की आराधना करने से भगवत की कृपासे तुमारी बुद्धि देह अभिमानरूप मोहमय अगम्य कानन कहे वनके पार अच्छीतरह से होगी अर्थात् देहाभिमान छूटेगा तब विष्णुपदरूप मुक्ति प्राप्तिहोगी और जो अर्थ सुना चाहते हो और सुनिचुके हो तिस सब अर्थ मे वैराग्य उत्पन्न होगी अर्थात् वह सब तुच्छ कहे किसी कामका नहीं यह जानि सकोगे मोरि और उस बातको न पूछोगे॥ ५२॥ इसी प्रकार लौकिक कहे लोक की वार्त्ता औ वैदिक कहे वेद की बातैं अनेक प्रकार की श्रवण करते करते पूर्व से विक्षिप्त कहे भ्रमित जो तुमारीबुद्धि सो जब समाधि मे स्थिर होगी अर्थात् अच्छीतरह लगाया जाय चित्त जिसमे सोसमाधि कहे परमेश्वर तिसईश्वरमे और औरविषयोंको छोड़ि अभ्यास करते करते निपुण होय जब अचल रूपसे स्थिर होगी तब तुम योगका फल जो तत्त्वज्ञान सोपावोगे॥५३॥ पूर्व श्लोक मे कहा जो आत्मतत्त्वज्ञानी का लक्षण उस के जानने की इच्छा करि अर्जुन पूछते हैं कि हे केशव अनायासलभ्य समाधि मे स्थित जो निश्चल बुद्धि स्थित प्रज्ञ पुरुष उसका क्या लक्षण है अर्थात् कैसे उसको जानैं तात्पर्य यह है कि कैसे लक्षण होने से किस आचरण से स्थिरप्रज्ञ होता हैं सोई पूछतेहैं कि ज्ञानी कैसे बोलते बैठते और कैसे चलते फिरते रहतेहैं॥५४॥ श्रीभगवान बोले कि हे अर्जुन सुनो जिनको साधक लोग ज्ञान साधन के निमित्त

पार्थमनोगतान् । आत्मन्येवात्मनातुष्टःस्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥ दुःखेष्वनुद्विग्नमनाःसुखेषुविगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधःस्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥ यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्यशुभाशुभं । नाभिनन्दतिनद्वेष्टितस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥५७॥ यदासंहरतेचायंकूर्मोऽङ्गानीवसर्वशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥

भाषा अनुवाद

यत्नपूर्वक साधना करते हैं वेई सिद्धके स्वाभाविक कहे स्वभावसिद्ध लक्षण हैं इस मे अब सिद्धके लक्षण कहने के अनन्तर ज्ञानके साधन अध्याय की समाप्ति पर्यन्त कहते हैं तिनमेंसे प्रथम दो श्लोकसे पहिली प्रश्न का उत्तर करते हैं कि हे अर्जुन मुनिजन मनोगत सकल कामना जब अच्छीतरह से त्याग करते है कि अपने परम आनन्दरूप आत्मा मे जो रमै सो आत्माराम अर्थात् आप आपने आत्म सुख मे सन्तुष्ट होतेहैं तिससे जब क्षुद्र विषय अभिलाषको छोडतेहै तब उसी लक्षणसे मुनिजन स्थितप्रज्ञ कहेजातेहै ॥५५॥ अब लक्षण कहनेके बहानेसे जिज्ञासु अर्जुन को और जो करना चाहिये सो उपदेश करते है कि जिनका मन दुख पडने से उद्विग्न अर्थात् घबडाय नही और सकल सुखकी स्पृहा कहे इच्छा न करैं सुख दुख मे समान रहै सो वीतराग अर्थात् विषय प्रीति रहित एवं भय औ क्रोधशून्य स्थितप्रज्ञ कहे स्थिरबुद्धि मुनि कहावते है ॥५६॥ अर्जुन ने पूछाथा कि तत्त्वज्ञानी किस प्रकार से बात कहतेहै उस प्रश्न का उत्तर भगवान कहतेहै कि समस्त पुत्र मित्र धन धाम आदिक मे जिस को स्नेह कहे प्रीति नही है और शुभ प्राप्ति होने से सुखी औ अशुभ लाभ होने से दुखित भी न होय है अर्थात् स्तुति औ निन्दा मे राग द्वेष कहे प्रीति विरोध हीन है केवल उदास के समान अर्थात् उदासीन ऐसे हो बात करते है उनी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है वेई स्थिरबुद्धि मुनि है ॥ ५७ ॥ जिज्ञासु को और क्या करना योग्य है सो सूचन करावते कहते है कि और पूर्व कथित योगी जब इन्द्रियार्थ जो नानाप्रकारके विषय तिन से सर्व इन्द्रियोंको अनायास कहे सहजमे लौटावै अर्थात् फेरलेय इसमे दृष्टान्त कहते है कि जैसे कूर्म कहे कछुआ अपने सुख कर चरण अनायास समेटि लेता है तैसेही योगी विषयों से इन्द्रियों को जब बटोर ले सकै तब उस ज्ञानी की बुद्धि स्थिर है ॥

५८॥ विषयाविनिवर्त्तन्तेनिराहारस्यदेहिनः। रसवर्ज्जंरसोप्यस्यपरंदृष्ट्वानिव
र्त्तते॥ ५९॥ यततोह्यपिकौन्तेयपुरुषस्यविपश्चितः। इन्द्रियाणिप्रमाथीनिहर
न्तिप्रसभंमनः॥ ६०॥ तानिसर्व्वाणिसंयम्ययुक्तआसीतमत्परः। वशेहियस्येन्द्रि
याणितस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता॥६१॥ ध्यायतोविषयान्पुंसःसङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्

भाषा अनुवाद

५८॥ जो कहो कि इन्द्रियों की विषय मे अप्रवृत्ति होना यह स्थित प्रज्ञ का
लक्षण न हो सकेगा क्यो कि जड आतुर औ उपवास करनेवाले मनुष्यों की इन्द्री
भी विषय मे नहीं प्रवृत्त होती है तो इनसे औ ज्ञानी से फेरि क्या विशेष कहे
अन्तर है इन को भी स्थिरबुद्धि मुनि कहना उचित है तिस पर कहते हैं कि
हां आहार न करने से निराहार पुरुष को यद्यपि विषयों का इन्द्रिय द्वारा ज्ञान
नहीं होता सत्य है पर तौ भी उसकी विषयों से अभिलाषा नहीं जाती अर्थात्
विषय की वासना मन मे बनी रहती है और स्थित प्रज्ञ पुरुष के परमात्म दर्शन
हेतु से विषय की लालसा निवृत्तहोजाती अर्थात् अच्छी तरहसे अभिलाष सहित
विषयवासना नाशहोतीहै और जड आतुर जैसे विषयोंके अज्ञहैं तैसे आत्मा को
भी नहीं जानते तो वे स्थिर बुद्धि कैसे हो सकते है और रस कहे राग जो
प्रीति सो स्थित प्रज्ञ पुरुष की आप से आप निवृत्त होती है ॥५९॥ इन्द्रियों का
संयम किये विना अर्थात् विषयों से रोकने के विना स्थित प्रज्ञा कहे परमात्मा मे
अचल बुद्धि होती नही इस से प्रथम साधन की अवस्था मे इन्द्रीयों को स्वाधीन
करने के अर्थ बडा यत्न करना चाहिये यह कहते है कि हे कौन्तेय कुन्तीनन्दन
अर्जुन मोक्ष के हेतु प्रयत्न करते हुये विवेकी विचारवान ज्ञानी पुरुष के भी
मनको ये प्रबल प्रमाथी कहे क्षोभ करनेवाली इन्द्री हरण कर लेती हैं॥ ६०॥
इन्द्रियों को स्वाधीन करना यह कहि करि फेरि क्या करना उचित है सो कहते
है कि तो सब इन्द्रीयों का संयम करिके युक्त योगी मेरे मे तत्पर हो रहे अर्थात्
आत्मामे निष्ठाकरिके बैठ रहे यह कहि कर ज्ञानी कैसे स्थिति करते इस प्रश्नका
उत्तर दिया अर्थात् जिसके इन्द्रीयगण वश है उस को प्रज्ञा कहे बुद्धि प्रतिष्ठित
अर्थात् स्थिर है॥ ६१॥ बाह्यइन्द्रिय कहे बाहर की इन्द्रियों के वश न रहने

संजायतेकामःकामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥ क्रोधाद्भवतिसम्मोहःसम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशोबुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥ रागद्वेषवियुक्तैस्तुविषयानीन्द्रियैश्चरन्। आत्मवश्यैर्विधेयात्माप्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

भाषा अनुवाद

मे जो दोष सो देखाय अब अवशीभूत जो मन तिस का दोष देखावते हैं कि बुद्धि के द्वारा रूपादिक वियों को ध्यान करते हुये पुरुष का मन उन विषयों मे आसक्त होता अर्थात् विषय सङ्ग होता है और सङ्ग से अधिक अधिक कामना उत्पन्न होती है फेरि जो कामना किसी प्रकार से नष्ट होय तो क्रोध प्रगट होता है अर्थात् काम से क्रोध प्रगट होय है ॥ ६२ ॥ और क्रोध मोह का हेतु है इस को दृढ़ करते हैं कि क्रोध से अर्थात् उस के द्वारा मोह होता है अर्थात् काज अकाज का विचार नहीं रहता फेरि संमोह होने से शास्त्र औ आचार्य्य तथा गुरु का दिया जो उपदेश कहे शिक्षा अर्थ सो विचलित अर्थात् भूल जाय है और स्मृति भ्रंस होने से कहे उपदेश भूल जाने से बुद्धि की चेतनाशक्ति चली जाती है अर्थात् बुद्धि नष्ट होती है बुद्धि नाश होने से जड़ के समान होय फेरि वह मनुष्य मुर्दे की तुल्य हो कर नष्ट हो जाता है ॥ ६३ ॥ जो कहो कि चिरकालसे विषयमे निमग्न स्वभाव कहे विषय मे आसक्त इन्द्रियगण का विषय से रोकना जो असाध्य अति कठिन हैं तो पूर्व्वउक्त दोष निवारण कैसे हो सकेगा इस से स्थित प्रज्ञा होनाभी असम्भव कहे अति दुर्घट है इस शङ्का पर कहते हैं कि राग कहे प्रीति औ द्वेष जो विरोध तिनसे रहित होके अर्थात् इनको छोड़ के औ अभिमान त्याग करिके सब इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करने से भी शान्ति प्राप्ति होती है तो राग द्वेष रहित कैसे होय सो कहते हैं कि मन के आधीन कहे वशीभूत सब इन्द्रिय हैं और इन्द्रिय प्रवर्त्तकारी मन को जो मनुष्य अपने वश कर राखै है उसके फेरि और राग द्वेषादिक रहते नहीं इस कहने से अर्जुन को चौथो प्रश्न जो है कि स्थितप्रज्ञ कैसे गमन करै है उस का उत्तर दिया कि स्वाधीन इन्द्रियगण राखि के विषयों मे गमन करै अर्थात् इन्द्रीजित हो विषय भोग करै जिस हेतु आत्मवश इन्द्रिय द्वारा विषय भोग करता हुआ आत्मा

प्रसादेसर्व्वदुःखानांहानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसोह्याशुबुद्धिःपर्यवतिष्ठते॥ ६५॥ नास्तिबुद्धिरयुक्तस्यनचायुक्तस्यभावना। नचाभावयतःशान्तिरशान्तस्यकुतः सुखं॥ ६६॥ इन्द्रियाणांहिचरतांयन्मनोऽनुविधीयते। तदस्यहरतिप्रज्ञांवायु र्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥ तस्माद्यस्यमहाबाहोनिगृहीतानिसर्व्वशः। इन्द्रियाणी

भाषा अनुवाद

सुखी रहता है॥ ६४॥ इस प्रकार शान्ति प्राप्त होने पर फिरि क्या होता है सो कहते हैं कि शान्ति लाभ होने से सब दुख नाश हो जाते हैं फेरि इस शान्त चित्त पुरुषके सुन्दर बुद्धि स्थिर होती है॥ ६५॥ इन्द्रियों का निग्रह कहे काबूरखना जो स्थितप्रज्ञ पुरुष का साधन सो विपरीत कहे उलटी रीतिसे कहते हैं कि अवशीकृत इन्द्रिय मनुष्य के शास्त्र औ आचार्य्य के उपदेश से आत्मज्ञान होने के योग्य बुद्धि उत्पन्न नहीं होती है तो स्थित प्रज्ञ होना दूरबात है इहां भावना का अर्थ ध्यान है सो ध्यान के द्वारा बुद्धि आत्मामे प्रतिष्ठित कहे स्थित होती है परन्तु जो इन्द्रियगण वश न करि सके उस को यह ध्यान कहां है इसीसे वह आत्माके ध्यानका अनधिकारी है तो फिरि उसको शान्तिनहीं होती अर्थात् आत्माने चित्तयुक्त नहीं होता और अशान्त पुरुष को सुख कहे परम आनन्द कहां से हो सके गा॥ ६६॥ इन्द्री वश किये विना तत्त्वज्ञान नहीं होता इसका कारण कहते हैं कि अवशीकृत इन्द्रिय विषयाधीन भोगी पुरुषकी इन्द्रियों के बीच जब एक इन्द्री के साथ मन धावता है अर्थात् उसके आधीन हो विषय पर चला तो फिर वह मन पुरुष की बुद्धि हरि के उस को विषय मे वेक्षिप्त करता है तब सब इन्द्री इकट्ठे हो प्रज्ञा को हरण करती हैं तो और क्या कहैं फेरि वायु जैसे जलमे नाव को इधर उधर नचावती है तैसेही यह मन इन्द्रियों के साथ विक्षिप्त हो जहां तहां मारामारा भ्रमता फिरता इस पुरुष को खराब करता है॥६७॥ इन्द्रियोंका संयम करना स्थिरप्रज्ञ पुरुष का साधन औ यही उसका लक्षण है यह जो पूर्व्व कहि चुके सोई अब फेरि कहते हैं कि हे महाबाहो अर्जुन जो इन सब इन्द्रियों को विषयों से शान्त राखि सकै उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है महाबाहु सम्बोधन देनेसे यह जनाया कि तुम वैरियों के निग्रह करने मे समर्थ हो इससे

न्द्रियार्थेभ्यस्तस्यप्रज्ञाप्रतिष्ठिता ॥ ६८॥ यानिशासर्वभूतानांतस्यांजागर्त्तिसंयमी। यस्यांजाग्रतिभूतानिसानिशापश्यतोमुनेः ॥ ६९ ॥ आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठंसमुद्र

भाषा अनुवाद

अवश्य इन्द्रियोंको वश करि सकोगे क्योंकि ये इन्द्री पुरुषकी परम शत्रु हैं इनको जय करने विना बडी हानि है यह इसका भावार्थ है ॥६८॥ जो सन्देह करो कि निद्रागत कहे सोये हुये मनुष्यके समान देखना सुनना बोलना चलना या अरस परस करना आदि इन्द्रियोंके व्यापारसे रहित कहे इन्द्रीजित तो कोइभी पुरुष इस संसारमे नहीं देख पडता है तो स्थित प्रज्ञका लक्षण जो कहा सो असम्भव अर्थात् कोईभी स्थिर बुद्धि नहीं है इस पर श्रीभगवान कहते है कि अज्ञानरूप अन्धकार से आवृत्त कहे घेरे हुये सकल मनुष्योंको आत्मनिष्ठा कहे आत्मज्ञान तत्त्वज्ञानरूप विषयमे दर्शन आदि कोई व्यापार न रहने से जन्तुवों की जो निशा कहे रात्रि अर्थात दर्शनादि व्यापार शून्य अवस्था है तद्रूप आत्मनिष्ठा कहे तत्त्वज्ञान अवस्था रात्रि है जिसमे विषयी विचारों को कुछ नहीं सूझता है सोये हुये पुरुष के समान शिथिल पडेहै कोई इन्द्रीभी कुछ काममे नहीं आतीहै यही आत्मनिष्ठारूप निशा तुम सब जीवोंकी जानो इससे संयमी कहे इन्द्रीजित जागते है अर्थात् तत्त्व ज्ञानका अनुभव करते औ स्व स्व रूपको देखते आनन्द पावते है और जो विषय निष्ठा कहे विषयों का ज्ञान जिस मे सब प्राणी जागते अर्थात विषयी जन विषयों मे बोधयुक्त होय दर्शनादि व्यापार करते हुये स्वप्न की ऐसी संपदा मे मगन है सोइ अवस्था मुनि जो तत्त्वज्ञानी है उन को रात्रि तुल्य है अर्थात् इस विषय मोह रूप रात्रिमे उन को कुछ नही सूझता है सोये हुये नर के समान अचेत हैं अर्थात् ब्रह्म मे दृष्टि है और विषयों को देखते नहीं सोई कहा कि जो निशा सब भूत कहे प्राणियों की है उस मे मुनि जन जागते और जो ज्ञानियों की रात्रि उस मे प्राणी सब जागते है जैसे उलूआपची और चमगादुर छुछुन्दर आदि जीव और जीवोंकी जो रात्रि वह इनका दिन है अपना सब व्यापार उसमे करते उसीसे रात भर घूमते हैं तैसेही जानो ॥६९॥ जो कहो कि विषयमे दृष्टि विना भये फेरि वे ज्ञानी विषय भोग कैसे करते है इस आशय मे भगवान कहते हैं कि

मापःप्रविशन्तियद्वत् । यद्वत्कामायंप्रविशन्तिसर्व्वेसशान्तिमाप्नोतिनकामकामी ॥ ७० ॥ विहायकामानृय सर्व्वान्पुमांश्चरतिनिस्पृह. । निर्ममोनिरहङ्कार.स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥ एषाब्राह्मीस्थिति.पार्थनैनाप्राप्यविमुह्यति । स्थित्वा स्यामन्तकालेऽपिब्रह्मनिर्व्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायांसांख्ययोगो नामद्वितीयोऽध्याय ॥ २ ॥

भाषा अनुवाद

जैसे नद नदी नारोंके जल प्रवाहके जोर से अचल समुद्रमे जाय प्रवेश करते पर समुद्र को इच्छा नही है तैसेही विषय सब अद्दष्ट कहे पूर्व्व कर्म्मके अनुसार इस संसारमे भोगइच्छा हीन मुनिके अन्तःकरणमे अद्दष्टके जोरसे कर्म्मके द्वारा विषय प्रवेश करते हैं परन्तु तिनके द्वारा हो विषय भोग करते हुये भी वे कैवल्य मुक्ति पावते है और कामके कामी भोग कामना शील कहे विषय स्वभाव वे नहीं होते है ॥७०॥ जब ऐसी व्यवस्था है तों जो प्राप्त विषय को त्याग करते या अनादरसे ग्रहण करते है और अप्राप्तमे इच्छा रहित कहे किसीकी अभिलाषा नही रखते इससे उनको अहङ्कार नही है इसी से भोग अभोग साधनमे ममता स्नेहशून्य हो कर आत्मामे दृष्टि राखि अद्दष्ट बशते विषयोंका भोग करते है और कहीं भोजाय पर शान्ति को प्राप्त होते हैं अर्थात् जो सब कामना छोडि बेपरवाह अहं ममता हीन पुरुष भोग करैं या कहीं जाय पर शान्ति तो पावते ही है ॥ ७१ ॥ पूर्व्वकी कही हुई ज्ञाननिष्ठाकी प्रसंशा करिके कहते है कि हे अर्जुन उक्त ब्रह्मज्ञान को निष्ठा ऐसी है इससे भगवतके आराधनसे शुद्धचित्त पुरुष यह ब्रह्मनिष्ठा पाय करि और संसार सागरमे मूढ नही होता है देखो मरती बार भी एक क्षण भर जो ब्रह्मनिष्ठामे मन स्थिर करते वे ब्रह्ममे लीन होते है तो बालपनसे या बहुत दिनोंसे इस ब्रह्मनिष्ठा की अभ्यास से इसमे मन स्थिर करि अन्तमे मुक्ति मिलैगी इसमे फिरि कुछ सन्देह बाकी है सा हे पार्थ यह ब्राह्मी स्थिति है इसको प्राप्त होय फेरि मोह नही पावते अन्तकाल मे भी इस मे क्षणभर मन थिर करिके मनुष्य निश्चय ब्रह्म निर्व्वाणपद पावते है ॥७२॥ इति श्रीजगन्नाथसुक्लविरचितायां मनभावनीटीकायां श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्याय ॥ २ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

तृतीय अध्यायः।

अर्जुन उवाच। ज्यायसीचेत्कर्मणस्तेमताबुद्धिर्जनार्दन। तत्किंकर्मणिघोरेमां नियोजयसिकेशव ॥१॥ व्यामिश्रेणेववाक्येनबुद्धिंमोहयसीवमे। तदेकंवदनिश्चित्ययेन

भाषा अनुवाद

गीताशास्त्रमे प्रथम प्रवृत्ति औ निवृत्ति को हेतुरूप सांख्य तथा योग ये दो प्रकार की बुद्धि देखावते हुये श्रीजगदीश्वरने अशोच्यानन्वशोचस्त्वं इत्यादि श्लोक से पहिले मुक्तिसाधनके विषयमे देह औ आत्माका भेद कहा तिसके अनन्तर एषा तेऽभिहिता सांख्ये इत्यादि श्लोकके द्वारा निष्काम कर्म करने को कहा परन्तु तिससे कौन पक्ष मुख्य कहे श्रेष्ठ औ कौन गौण कहे साधारण है यह कुछ भाव कहे भगवत की अभिप्राय न जानी गई और तिसके बीचमे ज्ञानी पुरुष को कर्म रहित होना तथा इन्द्री वश करना औ निरहकार रहना कहिकर एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ इस श्लोकसे प्रसंशा पूर्वक भगवतकी कहावत से तत्त्वज्ञान औ निष्काम कर्मयोगरूप भक्तियोग इन दोनोके मध्यमे ज्ञान ही की श्रेष्ठता भगवान को अभिमत है यह जानिकर अर्जुन कहते हैं कि हे केशव जो निष्काम कर्म योगरूप भक्तियोग की अपेक्षा शीघ्र मुक्ति का देनहार तत्त्वज्ञान ही श्रेष्ठ आप को अभिमत है तो फेरि किसवास्ते तस्माद्युध्यस्व तस्मादुत्तिष्ठ ये बातें कहि कहि कर हे जनार्दन घोर हिंसा रूप कर्ममे हमै प्रवृत्त करते हौ जनार्दन संबोधन देनेसे यह आया कि जन कहे भक्तजन जो मै तिस को अर्दन कहे पीड़ा देने वाले काहेको होते हौ यह अर्जुन का तात्पर्य है ॥१॥ हे अनघ निःपाप अर्जुन मैयह बात पर्व कहि चुका हूं तहां जो मोक्ष के हेतु रूप ज्ञान तथा कर्म ये दोनो

श्रेयोऽहमाप्नुयां ॥ २ ॥ श्रीभगवानुवाच। लोकेऽस्मिन्द्विविधानिष्ठापुराप्रोक्तामया

भाषा अनुवाद

निष्ठा मैं पृथक पृथक कहे अलग अलग जो कहे होता या अभी जो तुमसे कहा इसी मे पृथक करि कहा होता तो अलबत्ता दोनो के बीच जो उचित हो सो निश्चय कर कहो यह तुमारा कहना ठीक था परन्तु मैं ने तो ऐसा नहीं कहा केवल दोनो हीं पक्ष मे एक ब्रह्मनिष्ठा ही को कहा क्यों कि गौण और मुख्यफल दायक ये कर्मयोग औ ज्ञानयोगसे भिन्न भिन्न ऐसी एक ज्ञाननिष्ठा ही मैंने कहा सो भी अधिकारी के भेद से कि जैसा अधिकारी हो वैसा आचरण करै और दोनो निष्ठा का अधिकारी एकही पुरुष कैसे होगा जो तुम कहते हो कि दोनो मे एक निश्चय कर कहो सो शुद्ध अन्त करण औ अशुद्ध अन्त करणहोने से अधिकारी दो प्रकार के है इससे दो मत कहे गये है सोई दो प्रकार ब्रह्मनिष्ठा जो मोक्षप्राप्तिकी उपाय सो पूर्व अध्यायमे मैंने स्पष्ट करके कहा है अब उक्त दोनो मतका निर्णय करते है कि साख्य कहे शुद्ध अन्त.करण ज्ञानमार्गमे आरूढ पुरुष को ज्ञान परिपाक रूप कारण से ज्ञानयोगके द्वारा आत्मा की निश्चय करनेवाली ध्यान आदि निष्ठा और धर्म्याद्धियुद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते इत्यादि श्लोकों से भगवान कर्म को प्रधान कहा है इसी शङ्कापर अर्जुन कहते हैं कि कहीं तो कर्म की प्रशंसा और कहीं ज्ञान की बडाई करते हुये आप ही सन्देह के उत्पन्न करनेवाली इन बातो से मेरी बुद्धिको मोहसा करते हुये यह आप क्या कहते हो यद्यपि परम करुणामय जो आप तिन के मोह कहां है तो भी भ्रान्ति से हमको मोह की ऐसी बातें समझ पडती है सो ज्ञान औ कर्म दोनो के बीच मे जो कल्याणकारी होय वही एक पक्ष निश्चय करके हमको कहो अथवा जो हमारा कल्याण इस युद्ध कर्महीसे निश्चय किये हौ तो इसी को निर्धार करिके ठीक कहो ॥ २ ॥ अर्जुन की प्रश्न के अनुरूप उत्तर करते हुये श्रीभगवान कहते हैं कि इस लोकमे शास्त्रके अर्थ अनुसार चलनेवाले ब्राह्मण क्षत्री वैश्य इन तीनि वर्णोंके अर्थ दो प्रकार की निष्ठा पूर्वही अर्थात् सृष्टि के प्रथमही उन का श्रेयसाधन कहे मुक्तिका देनहार वेदार्थ सम्प्रदाय प्रगट करतेहुयेमैंने इस रूपसे ब्रह्मपरता कही

नघ। ज्ञानयोगेनसांख्यानांकर्मयोगेनयोगिनां॥ ३॥ नकर्मणामनारम्भान्नैष्क र्म्यंपुरुषोऽश्नुते। नचसंन्यसनादेवसिद्धिंसमधिगच्छति॥४॥ नहिकश्चित्क्षणमपि जातुतिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्य्यतेह्यवशः कर्मसर्वःप्रकृतिजैर्गुणैः॥५॥ कर्मेन्द्रियाणि

भाषा अनुवाद

है। यथा तानिसर्वाणिसंयम्ययुक्तआसीतमत्परः इस श्लोक से और जो ज्ञानमार्ग मे नहीं प्राप्त है उन लोगो को चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञानमार्ग पर आरूढ होने के अर्थ उस की उपाय रूप कर्मयोग के अधिकारियो को कर्मयोग से निष्ठा अर्थात् ब्रह्मपरता कही गई है यथा धर्माद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते इत्यादि श्लोकोंसे कहा है अतएव चित्तशुद्धि अशुद्धि दो अवस्था भेदसे दोप्रकार ब्रह्मपरता कथित भई है पर तौ भी तुम से प्रकाश करि कहे खुलासा से मैने कहि दिया है कि एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु इस श्लोकसे फिरि भी तुम सन्देह करते हो॥ ३॥ इस से यह आया कि सम्पूर्ण चित्तशुद्धि के द्वारा जब तक ज्ञान उत्पन्न न होय तब तक वर्ण कहे जाति औ आश्रम कहे ब्रह्मचर्य्य गार्हस्थ्य वान प्रस्थ संन्यास इन मे विहित जो जो कर्म सो सब करना उचित है नही तो चित्त शुद्धि के विना ज्ञान कैसे होसकेगा यही भगवान कहते है कि कर्म किये विना पुरुष नैष्कर्म्य जो तत्वज्ञान सो नही पावते है जो कहो कि संन्यासी फेरि सर्वकर्म परित्याग करि तत्वज्ञान कैसे पावते है और वेद की श्रुति कहती है कि संन्यास धारण करने ही से मुक्ति मिलती है फेरि कर्म करने से क्या प्रयोजन है इस शङ्का पर कहते है कि सो नही क्यों कि निष्काम कर्म करि चित्तशुद्धि किये विना ज्ञान का अभाव है औ ज्ञान के विना मुक्तिप्राप्ति नही होती यह निश्चय है कुछ संन्यास ही लेनेसे पुरुष सिद्धिको नही प्राप्त होता है॥ ४॥ कर्म संन्यास इसका यह अर्थ है कि सर्व कर्म मे आसक्ति रहित होना मात्र न कि एकाएक सब कर्मो का त्याग करना और शरीर रहते कर्म का त्याग भी असाध्य है सोई कहते है कदाचित कहे किसी अवस्थामेभी क्या ज्ञानी और क्या अज्ञानी क्षणमात्र भी मान सिक वाचिक कायक कर्म किये विना रह नहीं सकता है कारण यह कि प्रकृति जो स्वभाव तिस के प्रभाव से राग द्वेष कहे प्रीति विरोध आदि गुणो मे सब

संयम्ययआस्तेमनसास्मरन्। इन्द्रियार्थान्विमूढात्मामिथ्याचारःसउच्यते ॥ ६ ॥ यस्त्विन्द्रियाणिमनसानियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैःकर्मयोगमसक्तःसविशिष्यते ॥ ७ ॥ नियतंकुरुकर्मत्वंकर्मज्यायोह्यकर्मणः। शरीरयात्रापिचतेनप्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥८॥ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्रलोकोऽयंकर्मबन्धनः। तदर्थंकर्मकौन्तेयमुक्तसङ्गः समाचार ॥ ९ ॥ सहयज्ञाःप्रजाःसृष्ट्वापुरोवाचप्रजापतिः। अनेनप्रसविष्यध्वमेष

भाषा अनुवाद

मनुष्य परतन्त्र कहे परवश हो कर्म करते ही हैं ॥ ५ ॥ इसी से अज्ञान कर्म त्यागी की निन्दा करते हैं कि जो आत्मस्वरूप को स्थिर न करि के वाक पाणि पाद आदि कर्म इन्द्रियों को वशीभूत अर्थात् काबू करि भगवत के ध्यान के बहाने से मन की चञ्चलता के कारण से इन्द्रीयगण का अर्थरूप विषयों का स्मरण मनसे करता है सोई मूढ मिथ्याचारी अर्थात् नास्तिक कहावता है ॥ ६ ॥ अब इस के विपरीत कहे उलटा कहते अर्थात् कर्मकारी पुरुष को श्रेष्ठ कहते हैं कि जो फल की अभिलाष रहित मनुष्य चक्षु श्रोत्र घ्राण आदि ज्ञान इन्द्रियों को, मन के द्वारा वशीभूत करि के अर्थात् ईश्वर मे तत्पर होय सकल कर्म मे अपने को अन्त र्यामी भगवानके आधीन जानिके कर्मरूप योग आरम्भ करते हैं वेई फलाभिलाष रहित चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानवान होते हैं और कर्म दोष रहित हो मुक्तिलाभ करते हैं ॥ ७ ॥ जिस हेतु ऐसी व्यवस्था है इस से तुम कर्म करो सोई कहते हैं कि नियत कहे नित्य कर्म संध्या उपासन आदि कर्म अनुष्ठान करो जिसलिये कर्म न करने से कर्म करना ही भला है नहीं तो सब कर्म छोडने से एकवारगी कर्मशून्य अचेतनकी भांति रहनेसे तुमारीशरीरयात्राभी कैसे करनिवहैगी अर्थात् नचलैगी ॥ ८ ॥ सांख्य मतवाले कहते हैं कि बन्धनके कारणभूत कर्म है इसके सम्पूर्ण कर्म न करनाहीं भलाहै उसी को निर्णय करिके भगवानकहतेहैं कि यज्ञ शब्दका अर्थ विष्णुहै यह श्रुतियोंमे कहाहै सो यज्ञरूप जो विष्णु भगवान तिनके आराधनार्थ जो कर्म तिस को छाड़िकरिके और सब कर्म अलवता लोगों को संसार बन्धन करते हैं परन्तु ईश्वर आराधन रूप कर्म तैसे नहीं है इससे विष्णु प्रीत्यर्थ निष्कामबानस होय सब कर्म अच्छी तरहसे करो क्या डरहै ॥ ९ ॥ ब्रह्मा

वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥ देवान्भावयतानेनतेदेवाभावयन्तुवः। परस्परंभावय
न्तःश्रेयःपरमवाप्स्यथ ॥११॥ इष्टान्भोगान्हिवोदेवादास्यन्तेयज्ञभाविताः। तैर्द
त्तानप्रदायैभ्योयोभुङ्क्तेस्तेनएवसः ॥१२॥ यज्ञशिष्टाशिनःसन्तोमुच्यन्तेसर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जतेतेत्वघंपापायेपचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥ अन्नाद्भवन्तिभूतानिपर्जन्यादन्न

भाषा अनुवाद

की वाक्यसेभी कर्म की कर्त्तव्यता ही श्रेष्ठ आवती है सोई चारि श्लोकसे कहते
हैं कि यज्ञके साथ सहयज्ञ अर्थात् यज्ञके अधिकारी ब्राह्मण आदि सब प्रजा को
सृष्टिके आदिमे उत्पन्न करनेके बादि ब्रह्माने यही बात कही थी कि इसी यज्ञ के
द्वारा तुमारी वृद्धि होय इहां प्रसव शब्दका अर्थ वृद्धि है अर्थात् उत्तर२ वृद्धि होती
जाय कारण यह कि यज्ञ तुमारी इष्ट कामना की दाता है इस जगह यज्ञ
शब्द नित्य कर्म का उपलक्षण है अर्थात् यज्ञ कहने से नित्य कर्म भी सब आवते
हैं और इहां काम्य कर्म की प्रशंसा करना असङ्गत भी है तौभी सामायिक कोई
कर्म नकरनेसे काम्य कर्म करना ही उत्तम है इसी से कहा कि उसमे कोई दोष
नही है ॥ १० ॥ यज्ञ इष्टकामना की दाता कैसे होगी सो कहते हैं इसी
यज्ञके द्वारा तुम सब देवतावो को घृत आहुति देकर बढावो और वे देवता सब
भी तुमारी वृद्धि करैं अर्थात् जल बरसाय अन्न उपजाय तुमको सन्तुष्ट करैं इसी
तरह तुमारा दोनो का परस्पर कहे एकसे एकका अभीष्ट अर्थ सिद्ध होय ॥११॥
इस को अच्छी तरह विचार करिके कहते हैं कि कर्म नकरनेसे दोष होता है
देखो यज्ञसे सन्तुष्ट देवता जल वृष्टि करिके तुम सबके अर्थ अन्न आदि नाना
प्रकार के भोग देयंगे तो जो पञ्च यज्ञ के द्वारा देवदत्त अन्नादि वस्तु उनको न
देकर आपही भोग करि लेय सो चोर औ तातम है यह तुम जानो ॥ १२ ॥ इस
हेतु से यज्ञ करने वाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं और जो देव अतिथि अग्नि गोग्रास
बलि वैश्वदेव ये पञ्चयज्ञ नही करते केवल अपने वास्ते पाक करके खाते है वेई
लोभी पापाचारीहैं सोई भगवानकहतेहैं कि जो देवादिको को देकर आप भोजन
करतेहैं उनको पञ्चसूनाका पाप नही लगताहै सूना कहे हत्याके स्थान गृहस्थों
के घरमे रोज रोज हत्या होनेकी पांच जगहहैं घर झारते चुल्हेमे आग बारते

सम्भवः । यज्ञाद्भवतिपर्ज्जन्योयज्ञ:कर्मसमुद्भवः ॥१४॥ कर्मब्रह्मोद्भवंविद्धिब्रह्मा
क्षरसमुद्भवं ॥ तस्मात्सर्व्वगतंब्रह्मनित्यंयज्ञेप्रतिष्ठितं ॥ १५ ॥ एवंप्रवर्त्तितंचक्रं
नानुवर्त्तयतीहयः । अघायुरिन्द्रियारामोमोघंपार्थसजीवति ॥ १६ ॥ यस्त्वात्मर

भाषा अनुवाद

जलके पावसे और उखलमे कूटते तथा चक्की पीसते समय अनेकजीवहिंसा होती हैं सो पाप पञ्चयज्ञ न करनेवाले को लगतेहैं और वे स्वर्गवास नहींपावते ॥१३॥ संसार चक्रमे प्रवृत्तहोनेका हेतु जो कर्म सो कर्त्तव्य है यह तीन श्लोकसे कहते हैं कि अन्नहीं उदर मे जायकर रसरूप हो शुक्र कहे वीज औ शोणित कहे रुधिर होताहै जिससे भूत कहे प्राणी उत्पन्न होते हैं और सो अन्न मेघ वरसने से होता है और मेघ यज्ञधूम से होते और वह यज्ञ फेरि यज्ञ करने वालोंके व्यापारसे पूरी होती है यही वात श्रुति कहती हैं कि अग्निमे दी हुई आहुति सूर्य लोकमे रहती इसीहेतु सूर्य से वृष्टि होती औ वृष्टिसे अन्न होता फेरि उस अन्नसे सब प्रजा जन्मलेती हैं ॥ १४ ॥ जैसे अपूर्व हेतुवों से कर्म की श्रेष्ठता औ कर्त्तव्यता किसलिये कहा औ कर्म का वस्तु है सोई विवरन करते हैं कि यज्ञ कारी पुरुषों का व्यापाररूप जो कर्म सो ब्रह्म कहे वेदसे उत्पन्न भयाहै औ ब्रह्म जो वेद सो अक्षर जो परब्रह्म तिससे प्रगटभयाहै यह तुम जानो और श्रुतिनेभी कहा हैं कि परब्रह्मकी निःश्वास से ऋक् यजुर और सामवेद प्रगटे हैं इससे सर्वव्यापी परब्रह्म सर्वदा यज्ञमे प्रतीत है अर्थात् यज्ञरूप उपाय से ब्रह्मप्राप्ति होती है जैसे उद्योग करने से लक्ष्मीका लाभ होता है अथवा जगतमे मूल कर्म है इससे मन्त्र और अर्थके द्वारा सब मनुष्योंमे प्राप्त अनादि कालसे स्थित जो वेद ब्रह्म सो तात्पर्यके द्वारा प्रतिष्ठित है इससे यज्ञादि कर्म अवश्य कर्त्तव्य है ॥ १५ ॥ जिस हेतु ईश्वर की प्रेरणासे मनुष्य सकल पुरुषार्थ सिद्ध होनेके अर्थ इस संसार चक्रमे आय उक्त कर्मरूप चक्रमे प्रवृत्त हैं इससे कर्म न करने से मनुष्य जन्म ही व्यर्थ है यह कहते हैं कि ईश्वर की आज्ञा रूपवेदसे मुख्य यज्ञ कर्म मे प्रवृत्त होते तिससे मेघ और मेघसे अन्न अन्नसे प्राणी और प्राणियों से फेरि कर्म की प्रवृत्ति होती यही चक्र है अतएवजो ईश्वर साधन कर्म नहीं करते केवल इन्द्रियों

तिरेवस्यादात्मतृप्तश्चमानवः। आत्मन्येवचसन्तुष्टस्तस्यकार्यंनविद्यते॥ १७॥ नैव तस्यकृतेनार्थोनाकृतेनेहकश्चन। नचास्यसर्वभूतेषुकश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥१८॥ तस्मा दसक्तःसततंकार्य्यंकर्म्मसमाचर। असक्तोह्याचरन्कर्मपरमाप्नोतिपूरुषः॥ १९॥

भाषा अनुवाद

से विषय भोग मात्र करते उनका वृथा जीवन है॥ १६॥ कर्म्मणामनारम्भा दित्यादि श्लोकसे अज्ञानी पुरुषके अन्तःकरण शुद्धिके हेतु कर्म्मयोग कहि कर अब ज्ञानी को कर्म न करना दो श्लोकसे कहते हैं कि जिसकी आत्मा मे रति कहे प्रीति औ आत्म आनन्दमे मगन तथा आत्मासे जोसन्तुष्ट हैं और भोगादिसे रहित है ऐसे जो तत्त्वज्ञानी उनको कोई कर्म भी करना नहीं है॥ १७॥ जो तत्त्व ज्ञानीकहे आत्मज्ञानी पुरुषहैं उसको कोईभी कर्मकरना जरूरनहीं सोई कहते हैं कि न ज्ञानी को कर्म करने से पुन्य है और कर्म न करने से प्रत्यवाय कहे पाप भी नहीं है क्यों कि ज्ञानी तो निरहङ्कार है इस से उस को किसी कर्म का विधि औ निषेध नहीं है वह सब से अलग है जो कहो कि श्रुति कहती है कि देवतोंकी इच्छा नहीं है कि मनुष्य ब्रह्म को जानै औ ब्रह्मज्ञानी हो मोक्षको पावै तो निश्चय है कि मोक्ष होने मे देवता विघ्न करैंगे इसवास्ते विघ्न वारण के अर्थ देवतोंकी सेवारूप कर्म जरूर ही करना पडैगा इसपर भगवानकहतेहैं कि ब्रह्म से लेकर और स्थावरपर्य्यन्त किसीकी सहायता ज्ञानीको दरकार नहीहैं क्योंकि ज्ञानमार्ग मे विघ्न का अभाव है यह श्रुति से कहि चुके हैं इस से आत्मदर्शी को प्राणीमात्र की आश्रय कहे अवलम्ब लेने का कुछ काम नहीं है॥१८॥ इस से हे अर्जुन ज्ञानी पुरुषही को कर्म कर्त्तव्य नहीहै और दूसरे मनुष्यको तो कर्मकरना ही उचित है सो तुम कर्म करो यही कहते हैं कि तस्मात् कहे तिस से असक्त हो कर्त्तव्यकर्म निरन्तर समाचर कहे करो असक्त हो पुरुष कर्मकरते ऊर्ध्वपर जो मुक्ति उस को प्राप्त होतेहैं अर्थात् फल कामना रहित होकर अवश्य कर्म जो नित्य नैमित्तिक हैं सो सब करो जिसहेतु आसक्ति रहित कर्मकारी मनुष्य परम जो मुक्ति उस को चित्तशुद्धि के द्वारा पावता है। नित्यकर्म संध्यावन्दनादिक हैं और नैमित्तिक जो निमित्त पाय कर किये जांय जैसे पुत्र जन्म मे जातकर्मादिक

कर्मणैवहिसंसिद्धिमास्थिताजनकादय. । लोकसंग्रहमेवापिसंपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥
२० ॥ यद्यदाचरतिश्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः । सयत्प्रमाणंकुरुतेलोकस्तदनुवर्तते
॥ २१ ॥ नमेपार्थास्तिकर्तव्यंत्रिषुलोकेषुकिञ्चन । नानवाप्तमवाप्तव्यंवर्तएवच
कर्मणि ॥ २२ ॥ यदिह्यहंनवर्तेयंजातुकर्मण्यतन्द्रितः । ममवर्त्मानुवर्तन्तेमनुष्या.
पार्थसर्वशः ॥ २३ ॥ उत्सीदेयुरिमेलोकानकुर्यांकर्मचेदहं । सङ्करस्यचकर्तास्या

भाषा अनुवाद

कियेजातेहै इससे यहजनाया कि तुमको युद्धकी नैमित्तिक कर्मकरना आवश्यक है ॥१९॥ अब इस विषय मे ज्ञानियों के आचरणको प्रमाण देते है कि देखो परम ज्ञानी जनक राजा कर्म के आचरण करने से शुद्धसत्व हो कर अच्छी तरह ज्ञान को प्राप्त भये थे और जो तुम सम्पूर्ण ज्ञानी अपने को जानो तौभी कर्म करना ही श्रेय कहे कल्याण है यह कहते है कि सब मनुष्यों को धर्म मे प्रवृत्ति के अर्थ अर्थात् हमारे कर्म करने से सब लोग कर्म करेंगे नही तो ज्ञानी का व्यवहार देखि अज्ञानी भी लोग व्यवहार छोडि बैठेंगे इस हेतु लोक की रक्षा के अर्थ कर्म करना अवश्य प्रयोजन है यह विचारि कर्म करना योग्य है सो तुम भूल के भी कर्म न त्याग करना ॥२०॥ और तुमारे कर्म करने से सब लोगों की कर्म मे रुचि होयगी यह भगवान कहते है कि श्रेष्ठ कहे बडे लोग निवृत्ति या प्रवृत्ति कर्म जो प्रमाण मानते और करते है सोई साधारण मनुष्य भी आचरण करते है अर्थात् उन के अनुसार सब व्यवहार के अनुगामी होते है ॥ २१ ॥ इस विषय मे भगवान अपने को दृष्टान्त दे कर कहते है कि हे पार्थ अर्जुन देखो त्रैलोक्य मे भी हम को कर्त्तव्य कर्म कुछ नही है तौभी हम कर्म कर्त्ते ही रहते है और हम को त्रिभुवन मे भी अलभ्य तथा किसी वस्तु मे अभिलाष नहीं है ॥ २२ ॥ तौ फिरि जो हम कर्म न करै तो कर्म न करने से जो लोगो की हानि होयगी सोई देखावते कि जो सावधान हो कर्म मे हम कभी न वर्त्तमान,होंय तो सब लोग हमारी ही राह लेय अर्थात् हमारी नाई कर्मो को न करै ॥ २३ ॥ तौ उस न करनेमे जो होगा सो कहते है कि जो हम कर्म न करैं तो धर्म लोप हो जाय औ धर्म लोप से प्रजा नष्ट होयगी और वेमर्याद हो राह छोड जो जिस के मन

सुपहन्यामिमाःप्रजाः ॥ २४ ॥ सक्ताःकर्मण्यविद्वांसोयथाकुर्वन्तिभारत। कुर्य्या
द्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहं ॥ २५ ॥ नबुद्धिभेदंजनयेदज्ञानांकर्मसङ्गिनां।
योजयेत्सर्वकर्माणिविद्वान्युक्तःसमाचरन् ॥ २६ ॥ प्रकृतेःक्रियमाणानिगुणैःकर्मा
णिसर्वशः। अहङ्कारविमूढात्माकर्ताहमितिमन्यते ॥ २७ ॥ तत्त्ववित्तुमहाबाहो

भाषा अनुवाद

माने सोई करै तो संसार मे दुराचार से वर्णसङ्कर जन्मैंगे फेरि इस अनुचित के कर्त्ताभी हमी ठहरे अपनी प्रजा आपही नष्ट किया यही होगा ॥ २४ ॥ इस वास्ते आत्मज्ञानी को भी लोगों पर कृपा करि शिक्षा देने के अर्थ कर्म करना चाहिये इसी को कहते है कि हे भारत अर्जुन कर्म मे आसक्त होकर जैसे अज्ञानी लोग कर्म करते है तैसे लोगों के उपदेश की इच्छा करिके विद्वान कहे ज्ञानीभी कर्म करै तो धर्म की मार्ग बनी रहैगी ॥ २५ ॥ तो फेरि सब को तत्त्व ज्ञानहीका उपदेश करना चाहिये जो ऐसा कहो सो नहीं यह कहते है कि अज्ञ जो कर्म मे आसक्त है तिन को आत्म उपदेश दे कर बुद्धि का भेद उत्पन्न कभी न करै अर्थात् कर्म से उन को न छुडावै वल्कि उन से और भी कर्म करावै तो फेर उन से किस तरह कर्म करावै सो कहते है कि आप सावधान हो कर्म का आचरण करता उन से करवा वै नही तो उनकी बुद्धि चल विचल करावने से फेरि कर्म मे उन की श्रद्धा चली जायगी और जो ज्ञान की भी उत्पत्ति न भई तो उन की दोनो राह नष्ट भई विचारे अज्ञानी उधर के भी न भये और इधरसेभी गये यही होगा ॥२६॥ जो कहो कि इस प्रकार जो ज्ञानी कर्म करै तो अज्ञानी औ ज्ञानीके बीच क्या विशेष कहे अन्तर रहा इसो अभिप्राय पर दो श्लोकसे दोनो का अन्तर देखावते हैं कि देखो मूढलोग प्रकृति जो माया सो इन्द्रियोंके द्वारा जो सब कर्म करती है उन कर्मो को हम करते है ऐसा मानि लेते है तो मानि लेने का कारण यह है कि अहङ्कार से इन्द्रियों मे आत्मा का अध्यास अर्थात् इन्द्रियों को आत्मा मानि कर उन की बुद्धि मूढ हो गई है ॥ २७ ॥ और ज्ञानी ऐसा नहीं मानते है सोई कहते कि तत्त्वज्ञानी तो हम इन्द्रियरूप नहीं हैं ऐसे विचार करि इन्द्रियों से आत्मा को जुदा जानते है और हमारे कोई भी कर्म

तेऽपिकर्मभिः ॥ ३१ ॥ येत्वेतदभ्यसूयन्तोनानुतिष्ठन्तिमेमतं। सर्वज्ञानविमूढां स्तान्विद्धिनष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥ सदृशंचेष्टतेस्वस्याःप्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्तिभूतानिनिग्रहःकिंकरिष्यति ॥ ३३ ॥ इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थेरागद्वेषौव्यवस्थि

भाषा अनुवाद

सो कहते हैं कि जो लोग इस तरह कर्म न करैं ते विचार रहित हैं और कर्म तथा ब्रह्मज्ञानमे भ्रष्टविवेक जानी सोई कहते हैं कि जो इस मेरे मत की निन्दा करते हुये इस मत मे नहीं प्रवृत्त होते हैं उन को सकल ज्ञान के मूढात्मा कहे नष्टबुद्धि जानो ॥ ३२ ॥ जो कहो कि तौ फेरि महा फल के अर्थ इन्द्रियों को निग्रह करऔर कामनाको त्यागि के सभी लोग क्यों नहीं इस तरह स्वधर्म का अनुष्ठान करते हैं तो इसपर कहते हैं कि पूर्व कर्मके संस्कारके अधीन जो स्वभाव तिसके अनुसार गुण दोष के ज्ञानवान भी चेष्टा करते हैं तो फेर अज्ञ विचारे जो स्वभाव तिस के अनुरूप चेष्टा करते इस मे और क्या कहना है जब कि स्वभाव बलवान है तब कि और इन्द्रियनिग्रह कोई फेर कर सकै है तो स्वभाव के अनुरूप चलनाही पडता है ॥ ३३ ॥ जो बलवान स्वभावही के अनुसार कर्म मे सबकी प्रवृत्ति है तौ यह कर्म करना औ यह न करना जो शास्त्र विधि औ निषेध करता सो व्यर्थ है इस शङ्का पर कहते हैं कि इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य दुइबार कहने से हरएक इन्द्रियको अपनी अपनी विषयके अनुकूल वस्तुमे प्रीति औ प्रतिकूल विषयमे वैरक्ति कहे विरक्ततारूप रागद्वेषादि अवश्य होगा सो इसीसे रागद्वेषके अनुरूप कर्मने प्रवृत्ति होना यह यद्यपि सब को स्वभाव सिद्ध है पर तौभी राग द्वेषके वशीभूत होना न चाहिये यही शास्त्रोंमे नियम कर राखा है क्यों कि मुमुक्षु पुरुष के वेई विघ्नकारी औ विपक्ष हैं तात्पर्य यह कि विषयों के स्मरण के द्वारा रागद्वेष प्रगट करवाय वह स्वभाव असावधान पुरुषों को अपने बलसे अति जोर धारा प्रवाह की नाईं अनर्थमे प्रवृत्त करावता है परन्तु शास्त्रतौ उस अनर्थ प्रवृत्तिके पहिले ही विषयों से रागद्वेष का प्रतिबन्धक रूप कहे रोकनेवाला जो भगवत आराधन तिसमे प्रवृत्ति करावते हैं इससे देखो कि प्रवाहमे परने के पर्व्व ही नौका प्राप्त पुरुष के समान उस अनर्थ से शास्त्र द्वारा मनुष्य बचिजाते हैं

गुणकर्मविभागयोः । गुणागुणेषुवर्त्तन्तइतिमत्वानसज्जते ॥ २८ ॥ प्रकृतेर्गुणसं
मूढाःसज्यन्तेगुणकर्मसु । तानकृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्नविचालयेत् ॥ २९ ॥
मयिसर्वाणिकर्माणिसंन्यस्याध्यात्मचेतसा । निराशीर्निर्ममोभूत्वायुध्यस्वविगतज्वरः
॥ ३० ॥ येमेमतमिदंनित्यमनुतिष्ठन्तिमानवाः । श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तोमुच्यन्ते

भाषा अनुवाद

नहीं हैं ऐसे विचारसे कर्मोंसे अपने को पृथक मानते हैं अर्थात् इस प्रकार इन्द्री औ कर्म से पृथक बुद्धि हो कर जो तत्त्व वस्तु सो जानते हैं हे अर्जुन वे और फेरि कर्म मे आसक्त नहीं होते अर्थात् हम कर्म करते हैं यह विचार नहीं करते इस का हेतु यह कि माया के द्वारा सब इन्द्री विषयों मे प्रवृत्त हैं हम सब से अलग हैं यह उन का जाना है॥ २८ ॥ सो कहते हैं कि प्रकृति जो माया तिस के गुण जो सत्व रज तम तिन से सम्यक मूढ़ कहे मोह को प्राप्त जो जन हैं तेई लोग गुणों के कर्म मे अर्थात् सात्विक राजस तामस त्रिगुण कर्म मे आसक्त होय कर्म का सङ्ग करते हैं तिन असम्पूर्ण ज्ञानी मन्दमति मनुष्यों को उस कर्म के आनन्द से मगन मन कर्म करने से कृत्स्नवित कहे सम्पूर्ण ज्ञानी सो न चलावे अर्थात् उन को कर्म रहित न करे ॥ २९ ॥ सो देखो तत्त्वज्ञानी को भी कर्म करना उचित है फेरि भगवान कहते हैं कि तुम तो अभी ऐसे कुछ तत्त्व ज्ञानी भये भी नहीं हो इस से अच्छी तरह कर्म करो कर्म करने मे तो तुमारा अधिकार ही है यह भगवान कहते हैं कि आत्मा मे चित्त देके सब कर्म हमारे मे अर्पण करके अर्थात् हम अन्तर्यामी भगवान के आधीन होय कर्म करते हैं और यह हमारा काम है हम करते हैं इस विचार औ फल की आश को छोड़ कर तथा शोक दूर करि के तुम वे खट के युद्ध करो यह श्रीकृष्णने कहा ॥ ३० ॥ इस प्रकार कर्म करने मे उपकार कहते हैं कि जो इस हमारे मतमे यहायुक्त होय और असूया रहित अर्थात् निन्दा न करि के कि दुखदाई कर्मसे हमको प्रवृत्त करते अर्थात् लगावते हैं ऐसो दोष दृष्टि न करके जो कोई यह मेरामत अङ्गीकार करके करैगा सो कर्मके द्वारा क्रम क्रमसे ज्ञानी की तरह कर्मसे मुक्त होय पर होयगा ॥ ३१ ॥ अब इसके विपरीत आचरण मे जो दोष

नौ । तयोर्नवशमागच्छेत्तौह्यस्यपरिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥ श्रेयान्स्वधर्मोविगुणःपर
धर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मेनिधनंश्रेयःपरधर्मोभयावहः ॥ ३५ ॥ अर्जुन उवाच ।
अथकेनप्रयुक्तोऽयंपापञ्चरतिपूरुषः । अनिच्छन्नपिवार्ष्णेयबलादिवनियोजितः ॥३६॥
श्रीभगवानुवाच । कामएषक्रोधएषरजोगुणसमुद्भवः । महाशनोमहापाप्माविद्धि

भाषा अनुवाद

इससे स्वाभाविक प्राप्त कर्म त्याग करके धर्म प्रवृत्त होना अवश्य कर्त्तव्य है तात्पर्य मे यह कि तुम स्वभाव प्राप्त करुणा को छोड़ि अब युद्ध करो ॥ ३४ ॥ स्वाभाविक प्रवृत्ति त्याग करि धर्ममे प्रवृत्त होना अवश्य कर्त्तव्य हैं किन्तु निज धर्म दुःखदायक युद्ध रूपके करने के असमर्थ औ परधर्म शुभ करनेवाला अहिंसारूप ये दोनो भी धर्म पक्षमे समान हैं तो इन दोनोके मध्यम पर धर्म हीं मे प्रवृत्त होने की इच्छा करते हुये अर्जुनके प्रति भगवान कहते है कि साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण किये हुये परधर्म की अपेक्षा अङ्ग हीन होने से भी स्वधर्म श्रेय कहे सुन्दर है अर्थात् स्वधर्म युद्ध आदि मे प्रवृत्त पुरुष का मरण भी श्रेय कहे श्रेष्ठ लाभ है क्यों कि उस से स्वर्गादि प्राप्त होता है परन्तु परधर्म भयदायक अर्थात् निषिद्ध है इस से नरक प्राप्ति का कारण होता है सोई कहा कि स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भया वहः ॥ ३५ ॥ तयोर्न वशमागच्छेत् इस श्लोकसे कहा कि राग द्वेष के वश न होना फेरि विरोध हेतुक युद्ध को स्वधर्म कहि कर आज्ञा देते हैं इस पर अर्जुन कहते हैं कि वृष्णि वंश मे अवतीर्ण हे वार्ष्णेय हे कृष्ण अनर्थरूप पाप करने मे इच्छा न रहतेभी किसीकी प्रेरणासे यह पुरुष पाप आचरण करता है काम,क्रोधको विचार बलसे रोंक के भी मनुष्यको पापकर्म करने से फेरि प्रवृत्ति देख पड़ती है इससे यह जानि पड़े है कि कोई उसका मजबूत कारण होगा जो बलकरके करावता है इस सम्भावना पर सन्देह करते हुये अर्जुन ने प्रश्न किया है ॥ ३६ ॥ अर्जुन ने जो पूछा कि इच्छा विना भी किसी की प्रेरणा से पुरुष पापाचार मे प्रवृत्त होता हैं इसीका उत्तर भगवान करते हैं कि सब को अपने वश करनेवाला औ प्राणियों का परम शत्रु सकल अनर्थ प्राप्तिकारी यह काम जो कामना सोई किसी कारण से प्रतिहत भया अर्थात् कामना जो सिद्ध न भई तो

नमिहवैरिणं ॥३७॥ धूमेनाव्रियतेवह्निर्यथादर्शोमलेनच। यथोल्वेनावृतोगर्भस्तथातेनेदमावृतं॥३८॥ आवृतंज्ञानमेतेनज्ञानिनोनित्यवैरिणा। कामरूपेणकौन्तेयदुष्पूरेणानलेनच ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाणिमनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते। एतैर्विमोहयत्येष

भाषा अनुवाद

वही काम बदल कर रजोगुण से है जन्म जिस का ऐसा क्रोध रूप होय पुरुष को अहंकार के वश कराय रजोगुण की सेवा मे डाल देता है यह क्रोध फेरि महाशन है अर्थात् महत भोजन है जिस का सो ऐसा महामापुमा कहे पाप रूप परम शत्रु है यह तुम जानो तात्पर्य यह है कि काम ही जीवों को प्रेरणा देता हैं परन्तु सतोगुण की वृद्धि होने से रजोगुण की चय होती है फेरि रजोगुण का कार्य्य काम कहे कामना का जन्म नहीं होता है सो इस मोक्षमार्ग के वैरी काम रूप शत्रु को पूर्व कथित उपाय से नाश करना हीं उचित है देखो कामना के अनुरूप भोग मिलने से भी उन का भोग चिरकाल करते भी सन्तोष नहीं होता है इसी से कहा कि महदशन कहे बडा खानेवाला जो काम सो भोग करनेसे भी पूर्ण नहीं होता है ॥३७॥ अब विशेष रूपसे कामकी शत्रुता देखावते हुये कहते हैं कि जैसे धूम से आग औ मल से दर्पण उल्बा जो झिल्ली चमडा तिस से गर्भ आवृत कहे कपेटे है तैसे ही काम जो कामना तिस से यह ज्ञान भी आवृत कहे घेरा गया है ॥ ३८ ॥ फेरिभी कामका वैरित्व प्रकाश करते हैं कि विवेक ज्ञान सद काम से आवृत होता है यद्यपि अज्ञानी मनुष्य को यह काम भोग समय मे सुख का हेतु है पर तौ भी शेष मे वैरभाव प्रगट करता है इसी से ज्ञानी लोगों को भोगकाल मे भी अनर्थ हो जानि पडता है क्यों कि यह काम दुख का कारण है हे कौन्तेय अर्जुन देखो यह काम अनेक दिन विषयभोग करते भी सन्तोष नही पावता दिन दिन और और इच्छा वढती ही जाती है जैसे आग इन्धन पाय अधिक अधिक वढती है और सन्तुष्ट नही होती है और जो कदाचित विषयभोग न मिला अथवा असामर्थ्यसे भोग ही न कर सकै तो शोक सन्ताप होता है इस से आखिरमे तो दुख छोड सुखका लेश भी नही है ॥ ३९ ॥ अब कामके रहनेकी जगह और इस के जय करने की उपाय दो श्लोक से कहते हैं कि विषयों का

ज्ञानमावृत्यदेहिनं॥४०॥ तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौनियम्यभरतर्षभ । पाप्मानंप्रजहि
ह्येनंज्ञानविज्ञाननाशनं॥४१॥ इन्द्रियाणिपराण्याहुरिन्द्रियेभ्यःपरंमनः । मनसस्तु
पराबुद्धिर्योबुद्धेःपरतस्तुसः ॥४२॥ एवंबुद्धेःपरंबुद्ध्वासंस्तभ्यात्मानमात्मना । जहिशत्रुंम
हाबाहोकामरूपंदुरासदं ॥४३॥ इति कर्मयोगोनामतृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

भाषा अनुवाद

इन्द्रियों के द्वारा भोग होता है और मन से सङ्कल्प रूप विषयवासना मानसिक कर्म तथा बुद्धि से निश्चय होना अर्थात् यह काम अवश्य करेंगे इन सब बातों से जाना गया कि मन बुद्धि औ इन्द्री ये कामना के आधार स्थान हैं अर्थात् उत्पत्ति औ रहनेकी जगह है सोई काम विवेक ज्ञानको आच्छादन कहे घेरि कर देही जो आत्मा उस को मोह युक्त कर देता है ॥ ४० ॥ तिस कारण से मोह होने के प्रथम हीं ये सब इन्द्री औ मन तथा बुद्धि को नियम्य कहे काबू करके या रोक कर इस पापरूप काम को हे भरतर्षभ अर्जुन अच्छी तरह नाश करो अथवा त्याग करो क्यों कि यह काम आत्मज्ञान और शास्त्रोक्त जो विज्ञान तिन दोनो का नाशक है ॥ ४१ ॥ अब जिस मे मनुष्य चित्त को सावधान करि आत्मा मे लगाय इन्द्रियोंको वश करने सकै सोई आत्माका स्वरूप देहादिसे भिन्न देखावते हैं कि देह आदि बाह्य कहे बाहरके स्थूल पदार्थों से इन्द्री सूक्ष्म और पर हैं अर्थात् श्रेष्ठ हैं और इन्द्रियों से भी सङ्कल्पात्मक मन इन्द्रियों को विषयों मे प्रवृत्ति करा वनेवाला पर है अर्थात् सूक्ष्म औ श्रेष्ठ है अथवा इन्द्रियों से भिन्न जानो और मन की अपेक्षा निश्चय शक्तिरूप बुद्धि श्रेष्ठ है या भिन्न है क्यों कि मन के सङ्कल्प को यह बुद्धि रोक सकती है और जो बुद्धि से भी परे अर्थात् श्रेष्ठ किम्बा पृथक् और साक्षी रूप हो सब के अन्तर मे टिका है सो आत्मा है तिस को यह दुष्ट काम मोहयुक्त करता है ॥ ४२ ॥ अब कहते हैं कि विषय औ इन्द्रियों से काम आदि विकारयुक्त बुद्धि ही होती है और आत्मा निर्विकार बुद्धि का साक्षीरूप और उस से पृथक् है इस से आत्मा को श्रेष्ठ जानि और ऐसी निश्चयरूप बुद्धि से मन को निश्चल कर के हे महाबाहो दुख का दरवाजा निवारण करने के योग्य सद कामरूपी दुष्ट दुर्जय शत्रु को जीतो ॥ ४३ ॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्थ अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। इमंविवस्वतेयोगंप्रोक्तवानहमव्ययं। विवस्वान्मनवेप्राहमनु रिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥ एवंपरम्पराप्राप्तमिमंराजर्षयोविदुः। सकालेनेहमहता योगोनष्टःपरन्तप॥ २॥ सएवायंमयातेऽद्ययोगःप्रोक्तःपुरातनः। भक्तोऽसिमे

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण भगवान आप ही अपना आविर्भाव कहे प्रगट होना और तिरोभाव कहे परमधाम का जाना तिस के प्रकाश करनेके निमित्त सामवेदके अन्तर्गत जो गन्थ प्रतिपादक तत्त्वमसि महावाक्य है तिसके तत्पद औ त्वम्पदके विचार करनेके अर्थ कर्मयोग की प्रशंसा करते गीताशास्त्र की अभिप्राय जो प्रवृत्ति निवृत्ति लक्षण ज्ञानयोग औ कर्मयोग सो दो अध्याय से कहि चुके यह मानते हुये अब वंशके कथन से उस कर्मयोग की स्तुति करतेहै कि यही कर्मयोग मैने पूर्वकाल मे सूर्य के प्रति से कहा था और सूर्यने अपने पुत्र श्राद्ध देव मनु से कहा औ मनुने फेरि अपने पुत्र इक्ष्वाकु राजा से कहा था ऐसेही परम्परा वह कर्मयोग चला आता था ॥ १ ॥ इसी प्रकार इस कर्मयोग को परम्परा प्राप्त कहे एक से दूसरा दूसरे से तीसरा ऐसे राजऋषि लोग जानते चले आतेथे पर अब हे परन्तप शत्रुतापन अर्जुन वह कर्मयोग बहुत काल पाय कर नष्ट हो गया है ॥ २ ॥ सोई कर्मयोग जो परम्परा सम्प्रदाय से संसारमे न रहा तिस को अब फेरि हमने तुम से कहा क्योकि तुम हमारे भक्त और मित्र भी हो नहीं तो मैने फेर और किसी से इस को नहीं कहा और न कोई मेरा भक्त छोड इस के कहनेके योग्य है ॥ ३ ॥ अब

सखाचेतिरहस्यंह्येतदुत्तमं ॥ ३ ॥ अर्जुनउवाच। अपरंभवतोजन्मपरंजन्मविव
स्वतः। कथमेतद्विजानीयांत्वमादौप्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥ श्रीभगवानुवाच। बहूनि
मेव्यतीतानिजन्मानितवचार्जुन। तान्यहंवेदसर्व्वाणिनत्वंवेत्थपरन्तप ॥ ५ ॥ अजोऽ
पिसन्नव्ययात्माभूतानामीश्वरोऽपिसन्। प्रकृतिंस्वामधिष्ठायसम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

भाषा अनुवाद

भगवानने ऐसे कहा कि प्रथम हमने सूर्य से यही कर्मयोग कहा था तब तो अर्जुन सन्देह युक्त होय पूछा कि हे महाराज अपर कहे इस समय मे तो आप का जन्म भया है और पर कहे पूर्व काल मे विवस्वान जो सूर्य तिन का जन्म भया था इस से नवीन जो आप सो प्राचीन सूर्यके प्रति कर्मयोग जो कहा यह, हम किसतरहसे जानें कि तुम ने सूर्य से प्रथम कहा था यह हमै असम्भवसा जानि पड़े है। दूसरा अर्थ या अपर कहे और भी पूर्वकालमे आपका जन्म भयाथा कि सूर्यही का पर कहे इस समयमे कोई जन्म और भयाहै नही तो यह आप का कहना असंभव हैं तो हम कैसे जाने कि तुमने सूर्यसे योग प्रथम कहा है ॥४॥ तब तो श्रीभगवान बोले कि हे अर्जुन हां मैने और जन्म मे उपदेश किया था सन्देह न करो हमारे और तुमारे भी बहुत जन्म होय बीते हैं पर उन सब को हम जानते हैं और तुम नहीं जानते हो क्यों कि हमारी ज्ञान शक्ति बनी रहती है तुम अविद्या कहे अज्ञान से आवृत कहे घेरे भये हौ ॥ ५ ॥ जो कहो कि अनादि जो तुम तुमारा जन्म कैसे और अविनाशी हौ तुम तुमारा पुनर्जन्म ही वा कैसे सम्भव होय जो कहते हो कि बहुत जन्म हमारे व्यतीत भये हैं और फिर भी तुम ईश्वर तुमारे पुन्य औ पाप दोनोभी नहीं तौ फेरि जीवकी नाई तुमारा जन्म कैसे सम्भव हो सकै तिस पर कहते हैं कि हां यह बात तो ठीक है पर हम जन्म रहित और अविनाशी स्वभाव होके भी तथा ईश्वर अर्थात् कर्म के वश नहीं भी है पर तौ भी अपनी माया के द्वारा स्व इच्छा से प्रगट होते हैं और जो कहो कि तौ भी पञ्च ज्ञानइन्द्री औ पञ्च कर्मइन्द्री पञ्च प्राण और एक अन्तःकरण ये सोरह कलारूप लिङ्ग शरीर के विना किस तरह जन्म होना सम्भवै है इस पर भगवान कहतेहैं कि हम अपनी शुद्धसत्त्वात्मक प्रकृतिको स्वीकारकरिके अतिजाज्वल्यमान

यदायदाहिधर्मस्यग्लानिर्भवतिभारत । अभ्युत्थानमधर्मस्यतदात्मानंसृजाम्यहं ॥
७ ॥ परित्राणायसाधूनांविनाशायचदुष्कृतां । धर्मसंस्थापनार्थायसम्भवामियुगे
युगे ॥ ८ ॥ जन्मकर्मचमेदिव्यमेवंयोवेत्तितत्त्वतः । त्यक्त्वादेहंपुनर्जन्मनैतिमामे
तिसोऽर्जुन ॥ ९ ॥ वीतरागभयक्रोधामन्मयामामुपाश्रिताः । बहवोज्ञानतप

भाषा अनुवाद

सत्वमूर्तिसे स्वेच्छाधीन अवतार लेते है ॥ ६ ॥ तो अपनी इच्छासे कब आप जन्म
ग्रहण करते हो इस अपेक्षा पर भगवान कहते है कि हे भारत भरतवंशी अर्जुन
जब जब धर्मकी ग्लानी अर्थात् हानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान कहे
वृद्धि होती तब तब हम शरीर धारण करते है ॥ ७ ॥ जो कहो कि ऐसे समय
मे आप क्यों शरीर धारणकर अवतरते हो तो कहते है कि साधु कहे स्वधर्मके
करनेवाले लोग उनकी रक्षा और दुःकृत कहे अधर्मी पापी जनों के नाशके हेतु
मै जन्म लेता हूं इस से यह आया कि धर्मका स्थापन औ साधु का रक्षण दुष्टोंका
वध करिके धर्मकी वृद्धि करने को सोई सोई समय मे मै शरीर ग्रहण करता हूं
यही कहा कि सम्भवामि युगे युगे जो कोई शङ्का करै कि दुष्ट नाश करनेसे भग
वानको निर्दयता आवती है तो ऐसा कभी कहना नहीं देखो माता पिता गुरु ये
जो पुत्र शिष्यको शिक्षाके लिये ताड़न करते है तो क्या निर्दई है ऐसे ही ईश्वर
गुण दोष नियमके अर्थ दण्ड देते है किन्तु शत्रुता से नहीं ॥८॥ अब अपने जन्म
कर्म जाननेका फल कहते है कि हमारे स्वेच्छासे दिव्य कहे अलौकिक आश्चर्यरूप
जो जो जन्म औ कर्म केवल लोकके अनुग्रहार्थ है तिन के तत्त्व पूर्वक जाननेसे
लोग देह अभिमान छाडि फेरि संसारमे जन्मग्रहण नही करतेहैं वरु हमारे ही
को प्राप्त होते अर्थात् आवागमन से रहित होते है ॥ ९ ॥ जो कहो कि ईश्वरके
जन्म कर्म जानने हीं से कैसे ईश्वर प्राप्त होय है इस पर कहते हैं कि शुद्ध
सतोगुण से अवतार ले हमारी जो परम दयालुता के कर्म तिन के जानने से सतो
गुणके द्वारा सत्त्व वृद्धि होती है फेरि वे लोग संसार से विगतस्नेह औ गत क्रोध
निर्भय होय मेरे आश्रित मद्रूप अर्थात् मत्स्वभाव बहुतेरे ज्ञान सम्पन्न परम
पवित्र हो मद्भाव को प्राप्त भये अर्थात् मेरे स्वरूप मे लीन हो गये है ॥ १० ॥

सापूतामद्भावमागता॥ १०॥ येयथामांप्रपद्यन्तेतांस्तथैवभजाम्यहं। ममवर्त्मानु
वर्त्तन्तेमनुष्याःपार्थसर्वशः॥ ११ ॥ कांक्षन्तःकर्मणांसिद्धिंयजन्तइहदेवताः। क्षिप्रं
हिमानुषेलोकेसिद्धिर्भवतिकर्मजा॥ १२ ॥ चातुर्वर्ण्यंमयासृष्टंगुणकर्मविभागशः।

भाषा अनुवाद

तो तुमारे भी क्या विपरीत भाव कहे खपर बुद्धि है जिस हेतु शरणागत को
तथाकारि आत्मस्वभाव देते और दूसरे को नहीं देते हौ इस का सिद्धान्त कहते
है कि हेपार्थ अर्जुन जो मनुष्य जब जिस प्रकार अर्थात् सकाम या निःकाम रूप
हमको भजते सेवते है उनको वैसे ही फलप्रदान करिके मैभी अनुग्रह करता हूं
और कामना करके जो लोग इन्द्र आदि देवतों का भजन पूजन करते है उनका
अनादर या त्याग हम नहीं करते है कारण यह कि जिस किसी की पूजा भजन
करै वह मेरी ही पूजा होती है क्यों कि सर्व्व रूपमय मैहीं हूं सो हे पार्थ मेरी
ही राह मे सब मनुष्य वर्त्तमान है पर जैसी जिसकी भावना तैसा तिस को फल
मिलता है इस से सकाम लोगों को कर्म्मानुसार फल लाभ देखाया और निःकाम
पुरुष तो मेरा रूप ही है॥११॥ जो ऐसा कहो कि तौ फेरि मोक्षही के वास्ते
सब लोग भगवत का आराधन क्यों नहीं करते है इसपर कहते है कि मनुष्य
लोकके बहुतेरे लोग कर्म्मफल की अभिलाषा करि इन्द्र आदि देवतों की सेवा
करते और साक्षात् हमारी सेवा नही करते है क्यों कि कर्म्मसे फल शीघ्र प्राप्त
होता और मेरी साक्षात् सेवासे ज्ञान का फलरूप जो मुक्ति सो दुःप्राप है बड़े
कठिनसे चिरकालमे मिलती है॥ १२॥ और जो कहो कि चारो वर्णके कर्त्ताभी
तुमहीं हौ और अनेक प्रकारके कर्म्म भी वेदके द्वारा तुम्हींने कहा है फेरि उन्ही
कर्मों के करनेवाले ब्राह्मण आदि वर्णों को उत्तम औ अधम कर्म्मभी तुमने कहा
है तो इस सब के करने औ कहने वाले एक तुम ठहरे फेरि किसी की प्रवृत्ति
सकाम कर्म्म मे और किसी की निष्काम मे जो होती है तो कहो वैषम्य दोष कहे
विषम स्वभाव तुमारा क्यों नहीं है इन बातों से अलबते तुमको पक्षपात दोष हो
सकता है इसके उपर भगवान कहते है कि हां चातुर्वर्ण्य कहे सतोगुण प्रधान जो
ब्राह्मण उनके कर्म्म शम दम उपरति तितिक्षा समाधान यहा है और सत्त्व रज

तस्यकर्त्तारमपिमांविद्ध्यकर्त्तारमव्ययं ॥ १३ ॥ नमांकर्माणिलिम्पन्तिनमेकर्मफले
स्पृहा । इतिमांयोऽभिजानातिकर्मभिर्न्नसबध्यते ॥ १४ ॥ एवंज्ञात्वाकृतंकर्मपूर्वै
रपिमुमुक्षुभि. । कुरुकर्म्मैवतस्मात्त्वंपूर्वैःपूर्वतरंकृतं ॥ १५ ॥ किंकर्मकिमकर्मेति
कवयोऽप्यत्रमोहिता. । तत्तेकर्मप्रवक्ष्यामियज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

भाषा अनुवाद

प्रधान जो क्षत्री उनके कर्म भूमि रक्षा प्रजापालन युद्ध आदिक हैं और रजोगुण सतोगुण प्रधान जो वैश्य तिन के कर्म व्यापार खेती आदिक है और तमोगुण प्रधान शूद्र का कर्म इन तीनो वर्ण की सेवा रूप है सो यह बात ठीक है पर जो भी हम इनके कर्त्ता हैं तौभी अकर्त्ताही जानो क्योंकि हम अव्यय हमारी आसक्ति इन कर्मोंमे नही है ॥ १३ ॥ नही कर्म्म की आसक्ति देखलाते हुये भगवान कहते हैं कि देखो विश्वसर्जन आदि कर्म हमको नही लगते और न कर्मफलकी इच्छा हमै रहती है क्योंकि हम निरहङ्कार कर्म करते है और पूर्ण काम है इससे कोई विषयके श्रवण दर्शनादि से हमारी भोगमे इच्छा नही होती तो ये कर्म हमै कैसे आसक्त कर सकैं और तुम को क्या कहैं देखो जो मनुष्य हम को कर्म मे निर्लिप्त जानते है वे भी कर्मबन्धमे नही पडते कारण यह है कि जो हमारे निर्लेपताके हेतु अन अहंकार औ निस्पृहत्व है सो उन ज्ञान कार पुरुष के भी शिथिल होते कहे नाम मात्र को रहजाते हैं और कुछ काम देखने योग्य नही रहते हैं ॥ १४ ॥ अब ऐसे चारि श्लोकसे प्रसङ्ग प्राप्त ईश्वर के वैषम्य दोष को दूर करते हुये पूर्व कथित कर्मयोग को विस्तार करि कहते है कि अहङ्कार रहित किया हुआ कर्म ज्ञानका बाधक नहीं होता है यह जानि करि के पूर्व कालके मुमुक्षु जन जनक आदिकों ने किया था इससे तुमभी अभी इस प्रथम अवस्थामे कर्म करो अब ज्ञानअवस्था प्राप्त होगी आपही सब कर्म छूट जांयगे अभी छोडनेसे सतोगुण की शुद्धि होना अति दुर्घट हैं देखो और और युगमे भी लोगोने प्रथम कर्मको किया है यह कर्म युग युगान्तरसे किया चला आता है ॥ १५ ॥ और देखो तत्त्वज्ञानी के साथ विचार करके कर्म करना चाहिये केवल भेडियाधसंतकी नाई लोकपरम्परा प्राप्त देखकर करना अनुचितही जानो यह कहते हैं कि देखो कौन कर्म कर्त्तव्य

कर्मणोह्यपिवोद्धव्यंवोद्धव्यञ्चविकर्मणः। अकर्मणश्चवोद्धव्यंगहनाकर्मणोगतिः॥
१७॥ कर्मण्यकर्मयःपश्येदकर्मणिचकर्मयः। सबुद्धिमान्मनुष्येषुसयुक्तःकृत्स्न

भाषा अनुवाद

और कौन अकर्त्तव्य है इस कर्म अकर्म के विचार में कवि कहे वडे वडे पण्डित भी मोहित होजाते पता नहीं लगता है इससे जिस कर्मके करने से इस अशुभ संसार से मुक्त होउगे सो और अकर्म्म जो अकरणीय कर्म ये दोनो हम तुमसे कहते है सो सावधान हो सुनो जिसको जानि करिके अशुभ संसार से छूट मुक्त हो जावगे॥ १६॥ जो कहो कि मन वचन देह के व्यापार ही तो कर्म है और देहादि व्यापार का अभाव ही अकर्म है यही तो लोकमे प्रसिद्ध है फेरि जो आप ने कहा कि पण्डित लोग भी कर्म अकर्म के विषय मे मोह को प्राप्त होते हैं सो कैसे इस वात पर कहते है कि कर्म तो शास्त्रविहित व्यापार का तत्त्व जानि करके कर्त्तव्य है केवल लोक व्यवहार देखि अवश्य कर्त्तव्यकर्म्म नहीं और अकर्म तो संन्यास आश्रम अङ्गीकार करि शास्त्रकी रीतसे कर्मका त्याग करना पर तत्त्व ज्ञानवान हो कर उचित है और विकर्म्म जो निषिद्ध कर्म्म उसका भी तत्त्व जानना आवश्यक है क्योंकि सव कर्मोंकी गतिका ज्ञान होना कठिन है सोई कहाकि कर्म की गति गहन कहे वडी कठिन सहज से जानने जोग नही है॥१७॥ जो कहा कि कर्मकी गति गहन कहे जानवे जोग नही है और कहा कि कर्म अकर्म निषिद्ध कर्म का तत्व जानिकर कर्म्म को करै सोई कर्म्मगति की कठिनाई देखावते हुये भगवान वह तत्त्व कहते है कि जिस के यथार्थ ज्ञानमें पण्डितभी मोहित होते औ जिस के ज्ञानसे इस संसार से छूट जाते है उस को मै कहताहू तुम सुनो यह प्रतिज्ञा जो करी थी सो अव कहते है कि भगवत आराधन रूप कर्म जव कि किसी तरह ज्ञान होने मे वाधा नही करता तो वह क्या कर्म है उस को अकर्म ही अर्थात् कर्म संन्यास ही जो देखते है सोई कहा कि कर्मण्य कर्म य पश्येत् और शास्त्र विहित कर्म न करने से दोष होता है फेरि वही न करना ज्ञान का प्रतिवन्धक कहे वाधा का हेतु होता है इस से शास्त्रोक्त कर्म को न करना ही जो अकर्म उसी को कर्त्तव्य जो देखते है वेई लोग कर्मकारी पुरुषोंके

कर्मकृत् ॥ १८ ॥ यस्यसर्वेसमारम्भा:कामसङ्कल्पवर्जिता:। ज्ञानाग्निदग्धकर्मा-
णंतमाहु:पण्डितंबुधा: ॥ १९ ॥ त्यक्त्वाकर्मफलासङ्गंनित्यतृप्तोनिराश्रय:। कर्म

भाषा अनुवाद

मध्यमे बुद्धिमान है उन्ही की प्रसंशा करते है कि ऐसे ही कर्म अनुठान करते जो ज्ञानयोग को प्राप्त होते सोई योगी पुरुष है और उनको भगवत आराधन रूप कर्म के अन्तर्भुत कहे अन्नभूत समस्त कर्म करना आय गया है। वही कहा कि स युक्त कृत्स्न कर्म कृत्। इससे यह आया कि ज्ञानमार्ग मे जाने की इच्छा जिस को है उस को कर्मयोगअवस्था मे कर्म करना उचित है सोई ३ अध्यायके ४ श्लोक मे कहा कि न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषो भुते और सम्पूर्ण ज्ञान होने से फेरि कर्म का कुछ आवश्यक नहीं है सोई ३ अध्याय के १७ श्लोकमे कहा कि यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानव इति ये दोनो बातें इस श्लोक से अच्छी तरह कही गई और जो कर्मेन्द्रियाणि संयम्य यह ३ अध्याय के ८ श्लोक से कहा इन्द्रियो से आत्मा भिन्न है तथा सोई कर्म नहीं कर्ता है ऐसे जानि दृढ समाधि मे जो रहते हैं और अनायास कहे वे मांगे प्राप्त भये अन्न को भोजन कर लेते वे सकल कर्म करते भी योगी है और उन को विकर्म औ निषिद्ध कर्म मृगमांस भोजनादि दोष भी नहीं हैं क्यो कि उन्हे उस वस्तु का आग्रह नही है परन्तु अज्ञानी को आग्रह औ उस मे रुचि है तो वेशक मृगमास खाने से दोष है इस से निषिद्ध कर्म का तत्त्व कहा यही तत्त्व जानि सब कर्मों मे प्रवृत्त होना मै ने कहा है सो जानो ॥ १८ ॥ गव कर्माण्य-मध्येत् इस श्लोकसे श्रुति का तात्पर्य जो कहा सोई पांच श्लोक से स्पष्ट करके कहते हैं कि जिस के सब समारम्भ कहे कर्म कामसंकल्प वर्जित अर्थात् कामना रहित है उसी को बुध कहे बुद्धिमान लोग पण्डित कहते हैं जिससे कर्म अनुठान के द्वारा शुद्धचित होने से प्रगट भये ज्ञान अग्निसे सकल कर्म दग्ध हो जाते है फेरि कर्मबन्ध उसको नही होता है और ज्ञानारूढ अवस्था मे कामका अर्थ कर्म फल और उसके अर्थ यह कर्म हम को करना उचित है परन्तु ज्ञान आरूढ पुरुष इन दोनो से भी रहित है सोई कहा कि जिस के सब समारम्भ कामना

एवभिप्रवृत्तोऽपिनैवकिञ्चित्करोतिसः ॥ २० ॥ निराशीर्यतचित्तात्मात्यक्तसर्व्व परिग्रहः । शारीरंकेवलंकर्मकुर्व्वन्नाप्नोतिकिल्बिषं ॥ २१ ॥ यदृच्छालाभसन्तुष्टोद्वन्द्वातीतोविमत्सरः । समःसिद्धावसिद्धौचकृत्वापिननिवध्यते ॥ २२ ॥ गत

भाषा अनुवाद

रहित होंं सो पण्डित है ॥ १८ । और सर्व कर्म तथा कर्म के फल मे आसक्ति छोड कर नित्य आनन्दरूप आत्मा के सन्तुष्ट मनुष्य अप्राप्त वस्तु की चेष्टा औ प्राप्त का पालन इन दोनो से दूर है इसी से वे कोई कर्ममे प्रवृत्त होयं पर उनका वह कर्म कर्म नही है अर्थात् उसके सव कर्म अकर्मता को प्राप्त है सोइ कहते है कि कर्मके फल औ संग जो आसक्ति तिसे छोडि नित्य आत्मसुख से तृप्त वेपरवाह जो कर्ममे प्रवृत्तभी है पर वह कुछभी नही करता है यह जानो ॥२०॥ विक्षेप कारी कर्मही को तो शास्त्र वन्धनका हेतु कहते है और आपने तो कर्मकी प्रसंशा करि जनकादिक को दृष्टान्त देखाय प्रथम अवस्थामे अधिकार औ ज्ञानप्राप्त भये भी निरहङ्कार कर्म करने से अदोष कहा इससे सर्वथा कर्म करना प्राप्त होता है इस सन्देह पर भगवान कहते है कि जो सर्व कामना परित्याग करि निष्कामहो तथा मन इन्द्री शरीर अपने वशीभूत राखि सकल विषयसे निवृत्त है और शरीर निर्वाह मात्र के अर्थ कर्तृत्व अभिमान रहित होय कर्मो को करते हुये भी वे मनुष्य कर्मवन्धको नही प्राप्त होते है अर्थात् कर्मजनित किल्बिष जो पाप सो नहीं लगता है सोई कहा कि निराशीर्यत चितात्मा त्यक्त सर्व परिग्रह ॥ २१ ॥ और यदृच्छा लाभ सन्तुष्ट कहे मागे विना आपसेआप प्राप्त जो यथालाभ तिससे जो सन्तुष्ट है अर्थात् उत्तम अधम अधिक अल्प लाभसे हर्ष विषाद रहित हैं और शीत उष्ण हानि लाभ सुख दुःख वैर प्रीति आदि द्वन्द्वभाव रहित हैं तथा सिद्धि असिद्धि मे समभाव है वे पुरुष कर्म करते भी संसार गति को नहीं प्राप्त होते अर्थात् कर्म वन्धनमे नही पडते हैं सोई कहा कि यदृच्छा लाभ सन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरइति ॥ २२ ॥ और भी कहते हैं कि गतसंगस्य कहे जिसका देह गेह औ विषय से संग कहे आसक्ति चली गई है औ काम क्रोध से मुक्त कहे छुट गया है और चित्त ज्ञानरूप परब्रह्म मे स्थित है ऐसे गुणो से युक्त मनुष्य के यज्ञ रक्षार्थ

सङ्गस्यमुक्तस्यज्ञानावस्थितचेतसः। यज्ञायाचरतःकर्मसमग्रंप्रविलीयते॥२३॥
ब्रह्मार्पणंब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौब्रह्मणाहुतम्। ब्रह्मैवतेनगन्तव्यंब्रह्मकर्मसमाधिना॥
२४॥ दैवमेवापरेयज्ञंयोगिनःपर्युपासते। ब्रह्माग्नावपरेयज्ञं यज्ञेनैवोप

भाषा अनुवाद

किम्बा लोकशिक्षार्थ या शरीर यात्रार्थ अथवा भगवदाराधनार्थ किये हुये सम्पूर्ण कर्म वासना समेत विलीन हो जाते हैं॥२३॥ जो यह शङ्का करो कि धर्मशास्त्र तो वेदका अर्थही है और तिसमे लिखते हैं कि नाभुक्तं चीयते कर्म अर्थात् विना भोग किये कर्म चीण नही होता कर्म का फल भोगना ही पड़ता है तो इस पर कहते है कि सम्पूर्ण क्रिया औ कारक तथा फल रूप जो कुछ द्वैत है सो सब ब्रह्म भाव कहे ब्रह्म छोड और कुछ नहीं है ऐसे ज्ञानवान ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूप पुरुष के यावत कर्म विलीन हो जाते है इस मे कुछ सन्देह नहीं सोई उप निषद से कहा है कि ब्रह्मविदो ब्रह्मैव सर्व्व क्रिया कारक फलजातं भवति। सोई कहते है कि ब्रह्म के अर्थ और ब्रह्म की हवि तथा ब्रह्म रूप अग्नि से ब्रह्म ही ने दिया है इस प्रकार जो जानता है अर्थात् होम अग्नि स्रुवा हवि कर्त्ता क्रिया घृत आदि सब सामग्री और जिस को दिया जाय यह सब जो है सो ब्रह्म व्यतिरेक और नहीं है ब्रह्मकर्म मे है समाधि कहे चित्तवृत्ति जिस की सो अवश्य ब्रह्म को प्राप्त होता है जैसे इन कर्मो की कर्म मे गिनती नहीं तैसे ही भगवत आराधन कर्म की भी कर्म मे गणना नहीं है ऐसे कर्म जो हैं सो अकर्म ही है कोरि इन का फल भोगना कहा है और जो फल है तो ब्रह्म या भगवत प्राप्ति रूप ही है और दूसरा नहीं॥२४॥ पूर्व्वोक्त प्रकार यज्ञरूप से सर्व्वत्र सम्पादित कहे प्रसिद्ध कर के कहा जो ब्रह्मदर्शन रूप ज्ञान सो सकल यज्ञों का हेतु कहे उसी के वास्ते सब यज्ञों की जाती है अतएव श्रेष्ठ है इसी से अब इस ज्ञान की प्रशंसा कर के अधिकारी के भेद से ज्ञान के उत्पत्ति की उपाय रूप सब यज्ञों को ८ श्लोक से कहते है कि बहुतेरे कर्मयोगी लोग ब्रह्मबुद्धि रहित हो इन्द्र वरुण आदि देवतों को यज्ञ करि के बडी श्रद्धा से पूजते हैं और कितने ज्ञान योगी ब्रह्मरूप अग्नि मे ब्रह्मयज्ञ रूप उपाय से यज्ञ आदि

जुह्वति ॥ २५ ॥ श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन्विषया नन्यइन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥ द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथा परे। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥ अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽ

भाषा अनुवाद

सकल कर्म रूप ब्रह्म मे ब्रह्मार्पण विधि से अर्पण कहे सब कर्म लीन करते हैं सोई ब्रह्मयज्ञ है ॥ २५ ॥ ऐसे ही कितने ब्रह्मचारी लोग इन्द्रियों का संयम जो विषयों से रोकना सोई अग्निरूप है तिस मे श्रोत्र घ्राण जिह्वा त्वक चक्षु इन ज्ञान इन्द्रियों को होम करते अर्थात् इन्द्रियों को अन्तर्मुख कर के संयम से रहते है और कितने गृहस्थ जब इन्द्रिय रूप अग्नि मे हवि रूप जो विषय कहे रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द सो होम करते है विषय भोग समय मे भी अनासक्त हो के अग्निरूप इन्द्रियोंमे रूप रस आदि विषयरूप घृत होम करते हैं कहे दग्ध करते निरहङ्कार हो कर फल रहित होते हैं ॥ २६ ॥ और बहुतेक ध्यानी पुरुष श्रोत्रादि ज्ञान इन्द्रियों के श्रवण आदि कर्म तथा वाक् आदि कर्म इन्द्रियों के कार्य्य वचन आदि और प्राण अपान उदान व्यान समान नाग कूर्म कृकल देवदत्त धनञ्जय यें शरीर की दश वायुओं के कर्म जो वहिर्गमनादि है सो सब आत्म संयम योग अग्नि मे होम करते है अर्थात् ध्यान के द्वारा चित्त की एकाग्रता रूप ज्ञान से दीपित योग अग्नि मे होमते कहे लीन करते हैं अर्थात् धेय कहे ध्यान के विषय को ध्यान के द्वारा प्रज्वलित ज्ञानदीप की प्रकाश मे वही धेय कहे ध्यानयोग्य ब्रह्म को अच्छी तरह जान कर और उसी मे मन को संयम कहे युक्त करि के सकल कर्म को दूर कर देते है ॥ २७ ॥ और लोक मे कितने पुरुष द्रव्य दान हीं को परम यज्ञ जानि द्रव्य दानरूप यज्ञ करते और बहुतेक मनुष्य कृच्छ्र चान्द्रायण तथा द्वादश वार्षिक व्रत आदिक मे चित्त लगाय तपरूप यज्ञ करते है फेरि कितने जन योगशास्त्रोक्तनेतीधौतीभस्त्रा औ प्राणायाम आदि योग करके चित्तवृत्ति के रोधरूप योग यज्ञ मे तत्पर है और बहुतेरे वेद शास्त्र के अध्ययन मनन को स्वकर्म जानि तदर्थ ज्ञान हीं को सर्वस्व मानि स्वाध्याय

पानंतथापरे। प्राणापानगतीरुद्ध्वाप्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥ अपरेनियता
हाराःप्राणान्प्राणेषुजुह्वति। सर्वेऽप्येतेयज्ञविदोयज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप यज्ञ करते है,परन्तु जो इन्द्रीजित औ व्रतमे तत्पर है तेई ये सब यज्ञों कर सकते हैं ॥ २८ ॥ और कितने हठ योगाभ्यासी मनुष्य अपान वायु मे प्राण वायु को पूरक प्राणायाम के द्वारा खैंचि कर होम करते हैं अर्थात् पूरक समै मे प्राण अपान एक कर देते है और कोई कुम्भक प्राणायामसे प्राण अपान वायु को ऊर्द्ध अधोगमन रोंक कर रेचक काल मे अपान वायु को प्राणवायु मे खैंचि ले कर होम कहे लीन कर देते है ऐसे ही पूरक कुम्भक रेचक के द्वारा प्राणायाम मे तत्पर रहते है और कोई कोई लोग आहार घटाय इन्द्री शिथिल कर के सोई सोई इन्द्रियवृत्तिका लय रूप होम करते हैं अथवा पूरक रेचक दोनो श्वासा बन्द कर हंस औ सोहं इस को अनुलोम विलोम कहे उलट पुलट रूप अजपा मन्त्रके द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य से कथित जो तत्पद औ त्वं पद तिन के अर्थ के अनुसार ब्रह्म जीव की एकता अर्थात् सो ब्रह्म हम हैं और हम सो ब्रह्म हैं ऐसी भावना करते है और कोई प्राणायामहीं को यज्ञ कहते अर्थात् उदरके दो भाग अन्नसे पूर्ण करि औ एक भाग पानीसे पूर्ण करि और वायुके संचारार्थ चतुर्थ भाग खाली राखि शास्त्रविधि के अनुसार परिमित अहारी जन कुम्भक के द्वारा प्राण अपान की गतिरोध करि प्राण दमनशील हो सब इन्द्रियों को प्राणवायु मे होमकरते है अर्थात् कुम्भक से सब प्राण एक हो जाते और इन्द्रीयगण लय को प्राप्त होता है ॥ २९ ॥ एही पूर्वोक्त बारह प्रकार के यज्ञकारीयों को प्राप्य फल भगवान कहते है कि ऐसी यज्ञरूप क्रिया जिन की जानी है और इन यज्ञों से जिन के पाप क्षय हो गये है और यज्ञ समाप्त करके पीछे शास्त्रविहित अमृतरूप अन्न भोजन करते है फेर तत्त्वज्ञान के द्वारा नित्य सत्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं सो कहा कि ये सब यज्ञवित् यज्ञ से नष्ट कल्मष कहे निःपाप होय यज्ञशिष्ट अमृतभोगी सनातन ब्रह्म को जाते कहे प्राप्त होते है ॥ ३० ॥ अब यज्ञ न करने मे दोष कहते है कि देखो यज्ञ न करनेवालों को यह अल्प सुख जो मनुष्य लोक सोई नहीं

यज्ञशिष्टामृतभुजोयान्तिब्रह्मसनातनं। नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोऽन्यःकुरुसत्तमः॥
॥ ३१ ॥ एवंबहुविधायज्ञावितताब्रह्मणोमुखे। कर्मजान्विद्धितान्सर्व्वानेवंज्ञा
त्वाविमोक्ष्यसे॥ ३२ ॥ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञःपरन्तप। सर्व्वंकर्माखि
लंपार्थज्ञानेपरिसमाप्यते॥ ३३ ॥ तद्विद्धिप्रणिपातेनपरिप्रश्नेनसेवया। उपदे

भाषा अनुवाद

मिलता है तो परलोक सुख फेरि कहा प्राप्त होना है इस से यज्ञ को निश्चयसे करना चाहिये हे कुरुसत्तम॥ यह कैमुतिक न्यायसे देखाया है॥ ३१॥ ज्ञान यज्ञ की प्रशंसा करने के अर्थ अब सब यज्ञों की चर्चा करि न्यून अधिक तारतम्य देखावते हुये कहते हैं कि नाना प्रकार की यज्ञो वेदरूप मुख से प्रत्यक्ष विहित है पर तौ भी मन वचन शरीर के कर्म से उत्पन्न जो यज्ञ है सकल आत्मस्वरूप स्पर्श से रहित जानो अर्थात् उन से आत्मज्ञान नही होता क्यों कि आत्मा कर्मों का अगोचर कहे कर्मसे प्राप्य नहीं है इस से तुम ज्ञाननिष्ठ होय संसार से मुक्त होउगे यह जानो॥ ३२॥ अब ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस लिये आत्म व्यापार रहित जो द्रव्यमय देवता के अर्थ यज्ञ है तिस से ज्ञान यज्ञ ही श्रेष्ठ जानो और यद्यपि ज्ञान यज्ञ मानसिक व्यापार के आधीन है तथापि आत्मा का स्वरूप जो ज्ञान सो केवल मन का परिणाम अर्थात् ब्रह्मरूप होना मात्र है और ज्ञान कुछ मानस व्यापार से प्रगट नहीं है और ज्ञान की श्रेष्ठता मे हेतु यह है कि फलके सहित सर्व्व कर्म तत्त्वज्ञान के अन्तर्भूत हैं क्योंकि लोगोंके किये हुये सत्कर्म ज्ञान के अनुगामी कहे साथ होते हैं यह वेद मे कहा है सोई इस श्लोक से कहा कि श्रेष्ठ है द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ हे परन्तप और सब कर्म हे पार्थ अर्जुन ज्ञान मे परिसमाप्त कहे लीन होते हैं इसी से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है॥ ३३॥ जो कहो कि भला जिस ज्ञान की ऐसी प्रशंसा करते हो सो किस प्रकार से प्राप्त होय तो ज्ञान के साधन कहे उपाय कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषों के निकट जाय नम्रता से प्रणाम कर प्रश्न करै कि किस कारण से हमको यह संसार भया और कैसे निवृत्त होगा और गुरु की सेवा शुश्रुषा करने से तुम को सो तत्त्वज्ञान मिलैगा और ज्ञानी जो शास्त्रज्ञ तथा तत्त्वदर्शी जो हैं वे तुम को उपदेश दे कर

पानंतथापरे। प्राणापानगतीरुद्ध्वाप्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥ अपरेनियता
हाराःप्राणान्प्राणेषुजुह्वति। सर्वेऽप्येतेयज्ञविदोयज्ञक्षयितकल्मषाः ॥ ३० ॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप यज्ञ करते हैं,परन्तु जो इन्द्रीजित औ व्रत में तत्पर हैं तेई ये सब यज्ञों
कर सकते हैं ॥ २८ ॥ और कितने हठ योगाभ्यासी मनुष्य अपान वायु में प्राण
वायु को पूरक प्राणायाम के द्वारा खैंचि कर होम करते हैं अर्थात् पूरक समै में
प्राण अपान एक कर देते हैं और कोई कुम्भक प्राणायामसे प्राण अपान वायु को
ऊर्द्ध अधोगमन रोंक कर रेचक काल में अपान वायु को प्राणवायु में खैंचि ले कर
होम कहे लीन कर देते हैं ऐसे ही पूरक कुम्भक रेचक के द्वारा प्राणायाम में
तत्पर रहते हैं और कोई कोई लोग आहार घटाय इन्द्री शिथिल कर के सोई
सोई इन्द्रियवृत्तिका लय रूप होम करते हैं अथवा पूरक रेचक दोनो श्वासा बन्द
कर हंस औ सोहं इस को अनुलोम विलोम कहे उलट पुलट रूप अजपा मन्त्रके
द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य से कथित जो तत्पद औ त्वं पद तिन के अर्थ के अनुसार
ब्रह्म जीव की एकता अर्थात् सो ब्रह्म हम हैं और हम सो ब्रह्म हैं ऐसी भावना
करते हैं और कोई प्राणायामहीं को यज्ञ कहते अर्थात् उदरके दो भाग अन्नसे
पूर्ण करि औ एक भाग पानीसे पूर्ण करि और वायुके संचारार्थ चतुर्थ भाग खाली
राखि शास्त्रविधि के अनुसार परिमित अहारी जन कुम्भक के द्वारा प्राण अपान
की गतिरोध करि प्राण दमनशील हो सब इन्द्रियों को प्राणवायु में होमकरते हैं
अर्थात् कुम्भक से सब प्राण एक हो जाते और इन्द्रीयगण लय को प्राप्त होता है
॥ २९ ॥ एही पूर्वोक्त बारह प्रकार के यज्ञकारीयों को प्राप्य फल भगवान कहते
हैं कि ऐसी यज्ञरूप क्रिया जिन की जानी है और इन यज्ञों से जिन के पाप
क्षय हो गये हैं और यज्ञ समाप्त करके पीछे शास्त्रविहित अमृतरूप अन्न भोजन
करते हैं फेर तत्त्वज्ञान के द्वारा नित्य सत्य ब्रह्म को प्राप्त होते हैं सो कहा कि
ये सब यज्ञवित् यज्ञ से नष्ट कल्मष कहे निःपाप होय यज्ञशिष्ट अमृतभोगी सना
तन ब्रह्म को जाते कहे प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥ अब यज्ञ न करने में दोष कहते
हैं कि देखो यज्ञ न करनेवालों को यह अल्प सुख जो मनुष्य लोक सोई नहीं

यज्ञशिष्टामृतभुजोयान्तिब्रह्मसनातनं। नायंलोकोऽस्त्ययज्ञस्यकुतोऽन्यःकुरुसत्तमः॥
॥ ३१ ॥ एवंबहुविधायज्ञावितताब्रह्मणोमुखे। कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवंज्ञा
त्वाविमोक्ष्यसे॥ ३२ ॥ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञःपरन्तप। सर्वंकर्माखि
लंपार्थज्ञानेपरिसमाप्यते॥ ३३ ॥ तद्विद्धिप्रणिपातेनपरिप्रश्नेनसेवया। उपदे

भाषा अनुवाद

मिलता है तो परलोक सुख फेरि कहां प्राप्त होना है इस से यज्ञ को निश्चयसे करना चाहिये हे कुरुसत्तम॥ यह कैमुतिक न्यायसे देखाया है॥ ३१॥ ज्ञान यज्ञ की प्रशंसा करने के अर्थ अब सब यज्ञों की चर्चा करि न्यून अधिक तारतम्य देखावते हुये कहते है कि नाना प्रकार की यज्ञीं वेदरूप मुख से प्रत्यक्ष विहित हैं पर तौं भी मन वचन शरीर के कर्म से उत्पन्न जो यज्ञ हैं सकल आत्मस्वरूप स्पर्श से रहित जानो अर्थात् उन से आत्मज्ञान नहीं होता क्यों कि आत्मा कर्मों का अगोचर कहे कर्मसे प्राप्य नहीं है इस से तुम ज्ञाननिष्ठ होय संसार से मुक्त होउगे यह जानो॥ ३२॥ अब ज्ञान यज्ञ की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस लिये आत्म व्यापार रहित जो द्रव्यमय देवता के अर्थ यज्ञ है तिस से ज्ञान यज्ञ को श्रेष्ठ जानो और यद्यपि ज्ञान यज्ञ मानसिक व्यापार के आधीन है तथापि आत्मा का स्वरूप जो ज्ञान सो केवल मन का परिणाम अर्थात् ब्रह्मरूप होना मात्र है और ज्ञान कुछ मानस व्यापार से प्रगट नहीं है और ज्ञान की श्रेष्ठता मे हेतु यह है कि फलके सहित सर्व कर्म तत्वज्ञान के अन्तर्भूत हैं क्योंकि लोगोंके किये हुये सत्कर्म ज्ञान के अनुगामी कहे साथ होते है यह वेद मे कहा है सोई इस श्लोक से कहा कि श्रेष्ठ है द्रव्ययज्ञ से ज्ञानयज्ञ हे परन्तप और सब कर्म हे पार्थ अर्जुन ज्ञान मे परिसमाप्त कहे लीन होते है इसी से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है॥ ३३॥ जो कहो कि भला जिस ज्ञान की ऐसी प्रशंसा करते हो सो किस प्रकार से प्राप्त होय तो ज्ञान के साधन कहे उपाय कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषों के निकट जाय नम्रता से प्रणाम कर प्रश्न करै कि किस कारण से हमको यह संसार भया और कैसे निवृत्त होगा और गुरू की सेवा शुश्रुषा करने से तुम को सो तत्त्वज्ञान मिलैगा और ज्ञानी जो शास्त्रज्ञ तथा तत्त्वदर्शी जो हैं वे तुम को उपदेश दे कर

क्ष्यन्तितेज्ञानंज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥ यज्ज्ञात्वानपुनर्मोहमेवंयास्यसिपाण्डव। येनभूतान्यशेषेणद्रक्ष्यस्यात्मन्यथोमयि ॥ ३५ ॥ अपिचेदसिपापेभ्यःसर्वेभ्यःपापकृत्तमः। सर्वंज्ञानप्लवेनैववृजिनंसन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥ यथैधांसिसमिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुतेतथा ॥ ३७ ॥ नहिज्ञानेन

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञान सम्पन्न कर देयंगे सोई कहते हैं कि दण्डवत तथा प्रश्न औ सेवा करनेसे तत्त्वदर्शी ज्ञानी लोग तुम को ज्ञान उपदेश करैंगे और जैसे बन्ध औ मोक्ष तथा ज्ञान औ अज्ञान क्या वस्तु है सो कहैंगे॥३४॥ अब साढे ३ श्लोकसे तत्त्वज्ञानका फल कहते हैं कि तत्त्वज्ञान होने से फेरि और बन्धुवध निमित्त ऐसे मोह को न प्राप्त होउगे कारण यह कि ज्ञान सम्पति होनेसे अपने अज्ञानवशते प्रगट जो पिता पुत्र भाई बन्धु तिनको अपने आत्मासे भिन्न न देखोगे और साक्षात् परमात्मारूप हमसे और अपने आत्मा मे अभेद देखोगे सोई कहते कि जिसज्ञान को जानि के हे पाण्डव फेरि ऐसे मोह को न पावोगे और जिस मे सम्पूर्ण प्राणियो को अपने और मेरे मे देखोगे सो तत्त्वज्ञान महात्मों से मिलैगा ॥ ३५ ॥ और जो सब पापी मनुष्यो से भी तुम अधिक पापी होउ तौ भी पापरूप समुद्र को ज्ञान रूप नौकाके द्वारा अनायास उतरि जावगे तात्पर्य यह है कि जो तुमने कहा था कि पापमेवाश्रयेदस्मान् अर्थात् कुटुम्ब के मारने से हमै बडाही पाप होगा और बन्धुवधरूप वृजिन कहे दु ख सागर के पार कैसे जायंगे सो यह अज्ञान से तुमारी भूल सहज उपाय आत्म ज्ञान से छूट जायगी ऐसे कहि कर श्रीभगवान ने ज्ञान का माहात्म कहा ॥ ३६ ॥ जो पूर्व श्लोक मे कहा कि ज्ञान नौका से पाप समुद्र को उतरि जाउगे सो ठीक है पर पाप तो बना रहा इस सन्देह पर दृष्टान्त दे कर कहते है कि हे अर्जुन जैसे प्रज्वलित अग्नि काठ समूह को भस्म कर देती है तैसे ही ज्ञानअग्नि भी प्रारब्ध कर्मको छोड और सम्पूर्ण सञ्चित आगामी कर्मों को नाश करती है इस मे कुछ सन्देह न करो ॥ ३७ ॥ तिस का कारण यह है कि संसारमे तप दान व्रत यज्ञ आदिके बीच ज्ञानके समान कोईभी चित्तशुद्ध नही करते है तो फेरि सब मनुष्य क्यो नहीं ज्ञान ही का अभ्यास करते

सदृशंपवित्रमिहविद्यते। तत्स्वयंयोगसंसिद्धःकालेनात्मनिविन्दति॥ ३८॥ श्रद्धा
वाँल्लभतेज्ञानंतत्परःसंयतेन्द्रियः। ज्ञानंलब्ध्वापरांशान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥३९
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्चसंशयात्माविनश्यति। नायंलोकोऽस्तिनपरोनसुखंसंशयात्मनः॥४०

भाषा अनुवाद

इस पर डेढ श्लोक से कहते हैं कि बहुत काल कर्मयोग करने से शुद्धचित्त होय सहज मे लोग आत्मा का तत्त्वज्ञान लाभ करते है परन्तु निष्काम कर्मयोग रूप जो भक्ति तिसके विना तत्त्वज्ञान नही होता हैं सोई कहा कि न हि ज्ञानेन सदृशं ॥ ३८॥ और भी कहते है कि श्रद्धावान् कहे आचार्य्य तथा गुरू के उपदेश मे विश्वास करि आस्तीक बुद्धि हो तत्पर कहे एक उसी उपदेशमे दत्तचित्त हो और इन्द्रियों को वश राखि कर वह तत्त्वज्ञान लाभ करैं है इसी से ज्ञान लाभ के पहिले श्रद्धापूर्वक चित्तशुद्धि के अर्थ निष्काम कर्म रूप भक्तियोग करना उचित है और ज्ञान होने पर ज्ञानी को फेरि अन्य कोई कर्म करना नहीं है सोई कहते है कि तत्त्वज्ञानी ज्ञानलाभ के अनन्तर अचिरात् कहे अल्प काल मे झट पट मोक्ष पावते है इस मे सन्देह नहीं है ॥ ३९ ॥ तत्त्वज्ञान के अधिकारी को कहि करि अब अनधिकारी जो अज्ञानी तिसका लक्षण कहते है कि एक तो शास्त्र औ गुरू तथा आचार्यका उपदेश कभी सुना नही और जो दैवात् सुनाभी तो समझा नहीं और जो कुछ किसी तरह समझाभी तो उस मे श्रद्धा अर्थात् विश्वास न भई और जो किसी के कहने सुनने से विश्वास भी आई तो यह अर्थ कहे प्रयोजन हमारा सिद्ध होय कि न होय इस संशय मे पड गये ऐसे लक्षणों से भरे पूरे जो अलक्षणी अज्ञानी लोग है उनका मतलब कभी नही होता अर्थात् अपने मनोरथ से भ्रष्ट होते है उनी को नष्ट प्राणी कहते है परन्तु ऊपर कहे जो अज्ञानी औ श्रद्धाहीन तथा संशयग्रस्त इन तीन पुरुषोंके मध्य मे संशययुक्तचित्त मनुष्य अच्छी तरह अपने मनोरथसे भ्रष्ट होता है क्योंकि उसको हरकाम औ हर बातमे संदेह लगी रहती है क्या धन उपार्जन क्या विवाह क्या दान धर्म क्यों अपना सुख खाना पहिराना लेना देना आदि सब कामो मे संशय के मारे क्षणभरभी सुख नहीं ह फेरि औरोंको देखि हम कुछ नहीं करते यह चिन्ता जुटी शिरपर चढी रहती

योगसंन्यस्तकर्माणंज्ञानसंछिन्नसंशयं। आत्मवन्तंनकर्माणिनिबध्नन्तिधनञ्जय॥
॥ ४१ ॥ तस्मादज्ञानसंभूतंहृत्स्थंज्ञानासिनात्मन। छित्त्वैनंसंशयंयोगमा ति
ष्ठोत्तिष्ठभारत ॥ ४२ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां ज्ञानयोगनामचतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

भाषा अनुवाद

है तौ फेरि संशयके कारण धर्म न होनेसे स्वर्गादिभी नही मिलता और संसारमे तो धन नाशकी सन्देह कर सासारिक सुखसे हाथ धोयही बैठे है तो उनके लोक परलोक के दोनो सुख चले गये केवल चिन्ता के चिता मे बैठे धीरे धीरे जरि जरायके माटीमे मिल गये मूर्खतासे वृथा जन्म चला गया कुछभी न बन पड़ा सोई कहा कि अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति इति इस से संशय छोडो ॥४०॥ दूसरे औ तीसरे अध्याय मे कहा जो कर्मनिष्ठा औ ज्ञाननिष्ठा सोई दो श्लोक से कहते है कि जिसने भगवत आराधनरूप सब कर्म अन्तर्यामी भगवान को अर्पित किया है ऐसा मनुष्य अपने कर्मफल से कभी बद्ध नही होता और हम कोई कर्म नही करते ऐसे बोध से जिस के देह गेह मे आत्मबुद्धिरूप संशय नष्ट हो गई है ऐसे पुरुषके लोक शिक्षार्थ भिक्षा पर्य्यटन आदि स्वभावसिद्ध कर्म कभी भी ज्ञानके प्रतिबन्धक नहीं होते हैं सोई कहा कि योग जो भगवदाराधन कर्म तिससे दिया है कर्मोको संन्यास जिसने और ज्ञानसे अच्छी तरह दूर किया है संदेहको जिसने ऐसे आत्मस्वरूप पुरुषको हे धनञ्जय अर्जुन कर्मबन्धन नहीं कर सकते हैं॥४१॥ जब कि भगवदर्पणरूप निष्काम कर्मयोग और ज्ञानयोग ऐसा है तौ हे भारत अर्जुन आत्मविषयक अपने अज्ञानसे उत्पन्न औ अन्तःकरण मे टिके जो शोक मोह आदि सब संशय उन को देह आत्मा का विवेक कहे विचाररूप ज्ञानखड्ग से काटि कर बेखटका तुम उठो औ कर्मयोग का अनुष्ठान करो और उपस्थित जो युद्ध सो करो श्रीकृष्णने भारत इस सम्बोधन से यह जनाया कि युद्ध क्षत्री का स्वधर्म है और तुम श्रेष्ठ भरत वंशमे उत्पन्न हो। श्रीधरस्वामी कहते हैं कि पुरुषों को अवस्था भेदसे कर्ममय औ ज्ञानमय ये दो प्रकार की निष्ठा जिसने कहा ऐसे संशय निवारण भगवान श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूं॥ ४२ ॥ इति जगन्नाथशुक्लविरचितायां मनभावनीटीकायां चतुर्थोध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चम अध्यायः।

अर्जुनउवाच ॥ संन्यासंकर्मणांकृष्णपुनर्योगञ्चशंससि। यच्छ्रेयएतयोरेकं तन्मेब्रूहिसुनिश्चितं ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ संन्यासःकर्मयोगश्चनिःश्रेयसकरावु

भाषा अनुवाद.

कर्मयोग औ संन्यासयोगमे अर्जुनको संशय निवारण करिके यवजितेन्द्रियोंकी मोक्ष परता श्रीभगवान श्रीमद्भगवद्गीताके पंचये अध्यायमे कहैंगे अज्ञानसे उत्पन्न भई जो संशय तिस को ज्ञानखड्ग से छेदन करिके निष्काम कर्मयोग करो यह जो भगवान ने पुनर्बार कर्म करने को कहा तो पूर्वापर कहे आगू पीछू जो कर्मत्याग औ कर्म करने को भगवतकी आज्ञा तिस को विचारते हुये अर्जुन कहते हैं कि हे कृष्ण ३ अध्याय के १७ श्लोक मे जो आपने कहा कि यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् और ४ अध्याय के ३३ श्लोकादि से कहा कि सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञानं परिसमाप्यते यह तत्वज्ञानी को सर्व कर्म का त्यागरूप सन्यास ही कहा और ४ अध्याय के ४२ श्लोक मे तस्मादज्ञानसम्भूतं इत्यादि ज्ञानरूप असि से संशय छेदन करिके उठो और युद्ध करो यह कहि फेरि कर्मयोग की आज्ञा देते हैं परन्तु ये दोनो परस्पर विरुद्ध हैं अर्थात् कर्म का करना और छोड़ना यह एकपुरुष को एकही कालमे असम्भव है सो हे कृष्ण संन्यास अथवा कर्मयोग इन दोनो मे जो करने से हम कृतार्थ होयं सो एक प्रकार निश्चय निर्धार करिके कहो और कभी संन्यास कभू कर्मयोग कहि कहि हमै सन्देहमे बार बार न डारो ॥ १॥ अर्जुन की इस प्रश्नका उत्तर श्रीभगवान कहते हैं कि हे अर्जुन हम वेदान्ती

भौ। तयोस्तुकर्म्मसंन्यासात्कर्म्मयोगोविशिष्यते॥ २॥ ज्ञेयःसनित्य.संन्यासीयो नद्वेष्टिनकांक्षति। निर्द्वन्द्वोहिमहावाहोसुखंवन्धात्प्रमुच्यते॥ ३॥ सांख्ययोगौ

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञानी के प्रति कर्मयोग करना नहीं कहते है क्यों कि तत्त्वज्ञानी को कर्म त्याग के उपदेश से विरोध पड़ैगा परन्तु देह आदि मे आत्मअभिमानी तुम को जो बन्धुवध निमित्तक शोक मोह से उत्पन्न संशय तिस को स्थूल शरीर औ आत्मा का विवेक रूप खड्ग से छेदन के अनन्तर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने की उपाय रूप जो निष्काम कर्मयोग सोई अनुष्ठान करने को कहा है देखो नि.काम कर्म करने से चित्तशुद्ध होके तत्त्वज्ञान उत्पन्न होने पर ज्ञान के परिपाकार्थ ज्ञान निष्ठा का अङ्ग भूत कर्मके त्याग को मैंने कहा है परन्तु ज्ञानमार्ग मे आरूढ पुरुष को कर्मका त्याग और अनारूढ पुरुष को भगवदाराधन नि'काम कर्मयोग कहा सोई कहते है कि संन्यास औ कर्मयोग ये दोनो नि.श्रेयस मुक्ति के करने वाले है परन्तु दोनो के बीच संन्यास से कर्मयोग ही अधिक है जिस हेतु कर्म योग से ज्ञान प्राप्त होके तब संन्यास अर्थात् कर्मका त्याग निहित है और पहिले होनही॥ २॥ जो संन्यास से कर्मयोग को विशेष कहा सोई अब कर्मयोग की प्रशंसा करते हुये कहते है कि जो कर्म करता हुआ भी न किसीसे वैर करता और न कुछ चाहता है तथा सुख दुख हानि लाभ द्वन्द्वभावसे रहित है सोई नित्य संन्यासी है और संसार बन्धन से छूट जाता है अथवा संन्यासी के ऐसे आचरण करता हुआ जो राग द्वेष रहित कर्म करता है सो नित्य संन्यासी कहे सिद्धय संन्यासी और संन्यासी तो संन्यासी ही है क्यो कि कर्म संन्यास श्रेष्ठ है दूसरा एक संन्यासी मन्थपर है॥३॥ जिस हेतु संन्यास औ कर्म्मयोग दोनो प्रधान अङ्ग रूप अवस्था भेदमे पाये जाते है इस मे इस मे कौन श्रेष्ठ ऐसा पछना अज्ञानी को तो उचित हो सकता है पर ज्ञानी को तो नही यही कहते है कि ज्ञान निष्ठा जो साख्य औ उसी का अंगरूप संन्यास तथा संन्यास से लक्षित कर्मयोगभी संन्यास है इन दोनो का फल एक ही है तो भी दोनो भिन्न हैं यह केवल अज्ञानी कहते है औ पण्डित ऐसा नहीं कहते है देखो इनमे से एक पक्ष का आश्रय लेने

पृथग्बालाःप्रवदन्तिनपण्डिताः। एकमप्यास्थितःसम्यगुभयोर्विन्दतेफलं॥ ४॥ यत् सांख्यैःप्राप्यतेस्थानंतद्योगैरपिगम्यते। एकंसांख्यञ्चयोगञ्चयःपश्यतिसपश्यति ॥५॥ संन्यासस्तुमहाबाहोदुःखमाप्तुमयोगतः। योगयुक्तोमुनिर्ब्रह्मनचिरेणाधिग

भाषा अनुवाद

वाला पुरुष दोनो के फल को प्राप्त होता है जैसे लोग निःकाम कर्म करते शुद्ध चित्त होय तत्त्वज्ञान प्राप्तिके द्वारा उस दोनो का फल जो कैवल्य सो लाभ करते हैं ऐसेही सब कर्म त्यागरूप संन्यासधारी लोग भी पूर्वकृत कर्मयोगकी परम्परा रूप जो कैवल्य सो पावते हैं तो अलबत्ता दोनो का फल पृथक् नहीं है। सोई कहा कि सांख्य औ योग को बालक कहे अज्ञान भिन्न कहते और पण्डित नहीं कहते है एकमे भी अच्छी तरह से स्थित होके फल दोनो का भी पावता है इससे दोनो एक हैं॥ ४॥ सांख्य औ योग दोनोमे से एकके सम्यक् अनुष्ठान करनेसे दोनो का फल किस तरह पावता है इस शङ्का पर सांख्य औ योगका एक फलत्व प्रकाश करते हुये भगवान कहते है कि सांख्य कहे ज्ञाननिष्ठ संन्यासी जो मोक्ष पद पावते है सोई पद योग शब्द वाच्य कर्मयोगीभी ज्ञानके द्वारा प्राप्त होते है इससे एकही फलके हेतुरूप संन्यास औ योगको जो एकरूप देखते है तेई सम्यक् दर्शी हैं सोई कहा कि जो पद सांख्य लोग पावते सोई योग पुरुषोंको भी मिलता है और साख्य योग को जो एक देखते सो देखते है बाकी सूरदास बने बैठे है या जो कोई बिरले ऐसे देखते हैं सब नही ऐसे देखते है॥ ५॥ जो ऐसा है कि योगी लोगों को भी शेषमे संन्यास ही से ज्ञाननिष्ठा हो तौ औ ज्ञान के द्वारा मोक्षपद पावते तो फेर संन्यास से कर्मयोग को अधिक क्यों पीछे कहा उचित है कि प्रथमहीं से संन्यास करे इस संशय युक्त अर्जुन के प्रति भगवान कहते हैं कि प्रथम कर्मयोगके किये बिना हे महाबाहो अर्जुन संन्यासका अभ्यास करना अति कठिन औ दुखका मूल है क्योंकि चित्तशुद्ध भये बिना ज्ञान होना असम्भव है परन्तु कर्मके अनुष्ठान करनेवाले मुनि लोग चित्तशुद्धि के द्वारा संन्यासी होय अर्थात् कर्म छोड कर अचिरात कहे शीघ्रही ब्रह्मपद को प्राप्त होते है याने ब्रह्म रूप हो जाते है इससे चित्तशुद्धिके पहले निष्काम कर्म करना हीं संन्यासते श्रेष्ठ

च्छति॥ ६ ॥ योगयुक्तोविशुद्धात्माविजितात्माजितेन्द्रियः। सर्व्वभूतात्मभूतात्माकुर्व्वन्न
पिनलिप्यते ॥ ७ ॥ नैवकिञ्चित्करोमीतियुक्तोमन्येततत्त्ववित्। पश्यन्शृण्वन्स्पृ
शन्जिघ्नन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥ ८ ॥ प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।

भाषा अनुवाद

होता है ॥ ६ ॥ जो ऐसा कहो कि कर्मके अनुष्ठान से चित्तशुद्धि प्रभृति पर म्परा प्रणाली क्रमसे ब्रह्मज्ञान होने के अनन्तर इस ज्ञानीका पूर्वकृत कर्म्म प्रति बन्धक क्यों न होय इस आशङ्का पर कहते है कि जो पुरुष योगयुक्त अर्थात् निष्काम कर्मयोग रूप भक्ति अनुष्ठान करता है और जिसने चित्त तथा इन्द्रिय गण अपने वशीभूत कर राखा है और जो अपने आत्मा को शरीर धारी दूसरे प्राणियों के आत्मा से भिन्न बुद्धि न करके सर्वभूत मे टिका जो चेतनरूप आत्मा तिसको अद्वैत कहे एकरूप विचार कर देखते है इसीसे वेलोग शुद्धचित्त भिक्षा के अर्थ अथवा स्वभाव आधीन शौच भिक्षा आदि जो सब कर्मो को करते हुये भी उन कर्मो मे लिप्त नही होते न कर्म उनको लगते है ॥ ७ ॥ और जो ऐसी शङ्का करो कि कर्म अनुष्ठान करके भी उसमे लिप्त कहे आशक्त न होना यह अत्यन्त असम्भव है लिप्त होहीगा इस पर दो श्लोक से कहते हैं कि कर्तृत्व अभि मान रहित होना असम्भव नहीं है क्योंकि निष्काम कर्मयोगरूप भक्ति अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य क्रम से तत्त्वज्ञानी होयके दर्शन आदि इन्द्रिय व्यापार करते भी इन्द्रिय सब अपना अपना काम करती है और हम कुछ भी नही करते ऐसी बुद्धि उनकी निश्चय बनी रहती है यथा दर्शन श्रवण स्पर्श घ्राण भोजन ये ज्ञान इन्द्रियोके व्यापार और गमन वचन विसृजन कहे विष्ठा मूत्रत्याग जो कर्म इन्द्रीयों के काम और ग्रहण जो कर का व्यापार औ स्वपन् बुद्धिव्यापार निद्रा होना श्वसन् प्राणवायु व्यापार और उन्मेष निमेष कहे पलक लगना खुलना जो कूर्म्म वायु से होता है यह सब इन्द्रिय आदिका कर्म है और हम द्रष्टा साक्षी रूप है यह कुछ कर्म हम नहीं करते ऐसे ही ज्ञानी पुरुष इन कर्मोंमे अभिमान शून्य लिप्त नहीं होते है सोई कहा दो श्लोक से कि इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तते इति धारयन् यहां तक ॥८॥ आठ नव दोनो श्लोक का अर्थ एकही साथ है ॥९॥ और जो मनुष्य

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषुवर्त्तन्तइतिधारयन् ॥ ६ ॥ ब्रह्मण्याधायकर्माणिसङ्गंत्यक्त्वाक रोतियः । लिप्यतेनसपापेनपद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥ कायेनमनसाबुद्ध्याकेवलै रिन्द्रियैरपि ॥ योगिनःकर्मकुर्वन्तिसङ्गंत्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥ युक्तःकर्मफलंत्य क्त्वाशान्तिमाप्नोतिनैष्ठिकीं । अयुक्तःकामकारेणफलेसक्तोनिबध्यते ॥ १२ ॥ सर्व

भाषा अनुवाद

हम कर्म करते हैं ऐसा अभिमान रखते हैं तेई कर्ममे लिप्त होते औ उन्ही कों कर्मबन्ध होता है फेरि चित्तकी अशुद्धता से उनको संन्यास भी दुर्घट है इस से उनको सब तरह सङ्कट है जो ऐसी शङ्का करो तो यह उत्तर सुनो कि अन्त र्यामी ईश्वर की प्रेरणा से हम सब कर्म करते हैं ऐसे विचार करि सकल कर्म ईश्वर मे समर्पण करके औ कर्म कालमे आशक्ति रहित कर्म करते है तो उनको कर्म प्रतिबन्धक नहीं होते और वे कर्म से लिप्त नहीं है जैसे पद्मपत्र जलमे निर न्तर रहते भी जलसे अलग है सोई कहा कि ब्रह्ममे कर्म अर्पण करि सङ्ग कहे आशक्ति छोडि जो कर्म करै है सो पाप से नहीं लिप्त होता जैसे कमलका पत्ता जलमे रहिके भी जलसे भिन्न है ॥१०॥ निष्काम कर्मबन्धक नहीं है इस कहनेके बाद अब उत्तम मनुष्यों को कर्म के द्वारा मुक्ति दिखावते हैं कि शरीरसे स्नानादि मनसे ध्यानादि औ बुद्धिसे तत्त्व निश्चयादि तथा कर्म से आशक्ति रहित औ फला भिलाष शून्य होकर इन्द्रियो के द्वारा श्रवण कीर्त्तन चिन्तन आदि चित्तशुद्धिके अर्थ कर्मानुष्ठाई योगीजन कर्म करते है सोई कहा कि काय मन बुद्धिसे आत्म शुद्धिके हेतु सङ्ग छोडि योगीजन कर्म करते हैं ॥११॥ जो ऐसी शङ्का करो कि वही एक कर्मसे कोई तो मुक्त औ किसीको बन्ध यह कैसी व्यवस्था है तो इसका निवारण करते है कि योगी कर्मकारी पुरुष ईश्वरमे एक निष्ठ हो कर्मफल को त्यागि कर्म अनुष्ठान करिके अत्यन्त शान्ति स्वरूप जो मुक्ति तिसको प्राप्त होते हैं परन्तु अयुक्त कहे कामना विशिष्ट कर्म बहिर्मुख लोग काम्यकर्म से अवश्य ही बद्ध होते है युक्त कहे ईश्वरार्थ कर्म करने वाले ॥१२॥ इन सब बातों से अशुद्ध चित्त मनुष्य को संन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्म करना ही श्रेय है यह विस्तार पूर्वक कहि कर अब शुद्धचित्त पुरुष को संन्यास ही श्रेष्ठ है

कर्माणिमनसासंन्यस्यास्तेसुखंवशी। नवद्वारेपुरेदेहीनैवकुर्वन्नकारयन्॥ १३॥
नकर्तृत्वं न कर्माणिलोकस्यसृजतिप्रभुः। नकर्मफलसंयोगंस्वभावस्तुप्रवर्त्तते॥ १४॥
नादत्तेकस्यचित्पापंनचैवसुकृतंविभुः। अज्ञानेनावृतंज्ञानंतेनमुह्यन्तिजन्तवः॥ १५॥

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि जितचित्त विवेकयुक्त बुद्धिके द्वारा विक्षेप कारक सब कर्म छाड़ि कर जैसे सुखमे रहते तैसे ज्ञाननिष्ठ युक्त होके भी सुखमे रहते हैं जो कहो कि कहां रहते तो कहते हैं कि नवद्वार पुर जो अहङ्कार शून्य शरीर तिसमे आत्म स्वरूप से स्थित रहते हैं और अहङ्कारके अभावसे आप शारीरक कर्म नहीं करते और ममताके अभाव से दूसरे से भी वे कोई काम नहीं करावते हैं यह शुद्ध औ अशुद्धचित्त मनुष्यो का भेद भगवानने कहा॥ १३॥ ईश्वर जिस को इस लोकसे श्रेष्ठ लोक को लेजाने की इच्छा करते हैं उससे सत्कर्म करावते और जिसे अधो लोक लेजाने की इच्छा करते उससे कुकर्म करवावते हैं यह श्रुतिमे कहा है तो परमेश्वर की प्रेरणासे पराधीन जो मनुष्य सो कैसे वे कर्मत्याग करने शकैं एक तो यह दूसरे जो परमेश्वरहीकी प्रेरणासे शुभ अशुभ कर्ममे लोग प्रवृत्त होते हैं तो ईश्वरभी विषम दृष्टि औ निर्दय हैं फेरि कर्मोंका करवावनेवाला भी वही है तो उसकोभी पुन्य पाप सम्बन्ध होय न क्यों जो यह शङ्का करो तो इस का सिद्धान्त श्लोकसे कहते हैं कि प्रभु जो ईश्वर सो मनुष्योंको कर्तृत्व अथवा कर्म सृजन नहीं किया किन्तु मनुष्यों को पूर्व कर्म संस्कार रूप जो अज्ञान सोई कर्तृत्वादिमे प्रवृत्त करै है इसीसे अपनी अनादि अविद्या से कामनाके वश होय प्रवृत्ति युक्त पुरुष को ईश्वर भी कर्ममे नियुक्त करते हैं और ईश्वर कुछ आपसे उसको प्रवृत्ति नहीं देते हैं सोई कहा कि कर्तृत्व औ कर्म तथा फलयोग प्रभुने नहीं किया लोग सब स्वभाव अर्थात् माया से प्रवृत्त हैं॥ १४॥ जिस हेतु भगवान न कुछ करते और न किसी से कुछ करवावते हैं वे तो विभु कहे व्यापक तथा पूर्ण काम हैं इससे भक्त अभक्त किसीके पुन्य या पापके भागी नहीं है परन्तु परमेश्वर की अचिन्त्य जो माया सोई पूर्व कर्म के अनुसार ऊंच नीच कर्म मे लोगों को प्रवृत्ति देती और अज्ञान से ज्ञान आवृत्त कहे घेरा है तिससे सब मोहित होते

ज्ञानेनतुतदज्ञानंयेषांनाशितमात्मन.। तेषामादित्यवदज्ञानंप्रकाशयतित परं ॥ १६ ॥ तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणः। गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषा.॥ १७ ॥ विद्याविनयसम्पन्नेब्राह्मणेगविहस्तिनि। शुनिचैव श्वपाकेचपण्डिताःसमदर्शिन.॥ १८ ॥ इहैवतैर्जित.सर्गोयेषांसाम्येस्थितंमनः।

भाषा अनुवाद

है जो कहो कि पूर्ण काम को फेरि भक्तों पर अनुग्रह औ अभक्तों का निग्रह क्यों कर घटै है तो कहते हैं कि परमेश्वर का निग्रह रूप दण्ड अनुग्रह है अर्थात् दण्ड होने से पापीका पाप दूर होजायगा ऐसे दण्डरूप अनुग्रह का न जानना जो अज्ञान सोइ परमेश्वर विषयक ज्ञान को आवृत करता है तो फेरि जीव मोहित होय अपने अज्ञान से परमेश्वर मे विषम दृष्टिका आरोप करते है ॥१५॥ और ज्ञान से जिन का अज्ञान नाश हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुषों को पर जो भगवत् स्वरूप सो प्रकाशमान है जैसे सूर्यके प्रकाशसे अन्धाकार दूर हो वस्तु सब प्रकाशित होती हैं। लोग केवल अपने मोह से ईश्वर मे मोह कल्पना करते है ॥ १६ ॥ जैसे जो परमेश्वर तिनके उपासकों को प्राप्त जो फल होता है सो कहते है कि भगवत की भक्ति से अवश्य ही संसार सागर को उतर जायं गे ऐसी जिन के निश्चयरूप बुद्धि है और तैसे ही भगवद्भक्ति मे सम्पन्न औ तत्पर है और परमेश्वर ही जिन के परम अवलम्ब है सोई जन ईश्वर के प्रसाद से निःपाप होय मुक्तिपद पाय आवागमन से रहित होते हैं। सोइ कहा कि ईश्वर मे बुद्धि औ ईश्वर मे आत्मा औ ईश्वर मे निष्ठा तथा ईश्वर मे परायण पुरुष ज्ञान मे निर्द्धूत कल्मष अपुनरागमन पद मोक्ष को प्राप्त होते है ॥ १७ ॥ तो वे तत्वज्ञानी जो मुक्तिलाभ करते कैसे होते हैं सोइ कहते है कि विषम वस्तुमे सम ज्ञान अर्थात् सकल वस्तुमे ब्रह्मरूप देखते हैं जैसे कि विद्या औ विनय से युक्त ब्राह्मण औ गऊ हाथी कुत्ता तथा चाण्डाल इन सबमे पण्डित कहे ज्ञानी समदर्शी होते हैं अर्थात् सबमे आत्मा रूप ईश्वर को एकरूप देखते हैं ॥ १८ ॥ यह सुनि जो सन्देह होय कि विषम मे सम दृष्टि मनुष्य पण्डित कैसे औ गौतम ने कहा है कि विषम मे सम पूजन औ सम मे विषम पूजन करने वाले लोक पर लोक

निर्दोषंहिसमंब्रह्मतस्माद्ब्रह्मणितेस्थिताः ॥ १९ ॥ नप्रहृष्येत्प्रियंप्राप्यनोद्विजेत्प्राप्यचाप्रियं । स्थिरबुद्धिरसंमूढोब्रह्मविद्ब्रह्मणिस्थितः॥२०॥ बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्माविन्दत्यात्मनियत्सुखं । सब्रह्मयोगयुक्तात्मासुखमक्षयमश्नुते ॥ २१ ॥ येहिसंस्पर्शजाभोगादुःखयोनयएवते । आद्यन्तवन्तःकौन्तेयनतेषुरमतेबुधः ॥ २२ ॥ शक्नोतीहैव

भाषा अनुवाद

से भ्रष्ट होते हैं इस सङ्का को निवारण करते हुये कहते हैं कि जिन का मन समभाव मे स्थित है उनोने इहांई स्वर्ग जय करलिया है क्यों कि सर्वत्र समान रूप निर्दोष ब्रह्म परिपूर्ण होरहा है ऐसा जो जानते तें ब्रह्म मे स्थित कहे ब्रह्म रूप निर्दोष और गौतम की बात ज्ञान अवस्था के पहिले की है ॥ १९ ॥ अब ब्रह्मभाव प्राप्त पुरुष का लक्षण कहते है कि ब्रह्मज्ञानी होके जो ब्रह्म मे स्थित है वे कोई प्रिय वस्तु पाय के हर्षित नहीं होते हैं और अप्रिय प्राप्त होने से भी विषाद नही करते है क्यों कि वै लोग स्थिर बुद्धि औ मोह रहित है ॥ २० ॥ मोह निवृत्त मात्र होने से बुद्धि स्थिर होती इस का हेतु कहते हैं कि बाह्य इन्द्रियों के विषय मे अनासक्त चित्त पुरुष अपने अन्तःकरण मे विक्षेप रहित शान्तियुक्त जो सात्त्विक सुख सो अनुभव करते और वही पुरुष शान्तिसुख प्राप्त हो के ब्रह्मयोग युक्त आत्मा कहे समाधिके द्वारा परमात्माके साथ एकता की प्राप्ति रूप जो अक्षय सुख सो भी लाभ करते हैं ॥ २१ ॥ प्रिय जो विषयभोग तिन के निवृत्त होने से फेरि मुक्ति पुरुषार्थ अर्थात् परम प्रिय कैसे है इस संशय पर कहते है कि जो स्पर्श आदि विषय और उन विषयों से प्रगट जो सुख सो भोग समय मे स्पर्द्धा कहे और का अधिक सुख देखि इच्छा की हृद्धि औ आयुर्दा की भय हैं और भोग पीछे कुछ नहीं है खाली चिन्ता मात्र करते है इन सब हेतुवों से केवल दुख के कारण है और उन का आदि अन्त भी है इस से हे कौन्तेय विवेकी लोक उस विषयसुख भोग मे नही रमित होते हैं ॥ २२ ॥ इस से मुक्ति ही परम पुरुषार्थ है और काम क्रोध से उत्पन्न जो क्षोभ सोई मुक्ति का प्रति पक्ष है अतएव उसके वेगको जो सहि सकै सो मुक्तिभागी होयगा यही कहते हैं कि शरीर रहते अथवा शरीर सामर्थ्य रहते हुये जो काम क्रोध के वेग को

यःसोढुंप्राक्शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवंवेगंसयुक्तःससुखीनरः॥ २३॥
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेवयः॥ सयोगीब्रह्मनिर्वाणंब्रह्मभूतोऽधिग
च्छति॥ २४॥ लभन्तेब्रह्मनिर्वाणमृषयःक्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधायतात्मानःसर्व
भूतहितेरताः॥ २५॥ कामक्रोधवियुक्तानांयतीनांयतचेतसां॥ अभितोब्रह्मनि
र्वाणंवर्त्ततेविदितात्मनां॥ २६॥ स्पर्शान्कृत्वावहिर्वाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरेभ्रुवो।

भाषा अनुवाद

सहि लेने सकै सोई नर युक्त कहे आत्मरूप और सुखी है॥ २३॥ और केवल काम क्रोध का वेग जीतने हीं से मुक्त नहीं होय है और भी कहते हैं कि जो अपने अन्तरात्मा मे सुखी औ विषयभोग से सुखी नहीं है और जो पुरुष आत्मा राम हो के आत्माही मे विहार करता औ वाहरके व्यापारसे विरत तथा अन्तर प्रकाश है अथवा आत्माही मे दृष्टि औ नृत्य गीत आदि विषयों मे दृष्टि नहीं रखता है सोई योगी इह कहे जीवते ही ब्रह्मरूप ब्रह्म मे लीन होता है॥ २४॥ मुक्ति का हेतु जो ज्ञान तिस की साधन उपाय प्रकारान्तर कहे दूसरी तरह से कहते हैं कि ऋषि कहे सम्यक्दर्शी संन्यासी लोग जो यज्ञ आदि नित्य नैमित्तिक कर्म करि क्षीण कल्मष कहे निष्पाप होके श्रवण आदि से ज्ञान के द्वारा छिन्न द्वैध कहे संशय रहित हो गये हैं और जिन का चित्त औ इन्द्रियगण वशीभूत हैं औ प्राणियों के हितकारी दयालुस्वभाव अर्थात् हिंसा रहित हैं वेई ब्रह्ममे लयरूप मोक्ष पावते हैं॥ २५॥ और काम क्रोध से वियुक्त ज्ञानी जन संन्यासी यतचित्त लोग विदित है आत्मा जिनको ते जीवित औ मृत दोनो अवस्थामे मुक्त हैं ऐसा नहीं कि देहान्त मे वे मुक्ति पावेंगे किन्तु वे जीवते भी ब्रह्म के साथ एक रूप होय जीवन्मुक्त ऐसे प्रसिद्ध होते हैं॥ २६॥ इसी अध्याय के २४ श्लोक से कहा कि योगी मोक्ष पावै हैं सोई फेरि संक्षेप से कहते हैं कि शब्द स्पर्श आदि वहिर्विषयों को वाहर करिके और चक्षु कहे दृष्टिको भौंहके मध्य मे राखि प्राण अपान वायुको सम करि के कुम्भक प्राणायाम करै भ्रूमध्य मे दृष्टि इस लिये कहा कि नेत्र वन्द करने से निद्रावश हो मन लय कहे लीन हो जाता और खुले रहने से मन विषयों पर धावता है अधखुले रखने से भ्रू के वीच निकटही दृष्टि रहती

प्राणापानौसमौकृत्वानासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ २७ ॥ यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्ष परायणः। विगतेच्छाभयक्रोधोय.सदामुक्तएवसः ॥ २८ ॥ भोक्तारंयज्ञतपसांस र्वलोकमहेश्वरं। सुहृदंसर्वभूतानांज्ञात्वामांशान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥ इति श्रीभग वद्गीता सूपनिषत्सु संन्यासयोगनाम पञ्चमोऽध्याय ॥ ५ ॥

भाषा अनुवाद

है औ दोनो वायु सम करि नासिका रन्ध्र से सञ्चार करती हैं जिस में प्राणवायु बाहर औ अपान भीतर सञ्चार न करैं इसवास्ते कुम्भक प्राणायाम योग करै॥ २७॥ और इसी उपाय से जिस की इन्द्रीय औ मन बुद्धि आदि वशीभूत हैं औ मुक्ति प्राप्ति के योग्य है और जिसने इच्छा भय क्रोध को दूर किया है ऐसे गुणों से सदा युक्त जो मुनि सो जीवनकाल मे भी मुक्त अर्थात् वह कर्मरहित जीन्मुक्त है॥ २८॥ जो कहो कि इन्द्रीय मात्र वश करने से कैसे मुक्त होय तिस पर कहते कि हां मुक्ति ज्ञान हीं के द्वारा होती है देखो हमारे भक्तों मे समर्पित यज्ञ औ तप के अथा चित्तरूप भोक्ता औ प्रतिपालक सर्व लोक मे श्रेष्ठ ईश्वर सव से निरपेक्ष अन्तर्यामी रूप हम को जानि कै योगी लोग मेरी अनुग्रह से शान्ति कहे मोक्ष पावते हैं॥ २९॥ श्रीधर स्वामी कहते कि जो अर्जुन की कर्मयोग औ ज्ञानयोग को पृथक् शङ्का निवारि कै जिसने क्रम से दोनो को एक कहा है सोई जगत गुरु श्रीकृष्ण को हम प्रणाम करते हैं॥ इति जगन्नाथ सुक्ल विरचितायामनभावनीटीकायां पञ्चमोध्याय ॥ ५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

षष्ठ सअध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । अनाश्रितःकर्मफलंकार्य्यंकर्मकरोतियः । ससंन्यासीचयोगीच

भाषा अनुवाद

श्रीधरस्वामी छठयें अध्यायके आरम्भमे वर्णन करते है कि मनुष्यों को चित्त शुद्ध होने से भी ध्यानके बिना केवल संन्यास मात्रसे मुक्ति नहीं मिलती है इसी हेतुसे श्रीभगवान छठयें अध्यायमे ध्यानयोगको विस्तार करि कहते हैं कि पञ्चम अध्यायके अन्तभागमे संक्षेप से कहा गया जो ध्यानयोग सोइ विस्तार करने को छठयें अध्यायका आरम्भ अर्थात् सर्व्व कर्म्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी इस ५ अध्यायके १३ श्लोक से सर्व कर्म्म त्याग पूर्वक ज्ञाननिष्ठा की प्रशंसा करने से और कर्म्म अनुष्ठान क्षेमकारी है इससे हठात् कर्म त्याग की अवस्था के बिना भी कर्म का त्याग मनुष्यों के मनमे होय उठै है सो तिसके निवारन के अर्थ कर्म्म छोडने से कर्म करना श्रेष्ठ है यह कहि कर्म योगकी बडाई करते हुये भगवान कहते है कि ॥ अनाश्रित कहे कर्म्म फलकी आकाङ्क्षा रहित होय कर सब कर्म अवश्य ही कर्त्तव्य है इस विचार से जो विहित कर्म का अनुष्ठान करै सोइ संन्यासी औ सोई योगी है नहीं तो निरग्नि कहे अग्निसाध्य यज्ञादि कर्म्म त्यागी औ अक्रिय अर्थात् वेअग्नि के कर्म कुंआ ताल बावडी खनन तथा दानादि कर्म त्यागी होके लोक अपने को योगी समझैगे किन्तु ऐसा नहीं है तात्पर्य यह कि फल ही का त्याग उचित कर्म्म का त्याग नही अर्थात् उपर लिखे सब कर्म विष्णुप्रीत्यर्थ करना ही चाहिये सोइ कहा अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्म करो

ननिरग्निर्नचाक्रियः ॥ १ ॥ यंसन्यासमितिप्राहुर्योगंतंविद्धिपाण्डव । नह्यसंन्य
स्तसंकल्पोयोगीभवतिकश्चन ॥ २ ॥ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगंकर्मकारणमुच्यते । योगा
रूढस्यतस्यैवशमःकारणमुच्यते ॥ ३ ॥ यदाहिनेन्द्रियार्थेषुनकर्मस्वनुषज्जते । सर्व
सङ्कल्पसंन्यासीयोगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥ उद्धरेदात्मनात्मानंनात्मानमवसादयेत् ।

भाषा अनुवाद

तियः ॥ १ ॥ यह सुनि अर्जुन ने पुछा कि हे कृष्ण किस कारण से वे मनुष्य योगी औ संन्यासी नही है इस पर कर्म योगको संन्यास प्रतिपादन करते हुये कहते है कि हे पाण्डव अर्जुन संन्यास मात्र ही को जो सब श्रुतियोने श्रेष्ठ कहा है सोइ फल संन्यास रूप कर्म को भी जानो जो कहो कि कैसे जानै तो कहते है कि इति शब्द से कहे जो हेतु सो योग मे भी है सोइ उत्त श्लोक मे कहते है कि कर्म निष्ठ या ज्ञान निष्ठ जो होय पर फल की इच्छा त्याग विना योगी नही इससे फल कामना मे जिसका चित्त विक्षिप्त नहीं सोई योगी औ संन्यासी है सोइ कहा नह्यसन्यस्त सङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥ तौ फेरि जावत् जीवन कहे जिन्दगीभर कर्मयोग ही करना चाहिये जो ऐसी शङ्का करे तो कर्मयोग की अवधि कहते है कि ज्ञानयोग मे आरूढ होने की इच्छा करने वाले पुरुष को उस राहके चढने मे कर्म ही कारण रूप कहा है क्यों कि निष्काम कर्म चित्तशुद्धि करता है और ज्ञानयोग आरूढ कहे ज्ञानी को शम कहे विक्षेपकारी कर्म सकल का त्यागही उचित जिसलिये त्याग ज्ञान परि पाक का कारण रूप कहा है ॥ ३ ॥ जो पूंछो कि वह ज्ञानयोग आरूढ पुरुष जिसको विक्षेपकारी कर्म का त्याग कहा गया कैसा होता है तो कहते हैं कि जब इन्द्रियो के भोग जो विषय तिनमे और भोग के साधन भूत कर्मो मे आसक्त न होय और कर्म संकल्प को छोडि सकै तब उस को जोगारूढ कहते है ॥ ४ ॥ देखो विषयों मे इच्छा निवृत्ति होने से मोक्ष औ विषयो मे आसक्ति से बन्ध होता है यह विचारि रागद्वेषादि स्वभाव से रहित होना उचित सोई कहते है कि विवेक युक्त आपही अपने आत्माको बुद्धिके द्वारा संसार से उद्धार करैगा और अधोगति को न ले आयगा जिस हेतु कामनासे निवृत्त जो आत्मा कहे मन सोई

आत्मैवह्यात्मनोबन्धुरात्मैवरिपुरात्मनः॥ ५॥ बंधुरात्मात्मनस्तस्ययेनैवात्मात्मना जितः। अनात्मनस्तुशत्रुत्वेवर्त्तेतात्मैवशत्रुवत्॥ ६॥ जितात्मनःप्रशान्तस्यपरमा त्मासमाहितः। शीतोष्णसुखदुःखेषुतथामानावमानयोः॥ ७॥ ज्ञानविज्ञानतृ प्तात्माकूटस्थोविजितेन्द्रियः। युक्तइत्युच्यतेयोगीसमलोष्टाश्मकाञ्चनः॥ ८॥ सुहृ

भाषा अनुवाद

अपना बन्धुरूप उपकारी है और कामनामे आसक्त जो मन सो शत्रुरूप अपकारी है तो अपना शत्रु मित्र आपही है॥ ५॥ अब आत्मा ही तो किसी मनुष्यका बन्धु औ किसीका रिपु है इस अपेक्षा पर कहते हैं जिसने अपने आत्माको जीता अर्थात् विज्ञानमय आत्मा कर्तृक कार्य कारण मिलित रूप जो आत्मा स्थूल सूक्ष्म शरीरादि वशीभूत होती है सोई विज्ञानमय जीव अपना बन्धु है और अनात्मा कहे शरीरादि अवशीकृत जो है सोई आप अपना शत्रु तुल्य है॥ ६॥ जितात्मा पुरुष को जो अपने आत्मामे बन्धुता है सो खुलासा करिके करते हैं कि जिसने आत्मा जो शरीर आदि तिस को जीता अर्थात् अपने आधीन किया है केवल वह प्रीति विरोध आदिसे रहित मनुष्य का मन शीत उष्ण सुख दुःख आदिमे समाहित कहे सावधान रहता है अर्थात् वही आत्मनिष्ठ है अथवा उसी का हृदय परमात्मा मे समाहित अर्थात् विक्षेप रहित निश्चल होता किसी का और समाहित नहीं हो सकता है॥७॥ योग आरूढ पुरुष के लक्षण औ श्रेष्ठता कहते हैं कि ज्ञान कहे शास्त्रसे अथवा गुरूके उपदेश से जो होय और विज्ञान जो अनुभव सिद्ध अर्थात् हम सोई ब्रह्म हैं यह प्रत्यक्ष ज्ञान इन दोनो से जिसका आत्मा कहें चित्त सन्तुष्ट है और जिस ने इन्द्रियगण को जीता है तथा ढेला पत्थर सोना ये जिसको समान अर्थात् लेने छोडने की बुद्धि जिसे नहीं ऐसा जो निरपेक्ष निर्बिकार कूटस्थ कहे अचल के तुल्य निश्चल पुरुष सोई युक्त योगी कहे योगारूढ है॥ ८॥ और शत्रु मित्र आदि मे जो समदर्शी मनुष्य सो योगी से भी अधिक है यह कहते हैं कि सुहृद कहे स्वभाव से हित कारी औ मित्र जो स्नेह वशते उपकारी औ अरि कहे घातक जो शत्रु औ उदासीन अर्थात् उप कार अपकार दोनो से अलग निरपेक्ष जो औ मध्यस्थ कहे पक्षपात विना दोनो

न्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु । साधुष्वपिचपापेषुसमबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥ यो
गीयुञ्जीतसततमात्मानंरहसिस्थितः । एकाकीयतचितात्मानिराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥
शुचौदेशेप्रतिष्ठाप्यस्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितंनातिनीचंचैलाजिनकुशोत्त
रं ॥ ११ ॥ तत्रैकाग्रंमनःकृत्वायतचित्तेन्द्रियक्रियः । उपविश्यासनेयुञ्ज्याद्योगमा
त्मविशुद्धये ॥ १२ ॥ समंकायशिरोग्रीवंधारयन्नचलंस्थिरः । संप्रेक्ष्यनासिकाग्रंस्वं

भाषा अनुवाद

और हितकारी औ द्वेष अर्थात् निःप्रयोजन शत्रु जो अकारण क्रोधी औ बन्धु जिनसे कुछ सम्बन्ध है औ साधु कहे सुशील सुन्दर आचरण जिनका है तथा पाप जो दुराचारी इन सब के विषे जिस की बुद्धि समान कहे प्रीति विरोध रहित है सो विशिष्ट कहे योगो में अधिक है ॥ ९ ॥ योगी के लक्षण कहिकर अब उसका अङ्गरूप जो योग सो इस श्लोक से ले कर इसी अध्याय के स योगी मरमोमतः इस ३२ श्लोक तक कहते हैं कि योग आरूढ पुरुष सङ्ग रहित होय जिस के अन्तःकरण औ शरीर वशीभूत हैं सो निराकांक्ष सर्व्व परिग्रह रहित एकान्तक मे अकेला सावधान बैठि कर अपने आत्मा कहे मन को निरन्तर भगवत के मनन मे युक्त करै ॥ १० ॥ उसी योगका आसन औ नियम आदि दिखावते हुये दो श्लोक से कहते हैं कि पवित्र स्थानमे अपने आसन पर बैठने के अनन्तर योग अभ्यास करै आसन कैसा चाहिये कि जो अचल औ न बहुत ऊंचा न अति नीचा होय और चैल कहे वस्त्र अजिन व्याघ्रचर्म अर्थात् नीचे कुश तब चर्म उपर वस्त्र ऐसा आसन करै ॥ ११ ॥ और जिस का चित्त औ इन्द्रिय निष्क्रिय कहे व्यापार रहित है सो मन की शान्ति कहे शुद्धि के अर्थ उक्त आसन पर बैठने के बाद मन को एकाग्र विक्षेप रहित कर के योग अभ्यास करै ॥ १२ ॥ अब चित्त को एकाग्रता के उपयोगी जो देह धारणादि सो दो श्लोक से कहते हैं कि काय कहे शरीर का मध्यभाग औ शिर ग्रीवा अर्थात् मूल आधार से ले कर मस्तक पर्यन्त शरीर अति यत्न से सीधी राखि के औ निश्चल कर धारणा के बाद अपनी नासिका के अग्रभाग मे अर्द्ध उन्मीलन पूर्व्वक दोनो दृष्टि लगाय समाहित सावधान होय और दिशों मे दृष्टि न देय ॥ १३ ॥ जिस

दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥ प्रशान्तात्माविगतभीर्ब्रह्मचारिव्रतेस्थितः। मनःसंयम्यमच्चित्तोयुक्तआसीतमत्परः ॥ १४ ॥ युञ्जन्नेवंसदात्मानंयोगीनियतमानसः। शान्तिंनिर्वाणपरमांमत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥ नात्यश्नतस्तुयोगोऽस्तिनचैकान्तमनश्नतः। नचातिस्वप्नशीलस्यजाग्रतोनैवचार्जुन ॥ १६ ॥ युक्ताहारविहारस्ययुक्तचेष्टस्यकर्मसु। युक्तस्वप्नावबोधस्ययोगोभवतिदुःखहा ॥ १७ ॥ यदाविनियतंचित्तमात्म

भाषा अनुवाद

का चित्त प्रशान्त और जो निर्भय औ ब्रह्मचर्य्य व्रत मे स्थित हो के अपने मन को सब तरफ से खींच मेरे मे लगाया है और जिसको मही परम पुरुषार्थरूप कहे इष्ट देव हो ऐसा मत्परायण पुरुष उक्त मत योग मे समाहित रहता है ॥ १४ ॥ अब योगाभ्यास करने का फल कहते है कि पूर्व्वोक्त प्रकार से सदा आत्मा मे मन को युक्त करते करते नियत कहे निरुद्ध हैं मानस अर्थात् चित्त जिस का सोई शान्ति कहे संसार निवृत्ति को प्राप्त होता है वह शान्ति कि स्वरूप है सो कहते है कि जिस से परम निर्वाण प्राप्त होय है सोईशान्ति औ मत्संस्था कहे मेरे रूपमे अवस्थिति सो भी उसके मिले है ॥ १५ ॥ योगाभ्यासी को आहार शयन आदि का नियम कहते है कि हे अर्जुन अत्यन्त अधिक आहारी और अत्यन्त निराहारी इन दोनो को भी योग जो समाधि सो नही हो सकती है और अतिनिद्रा करनेवाला तथा निद्रात्यागी इन को भी समाधि नही होती है ॥ १६ ॥ तो फेरि कैसे पुरुष को समाधि हो सकती है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि नियमरूप आहार औ विहार है जिसका तथा कर्मों मे परिमित चेष्टा कहे व्यापार है जिसका और यथा उचित है सोवना जागना जिस का उसी को योग कहे समाधि होती है और दुख दूर करती है ॥ १७ ॥ कौन समय मे योगसम्पन्न अर्थात् समाधिसिद्ध होगा सो कहते हैं कि जब पुरुष का चित्त एकाग्र कहे अच्छी तरह सब ओर से रुककर अर्थात् बाह्य कहे बाहर के सकल विषयों को छोड़ कर केवल आत्मा मे निश्चल रूप से लगै अर्थात् अपने आत्मा मे स्थिति करै और सब मनोरथ की इच्छा न रहे अर्थात् देखी सुनी जो सांसारिक विषय तिन की कामना मे स्पृहा कहे तृष्णा न उठै तब वह योगसिद्ध

न्येवावतिष्ठते । निस्पृहः सर्वकामेभ्योयुक्तइत्युच्यतेतदा ॥१८॥ यथादीपोनिवातस्थो
नेङ्गतेसोपमास्मृता । योगिनोयतचित्तस्ययुञ्जतोयोगमात्मन ॥ १९ ॥ यत्रोपरमते
चित्तंनिरुद्धंयोगसेवया । यत्रचैवात्मनात्मानंपश्यन्नात्मनितुष्यति ॥ २० ॥ सुखमात्यन्ति

भाषा अनुवाद

कहे युक्त समाहित कहा जाता है सोई कहा कि यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवाव
तिष्ठते इति ॥ १८ ॥ आत्माकाराकारितरूप अवस्थित चित्त कहे आत्मरूप ता
को प्राप्त जो चित्त तिस का दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे निर्व्वात स्थान मे दीपशिखा
हलचल नही होती सोई उपमा कहे दृष्टान्त जानो यह किस का दृष्टान्त है जो
पूछो तो कहते हैं कि आत्मविषयक योगाभ्यासी योगी पुरुष जिस का चित्त वशी
भूत है उसी का चित्त निर्व्वात स्थान स्थित दीपशिखा के समान आत्मा मे स्थिर
है यहां चित्त शब्द का अर्थ अन्त करण है सो अन्त करण वृत्ति भेद से चारि
प्रकार का है सङ्कल्पात्मक कहे सङ्कल्परूप अन्त करण की वृत्ति कहे स्वभाव को
मन कहते है और निश्चयात्मक अन्त करण की वृत्ति को बुद्धि कहते और अनु
सन्धान कहे किसी वस्तु के जानने के लिये तद्वस्तुरूप हो रहना अनुसन्धानात्मक
अन्त करण वृत्ति को चित्त कहते है और अभिमान युक्त अन्त करण अहङ्कार
कहा जाता है ॥१९॥ यत्संन्यासमिति प्राहु र्योगं तद्विद्धि पाण्डव इसी अध्यायके
इस दूसरे श्लोकसे योगही को कर्म कहा है और नात्यश्नतस्तुयोगोस्ति इस सोलहैं
श्लोक से योगशब्द से समाधि कहा तो इसमे मुख्य योग किस को कहे इस अपेक्षा
मे फल औ स्वरूप तथा लक्षण क्रम से समाधि ही मुख्य है यह साढे तीनि श्लोको
मे कहते है कि जिस अवस्था मे योगाभ्यास से निरुद्ध कहे एकाग्रचित्त होता
है और जिस अवस्था मे आप आप अपने स्वरूप को देखते हुये सन्तुष्ट
होता है ऐसो जो समाधि कहे चित्तवृत्ति की एकाग्रता सोई योग है यही पात
ञ्जलसूत्र मे कहा कि योगश्चित्तवृत्तिनिरोध ॥ २० ॥ आत्मसन्तोष का हेतु
कहते है कि जिस अवस्था विशेष मे योगीजन कोई निरतिशय कहे अत्यन्त नित्य
सुख रूप का अनुभव करते है जो कहो कि उस अवस्था मे तो विषय सम्बन्ध का
अभाव है तो सुख का सम्भव कैसे होय तिस पर कहते है कि विषय इन्द्रिय

कंयत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियं। वेत्तियत्रनचैवायंस्थितश्चलतितत्त्वतः॥ २१॥ यंलब्ध्वा चापरंलाभंमन्यतेनाधिकंततः। यस्मिन्स्थितोनदुःखेनगुरुणापिविचाल्यते॥ २२॥ तंविद्याद्दुःखसंयोगवियोगंयोगसंज्ञितं। सनिश्चयेनयोक्तव्योयोगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ २३॥ संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वासर्वानशेषतः। मनसैवेन्द्रियग्रामंविनियम्य समन्ततः॥ २४॥ शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्याधृतिगृहीतया। आत्मसंस्थंमनःकृत्वा नकिञ्चिदपिचिन्तयेत्॥ २५॥ यतोयतोनिश्चलतिमनश्चञ्चलमस्थिरं। ततस्ततो

भाषा अनुवाद

सम्बन्ध से रहित जो केवल आत्माकाररूप बुद्धि से ग्रहण के योग्य है इसी से उस मे स्थित होय योगी आत्मरूप से विचलित नहीं होते है॥ २१॥ उसी का अचलत्व प्रतिपादन करते है कि आत्मआनन्द सुख जो आत्मस्वरूप लाभ लक्षित कहे प्राप्त करि और लाभ फेरि उस से अधिक नहीं गनते और जिस मे स्थित होय बड़े बड़े शीत उष्ण आदि दुख से भी दुखी नहीं होते अर्थात् बड़े दुख भी उस का कुछ नहीं कर सकते है॥ २२॥ ऐसी दुखसंयोग के अभाव अवस्था विशेष को योग संज्ञा जानो दुखशब्द से विषयसुख जो है उन को ग्रहण करते है अर्थात् जिस अवस्था मे दुख का लेशमात्र भी नहीं है सोई अवस्था योग है इस से स्थिरचित्त होय कर निश्चय से योग अभ्यास करना अवश्य ही कर्त्तव्य है निर्वेद शब्द का अर्थ तो यत्न करने मे शैथिल्य है सोई कहा कि अनिर्विण्णचित्त होय अर्थात् शैथिल्य छोड़ि यत्न पूर्वक अभ्यास करै॥ २३॥ सङ्कल्प से प्रभव कहे प्रगट जो योग के प्रतिकूल कहे विरोधी बाधकरूप सकल कामना उन को वासना समेत त्याग करि के विषयों के दोष देखता हुआ पुरुष मनके द्वारा सर्वत्र धावमान इन्द्रियों को सब ओर से दमन करि के योगाभ्यास करै अथवा सर्वत्र धावती हुई इन्द्रियों को मन ही से रोक कर योग करै॥ २४॥ और जो मन पूर्व जन्म कृत कर्म के संस्कार से चलविचल होय तौ भी धारणा जो धैर्य रूप बुद्धि शक्ति तिस से स्थिर करै यह कहते हैं कि धारणा से वशीभूत जो बुद्धि तिस से मन को आत्मा मे अच्छी तरह स्थापन करि के उपरम करै अर्थात् फेरि न कुछ चिन्तन करै परन्तु यह भी शनैःशनैः कहे धीरे धीरे धैर्यवती बुद्धि के द्वारा क्रम से

नियम्यैतदात्मन्येववशंनयेत् ॥ २६ ॥ प्रशान्तमनसंह्येनंयोगिनंसुखमुत्तमं । उपै
तिशान्तरजसंब्रह्मभूतमकल्मषं ॥ २७ ॥ युञ्जन्नेवंसदात्मानंयोगीविगतकल्मषः ।
सुखेनब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तंसुखमश्नुते ॥२८॥ सर्व्वभूतस्थमात्मानंसर्व्वभूतानिचात्मनि ।
ईक्षतेयोगयुक्तात्मासर्व्वत्रसमदर्शनः ॥ २९ ॥ योमांपश्यतिसर्व्वत्रसर्व्वञ्चमयिपश्य
ति । तस्याहंनप्रणश्यामिसचमेनप्रणश्यति ॥ ३० ॥ सर्व्वभूतस्थितंयोमांभजत्येक

भाषा अनुवाद

मन को आत्माबे थिर करै और सहसा कहे जल्दी न करै ॥२५॥ फिरि भी जो रजोगुण वशते मन विचलित होय तो फेरि फेरि उस को अपने वश करना यह कहते हैं कि स्वभावही से चञ्चल मन धारणाकी इच्छा करतेभी जो चञ्चल होय तो जिस जिस विषय मे गमन करै उसी उसी विषय से खैंचि करि आत्मा ही मे थिर करै ॥ २६ ॥ इस प्रकार मन औ इन्द्री के वशकारी पुरुष को रजोगुण की क्षय होने से परे योग सुख प्राप्त होता है सोई कहते हैं कि पूर्व्वोक्त रीति से जिसका रजोगुण नाश भया औ अच्छीतरह मन भी शान्त भया है सोई पाप रहित प्रक्षीण मोह तथा ब्रह्मभाव को प्राप्त योगी उत्तम समाधि सुख को अना याश पावता है ॥ २७ ॥ अब योगीजन की कृतार्थता कहते हैं कि इसी प्रकार सर्व्वदा मन वशीभूत कारी पुरुष जिसका सम्पूर्ण पाप दूर भया है सोई योगी अनायास ब्रह्मसंस्पर्श अर्थात् अविद्या निवृत्तिकारी जो प्रत्यक्ष ब्रह्मज्ञान सर्व्वोत्तम सुख सो पावते अर्थात् जीवन्मुक्त होते हैं ॥ २८ ॥ ब्रह्म साक्षात्कार रूप अप रोक्ष ज्ञान कैसा होता सो देखावते हैं कि योग युक्तात्मा पुरुष ब्रह्म से ले स्थावर पर्यन्त मे समदर्शी सर्व्वभूत कहे प्राणी मात्र मे अपने को देखता और यावत् जीवों को भी अपने मे देखता है अर्थात् अविद्याकृत देहादि भेद दूर होय ब्रह्ममय ज्ञानवान सर्व्वत्र समदर्शी होता है ॥२९॥ अब पूर्व्वोक्त ज्ञानी को जो फल होता हैं कि साक्षात् परमेश्वर जो मै तिस को यावद्वस्तु मात्र सब मे और सकल यो कुछ हैं सो मेरे मे यो देखता है तो उस को हम अदृश्य नहीं और हम को वह भी अदृश्य नही अर्थात् हम प्रत्यक्ष होय कृपादृष्टि से उस पर अनुग्रह करते हैं ॥३०॥ एवम्भूत पुरुष विधि कहे कर्म के आधीन नहीं हैं कि सर्व्व भूत मे वर्त्तमान

स्थमास्थितः। सर्व्वथावर्त्तमानोऽपिसयोगीमयिवर्त्तते ॥ ३१ ॥ आत्मौपम्येनसर्व्वत्रस
मंपश्यतियोऽर्जुन । सुखंवायदिवादुःखंसयोगीपरमोमतः ॥ ३२ ॥ अर्जुनउवाच ।
योऽयंयोगस्त्वयाप्रोक्तःसाम्येनमधुसूदन । एतस्याहंनपश्यामिचञ्चलत्वात्स्थितिं
स्थिरां॥ ३३ ॥ चञ्चलंहिमनःकृष्णप्रमाथिवलवद्दृढं । तस्याहंनिग्रहंमन्येवायोरिव
सुदुष्करं ॥ ३४ ॥ श्रीभगवानुवाच । असंशयंमहावाहोमनोदुर्निग्रहंचलं । अभ्या

भाषा अनुवाद

जो मै तिस को एक वुद्धि कहे एक मोहिं छोड़ और वुद्धि नहीं है जिस के सो मेरे ही को आश्रय करि भजता है सो योगी तत्त्वज्ञानी सकल कर्म परि त्याग करि के सर्व्वथा वर्त्तमान कहे जीवित दशा मे भी मेरे मे प्राप्त है अर्थात् सायुज्य गति को प्राप्त है ॥ ३१ ॥ और ऐसे योगीजनों के वीच मे जीवो पर अनुग्रह करनेवाला श्रेष्ठ है सो कहते है कि हे अर्जुन जो अपनी उपमा कहे और सब मे भी अपने समान सुख या दुख तथा प्रिय अप्रिय देखता है और सब को सुखकी इच्छा करता दुख नही देख सकता है सोई योगी श्रेष्ठ है ॥ ३२ ॥ ऐसे योग के लक्षण भगवान से सुनि करि असम्भव जानि अर्जुन कहते है कि मनकी लय औ विक्षेप शक्ति दूर करि केवल आत्मामे जो अवस्थान कहे सम भाव से मन का थिर हो रहना रूप योग आप ने कहा सो हे मधु सूदन मन की चञ्चलताई के हेतु हमको इस योग की दीर्घ काल अवस्थिति कहे थिर रहना देख पड़ता नहीं है ॥ ३३ ॥ और वही चञ्चलता को विस्तार करि कहते है कि हे कृष्ण यह मन स्वभाव ही से चञ्चल औ प्रमाथी अर्थात् देह इन्द्रियों को विक्षिप्तकारी और वलवान कहे विचार से इसका जीतना असाध्य है तथा दृढ़ कहे विषयवासना से वद्ध इस मन को विषयों से भिन्न करना अति दुष्कर कठिन है इस से जैसे आकाश मे वायु को निश्चल करना कठिन तैसे इस मन का भी निग्रह कहे थिर करना हम को अति असाध्य वोध होता है ॥ ३४ ॥ अर्जुन की कही मन की चञ्चलता अङ्गीकार करि भगवान उस के निग्रह करने की उपाय कहते है कि हे महावाहो हा मन की चञ्चलता रोकना कठिन यह जो तुम कहते हो सो निःसन्देह ठीक है पर तौ भी हे कौन्तेय अभ्यास के द्वारा

सेनतुकौन्तेयवैराग्येणचगृह्यते ॥ ३५ ॥ असंयतात्मनायोगोदुष्प्राप्यइतिमेमतिः । वश्यात्मनातुयततांशक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥ अर्जुनउवाच । अयतिःश्रद्धयोपेतोयोगाच्चलितमानसः । अप्राप्ययोगसंसिद्धिंकांगतिंकृष्णगच्छति ॥ ३७ ॥ कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिवनश्यति । अप्रतिष्ठोमहाबाहोविमूढोब्रह्मणःपथि ॥ ३८ ॥

भाषा अनुवाद

मन परमात्माकार वृत्ति से विषयों की वैराग्य वशते निग्रहीत हो सकै है अभ्यास से लय और वैराग्य से विक्षेप ये दोनो दूर होय यह मन निवृत्त होय परमात्माकारता पाय कर थिर होता है क्यो कि योगशास्त्र मे कहा है कि वृत्तिशून्य मन की ब्रह्माकाराकारित रूप स्थिति होती है उसी को निर्विकल्पकसमाधि कहते है ॥ ३५ ॥ और संयतआत्मा को योगप्राप्ति सुलभ है यह कहते हैं कि उक्त रीति से अभ्यास औ वैराग्य के द्वारा जिस का चित्त वश नहीं है उस को यह योग दु प्राप्य है और जिस का चित्त वशीभूत है और जो पूर्व कथित उपाय से यत्न करता है वह मेरे मत से योग प्राप्त हो सकता है ॥ ३६ ॥ अभ्यास वैराग्य के अभाव से या और कोई प्रकार उपाय से जिसको तत्त्वज्ञान न भया ऐसा मनुष्य कौन फल पाय सकता है औ किस गती को जाता है यह प्रश्न अर्जुन करते है कि हे कृष्ण जो प्रथम कपट रहित श्रद्धा युक्त होय योग मे प्रवृत्त भया परन्तु तिस पीछे यत्न न किया अर्थात् अभ्यास मे शिथिल कहे ढीला रहा और जिसका मन विषय मे मग्न रहा कहे विषय से विराग न भया ऐसा मनुष्य योग संसिद्धि जो ज्ञानरूप फल तिसको न प्राप्त होके किस रूप गति को पाय सकता है अर्थात् कौन गति को जाता है ॥ ३७ ॥ पूर्वोक्त प्रश्न को अभिप्राय विस्तार से अर्जुन कहते हैं कि नतो निष्काम कर्म करि ईश्वर को समर्पण किया और न काम्य कर्मों का अनुष्ठान किया तो स्वर्गादि फल से भी रहित हो रहा और योग की असम्पन्नता कहे अपूर्णता से मोक्ष भी न मिली तो फेरि हे महाबाहो वह अप्रतिष्ठित कहे प्रतिष्ठा रहित मनुष्य दोनो ओर से भ्रष्ट होय छिन्न मेघ के समान क्या नष्ट तो नहीं होता है जैसे मेघदल से भिन्न भया मेघ और मेघ को न प्राप्त होय के अन्तरीक्ष ही मे विलाय जाय है ॥ ३८ ॥ जिस से आप

एतन्मेसंशयंकृष्णछेत्तुमर्हस्यशेषतः। त्वदन्यःसंशयस्यास्यछेत्तानह्युपपद्यते॥ ३९॥
श्रीभगवानुवाच। पार्थनैवेहनामुत्रविनाशस्तस्यविद्यते। नहिकल्याणकृत्कश्चि
द्दुर्गतिंतातगच्छति॥ ४०॥ प्राप्यपुण्यकृतांलोकानुषित्वाशाश्वतीःसमाः। शुचीनां
श्रीमतांगेहेयोगभ्रष्टोऽभिजायते॥ ४१॥ अथवायोगिनामेवकुलेभवतिधीमतां। एत
द्धिदुर्लभतरंलोकेजन्मयदीदृशं॥ ४२॥ तत्रतंबुद्धिसंयोगंलभतेपौर्वदेहिकं। यत

भाषा अनुवाद

सर्वज्ञ हो इस से आप को छोड़ और कोई इस हमारी संशय का दूर करने वाला नहीं है अर्जुन यही कहते है कि हे कृष्ण मेरी इस सन्देह को आप ही छेदन करने के योग्य हो और आपके विना दूसरा इससन्देह का निवृत्ति कर्ता नहीं है सो इस सन्देहको कृपा कर मेरे मनसे दूर करो॥३९॥ अर्जुन की इस प्रश्न का उत्तर श्रीभगवान साढ़े चारि श्लोक से कहते है कि हे पार्थ उस अधूरे योगाभ्यासी को योगभ्रष्ट होने से यह लोक नाश कहे इस लोक मे पातक और परलोक मे नरक प्राप्ति ये दोनो भी नही होय है जिस हेतु किसी कल्याण कृत कहे शुभ आचरण करनेवाला पुरुष तात कहे हे भाई अर्जुन दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है तात शब्द से लोक रीति देखावते भये भगवान ने स्नेह पूर्वक अर्जुन को सम्बोधन करि के कहा है॥ ४०॥ तो फेरि वे योगभ्रष्ट लोग किस गति को जाते हैं इस अपेक्षा पर कहते है जिस स्वर्ग आदि लोक को अश्वमेध आदिक यज्ञ करि के मनुष्य जाते है पुन्यकर्मकारी योगभ्रष्ट पुरुष भी उसी उत्तम लोक मे जाय कर बहुत वरस तक वहां वसि सुख भोग करि के फेरि सत् कर्मकारी धनी लोगों के घर मे आय जन्मग्रहण करते है॥ ४१॥ थोडे दिन योगाभ्यास करि के योग से भ्रष्ट भये हुये पुरुष की गति कहि चुके अब बहुत काल अभ्यास कर के भ्रष्ट हुये योगी की गति कहते हैं कि अथवा सत्पात्र धनियोंके घर जन्मलेनेसे और जो दरिद्र बुद्धिमान योगाभ्यासियों के कुल मे जन्मग्रहण है सो उत्तम है ऐसा जन्म लोक मे अति दुर्लभ है सो चिरकाल योगाभ्यासी योगभ्रष्ट होय ऐसे ही घर मे उत्पन्न होते है॥ ४२॥ सोई जन्मग्रहण के वादि क्या होता है यह डेढ श्लोक से कहते है कि हे कुरु

तेचततोभूयःसंसिद्धौकुरुनन्दन ॥ ४३ ॥ पूर्व्वाभ्यासेनतेनैवह्रियतेह्यवशोऽपिसः। जिज्ञासुरपियोगस्यशब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥ ४४ ॥ प्रयत्नाद्यतमानस्तुयोगीसंशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततोयातिपरांगतिं ॥ ४५ ॥ तपस्विभ्योऽधिकोयोगी ज्ञानीभ्योऽपिमतोऽधिकः। कर्म्मिभ्यश्चाधिकोयोगीतस्माद्योगीभवार्ज्जुन ॥ ४६ ॥

भाषा अनुवाद

नन्दन तेई दोनो प्रकार के योग भ्रष्ट लोग जन्म धारण करिके भी पूर्व देह के अभ्यास से ब्रह्म विषयक बुद्धि संयोग युक्त होते हैं और फेरि भी मोक्ष की सिद्धि के लिये अधिक यत्न करते हैं ॥ ४३ ॥ वह पूर्व देह का बुद्धि संस्कार कैसा है और उस का कारण यह है कि सोई पूर्व देह की अभ्यास से अवश अर्थात् जो कोई कारण या विघ्न वलते इच्छा न भी होय तौ भी मोक्ष सिद्धि के अर्थ पूर्व संस्कार के जोर से अवश की नाईं यत्न करते हैं अर्थात् विषयो से विमुख हो ब्रह्मनिरत होते हैं। और इस तरह पूर्व अभ्यास के कारण से मुक्ति के अर्थ यत्नकारी मनुष्य जिस क्रम से मुक्त होते हैं सो कै मुतिक न्याय से डेढ श्लोक के द्वारा कहते हैं कि जिज्ञासु कहे योग स्वरूप जानने की इच्छा करने वाला कुछ केवल योग ही को नहीं प्राप्त होता किन्तु योगप्रसिद्ध मनुष्य पाप पवाते योगभ्रष्ट होय भी शब्द ब्रह्म जो वेद तिस को अति वर्त्तन करता अर्थात् वेदोक्त फल की अपेक्षा अधिक फल को प्राप्त होय के फेरि मुक्त होता है। इतना ही नहीं इससे भी अधिक इस को कै मुतिकन्याय कहते हैं ॥ ४४ ॥ जिस हेतु मन्द यत्नकारी योगी श्रेष्ठगति प्राप्त होते हैं तो उत्तरोत्तर योग मे अधिक यत्न करते वै योग से निःपाप होय अनेक जन्म संचित योग से संसिद्ध अर्थात् सम्यक ज्ञानी होय श्रेष्ठ गति पावेंगे इस मे और कुछ कहना या सन्देह वा की है। सोई कहा कि अच्छी तरह से यत्न करता योगी तौ संशुद्ध किल्बिष निःपाप अनेक जन्म से सम्यक सिद्ध होय फेरि परमगति को पाता है ॥ ४५ ॥ जिस कारण ऐसा है कि कृच्छ्चान्द्रायण आदि तपमे निरत औ शास्त्रसे जो ज्ञानी इनसे भी योगी अधिक है तथा यज्ञ कुंवां ताल बागदान कर्म्मकारी जो कर्म्मी पुरुषतिससे भी अधिक है हमारे मत मे योगी इससे हे अर्जुन योगी होउ ॥ ४६ ॥ योगियों के मध्य अर्थात् यम नियम

योगीनामपिसर्वेषांमद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्भजतेयोमांसमेयुक्ततमोमतः ॥ ४७ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां योगशास्त्रनाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

भाषा अनुवाद

परायण लोगों के बीच में मेरा भक्त जो श्रेष्ठ है यह कहते हैं कि मैं जो परमेश्वर सो मद्गत अर्थात् मेरे मे मन लगय श्रद्धा से जो हम को भजै है मेरे मत मे सोई श्रेष्ठ इस से अर्जुन तुम मेरे भक्त होउ । श्रीधर स्वामी प्रभु को प्रणाम करते हैं कि परमानन्द भक्त सेवित लक्ष्मीपति को मै वन्दना करता हूं जिसने भक्तियोग शिरोमणि रूप आत्मयोग उपदेश किया है ॥४७॥ इति जगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी टीकायां योगशास्त्रनाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तम अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । मय्यासक्तमनाःपार्थयोगंयुञ्जन्मदाश्रयः । असंशयंसमग्रं
मांयथाज्ञास्यसितच्छृणु ॥ १ ॥ ज्ञानंतेऽहंसविज्ञानमिदंवक्ष्याम्यशेषतः । यज्ज्ञा
त्वानेहभूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥ मनुष्याणांसहस्रेषुकश्चिद्यततिसिद्धये ।

भाषा अनुवाद

अब इस अध्याय मे भजनीय ईश्वर का स्वरूप कहते हैं कि जो पूर्व अध्याय के अन्त मे कहा कि मदात्मक होय जो मेरी भजन करै है सो उत्तम है इस पर जो कहो कि सो भगवान कैसे हैं जिन की भक्ति करना चाहिये इस अभिप्राय पर अपने स्वरूप का निरूपण करने के अर्थ श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन मेरेमे जिसका मन लगा है और मैंहीं हौं अवलम्ब जिसके ऐसा अनन्य शरणागत भक्त होय,योगाभ्यास करनेके अनन्तर संशयरहित समग्र कहे विभूति बल ऐश्वर्य सहित मेरे रूपको जैसें जानि सकैगा सोई मेरे वचन तुम मन दे श्रवण करो॥१॥ अब भगवान जो आप कहते हैं उसी की प्रशंसा करते हैं कि विज्ञान जो अनुभव और ज्ञान जो शास्त्रसें मेरे विषयमे होता है ये दोनो मैं तुमारे प्रति कहूंगा जो जानि के मुक्तिमार्ग मे आरूढ़ पुरुष को और फेरि कुछ जानना बाकी नहीं रहता है इसी से वे कृतारथ होते हैं॥ २ ॥ हमारी भक्ति विना हमें जानने सकै यह अति दुर्लभ है सोई कहते हैं कि असंख्य जीवों के मध्य मे मनुष्य छोड़ि और किसी को मोक्ष के विषय मे प्रवृत्ति नहीं होती है और हजार मनुष्य के बीच कोई एक पुन्य के प्रभाव से आत्मज्ञान के हेतु यत्न करता है ऐसे ही यत्न

यततामपिसिद्धानांकश्चिन्मांवेत्तितत्त्वतः ॥ ३ ॥ भूमिरापोऽनलोवायुःखंमनोबुद्धिरेवच । अहङ्कारइतीयंमेभिन्नाप्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥ अपरेयमितस्त्वन्यांप्रकृतिंविद्धिमेपरां । जीवभूतांमहाबाहोययेदंधार्य्यतेजगत् ॥ ५ ॥ एतद्योनीनिभूतानिसर्वाणीत्युपधारय । अहंकृत्स्नस्यजगतःप्रभवःप्रलयस्तथा ॥ ६ ॥ मत्तःपरतरंनान्य

भाषा अनुवाद

कारी हजार के मध्य कोई एक अति उत्तम पुन्य वश ते अपने को जानि सकै है और ऐसे आत्मज्ञानी हजार के बीच मे कोई एक मेरी कृपा से परमात्मा स्वरूप मुझे यथार्थ रूप से जानै है सोई अति कठिन ज्ञान हम तुम से कहैंगे ॥ ३ ॥ इन बातोंसे श्रोता अर्जुनको उत्साहयुक्त करके अब प्रकृति जो माया तिस के द्वारा सृष्टि आदि का कर्तृत्व जो अङ्गीकार किया है ईश्वरत्व उस का निरूपण उत्तम अधम भेद क्रम से दो श्लोकके द्वारा कर्त्ते हैं कि भूमि आदि शब्दसे पञ्चभूत और मन शब्द से मन का कारण रूप अहङ्कार तथा बुद्धि का कारण महत् तत्त्व औ अहङ्कारकी कारणभूत जो अविद्या कहे अज्ञान इस प्रकार से मेरी प्रकृति माया आठ प्रकारकी है अथवा पंचभूतसे रूपादि पंच मात्रा और अहङ्कार से कार्यरूप इन्द्रीय औ मन बुद्धि ये आठ प्रकार जानो यद्यपि इहां चौविश भेदों को इन आठ के अन्तर्भूत करिकै मायाके आठ ही प्रकार कहाहै तौ भी जो तेरहवां क्षेत्राध्याय तहां प्रकृति के चौविश ही तत्त्वरूप विभाग कहैंगे ॥ ४ ॥ अपर कहे आठ प्रकार निकृष्ट प्रकृति कहि कै अब पर कहे उत्कृष्ट प्रकृति को कहते हैं कि हे महाबाहो यह पूर्व कही जो अष्ट प्रकार की प्रकृति सो अपर कहे निकृष्ट है क्योंकि वह जड़ औ उत्तम प्रकृति के अधीन है किन्तु और पर कहे उत्कृष्ट मेरि प्रकृति व्यवहारिक जीवस्वरूप इस प्रकृति से भिन्न जानो जो इस जगत् को धारण करती है अर्थात् इस के उत्कृष्टता मे कारण यह है कि क्षेत्रज्ञरूप वही चैतन्यशक्ति कर्तृक स्वकर्मके द्वारा यह संसार स्थित है ॥ ५ ॥ प्रकृति के पर औ अपर ये दो भेद देखाय कै अब प्रकृति के द्वारा सृष्टि आदि के आप ही कारण है सो कारणत्व कहते है कि हे धनञ्जय क्षेत्र कहे शरीर औ क्षेत्रज्ञ कहे जीव यह जो दो प्रकार की प्रकृति है योनि कहे कारण जिन का

तृकिञ्चिदस्तिधनञ्जय। मयिसर्वमिदंप्रोतंसूत्रेमणिगणाइव॥ ७॥ रसोऽहमप्सु
कौन्तेयप्रभाऽस्मिशशिसूर्य्ययोः। प्रणवःसर्ववेदेषुशब्दःखेपौरुषंनृषु ॥ ८॥ पुण्यो
गन्धःपृथिव्याञ्चतेजश्चास्मिविभावसौ। जीवनंसर्वभूतेषुतपश्चास्मितपस्विषु ॥ ९॥
वीजंमांसर्वभूतानांविद्धिपार्थसनातनं। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मितेजस्तेजस्विनामहं ॥१०॥

भाषा अनुवाद

ऐसे स्थावर जङ्गम यावत भूत इसी कारण से उत्पन्न हैं यह जानो और विशेष यही है कि जड़रूप निकृष्ट प्रकृति देहरूप अनेक रूप पावती है और मेरा अंश जो चैतन्य सो भोक्तारूप शरीर मे प्रवेश कर के अपने कर्मों के अनुसार अनेक देह धारण करता रहता है और यह प्रकृति हमी से उत्पन्न है इस कारण से सम्पूर्ण जगत के प्रभव कहे उत्पन्न करनेवाले औ प्रलय कहे संहारकर्त्ता भी हम हीं है ॥६॥ सो हे धनञ्जय इसीसे हमसे भिन्न और कोई भी जगत की सृष्टि औ संसार का श्रेष्ठ स्वतन्त्र कारण नहीं है और स्थिति के भी हेतु हम हैं यह कहते हैं कि मेरे ही मे समस्त जगत ग्रथित है जैसे सूत मे मणिगण रहते औ कपड़े मे सूत ओत प्रोत रहते हैं ॥ ७ ॥ इस श्लोक से ले कर पांच श्लोक तक जगत की स्थिति का कारण विस्तार करि कहते हैं कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन जल मे रस रूप औ चन्द्र सूर्य्य मे प्रकाशरूप और वेद मे मूलभूत प्रणव ओंकाररूप मै हीं हूं तथा आकाशमे शब्दरूप औ पुरुषोंमे पौरुष कहे उद्यमरूप भी मै हीं हूं यह जानो ॥ ८ ॥ और पवित्र गन्धरूप सा भी पृथिवी मे और तेजरूप अग्नि मे तथा जीवनरूप सर्व भूत कहे प्राणियोंमे औ तपस्वियोंमे तपरूप मैहीं हूं अर्थात् मेरी ही विभूति है ॥ ९ ॥ और हे पार्थ स्थावर जङ्गम जो कुछ भूतमात्र है उस का सनातन कहे उत्तरोत्तर समस्त कार्य्य मे अनुगत कहे प्राप्त अनाशी बीजरूप हमें जानो अर्थात् समान जातीय कार्य उत्पादन सामर्थ्य रूप जो कारण सो भी मेरी ही विभूति जानो परन्तु सामान्य बीज जैसे अंकुर होने पर नष्ट होते हैं तैसे मेरा विभूतिरूप बीज नाश नहीं होता इसी से सनातन है और बुद्धिमानो की बुद्धि कहे विवेकशक्ति मैहीं हौं और तेजस्वियोंमे तेज कहे प्रगल्भता प्रतापरूप भी महीं हूं यह जानो ॥१०॥ और काम राग विवर्जित अर्थात् काम कहे अप्राप्त

बलंबलवतांचाहंकामरागविवर्जितं। धर्माविरुद्धोभूतेषुकामोऽस्मिभरतर्षभ ॥११॥
येचैवसात्त्विकाभावाराजसास्तामसाश्चये। मत्तएवेतितान्विद्धिनत्वहंतेषुतेमयि ॥
१२ ॥ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिःसर्वमिदंजगत्। मोहितंनाभिजानातिमामेभ्यः
परमव्ययं ॥ १३ ॥ दैवीह्येषागुणमयीममभायादुरत्यया। मामेवयेप्रपद्यन्तेमाया

भाषा अनुवाद

विषय मे अभिलाष स्वरूप जो रजोगुण का कार्य इच्छा और राग कहे अभिलषित अर्थ पायके उस से भी अधिक के अर्थ जो चित्त का अनुराग कहे तमोगुण का कार्य तृष्णारूप इच्छा है इन दोनो को छोडि और यावत बलवानो का बल भी मैहौं अर्थात् सात्विक स्वधर्मानुष्ठान की सामर्थ मै हूं और हे भरतर्षभ भरत वंश मे श्रेष्ठ अर्जुन धर्म अविरुद्ध अर्थात् स्वभार्य्या मे पुत्रभाव उत्पन्न के अर्थ उपयोगी जो काम भोग सो भी मैहीं हूं धर्म अविरुद्ध कहने से वध आदि काम का निषेध आया ॥ ११ ॥ और जो सात्त्विक भाव अर्थात् शम दम आदि और राजस भाव कहे हर्ष गर्व आदि औ तामस भाव जो शोक मोहादि ये सब प्राणी मात्र को स्वकर्म वशते जन्मे है सो मेरे से उत्पन्न जानो जिस हेतु वै मेरी माया के तीन गुणों के कार्य है किन्तु तौ भी उनमे हम वर्त्तते नहीं अर्थात् जीव के समान गुणों के अधीन होते नहीं वरु ये गुण मेरे अधीन होय मेरे मे रहते हैं सोई कहा कि वे मेरे मे है और मै उनमे नहीं यह हौ जैसे संसारी मेरे अधीन है यह जानो ॥ १२ ॥ जो कहो कि ऐसे परमेश्वर को किस कारण से लोग नहीं जानते है इस पर कहते है कि पूर्वोक्त यहो तीनि प्रकार काम लोभ आदि गुण विकार स्वभाव वशते अविवेकता को प्राप्त प्राणी मोहित होय हम को नहीं जानते हैं और आप कैसे है इस अपेक्षा से कहते है कि हम ये तीन भाव से पर कहे संसर्ग रहित और इन सब भावो के नियन्ता इसीसे अव्यय कहे निर्विकार मै हूं ॥ १३ ॥ जो कहो कि तुम को फेरि कौन जानने शकै इस पर कहते हैं कि दैवी कहे अद्भुत औ सत्व आदिगुणविकारात्मक मेरी शक्ति जो दुस्तर माया है इस को जो अव्यभिचारिणी भक्तिसे हमै भजै सोई इसमारी माया के पार होके हम को जानि शकै है ॥ १४ ॥ तौ फेरि सब मनुष्य तुमको

मेतांपरन्तिते ॥ १४ ॥ नमांदुष्कृतिनोमूढाःप्रपद्यन्तेनराधमाः। माययापहृतज्ञा
नाआसुरंभावमाश्रिताः ॥ १५ ॥ चतुर्विधाभजन्तेमांजनाःसुकृतिनोऽर्जुन। आ
र्त्तोजिज्ञासुरर्थार्थीज्ञानीचभरतर्षभ ॥ १६ ॥ तेषांज्ञानीनित्ययुक्तएकभक्तिर्विशि
ष्यते। प्रियोऽहिज्ञानिनोऽत्यर्थमहंसचममप्रियः ॥ १७ ॥ उदाराःसर्वएवैतेज्ञा

भाषा अनुवाद

काहे नहीं भजते हैं जो यह कहो तो उत्तर सुनो कि मनुष्यों के मध्य मे जो अधम है तेई मेरी भजन नहीं करते हैं कारण यह कि वे लोग पापपरायण औ मायासे अपहृतज्ञान अर्थात् शास्त्र या आचार्य के द्वारा ज्ञान होनेसे भी पै उनको निरस्त कहे निरादर करता हूं और सोरहें अध्याय मे चौथे श्लोक से कहैंगे जो आसुर भाव उस को प्राप्त होय मेरी भक्ति नहीं करते है ॥ १५ ॥ सत्कर्मकारी मनुष्य ही मेरी भजन करते है और वै भी पुण्यके न्यून अधि यमते चारि प्रकार के हैं सोई कहते है कि हे अर्जुन जो पूर्व जन्म अवधि पुन्यवान है तेई हम को भजते है चारि प्रकार के भक्त ये है प्रथम आतुर कहे रोगग्रस्त दूसरा जिज्ञासु कहे आत्मज्ञान की इच्छा है जि से तीसरा अर्थार्थी अर्थात् लोक या परलोक का भोग साधन का अर्थाकांक्षी चौथा ज्ञानी है पर ये चारो पूर्व पुण्य के प्रभाव होने से भजते है नहीं तो और और देवतों की भक्ति करि अपना काम निकारलेते पर वह काम नहीं है ॥ १६ ॥ परन्तु इनके मध्य मे ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है सोई कहते है कि ज्ञानी पुरुष नित्ययुक्त अर्थात् सर्वदाही मेरे मे निष्ठ रहता है और केवल हमारा ही एक भक्त और ज्ञानी को शरीर आदि मे अहं बुद्धि का अभाव रहने से मनकी विक्षेप शक्ति के अभाव से नित्य युक्तत्व उस को है और इस ज्ञानी को हम अत्यन्त प्रिय है और वह भी हम को अति प्रिय है इन कारणों से ज्ञानी भक्त उत्तम है ॥ १७ ॥ तो क्या बाकी तीनि प्रकार के भक्त संसार गति को प्राप्त होते है ऐसी शङ्का को बारबार निषेध करि कहते है कि नहीं नहीं भक्तभी उदार कहे महान है अर्थात् मोक्षपावने के योग्य है परन्तु मेरी यह अभिप्राय कि ज्ञानी भक्त मेरा ही स्वरूप है जिस हेतु वह मदेकचित्त है इससे सर्वोत्तम गतिरूप हमको ही आश्रय करके और कोई फल की इच्छा नहीं रख

नीत्वात्मैवमेमतं । आस्थितःसहियुक्तात्मामामेवानुत्तमांगतिं ॥१८॥ बहूनांजन्मना
मन्तेज्ञानवान्मांप्रपद्यते । वासुदेवःसर्वमितिसमहात्मासुदुर्लभः ॥१९॥ कामैस्तैस्तै
र्हृतज्ञानाःप्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः । तंतंनियममास्थायप्रकृत्यानियताःस्वया ॥ २० ॥
योयोयांयांतनुंभक्तःश्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्यतस्याचलांश्रद्धांतामेवविदधाम्यहं
॥ २१ ॥ सतयाश्रद्धयायुक्तस्तस्याराधनमीहते । लभतेचततःकामान्मयैवविहि
तान्हितान् ॥ २२ ॥ अन्तवत्तुफलंतेषांतद्भवत्यल्पमेधसां । देवान्देवयजोयान्ति

भाषा अनुवाद

ता है ॥ १८ ॥ ऐसे भक्त अति दुर्लभ यह कहते हैं कि अनेक जन्मसे कुछ कुछ पुण्य संचित कहे इकट्ठी होने से शेष जन्ममे तत्त्वज्ञानी होयकर यह जो चरा चरात्मक कहे स्थावर जङ्गम रूप ब्रह्माण्ड सो सम्पूर्ण एक वासुदेव मात्र है इस प्रकार सर्वत्र आत्म दृष्टि के द्वारा हमको भजता है अपरिच्छिन्न कहे अबाधित दृष्टिसे ऐसा महात्मा ज्ञानी दुर्लभ है ॥१९॥ सतो गुणी कामना करिकै जो मनुष्य परमेश्वर ही को भजते है तो कामना प्राप्त होय क्रम से मुक्त होते हैं परन्तु जो रजोगुण तमोगुण का आलम्बन कर के कामना के वश होय और२ देवतों का उपासन करते है तेई संसार गतिको पावते है इस श्लोकसे चौथे श्लोक तक कह ते है कि जो पुत्र कलत्र धन शत्रुनाश आदि मनोरथ से हतबुद्धि होय भूत प्रेत पिशाच यक्ष क्षुद्र कहे नीच देवतो को पूजते है वे नियम उपास बलिदान अङ्गी कार करिके अपनी कामना की वासना के वश होय प्रकृत्या कहे स्वभावही से उन देवतों की सेवा करते है ॥ २० ॥ भक्तों के बीच जो जो भक्त मेरी मूर्त्ति विशेष को याने जिस मूर्त्ति को अर्थात् देवता रूपको श्रद्धासे पूजनेमे प्रवृत्त होते है उसी उसी भक्त की भावना के अनुसार वह उन की इच्छा अन्तर्यामी रूप से मै पूरी कर्ताहों अर्थात् सोई मूर्त्ति धारण कर उनका इष्ट सिद्ध करता हूं ॥२१॥ सो मेरा भक्त उस अपनी श्रद्धा से उसी देव की पूजा करता है और कामनों को पावता है पर वे कामना मैही देता हूं क्योंकि मै सर्व देवमय हों और देवता मेरे आधीन हैं ॥ २२ ॥ अब कहते है कि यद्यपि देवता मेरी ही मूर्त्ति है और उनकी पूजाभी मेरी ही पूजा है तथा कर्मफलदाता भी हम हीं हैं पर तौभी

मद्भक्तायान्तिमामपि ॥ २३ ॥ अव्यक्तंव्यक्तिमापन्नंमन्यन्तेमामबुद्धयः। परंभावम
जानन्तोममाव्ययमनुत्तमं ॥ २४ ॥ नाहंप्रकाशःसर्वस्ययोगमायासमावृतः। मूढो
ऽयंनाभिजानातिलोकोमामजमव्ययं॥२५॥ वेदाहंसमतीतानिवर्त्तमानानिचार्जुन।
भविष्याणिचभूतानिमान्तुवेदनकश्चन ॥ २६ ॥ इच्छाद्वेषसमुत्थेनद्वन्द्वमोहेनभा

भाषा अनुवाद

अल्प बुद्धियों को अन्तवन्त कहे विनाशी फल होता अर्थात् स्वर्ग आदि सांसारिक सुख कुछ दिनके लिये होता है क्यों कि साक्षात् मेरी उपासना नहीं किया है और जो जिस देवता को आराधै है सो उसी को प्राप्त होता और मेरे भक्त जन्म नाश रहित हो करके मेरे ही को प्राप्त होते हैं॥ २३॥ और जो ऐसी शङ्का करो कि ध्यान पूजा आदि प्रयत्न तो समान है और फल में वैषम्य कहे बड़ा अन्तर है तो फेरि सब देवतों को त्यागकरि तुम हीं को क्यौंन सब भजैं इस पर कहते हैं कि अल्प बुद्धि मनुष्य प्रपञ्च रहित हम को मत्स कूर्म स्वरूप ठहराते हैं इसका कारण यह है कि वे लोग मेरे श्रेष्ठ रूप को नहीं जानते हैं सोई रूप प्रकाशित करते हैं कि जो अव्यय कहे नाश रहित और जिससे और उत्तम नहीं है परन्तु संसारकी रक्षाके अर्थ लीलासे उत्पन्न विशुद्ध सत्त्वप्रधान जो मैं तिसको कर्मसे उत्पन्न भौतिक कहे पञ्चभूतमय देहधारी और देवता की नांई जानिकै हमारे प्रति अधिक आदर नहीं करते हैं वलु शीघ्र फलदाता और देवतोंको भजते हैं वेई अन्तवन्त फल पावते हैं॥ २४॥ मूढ लोगों के अज्ञान से कारण कहते हैं कि उन लोगों के सामने हम प्रगट नहीं होते परन्तु अपने भक्तों के सामने प्रगट होते हैं क्यों कि मूढ लोग मेरी योगमाया से आवृत हैं तो फेरि कहो कैसे अव्यय स्वरूप को जानि सकैं॥ २५॥ मेरे सर्वोत्तम स्वरूपको अज्ञानी लोग नहीं जानते यह जो पूर्व में कहा सोई स्व स्वरूप की उत्तमता जो अनावृतत्व ज्ञान रूपसे देखावते हुये औरों की अज्ञानता कहते हैं कि जिस हेतु हे अर्जुन हम मायाके आश्रय हैं इसमें भूतकाल वर्त्तमानकाल औ भविष्यतकाल इन तीनों काल के वर्त्ती चराचर सब हम जानते हैं क्यों कि माया अपने आश्रय को मोह नहीं कर सकती है परन्तु मेरी माया से मोहित कोई भी हमें नहीं जानि सकै

रत। सर्वभूतानिसम्मोहंसर्गेयान्तिपरन्तप॥२७॥ येषामन्तगतंपापंजना
नांपुण्यकर्मणां। तेद्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताभजन्तेमांदृढ़व्रताः॥२८॥ जरामरणमोक्षा
यमामाश्रित्ययतन्तिये। तेब्रह्मतद्विदुःकृत्स्नमध्यात्मंकर्मचाखिलं॥२६॥ साधि
भूताधिदैवंमांसाधियज्ञञ्चयेविदुः। प्रयाणकालेपिचमांतेविदुर्युक्तचेतसः॥३०॥ इति

भाषा अनुवाद

हैं माया अपने आश्रय के अधीन तथा औरोंको मोहती हैं यह प्रसिद्ध है॥ २६॥ माया से मोहित जीवों को परमेश्वर विषयक ज्ञान का अभाव जो कहा सोई अज्ञान की दृढ़ता मे कारण कहते हैं कि हे भारत सृष्टि कहे स्थूल देह धारण होने से जो देह के अनुकूल विषय मे इच्छा और उस देह के प्रतिकूल मे जो द्वेष और उन दोनो इच्छा औ द्वेष से उत्पन्न जो सुख दुख आदि तिससे भया जो विवेक का नाश इस से प्राणी मोह को प्राप्त हैं अर्थात् हम सुखी हम दुखी ऐसी निश्चय रखते हैं इसी से ये अज्ञानी हम को नहीं भजते हैं॥ २७॥ तौ फेरि कोई कोई जो हमारो भजन करते है इस शङ्का मे कहते हैं कि जो पुण्य कर्म आचरण शील हैं उन के सर्व प्रतिबन्धक स्वरूप सब पाप नष्ट हो गये हैं वै लोग सुख दुख आदि द्वन्द्व से मुक्त औ एकाग्रचित्त होय हम को भजते हैं॥ २८॥ और ऐसे जो मेरे भक्त जन तेई जानने जोग वस्तु को अच्छीतरह जानि के कृतार्थ होते हैं यह कहते हैं कि जरा मरण निवारणार्थ मेरी आश्रय ले जो मनुष्य यह करते हैं वेई परब्रह्म को जानि सके हैं और सम्पूर्ण अध्यात्म विद्या जाने हैं अर्थात् अध्यात्मज्ञान से प्राप्तव्य सोई देहादि से भिन्न शुद्ध आत्मा को भी जानते हैं और तत्त्वज्ञान के साधनरूप कर्म भी जानि सकते हैं॥ २६॥ और ऐसे मेरे भक्तों को योग से भ्रष्ट होने की शङ्का नहीं है यह इस श्लोक से कहते हैं कि अधिभूत अधिदैव अधियज्ञ सहित जो हम को जानते हैं तेई मदासक्त चित्त मरण समय मे भी हम को जानि सकैं हैं उस वेला भी व्याकुल होय जो हम को नहीं भूलते हैं इससे मेरे भक्त को योगभ्रष्ट होने का डर नहीं है। श्रीधरस्वामी अध्याय भर का अर्थ कहते हैं कि कृष्णके भक्तही यल ज्ञानलाभ करते हैं यही विज्ञानयोग नामक सप्तम अध्याय भगवान ने प्रकाशित किया है॥ ३०॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टम अध्यायः।

अर्जुनउवाच। किन्तद्ब्रह्मकिमध्यात्मंकिंकर्मपुरुषोत्तम। अधिभूतञ्चकिंप्रोक्तमधिदैवंकिमुच्यते ॥ १॥ अधियज्ञःकथंकोऽत्रदेहेऽस्मिन्मधुसूदन। प्रयाणकालेचकथंज्ञेयोऽसिनियतात्मभिः ॥ २॥ श्रीभगवानुवाच। अक्षरंपरमंब्रह्मस्वभावोऽ

भाषा अनुवाद

सप्तम अध्याय में जो संक्षेप से कहा कि भगवद्भजन से एक चित्त भक्तजन ब्रह्म कर्म औ अधिभूत आदि सात पदार्थ जानि सके हैं सोई सप्तम अध्याय में जो कहा ब्रह्मकर्मादि तिस को भगवान अष्टम अध्याय में प्रकाशरूप से कहैंगे सो यह कि सतये अध्याय के अन्तमे प्रसङ्गवशते भगवान ने कहा जो ब्रह्म औ अध्यात्म सात पदार्थ तिनके ज्ञानेच्छुक अर्जुन दो श्लोक से प्रश्न करते हैं कि हे पुरुषोत्तम आप ने कहा जो ब्रह्म सो किस रूप का है और अध्यात्म ही वा किस प्रकार का जानैं तथा कर्म ही वा क्या है और अधिभूत या अधिदैव किस को कहते हैं यह प्रश्न अर्जुनने किया ॥ १ ॥ और शरीर के द्वारा जो यज्ञादि कर्म किये जाय हैं उनका अधियज्ञ कहे अधिष्ठाता और कर्मफलदाता कौन है अब अधियज्ञ का स्वरूप पूछि करके उस का अधिष्ठान भूत वस्तु पूछते हैं कि हे मधुसूदन यह अधियज्ञ पुरुष इस देह मे किस प्रकार से स्थित हो के यज्ञादि कर्मों का नियोग कहे, अवधारण अर्थात् प्रेरण और यज्ञ फल प्रदान करते हैं और अन्तकाल मे संयतचित्त पुरुष तुमको किस उपाय से जानते हैं। यहां यज्ञ शब्द से सब कर्मों का ग्रहण है यह जानो ॥ २ ॥ श्रीकृष्ण भगवान इस श्लोक से ले कर तीन श्लोक के द्वारा अर्जुन की प्रत्येक प्रश्न का सिद्धान्तरूप उत्तर

ध्यात्मसुच्यते। भूतभावोद्भवकरोविसर्गःकर्मसंज्ञितः॥ ३॥ अधिभूतंक्षरोभावः पुरुषश्चाधिदैवतं। अधियज्ञोऽहमेवात्रदेहेदेहभृतांवर॥ ४॥ अन्तकालेचमा

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि न चरति गच्छति इति अक्षरं अर्थात् जिस का गमन औ आगमन नहीं है सोई अक्षर ब्रह्म है जो कहो कि जीव चैतन्यभी अक्षर होय न काहे तो कहते हैं कि नहीं देखो जो परम अक्षर कहे जगत का मूल कारण है सोई ब्रह्म जानो क्यों कि श्रुति मे भी कहा है कि हे गार्गि वेद इसी ब्रह्माक्षर ही को सोई ब्रह्म कहते हैं यह बात प्रसिद्ध है और उसी ब्रह्म का अंश जो जीव रूप होने से नाम स्वभाव और देह आदि अङ्गीकार करिके भोक्ता रूप से वर्त्तमान है यह जीवही अध्यात्म कहा है और भूत कहे जरायुज आदिकों की उत्पत्ति और उद्भव शब्द का यह अर्थ है कि सूर्य्य से वर्षा वर्षा से अन्न औ अन्न से क्रम से प्रजा इन उत्तमरूप जो वृद्धि सो भूतों का भाव और उद्भवकारी जो विसर्ग अर्थात् सर्व कर्म्म का उपलक्षरूप देवतों को उद्देश करि द्रव्य त्यागरूप जो यज्ञ सोई कर्म है॥३॥ और क्षर कहे विनश्वर जो देह आदि सो प्राणी मात्रको अधिकार कर के स्थिति करै है इससे अधिभूत कहावै है और पुरुष कहते हैं सूर्य मण्डलवर्त्ती विराटको जो अपने अंशरूप समस्त देवतोके अधिपति हैं वेई अधिदैव हैं अधिदैव कहते अधिष्ठात्री देवताको यह श्रुतिमे कहा है कि सोइ विराट पुरुष प्रथम शरीरधारी सकल भूतोंके आदि कर्त्ता औ ब्रह्माके भी पूर्व वर्त्तमान थे और इस शरीरमे अन्त र्यामी रूप से वर्त्तमान हम को अधियज्ञ कहे यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता तथा कर्म्म फलदाता जानो इस से अधियज्ञ किसरूप स्थिति करते इस प्रश्न का उत्तर भया क्यों कि यही अन्तर्यामी की असङ्ग आदि गुण के द्वारा जीवके साथ भिन्नता पूर्व्वक देह के बीच वर्त्तमानता लोक मे प्रसिद्ध है सो श्रुति भी कहती है कि मिलता भावसे एक स्थानमे रहने वाले जो जीव औ अन्तर्यामी रूप ये दोनो सुन्दर पक्ष युक्त पक्षी शरीररूप एक वृक्ष पर स्थिति किये हैं तिनके मध्य एक फल भोगी औ दूसरा साक्षी भाव कहे देखनेवाला है और हे देहभृतांवर नरश्रेष्ठ अर्जुन इस सम्बोधन से यह जनाया कि तुमभी अपनी प्रवृत्ति रूप कर्म्मों को अन्वय व्यतिरे

मेवस्मरन्मुक्त्वाकलेवरं। यःप्रयातिसमद्भावंयातिनास्त्यत्रसंशयः॥५॥ यंयंवापि
स्मरन्भावंत्यजत्यन्तेकलेवरं। तंतमेवैतिकौन्तेयसदातद्भावभावितः॥६॥ तस्मात्
सर्वेषुकालेषुमामनुस्मरयुध्यच। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥७॥ अभ्या

भाषा अनुवाद

यानुरूप अर्थात् परस्पर सम्बन्ध और भिन्नरूपसिद्धि असिद्धि मे वही अन्तर्यामीके अधीन हो तो सुतरां अन्वयव्यतिरेक के द्वारा इस अन्तर्यामी को तुम आप जानने योग्य हो॥ ४॥ और तुम अन्तकाल मे कैसे जाने जाते हो इस विषय मे अन्त समय ज्ञानकी उपाय औ उसका फल देखावते हैं कि उक्त जो अन्तर्यामी स्वरूप जो परमेश्वर मै सो मेरे को स्मरण पूर्वक देह त्याग करिके जो प्रकट रूप से अर्चिरादि कहे सूर्य मण्डल मे होय के उत्तरायण राहसे गमन करते हैं वे मेरे स्वरूप को प्राप्त होते हैं इसमे संशय नहीं है मेरा स्मरण ही अन्त की उपाय है औ मेरे रूपता की प्राप्ति ही फल है॥ ५॥ अन्तकाल मे मेरे स्मरण करके मेरी प्राप्तिही केवल होय यही नहीं सोई कहते हैं कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन अन्तकाल मे जो कोई जिस देवता का या और किसी विषय का ध्यान करके देह छोडै है सो उसी को प्राप्त होता जिसका ध्यान किया है देखो सर्वदा जिसका चिन्तन करते रहो तो अन्तकाल मे भी अन्तःकरण मे उसीका संस्कार रहता है और नयी अपूर्व वस्तुका स्मरण होना भी कठिन है॥६॥ पूर्व वासनाही जिसलिये मरण कालके स्मरण मे हेतु है और अन्त समय प्राणीको अपूर्व वस्तुका स्मरण असंभव है इससे हे अर्जुन सर्वदा हमको चिन्तन करो परन्तु मेरा चिन्तन भी चित्तशुद्ध बिना दुर्लभ है सो तुम चित्तशुद्धि के अर्थ युद्धरूप स्वधर्मका अनुष्ठान करो और तुमारा संकल्पात्मकमन तथा व्यवसायात्मिका बुद्धि मेरे मे अर्पित भई है इससे अनायास हम को प्राप्त होउगे इसमें संशय नही है॥ ७॥ और स्मरण मे परम कारण अभ्यास को देखावते हुये कहते हैं कि अभ्यास कहे समान जातीय की प्रतीतिका प्रवाह जो धारारूप वह योग है अर्थात् उपाय है उससे एकाग्र होय जिसकी बुद्धि अन्य विषय मे न जाय ऐसा मनुष्य उस बुद्धिके द्वारा प्रकाश रूप परमेश्वर को निरन्तर चिन्तन करिके हे पार्थ उस परमेश्वर

सयोगयुक्तेनचेतसाऽनान्यगामिना। परमंपुरुषंदिव्यंयातिपार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥ कविंपुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः। सर्वस्यधातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णंतमसःपरस्तात् ॥ ९ ॥ प्रयाणकालेमनसाऽचलेनभक्त्यायुक्तोयोगबलेनचैव। भ्रुवोर्मध्येप्राणमावेश्यसम्यक्सतंपरंपुरुषमुपैतिदिव्यं ॥ १० ॥ यदक्षरंवेदविदोवदन्तिविशन्तियद्यतयोवीतरागाः। यदिच्छन्तोब्रह्मचर्यंचरन्तितत्तेपदंसंग्रहेण

भाषा अनुवाद

को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ फेरि भी चिन्तनीय पुरुष का स्वरूप दो श्लोकसे कहते है कि कवि कहे सर्वज्ञ सकल विद्यों के निर्माण कर्त्ता पुराण कहे अनादि सिद्ध अनुशासिता कहे समस्त जगतके नियन्ता और अणोरणीयांस कहे सूक्ष्म से भी सूक्ष्म आकाश काल दिशोंसे भी सूक्ष्म औ सबके धाता कहे पोषण कर्त्ता अपरिमित महिमा से अचिन्त्य रूप अर्थात् मलयुक्त मनबुद्धि के अगोचर कहे अदृश्य औ आदित्य वर्ण तथा तम जो प्रकृति माया तिससे पर ऐसे मेरे रूप को जो स्मरण करै है ॥ ९ ॥ प्रपञ्च सहित प्रकृति को भिन्न करिकै जो स्थित है ऐसे पुरुषको भक्तियुक्त जो पुरुष विक्षेप रहित निश्चल मन से आसन्न कहे अन्तकाल मे धारा वाहिक चित्तवृत्ति से स्मरण करै है उस के स्मरण विषयक मन की स्थिरता का कारण यही है कि सम्पूर्ण योग बलसे सुषुम्णामार्गक्रमसे उसकी प्राणवायु भ्रूमध्य मे प्रविष्ट होती है ऐसा पुरुष परमात्मारूप प्रकाशात्मक पुरुष को प्राप्त होता है ॥ १० ॥ तिस प्रकाश पुरुष की प्राप्ति का हेतु अभ्यास योग की अपेक्षा प्रणव अभ्यास को अन्तरङ्ग कहे श्रेष्ठ साधन कहने की इच्छा रखते हुये भगवान उसके कहने की प्रतिज्ञा करते है कि हे गार्गि यही अक्षरस्वरूप परब्रह्म की शिक्षाक्रम से सूर्य औ चन्द्रमा मे नियुक्त होय स्थिति करते है यह श्रुति के कहने से वेदवित लोग जिस को अक्षर कहते है और जिस के राग आदि दोष गत भये है ऐसा यती कहे यत्नकारी पुरुष जिसमे प्रवेश करते और जिसके जानने अर्थ गुरुकुलमे वास करि ब्रह्मचर्य करतेहैं सोई ब्रह्मपद तुमको संक्षेपसे कहताहूं तुम सुनो ॥११॥ ब्रह्मपद प्राप्तिको अङ्ग समेत उपाय दो श्लोक से कहते है कि इन्द्रियों की प्रत्याहरण पूर्वक अर्थात् चक्षु आदि से बाह्य रूपादि विषयों का ग्रहण छोडि मन को

प्रवक्ष्ये ॥११॥ सर्वद्वाराणिसंयम्यमनोहृदिनिरुध्यच। मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितो
योगधारणां ॥ १२ ॥ ओमित्येकाक्षरंब्रह्मव्याहरन्मामनुस्मरन्। यःप्रयातित्य
जन्देहंसयातिपरमांगतिं ॥ १३ ॥ अनन्यचेताः सततंयोमांस्मरतिनित्यशः। तस्या
हंसुलभःपार्थनित्ययुक्तस्ययोगिनः ॥ १४ ॥ मामुपेत्यपुनर्जन्मदुःखालयमशाश्वतं।
नाप्नुवन्तिमहात्मानःसंसिद्धिंपरमांगताः ॥ १५ ॥ आब्रह्मभुवनाल्लोकाःपुनरावर्त्ति

भाषा अनुवाद

हृदय मे रोध कर के अर्थात् विषय का स्मरण त्याग करत भौंह के मध्य भ्रुकुटी देश मे वायु के स्थापन करने के अनन्तर योग का धारणरूप जो धैर्य उस का अवलम्बन कर के ॥ १२ ॥ ओंकाराख्य एक जो अक्षर सो ब्रह्म का वाचक अथवा ब्रह्म प्रतीक कहे प्रतिमा के समान इन दोनो हेतु से ब्रह्म है ऐसे प्रणव कहे ओंकार के उच्चारण पूर्वक तद्वाच्यरूप हम को स्मरण करि देह त्याग करते जो मनुष्य अर्चिरादि मार्ग अर्थात् चन्द्र सूर्य मार्गसे गमन करते है तेई सर्वोत्तम मेरी गति को पावते है ॥ १३ ॥ ऐसे ही अन्त काल मे धारणा क्रम से नित्य अभ्यासकारी पुरुष को मेरी प्राप्ति होती है और को नहीं एतावता पूर्व वचन हीं को स्मरण करावते है कि हे पार्थ जिस मनुष्य का चित्त भगवत को छोडि और, मे नही आसक्त है ऐसा अनन्यचित्त होय जो निरन्तर या प्रति दिन हम को स्मरण, करै है उसी समाहित पुरुष को हम अनायास मिलते है और, को नही प्राप्त होते है यह जानो ॥ १४ ॥ जो तुम स्वभक्त को ऐसे अनायास मिलते हो तो फेरि उस का क्या होता है इस शङ्का पर कहते है कि पूर्वोक्त महात्मा लोग मेरी भक्ति से मेरे को प्राप्त होय कर दुःख का भवन औ अनित्य जो जन्म तिस को फेरि नहीं प्राप्त होते है क्यों कि ये परमसिद्धि को प्राप्त भये अर्थात् जीवन्मुक्त होय जन्म मरण संसारदुःखसे छूटि जाते है ॥ १५ ॥ इस तरह और और लोकमेभी उन भक्तोंको पुनर्जन्मका अभाव देखाय कर अपुनरावृत्ति निर्द्धारण करते है, कि हे अर्जुन ब्रह्मा के लोक पर्यन्त प्राप्त हो के भी प्राणी पुनर्व्वार संसारगामी होते है क्यों कि ब्रह्मलोक का भी एक दिन नाश होता है और क्रम मुक्ति जो कहा है सो किसी विरले को उपासना के द्वारा ब्रह्मलोक

नोऽर्ज्जुन। मामुपेत्यतुकौन्तेयपुनर्जन्मनविद्यते ॥ १६ ॥ सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्र
ह्मणोविदुः। रात्रिंयुगसहस्रान्तांतेऽहोरात्रविदोजनाः ॥ १७ ॥ अव्यक्ताद्व्यक्तयः
सर्वाःप्रभवन्त्यहरागमे। रात्र्यागमेप्रलीयन्तेतत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८ ॥ भूतग्रामः
सएवायंभूत्वाभूत्वाप्रलीयते। रात्र्यागमेऽवशः पार्थप्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥ परस्त

भाषा अनुवाद

मे जाय ज्ञान प्राप्त होय ब्रह्मा के साथ मुक्ति मिलती है परन्तु हे कौन्तेय मद्रूप
को प्राप्त तेरे भक्त का पुनर्जन्म तो नहीं होता है ॥ १६ ॥ और जो कहो कि
तपस्वी दानी विगतराग औ क्षमाशील लोग त्रैलोक्यके ऊपर शोकरहित स्थानको
प्रस्थान करि वास करते है इस पुराण के वचन से महर्लोक आदि लोको की और
लोकसे उत्तमता मालूम होती है परन्तु विनाश तो सब लोकोंका है इस पक्षमें सब
की अपकृष्टता ही है हां विशेष यही है कि वे लोक बहुत दिन तक स्थिर रहते
है और ब्रह्माकी अपने वर्षोंसे सौ वर्षकी आयुर्दा है औ त्रैलोक्य अर्थात् स्वर्ग मर्त्य
पाताल ये ब्रह्मा के प्रति दिनमे उत्पन्न और प्रति रात्रि मे प्रलय होते है ब्रह्माका
एक दिन मनुष्यके हजार चतुर्युगके बराबर का होता है और उतनीही रात्रि है
और मनुष्य का एक वर्ष देवतो का राति दिन है इस हिसाब से देवतों के बारह
हजार वर्ष मे चारि युग होते है जो यह जानते सोई सर्वज्ञ है और जो चन्द्र
सूर्य की गतिको राति दिन जाते वे कुछ नही जाते है ॥ १७ ॥ जिससे कालगति
के पराधीन सब लोक है इस से पुनरावृत्ति होती है सोई कहते हैं कि कार्यरूप
जगत के अव्यक्त कहे सूक्ष्मरूप का कारण स्वरूप ही को प्रकृति कहते है उसी
कारणरूप प्रकृति से ब्रह्मा के दिन मे चराचर सकल उत्पन्न होते और रात्रि
आने से फेरि उसी प्रकृति मे लय पाते है ॥ १८ ॥ अब विषयों से वैराग्य होने
के अर्थ सृष्टि औ लय का प्रवाह देखावते हैं कि हे पार्थ चराचर प्राणी मात्र पूर्व
मे थे तेई अवश कर्म के आधीन बारम्बार होते औ जाते है जब ब्रह्मा का दिन
भया तब प्रगटे जब राति आई तो फेरि प्रकृति मे लीन हो गये ऐसे ही हेरफेर
लगा रहता है ॥ १९ ॥ सकल लोक की अनित्यता दिखाय कर अब दो श्लोक से
परमेश्वर का नित्यत्व विस्तार करि कहते हैं कि सोई चराचर की कारणरूप

स्तात्तुभावोन्योव्यक्तोव्यक्तात्सनातनः। यःससर्वेषुभूतेषुनश्यत्सुनविनश्यति ॥ २० ॥
अव्यक्तोऽक्षरइत्युक्तस्तमाहुःपरमांगतिं। यंप्राप्यननिवर्त्तन्तेतद्धामपरमंमम ॥ २१ ॥
पुरुषःसपरःपार्थभक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया। यस्यान्तःस्थानिभूतानियेनसर्वमिदंततं ॥२२॥
यत्रकालेत्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैवयोगिनः। प्रयातायान्तितंकालंवक्ष्यामिभरतर्षभ ॥

भाषा अनुवाद

प्रकृति पर अर्थात् उस का भी कारण स्वरूप औ उस से भिन्न चक्षु आदि का अगोचर भाव जो अनादि पुरुष सो यावत् कार्य्य कारणरूप भूत मात्र का नाश होने से भी नष्ट नहीं होते हैं॥ २० ॥ अब परमेश्वर के अविनाशित्व में प्रमाण दर्शाय कर कहते हैं कि जो भावरूप इन्द्रिय अगोचर प्रवेश नाश शून्य अक्षर स्वरूप परमेश्वर जिस से इस विश्व का उद्भव है औ श्रुति सब जिस को अक्षर कहती हैं कि पुरुषान्न किञ्चित्पर सा काष्ठा परागतिः जो सब के पर और जिस से पर कोई नहीं ऐसे श्रुति जिस को उत्कृष्ट गति कहती हैं और जिस को प्राप्य कर फेरि संसार गति नहीं होती वही मेरा स्वरूप है इस से मैं ही परम गति हो यह जानो ॥ २१ ॥ इस परमेश्वर की प्राप्ति में भक्ति ही सब से वढि कै परम उपायरूप है इस को कहते हैं कि सोई परम पुरुष मैं अनन्त भक्ति अर्थात् जिस भक्ति में मै छोडि और कोई भी चिन्तनीय नहीं है ऐसी एकान्त भक्ति से मै मिलता हूं और अब प्राप्तव्य पुरुष की श्रेष्ठता कहते हैं कि जिस पुरुषमे ये भूत सकल स्थित हैं और जो कारण रूप से समस्त जगत मे व्याप रहा है सोई मै हूं ॥ २२ ॥ इस प्रकार से भगवत उपासक परम पद प्राप्त हो के फेरि संसारगतिमे नहीं आवते हैं यह तीनि श्लोक से कहा अब कौन मार्ग से गमन करिके फेरि आवते और कौन मार्गगामी फेरि नही आवते है यहा प्रकाश रूप से कहते है कि हे अर्ज्जुन योगी जन जिस काल मे गमन करि आवते और जिस मे गमन करि नहीं आवते सो काल तुम से कहूंगा यद्यपि देह त्याग मे उत्तरायण काल श्रेष्ठ औ दक्षिणायन निकृष्ट है तौ भी व्याससूत्र से कहा है कि भगवत भक्त दक्षिणायन मे उत्तम गति को जाते है यहा योगी कहे. कर्मी औ काल से तदभिमानिनी देवताको लेते है ॥२३॥ और जिस मार्गसे प्रयाण करिके

॥ २३ ॥ अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लःषण्मासाउत्तरायणं । तत्रप्रयातागच्छन्तिब्रह्मब्रह्म विदोजनाः ॥ २४ ॥ धूमोरात्रिस्तथाकृष्णःषण्मासादक्षिणायनं । तत्रचान्द्रमसंज्योतिर्योगीप्राप्यनिवर्त्तते ॥ २५ ॥ शुक्लकृष्णेगतीह्येतेजगतःशाश्वतेमते । एकयायात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्त्ततेपुनः ॥ २६ ॥ नैतेसृतीपार्थजानन्योगीमुह्यतिकश्चन ।

भाषा अनुवाद

फेरि नहीं संसारगतिको प्राप्त होते है सोई मार्ग कहते हैं कि अर्चि अभिमानिनी अर्थात् अग्नि या ज्योतिरूप और अह कहे दिन औ शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण जो छ मास हैं और संवत्सर इन सब की अभिमानिनी देवता इहां लेते है यथा प्रथम ज्योति मे प्रवेश करि फेरि दिन मे दिन से पक्ष मे पक्ष से उत्तरायण छ मासों मे उससे संवत्सर मे सम्वत्सर से देवलोक मे प्राप्त होय फेरि भगवत उपासक ब्रह्मज्ञ होय साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होते है निष्काम कर्मकारी इस गति से जाते है ॥२४॥ और जिस राह से गमन करि फेरि संसार मे आवते सो कहते है कि प्रथम धूम मे प्राप्त होय फेरि धूम से रात्रि मे रात्रि से कृष्णपक्ष मे कृष्णपक्ष से दक्षिणायन छ मास मे तब पितृलोक मे उस से फेरि चन्द्रजोति मे प्राप्त होय योगी फेरि निवृत्त होते है इहां भी धूमादि शब्दो से तदभिमानिनी देवता लेते हैं कामना करि कर्मकारीयों की यह गति है कि कर्मफल भोग करि फेरि संसार होता है ॥ २५ ॥ येई शुक्ल कृष्ण दो गती जगत मे सनातन से चली आवती हैं इन मे निष्काम कर्मकारी ज्ञानी शुक्ल कहे प्रकाश मार्ग से गमन कर के मुक्त होते और नाना मनोरथ कर के यज्ञादि कर्मकारी मनुष्य कृष्ण कहे अन्धेरी धूम मार्ग से गमन कर कर्मफल भोग के अनन्तर फेरि संसार मे आय जन्म ग्रहण करते है ॥ २६ ॥ इन दोनो उक्त मार्ग के ज्ञान से जो फल सो दिखावते हुये भक्तियोग कहते हैं कि हे पार्थ मोक्ष औ संसार की देनेवाली इन दोनो मार्ग को जानि कर कोई योगी पुरुष सासारिक मोह को नही पावता अर्थात् सुख समभित स्वर्ग आदि फल की कामना नही करता वल्कि परमेश्वर ही मे निष्ठा करता है इस से हे अर्जुन तुम मेरे भक्तियोग मे युक्त होय के रहो ॥ २७ ॥ अध्याय का अर्थ स्वरूप आठ प्रश्नका अर्थ निर्णय औ फलके सहित कहते है कि वेदोमे अध्ययनके

तस्मात्सर्वेषुकालेषुयोगयुक्तोभवार्ज्जुन ॥ २७ ॥ वेदेषुयज्ञेषुतपसुचैवदानेषुयत्पुण्य फलंप्रदिष्टं। अत्येतितत्सर्वमिदंविदित्वायोगीपरंस्थानमुपैतिचाद्यं ॥ २८ ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां तारकब्रह्मयोगोनाम अष्टमोऽध्याय. ॥ ८ ॥

भाषा अनुवाद

द्वारा और यज्ञो मे अनुष्ठान द्वारा औ तपस्यों मे शरीर शोषण द्वारा औ सर्व दान मे सत्पात्र के अर्पण से जो उत्तम पुण्यफल सब शास्त्रो ने कहा है उस फल को उल्लङ्घन कर के योगी श्रेष्ठ योगरूप ऐश्वर्य को प्राप्त होते हैं अर्थात् परम पद पावते हैं ॥ २८ ॥ इति जगन्नाथसुक्लविरचित मनभावनी टीकायां तारकब्रह्म योगनाम अष्टमोऽध्याय' ॥ ८ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

नवम अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। इदन्तुतेगुह्यतमंप्रवक्ष्याम्यनसूयवे। ज्ञानंविज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वामोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥ राजविद्याराजगुह्यंपवित्रमिदमुत्तमं। प्रत्य

भाषा अनुवाद

केवल भक्ति ही के द्वारासे परमेश्वर पाये जाते अर्थात् ईश्वरका तत्त्वज्ञान होना भक्तिके विना कोइ उपाय से सुलभ नही है यही अष्टम अध्याय मे स्थिर किया है सोइ ईश्वरका अद्भुत ऐश्वर्य्य औ अपनी भक्तिकी सर्व श्रेष्ठमहिमा अब नवयेंअध्याय मे विस्तार से भगवान आपअपने मुखसे कहते है कि जिस से परमेश्वर जाने जांय सोइ विज्ञान कहे उपासना तिस के सहित ईश्वरविषयक जो यह ज्ञान गुह्यतम अर्थात् शास्त्रोक्त धर्मज्ञान गुह्य कहे गोपनीय है और उस की अपेक्षा देहादि से भिन्न जो आत्मज्ञान सो गुह्यतर कहे अधिकगोपनीयहै फेरि आत्मज्ञान गुह्यतम है अत्यन्त गोपनीय है सो असूया रहित अर्थात् वार वार अपना महात्म उपदेश करते ज्ञये मेरे मे दोष दृष्टि राहत तुम हो इस से मै अब दया करि तुम से कहूंगा कि जिस को जानि करि इस अशुभ रूप संसारबन्धन से छूटि जावगे॥१॥ अब अर्जुन की इच्छा बढावने के हेतु जो ज्ञान कहैगे उस की प्रशंसा करते है कि यह जो ज्ञान सो सकल विद्यों का राजा और गोपनीय जो कुछ है उन का भी राजा अर्थात् सब से श्रेष्ठ है और यह अत्यन्त पावन तथा उत्तम है और ज्ञानियों को प्रत्यक्षावगम कहे जिस का वोधसुलभ है और धर्म्य कहे धर्म से भिन्न नहीं अर्थात् वेदविहित सर्व धर्म का फल स्वरूप है और सुसुखं कहे अना यास साधन किया जाय सकै है और जिस हेतु अक्षय फल है इस से अव्यय

त्मायगमंधर्म्यंसुसुखंकर्त्तुमव्ययं ॥ २ ॥ अश्रद्दधानाःपुरुषाधर्मस्यास्यपरन्तप। अप्राप्यमांनिवर्त्तन्तेमृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥ मयाततमिदंसर्व्वंजगदव्यक्तमूर्त्तिना। मत्स्थानिसर्व्वभूतानिनचाहंतेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥ नचमत्स्थानिभूतानिपश्यमेयोगमैश्वरं। भूतभृन्नचभूतस्थोममात्माभूतभावनः ॥ ५ ॥ यथाकाशस्थितोनित्यंवायुः

भाषा अनुवाद

अर्थात् नाश रहित है ॥ २ ॥ जो इस ज्ञान से ऐसा सुख सुलभ है तो फेरि कौन ऐसा अभागी है जो संसारी होगा इस शङ्का पर कहते हैं कि यही भक्ति सहित ज्ञानस्वरूप धर्म को न करि के दूसरी उपाय से मेरी प्राप्ति के लिये जो लोग यत्न करते हैं वे मनुष्य हम को न पाय के मृत्यु युक्त संसार में बार बार आते और जाते रहते हैं ॥३॥ इस प्रकारसे अवसर प्राप्त जो ज्ञानकाण्ड तिसके श्रोता अर्जुन को उत्साहयुक्त करि के सोइ ज्ञान दो श्लोक से कहते हैं कि जिस का स्वरूप अव्यक्त कहे इन्द्रियों का अगोचर ऐसा कारणस्वरूप जो मैं सो मेरे से सम्पूर्ण जगत व्याप्त है क्यों कि श्रुति कहती हैं कि सोइ ब्रह्म संसार सृष्टि करि के उसके बीच जीवस्वरूप होय प्रविष्ट है इसकारणसे चराचरात्मक भूतमात्र कारण रूप मेरे ही में स्थित हैं परन्तु ऐसा भी है तौ भी स्वकार्य घटादि में मृत्तिका के तुल्य मैं भूतों में नहीं हूं जिस हेतु मैं आकाश के समान सङ्गरहित अर्थात् सबसे अलग हौं ॥४॥ और देखो कि हम सबसे अलगहैं इस हेतु स्थावर जङ्गम सर्वभूत हमारे में नहीं स्थित हैं और जो शङ्का करो कि पीछे तुमने अपना सर्वव्यापित्व औ सब के आश्रय यह कहा है तो कहते हैं कि हमारी अघट घटनारूप चातुरी देखोकि मेरी योगमायाके विभववशसे यहबात बूझनेके अयोग्यहै पर मेरा कहना तो किसीअंशसे विरुद्ध नहींहै और आचार्य लोग जीभूतभावन पालनकर्त्ता हमको कहते हैं तो भी हमारा उत्कृष्ट रूप भूतभावन नहींहै जैसे जीवगण देहधारण औ पालन करते हुये अहङ्कार से देह के साथ मिलत हैं तैसे निरहङ्कार हेतु से भूतों का लालन पालन करते हुये भी हम उन से पृथक हैं यही मेरा ऐश्वर्य है ॥ ५ ॥ अब मिल वस्तु भी आधार आधेय अर्थात् रहने की जगह औ रहने वाली वस्तु होसके है यह दृष्टान्त देखायकर कहते हैं कि आकाशके बिना सम्ब

सर्व्वगोमहान्। तथासर्व्वाणिभूतानिमत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥ सर्व्वभूतानिकौ
न्तेयप्रकृतिंयान्तिमामिकां। कल्पक्षयेपुनस्तानिकल्पादौविसृजाम्यहं॥ ७॥ प्रकृ
तिंस्वामवष्टभ्यविसृजामिपुनःपुनः। भूतग्राममिमंकृत्स्नमवशंप्रकृतेर्वशात्॥ ८॥ न
चमांतानिकर्म्माणिनिबध्नन्तिधनञ्जय। उदासीनवदासीनमसक्तंतेषुकर्म्मसु॥ ९॥
मयाध्यक्षेणप्रकृतिःसूयतेसचराचरं। हेतुनानेनकौन्तेयजगद्विपरिवर्त्तते॥१०॥ अथ

भाषा अनुवाद

रहने का असम्भवहै इससे आकाश मे स्थित जो वायु सो सर्व्वगत औ महान होके भी आकाश के साथ मिलने को कोइ उपाय न रहनेसे जैसे आकाश के साथ नहीं मिलती है तैसेही भूत मेरेमे रहते हुयेभी अलग जानो अर्थात् जैसे आधाररूप आकाश मे रहि कर वायु निर्लिप्त है तैसे भूतोके रहते हुये भी आधार स्वरूप ब्रह्म निर्लिप्त है॥ ६॥ . इस से असङ्गरूप ईश्वर को योगमाया से चराचर की स्थिति ईश्वर मे कही गई अब सोई योगमाया से सृष्टि औ पालन के भी हेतु ईश्वर है यह कहते है कि प्रलय के समय मे सकल भूत सत्व रज तम गुणमयी मेरी प्रकृति मे लीन होते फेरि सृष्टि के समय स्थूल सूक्ष्म नानारूप भूतों को मै सिर्जन करता हूं हे कौन्तेय अर्जुन॥७॥ जो कहो कि तुम असङ्ग निर्व्विकार सो कैसे सृष्टि करते हो इस अपेक्षा पर कहते है कि मै अपने आधीन प्रकृति को अंगीकार करि प्राचीन कर्मो के स्वभाव वश भये पराधीन कर्मों के वशीभूत भूत सकलको फेरि नानारूप सिर्जन करता रहता हूं॥ ८॥ और जो कहो कि इस प्रकार नाना प्रकार कर्मकारी जो तुम हो तो तुमारा जीवके समान बन्धन क्यों न होय तो कहते है कि वे कर्म हमको बन्ध नहीं कर सकते क्यों कि कर्ममे जो आसक्ति सोइ बन्धन का कारण है और हम पूरण काम है इस से वह आसक्ति हम को नही है हम तो उदासीन के समान वर्त्तमान है ऐसे ही उदासीन के समान कर्म करते हुये तुम को भी ये कर्म न लगेंगे॥ ९॥ सोइ कहते है कि अधिष्ठाता कारण स्वरूप मेरे बल से यह प्रकृति चराचर विश्व को बार बार उत्पन्न करती है तात्पर्य्य यह कि मेरी सान्निध्य कहे सामीप्य से प्रकृति सृष्टि करने को समर्थ होती है इस से हम को कर्त्तृत्व औ उदासीनत्व दोनो

जानन्तिमांमूढामानुषीन्तनुमाश्रितं। परंभावमजानन्तोममभूतमहेश्वरं ॥ ११ ॥ मोघाशामोघकर्माणोमोघज्ञानाविचेतसः। राक्षसीमासुरीञ्चैवप्रकृतिंमोहनींश्रिताः ॥ १२ ॥ महात्मानस्तुमांपार्थदैवीप्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसोज्ञात्वाभूतादिमव्ययं ॥ १३ ॥ सततंकीर्त्तयन्तोमांयतन्तश्चदृढव्रताः। नमस्यन्तश्चमांभक्त्यानित्ययु

भाषा अनुवाद

असङ्गत नहीं है क्यो कि माया हमारी सहाय के विना असमर्थ है ॥ १० ॥ और जो कहो कि तुम ऐसे जो परमेश्वर तो तुमको कोइ कोइ आदर नही क्यो करते है तो दो श्लोकसे कहते है कि सर्व भूत के ईश्वर जो हम सो हमारा परमतत्त्व जो लोग नही जानते तेई मूर्ख हमारा निरादर करते हैं इस मे कारण यह है कि हम विशुद्ध सत्त्वरूप होय के भी अपने भक्तो की इच्छा वशते मनुष्य के नाईं शरीर धारण करते और तैसेही कर्मभी करते है इससे लोग अपने समान हम को मानते है ॥ ११ ॥ और जो मनुष्य हम से भिन्न और देवतो से कि शीघ्र फल देयंगे ऐसी निष्फल आशा करते है और हमसे विमुख होय जो फल के हेतु कर्म्म करैं है और जिनके शास्त्रसे जो ज्ञान सो नाना कुतर्क युक्त है वेई सकल विचेतस कहे विक्षिप्त चित्त लोग अनर्थ के हेतु हिंसादि तामस कर्म्म तथा काम अभिमान से भरी पूरी जो राजसी बुद्धि तिस के आश्रित होय हम को न जानि हमारा निरादर करते है ॥ १२ ॥ तो फेरि तुमारी आराधना कौन करते है जो यह पूछो तो कहते है कि कामादिक मे जिन का चित्त अवश नही ऐसे जो महात्मा लोग वे दैवी प्रकृति के आश्रित होते है इसी से हम को छोडि और से जिन का मन रमित नही है ते मनुष्य हम को समस्त भूतके आदि कहे जगत के कारण नित्य स्वरूप जानि कै भक्ति पूर्वक आराधन करते हैं ॥ १३ ॥ अब भक्तो के भजन का प्रकार दो श्लोकसे कहते है कि सर्वदा स्तोत्र औ मन्त्र से कोई मेरा कीर्त्तन करते हुये मेरी उपासना करते है और कोई दृढ नियम करके ऐश्वर्य्य औ ज्ञानमे यत्न करते हुये मेरे उपासक होते है और कोई भक्ति पूर्वक प्रणत होय मेरा सेवन करते है ऐसे नित्य युक्त कहे सावधान मेरेमे तत्पर होय मेरे भक्त मुझे सेवते हैं ॥ १४ ॥ और चराचर मात्र श्रीकृष्ण है ऐसा जो आत्मदर्शन सोई ज्ञान औ सोई

क्लाउपासते ॥१४॥ ज्ञानयज्ञेनचाप्यन्येयजन्तोमामुपासते। एकत्वेनपृथक्त्वेनबहुधा
विश्वतोमुखं ॥१५॥ अहंक्रतुरहंयज्ञ स्वधाहमहमौषधं। मन्त्रोहममेवाज्यमहमग्नि
रहंहुतं ॥१६॥ पितामहस्यजगतोमाताधातापितामहः। वेद्यंपवित्रमोङ्कारऋक्साम
यजुरेवच॥१७॥ गतिर्भर्ताप्रभुःसाक्षीनिवासःशरणंसुहृत्। प्रभवःप्रलयःस्थानंनिधानं
बीजमव्ययं ॥१८॥ तपाम्यहमहंवर्षंनिगृह्णाम्युत्सृजामिच। अमृतञ्चैवमृत्युश्चसदस

भाषा अनुवाद

यज्ञ है इस प्रकार ज्ञान यज्ञ से कितने हम को पूजते हैं देखो कोइ अभेद भाव से और कोई हम भगवान के दास इस भेद भाव से उपासना करते है और कोइ हम को ब्रह्मा रुद्र आदि रूप समझ कर के सेवते है॥ १५ ॥ अब अपनी सर्व रूपता चारि श्लोक से कहते है कि मैंही क्रतु कहे वेदोक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञ और यज्ञ कहे धर्म शास्त्रोक्त जो पञ्च यज्ञ बलि वैश्व देवादि औ स्वधा कहे श्राद्ध और औषध अर्थात् फल होनेसे जो पकि जांय इससे अन्नभी आय गये और मन्त्र औ आज्य कहे घृत आदि औ अग्नि कहे यज्ञाग्नि और होम यह जो कुछ सो सब हम ही है ॥१६॥ और इस जगत के पिता माता तथा धाता कहे कर्मफलदाता औ पितामह तथा वेद्य कहे ज्ञेयवस्तु औ पवित्र कहे शुद्ध करनेवाले औ ओंकार तथा ऋक यजुर साम अथर्व वेद यह समस्त मैंही हौं॥ १७ ॥ और मही गति कहे प्राप्य कर्मफल रूप औ भर्त्ता कहे पोषणकर्त्ता औ प्रभु नियामक तथा साक्षी शुभ अशुभ के द्रष्टा औ निवास कहे भोगस्थान तथा शरण कहे रक्षक एवं सुहृत् कहे हेतु रहित हितकारी औ प्रभव अर्थात् जगतके उत्पन्नकर्त्ता प्रलय कहे संहर्त्ता स्थान कहे विश्व के आधार और निधान कहे लय स्थान एवं बीज कहे कारण औ अव्यय कहे अविनाशी मैंहीं हौं॥१८॥ और ग्रीष्मकालमे सूर्य्यरूप मैंहीं समस्तको ताप देता हौं औ वर्षाकालमे जल वृष्टि भी हमी करते है औ तथा कोई समय जल किरणो से खींचते और कभी फेरि जल को छोडते भी हमी हैं औ अमृत कहे जीवन मृत्यु कहे मरण औ सत कहे पृथिवी आदि पांच स्थूल पदार्थ औ असत् कहे सूक्ष्म वस्तु रूपादि पंच मात्रा भी हे अर्जुन हम हीं को जानो इसी से लोग नाना रूप हमारी उपासना करते हैं॥ १९॥ मढ़ मेरा अनादर करते औ

ध्याहमर्जुन ॥१९॥ त्रैविद्यामांसोमपा:पूतपापायज्ञैरिष्ट्वास्वर्गतिंप्रार्थयन्ते। तेपुण्य
मासाद्यसुरेन्द्रलोकमश्नन्तिदिव्यान्दिविदेवभोगान् ॥२०॥ तेतंभुक्त्वास्वर्गलोकंविशा
लंक्षीणेपुण्येमर्त्यलोकंविशन्ति। एवंत्रयीधर्ममनप्रपन्नागतागतंकामकामालभन्ते॥
२१॥ अनन्याश्चिन्तयन्तोमांयेजना:पर्युपासते। तेषांनित्याभियुक्तानांयोगक्षेमंवहा
म्यहं ॥२२॥ येऽप्यन्यदेवताभक्तायजन्तेश्रद्धयान्विता:। तेऽपिमामेवकौन्तेययजन्त्यवि

भाषा अनुवाद

महात्मा मेरी भजन करते ऐसे पूर्व मे भक्त अभक्त के लक्षण कहि के अब मूढ़ों का जन्म मृत्यु रूप संसार प्रवाह दुर्निवार है यह दो श्लोक से कहते हैं कि जो मनुष्य ऋक् यजु: साम वेद पढ़ते वे त्रैविद्य अर्थात् वेदोक्त कर्म परायण यज्ञ के द्वारा सर्व रूप जो मैं सो मेरी ही पूजा करि के और सोमलता का रस पीकर पूतपाप होय स्वेच्छा से स्वर्ग लोक को जाते हैं और पुण्य फलरूप स्वर्ग प्राप्त होय यहां के उत्तम देवभोग्य वस्तुवों का भोग हैं ॥ २० ॥ फेरि वेई स्वर्ग कामी मनुष्य अपना इष्ट विपुल स्वर्गसुख भोग करि के जब पुण्य क्षीण भई तब फेरि मर्त्यलोक मे आवते हैं आय के फेरि वही वेदत्रयी विहित धर्म कर्म करि के भोग कामनाकारी लोग गमनागमन मात्र लाभ किया करते हैं अर्थात् कभी नीचे आते औ कभी ऊपर जाते रहते है ॥२१॥ और हमारे भक्तजन मेरी कृपा ही से कृतार्थ होते यह कहते हैं कि जिन के हमैं छोड़ि और कोई मन कामना नहीं है तेई अनन्य भक्त हमारी सेवा करते हैं नित्याभियुक्त सर्वदा एक मेरे मे है मन जिन का उन का योगक्षेम अर्थात् योग जो धन आदि लाभ और क्षेम जो प्राप्त वस्तुका रक्षा सो मै करता हूं अथवा निर्वाण जो मुक्ति यद्यपि वे नहीं चाहते पर मै उन को अपनी इच्छा से देता हौं ॥ २२ ॥ जो कहा कि विचार से तो सर्व देवरूप तुमको छोड़ि और देवता कौन है देखो सब रूप जो तुमहि हैं तो इन्द्रादि के पूजक लोग भी तुमारे ही उपासक हैं फेरि क्या कारण है जो वे विचारे ऊपर नीचे गमनागमन किया करते हैं इस पर कहते हैं कि हां श्रद्धा युक्त जो इन्द्रादि देवतों की आराधना करते हैं सो सत्य हमारी सेवा है परन्तु वै अविधि से अर्थात् मोक्षको देनहार विधि को छोड़ि कर पूजन करते हैं इसीसे

धिपूर्वकं ॥२३॥ अहंहिसर्वयज्ञानांभोक्ताचप्रभुरेवच। नतुमामभिजानन्तितत्त्वेना
तश्च्यवन्तिते ॥२४॥यान्तिदेवव्रतादेवान्पितॄन्यान्तिपितृव्रता। भूतानियान्तिभूते
ज्यायान्तिमद्याजिनोऽपिमां ॥२५॥ पत्रंपुष्पंफलंतोयंयोमेभक्त्याप्रयच्छति। तदहं
भक्त्युपहृतमश्नामिप्रयतात्मनः ॥२६॥ यत्करोषियदश्नासियज्जुहोषिददासियत्। यत्त
पस्यसिकौन्तेयतत्कुरुष्वमदर्पणं॥२७॥ शुभाशुभफलैरेवंमोक्ष्यसेकर्मबन्धनैः। संन्या

भाषा अनुवाद

पुनः पुनः संसारको पावते हैं ॥२३॥ पूर्व कथित वाक्यको विस्तारसे कहते हैं कि देवता स्वरूप यज्ञफल भोक्ता मही हौं और प्रभु कहे यज्ञफल दाता भी मै हीं हूं पर इस तरहसे वे देवपूजक लोग यथावत कहे ठीक नहीं जानते है इसीसे फेरि संसारगति को आवते है और सर्वदेव मे हम को अन्तर्यामीरूप देखि जो मेरा अर्चन करते वे पुनः संसारगतिको नहीं पावते हैं ॥२४॥ अब वही उक्त वाक्यका प्रतिपादन करते है कि जो देवव्रत कहे इन्द्रादि देव उपासक है वे देवलोक को जाते औ पितृ उपासना करनेवाले पितृलोक को जाते तथा भूत सेवाकारी अन्त मे भूत योनि पावते है और जो मेरी पूजा करै हैं सो मद्याजी अक्षय परमानन्द स्वरूप हमको ही प्राप्त होय है ॥२५॥ अब स्वभक्त को अक्षय फलत्व औ स्वभक्ति का सुलभत्व देखावते हैं जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पत्र पुष्प फल जल मात्र भी हमै देय है वह विमलचित्त भक्तजन की प्रीति से दिया हुआ पुष्पादि मैं अति प्रसन्न होय ग्रहण करता हूं इस का भाव यह है कि और देव के समान बडो पूजा सामग्री हमै न चाहिये हम केवल भाव भक्ति से प्रसन्न होते हैं ॥ २६ ॥ जिस लिये मै भाव भक्ति से भक्त पर प्रसन्न होता हूं इस से हे कौन्तेय कुन्तीपुत्र जो कुछ कर्म करो या आहार करो या यज्ञ करो या दान करो या तप करो सो सब मदर्पण अर्थात् मेरे को समर्पण करो तो वह सब अक्षय फल होगा और दोष किसी तरह से न लगैगा ॥ २७ ॥ इस प्रकार आचरण करने से जो फल होगा सो सुनो कि उक्त प्रकार से कर्म सकल भगवत समर्पण करनेसे कर्मबन्धन अर्थात् कर्मजनित इष्ट अनिष्ट फलप्राप्ति से बचि रहोगे और मेरे मे समर्पित जो कर्म संन्यासयोग उसी से युक्तचित्त हो

सयोगयुक्तात्माविमुक्तोमामुपैष्यसि ॥२८॥ समोऽहंसर्वभूतेषुनमेद्वेष्योऽस्तिनप्रियः॥
येभजन्तितुमांभक्त्यामयितेतेषुचाप्यहं ॥२९॥ अपिचेत्सुदुराचारोभजतेमामनन्य
भाक्। साधुरेवसमन्तव्यःसम्यग्व्यवसितोहिसः॥३०॥ क्षिप्रंभवतिधर्मात्माशश्वच्छा

भाषा अनुवाद

के तुम हम को निःसन्देह प्राप्त होवगे॥ २८॥ भला जो भक्तों को इस भांति मुक्त करते हो औ अभक्तो को नही तो क्या तुमारे भी प्रीति विरोध कृत वैषम्य कहे विषम स्वभाव है इसके उपर अपने उस भाव का अभाव कहते है कि सकल भूत मे हम समान रूप से वर्त्तमानहै इसीसे हमारे न कोई प्रिय और न अप्रिय है और जो हमारी भक्ति करता है सो हमारे मे वर्त्तमान और मै भी उस पर अनुग्रह करता रहता हूं इस का भावार्थ यह है कि जैसे अग्नि के सेवन करने वाले का अन्धकार और शीत आदि दुःख का निवारणकारी अग्निमे विषम स्वभाव नही है और जैसे कल्पवृक्ष अपने सेवक को सकल पदार्थ देता है तो इन को प्रिय अप्रिय कोई नहीं परन्तु फल जो है सो भक्त ही को है इस से भक्ति ही की महिमा यह सब तुम जानो॥२९॥ और अपनी भक्ति का अपूर्व्व अचिन्त्य प्रभाव देखावते है कि अत्यन्त दुराचार कहे और और देखावता भी वासुदेव ही है इस रूप एक वुद्धि होय यद्यपि औरों की भक्ति न कर के केवल परमेश्वर स्वरूप मही को भजै है तौ भी सो साधु औ श्रेष्ठ है क्यो कि मेरे मे उत्तम निश्चय तो उसने किया है॥ ३०॥ ऐसा मनुष्य किस प्रकार उत्तम है इस शङ्का पर कहते है कि अत्यन्त दुराचारी भी हमारी ही भक्ति कर के स्वधर्मचित्त होय है अर्थात् चित्त की तरङ्ग निवृत्त होय परमेश्वर मे निष्ठा अवश्य पावता है और तुर्त धर्मात्मा होता और शान्ति को प्राप्त होता है पर इस वात को कुतर्क कर्कशवादी लोग न मानैंगे इस शङ्का से व्याकुल अर्जुन को भगवान उत्साह देते है कि हे कौन्तेय नगारा वजाय विवादकारी लोगो की सभा मे जाय हाथ उठाय तुम निःशङ्क हो यह प्रतिज्ञा करो कि परमेश्वर के, भक्त अति दुराचार होने से भी नष्ट नहीं होते वलु कृतार्थ होते है ऐसी प्रतिज्ञा करने पर तुमारी जय और वे नष्ट कुतर्क होय तुम को गुरू कर के मानैंगे सो तुम यह जानो कि मेरे भक्त का

न्तिंनिगच्छति॥ कौन्तेयप्रतिजानीहिनमेभक्तः प्रणश्यति॥३१॥ मांहिपार्थव्यपाश्रि
त्ययेऽपिस्युःपापयोनयः। स्त्रियोवैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपियान्तिपरांगतिं॥३२॥ किंपुन
र्ब्राह्मणाःपुण्याभक्ताराजर्षयस्तथा॥ अनित्यमसुखंलोकमिमंप्राप्यभजस्वमां॥३३॥
मन्मनाभवमद्भक्तोमद्याजीमांनमस्कुरु। मामेवैष्यसियुक्त्वैवमात्मानंमत्परायण॥३४॥
इति श्रीभगवद्गीतासु योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजगुह्यनाम नवमोध्यायः॥९॥

भाषा अनुवाद

नाश नहीं है॥३१॥ अत्यन्ताचार भ्रष्टोको भी जो मेरी भक्ति पवित्र करती है इसमे क्या आश्चर्य है क्योंकि देखो मेरी भक्ति अनधिकारीयों को भी संसारसे मुक्त करती है तो दुराचाराकी मुक्तिमे क्या सन्देह है सोई कहते हैं कि कोई निकृष्ट जन्म चाण्डाल आदि क्यों न होय और स्त्री क्यों न होय स्त्री मे भी वेश्या क्यों न होय वेश्या ही को वैश्या कहते स्वार्थ मे अण प्रत्यय जानो जो कोई वैश्या का अर्थ वणिक जाति मर लगाते उन की भूल कितनी बडी है कि वेद ब्रह्म के अधिकारी तथा संध्या उपासना कर्म के अधिकारी तथा यज्ञउपवीतधारी द्विजाति शब्द से प्रसिद्ध वैश्य जो अनधिकारी हैं तो तो ब्राह्मण क्षत्री भी तैसे ही हैं मनभावता अर्थ करो वेद शास्त्र क्या करना है॥३२॥ जब कि मेरी भक्ति अनधिकारीयो को मुक्ति देती तो फेरि ब्राह्मण कहे ब्राह्मण आदि तीनो वर्ण जो ब्राह्मण क्षत्री वैश्य पवित्र औ मेरे भक्त उन की मुक्ति मे क्या सन्देह है तिस मे भी राजर्षि अर्थात् राजवंश क्षत्रिय राजा लोग जो दशदिग्पालो के अंश से प्रगट है उन को क्या कहना है सो तुम राजवंश हो इस अनित्य संसार सुख को त्याग करि के यह लोक कहे नर देह पाय हम को भजो॥३३॥ भजन प्रकार दिखावतेऊये कहते हैं कि मेरे मे जिस का मन है ऐसे तुम मन्मना होउ और मेरे ही भक्त होउ औ मेरो ही पूजा करो और मै ही को प्रणाम करो इसी प्रकार से मत्परा यण हो के आत्मा जो मन तिस को मेरे मे योग कहे लगाय के परम आनन्दरूप मेरे स्वरूप को प्राप्त होउगे इस नवयें अध्याय मे अपनी भक्ति का अद्भुत प्रभाव राजयोग नाम भगवान ने प्रकाश किया है॥३४॥ इति श्रीजगन्नाथ शुक्लाज विरचित मनभावनी टीकायां योगशास्त्रे राजगुह्ययोग नाम नवमोध्याय॥९॥

श्रीमद्भगवद्गीता

दशम अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । भूयएवमहाबाहोशृणुमेपरमंवचः । यत्तेऽहंप्रीयमाणायवक्ष्या मिहितकाम्यया ॥१॥ नमेविदुःसुरगणाःप्रभवंनमहर्षयः । अहमादिर्हिदेवानां महर्षीणाञ्चसर्वशः ॥२॥ योमामजमनादिञ्चवेत्तिलोकमहेश्वरं । असंमूढस्समर्त्यै

भाषा अनुवाद

सप्तम अध्याय से ले कर नवम अध्याय पर्यन्त भगवानने आपनी विभूति औ सर्वत्र ईश्वर बुद्धि होना तथा आप आपना परमेश्वरत्व औ यज्ञ आदि सकल वस्तु मैही हूं और अपनी अनन्य भक्ति परम भक्त अर्जुन से संक्षेप रूप कहा अब दशम अध्याय मे वही अपनी विभूतियो को विस्तार करि कहते हुये स्वभक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता श्रीभगवान कहते है कि हे महाबाहो अर्जुन तुम फेरि हमारे वचन सुनो परमात्मा विषयक मेरे वचन अमृत ऐसे श्रवण करिके अति प्रसन्न प्रीतियुक्त जो तुम सो तुमारी इच्छा के अनुसार तुमारे हित वचन मै कहता हूं तुम श्रवण करो ॥१॥ कही हुई बात का यो पुनर्वार कहना तिसमे हेतु यह कि मेरा तत्त्व जानना अति कठिन है सोई कहते है कि जन्म रहित होके भी जो विभूतियों के द्वारा मेरा आविर्भाव कहे प्रगट होना सो देवता औ भृगु प्रभृति महर्षि भी नही जानते है क्यो कि देवता औ महर्षियों के उत्पन्न करने वाले तथा बुद्धिके प्रवृत्ति देनहार आदि भूत कारणरूप हम है इसी से हमारी कृपा विना हम को कोई जानने नहीं सकता है ॥२॥ अब आत्मज्ञान का फल कहते है कि सब के कारण रूप हेतु और जिसका कोई कारण नहीं है ऐसे अनादि औ जन्म रहित सकल लोक के महेश्वर जो मै सो मुझे जो कोई जानै है तो मनुष्यों के मध्य मे वही

षुसर्वपापैःप्रमुच्यते ॥३॥ बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहःक्षमासत्यंदमःशमः। सुखंदुःखंभवोऽभावोभयञ्चाभयमेवच ॥४॥ अहिंसासमतातुष्टिस्तपोदानंयशोऽयशः। भवन्तिभावाभूतानांमत्तएवपृथग्विधा ॥५॥ महर्षयःसप्तपूर्वेचत्वारोमनवस्तथा। मद्भावामानसाजातायेषांलोकइमाःप्रजाः ॥६॥ एतांविभूतियोगञ्चममयोवेत्तितत्त्वतः। सोऽविकल्पेनयोगेनयुज्यतेनात्रसंशयः ॥७॥ अहंसर्वस्यप्रभवोमत्तःसर्वंप्रवर्त्तते। इतिमत्वाभजन्तेमांबुधाभावसमन्विताः ॥८॥ मच्चित्तामद्गतप्राणाबोधयन्तःपरस्परं। कथ

भाषा अनुवाद

अच्छीतरह मोह रहित होके समस्त पापोंसे छूटि जाय है ॥३॥ अब तीन श्लोकों से अपनी लोकमहेश्वरता प्रकाश करते हैं कि बुद्धि कहे सार असार वस्तु विचार की चातुरी औ ज्ञान तथा असंमोह औ क्षमा सत्य वचन और दम कहे बाहर की इन्द्रियोंका दमन औ शम कहे मनका निग्रह औ सुख दुख जन्म नाश औ भय अभय ये सब हम से होते हैं ॥४॥ और अहिंसा शमता कहे प्रीति विरोध का अभाव औ तुष्टि कहे वे मांगे यथा लाभ सन्तोष औ तपस्या जो १७ अध्याय में कहेंगे और दान कहे स्वधर्म से उपार्जित धन सत्पात्र को देना और यश अयश ये नाना प्रकार के भाव सब हम ही से उत्पन्न होते है ॥ ५ ॥ और भृगु आदि सप्त महर्षि येई पुराणों में सात ब्राह्मण करके प्रसिद्ध हैं और इन के भी पूर्व सनकादि चारि ब्राह्मण और स्वायम्भू आदि चौदह मनु इन सब मे मेरा प्रभाव है और ये सकल हिरण्यगर्भ जो मै सो मेरी इच्छा से प्रगटे है येई सात ऋषियों के पुत्र पौत्र शिष्य प्रशिष्य क्रमसे प्रजारूप ब्राह्मणादि वर्ण सकल जन्मे हैं ॥६॥ अब यह सब उक्त विभूति कहे अपनी सम्पत्ति के तत्त्वज्ञान का फल कहते हैं कि येई भृगु आदि हमारी विभूति औ ऐश्वर्यरूप योग है यहजो मनुष्य यथार्थ से जानै है सो संशय रहित सर्वज्ञ सम्यक दर्शन होय है ॥७॥ अब विभूति औ योग जाननेसे जिस प्रकार सम्यक्ज्ञान प्राप्ति होती है सोई चारि श्लोकसे देखावते है कि मैही समस्त जगत का प्रभव अर्थात् भृगु आदि मनु आदि रूप विभूति के द्वारा उत्पत्ति का हेतु हौं और हमी से बुद्धि औ ज्ञान सकल उत्पन्न होते यही जानिके विवेकी लोग प्रीतियुक्त होय हमारी भजन करते है ॥८॥ प्रीतिपूर्वक भजन का स्वरूप

यन्तश्चमांनित्यंतुष्यन्तिचरमन्तिच ॥९॥ तेषां सततयुक्तानांभजतांप्रीतिपूर्वकं। द
दामिबुद्धियोगंतंयेनमामुपयान्तिते ॥ १० ॥ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजंतमः।
नाशयम्यात्मभावस्थोज्ञानदीपेनभास्वता ॥ ११ ॥ अर्जुनउवाच ॥ परंब्रह्मपरंधाम
पवित्रंपरमंभवान्। पुरुषंशाश्वतंदिव्यमादिदेवमजंविभुं ॥१२॥ आहुस्त्वामृषयः
सर्वेदेवर्षिर्नारदस्तथा। असितोदेवलोव्यासः स्वयञ्चैवब्रवीषिमे ॥१३॥ सर्वमेतदृतंम

भाषा अनुवाद

कहते हैं कि जिसका चित्त मेरे ही मे निरत है सो मच्चित्त और जिसके प्राण कहे सकल इन्द्रिय अथवा जीवन मेरे मे अर्पित है ऐसे मद्गत प्राण विवेकी जन हमको युक्ति औ श्रुति प्रमाण से जानते हैं और सर्वदा परस्पर मेरी ही चर्चा करते हुये सदा सन्तुष्ट मन मेरे गुण गान मे रममाण पूर्णकाम इस असार संसार के जञ्जाल से मुक्ति पावते हैं ॥९॥ ऐसे ही भक्तों को हम ज्ञान प्रदान करते हैं सोई कहते हैं कि एवम्भूत मेरे मे सदा आसक्त चित्त औ प्रीतिपूर्वक भजनकारी भक्तलोगों को मै सोई बुद्धिरूप योग कहे उपाय देता हूं और उस उपाय से वे मेरे भक्त मुझे अनायास प्राप्त होते हैं ॥१०॥ बुद्धियोग दे करके उन अपने भक्तों का फेरि अविद्याकृत संसार नाश करता हूं अब यह कहते हैं कि उन पर अनुग्रह करने ही के अर्थ उन के अज्ञान से उत्पन्न जो संसार अन्धकार तिसको नाश करताहूं जो कहो कि किस स्थानमे बैठिके और कौन प्रकारसे सो अन्धकार आप दूर करते हो तो कहते हैं कि आत्मभाव कहे बुद्धिवृत्ति मे अव स्थान करके प्रकाशमान तत्त्वज्ञानस्वरूप दीपके द्वारा अज्ञान अन्धकार दूर करता हो ॥११॥ संक्षेपरूपसे कही गई जो विभूति उसको विस्तारसे जानने की इच्छा करिके अब अर्जुन भगवानकी स्तुति करते हुये सात श्लोकसे कहते हैं कि आप पर ब्रह्म औ परमधाम कहे आश्रय औ पवित्र हो इस कारण यह कि नित्य कहे सदा वर्त्तमान,पुरुष स्वयं प्रकाश आदि देव औ जन्म शून्य सर्वव्यापी तमको ऋषि कहते हैं ॥१२॥ कौन ऐसा कहते हैं तो इस पर कहते कि भृगु आदि ऋषि सकल और देवर्षि नारद असित ऋषि देवल व्यासदेव ये सब कहते और आप भी साक्षात् हम से कहते हो ॥१३॥ इससे अब आपके ऐश्वर्य मे असम्भावना बुद्धि

न्येयन्मांवदसिकेशव। नहितेभगवन्व्यक्तिंविदुर्देवानदानवाः॥१४॥ स्वयमेवात्म
नात्मानंवेत्थत्वंपुरुषोत्तम। भूतभावनभूतेशदेवदेवजगत्पते॥१५॥ वक्तुमर्हस्यशेषे
णदिव्याह्यात्मविभूतयः। याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वंव्याप्यतिष्ठसि॥१६॥ कथं
विद्यामहंयोगिंस्त्वांसदापरिचिन्तयन्। केषुकेषुचभावेषुचिन्त्योसिभगवन्मया॥१७॥

भाषा अनुवाद

निवृत्त हो गई यह कहते है कि हे केशव आप जो कहते हो कि सवरूप हम हैं सो मैंने सत्य करि माना और जो आपने कहा कि सकल देवता हम को नहीं जानते वह भी यथार्थ करके मैंने जाना है सोई अर्जुन कहते है कि हे भगवान भक्तों औ देवतों पर अनुग्रहके अर्थ जो तुमारे अवतार यह देवता नहीं जानते है और दानव भी यह नहीं जानते कि हमारे निग्रह के लिये भगवान का शरीर धारण भया है॥१४॥ तो इसका फलित अर्थ क्या है इस आकांक्षापर कहते है कि हे पुरुषोत्तम आपही अपने को जानते हो और कोई तुमको नहीं जानै है यह अति आदरसे वारम्वार सम्वोधन दे कर कहते है कि हे भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते इन सव सम्वोधनो से श्रीकृष्ण का पुरुषोत्तमत्व साधन किया है॥१५॥ जिस हेतु तुमारा तत्त्व औ अभिव्यक्ति तुमको छोडिकै देवादि भी नहीं जानते इस से तुमारी जो अद्भुत विभूति सो तुमारे ही कहने योग्य है कि जिन विभूतियो से तुम सकल लोक से व्याप रहे हो सो अपनी उन दिव्य विभूतियों को छपा करि के कहो जो मेरे मन का सन्देह जाय॥१६॥ इस से अर्जुन अपने कहने का प्रयोजन देखलाय कर प्रार्थना करते हैं कि हे योगिन् श्रीकृष्ण मै तुम को किसतरह तुमारी विभूति भेदके द्वारा निरन्तर भावना करिके जानने सकौंगा और भिन्न भिन्न विभूति मे चिन्तनीय तुम कौन कौन पदार्थ मे मेरी भावना के योग्य हो अर्थात् किस किस वस्तु मे तुमैं हम जानैं॥ १७॥ चित्त की वृत्ति वहि मुख होने पर भी उस समै तुमारी विभूतियों के द्वारा जिस प्रकार तुमारा चिन्तन होय ऐसी उपाय विस्तार से कहो यह अर्जुन पूछते हैं कि तुमारा सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्व आदि स्वरूप जो योग का ऐश्वर्य और सम्पूर्ण विभूति जो है सो सव हे जनार्दन विस्तार से पुनर्वार कहो क्यों कि आपके अमृत स्वरूप

विस्तरेणात्मनोयोगंविभूतिञ्चजनार्दन। भूयःकथयतृप्तिर्हिशृण्वतोनास्तिमेऽमृतं॥
१८॥ श्रीभगवानुवाच। हन्ततेकथयिष्यामिदिव्याह्यात्मविभूतयः। प्राधान्यतः
कुरुश्रेष्ठनास्त्यन्तोविस्तरस्यमे ॥ १९ ॥ अहमात्मागुडाकेशसर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्चमध्यञ्चभूतानामन्तएवच ॥ २० ॥ आदित्यानामहंविष्णुर्ज्योतिषांरवि
रंशुमान्। मरीचिर्मरुतामस्मिनक्षत्राणामहंशशी ॥ २१ ॥ वेदानांसामवेदोऽस्मि
देवानामस्मिवासवः। इन्द्रियाणांमनश्चास्मिभूतानामस्मिचेतना ॥ २२ ॥ रुद्रा
णांशङ्करश्चास्मिवित्तेशोयक्षरक्षसां। वसूनांपावकश्चास्मिमेरुःशिखरिणामहं ॥२३॥

भाषा अनुवाद

वचन श्रवण करते हुये भी मेरा मन तृप्त नहीं होता है ॥१८॥ जब अर्जुन ने ऐसी प्रार्थना किया तब भगवान कहते हैं कि हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन मेरी जो दिव्य विभूतीं हैं सो तुमको अच्छी प्रकार से कहूंगा और विस्तार से कहने को तो मेरी विभूतियों का अन्त नहीं है इस से प्रधान प्रधान जो हैं सो सब कहूंगा ॥ १९ ॥ अब प्रथम ईश्वर स्वरूप कहते हैं कि हे गुडाकेश जितनिद्र अर्जुन परमात्मारूप मैं तावत भूतमात्र के अन्तःकरण मे सर्वज्ञत्व आदि गुण से नियन्ता रूप स्थित हों और आदि मध्य अन्त कहे सर्व भूतोंके सृष्टि स्थिति संहार का हेतु भी मैंही हों यह जानो। गुडाका निद्रा को कहते हैं अथवा गुडा कहे गुडचियाले घूंघुराले हैं केश जिस के सो गुडाकेश है ॥२०॥ अब इस श्लोकसे ले कर अध्याय समाप्ति पर्यंत अपनी विभूतियोंको कहते हैं कि बारह अदितिके पुत्रों मे विष्णु नाम आदित्य मैंहूं और प्रकाशरूपों के मध्य सर्वत्र व्यापी रविरूप मैंहों और सप्त देवतों के बीच मरीचि नामक हमें जानो और नक्षत्रगण मे चन्द्रमा भी मैंहीं को मानो ॥२१॥ और वेदों मे साम वेद देवतों मे इन्द्र और इन्द्रियों के मध्य मे मन प्रधान इन्द्री मैंहौं तथा भूत कहे प्राणियों के विशेष चेतना जो ज्ञान शक्ति सो मैंहीं हौं ॥ २२ ॥ और एकादश रुद्रो मे शङ्कर औ यक्ष राक्षसों मे कुवेर मैं हौं वसुओं के बीच मे अग्नि औ पर्वतों मे सुमेरु जानो ॥२३॥ और हे अर्जुन पुरोहितों मे मुख्य बृहस्पति हम हैं और सेनापतियों मे स्वामिकार्त्तिक हम हैं और सरसां कहे थिर जलाशयों के मध्य समुद्र हम को जानो ॥२४॥ और

पुरोधसाञ्चमुख्यंमांविद्धिपार्थवृहस्पतिं। सेनानीनामहंस्कन्दःसरसामस्मिसागरः
॥ २४ ॥ महर्षीणांभृगुरहंगिरामस्म्येकमक्षरं। यज्ञानांजपयज्ञोस्मिस्थावराणां
हिमालयः॥ २५॥ अश्वत्थःसर्ववृक्षाणांदेवर्षीणाञ्चनारदः। गन्धर्व्वाणांचित्ररथः
सिद्धानांकपिलोमुनिः॥ २६॥ उच्चैःश्रवसमश्वानांविद्धिमाममृतोद्भवं। ऐरावतं
गजेन्द्राणांनराणाञ्चनराधिपं॥ २७॥ आयुधानामहंवज्रं धेनूनामस्मिकामधुक्।
प्रजनश्चास्मिकन्दर्पःसर्पाणामस्मिवासुकिः॥ २८॥ अनन्तश्चास्मिनागानांवरुणोया
दसामहं। पितॄणामर्य्यमाचास्मियमःसंयमतामहं॥ २९॥ प्रह्लादश्चास्मिदैत्या
नांकालःकलयतामहं। मृगाणाञ्चमृगेन्द्रोऽहंवैनतेयश्चपक्षिणां॥ ३०॥ पवनःप
वतामस्मिरामःशस्त्रभृतामहं। झषाणांमकरश्चास्मिस्रोतसामस्मिजाह्नवी॥ ३१॥

भाषा अनुवाद

महर्षियों मे भृगु मै हौं और अक्षर तथा पद आत्मक वाक्यके बीच ओंकार अक्षर भी मै हौं औ यज्ञोमे हिंसा रहित हेतुसे जपरूप यज्ञ मै हौं स्थावरोमे हिमालय भी हमही हैं॥ २५॥ और वृक्ष जातियों मे अश्वत्थ कहे पीपर औ देव ऋषियों नारद मै हौं औ गन्धर्वगणों मे चित्ररथ औ सिद्ध कहे आजन्म से परमार्थ तत्त्व ज्ञानियों मे कपिल मुनि मै हौं॥२६॥ अश्व कहे घोडों मे उच्चैःश्रवा औ गजेन्द्रो मे ऐरावत तथा मनुष्यों मे नरपति राजा भी मैही हौं॥२७॥ और आयुधों मे वज्र औ धेनु सकलमे कामधेनु औ प्रजा उत्पत्तिकारी जो कन्दर्प सो मैही हौं तथा सर्पों मे वासुकी भी हमै जानो विषधारियों की सर्प संज्ञा है॥२८॥ नागों मे अनन्त शेष नाग और जल जीवों मे वरुण राजा मै हौं औ पितरों मे अर्यमा तथा दण्डकारियों मे यमराज हमै जानो। नाग औ सर्प मे यह भेद है कि विष रहित को नाग कहते हैं॥२९॥ दैत्यो मे प्रह्लाद मै हौं और वश करनेवालों मे संख्या मे काल मै हौं मृग जाति मे मृगेन्द्र कहे सिंह मै तथा पक्षियो मे गरुड मै हौं॥३०॥ और पवित्र तथा वेगवानों मे पवन कहे वायु औ शस्त्रधारियों मे राम दशरथ के पुत्त्र हम को जानो तथा मछलियों मे मकर नाम मत्स्य मै हौं और स्रोत कहे प्रवाहरूप नदियोंमे जाह्नवी गङ्गाभी मैहीं हौं॥३१॥ स्वर्ग कहे आका शादि पदार्थों मे आकाश जो आदि मध्य अन्तमे सदा वर्त्तमान सो मै हौं अथवा

सर्गाणामादिरन्तश्चमध्यञ्चैवाहमर्जुन। अध्यात्मविद्याविद्यानांवादःप्रवदतामहं॥
३२॥ अक्षराणामकारोऽस्मिद्वन्द्वःसामासिकस्यच। अहमेवाक्षयःकालोधाताहं
विश्वतोमुखः॥ ३३॥ मृत्युःसर्वहरश्चाहमुद्भवश्चभविष्यतां। कीर्त्तिःश्रीर्वाक्चनारी
णांस्मृतिर्मेधाधृतिःक्षमा ॥३४॥ वृहत्सामतथासाम्नांगायत्रीछन्दसामहं। मासा
नांमार्गशीर्षोहमृतूनांकुसुमाकरः॥ ३५॥ द्यूतंछलयतामस्मितेजस्तेजस्विनामहं।
जयोऽस्मिव्यवसायोऽस्मिसत्त्वंसत्त्ववतामहं॥ ३६॥ वृष्णीनांवासुदेवोऽस्मिपाण्डवा
नांधनञ्जयः। मुनीनामप्यहंव्यासःकवीनामुशनाकविः॥ ३७॥ दण्डोदमयताम
स्मिनीतिरस्मिजिगीषतां। मौनंचैवास्मिगुह्यानांज्ञानंज्ञानवतामहं॥ ३८॥ यच्चा

भाषा अनुवाद

सृष्टि में आदि मध्य अन्त मैं हूं तथा हे अर्जुन विद्यों में अध्यात्म विद्या औ प्रवाद करने वालों के बीच वादरूप मैं हौं जिससे सिद्धान्त पक्ष थिर होता है॥३२॥ और अक्षरों के मध्य में अकार अक्षर मैं हूं और समासों के विषे उभय पद प्रधान द्वन्द्व समास और अक्षय प्रवाहरूप काल जो सो हम हैं और फल प्रदान करनेवालों में विश्वतो मुख कहे सर्व फल विधान कर्त्ता मैं हौं॥ ३३॥ संहार कारियों के मध्य में सर्व संहारकारी मृत्युरूप हम को जानो और होनेवाली वस्तुवों में उत्तम पदार्थ हम हैं और स्त्रियों में सप्तनारी कहे कीर्त्ति श्री वाणी स्मृति मेधा धृति क्षमा ये रूप मेरेही हैं॥३४॥ और साम वेद में मन्त्र ब्राह्मण गद्य पद्य भूत श्रुतियों के मध्य में वृहत्साम नाम हम को जानो जिस से इन्द्र गाये जाते हैं और छंद बन्धयुक्त मन्त्रोंके मध्य गायत्री हम हैं और मास कहे महिनोंमें मार्गशीर्ष कहे अगहन मास हम हैं औ ऋतुवों में वसन्त ऋतु मैं हौं॥३५॥ छल वस्तुवों में द्यूत कहे जुआ मैंहीं और तेजस्वियों में तेज जो प्रताप सो मैं तथा जय और व्यवसाय कहे उद्यमभी मैं और सतोगुणी जितने हैं उन में सतोगुण हम हैं॥३६॥ और वृष्णि वंशियोंमें वासुदेव कृष्ण हम हैं जो तुमको उपदेश करते हैं और पाण्डवों में अर्जुन जो तुम सो मैं हूं औ मुनियों में व्यासदेव तथा कवियों में उसना कहे शुक्र हम हैं॥३७॥ दम करनेवालों में दण्डरूप हम तथा जीतने वालोंकी नीति रीति हमें मानो गुह्य पदार्थोंमें मौन जो सो हम और ज्ञानवानोंमें

पिसर्वभूतानांवीजंतदहमर्ज्जुन। नतदस्तिविनायत्स्यान्मयाभूतंचराचरं ॥ ३९ ॥
नान्तोऽस्तिममदिव्यानांविभूतीनांपरन्तप। एषतूद्देशतःप्रोक्तोविभूतेर्विस्तरोमया
॥ ४० ॥ यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वंश्रीमदूर्जितमेववा। तत्तदेवावगच्छत्वंममतेजोंशसम्भ
वः ॥ ४१ ॥ अथवाबहुनैतेनकिंज्ञातेनतवार्ज्जुन। विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेन
स्थितोजगत् ॥४२॥ इति श्रीभगवद्गीतायां विभूतियोगोनाम दशमोऽध्याय. ॥१०॥

भाषा अनुवाद

ज्ञानरूप भी हमी है ॥३८॥ और यावत जीवोंमे जो बीज सो हे अर्जुन हम है
और जो मेरे विना है सो कुछनही है अर्थात् चराचर मेरे विना कुछ वाकी नहीं
है ॥३९॥ जिस हेतु हे परन्तप अर्जुन मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है
इससे सम्पूर्ण कही नहीं जाय सकती है पर इतनी जो कहा सो उद्देश कहे संक्षेप
से मैंने लक्षित कराया है ॥४०॥ यह सुनिके अधिक श्रवणाकांक्षी अर्जुनसे भगवान
संक्षेपरूप अपनी सर्वरूपता कहै हैं कि ऐश्वर्ययुक्त अथवा बलयुक्त या प्रभावयुक्त तथा
विद्या बुद्धिरूप गुणयुक्त जो वस्तुमात है सो मेरे अंश औ प्रभावसे है यह जानो
अर्थात् उसमे मेरा विशेष अंश है ॥४१॥ अथवा हे अर्जुन इस सब बखेडे से तुमको
क्या प्रयोजन है सकल वस्तु मे हमको देखो यह कहते है कि यावत पदार्थ मे मै
व्यापरहा हों यह जगत मेरा रूप है मोहि छोडि और कुछ मावभी नही है ॥४२॥
इति श्रीजगन्नाथ शुकुल विरचित मनभावनी टीकायां योगशास्त्रे
विभूतियोग नाम दशमोध्याय ॥ १० ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

एकादश अध्यायः।

अर्जुनउवाच॥ मदनुग्रहायपरमंगुह्यमध्यात्मसंज्ञितं। यत्त्वयोक्तंवचस्तेन मोहोऽयंविगतोमम॥१॥ भवाप्ययौहिभूतानांश्रुतौविस्तरशोमया। त्वत्तःकमल पत्राक्षमाहात्म्यमपिचाव्ययं॥२॥ एवमेतद्यथात्थत्वमात्मानंपरमेश्वर। द्रष्टुमि

भाषा अनुवाद

श्रीभगवान कृष्णचन्द्र अति कृपाकरिके अपनीविभूतिका विभव जब कहा तब सो सुनि के दर्शनेच्छु अर्जुन को विष्टभ्याहमिदंकृत्स्नमेकांशेनस्थितोजगदित्यादि श्लोक से भगवान ने विश्वात्मक परमेश्वर स्वरूप प्रसङ्ग वशते देखाया तो अर्जुन भगवदुक्त पूर्व वचनों की प्रशंसा करते हुये अब एकादश अध्याय के आरम्भ में चारि श्लोक से कहते हैं कि अशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्यादि दूसरे अध्याय के ग्यारहें श्लोक से लेकर छठयें अध्याय तक मेरे शोक निवृत्तिके अर्थ परमात्मनिष्ठ अति गोपनीय आत्म औ अनात्म विचार के विषय जो वचन आपने कहा उन से हम हन्ता औ ये मलुगण हमारे मारने योग्य ऐसी जो मेरी भ्रम सो नष्ट हो गई क्यों कि आत्मा को कर्तृत्व आदि कुछ नहीं है यह आपने कहा सो ठीक ही है॥१॥ और भूतों की सृष्टि तथा प्रलय भी आप ही से होती यह भी मैंने विस्तार से सुना और हे कमलपत्राक्ष श्रीकृष्ण आप का अव्यय कहे अक्षय माहात्म्य भी आप से सुना इस से अब जीव सकल आप के अधीन हैं यह जाना और अहं कर्ता भोक्ता इत्यादि रूप मेरा मोह सम्पूर्ण दूर हो गया॥२॥ और जो आप ने सप्तम अध्याय में कहा कि भूत सृष्टि तथा प्रलय आदि कार्यों का कारण मैं हूं और दशम अध्याय के अन्त में कहा कि विष्टभ्याहमिदंकृत्स्न मेकांशेन स्थितो जगदिति

च्छामितेरूपमैश्वरंपुरुषोत्तम ॥३॥ मन्यसेयदितच्छक्यंमयाद्रष्टुमितिप्रभो। योगे
श्वरततोमेत्वंदर्शयात्मानमव्ययं ॥४॥ श्रीभगवानुवाच॥ पश्यमेपार्थरूपाणिशतशो
ऽथसहस्रशः। नानाविधानिदिव्यानिनानावर्णाकृतीनिच ॥५॥ पश्यादित्यान्वसून्
रुद्रानश्विनौमरुतस्तथा। बहून्यदृष्टपूर्वाणिपश्याश्चर्याणिभारत ॥ ६ ॥ इहैकस्थं
जगत्कृत्स्नंपश्याद्यसचराचरं। ममदेहेगुडाकेशयच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

भाषा अनुवाद

और अब भी जो रूप आप अपना कहते हो यह सब ऐसा ही है इसमें हमें कुछ सन्देह नहीं है तो भी हे पुरुषोत्तम ज्ञान ऐश्वर्य बल वीर्य औ तेज से सम्पन्न कहे युक्त तुमारे रूप को अति आश्चर्य से मै देखने की इच्छा करता हूं ॥ ३ ॥ और मेरी इच्छा देखनेकीहै इस हेतु आपको अपना रूप देखावना अब उचित है यह कुछ बड़ी बात नहीं है परन्तु हे योगेश्वर जो वह आपका ईश्वरस्वरूप हमारे देखने योग्य होय और हम देख सकैं तो हे प्रभो वही अव्ययस्वरूप अपना हमैं कृपाकरि दिखावो यह अर्जुनने भगवानसे कहा ॥४॥ जब ऐसी प्रार्थना अर्जुनने किया तब भगवान श्रीकृष्ण अपने रूपके देखावने का मनोरथ कर के अर्जुन को सावधान होउ यह कहि करिके चारि स्लोकमे कहतेहै कि हेपार्थ अर्जुन अपरिमित नाना प्रकारकेअलौकिक मेरेरूप अब तुम देखो और वर्ण कहे शुक्ल कृष्ण आदि आकृति कहे कर चरण अङ्ग सब यथायोग मेरा दिव्यरूप नानावर्ण आकृतिका जोहै सोतुम देखो जो देखा चाहतेहो॥५॥ अब सोई आप कहते है कि हे भारत सब आदित्य औ वसुगण रुद्रगण तथा अश्विनीकुमार औ मरुतगण ये सकल देवता को मेरी देह मे देखो और हे अर्जुन जो मेरा रूप न तुमने न और किसीने कभी देखा है ऐसा अद्भुत मेरारूप अब देखो॥६॥ और इस ब्रह्माण्डके बीच हर एक स्थानों मे भ्रमण करते हुये जो सूर्य चन्द्र ग्रह नक्षत्रादि समस्त चराचर जिन को कोटि वर्षमे भी कोई नही देखि सके है सो सब स्थावर जङ्गम समेत सम्पूर्ण जगत इस मेरी शरीर मे अवयव कहे अङ्ग रूप देखो और गुड़ाकेश अर्जुन जगत का आश्रय औ संसार की अवस्था तथा जय पराजय आदि जो कुछ और देखा चाहो सो सब मेरि रूप मे देखो ॥ ७ ॥ और जो अर्जुन ने कहा कि वह रूप मेरे

नतुमांशक्यसेद्रष्टुमनेनैवस्वचक्षुषा। दिव्यंददामितेचक्षुःपश्यमेयोगमैश्वरं॥८॥ संज
यउवाच। एवमुक्त्वाततोराजन्महायोगेश्वरोहरिः। दर्शयामासपार्थायपरमंरू
पमैश्वरं॥९॥ अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनं। अनेकदिव्याभरणंदिव्यानेकोद्य
तायुधं॥१०॥ दिव्यमाल्याम्बरधरंदिव्यगन्धानुलेपनं। सर्वाश्चर्यमयंदेवमनन्तंवि
श्वतोमुखं॥११॥ दिविसूर्यसहस्रस्यभवेद्युगपदुत्थिता। यदिभाःसदृशीसास्याद्भा
सस्तस्यमहात्मनः॥१२॥ तत्रैकस्थंजगत्कृत्स्नंप्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद्देवदेव
स्यशरीरेपाण्डवस्तदा॥१३॥ ततःसविस्मयाविष्टोहृष्टरोमाधनञ्जयः। प्रणम्यशिर

भाषा अनुवाद

देखने योग्य होय तो देखावो इस पर कहते हैं कि हे अर्जुन इन अपने चर्म चक्षु कहे चमडे की आखो से हमारे उस रूप को न देख सकोगे इस से हम तुम को अलौकिक दिव्य ज्ञानचक्षु देते हैं उनसे वह मेरा ईश्वर रूप अघटन घटना समर्थ का दर्शन करो॥ ८॥ इस प्रकार से कहि कर भगवानने अर्जुन को अपना विराट रूप देखाया तो वह रूप देखि अर्जुन श्रीकृष्णको जैसा जाना औ देखा सोई कु लोक से राजा धृतराष्ट्र के प्रति सञ्जय कहते हैं कि हे राजन् धृतराष्ट महात्मा श्रीकृष्ण योगेश्वर ने अर्जुन से ये सब बातें कह करके अपना ऐश्वर्यविशिष्ट परम स्वरूप अर्जुनको दर्शन कराया॥ ९ ॥ अब किस प्रकार का वह रूप है सो कहते हैं कि अनेक हैं वक्त्र कहे मुख औ नेत्र तथा अनेक अनेक हैं अद्भुत वस्तुओ का दर्शन जिस मे और अनेक दिव्य आभरण औ दिव्य आयुध धारण हैं जिस में ऐसा रूप भगवान ने अर्जुन को देखाया॥ १०॥ और दिव्य माल्य कहे पुष्प औ दिव्य अम्बर कहे वस्त्र तथा दिव्य गन्ध लेपन है जिस रूप मे और नाना आश्चर्य युक्त तथा अनन्त अपरिच्छिन्न औ सर्वत्र है मुख जिस मे सो रूप देखाया॥ ११॥ और उस रूप की निरूपम प्रभा प्रकाश करते हैं कि आकाश मे जो एक काल सहस्र सूर्य के उदय की प्रभा हो उठै तो कदाचित उन महात्मा की कान्ति के कोई अंश की उपमा होय तो होय नही तो उस रूप की उपमा कोइ नहीहै॥१२॥ तिस के बादि क्या भया सो कहते हैं कि उस समय अर्जुन को नाना प्रकार शरीर मे अनेक भागमे स्थित समस्त जगतको

सादेवंकृताञ्जलिरभाषत॥१४॥ अर्जुनउवाच ॥ पश्यामिदेवांस्तवदेवदेहेसर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् । ब्रह्माणमीशंकमलासनस्थमृषींश्चसर्वानुरगांश्चदिव्यान् ॥१५॥ अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रंपश्यामित्वांसर्वतोऽनन्तरूपं । नान्तंनमध्यंनपुनस्तवादिंपश्यामिविश्वेश्वरविश्वरूप ॥१६॥ किरीटिनंगदिनंचक्रिणञ्चतेजोराशिंसर्वतोदीप्तिमन्तं। पश्यामित्वांदुर्निरीक्ष्यंसमन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयं ॥१७॥ त्वमक्षरंपरमंवेदितव्यंत्वमस्यविश्वस्यपरंनिधानं । त्वमव्ययःशाश्वतधर्मगोप्तासनातनस्त्वंपुरुषोमतोमे ॥१८॥ अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुंशशिसूर्यनेत्रं । पश्यामित्वांदीप्तहु

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण एक अपनी शरीर मे एक बारगी देखाया ॥ १३ ॥ तब तो अर्जुन वह आश्चर्य रूप भगवान का रूप देखि अतिशय कौतुकयुक्त होय आनन्द से पुलकित भये और मस्तक झुकाय प्रणाम करि हाथजोडि यह वचन बोलते भये॥१४॥ अब सञ्जय सवह श्लोकमे अर्जुनके कहे हुये वचनों को कहते हैं कि हे कृष्ण आपकी शरीरमेआदित्य औ यावत्भूतसमूह अर्थात् जरायुज मनुष्य पशु और अण्डज पक्षी सर्प आदि औ स्वेदज जुंआं मत्कुड प्रभृति तथा उद्भिज्ज लता वृक्ष आदि ये सब देखता हौं और हे देव सकल देवता औ नाभि कमल मे ब्रह्मा बैठे तथा ईश महादेव और दिव्यऋषि वशिष्ट आदि औ उरग तक्षक आदिकोंकोभी देखता हूं और पद्मासनस्थ ब्रह्मा किसप्रकार देखपडते सो कहतेहैं कि पृथिवी रूप नाभि से उठा जो कमल स्वरूप सुमेरुगिरि तिस पर बैठे हुये ब्रह्माको देखों हौं ॥१५॥ और अनेक बाहु अनेक उदर अनेक मुख अनेक नेत्र तुमको सर्व्वत्र मे देखता हूं परन्तु हे विश्वरूप तुमारा आदि मध्यअन्त मानहो नहीं देखता हूं ॥१६॥ और मुकुट गदा चक्र युक्त तथा तेजःपुञ्ज सर्व्वत्र प्रकाशमान अति दुर्निरीक्ष्य चक्षु और प्रदीप्त अनल अर्कके समान तुमको मै देखता हूं ॥१७॥ जिस हेतु तुमारा ऐश्वर्य ऐसा अचिन्त्यहै इससे तुम अक्षर जो परब्रह्म मुमुक्षुलोगोंके जाननेयोग्य और तुम इस विश्व के निधान कहे परम आश्रयभूत हौ इससे तुम नित्य औ नित्य धर्मके पालक औं अनादि पुरुष मेरेमतमे हौ ॥१८॥ और अनादिमध्यअन्त वाहे उत्पत्तिस्थिति लय रहित औ अनन्त प्रभाव तथा अनन्त बाहु औ चन्द्र सूर्य हैं नेत्र जिसके ऐसे

ताशवक्त्रंस्वतेजसाविश्वमिदंतपन्तं ॥१९॥ द्यावापृथिव्योरिदमन्तरंहिव्याप्तंत्वयैकेन
दिशश्चसर्व्वाः। दृष्ट्वाद्भुतंरूपमिदंतवोग्रंलोकत्रयंप्रव्यथितंमहात्मन् ॥२०॥ अमीहि
त्वासुरसंघाविशन्तिकेचिद्भीताःप्राञ्जलयोगृणन्ति। स्वस्तीत्युक्त्वामहर्षिसिद्धसंघाःस्तु
वन्तित्वांस्तुतिभिःपुष्कलाभिः ॥२१॥ रुद्रादित्यावसवोयेचसाध्याविश्वेऽश्विनौमरुतश्चो
ष्मपाश्च। गन्धर्व्वयक्षासुरसिद्धसंघावीक्षन्तेत्वांविस्मिताश्चैवसर्वे ॥२२॥ रूपंमहत्ते
बहुवक्त्रनेत्रंमहाबाहोबहुबाहूरुपादं। बहूदरंबहुदंष्ट्राकरालंदृष्ट्वालोकाःप्रव्यथि
तास्तथाहं ॥२३॥ नभःस्पृशंदीप्तमनेकवर्णंव्यात्ताननंदीप्तविशालनेत्रं। दृष्ट्वाहित्वांप्र
व्यथितान्तरात्माधृतिंनविन्दामिशमञ्चविष्णो ॥२४॥ दंष्ट्राकरालानिचतेमुखानिदृष्ट्वै

भाषा अनुवाद

तुम को हम देखते हैं और अग्नि जिस के मुख में जाज्वल्यमान है ऐसे आप
अपने तेज से इस विश्वभर को सन्तप्त करते हुये तुम को मैं देखौं हौं ॥ १९ ॥
और हे महात्मन् स्वर्ग औ पृथिवी तथा अन्तरिक्ष और सकल दिशा एक आप से
व्याप्त हैं सो यह उग्र रूप आप का देखि के त्रैलोक्य अति भय खाता है ॥ २० ॥
और ये सम्पूर्ण देवता भयमाय तुमारे शरणागतहैं और कोई अति भीतहोय दूर
खड़े करजोड़े जय जय रक्ष रक्ष पुकार पुकार प्रार्थना करतेहैं और महर्षि तथा
सिद्धसंघ तुम को देखते स्वस्ति वचन उंचारते हुये सम्पूर्ण स्तुति से स्तुति करते
हैं ॥ २१ ॥ और रुद्रगण आदित्यगण वसुगण औ साध्यगण देवगण तथा विश्वे
देवा अश्विनीकुमार औ मरुतगण पितृगण उष्ण द्रव्य पान करनेवाले पितृगण धर्म
शास्त्र औ श्रुति मे ऐसे कहा कि पितृगण तब तक मौन भोजन करते जब तक
अन्न उष्ण है और यावत् पितृ उद्देश करिके दिये हुये अन्न का गुण वर्णन रूप
मधु वातादि वैदिक मन्त्र पाठ समाप्त न होय तावत् पितर अन्न खाते हैं और
गन्धर्वगण यक्षगण और विरोचन प्रभृति असुरगण औ सिद्धगणये सकल विस्मय
युक्तहोकेतुमकोखड़े एकटकदेखतेहैं ॥२२॥ और हेमहाबाहो यह महान् तुमारा
रूप जिसमे बहुत मुख नेत्र बाहु उरु पाद उदरहैं और जो बहुतेरे बड़े बड़े
दांतोंसे अति कराल कहे भयानकहै इस को देखने सकल लोक व्यथायुक्तहैं और
मैभी अतिपीड़ित हौं ॥२३॥ और मैहीं केवल डरता हूं यह नहीं ऐसा यहरूप

नकालानलसन्निभानि। दिशोनजानेनलभेचशर्मप्रसीददेवेशजगन्निवास ॥ २५ ॥ अमीचत्वांधृतराष्ट्रस्यपुत्राःसर्वैसहैवावनिपालसंघैः। भीष्मद्रोणःसूतपुत्रस्तथासौस हास्मदीयैरपियोधमुख्यैः ॥२६॥ वक्त्राणितेत्वरमाणाविशन्तिदंष्ट्राकरालानिभयान कानि ॥ केचिद्विलग्नादशनान्तरेषुसंदृश्यन्तेचूर्णितैरुत्तमांगैः ॥२७॥ यथानदीनां बहवोऽम्बुवेगाःसमुद्रमेवाभिमुखाद्रवन्ति। तथातवामीनरलोकवीराविशन्तिवक्त्रा

भाषा अनुवाद

आकाश को परस करनेवाला अर्थात् अत्यव्यापी तेज युक्त नाना वर्ण विशिष्ट विस्तार को प्राप्त औ जलजलाते है विशाल कहे बडे बडे नेत्र जिस के ऐसे तुम को अवलोकन करि के, हे विष्णो हमारा अन्तरात्मा व्यथायुक्त है और मै इस रूप को देखते हुये शान्ति तथा धीरज किसी तरह नही धर सकता हूं ॥ २४ ॥ और हे देवेश तुमारा मुख देखि कर डर के मारे हमै दिशा भूलि गई और सुख शान्ति पावते नहीं हे जगन्निवास अब प्रसन्न होउ अब कैसा मुख देखि कर डर भया सो कहते कि बडे बडे कराल दांतो से भयानक जो प्रलयाग्नि के समान है ॥ २५ ॥ और जो कहा कि अन्यत् जो चाहो पराजय है सो भी इस मेरी शरीर मे देखो सोई देखि अब अर्जुन पांच श्लोक से कहते है कि जयद्रथ प्रभृति राजगण समेत ये धृतराष्ट्र के पुत दुर्योधनादि तुमारे मुख मे प्रवेश करते है और भीष्म द्रोण औ सूतपुत्र कर्ण ये भी तुमारे मुख मे प्रवेश करते है और यही सब नहीं प्रवेश करते है बलु प्रतियोधा अर्थात् हमारे पक्ष के भी शिखण्डी धृष्टद्युम्न प्रभृति को के समेत वे सवप्रवेश करते है ॥ २६ ॥ और ये दुर्योधनादिक धावते हुये तुमारे विकट दन्तो से कराल मुख मे प्रवेश करते है और तिनके बीच कोई कोई योद्धा मस्तक चूर्ण हुये तुमारे दांतो के मध्य सन्धिमे लपटे से देख पडते है ॥ २७ ॥ अब उनके प्रवेश विषय मे दृष्टान्त कहते है कि जैसे अनेक अनेक मार्ग से नदियो के धारा प्रवाह समुद्र के अभिमुख धाये भये जायकर समुद्र मे प्रवेश करते है तैसेही ये नरलोक के वीर सकल जाज्वल्यमान तुमारे मुखमे पैठते जाते है ॥ २८ ॥ वे वश रूप प्रवेश मे नदी का दृष्टान्त कहिकर अब बुद्धिपूर्वक प्रवेश करने मे

ण्यभितोज्वलन्ति ॥२८॥ यथाप्रदीप्तज्वलनंपतङ्गाविशन्तिनाशायसमृद्धवेगाः। त
थैवनाशायविशन्तिलोकास्तवापिवक्त्राणिसमृद्धवेगाः॥२९॥ लेलिह्यसेग्रसमानःसम
न्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः। तेजोभिरापूर्यजगत्समग्रंभासस्तवोग्राःप्रतपन्ति
विष्णो॥३०॥ आख्याहिमेकोभवानुग्ररूपोनमोऽस्तुतेदेववरप्रसीद। विज्ञातुमि
च्छामिभवन्तमाद्यंनहिप्रजानामितवप्रवृत्तिं॥३१॥ श्रीभगवानुवाच। कालोऽस्मि
लोकक्षयकृत्प्रवृद्धोलोकान्समाहर्तुमिहप्रवृत्तः। ऋतेऽपित्वानभविष्यन्तिसर्वेयेऽवस्थि
ताःप्रत्यनीकेषुयोधाः॥३२॥ तस्मात्त्वमुत्तिष्ठयशोलभस्वजित्वाशत्रून्भुङ्क्ष्वराज्यंसमृ

भाषा अनुवाद

दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे बडे वेग औ उत्साह से पतङ्ग जो पांखी ते सब नाशके
निमित्त दीप शिखा में जाय जाय गिरते औ मरते हैं तैसे ही अति वेगसे ये सब
वीर मनुष्य नाश के अर्थ तुमारे मुख में आय आय कर प्रवेश करते हैं॥ २९॥
और प्रवेश के अनन्तर फेरि क्या होता सो कहते हैं कि तुम भी अति भयानक
जिह्वा लहलहाते हुये मानो त्रैलोक्य लील वे को रसना पसारी है अपने तेज से
समग्र जगत को सन्तप्त करते भये उन सब वीरों को ग्रास कहे भक्षण करने की
इच्छा करते हौ॥ ३०॥ हे महाराज जिससे तुमारा ऐसा उग्ररूप है इससे
आपकौ हौ सो कहो और हम तुमको प्रणाम करते हैं हे देवश्रेष्ठ तुम मेरे पर
अब प्रसन्न होउ और आदि पुरुष जो तुम सो तुमको मैं जाना चाहता हूं और
एवंभूत जो तुम तुमारी प्रवृत्ति कहे वार्त्ता कुछभी हम नहीं जान सकते हैं॥३१॥
इस प्रकार अर्जुन से प्रार्थना किये गये श्रीभगवान तीनि लोक से कहते हैं कि
मैं सकल लोकका क्षय करनेवाला कालरूप हौं और प्राणियोंको संहार करनेकी
इच्छा करि इस लोक में प्रवृत्त कहे प्रगट भया हौं सो एक तुमको छोडि और
कोई एस से न बचैगे अर्थात् प्रति सेना में जो भीष्म द्रोण आदि योद्धा हैं वे
सबके सब मरैंगे॥ ३२॥ जिस हेतु ऐसा होनहार है इस से तुम युद्ध के अर्थ
उठो और देवतों से भी अजय जो भीष्म द्रोण आदि वीर सो अर्जुन से पराजित
भये इस यश को लाभ करो और शत्रुवों का विनाश करि के संपूर्ण राज्य भोग
करो और ये जो तुमारे हैं शत्रु तिन को युद्धके पर्व्व हीं काल रूप मैंने पहिले हत

हं। मयैवैतेनिहताःपूर्वमेवनिमित्तमात्रंभवसव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥ द्रोणञ्चभीष्म ञ्चजयद्रथञ्चकर्णंतथान्यानपियोधवीरान्। मयाहतांस्त्वंजहिमाव्यथिष्ठायुध्यस्वजेतासिरणेसपत्नान् ॥३४॥ सञ्जयउवाच। एतच्छ्रुत्वावचनंकेशवस्यकृताञ्जलिर्वेपमानःकिरीटी। नमस्कृत्वाभूयएवाहकृष्णंसगद्गदंभीतभीतःप्रणम्य ॥३५॥ अर्जुनउवाच। स्थानेहृषीकेशतवप्रकीर्त्याजगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यतेच। रक्षांसिभीतानिदिशो द्रवन्तिसर्वेनमस्यन्तिचसिद्धसंघाः ॥३६॥ कस्माच्चतेननमेरन्महात्मन्गरीयसेब्रह्म

भाषा अनुवाद

करि राखा है तौ भी हे सव्यसाचिन् अर्जुन तुम निमित्त मात्र होउ सव्यसाची उसको कहते जो बायें हाथ से युद्धादि कार्य करि सकै हैं ॥३३॥ और जो पूर्व मे अर्जुन ने शंका किया कि हम इन को जीतैंगे या येई हम को मारलें यह हम नही जानतेहैं उसका वारण करतेहुये कहतेहैं कि जिनमे तुमको शङ्का भईथी वे सब मुझसे हत भयेहैं जो द्रोणभीष्म जयद्रथ कर्ण तथा और और जो वीर उन सबको तुम जय करो और उनसे रत्तीभर न डरो तुम अवश्य ही जीतोगे ॥३४॥ तिसके बादि जो भया सो संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि ये श्रीकृष्णके वचन सुनि करि कम्पमान कलेवर किरीटी अर्जुन हर्ष औ भयकेमारे गद्गदकण्ठ अतिरडसे डरे कैसे हाथजोड़ि श्रीकृष्णको प्रणाम करके वक्ष्यमाण कहे आगेकहैंगे जो बातैं कहते भये ॥ ३५ ॥ अब इस श्लोक से अर्जुन कहते हैं कि हे हृषीकेश जिस हेतु तुम ऐसे अद्भुत प्रभाव से युक्त औ भक्तवत्सल हौ इससे तुमारा माहात्म संकीर्तन करने से केवल हमीने जो हर्ष पाया सो नहीं किन्तु ब्रह्माण्डभर अति हर्षित औ प्रीतियुक्त है यह उचित है और इस ब्रह्माण्डमे जो सब सज्जन प्रसन्न औ राक्षस सकल डरके मारे दश दिशामे भागे फिरते है और योग तप मन्त्र आदिके द्वारा सिद्धगण तुम को प्रणाम करते है यह कुछ आश्चर्य नहीं है ॥३६॥ और सबके हर्ष औ प्रणाम करनेमे अवहेतु कहते हैं कि हे महात्मन् हे अनन्त हे जगन्निवास श्रीकृष्ण क्योंन ये सब प्रणाम करैंगे कि जो तुम ब्रह्माकेभी आदि कर्त्ता कहे जनक और गुरु हौ और सत् कहे व्यक्त प्रगट जो जगत औ असत जो अव्यक्त प्रकृति माया इन दोनोसे पर अर्थात् मूल कारण रूप अक्षर कहे अविनाशी जो ब्रह्म सो।

णोऽप्यादिकर्त्रे। अनन्तदेवेशजगन्निवासत्वमक्षरंसदसत्तत्परंयत् ॥३७॥ त्वमा
दिदेवःपुरुषःपुराणस्त्वमस्यविश्वस्यपरंनिधानं। वेत्तासिवेद्यञ्चपरञ्चधामत्वयाततं
विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥ वायुर्यमोऽग्निर्वरुणःशशाङ्कःप्रजापतिस्त्वंप्रपितामहश्च।
नमोनमस्तेऽस्तुसहस्रकृत्वःपुनश्चभूयोपिनमोनमस्ते॥३९॥ नमःपुरस्तादथपृष्ठतस्तेन
मोऽस्तुतेसर्वतएवसर्व।अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वंसर्वंसमाप्नोषिततोऽसिसर्वः ॥४०॥

भाषा अनुवाद

भी तुम हौ तौ नवधा भक्ति द्वारा जो सब तुम को प्रणाम करते हैं सो उचित है और संपूर्ण देवतों के आदि भूत जो अनादिपुरुष तुम सो इस विश्वके परनिधान कहे लयस्थान औ विश्वके ज्ञाता औ जो कुछ जानने के योग्य वस्तु है सो तुम हौ और परम धाम जो विष्णुपद सो भी तुम हौ इससे हे अनन्तरूप आप्य तुम इस विश्वमे व्याप्त हौ इन सात हेतुवों के द्वारा भी तुमही नमस्कार योग्य हौ ॥३७॥३८॥ जिस हेतु तुम सर्व देवरूप हौ इससे तुम सबके नमस्कार योग्य हौ ऐसे वचनोंसे भगवान् की स्तुति करिके अब अर्जुन आप प्रणाम करते हैं कि वायु यम अग्नि वरुण चन्द्र प्रजापति ब्रह्मा औ प्रपितामह ब्रह्माके भी जनक जो तुम सो मेरे सहस्र सहस्र प्रणाम तुमको हैं फेरि फेरि भी सहस्र सहस्र प्रणाम हैं ॥ ३९ ॥ भक्ति औ श्रद्धा तथा आदर की अधिकाई से भगवत् को नमस्कार करने से टप्ति न पाय के पुनर्वार और भी प्रणाम करते हैं कि हे सर्वात्मन् तुमारे सन्मुख औ पृष्ठभाग मे प्रणाम करता हूं और तुमारे सब ओर भी मेरी नमस्कार पहुंचै और भगवान की सर्वात्मकता सिद्ध करने की आकांक्षा पर कहते हैं कि जिस की अनन्त सामर्थ औ अपरिमित पराक्रम एवंभूत जो तुम विश्व के भीतर बाहर सम्यक् व्याप्त हौ जैसे सुवर्ण नानारूप से भूषणों मे व्याप्त है औ मृत्तिका घट आदि पात्रों मे जैसें व्याप्त है तैसे विश्वमे आप व्याप्त रहे हौ ॥ ४० ॥ अब दो श्लोकके द्वारा भगवान से अर्जुन अपनी अपराध क्षमा करावते हैं कि हे कृष्ण हे यादव हे सखे ऐसे वचनों से आपको अपना सखा मानि जो हठसे मैने तुमारी यह महिमा नजानिके अथवा भूलसे या प्रणय करके अर्थात प्रीति से कहा सो मेरी अनजान की असावधान की

सखेतिमत्वाप्रसभंयदुक्तंहेकृष्णहेयादवहेसखेति। अजानतामहिमानंतवेदंमयाप्रमादात्प्रणयेनवापि ॥४१॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोसिविहारशय्यासनभोजनेषु। एकोऽथवाप्यच्युततत्समक्षंतत्क्षामयेत्वामहमप्रमेयं ॥४२॥ पितासिलोकस्यचराचरस्यत्वमस्यपूज्यश्चगुरुर्गरीयान्। नत्वत्समोस्त्यभ्यधिकःकुतोऽन्योलोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥ तस्मात्प्रणम्यप्रणिधायकायंप्रसादयेत्वामहमीशमीड्यं। पितेवपुत्रस्यसखेवसख्युःप्रियःप्रियायार्हसिदेवसोढुं ॥४४॥ अदृष्टपूर्वंहृषितोऽस्मिदृष्ट्वाभयेनचप्र

भाषा अनुवाद

अपराध चूक आप क्षमा करो ॥४१॥ और हे अच्युत विहार शयन भोजन क्रीडा आदि मे अथवा सखागण रहित निर्जन स्थान मे जहां हम और तुम को छोड़ और कोई न था ऐसी जगह मे अथवा परिहास करने वाले मित्रों के बीच मे जो हमने हसने के लिये तिरस्कार आपका किया है सो सब अचिन्त्य प्रभाव आपसे हम क्षमा करवावते हैं ॥ ४२ ॥ अब भगवत् का अचिन्त्य प्रभाव कहते है कि हे अप्रतिम प्रभाव नहीं है प्रतिमा कहे उपमा ऐसा निरूपम प्रभाव है जिसका सो तुम इस चराचरात्मक लोक के पिता कहे उत्पत्ति करनेवाले पूजनीय तथा गुरु के भी गुरु हो इस हेतु परमेश्वर जो तुम तुमारे समान का त्रिलोकी मे कोई नहीहै तो अधिक फेर और कहां होय सकैहै यह अर्जुननेकहा ॥४३॥ इससे हे ईश स्वामिन् स्तुति के योग्य ईश्वर जो आप तिन को मै शरीर से दंडकी नाई अष्टाङ्ग प्रणाम करिके प्रसन्न करावताहूं कि जैसे पुत्रकी अपराध क्षमा करि के पिता साह लेता और मित्र की अपराध मित्र मन मे नही धरता तथा पत्नी की अपराध पति भी प्रीति से सह्य करता है तैसे ही हे देव पिता औ मित्र तथा स्वामी रूप आप भी मेरी अनजान बालक समान प्रीतिपात्र सेवक की अपराध क्षमा कीजिये ॥ ४४ ॥ इस प्रकार से क्षमा करायके अब अर्जुन दो श्लोक के द्वारा भगवान से प्रार्थना करते है कि हे देव श्रीकृष्ण अदृष्टपूर्व यह आपका रूप देखि के मै अति प्रसन्न भया हो परन्तु भय के मारे मेरा मन थिर नहीहै इससे हे देवेश जगतके निवास अब मेरेपर प्रसन्न होउ और वही पूर्वरूप देखावो यह प्रार्थना करता हूं ॥४५॥ अब सोई पूर्वरूप कहते है कि हे सहस्र

व्यथितंमनमे। तदेवमेदर्शयदेवरूपंप्रसीददेवेशजगन्निवास॥४५॥ किरीटिनंग
दिनंचक्रहस्तमिच्छामित्वांद्रष्टुमहंतथैव। तेनैवरूपेणचतुर्भुजेनसहस्रबाहोभवविश्व
मूर्त्ते॥४६॥ श्रीभगवानुवाच। मयाप्रसन्नेनतवार्जुनेदंरूपंपरंदर्शितमात्मयोगं।
तेजोमयंविश्वमनन्तमाद्यंयन्मेत्वदन्येननदृष्टपूर्वं॥४७॥ नवेदयज्ञाध्ययनैर्नदानैर्नच
क्रियाभिर्नतपोभिरुग्रैः। एवंरूपःशक्योऽहंनृलोकेद्रष्टुंत्वदन्येनकुरुप्रवीर॥४८॥
मातेव्यथामाचविमूढभावोदृष्ट्वारूपंघोरमीदृङ्ममेदं। व्यपेतभीःप्रीतमनाःपुनस्त्वंतदे

भाषा अनुवाद

वाहो हे विश्वमूर्त्ते सोई किरीट मुकुट दिये गदा औ चक्र हाथ में लिये आपको देखनेकी इच्छा करता हौं इससे अब आप इस विश्वरूपको संहार करिके वैसही चतुर्भुजरूप स्वरूप धारण करो॥४६॥ भगवान श्रीकृष्ण जब ऐसे प्रार्थना किये गये तब अर्जुन को समझाते हुये तीनि श्लोक से यह कहने लगे कि हे अर्जुन तुम भय काहे लिये करते हो मैंने अतिप्रसन्न होय अपनी योगमाया की सामर्थ्य से यह अपना अपूर्व उत्तमरूप तुम को कृपा करि के देखाया है और इस तेज मय विश्वात्मक आदि अन्त रहित मेरे रूप को तुमारे समान भक्त के विना किसी और भक्तने कभी भी नही देखा है॥४७॥ और यह अति दुर्लभ दर्शन पाय के तुम अब कृतार्थ भयेहौ सोई कहते है कि न वेद अध्ययन से न यज्ञ अध्ययन कहे यज्ञविद्या जो कल्परूप आदि कर्मकाण्ड के अर्थ संग्रह किये ग्रन्थ तिन से अर्थात् न यज्ञविद्याध्ययन से और न दान से न अग्निहोत्र आदि क्रियो से न चान्द्रायण आदि उग्र कठिन तपस्यो के द्वारा यह मेरा रूप नरलोक मे देखनेके शक्य है सो हे कुरुप्रवीर अर्जुन तुम को छोडि और कोई नही नृलोक मे इस रूप को देख शका है सो तुम मेरे अनुग्रह से इस मेरे रूप का दर्शन करि अपने को कृतार्थ भये जानो॥४८॥ जो ऐसा घोर भयानकरूप देखि तुमको क्षोभ होता है तो जिस मे तुमै मेरा रूप देखि व्यथा औ मूढता न होय इस से अब तुम विगतभय प्रसन्न चित्त होय फिरि हमारा सोई वह पूर्वरूप जो देखा चाहते हो सो देखो॥४९॥ ऐसे वचन कहि कर भगवानने अर्जुन को वही पूर्वरूप अपना देखाया यह सञ्जय धृतराष्ट्र से कहते है कि महात्मा वासुदेव श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को सोई

वमेरूपमिदंप्रपश्य ॥४९॥ सञ्जयउवाच । इत्यर्जुनंवासुदेवस्तथोक्त्वास्वकंरूपंदर्श
यामासभूय ।. आश्वासयामासचभीतमेनंभूत्वापुनःसौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥ अर्जुन
उवाच । दृष्ट्वेदंमानुषंरूपंतवसौम्यंजनार्दन । इदानीमस्मिसंवृत्त.सचेता प्रकृतिं
गत. ॥५१॥ श्रीभगवानुवाच । सुदुर्दर्शमिदंरूपंदृष्टवानसियन्मम । देवाअप्यस्यरू
पस्यनित्यंदर्शनकांक्षिणः ॥५२॥ नाहंवेदैर्नतपसानदानेननचेज्यया । शक्यएवंवि
धोद्रष्टुंदृष्टवानसियन्मम ॥५३॥ भक्त्यात्वनन्ययाशक्योअहमेवंविधोर्जुन । ज्ञातुंद्र
ष्टुञ्चतत्त्वेनप्रवेष्टुञ्चपरन्तप ॥५४॥ मत्कर्मकृन्मत्परमोमद्भक्तःसङ्गवर्जित । निर्वै
रःसर्वभूतेषुयःसमामेतिपाण्डव ॥५५॥ इतिविश्वरूपदर्शनोनामैकादशोध्यायः ॥११॥

भाषा अनुवाद

चतुर्भुज किरीटधारी अपना शान्तस्वरूप फेरि देखाया और डरे भये अर्जुन को आश्वास दिया ॥५०॥ तिसके अनन्तर निर्भय होय अर्जुन ने कहा कि हे जनार्दन तुमारा यह शान्त मनुष्य स्वरूप देखि मैं अब प्रसन्नचित्त औ सावधान भयौ हौं ॥५१॥ तिसके बादि भगवान अपनी कृपा की दुर्लभता देखावते हैं कि जो यह हमारा विश्वरूप स्वरूप तुम ने देखा इसका दर्शन अति दुर्लभ है देखो देवतागण भी इस रूप के दर्शन की इच्छा सर्वदा करते हैं परन्तु इसका दर्शन नहीं पावते हैं ॥ ५२ ॥ उस अपने रूप के दुर्लभ दर्शन मे कारण कहते हैं कि तुम ने जो रूप मेरा देखा वह वेद अध्ययन औ तपस्या या दान यज्ञ के द्वारा किसी की देखने की सामर्थ नहीं है ॥ ५३ ॥ तो फेरि कौन उपाय से आप दर्शन दे सकते हौ जो यह कहो तो कहते है कि अर्जुन अनन्य कहे मदेकचित्त भक्ति ही के द्वारा ऐसे विश्वरूप से हम प्रगट हो सकते हैं और वह भक्त भी हमै जानि सकै है और हे परन्तप अर्जुन शास्त्र से प्रत्यक्ष औ तदात्म रूप प्रवेश अर्थात् उस रूप मे लीन हम कराय सकते हैं और कोई भी उपाय नहीं है ॥ ५४ ॥ अब शास्त्र के अर्थ का सारांश परम रहस्य कहते हैं कि हे पाण्डव मत्कर्म हात कहें मेरी प्रीति के अर्थ जो कर्म करै है और मत्परम कहें मैंही हौं परम प्रयोजन जिसको और मद्भक्त कहें मेरे आश्रित यथा पुत्र स्त्री धन मे आसक्ति हीन और भूत कहे प्राणी मात्र मे वैर रहित जो है सोई हमको प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

द्वादश अध्यायः

अर्जुनउवाच। एवंसततयुक्तायेभक्तास्त्वांपर्युपासते। येचाप्यक्षरमव्यक्तंतेषांके
योगवित्तमा॥१॥ श्रीभगवानुवाच। मय्यावेश्यमनोयेमांनित्ययुक्ताउपासते। श्र
द्धयापरयोपेतास्तेमेयुक्ततमामताः॥२॥ येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तंपर्युपासते। स

भाषा अनुवाद

एकादश अध्यायके अन्तिम श्लोक से और नवम अध्याय के एकतिस श्लोकादि से भी सगुण भगवद्भक्त ही को श्रेष्ठ कहा और तेषां ज्ञानी नित्य युक्त एक भक्ति र्विशिष्यते इत्यादि सप्तम अध्यायके सत्रहें श्लोक से और सर्वं ज्ञान प्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि इत्यादि चतुर्थ अध्याय के छत्तिस श्लोकादि से भी ज्ञानी ही को श्रेष्ठ कहा है सो सगुण निर्गुण उपासना मे कौन उपासना श्रेय है अर्थात् जो भक्त सर्वज्ञ विश्वरूप सर्वशक्तिमान रूप तुम को ध्यान करता है सो कि जो अव्यक्त औ निर्विशेष अविनाशी ब्रह्म की उपासना करता है सो दोनो के मध्य मे कौन अतिशय योगवित् अर्थात् श्रेष्ठ है यह अर्जुन भगवान से पूछते भये॥१॥ तिन दोनो के बीच मे सगुण उपासना सुख साध्य है इस हेतु से भगवान सगुण उपासक भक्त को श्रेष्ठ कहते हुये उत्तर देते हैं कि सर्वज्ञत्व आदिगुण विशिष्ट परमेश्वर स्वरूप मेरे मे मन को एकाग्र करिके श्रद्धापूर्वक मत्प्रीत्यर्थ कर्म अनुष्ठान करने से मेरेमे निष्ठ कहे युक्त होय जो हमारी आराधना करता है सोई हमारे मत से युक्ततम कहे अति श्रेष्ठ है सो तुम तत्प्रीत्यर्थ कर्म करो॥२॥ और अक्षर ब्रह्मका लक्षण स्वरूप कहते हैं कि ब्रह्म अनिर्देश्य अर्थात् यह है ऐसा है इस कहने के अयोग्य है क्यों कि अव्यक्त कहे रूपादि रहित है औ

र्वत्रगमचिन्त्यञ्चकूटस्थमचलंध्रुवं ॥३॥ सन्नियम्येन्द्रियग्रामंसर्व्वत्रसमबुद्धयः। तेप्राप्नु
वन्तिमामेवसर्व्वभूतहितेरताः ॥४॥ क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसां। अव्य
क्ताहिगतिर्दुःखंदेहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥ येतुसर्व्वाणिकर्माणिमयिसंन्यस्यमत्पराः।
अनन्येनैवयोगेनमांध्यायन्तउपासते ॥६॥ तेषामहंसमुद्धर्त्तामृत्युसंसारसागरात्।

भाषा अनुवाद

सर्व व्यापी तथा निराकार हेतु से अचिन्त्य औ कूटस्थ अर्थात् कूट जो माया प्रपञ्च ब्रह्माण्ड तिसका अधिष्ठान कहे आश्रय रूप स्थित है और अचल कहे व्यापार रहित तथा ध्रुव कहे अचल नित्य हानि वृद्धि शून्य है तीन चार के श्लोक का अर्थ एक साथ है ॥ ३ ॥ जो निर्गुण के उपासकों को क्लेश अधिक है तो फेरि क्या निर्गुण के उपासक श्रेष्ठ नहीं है इस शंकापर दो श्लोक से कहते हैं कि जो समदर्शी जन इन्द्रियगणको अपने वशीभूत करके अक्षर कहे अविनाशी ब्रह्मका ध्यान करते हैं सो सकल भूतों के हितकारी निर्गुण उपासक मनुष्य भी हमको प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥ जो निर्गुण उपासक भी तुम को प्राप्त होते हैं तो सगुणोपासक युक्त कहे श्रेष्ठ जो आपने कहा सो कैसे संभव होय है इस शंका को निवारण करते हुये तीनि श्लोक से क्लेश हेतुक विशेष कहते हैं कि अव्यक्त निर्विशेष अक्षर ब्रह्म मे जिसका चित्त आसक्त भया उस को अधिक क्लेश होय है क्यों कि अव्यक्त ब्रह्म विषयक जो निष्ठा सो देहाभिमानी मनुष्य को अति दुख से प्राप्त होती है कारण यह कि स्थूल शरीर मे आत्म बुद्धि विशिष्ट मनुष्यों के मन को अन्तर्मुख वृत्तिका प्रत्यक कहे हर एक चैतन्य से निमग्न होना सर्वथा दुष्कर है ॥ ५ ॥ परन्तु मेरे भक्त मेरी कृपा से अनायास सिद्ध होते हैं यह दुइ श्लोक के द्वारा कहते हैं कि जो मनुष्य परमेश्वर सरूप मेरेको सकल कर्म अर्पणपूर्वक मत्परायण कहे अनन्य भावसे मेरेमे तत्पर होय है ते मेरा ध्यान उपासना करते है अनन्य भाव कहे नहीं है अन्य वस्तु मे भाव प्रीति जिस मे सो अनन्य भाव है ॥ ६ ॥ इस प्रकारसे जिनोने मेरेमे चित्त लगाया है उनका हे पार्थ तत्काल इस मृत्युयुक्त संसार सागर से उद्धार करनेवाला मै हौं अर्थात् एकाग्रचित्त भक्तजनों को मै संसार दुखसे उद्धारकर्त्ता हूं ॥ ७ ॥ इससे संकल्प विकल्पात्मक मनको

भवामिनचिरात्पार्थमय्यावेशितचेतसां ॥७॥ मय्येवमनआधत्स्वमयिबुद्धिंनिवेशय।
निवसिष्यसिमय्येवअतऊर्द्ध्वंनसंशयः ॥८॥ अथचित्तंसमाधातुंनशक्नोषिमयिस्थिरं।
अभ्यासयोगेनततोमामिच्छाप्तुंधनंजय ॥९॥ अभ्यासेऽप्यसमर्थोसिमत्कर्मपरमोभव।
मदर्थमपिकर्माणिकुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥ अथैतदप्यशक्तोऽसिकर्त्तुंमद्योगमा
श्रितः। सर्वकर्मफलत्यागंततःकुरुयतात्मवान् ॥११॥ श्रेयोहिज्ञानमभ्यासाज्ज्ञा

भाषा अनुवाद

मेरे मे थिर करो और व्यवसायात्मिका बुद्धिको भी मेरे मे लगावो तो देहके अन्तमे मेरी कृपा से तत्त्व ज्ञान को प्राप्त होय परमात्मा रूप मेरेमे स्थिति कहे वास करोगे इसमे कुछ संशय नहीं है सोई श्रुति कहती है कि सगुण उपासक को देहान्त होनेपर वह उपास्य देव परब्रह्ममन्त्र उपदेश करिके अपरोक्ष कहे साक्षात करदेय है ॥८॥ और सगुण उपासना मे अशक्त पुरुष को सुगम उपाय कहते हैं कि जो चित्तको मेरे मे थिर करने न शकै तो हे धनञ्जय अर्जुन विषय मे विक्षिप्त चित्त को विषयों से पुनः पुनः फेरि कर मेरे स्मरण की अभ्यास से हमै प्राप्त होने की यत्न करै ॥९॥ और जो अभ्यास करने मे समर्थ न होउ तो मत्प्रीत्यर्थ एकादशी उपवास व्रत पूजा औ नाम का कीर्त्तन आदि कर्म्म यो धर्म्म है उनमे तत्पर होउ क्यों कि मत्प्रीत्यर्थ कर्म्म करने से भी मुक्तिको प्राप्त होउ गे ॥१०॥ और इस भगवद्धर्मके भी असमर्थ पुरुष को दूसरी उपाय कहते है कि जो मत्प्रीत्यर्थ कर्म भी न करि शकै तो एक मेरी शरण होय औ चित्त वशीभूत करिके यावत् कर्मफलका परित्याग करै इस का तात्पर्य यह है कि अन्तर्यामी रूप ईश्वर की प्रेरणा से हमैं कर्म्म कर्त्तव्य है और इन कर्मो का दृष्ट अदृष्ट फल परमेश्वर के आधीन है ऐसा भाव मेरेमे आरोप करिकै फल की इच्छा त्याग पूर्वक कर्म्म करने से भी मेरी कृपा से कृतार्थ होउगे ॥११॥ और उक्त फल त्याग की प्रशंसा करते हैं कि सगुण की उपासना मे सम्यक ज्ञान रहित जो अभ्यास तिससे युक्ति सहित उपदेश पूर्वक यह सगुण उपासना का अङ्ग भूत जो परोक्षज्ञान सो श्रेष्ठ है और उस ज्ञानसे भी ध्यान अधिक है और तिससे भी कर्म्मफलका त्याग श्रेष्ठ है क्यों कि कर्म औ कर्म्मफल मे आसक्ति निवृत्त होने पर मेरी अनुग्रह से शीघ्र संसार की

नाद्ध्यानंविशिष्यते। ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरं ॥१२॥ अद्वेष्टा सर्वभूतानांमैत्रःकरुणएवच। निर्ममोनिरहङ्कारःसमदुःखसुखःक्षमी ॥१३॥ सन्तुष्टःसततंयोगीयतात्माढृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्योमद्भक्तःसमेप्रियः ॥ १४ ॥ यस्मान्नोद्विजतेलोकोलोकान्नोद्विजतेचयः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तोयःसचमेप्रियः ॥१५॥ अनपेक्षःशुचिर्दक्षउदासीनगतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागीयोमद्भक्तःसमे प्रियः ॥१६॥ योनहृष्यतिनद्वेष्टिनशोचतिनकांक्षति। शुभाशुभपरित्यागीभक्ति

भाषा अनुवाद

शान्ति होय है ॥१२॥ अब पूर्व उक्त भक्तके ऊपर शीघ्र भगवतकी कृपा होनेका हेतु रूप सकल धर्म आठ श्लोक से कहते हैं कि साधारण से सब जीवों के साथ निर्वैर और सबका मित्र तथा दयावान अर्थात् समान से मैत्री औ हीनपर कृपा कारी और ममता विहीन अहङ्कारशून्य औ क्षमालुता से दूसरे का सुख दुख देखि अपने सुख दुखके समान जो जानै है ऐसे अपने सुख दुखमेभी समबुद्धि औ क्षमाशील पर मेरी शीघ्र प्रसन्नता होती है ॥ १३ ॥ और हानि लाभ मे प्रसन्न चित्त तथा अप्रमत्त वशीभूत स्वभाव औ सतविषय मे दृढ निश्चय और मेरे मे अर्पण किया है मन बुद्धि जिसने ऐसा जो मेरा भक्त सो हमै अतिही प्रिय है ॥१४॥ और जिस पुरुषसे लोग भयके द्वारा उद्वेग कहे चित्तक्षोभ नही पावते और जिस को लोगों से उद्वेग नहीं होता है और जो इष्ट होने से प्रसन्न औ अनिष्ट होनेसे अप्रसन्न तथा आमर्ष कहे दूसरे की लाभ न देखि सकना ये सब जिसके नहीं है और भय उद्वेगसे मुक्त जो मेरा भक्त सो मोंहि परम प्रिय है ॥१५॥ और जिस को अनायास प्राप्त धनकी भी इच्छा नहीं और भीतर बाहर शुचि कहे पवित्र है औ दक्ष कहे आलस्य रहित तथा पक्षपात वर्जित औ गतव्यथ कहे आधिव्याधि शून्य और सर्व आरम्भ कहे उद्यम का त्यागी ऐसा जो सो भक्त मेरा प्रीय है आधि मन की चिन्ता है और व्याधि रोग को कहते है ॥ १६ ॥ और जो प्रिय वस्तु पाय के सन्तुष्ट औ अप्रिय पायके असन्तुष्ट न होय और इष्ट के नाश होने पर भी शोचता नहीं और किसी अप्राप्त वस्तु की आकांक्षाभी जिसके मनसे नही है और शुभ अशुभ कहे पुण्य पाप का भी त्यागी कहे त्याग का अधिकारी है ऐसा भक्ति

मान्यःसमेप्रियः ॥१७॥ समःशत्रौचमित्रेचतथामानापमानयोः । शीतोष्णसुख
दुःखेषुसमःसङ्गविवर्जितः ॥१८॥ तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनीसन्तुष्टोयेनकेनचित् । अ
निकेतःस्थिरमतिर्भक्तिमान्मेप्रियोनरः ॥१९॥ येतुधर्म्यामृतमिदंयथोक्तंपर्युपासते ।
श्रद्दधानामत्परमाभक्तास्तेऽतीवमेप्रियाः ॥ २० ॥ इति श्रीभगवद्गीतायां सूप
निषत्सुभक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

भाषा अनुवाद

युक्त मनुष्य हमें प्रिय होता है ॥१७॥ और शत्रु मित्र दोनोके प्रति समान कहे
प्रीति विरोध रहित और मान अपमान में भी हर्ष विषाद रहित है और शीत
उष्ण सुख दुखमे एकरूप है तथा सङ्गवर्जित कहे विषयोंमे आसक्ति रहित पुरुष
जो है ॥ १८ ॥ और निन्दा स्तुति जिसको तुल्य हैं और जो मौनी कहे विरुद्ध
वचन तथा बकवाद रहित होय जो कुछ यथा लाभसे सन्तुष्ट है तथा अनिकेत कहे
निवासस्थान शून्य और स्थिरमति अर्थात् वशीभूतचित्त है जिनके ऐसे गुणयुक्त नर
मेरे को परम प्रिय है ॥ १९ ॥ यही सब पूर्वोक्त धर्म अमृत कहे मुक्ति रूप है
इनको यथोक्तरूप से जो श्रद्धायुक्त उपासना करते हैं और मत्परता कहे मैंहीं
हौ परम परायण जिन को ऐसे मेरे भक्त मुझे अतिशय प्रिय होते हैं ॥ २० ॥
इति जगन्नाथ सुक्लविरचित मनभावनी भाषा टीकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

त्रयोदश अध्यायः

श्रीभगवानुवाच। इदंशरीरंकौन्तेयक्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्योवेत्तितंप्राहुः क्षेत्रज्ञइतितद्विदः॥ १॥ क्षेत्रज्ञञ्चापिमांविद्धिसर्वक्षेत्रेषुभारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो

भाषा अनुवाद

अब इस तेरहे अध्याय मे तत्त्व ज्ञान वर्णन किया जाता है कि हे पार्थ अर्जुन मृत्युयुक्त संसार सागर से सगुण उपासक अपने भक्तो को मै उद्धार करता हूं इत्यादि द्वादश अध्याय के सप्तम श्लोक मे भगवत अङ्गीकृत जो संसारोद्धरण सो तत्त्वज्ञानके बिना असंभव है इस हेतु तत्त्वज्ञान उपदेश करनेके अर्थ भगवान यह प्रकृति पुरुष विवेक अध्यायका आरम्भ करते है कि जो प्रकृति पुरुष विवेक सप्तम अध्याय के पञ्चम श्लोक मे परा अपरा प्रकृति द्वय रूप कहा है जिस प्रकृतिके द्वारा अविवेक वशते यह चेतन का अंश जीव भावको प्राप्त होय संसारी होता है और जिस प्रकृति द्वयके द्वारा जीवके उपभोगार्थ परमेश्वर भी सृष्टि आदि कर्म मे प्रवृत्त होते है क्षेत्र पदवाच्य परस्पर भिन्नस्वरूप द्वय प्रकृति को स्वरूप से निरूपण करने के लिये भगवान श्रीकृष्ण कहते है कि हे कौन्तेय क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ दोनो के विचार कारी लोग इस भोगायतन भोगसाधन शरीर को क्षेत्र कहते है क्यो कि यह शरीर संसार शस्य के अंकुर होने की भूमि है और जो इस शरीर को जानता अर्थात् हम हमारा यह विचारता है उस को क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ विवेकी जन क्षेत्रज्ञ कहते है जिस हेतु क्षेत्रज्ञ किसान के समान इस देह रूप क्षेत्र का फल भोग करता है ॥ १ ॥ क्षेत्रज्ञका व्यावहारिक स्वरूप कहा अब पारमार्थिक असंसारिस्वरूप कहते है कि हे भारत अर्जुन सोई

ज्ञानंयत्तज्ज्ञानंमतंमम ॥२॥ तत्क्षेत्रंयच्चयादृक्चयद्विकारियतश्चयत्। सचयो यत्प्रभावश्चतत्समासेनमेशृणु ॥३॥ ऋषिभिर्बहुधागीतंछन्दोभिर्विविधैःपृथक्। ब

भाषा अनुवाद

क्षेत्रज्ञ संसारी जो जीव तिसे यावत् क्षेत्र का आधार रूप हम को जानो क्यों कि साम वेदके तत्त्वमसि महावाक्य का लक्ष्य अर्थ चिदंशमात्रके मेरे ही रूपका प्रतिपादन किया है और क्षेत्र यथा क्षेत्रज्ञ इन दोनो का जो पृथक रूप ज्ञान सोई मेरे मतसे मुक्तिका हेतु है और सब ज्ञान प्रतिबन्धके कारण है तथापि सोई कर्म जो बन्धका हेतु न होय और सोई विद्या जो मुक्तिकी हेतु होय बाकी कर्म सब परिश्रमके हेतु और विद्या सकल शिल्पनैपुण्य मात्र अर्थात् कारीगरीकी चातुरी है यह जानो ॥ २ ॥ यद्यपि यहा चोविस प्रकार की प्रकृति को क्षेत्र कहते है तोभी देहरूप परिणाम कहे रूपान्तर प्राप्ति को प्राप्त भई वही प्रकृति में अहंरूप अविवेक हेतु से सोई प्रकृति के विवेक के अर्थ इस शरीर को क्षेत्रमात कहा उसीके विस्तार की इच्छा से प्रतिज्ञा करते हैं कि मेरा किया हुवा जो चक्र स्वरूप जड दृश्य आदि स्वभाव और याद्दश इच्छादि धर्मयुक्त और जैसे इन्द्रियादि विकार से युक्त और जैसे प्रकृतिपुरुष के संयोग से जन्मे, और जिस प्रकार स्थावर जङ्गम भेद से नानारूप होय सोई जो क्षेत्रज्ञ स्वरूप से जो है और अचिन्त्य ऐश्वर्य्य के द्वारा जो जो प्रभाव से सम्पन्न होय है सो सब संक्षेप से हमसे श्रवण करो यह भगवान अर्जुन से कहा ॥ ३ ॥ जिसके कहे विस्तार वचनका यह संक्षेप है तो इसपर कहते हैं कि जो वशिष्टा दिकोंने योग शास्त्रमे ध्यान धारणादिका विषय रूप परमेश्वरका विराटरूप नाना प्रकार से निरूपण किया है और जो वशिष्टादिकों ने नित्यनैमित्तिक काम्यकर्म आदि विविध प्रकार से वेदके द्वारा भिन्न भिन्न अनेक पूजनीय देवतारूप से प्रगट किया है और ब्रह्मसूत्र अर्थात् जिससे ब्रह्मका निरूपण होता है तात्पर्य यह कि जिससे समस्त भूत जन्मते हैं इत्यादि तटस्थ लक्षणरूप उपनिषद् वाक्य जो ब्रह्मसूत्र और जिसके द्वारा ब्रह्मका साक्षात्कार ज्ञान किया जाता है एता वता स्वरूप लक्षण अर्थात् सोई ब्रह्म सत्य है ऐसा ज्ञान और आनन्दरूप इत्यादि

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैवहेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥ महाभूतान्यहङ्कारोबुद्धिरव्यक्तमेवच । इन्द्रियाणिदशैकञ्चपञ्चचेन्द्रियगोचराः ॥५॥ इच्छाद्वेषःसुखंदुःखंसंघातश्चेतनाधृतिः एतत्क्षेत्रंसमासेनसविकारमुदाहृतं ॥ ६ ॥ अमानित्वमदम्भित्वमहिंसाक्षान्तिरार्ज

भाषा अनुवाद

श्रुतियोंने हेतु युक्त पद कहा अर्थात् हे सोम्य इस सृष्टिके पूर्व यह जगत् सत मात्र था असत से सत कैसे जन्मै है जो इस हृदय आकाशमे आनन्दरूप आत्मा न होता तो अपान औ प्राण वायु की चेष्टा कौन करता इससे यह आत्माही प्राणियों को आनन्द युक्त करै है इन सब श्रुति विशिष्ट ब्रह्म सूत्रादिकों से कहा है सोई संक्षेप से सुनो अथवा नित्यनैमित्तिक प्रायश्चित्त उपासनारूप साधन चतुष्टय से सम्पन्न होनेके अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा करै इत्यादि वेदव्यास प्रणीत को ब्रह्मसूत्र कहते है परमेश्वर के ईक्षितृत्व हेतु से प्रकृति को जगत का कारण नहीं कहि सकते है और सब श्रुतियो मे आत्मा को आनन्दमय कहा है इससे ये आनन्दमय हैं इत्यादि युक्तियों से निश्चित है अर्थ जिन सूत्रोंका सोई कहा हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥ और क्षेत्र स्वरूप दो श्लोक से कहते है कि महाभूत कहे क्षिति जल अग्नि वायु आकाश और इनका कारणरूप अहङ्कार और विज्ञानात्मिका बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व और अव्यक्त कहे मूल प्रकृति और पांच ज्ञान इन्द्री तथा एक सङ्कल्पविकल्पात्मक मन और पांच इन्द्रिय गोचर कहे शब्द आदि तन्मात्रा विशेषरूप से इन्द्रिय ग्राह्य विषय येई क्षेत्र स्वरूप चौविस तत्त्व कहे है ॥ ५ ॥ और इच्छा द्वेष सुख दुख औ संघात कहे शरीर औ चेतना कहे ज्ञानात्मक अन्तःकरण की वृत्ति जो बुद्धि औ धैर्य्य ये सब क्षेत्र हैं इससे ये आत्माके धर्म नहीं है अन्तःकरण हीं के धर्म है तो शरीर धर्मही इनको कहा चाहिये सो श्रुति मे कहा है कि कामना संकल्प संशय श्रद्धा अश्रद्धा धैर्य्य अधैर्य्य लज्जा बुद्धि भय ये सब अन्तःकरणके व्यापार है इस वचन से यही अध्यायके तीसरे श्लोकमे जो कहा क्षेत्रधर्म सो देखाया है और इन्द्रिय आदि विकार सहित क्षेत्र को मैंने संक्षेपरूप तुमसे कहा ॥६॥ अब उक्त क्षेत्र से पृथक जो ज्ञेय कहे जानवे योग क्षेत्रज्ञ तिस को विस्ताररूप वर्णन की इच्छा करि क्षेत्रज्ञ के ज्ञान होनेके साधन पांच श्लोक

वं । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥ इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं ॥८॥ असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥ ज्ञेयं

भाषा अनुवाद

से कहते हैं कि अमानित्व अदम्भित्व अहिंसा कहे मान कपट परपीड़ा रहित औ क्षान्ति कहे क्षमा औ आर्जव जो सीधापन औ आचार्योपासन जो गुरु सेवन और शौच कहे बाह्य अन्तर शुद्धि औ भाव शुद्धसे अन्तःशुद्धि जानो और स्थैर्य कहे सत् मार्ग मे प्रवृत्ति औ उसी एक मे तत्परता तथा आत्मविनिग्रह कहे शरीर संयम ॥ ७ ॥ और इन्द्रियार्थ जो रूप आदि विषय तिनसे वैराग्य औ अनहङ्कारता तथा जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुख दोष इनको वार वार देखना चाहिये ॥ ८ ॥ और पुत्र दारा धन आदिमे असक्ति कहे प्रीतित्याग और पुत्रादि मे सुख दुख देखि जो मै सुखी अथवा दुखी हूं ऐसा मानिलेना अभिष्वङ्ग है तिसका त्याग और इष्ट औ अनिष्ट दोनो की प्राप्तिमे सर्वदा समचित्त कहे चित्तकी एक रूपता अर्थात् सावधान चित्त रहना ॥ ९ ॥ और परमेश्वररूप मेरे मे अनन्य योग अर्थात् सर्वत्र आत्मदृष्टि से अव्यभिचारिणी एकान्त भक्ति और विविक्त कहे शुद्ध अथवा चित्त प्रसन्नकारी जो निर्जन देश वहां की वास औ संसारी व्यवहारी दुष्ट मनुष्यों की सभामे अरुचि ॥ १० ॥ और आत्मा को अधिकार करि के वर्त्तमान जो ज्ञान तिस मे नित्यभाव अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य के तत्पद औ त्वं पद के अर्थ पर विश्वास और तत्त्वज्ञान का फल जो मुक्ति तिसी को श्रेष्ठ रूप से आलोचन करना इस से अमानित्व अदंभित्व आदि जो बीस कहे गये सोई ज्ञान के साधन स्वरूप है यह वशिष्ठादिकोने कहा है और इन बीसो के विपरीत जो मान दम्भ हिंसा आदि बीस है तेई ज्ञानके विरोधी हैं औ अज्ञान के स्वरूप जानो इस से वे सदा वर्जनीय है ॥ ११ ॥ और इस सब साधन से जिस को जानना होता है तिस को छ श्लोक से कहते है कि जो जानने योग है

यत्तत्प्रवच्यामियज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते । अनादिमत्परंब्रह्मनसत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतःपाणिपादंतत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं । सर्वतःश्रुतिमल्लोकेसर्वमावृत्यतिष्ठति ॥
१३॥ सर्वेन्द्रियगुणाभासंसर्वेन्द्रियविवर्जितं । असक्तंसर्वभृच्चैवनिर्गुणंगुणभोक्तृच

भाषा अनुवाद

सोई मैं यह कहूंगा परन्तु श्रोतोओंता के आदर सिद्ध होने के लिये वही ज्ञान का फल देखावते है कि मैं जो ज्ञान की बात कहूंगा सो जानि के लोग मुक्ति पावते हैं और सो ज्ञेय पदार्थ क्या है इस पर कहते है कि वह अनादि औ पर कहे निरतिशय ब्रह्मरूप यही ज्ञेय ब्रह्म न सत् न असत् अर्थात् सत असत् शब्द से नही कहा जाता तात्पर्य यह कि सत कहे जो विधि मुख से प्रमाण का विषय औ असत् कहे जो निषेध का विषय सोई सत् असत् कहावता है यह तो ब्रह्म अविषय हेतु अर्थात् विषय न होनेसे उन दोनो से भिन्न ही है ॥१२॥ और जो ऐसा कहो कि ब्रह्म सत् असत् से भिन्न है तो यह चराचरात्मक ब्रह्माण्ड ब्रह्म है इत्यादि श्रुति से विरुद्ध होय है यह शङ्का करिके इस ब्रह्म की नाना प्रकार शक्ति औ ज्ञानक्रिया बलक्रिया आदि स्वभावसिद्ध नाना मतके द्वारा श्रुतियोंसे कहा जाय है इस तरह ब्रह्मकी सर्वात्मता दिखाय अब पाच श्लोकसे कहते है कि सर्वत्र हस्त पाद चक्षु मस्तक मुख जिस के है सो सर्वत्रही श्रवण इन्द्रीयसे युक्त होय सब लोक को व्याप्त हो के स्थित है अर्थात् यावत् प्राणीयोमे वर्तमान कर चरण आदि उपाधियोसे व्यवहार करे है ॥१३॥ और चक्षु आदि इन्द्रियों के गुणस्वरूप अर्थात् रूपादि विषय मे तिस तिस आकार से वही प्रकाशमान है अथवा इन्द्रिय और गुण कहे इन्द्रियो के विषय रूपादि समस्त मे सोई प्रकाश करता है इस से सर्व इन्द्री गुण आभास स्वरूप है और सम्पूर्ण इन्द्रीयो से रहित है सोई श्रुति कहती हैं कि सोई जो ब्रह्म सो हस्त रहित हो के भी ग्रहण करते औ पाद बिना भी वेगवान तथा चक्षुहीन द्रष्टा औ कर्ण विहीन श्रोता और इन सकल विषय को वे जानते है पर उनको कोई भी नही जानता है वही परमात्मा को वेद सब आदि पुरुष औ पूर्ण तथा सर्वव्यापी कहते है और वे असक्त कहे सत्वादि गुण रहित औ गुण के भोक्ता अर्थात् सत्वादि गुण समूह के प्रतिपालक है यह भगवान अर्जुन

॥१४॥ वहिरन्तश्चभूतानामचरंचरमेवच। सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयंदूरस्थंचान्तिकेच
तत् ॥ १५ ॥ अविभक्तञ्चभूतेषुविभक्तमिवचस्थितं। भूतभर्तृचतज्ज्ञेयंग्रसिष्णुप्रभ
विष्णुच ॥१६॥ ज्योतिषामपितज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते। ज्ञानंज्ञेयंज्ञानगम्यं

भाषा अनुवाद

मे कहा ॥ १४ ॥ और जैसे सुवर्ण के कार्य कड़ा कङ्गन कुण्डल आदि आभूषणो मे सोना कारण रूप मे भीतर बाहर वर्तमान है और जैसे जल तरङ्ग मे भी जल छोड़ि और नहीं है तथा आकाश जैसे सकल वस्तु के वहिरन्तर वर्तमान है तैसे ही ब्रह्मके कार्य स्वरूप चराचर आदि भूत समूहसे अन्तर वाहिरभी सोई ब्रह्महीं वर्तमान है क्यों कि तावत कार्य के कारण सोई है परन्तु ऐसे हो के भी रूपादि विहीन हेतु से यह इतने और ऐसे कर स्पष्टरूप जानवे योग्य नहीं है और यही ब्रह्म अज्ञानियों को लच्च योजनके समान दूर है क्योंकि विकार सहित जो प्रकृति तिस मे पर है और ज्ञानियों को अपरोक्ष रूप से नित्य निकट है सूक्ष्मता के कारण अज्ञानियों को अविज्ञेय और वेदशास्त्र मार्ग से चलनेवाले ज्ञानियों को विज्ञेय है अर्थात् जानिवे योग्य है इस को भी आकाश के नाईं जानो ॥ १५ ॥ और इस अध्याय के वारहें श्लोक से कहा जो ज्ञेयपदवाच्य ब्रह्मभूताख्य सो स्थावर जङ्गम समूह मे अविभक्त अर्थात् कारण रूप से अभिन्न और कार्य रूप से समुद्र फेन के समान भिन्न वर्तमान है और समस्त भूतों के भर्त्ता अर्थात् स्थिति कालमे प्रतिपालक औ प्रलय मे संहारक तथा सृष्टि काल मे स्वयं आप नाना कार्यरूप से प्रगट होते हैं ॥ १६ ॥ और सो ब्रह्म ज्योतिरूप जो सूर्य चन्द्र तारागण विद्युत औ अग्नि इन सब का ज्योति कहे प्रकाशक है जिस से ये सब प्रकाशमान हैं और ये सब जिस ब्रह्म को नहीं प्रकाश करि सकते हैं ऐसे ब्रह्म से यह समस्त जगत प्रकाशित है यह श्रुति कहती है इसी से तम जो अज्ञान तिस से पर है अर्थात् अज्ञान का लेश भी वहां नहीं है आदित्य वर्णंतमसः परस्तात् इस श्रुतिने कहा है और सोई ब्रह्म बुद्धिवृत्ति मे ज्ञान रूप प्रगट है और सोई रूपादि आकार रूप से ज्ञेय कहे जान योग्य है और ज्ञानगम्य अर्थात् पूर्वोक्त अमानित्व आदि लक्षण ज्ञान के साधनों से प्राप्य है क्यों कि प्राणी मात्र के हृदय मे नियन्ता ब्रह्म

हृदिसर्व्वस्यविष्ठितं ॥१७॥ इतिक्षेत्रंतथाज्ञानंज्ञेयञ्चोक्तंसमासतः। मद्भक्तएतद्वि ज्ञायमद्भावयोपपद्यते ॥१८॥ प्रकृतिंपुरुषञ्चैवविद्ध्यनादीउभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैवविद्धिप्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥ कार्य्यकारणकर्तृत्वेहेतुःप्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानांभोक्तृत्वेहेतुरुच्यते ॥२०॥ पुरुषःप्रकृतिस्थोहिभुंक्तेप्रकृतिजान्गुणान्।

भाषा अनुवाद

र्यामी चेतन रूप से स्थित है ॥ १७ ॥ अब अविकारी औ फल सहित कहा जो क्षेत्रादि उस का तात्पर्य कहते हैं कि इस अध्याय के पंचये श्लोक से लेकर और सत्रहें तक गेय स्वरूप जो वशिष्ठादि ऋषियों ने विस्तार से कहा है सो सबही ने संक्षेप से कहा सो मेरे भक्त यह जानि करि के मद्भावता की प्राप्ति होने के योग्य होते हैं अर्थात् मेरे भावको पावते हैं ॥ १८ ॥ क्षेत्र स्वरूप औ जो जड़ अदृश्य आदि हैं औ स्वभाव औ जैसा इच्छादि धर्म्मविशिष्ट सो सब पूर्व्व हीं विस्तार रूप से कह चुके अब पूर्व्व अङ्गीकृत यही क्षेत्र जैसे इन्द्रिय आदि विकार से युक्त और जैसे प्रकृति पुरुष संयोग से प्रगट होय है और जिस प्रकार स्थावर जङ्गम आदि भेद से भिन्न भिन्न स्वरूप होय है और सोई क्षेत्रज्ञ जो स्वरूप औ जैसे भावविशिष्ट है सो सब प्रकृति पुरुष को संसार हेतुत्व कहने के द्वारा पांच श्लोक से विस्तार रूप कहते हैं कि सोई प्रकृति औ पुरुष दोनो अनादि हैं जो इन का और कारण ढूंढोगे तो अनवस्था दोष पड़ेगा अर्थात् उसका कारण तिसका कारण ऐसे ठिकाना न लगैगा इससे सोई प्रकृति पुरुष को अनादि जानो तो ईश्वर की शक्ति प्रकृति भी अनादि है और ईश्वर का अंशभूत पुरुषभी अनादि है और देह इन्द्रिय आदि विकार तथा गुणरूप परिणामको प्राप्त जो सुख दुख मोह आदि सो सब प्रकृतिसे होते हैं यह जानो परमेश्वर औ तदीय कहे उनकी शक्तियोंको अना दित्व भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य्य ने विस्तारसे कहा है इस से इहां ग्रन्थ बढ़ने के डरसे मैंने नहीं कहा देह इन्द्री सुख दुख सब प्रकृति ही के कार्य हैं ॥ १९ ॥ भगवान श्रीकृष्ण सकल विकारको प्रकृति से उत्पन्न है यह देखाय इस अब पुरुष को संसार होनेका हेतु इस श्लोकसे देखावते हैं कि कार्य जो शरीर और कारण जो सुख दुख के साधन स्वरूप कहे करनेवाली इन्द्री सब और इन्द्रीयों को कर्तृत्व

इणंगुणसङ्गोऽस्यसदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥ उपद्रष्टानुमन्ताचभर्त्ताभोक्तामहेश्वरः । परमात्मेतिचाप्युक्तोदेहेऽस्मिन्पुरुषःपरः ॥२२॥ यएवंवेत्तिपुरुषंप्रकृतिंच्चगुणैःसह ।

भाषा अनुवाद

कहे तीन तीन रूप हो जाना इस सब को कारणभूत प्रकृति है यह कपिल आदि ऋषियोंने कहा है और पुरुष जो जीव सो शरीर इन्द्रीय आदि क्षत सुख दुख सब का कारण स्वरूप कहा है तात्पर्य यह कि यद्यपि अचेतन प्रकृति आप से कुछ नहीं कर सकती और विकारी पुरुष को भी भोक्तृत्व कहे भोग करना यह अस भाव है तौभी कर्तृत्व शब्दका अर्थ यह है कि क्रिया करना अचेतन प्रकृतिको भी चैतन्यरूप जीव के अदृष्टवशते सम्भवै है जैसे अचेतन हो के भी अग्निज्वाला का ऊर्ध्वगमन औ वायुका तिर्यक कहे तिर्छा गमन और बच्चोको जैसे दूध रक्षण करै है तैसेही पुरुषकी सान्निध्य कहे अवलम्बनसे प्रकृति को कर्तृत्व है और भोक्तृत्व, जो सुख दुख का ज्ञान सो चेतन का धर्म है इस से प्रकृति सन्निधान कहे माया की निकटता को प्राप्त होय पुरुष को भी भोक्तृत्व कहा है ॥ २० ॥ जो कहो कि अविकारी औ जन्म रहित जो आत्मा तिस को भोक्तृत्व कहे भोगना कैसे सम्भव होय है कि जिस हेतु सोई पुरुष प्रकृतिस्थ अर्थात् प्रकृति का कार्य जो शरीर तिस मे तदात्मरूप होय वास करै है इस हेतु उस शरीर से प्रगट जो सुख दुख आदि तिन को भूल से भोग करै है जैसे मनुष्य कोइ वस्तु या द्रव्य पाय अपनी कर मानि लेय फेरि उसके जानेसे दुखी होय है कहो यहा दुख का कारण अभिमान छोड और क्या है और सत जो देव मनुष्य जोनि औ असत् जो पशु पक्षी आदि जोनि तिन मे जो इस पुरुष का जीव रूप जन्म है सो गुण कहे शुभ अशुभ कर्म्म कारी इन्द्रीगण तिन के सङ्ग से होय है सङ्ग ही ऊंची नीची देह धारण मे कारण रूप है यह जानो ॥ २१ ॥ उक्त रीति से प्रकृति जो माया तिस के अविवेक वशते जीव को अहं कर्त्ता अहं भोक्ता इत्यादि कल्पित मात्र संसार है पर विचार स्वरूप से तो इस जीव को संसार नही है इसी आशा पर अब पुरुष का स्वरूप कहते हैं कि इस प्रकृति का कार्य रूप जो शरीर तिस मे वर्तमान हो के भी जीव प्रकृति से भिन्न कहे प्रकृतिके गुणो से युक्त नही है उनसे अलग है क्योंकि ईश्वर

सर्वथावर्त्तमानोऽपिनसभूयोऽभिजायते ॥२३॥ ध्यानेनात्मनिपश्यन्तिकेचिदात्मानमात्मना। अन्येसांख्येनयोगेनकर्मयोगेनचापरे ॥२४॥ अन्येत्वेवमजानन्तःश्रुत्वा

भाषा अनुवाद

यह जीव उपद्रष्टा अर्थात् भिन्नरूपसे समीप मे रह कर देखनेवाला साक्षीमात्र है और अनुमन्ता अर्थात् समीप सम्बन्धसे अनुग्राहक कहे अनुमोदन कर्त्ता माननेवाला है सोइ श्रुति कहती है कि एक स्वयं प्रकाशरूप जो परमात्मा सो भूतमात्रमे निगूढ भावसे स्थित है और सर्वव्यापी तावत् प्राणीका अन्तर्यामी है और सकलकर्मका नियन्ता औ भूतमात्रका अधिष्ठानरूप और द्रष्टा औ सौसक्त भूतोंका चैतन्यकारी औ अद्वितीय तथा गुणोंसे अतीत कहे अलग है और यह पुरुष ईश्वर सम्बन्ध रूपसे भर्त्ता कहे पोषनकारी प्रतिपालक है और महेश्वर कहे ब्रह्मादिको का भी अधिपति अर्थात् स्वामी है सोई श्रुति है कि यह पुरुष सबका ईश्वर और सर्वभूतका अधिपति तथा भूतमात्रका प्रतिपालक है ॥ २२ ॥ ऐसी जो प्रकृति औ पुरुष तिनके विवेक के ज्ञानवान मनुष्यों की प्रशंसा करते है कि जो लोग ऐसे उपद्रष्टारूप पुरुषको जानते है तथा प्रकृतिको औ प्रकृतिके गुणरूप परिणामको प्राप्त कहे रूपान्तर को प्राप्त सुखदुख सहित को जानि सके है वेह मनुष्य संसार मे रहते सम्पूर्ण विधिको उल्लंघन करके भी पुनर्जन्म ग्रहण नही करते मुक्तही होते है यह जानो ॥२३॥ ऐसी जो प्रकृति तिस से भिन्न जो आत्मा तिसके ज्ञान होनेके विषयमे अनेक अनेक कल्पनारूप साधन दो श्लोकसे कहते है कि कोइ तो ध्यान कहे आत्माकाराकारित ज्ञानरूप धारावाहिक अन्तःकरण की वृत्तिसे इसी शरीरमे मनके द्वारा आत्माका दर्शन करतेहै और कोई सांख्य अर्थात् प्रकृति पुरुषका भेद आलोकनके द्वारा आत्माको देखते है कोइ यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधिरूप अष्टाग योगके क्रमसे जानते है और कितने एक निष्काम कर्मरूप भक्तियोग अनुष्ठान करके शुद्ध सतोगुण होय तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्मा को देखते रहते है यद्यपि ध्यानादि यथा योग्य क्रम से एकही है तौ भी तौन२ निष्ठा के भेद से भिन्न नाना मत कहा है ॥२४॥ और अब अति मन्द अधिकारियों के निस्तार को उपाय कहते है कि सांख्ययोग

न्येष्वउपासते। तेऽपिचातितरन्त्येवमृत्युंश्रुतिपरायणाः॥२५॥ यावत्संजायते किंचित्सत्त्वंस्थावरजङ्गमं। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धिभरतर्षभ॥२६॥ समंसर्वेषु भूतेषुतिष्ठन्तंपरमेश्वरं। विनश्यत्स्वविनश्यन्तंयःपश्यतिसपश्यति॥२७॥ समंप श्यन्हिसर्वत्रसमवस्थितमीश्वरं। नहिनस्त्यात्मनात्मानंततोयातिपरांगतिं॥२८॥ प्र

भाषा अनुवाद

आदि मार्ग से जैसे उपद्रष्टारूप आत्माको साक्षात्कार करने मे अर्थात् देखने मे जो अज्ञ हैं परन्तु और किसी आचार्य का उपदेश श्रवण करि के ध्यानमात्र करते हैं तेउ श्रद्धापूर्वक उपदेश श्रवण मे तत्पर होय क्रम से मृत्युयुक्त संसार से अवश्य मुक्त हो जाते हैं सोई अर्जुन तुम यह जानो॥२५॥ अब तृतीय चतुर्थ पञ्चम अध्याय मे कर्मयोग विस्तार से कहा और छठयें अठयें अध्याय मे ध्यानयोग का विस्तार कहा और सांख्यके द्वारा भिन्न किया हुआ जो आत्मा सोई ध्यान आदिका विषय है इस हेतु सांख्य ही को अध्याय समाप्ति पर्यन्त विस्तार करि के भगवान कहते हैं कि हे भरतर्षभ अर्जुन जो कुछ स्थावरजंगम आदि वस्तु उत्पन्न है सो सब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनोंके योगसेहै अर्थात् अविवेककृत जो आत्माका अध्यास अर्थात् संयोगहै तिस हेतुसे उत्पन्नमात्रहै यह निश्चयकरि जानो॥२६॥अविवेकसे संसार उत्पत्ति कहिकर अब संसारकी निवृत्तिके अर्थ प्रकृतिसे भिन्न स्वरूप जो आत्मा उसका शोभन दर्शन कहतेहैं कि स्थावर जंगमात्मक सर्व भूतमे निर्विशेष कहेसमान सत् रूप सम भावसे स्थायी परमात्माकोजो मनुष्य देखतेहैं और भूतोंके विनाशमे आत्माको अविनाशीरूप जोदेखतेहैं तेई शोभनरूप देखते है और कोई भीनहीं॥२७॥ और उस शोभन दर्शन होनेका कारण क्या है इस पर कहते हैं कि सोई शोभन देखने वाला मनुष्य यावत् भूतमात्र मे सम्यक प्रकार से अचर स्वरूप अवस्थित परमात्मा का दर्शन करि के आप अपने को नष्ट नहीं कर्त्ता अर्थात् सच्चिदानन्द आत्मा स्वरूप को अविद्या अज्ञान से आवरण करि के नाश नहीं करता है तिस से श्रेष्ठगति मुक्तिरूप को प्राप्त होता है और जो इस पूर्वोक्तरूप से नहीं देखता है सो शरीर ही को आत्मा करिके देखनेवाला शरीरके सहित अपने को अवश्य ही नष्ट कर्त्ता है सोई श्रुति कहती है कि जो उक्त प्रकार से आत्महा होता है

कृत्यैवचकर्माणिक्रियमाणानिसर्वशः। यःपश्यतितथात्मानमकर्त्तारंसपश्यति ॥२९॥
यदाभूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति। ततएवचविस्तारंब्रह्मसम्पद्यतेतदा ॥ ३० ॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपिकौन्तेयनकरोतिनलिप्यते

भाषा अनुवाद

सोई मरणके अनन्तर प्रकाश शून्य अन्धकार से आवृत जो स्थान तांहा को जाता है ॥२८॥ जो कहो कि शुभ अशुभ कर्म के कर्तृत्व हेतु से वैषम्य देख पडती है फेरि आत्माका समत्व कैसे है इस पर कहते हैं कि जो देह इन्द्रिय आकार मे रूपान्तर को प्राप्त प्रकृति के द्वारा नाना प्रकार क्रियमाण कर्म होते हैं जैसे जो मनुष्य देखे है और अपने को अकर्ता देखे है अर्थात् स्थूल शरीर मे अहं बुद्धि से आत्मा कर्ता होता है और स्वरूप से उसको कर्तृत्व नही है जैसे जो मनुष्य देखै है सो सम्यक देखै है सोई कहा है कि यःपश्यतिसपश्यति इति ॥२९॥ अब प्रकृति के सकल कार्यभूत औ तिन को कारण स्वरूप प्रकृति मात्र इस भेद के अभाव हेतुसे मनुष्य भूतगत भेदजनित आत्माका भेद नही देखैं है ऐसे मनुष्योंको ब्रह्मभाव प्राप्ति कहते हैं कि जब स्थावर जङ्गम भूतका पृथक भाव कहे भेद को जैसे देखते है कि एक यही परमेश्वर को शक्तिरूप प्रकृति से सृष्टि स्थिति प्रलय काल मे भूतों की उत्पत्ति पालन नाश निरन्तर देखते है और तत्तत्काल मे प्रकृतिस्वरूप मात्र देखते भूतों के अभेददर्शी लोग परिपूर्ण स्वरूप ब्रह्म हों है ॥३०॥और जो कहो कि पूर्वोक्तरूप आत्माके भेदका अभाव होनेसेभी संसारावस्था मे देह सम्बन्ध से जो कर्म और उन्ही कर्मोंका फलरूप जो सुखदुख आदि तिनके द्वारा वैषम्य भावतो नही दूरहो सकैहै इससे वैसे आत्माका सम्यक दर्शन कैसे संभव होय इस शङ्कापर कहते है कि जिसकी उत्पत्ति होतो उसका अवश्य आदि है और जो गुणयुक्त वस्तु है उसीको गुणके नाश होनेसे रूपान्तर प्राप्ति रूप विकार भी होता है किन्तु जिस हेतु यह जीव परमात्मा औ अनादि तथा निर्गुण हेतु से अव्यय अर्थात् अविकारी है इस से हे कौन्तेय शरीर में रहिके भी कोई कर्म नहीं कर्ता और कर्मफल मे भी लिप्त नही होता अर्थात् इसको कोई कर्म नही लगते है ॥ ३१ ॥ अब आत्माके कर्म न करने और कर्मफल मे लिप्त न

न्येभ्यउपासते। तेऽपिचातितरन्त्येवमृत्युंश्रुतिपरायणाः॥२५॥ यावत्संजायते
किंचित्सत्त्वंस्थावरजङ्गमं। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धिभरतर्षभ॥२६॥ समंसर्वेषु
भूतेषुतिष्ठन्तंपरमेश्वरं। विनश्यत्स्वविनश्यन्तंयःपश्यतिसपश्यति॥२७॥ समंप
श्यन्हिसर्वत्रसमवस्थितमीश्वरं। नहिनस्त्यात्मनात्मानंततोयातिपरांगतिं॥२८॥ प्र

भाषा अनुवाद

आदि मार्ग से जैसे उपद्रष्टारूप आत्माको साक्षात्कार करने से अर्थात् देखने मे
जो अज्ञ है परन्तु और किसी आचार्य का उपदेश श्रवण करि के ध्यानमात्र
करते है तेउ श्रद्धापूर्वक उपदेश श्रवण मे तत्पर होय क्रम से मृत्युयुक्त संसार से
अवश्य मुक्त हो जाते हैं सोई अर्जुन तुम यहजानो॥२५॥ अब तृतीय चतुर्थ पञ्चम
अध्याय मे कर्मयोग विस्तार से कहा और छठये अठये अध्याय मे ध्यानयोग का
विस्तार कहा और सांख्यके द्वारा भिन्न किया हुआ जो आत्मा सोई ध्यान आदिका
विषय है इस हेतु सांख्य ही को अध्याय समाप्ति पर्यन्त विस्तार करि के भगवान
कहते है कि हे भरतर्षभ अर्जुन जो कुछ स्थावरजंगम आदि वस्तु उत्पन्न है सो
सब क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनोंके योगमेहै अर्थात् अविवेककृत जो आत्माका अध्यास अर्थात्
संयोगहै तिस हेतुसे उत्पन्नमातहै यह निश्चयकर जानो॥२६॥ अविवेकसे संसार उत्प
त्ति कहिकार अब संसारकी निवृत्तिके अर्थ प्रकृतिसे भिन्न स्वरूप जो आत्मा उसका
शोभन दर्शन कहतेहै कि स्थावर जंगमात्मक सर्व भूतमे निर्विशेष करकेसमान सत्
रूप सम भावसे स्थायी परमात्माकोजो मनुष्य देखतेहै और भूतोंके विनाशमे आ
त्माको अविनाशीरूप जोदेखतेहै तेई शोभनरूप देखते है और कोई भी नही॥२७॥
और उस शोभन दर्शन होनेका कारण क्या है इस पर कहते है कि सोई शोभन
देखने वाला मनुष्य यावत् भूतमात्र मे सम्यक प्रकार से अचर स्वरूप अवस्थित
परमात्मा का दर्शन करि के आप अपने को नष्ट नही कर्त्ता अर्थात् सच्चिदानन्द
आत्मा स्वरूप को अविद्या अज्ञान से आवरण करि के नाश नही करता है तिस
से श्रेष्ठगति मुक्तिरूप को प्राप्त होता है और जो इस पूर्वोक्तरूप से नही देखता
है सो शरीर ही को आत्मा करिके देखनेवाला शरीरके सहित अपने को अवश्य
ही नष्ट कर्त्ता है सोई श्रुति कहती है कि जो उक्त प्रकार से आत्मद्रष्टा होता है

कृत्यैवचकर्माणिक्रियमाणानिसर्वशः। यःपश्यतितथात्मानमकर्तारंसपश्यति ॥२९॥
यथाभूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति। अतएवचविस्तारंब्रह्मसम्पद्यतेतदा ॥ ३० ॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः। शरीरस्थोऽपिकौन्तेयनकरोतिनलिप्यते

भाषा अनुवाद

सोई मरणके अनन्तर प्रकाश शून्य अन्धकार से आहत जो स्थान तांहा को जाता है ॥२८॥ जो कहो कि शुभ अशुभ कर्म के कर्तृत्व हेतु से वैषम्य देख पड़ती है फेरि आत्माका समत्व कैसे है इस पर कहते हैं कि जो देह इन्द्रिय आकार से रूपान्तर को प्राप्त प्रकृति के द्वारा नाना प्रकार क्रियमाण कर्म होते है जैसे जो मनुष्य देखै है और अपने को अकर्ता देखै है अर्थात् स्थूल शरीर में अहं बुद्धि से आत्मा कर्ता होता है और स्वरूप से उसको कर्तृत्व नहीं है ऐसे जो मनुष्य देखै है सो सम्यक देखै है सोई कहा है कि यःपश्यतिसपश्यति इति ॥२९॥ अब प्रकृति के सकल कार्यभूत औ तिन की कारण स्वरूप प्रकृति मात्र इस भेद के अभाव हेतुसे मनुष्य भूतगत भेदजनित आत्माका भेद नहीं देखै हैं ऐसे मनुष्योंको ब्रह्मभाव प्राप्ति कहते हैं कि जब स्थावर जङ्गम भूतका पृथक भाव कहे भेद को जैसे देखते है कि एक यही परमेश्वर की शक्तिरूप प्रकृति से सृष्टि स्थिति प्रलय काल से भूतों की उत्पत्ति पालन नाश निरन्तर देखते हैं और तत्तत्काल मे प्रकृतिस्वरूप मात्र देखते भूतों के अभेददर्शी लोग परिपूर्ण स्वरूप ब्रह्म हों है ॥३०॥और जो कहो कि पूर्वोक्तरूप आत्माके भेदका अभाव होनेसेभी संसारावस्था मे देह सम्बन्ध से जो कर्म और उन्ही कर्मोंका फलरूप जो सुखदुख आदि तिनके द्वारा वैषम्य भावतो नही दूरहो सकैहै इससे वैसे आत्माका सम्यक दर्शन कैसे संभव होय इस शङ्कापर कहते है कि जिसकी उत्पत्ति होती उसका अवश्य आदि है और जो गुणयुक्त वस्तु है उसीको गुणके नाश होनेसे रूपान्तर प्राप्ति रूप विकार भी होता है किन्तु जिस हेतु यह जीव परमात्मा औ अनादि तथा निर्गुण हेतु से अव्यय अर्थात् अविकारी है इस से हे कौन्तेय शरीर में रहिके भी कोई कर्म नहीं करता और कर्मफल मे भी लिप्त नहीं होता अर्थात् इसको कोई कर्म नहीं लगते हैं ॥ ३१ ॥ अब आत्माके कर्म न करने और कर्मफल मे लिप्त न

॥३१॥ यथासर्वगतंसौक्ष्म्यादाकाशंनोपलिप्यते। सर्वत्रावस्थितोदेहेतथात्मानोपलि
प्यते ॥ ३२ ॥ यथाप्रकाशयत्येकःकृत्स्नंलोकमिमंरविः। क्षेत्रंक्षेत्रीतथाकृत्स्नंप्र
काशयतिभारत ॥३३॥ क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरंज्ञानचक्षुषा। भूतप्रकृतिमोक्षञ्च
येविदुर्यान्तितेपरम् ॥३४॥ इतिप्रकृतिपुरुषविवेकयोगोनामत्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

भाषा अनुवाद

होने मे दृष्टान्त देते हुये हेतु कहते हैं कि जैसे सूक्ष्मता के हेतुसे सर्व गत आकाश पङ्क आदिमे रहते भी असंग हेतुसे पङ्क आदि उसको नहीं लगते अर्थात् पङ्क से वह लिप्त नहीं होता है तैसे ही यावत उत्तम मध्यम औ अधम शरीरों मे रहिके भी आत्मालिप्त नहीं होता है अर्थात् शरीरसंबंधी पुण्य पाप आदिसे युक्त नहीं होता है ॥ ३२ ॥ असंग हेतु से परमात्मा की निर्लेपता आकाशके दृष्टान्त से दिखाया अब प्रकाशक होके भी जो प्रकाश्य वस्तुवोंके धर्मसे आत्मा युक्त नहीं है यह सूर्यके दृष्टान्तसे कहते हैं कि हे भारत अर्जुन एक यही सूर्य जैसे समस्त लोकको प्रकाश करते हैं परन्तु प्रकाश्य वस्तुके गुणदोषसे लिप्त नहीं होते ऐसे ही क्षेत्री जो आत्मा सो क्षेत्र कहे शरीर आदि सबको प्रकाश करते भी देहादि के गुण दोष से लिप्त नहीं होता है यह तुम हमारी बात सत्य करके मानो हे भारत अर्जुन ॥३३॥ अब अध्यायके अर्थ का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार से उक्त जो क्षेत्र औ क्षेत्रज्ञ तिन दोनो का भेद जो मनुष्य विवेकज्ञानरूप चक्षु के द्वारा देखते हैं और यही पूर्व कही हुई जो प्रकृति तिससे मोक्ष अर्थात् मुक्तिका उपायरूप ध्यान धारण आदि जो जानते हैं तेई पुरुष परमपद को जाते हैं ॥ ३४ ॥ इति श्रीजगन्नाथ सुकुल बिरचित

मनभावनी टीकायां त्रयोदशोऽध्याय ॥ १३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

चतुर्दश अध्यायः ।

श्रीभगवानुवाच । परंभूयःप्रवक्ष्यामिज्ञानिनांज्ञानमुत्तमं । यद्‌ज्ञात्वामुनयःस र्वेपरांसिद्धिमितोगताः ॥१॥ इदंज्ञानमुपाश्रित्यममसाधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि

भाषा अनुवाद

तेरहें अध्याय के छवीसवें श्लोक मे जो कहा कि प्रकृति औ पुरुष के संयोग से संसार की उत्पत्ति होती है ऐसी निरीश्वरवादी सांख्य मत के अवलम्बियों की निश्चय के अनुसार संसार को स्वाधीनता नही है किन्तु ईश्वर की इच्छा के क्रम ही से सो होय है यह कहते हुये भगवान श्रीकृष्ण प्रकृति पुरुष की स्वाधीनता के निवारणपूर्वक सत्त्व आदि गुणोके संग से संसार की विचित्रता होती है और तेरहे अध्याय के एकइयये श्लोक मे कहा जो सत्वादि गुण से संसार की चित्रता सो अब चौदहें अध्यायमे विस्तारसे भगवान कहते है और जो अब कहैंगे उसकी प्रशंसा दो श्लोक से कहते है कि परम जो परमार्थ निष्ठ जिसके द्वारा जाना जाय ऐसा जो ज्ञान उपदेश सो फेरि तुमसे कहूंगा सो ज्ञान किस प्रकार का है इस अपेक्षा पर कहते है कि यह ज्ञान मोक्ष का हेतु है इससे तप औ कर्म आदि विषयक सकल ज्ञानों के बीच यह उत्तम है जिस को जानि के मुनिलोग स्थूल सूक्ष्म शरीर बन्धनसे छूटि श्रेष्ठ सिद्धिरूप मुक्ति को प्राप्त भये है इससे ज्ञानीयों का यह उत्तम ज्ञान है यहतुम जानो ॥१॥और यही ज्ञानअर्थात् ज्ञान का साधन जो अब तुम से कहूंगा तिस का अनुष्ठान करिके कहे आश्रय ले के सारूप्यमुक्ति को प्राप्त सकल मुनिजन सर्ग कहे ब्रह्मादिक की उत्पत्ति होने से भी उत्पन्न नही होते है और प्रलय काल मे भी प्रलय के दुख को नही भोगते है अर्थात् पुनरा

नोपजायन्तेप्रलयेनव्यथन्तिच ॥२॥ ममयोनिर्महद्ब्रह्मतस्मिन्गर्भंदधाम्यहं । सम्भ
वःसर्वभूतानांततोभवतिभारत ॥३॥ सर्वयोनिषुकौन्तेयमूर्त्तयःसम्भवन्तियाः । ता
सांब्रह्ममहद्योनिरहंबीजप्रदःपिता ॥४॥ सत्त्वंरजस्तमइतिगुणाःप्रकृतिसम्भवाः ।

भाषा अनुवाद

गमन से रहित हो जाते है ॥ २ ॥ उसी ज्ञानसाधन की प्रशंसा करि कै श्रोता अर्जुन की श्रवण की अभिलाष बढाय परमेश्वर के आधीन जो प्रकृति औ पुरुष ये दोनो सकल भूतमात्र की उत्पत्ति के कारण हैं परन्तु स्वाधीन प्रकृति पुरुष को कारणत्व नही है यही तात्पर्य अब कहते है कि प्रकृति देश औ काल से अपरि च्छिन्न अर्थात् सबसे भिन्न महत कहे अनन्त समस्त कार्य की हेतुरूप ब्रह्म है सो यही महत ब्रह्म नाम जो प्रकृति सो परमेश्वर स्वरूप हमारी जोनि है अर्थात् गर्भधारण का स्थान है सो इसी प्रकृति मे मै गर्भ कहे जगत के विस्तार का हेतु चिदाभास कहे चेतन अंश बीजरूप को स्थापन करता हूं और प्रलयकाल मे हमारे ही मे लीन होय है और अविद्या से उत्पन्न जो काम्यकर्म तिनके संस्कार से युक्त चेवज्ञ आत्मा को सृष्टिकाल मे भोग्य जो चेत्र कहे नाना प्रकार देह तिन मे सम्यक प्रकार से योग करता हूं और वही गर्भ आधानसे ब्रह्मा आदि समस्त भूतकी उत्पत्ति होती है हे भरत अर्जुन तुम श्रवण करो ॥३॥ केवल सृष्टिकाल ही मे प्रकृति पुरुषके द्वारा भूतो का जन्म होता है ऐसा न जानो परन्तु सदा सर्वदा प्रकृति पुरुष से प्रगट होते रहते यही कहते है कि हे कौन्तेय अर्जुन जितने मनुष्य आ योनि स्थावर ज ङ्गम रूप स्वरूप उत्पन्न होते है उन को निरन्तर बढावनेवाली प्रकृतिही योनि है अर्थात् माता है और बीज प्रदाता पिताकप गर्भाधान कर्त्ता पुरुषस्वरूप मै ही हौ ॥ ४ ॥ परमेश्वराधीन प्रकृति पुरुषके द्वारा प्राणियों की उत्पत्ति निरूपण करि कै अब प्रकृति के संयोग से पुरुष की संसार अवस्था इस श्लोक से ले कर चारि श्लोक पर्यन्त क्रम से विस्तार करि कहते है कि हे महाबाहो अर्जुन सत्त्व रज औ तम ये तीन गुणो की समान अवस्था रखनेवाली जो प्रकृति तिस से जिस की उत्पत्ति है उस मे गुणो के धर्म आव होंगे देखो प्रकृति से गुणो के अनुसार भिन्नभिन्न प्रगट होय प्रकृति के

निवध्नन्तिमहाबाहोदेहेदेहिनमव्ययं ॥५॥ तत्रसत्त्वंनिर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयं ।
सुखसंगेनवध्नातिज्ञानसंगेनचानघ ॥ ६ ॥ रजोरागात्मकंविद्धितृष्णासंगसमुद्भवं ।
तन्निवध्नातिकौन्तेयकर्मसंगेनदेहिनं ॥७॥ तमस्त्वज्ञानजंविद्धिमोहनंसर्वदेहिनां ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निवध्नातिभारत ॥८॥ सत्त्वंसुखेसञ्जयतिरजःकर्मणिभारत ।

भाषा अनुवाद

कार्यरूप शरीर मे अहंबुद्धि युक्त स्थित देही स्वरूप चिदंश आत्मा जो सचमुच अव्यय निर्विकार रूप है उसको भी गुण अच्छीतरह वद्ध करते है अर्थात् अपने कार्य सुख दुख मोह आदि से युक्त कर देते है ॥५॥ तिन गुणों के बीच मे सतो गुण का स्वरूप और उसके वन्धकत्व की प्रकार कहते है कि सतोगुण निर्मलता के हेतु से फटिक के समान प्रकाशक कहे दीप्तियुक्त और अनामय अर्थात् निरू पद्रव शान्त स्वरूप है इसीसे हे अनघनिष्पाप अर्जुन शान्त स्वरूप सतोगुण अपने कार्यरूप सुख मे जो आशक्ति के द्वारा वन्ध करता है और प्रकाशक है इस हेतु से अपने कार्यरूप ज्ञान मे जो आशक्ति उस मे भी वद्ध करता है अर्थात् हम सुखी हम ज्ञानी इत्यादि मन के सकल कर्म को तिस अभिमानी क्षेत्रज्ञरूप आत्मा से सम्बन्धरूप से योग कर देता है अनघ पद से जानाया कि गीता का अधिकारी पुण्यात्मा है ॥६॥ अब रजोगुण का स्वरूप और वन्धकत्व कहते है कि हे कौन्तेय अर्जुन रजोगुण को रागात्मक कहे अनुराग स्वरूप जानो इससे तृष्णा जो अप्राप्त वस्तु मे अभिलाष औ संग कहे प्राप्त विषय मे जो सम्पूर्ण आशक्ति इन दोनो का रजोगुण से उद्भव होता है सोई रजोगुण देही जीवको दृष्ट औ अदृष्ट अर्थ कर्मों की आशक्ति मे निश्चय वन्ध करते है क्योंकि तृष्णा औ संग के द्वारा समस्त कर्म मे आशक्ति होती है ॥ ७ ॥ अब तमोगुण का स्वरूप और वन्धकत्व कहते है कि तमोगुण अज्ञान से प्रगट है अर्थात् आवरण शक्ति प्रधान प्रकृति के अंश से प्रगट जानो इस से हे भारत अर्जुन यावत जीव का मोहकारी अर्थात् भ्रम उत्पन्न करै है तो क्यौन यह तमोगुण प्रमाद आलस्य औ निद्रा आदि दोष जीव को करेगा ॥८॥ सत्व आदि तीनो गुणों के स्वकार्य करने मे सामर्थ्य को आधिक्य कहते है कि हे भारत अर्जुन सतोगुण सुखमे युक्त करता है अर्थात् यद्यपि विषयसुख दुर्मा

ज्ञानमावृत्यतुतम प्रमादेसञ्जयत्युत ॥९॥ रजस्तमश्चाभिभूयसत्त्वंभवतिभारत।
रज.सत्त्वंतमश्चैवतम.सत्त्वंरजस्तथा ॥१०॥ सर्वद्वारेषुदेहेऽस्मिन्प्रकाशउपजायते।
ज्ञानंयदातदाविद्याद्विवृद्धंसत्त्वमित्युत ॥११॥ लोभप्रवृत्तिरारम्भःकर्मणामशमःस्पृ

भाषा अनुवाद

अहृया लोग से प्रगट सुख दुख शोक आदि का कारण स्वरूप है तौ भी जीव को सुख ही की ओर उन्मुख करता है और रजोगुण सुख आदिका कारण होके भी सर्व कर्मो मे युक्तकरता है ओर तमोगुण महात्मों के संग से उत्पन्नज्ञान को आवरण करि के असावधान कर देय है अर्थात् महात्मों के उत्तम उपदेश को नहीं समझने देय है और आलस्य आदि से अच्छीतरह युक्त कर देता है ॥९॥ अब सत्वादि तीनो गुणों के प्रवृत्त होने की रीति कहते हैं कि रजोगुण तमोगुण को, तिरस्कार कहे पराभव करिके सतोगुण प्रगट होय है अर्थात् जीव के अदृष्टवशते सत्व जन्मै है और अपने कार्य सुख आदि मे जीव को युक्त करै है ऐसे ही सत्व औ तमोगुण का पराभव करि रजोगुण जन्मै है और अपने कार्य तृष्णा आदि मे युक्त करता है तैसे ही सत्व रज को पराभव करि के तमोगुण प्रगट होय है और अपने कार्य प्रमाद आलस्य मे युक्त करि देता है ॥ १० ॥ अब विशेष से बढे हुये सत्व आदि तीनो गुण के लक्षण कहे चिह्न तीन श्लोक से कहते हैं कि इस भोगायतन कहे भोग भाण्ड शरीर मे श्रोत्र आदि समस्त द्वारा मे जिस समय शब्द आदि ज्ञान स्वरूप उत्पन्न होता है उस समय प्रकाशरूप चिह्न के द्वारा सतोगुण को विशेष बढाहुआ जानो और सुखआदि चिह्नसे भी सत्वकी वृद्धि जानो तात्पर्य यह कि इन्द्रियोंके द्वारा जो ज्ञान होता सो सतोगुण ही से होय है ॥११॥ और हे भरतर्षभ अर्जुन लोभ कहे बहुत धन रहते और पैदा होते भी धन को बार बार वृद्धिकरने की लापलाप अभिलाप और प्रवृत्ति कहे सदा ही व्यापार मे मन दिये रहना और आरम्भ अर्थाते कर्मो का आरम्भ घर बगीचा आभूषणादि बनाने मे उद्यम और अशम कहे मै यह कर्म करि के फेरि वह कर्म करूंगा यह जो नानासङ्कल्पसे मनका असन्तोष और स्पृहा कहेउत्तमअधम वस्तुदेखने हीं से जिस तरहहोय लेनेकीइच्छा ये सब चिह्नरजोगुण के बढनेसे होते हैं अर्थात् इन

ष्ठ। रजस्येतानिजायन्तेविवृद्धेभरतर्षभ ॥१२॥ अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्चप्रमादोमोह एवच। तमस्येतानिजायन्तेविवृद्धेकुरुनन्दन ॥१३॥ यदासत्त्वेप्रवृद्धेतुप्रलयंयातिदेहभृत्। तदोत्तमविदांलोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥ रजसिप्रलयंगत्वाकर्मसङ्गिषुजायते। तथाप्रलीनस्तमसिमूढयोनिषुजायते ॥१५॥ कर्मणःसुकृतस्याहुःसात्त्विकंनिर्मलंफलं। रजसस्तुफलंदुःखमज्ञानंतमसःफलं ॥१६॥ सत्त्वात्संजायतेज्ञानं रजसोलोभएवच। प्रमादमोहौतमसोभवतोऽज्ञानमेवच ॥ १७॥ ऊर्द्धंगच्छन्तिस

भाषा अनुवाद

लक्षणों से रजो गुण की वृद्धि जानो हे अर्जुन यह श्रीकृष्ण ने कहा ॥१२॥ और अप्रकाश कहे विचारका नाश और अप्रवृत्ति कहे निरुद्यम और प्रमाद कहे हर काम हर बात मे बेखबर और मोह कहे मिथ्या अभिनिवेश अर्थात् दुचितई या झूठे कारखाने मे मन देना ये सब चिह्न तमोगुणसे होते हैं औ इनि लक्षणों से तुम तमोगुण की वृद्धि जानो ॥१३॥ अब मरणकालमे विशेषसेवर्द्धमान सत्त्व आदि गुणों का फल विशेषरूप दो श्लोकसे कहते हैं कि जो सतोगुण की वृद्धिके समय मे देहधारी जीवशरीरको छोडैंतो हिरण्यगर्भ आदिकी उपासना करनेवाले मनुष्यों के प्रकाशमय सुख उपभोग करनेके जो स्थानहैं उन स्थान विशेषों को प्राप्त होय है ॥ १४॥ और रजोगुण की वृद्धि के समय मे मृत्यु प्राप्त होने से कर्म से आसक्त मनुष्य लोक मे जन्म होता है और तमोगुण के वृद्धि काल मे देह छूटने से पशु पक्षी आदि मूढ योनि मे जन्म पावै है ॥ १५ ॥ अब सत्त्व आदि गुणत्रय के अनुरूप कर्मों के द्वारा विचित्र फल प्राप्ति मे गुणों को हेतु कहते है कि कपिल आदि ऋषि सुकृत कहे सात्त्विक कर्म का फल सत्त्वप्रधान प्रकाशमय सुखफल कहते हैं और राजस कर्म का फल दुख कहते है और तामस कर्म का फल अज्ञान अर्थात् मूढता को कहते हैं किन्तु सात्त्विकादि कर्मका स्वरूप भगवान श्रीकृष्ण अठारहें अध्याय के तेईसश्लोक आदिसेलेकर कहैंगे ॥१६॥ अब पूर्वोक्त सत्वादि गुणकेफल स्वरूप सुख आदि का हेतु कहते है कि सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है इस से सात्विक कर्मका प्रकाश जो सुख सोई होता है औ रजोगुण से लोभ जन्मै है इस से लोभ पूर्वक सकाम कर्म का दुख ही फल होता है औ तमोगुण से प्रमाद मोह

त्याश्चामध्येतिष्ठन्तिराजसा। जघन्यगुणवृत्तिस्थाअधोगच्छन्तितामसा॥१८॥
नान्यंगुणेभ्यःकर्तारंयदाद्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्चपरंवेत्तिमद्भावंसोऽधिगच्छति॥
१९॥ गुणानेतानतीत्यत्रीन्देहीदेहसमुद्भवान्। जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृत
मश्नुते॥२०॥ अर्जुनउवाच। कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतोभवतिप्रभो। किमा

भाषा अनुवाद

तथा अज्ञान प्रगटे है इससे अज्ञान जड़ता यही फल होना उचित है॥१७॥ अब सतोगुण आदि आचरणशीलों के फल भेद कहते हैं कि सत्वस्थ कहे सतोगुण प्रधान पुरुषों को ऊर्द्ध लोक प्राप्त होते अर्थात् सत्व के प्रताप से पुण्य की अधिकता होती है उत्तरोत्तर कहे आगे आगे सो गुनी आनन्द स्वरूप होते हुये मनुष्य लोक गन्धर्व लोक पितृलोक देवलोक सत्यलोक पर्यन्त प्राप्त होते हैं और रजोगुण प्रधान मनुष्य लोभग्रस्त मध्यलोक में रहते हैं अर्थात् मनुष्यलोक में जन्मते हैं और जघन्य कहे निकृष्ट जो तमोगुणी मनुष्य जो प्रमाद मोहसे भरे पूरे हैं उनकी अधोगति होती है अर्थात् तमोगुण उनको घुमाकर के अन्धतम नरक में पहुंचाय देता है॥१८॥ पूर्वोक्त प्रकार प्रकृति के गुण संग से संसार की बाहुल्य कहे बहुताई कहि के अब प्रकृति से पुरुष का विवेक करने ही से मोक्ष होती है यह देखावते हैं कि जिस काल में द्रष्टा जीव विवेकी होके बुद्धि आदि रूप को प्राप्त होय सत्व आदि गुणों को छोड़ दूसरे किसी को कर्त्ता नहीं देखता बल्कि गुण ही सब कर्म करते हैं यही देखता है और सत्व आदि गुणों से पर कहे भिन्न स्वरूप सोई गुणादि का साक्षी आप अपने को जब जाने तब सो जीव मद्भावको प्राप्त होय अर्थात् ब्रह्मपद पावै॥१९॥ तिस के अनन्तर सत्व आदि गुण कृत सम्पूर्ण अनर्थ निरस होने ही से जो कृतार्थ होता है कहते हैं कि सम्यक् प्रकार से जिसका देहादि रूप से उद्भव अर्थात् देह रूप परिणाम को प्राप्त है सोई देह समुद्भव कहावै है इस से देही जो जीवात्मा सो देह रूप परिणाम को प्राप्त येई सत्व दि तीन गुणों के अतिक्रमण करनेसे परहै अर्थात गुणकृत जन्म मरण जरा व्याधि दुख आदिसे अच्छी प्रकार मुक्त होय अमृत जो परम आनन्द ताे लाभ करता है॥२०॥ जीव यह गुण त्रय से अतिक्रान्त कहे अलग होने से मुक्ति पावता है यह भगवान

चार:कथंचैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥२१॥ श्रीभगवानुवाच। प्रकाशञ्चप्रवृत्तिञ्च मोहमेवचपाण्डव। नद्वेष्टिसंप्रवृत्तानिनानिवृत्तानिकांक्षति॥२२॥ उदासीनवदा

भाषा अनुवाद

श्रीकृष्ण के मुख से श्रवण करिके गुणातीत मनुष्य के लक्षण और उन मनुष्यों का आचरण औ गुणो के अतिक्रम की उपाय सम्यक प्रकार से जानने की इच्छा करिके अर्जुन भगवान से कहते हैं कि हे प्रभो देही जो जीव सो किस प्रकार आपसे उत्पन्न लक्षण के द्वारा गुणातीत होय यह लक्षण पूछा और किमाचार कहे उसके आचरण कैसे होते अर्थात् किस प्रकार के व्यवहार से वर्त्तमान रहता है और किस उपाय से इन गुणों को अतिक्रमण करिके स्थिर होय है सो सब कृपा करि कहिके जो मेरो सन्देह दूर जाय॥२१॥ स्थित प्रज्ञस्य का भाषा यह दूसरे अध्यायके चौविस पचीस श्लोक आदि से यही बात अर्जुन ने पूछा भी था और उसका उत्तर भी भगवान दे चुके हैं तौ भी फेरि विशेष रूप से जानने की इच्छासे अर्जुन पूछते हैं यह विचार करि के भगवान दूसरे प्रकार से उनका लक्षण आदि इस श्लोकसे लेकर छः श्लोकसे कहते हैं और उनके बीच ईस एक श्लोक के द्वारा उनके लक्षण जनावते हैं कि सत्व आदि गुणो को उपलक्ष्य करि कै कहा जो प्रकाश अर्थात् सर्व द्वारेषु देहेस्मिन् यह इस अध्याय के एकादश श्लोक से कहा जो सतोगुण का कार्य और प्रवृत्ति जो रजोगुण का कार्य तथा मोहादि जो तमो गुण का कार्य ये समस्त कार्य यथाक्रम से आप मे प्रवृत्त होनेपर दुख विचारकरि के जो पुरुष द्वेष हेतु से औ निवृत्ति होने से सुख जानि इच्छा न करै सोई गुणातीत मनुष्य है यह जानो॥ २२॥ उक्त रूप अनायास बोधसे गम्य जो गुणातीत के लक्षण सो कहि कर गुणातीत का आचरण कैसा है इस दूसरे प्रश्न का उत्तर तीन श्लोक से कहते हैं कि उदासीन के समान साक्षी रूप स्थित होके सत्व आदि गुण के कार्य सुख दुख आदि से जो मनुष्य अविचलित है अर्थात् अपने दृष्टा स्वरूप से च्युत न होय के वजु सत्वादि गुण अपने अपने काम मे वर्त्तमान है इन से हम में कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ऐसे विवेक ज्ञानसे जो पुरुष चुपचाप मौन होय स्थित रहे और इस बातसे विचलित न होय

धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ...

सीनोगुणैर्योनविचाल्यते। गुणावर्त्तन्तइत्येवंयोऽवतिष्ठतिनेङ्गते ॥२३॥ समदुःखसु
खःस्वस्थःसमलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियोधीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्योमित्रारिपक्षयोः। सर्वारम्भपरित्यागीगुणातीतःसउच्य
ते ॥ २५ ॥ माञ्चयोऽव्यभिचारेणभक्तियोगेनसेवते। सगुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्म
भूयायकल्पते ॥२६॥ ब्रह्मणोहिप्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्यच। शाश्वतस्यचधर्मस्य
सुखस्यैकान्तिकस्यच ॥२७॥ इति गुणत्रयविभागयोगोनाम चतुर्दशोध्यायः ॥१४॥

भाषा अनुवाद

सो गुणातीत है ॥ २३ ॥ और जो मनुष्य सुख दुख मे समान और माटी पाथर
सोना आदि भी जिस के निकट समान हैं और सुख दुख के हेतु स्वरूप प्रिय
अप्रिय विषय मे जिस की बुद्धि तुल्य है और धीर धीमान जो हैं तथा अपनी
स्तुति औ निन्दा मे भी तुल्य बुद्धि हैं ॥ २४ ॥ और जो मनुष्य मान अपमान
मे एकभाव और मित्र शत्रु पक्ष मे समबुद्धि तथा जो दृष्ट अदृष्ट संपूर्ण अर्थके
उद्यमको त्याग करने मे समर्थ है ऐसे आचरण से युक्त पुरुषको गुणातीत
कहते हैं यह जानो ॥ २५ ॥ किस प्रकार सत्वादि गुणों को अतिक्रम करिके
वर्त्तमान रहैं इस प्रश्न का उत्तर करते हैं कि परमेश्वर स्वरूप हमारी जो सेवा
अव्यभिचारिणी ऐकान्तिक भक्ति के द्वारा जो मनुष्य करता है सोई मनुष्य गुण
त्रय को अच्छीतरह से अतिक्रम करिके मुक्ति प्राप्ति के योग्य होता है ॥ २६ ॥
अब पूर्वोक्त भगवद्भक्त के मोक्ष प्राप्ति के विषय मे हेतु कहते हैं कि जिस हेतु
ब्रह्म की प्रतिष्ठा जो प्रतिमा सो मै हूं अर्थात् घनीभूत प्रकाश मात्र जैसे सूर्य
मण्डल तद्रूप हम घनीभूत ब्रह्म हैं और नित्यमुक्त अव्यय के और अमृत जो
मुक्ति तिस के भी प्रतिमा हम हैं और शुद्ध सत्व मुक्ति के साधन स्वरूप सनातन
धर्म के भी प्रतिमा मूर्त्ति हम हैं और परमानन्द सुख के भी मूर्त्ति हमें जानो
इस से मेरे सेवक जनको सद्भाव रूप ब्रह्मत्व प्राप्ति की अवश्य सम्भावना है जिस
के आश्रय हेतु से असत जो सत के समान प्रतीयमान यह संसार तिससे हमारे
भक्त अनायास ही तर जाते हैं यही चौदहें अध्याय मे भगवानने कहा है ॥२७॥
इति श्रीजगन्नाथ सुकुल विरचित मनभावनी टीकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

पञ्चदश अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थंप्राहुरव्ययं। छन्दांसियस्यपर्णानि

भाषा अनुवाद

वैराग्यके विना ज्ञान औ भक्ति दुर्लभ है इस लिये पंद्रहें अध्याय मे भगवान श्रीकृष्ण वैराग्य सहित ज्ञान का उपदेश अर्जुन को दिया है और पूर्व चौदहें अध्याय के अन्तमे जो कहा कि मांच योऽव्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते इत्यादि छब्बिसयें श्लोकादि से कि एकान्त भक्ति से परमेश्वरका भजनकारी मनुष्य भगवत की कृपासे ज्ञान लाभके द्वारा मुक्त होता है सो विराग रहित पुरुष को एकांत भक्ति अथवा ज्ञान होता ही नहीं इसी हेतु से वैराग्य कथन पूर्वक ज्ञान उपदेश करनेके मनोरथ से प्रथम डेढ़ श्लोक करिके संसारस्वरूपको वृक्षरूप रूपक अलङ्कार से वर्णन करते हुये भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि ऊर्ध्वमूल कहे उत्तम अर्थात् क्षर अक्षर से भी उत्कृष्ट जो पुरुषोत्तम परमेश्वर सो संसार के मूल कारण है इसी से संसार ऊर्ध्वमूल है और अधःशाख कहे परमेश्वर की अपेक्षा अधः अर्थात् कार्यरूप उपाधि युक्त हिरण्यगर्भ आदि जो संसार की शाखा स्वरूप है सोई संसार को अधःशाख कहा है और यह संसार विनश्वर हेतुसे परदिन प्रभात लों रहेगा ऐसी विश्वास के योग्य नहीं है इसी से अश्वत्थ कहा और अठयें अध्यायके उनीसवें श्लोककी उक्त अभिप्राय से यह संसार प्रलय के अनन्तर पुन. पुनः कहे वार वार उत्पन्न होता है तो होना जाना इस हेर फेर लगे रहने से प्रवाहिक वृत्तिरूप इस संसारका विच्छेद नहीं है अर्थात् सदाही बना रहता है इससे अव्यय औ अनादि भी है और ऐसे ही श्रुतियो मे भी कहा

यस्तंवेदसवेदवित्॥१॥ अधश्चोर्द्ध्वंप्रसृतास्तस्यशाखागुणप्रवृद्धाविषयप्रवालाः। अध

भाषा अनुवाद

है और छन्द कहे वेद सकल इस संसार वृक्षके पत्र है अर्थात् धर्म अधर्मका प्रतिपादन करतेसे छायाके तुल्य है और कर्मफलके हेतु संसार वृक्षके आश्रित जीव समूह है यह कहते ऊर्ध्व वेद पत्र समान है जो मनुष्य ऐसे करके संसार अश्वत्थरूप को जानते है सोई वेदके अर्थवित् है तात्पर्य यह कि प्रपंचरूप संसार वृक्ष के मूल परमेश्वर और परमेश्वर के अंश स्वरूप जो ब्रह्मादिक सो सब शाखा समान है सोई वृक्ष विनश्वर औ प्रवाहरूपसे नित्य भी है और वेद विहित कर्मोके द्वारा संसार वृक्षकी सेवा करना भी कहा है इतनाही वेदों का निश्चित अर्थ है इससे इस वृक्षके ज्ञानीपुरुष को वेदवित् कहनाचाहिये॥१॥ और कार्यरूप उपाधि विशिष्ट हिरण्यगर्भ आदि जो सकल जीव सोइ शाखारूप पूर्व श्लोक मे कहा है तिन के मध्यमे जो अकर्म कारी अर्थात् कुत्सित कर्म करते है तेइ अधः अर्थात् पशुआदि योनिमे जाते है और जो सत् कर्म करते है वे उर्ध्व कहे देव योनि मे प्राप्त होय है येई संसार वृक्षके शाखा रूप सत्व आदि गुणों की वृत्तिसे जल सेचन के समान यथा योग बढते है और शाखाके अग्रतुल्य इन्द्रिय औ इन्द्रियों के विषय जो रूप रस आदि सोई प्रधान अर्थात् पत्र तुल्य हैं और अधोभाग मे ऊर्ध्व भागमे औ समस्त मूलमे परमेश्वर ही मुख्यमूल है और तद्भोगवासनारूप अवान्तर वासना सब अवान्तर मूल हैं और अवान्तर वासना के कार्य कहते है कि कर्म मात्र ही सकल वासना के अनुबन्ध अर्थात् उत्तर भावी कहे होन हार सोइ वासना समस्त मनुष्य लोक मे कर्म अनुबन्धी होती है अर्थात् ऊर्ध्व अधो लोकमे भुक्त जो नाना प्रकार के भोग सोइ सोई भोग वासनाके द्वारा ही कर्म क्षय होनेसे मनुष्य लोक को प्राप्त लोगो को सोइ सोइ वासना अनुरूप सकल कर्मोमे प्रवृत्ति होती है और जिस हेतु मनुष्य लोक ही मे कर्म का अधिकार है और कोइ लोक मे नहीं है इससे मनुष्य लोक ही मे वासनारूप मूल को कर्मका अनुबन्धी कहाहै अब शोच यह है कि क्षणभङ्गु सकल साधन मनुष्य देह पायके न कुछ कर सकै इन मूलको भी भूलगये हाय किसीको

श्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥ न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा। अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥ ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्त्तन्ति भूयः। तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥ निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः। द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥ न तद्भासयते

भाषा अनुवाद

देखके या किसीके उपदेशमे आंख अन्धे और कान वहिरे ही रह गये ॥ २ ॥ इस संसार मे वर्त्तमान जो प्राणी है वे संसार वृक्षका ऊर्द्धमूल आदि भेद नहीं जानते है और अत्यन्त बडेपनके हेतु से इसका अन्तभी नहीं जाना जाय है तथा अनादि हेतुसे आदि भी नहीं कोई जानि सके है और स्थिति अर्थात् यह संसार किस तरह स्थित औ कैसा है सो भी खबर किसी को नही है इससे यह संसार वृक्ष दुश्छेद्य कहे इसका काटना बडा कठिनहै और अनर्थकारी है इसी हेतु इस संसार को दृढ वैराग्य रूप शस्त्रसे छेदन करके तत्वज्ञान की यत्न करना चाहिये यह डेढ श्लोकसे कहते है कि यह अश्वत्थरूप दृढमूल संसार को अहं ममता त्यागरूप दृढ अस्त्रस्वरूप सम्यक् विचार से छेदन अर्थात् पृथक करके ॥३॥ तदनन्तर संसारके मूल कारण स्वरूप तत्पदसे कहेहुये जिस ईश्वरपदको अन्वेषण करना अर्थात् ढूंढना उचितहै सोपद कैसाहै इस अपेक्षापर कहते है कि जहां जायकर फेर और संसार आवर्त्तन कहे आवा गमन होता नहीं और अब भगवतपद ढूंढने की रीति कहते है कि जिससे इस पुराने संसार की प्रवृत्ति भई है उसी आदि पुरुष के शरणागत होते है इसीतरह एकान्त भक्ति के द्वारा उसपदको ढूंढे ॥४॥ कोई परमेश्वरकी प्राप्ति के विषय मे दूसरी उपाय देखावते हुये कहते है कि जिन मनुष्योंके मान अहंकार औ मिथ्या वस्तुमे रुचि नहीं है अर्थात् मानादि दूर हो गये है और जिन के पुत्र स्त्री धन आदि मे आसक्ति रूप दोष निवृत्त भये है और जिन को आत्मज्ञान मे भली प्रकार से निष्ठाहै और जिनकी वासना अच्छीतरह निवृत्त हो गईहैं और सुख दुखके हेतु रूप शीत उष्ण हानि लाभ आदि द्वन्द्वसे अच्छीतरह छुट गये है ऐसे जो निवृत्त

सूर्योनशशाङ्कोनपावकः। यद्गत्वाननिवर्त्तन्तेतद्धामपरमंमम ॥६॥ ममैवांशोजीव
लोकेजीवभूतःसनातनः। मनःषष्ठानीन्द्रियाणिप्रकृतिस्थानिकर्षति ॥७॥ शरीरं
यदवाप्नोतियच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानिसंयातिवायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥
श्रोत्रञ्चक्षुःस्पर्शनञ्चरसनंघ्राणमेवच। अधिष्ठायमनश्चायंविषयानुपसेवते ॥९॥ उ

भाषा अनुवाद

अविद्या कहे ज्ञानीजन हैं तेई अव्ययरूप को प्राप्त होते हैं ॥५॥ अब उसी अव्यय पद को विशेषरूप से कहते हैं कि उस पद को सूर्य चन्द्र अग्नि भी प्रकाश नहीं कर सकते हैं और योगीजन जिस पद को प्राप्त होय फेरि संसार में आवर्तन कहे गमनागमन नहीं करते हैं सोई धाम कहे तेजरूप हमारा स्वरूप है जहां सूर्यादि की गति नहीं तहां दुख द्वन्द्व जड़ता का कौन प्रसङ्ग है ॥६॥ जो कहो कि हमारे धाम को प्राप्त होय फेरि संसार नहीं होता सो सत्य है सकल जीव सत स्वरूप सम्पन्न होके द्वैत दृष्टि नहीं करते हैं और सुषुप्ति समय में हम ब्रह्म भाव को प्राप्त होते हैं ऐसे श्रुति विधान करै हैं और प्रलयकाल में भी सब जीव तिस धाम को प्राप्त होते हैं तो फेरि संसारी और किस का नाम है इस आशङ्का पर पांच श्लोक से संसारी स्वरूप देखावते हैं कि हमारा अंश जीव अविद्या से सुषुप्ति तथा प्रलय के समय प्रकृति में लीन होके रहते हैं और मन समेत इन्द्रिय इन रूपों को मेरे ही अंश सनातन जीवभूत संसार के उपभोगार्थ फेर भी मनुष्यलोक में खैंचे है यहां यह जानना चाहिये कि इन्द्रिय शब्द में ज्ञान कर्म इन्द्रिय औ पञ्च प्राण लेते हैं इसीसे संसारी होते हैं ॥ ७ ॥ और सोई इन्द्रियों को आकर्षण करिके जीव क्या करते हैं जो यह शङ्का करो तो सुनो कि जब ईश्वर नाम देह आदि का स्वामि स्वरूप व्यावहारिक जीव कर्मवशाते दूसरे शरीर को प्राप्त होतेहैं अथवा जब शरीरको छोड़िके गमन करतेहैं तब पूर्व शरीरसे इन्द्रि यादि कों ग्रहण करि के ही गमन करै हैं इस में दृष्टान्त यह कि जैसे वायु फूलों के स्थानसे सुगन्धरूप सूक्ष्म अंश परमाणु ग्रहण करके गमन करै है तैसे ही यहभी ग्रहण करता है सो जानो ॥८॥ इन्द्रियों के समाचार कह के अब जिस लिये उन इन्द्रियों को ग्रहण करिके जीव गमन करते हैं सो कहते हैं कि ये जीव श्रोत्र चक्षु

त्क्रामन्तंस्थितंवापिभुञ्जानंवागुणान्वितं। विमूढानानुपश्यन्तिपश्यन्तिज्ञानचक्षुषः॥
१०॥ यतन्तोयोगिनश्चैनंपश्यन्त्यात्मन्यवस्थितं। यतन्तोऽप्यकृतात्मानोनैनंपश्यन्त्य
चेतसः॥११॥ यदादित्यगतंतेजोजगद्भासयतेऽखिलं। यच्चन्द्रमसियच्चाग्नौतत्तेजोवि
द्धिमामकं॥१२॥ गामाविश्यचभूतानिधारयाम्यहमोजसा। पुष्णामिचौषधीःस
र्वाःसोमभूत्वारसात्मकः॥१३॥ अहंवैश्वानरोभूत्वाप्राणिनांदेहमाश्रितः। प्राणा

भाषा अनुवाद

स्पर्श जिह्वा और घ्राण ये बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरण को आश्रय करि के शब्द आदि विषयों को उपभोग करै है॥९॥ जो कहो कि ऐसे आत्मा को कार्य कारण समूह से भिन्न रूप सब कोई क्यों नहीं देखते इस पर कहते हैं कि देहान्तरगामी अथवा उसी देह मे स्थित या विषयभोगी किम्वा इन्द्रियादि से युक्त जीव को विशेष मूढबुद्धि लोग सब नहीं देखते हैं परन्तु ज्ञानही जिसके चक्षु हैं ऐसे विवेकी मनुष्य ही देखते हैं॥१०॥ और यह आत्मा दुर्विज्ञेय है क्यो कि विवेकिओं के बीच भी कोई देखते और कोई नही देख सकते है सोई कहते है कि ध्यान आदि के द्वारा यत्नकारी योगीजन अपनी शरीर मे इस आत्मा को पृथक् रूप से देखते हैं और शास्त्र अभ्यास से यत्न करके भी अकृतात्मा अर्थात् अशुद्ध चित्त मन्दमति लोग इस आत्मा को नहीं देखते है॥११॥ इससे न तद्भासयते सूर्य इत्यादि इसी अध्याय के सप्तम आदि श्लोक के द्वारा परमेश्वर का जो परम धाम सो कहा गया है और तद्धाम प्राप्त जीवोको अपुनरवार आवृत्ति कही गई है और तद्विषयक संसारी के अभाव आशङ्कापर देह से भिन्न संसारी स्वरूप को भी देखाया है अब सोई परमेश्वर सम्बन्धीरूप इहां से लेकर चार श्लोक से अनन्त शक्ति क्रम से निरूपण करते है कि सूर्यादि मे स्थित अनेक प्रकार तेज जो विश्व को प्रकाश करै है ऐसे ही चन्द्र मे स्थित जो तेज अखिल संसार को प्रकाश करते हैं तैसे ही अग्निस्थ तेज ब्रह्माण्ड दीप्त करै है सो सब तेज हमारा ही है यह जानो॥१२॥ और पृथिवी को अपने बलके द्वारा स्थित करके मैं चरा चरात्मक सकल भूतों को धारण करता हूं और अमृतात्मक चन्द्र स्वरूप होके वृक्ष आदि सम्पूर्ण शस्य को भी बढ़ावता हूं॥१३॥ और मैं ही वैश्वानर नाम

मानसमायुक्तः पचाम्यन्नंचतुर्विधं ॥१४॥ सर्वस्यचाहंहृदिसन्निविष्टोमत्तःस्मृतिर्ज्ञा
नमपोहनञ्च। वेदैश्चसर्वैरहमेववेद्योवेदान्तकृद्वेदविदेवचाहं ॥१५॥ द्वाविमौपुरु
षौलोकेक्षरश्चाक्षरएवच। क्षरःसर्वाणिभूतानिकूटस्थोऽक्षरउच्यते ॥१६॥ उत्त

भाषा अनुवाद

जठराग्नि स्वरूप होके प्राणियों की शरीर के मध्य मे प्रवेश कर के प्राण अपान वायु के साथ होय जीवों का भुक्त जो भोज्य भक्ष्य लेह्य चोष्य चतुर्विध अन्न तिस को परिपाक करता हूं भक्ष्य वह है जो दांतों से पीसकर खाया जाय दाल भात चर्बन वगैरः और भोज्य जो जिह्वा के इसारे से निगला जाय खीर हलुआ आदि लेह्य वह है द्रवरूप आस्वादन पूर्वक पान किया जाय सहत दुग्ध आदि चोष्य कहे जो चूंस कर घूट लिया जाय ऊख वगैरः को जानो ॥ १४ ॥ और मैंहीं यावत् प्राणी के हृदय मे अन्तर्यामीरूप से प्रवेश करता हूं इसी से सब प्राणीओं को पूर्वज्ञात अर्थ विषय का स्मरण होता है और इन्द्रियो के संयोगसे जो रूपादि विषयों का ज्ञान सो हमी से होता है और अपोहन कहे स्मरण औ विषयों का ज्ञान इन दोनो का अभाव भी हम से ही होय है और वेदो मे कहे हुये तीन तीन देवता रूप भी हमीहैं और वेदान्तकृत अर्थात् शिष्य प्रशिष्य रूपसे सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहे ज्ञानदाता गुरुस्वरूपभी मैंहीहैं औ वेदार्थवित् भी मैंहीहूं ॥१५॥ अब तद्धाम परमं मम यह जो इस अध्याय के सप्तम श्लोक मे कहा अपना सर्वोत्तमत्व सो तीन श्लोक से देखावते हैं कि जो क्षर औ अक्षर स्वरूप दुई पुरुष लोक मे प्रसिद्ध है, इन का विशेष यह है कि ब्रह्मा आदि, स्थावर पर्यन्त जो देहधारी तिन का नाम क्षर पुरुष क्योंकि अविवेकियों को स्थूल शरीर मे पुरुषत्व प्रसिद्ध है और कूटस्थ कहे शिलाराशि पर्वत के समान देह नाश भये भी निर्विकाररूपसे स्थिति करै ऐसा जो चैतन्य स्वरूप भोक्ता है क्योंकि ऐसा विवेकी जनोके विचारसे सोई अक्षर पुरुष है ॥१६॥ जिस हेतु क्षर औ अक्षर दोनो पुरुष लक्षित भये हैं इस से जो उत्तम पुरुष सो इन दोनो से भिन्न है उस की विलक्षणता कहते हैं कि सो परमात्मा स्वरूप है यह श्रुतियों मे कहा है और आत्मा अचेतनरूप क्षर से तथा परमात्मा अक्षररूप भोक्ता से भी भिन्न है अब उनका परमात्मत्व देखावते

मःपुरुषस्त्वन्यःपरमात्मेत्युदाहृतः। योलोकत्रयमाविश्यबिभर्त्त्यव्ययईश्वरः॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपिचोत्तमः। अतोऽस्मिलोकेवेदेचप्रथितःपुरुषोत्तमः
॥१८॥ योमामेवमसम्मूढोजानातिपुरुषोत्तमं। ससर्व्वविद्भजतिमांसर्व्वभावेनभा
रत॥१९॥ इतिगुह्यतमंशास्त्रमिदमुक्तंमयाऽनघ। एतद्बुद्ध्वाबुद्धिमान्स्यात्कृतकृ
त्यश्चभारत॥२०॥ इति भगवद्गीतायां पुरुषोत्तमयोगोनाम पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

भाषा अनुवाद

हैं कि सो ईश्वर पदवाच्य नियन्ता औ अव्यय कहे निर्व्विकार स्वरूप हो के भी त्रैलोक्यके हृदयमे प्रवेश करिके प्राणीमात्रका प्रतिपालन करते हैं॥१७॥ एवम्भूत पुरुषोत्तमत्व अपना नाम कहने से देखावते हैं कि जिस हेतु हम क्षर जो जड़ समूह तिनको अतिक्रमण करते हुये और नियन्तारूप चेतन जो अक्षर उससे भी उत्तम हैं इस से सकल लोक और वेद मे हम पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हैं सोई श्रुति कहती हैं कि सोई जो पुरुषोत्तम वे आत्मा औ त्रैलोक्यके वशकरनेवाले और तीन लोक के ईश्वर सबके शासनकर्ता है यह भगवानने अर्जुनसे कहा॥१८॥ ऐसे ईश्वर का जानने द्वारा ज्ञानी पुरुष के ज्ञान का फल कहते हैं कि हे भारत अर्जुन इस तरह पूर्व्वोक्त निश्चित प्रकार से असंमूढ कहे निश्चितमति हो के जो पुरुषोत्तम स्वरूप हम को जानि सकै है सोइ सबुप्रत्र सम्यक प्रकार से हम को भजै है तिस के अनन्तर सर्वज्ञ होता है यह जानो॥१९॥ अब अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते है कि हे अनघ निष्पाप अर्जुन यह संक्षेपसे अति रहस्य स्वरूप जो सम्पूर्ण शास्त्रोंका सारांश सो मैने कहा केवल बीश श्लोकयुक्त एक अध्याय छोड़ के इससे जो कोइ होय यह मेरी कही हुई वाक्य को बोध करिके बुद्धिमान कहावता औ ज्ञानी होके चरितार्थ कृतार्थ होता है तो हे भरतवंशी अर्जुन तुम जो चरितार्थ होउगे इसमे क्या और कुछ कहनाहै। सर्व्वतःपरिपूर्ण परमात्मारूप श्रीकृष्णजी संसार वृक्ष को भिन्न करके पुरुषोत्तमयोग नाम पंद्रहें इस अध्याय मे अपना परमपद अर्जुनको उपदेश किया है॥२०॥ इति पञ्चदशोऽध्यायः॥१५॥

श्रीमद्भगवद्गीता

षोडश अध्यायः।

श्रीभगवानुवाच। अभयंसत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यस्थितिः। दानंदमश्चयज्ञश्चस्वा
ध्यायस्तपआर्जवं ॥१॥ अहिंसासत्यमक्रोधस्त्यागःशान्तिरपैशुनं। दयाभूतेष्वलो

भाषा अनुवाद

अब इस सोलहें अध्यायका तात्पर्य कहते हैं कि आसुरी सम्पत् त्याग करके दैवी सम्पत् आश्रय लेनेवाले मनुष्य मुक्तहोते हैं इसकी निर्णयकरनेके अर्थ इस अध्याय मे उसका विस्तार करते हैं कि हे अर्जुन सकल शास्त्रके अनुरूप मेरे कहे हुये इस वृत्तान्त के जानने से लोग सम्यक ज्ञानी औ कृतार्थ होते हैं यह भगवानने पन्द्रहें अध्यायके अन्त मे कहा है तो कौन मनुष्य वह तत्त्व समझ सकते हैं और कौन नहीं इस अपेक्षापर तत्व ज्ञानके अधिकारी औ अनधिकारी की निर्णय करनेके लिये सोरहें अध्याय का आरम्भ होता हैं क्यों कि जिसमे जिसका अधिकार है वह उसीसे पूरा परताहै इससे अब तत्वके अधिकारी पुरुष का गुण स्वरूप सम्पूर्ण दैवी संपत को इस श्लोकसे लेकर तीन श्लोकसे कहते हैं कि अभय औ सत्त्व संशुद्धि कहे बुद्धिकी प्रसन्नता औ ज्ञानयोग जो आत्मज्ञान को उपा यमे व्यवस्थिति कहे परिनिष्ठा औ दान कहे अपने भोजन की वस्तु अन्न आदिका भी यथा उचित देना तथा दम अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंका संयमकरना और यज्ञ कहे यथाविधि से दर्श पौर्ण मास आदि याग करना और स्वाध्याय कहे ब्रह्म यज्ञ और तप जो सवहें अध्यायके चौदहें श्लोक मे कहेंगे देव द्विज गुरू पण्डित ज्ञानी का पूजन तथा शौच सीधापन कोमलताई ब्रह्मचर्य अहिंसा इनको शरीर तप कहते हैं सो और आर्जव कहे सीधा स्वभाव ॥ १ ॥ और अहिंसा कहे परपीड़ा

लुप्तंमार्दवंह्रीरचापलं ॥२॥ तेजःक्षमाधृतिःशौचमद्रोहोनातिमानिता। भवन्ति सम्पदंदैवीमभिजातस्यभारत ॥३॥ दम्भोदर्पोऽभिमानश्चक्रोधःपारुष्यमेवच। अज्ञानंचाभिजातस्यपार्थसम्पदमासुरीं ॥४॥ दैवीसम्पद्विमोक्षायनिबन्धायासुरीमता।

भाषा अनुवाद

का त्याग औ सत्य अर्थात् देखासुना ज्यों का त्यों कहना औ अक्रोध कहे कोई मारै या कुवाच्य कहै तौ भी चित्त क्रोधवश न होने देना तथा त्याग कहे प्रिय अप्रिय से उदासीनता और शान्ति अर्थात् विषयों से चित्तकी निवृत्ति औ अपैशून्य कहे परनिन्दा वर्जन पीठ पीछे निन्दा करनेको पैशून्य कहते हैं और दीन दरिद्र पर दया तथा अलोलुपत्व कहे निर्लोभता औ मार्दव जो कोमलता औ ह्री कहे कुकर्म करने मे लोकलज्जा तथा अचापल अर्थात् वृथा बोलना या वृथा कुछ करना चञ्चलताई जो सो ये सब न होय ॥२॥ और तेज कहे ढिठाई और क्षमा औ धृति कहे ग्लानि तथा दुखमे धीरज रखना औ शौच अर्थात् बाहिरभीतर शुद्धता अद्रोह कहे हिंसा ईर्षारहितहोना अतिमानिता कहे अपनी पूजामान प्रशंसा का अभाव येई अभय आदि जो छबीस प्रकार की दैवी सम्पत् हैं सो उसी को होती हैं जिसको कल्याण भावी है अर्थात् आगे भला होनहार है ॥ ३ ॥ अब आसुरी सम्पत् कहते हैं कि दम्भ कहे लोगों के सामने अपनी धार्मिकता प्रकाश के हेतु मन भावते कल्पित धर्मों की ध्वजा देखलाना और दर्प कहे धन उपार्जन तथा विद्या आदि मे चित्त को उत्साह कहे ऊंचाई और अभिमान कहे अपने सर्वतरहके महत्व से दूसरे को कुछ न समझना और क्रोध तथा पारुष्य जो कठोरता निठुरता और अज्ञान कहे अविवेक ये आसुरीकहे आसुर राक्षसों की जो सम्पत् इन मे रुचि जिनको होती है वे असुर राक्षस हैं ॥४॥ अब इन दोनों सम्पदों के काज अकाज देखावते हुये कहते है कि दैवी सम्पद से युक्त मनुष्य ही मेरे कहे हुये तत्त्वज्ञान के अधिकारी है और जो मनुष्य आसुरी सम्पद से युक्त है ते सदाही संसारी होते है अब ये वचन भगवान के श्रवण करके मैं तत्वज्ञान का अधिकारी हौं कि नहीं इस सन्देह से व्यग्रचित्त अर्जुन को समझावते हुये भगवान कहते है कि हे परन्तप तुम शोच न करो क्यों कि

माशुचःसम्पदंदैवीमभिजातोसिपाण्डव ॥५॥ द्वौभूतसर्गौलोकेऽस्मिन्दैवआसुरएवच दैवोविस्तरशःप्रोक्तआसुरंपार्थमेश्टणु ॥६॥ प्रवृत्तिञ्चनिवृत्तिञ्चजनानविदुरासुराः। नशौचंनापिचाचारोनसत्यंतेषुविद्यते ॥ ७ ॥ असत्यमप्रतिष्ठन्तेजगदाहुरनीश्वरं।

भाषा अनुवाद

दैवी सम्पद्के अभिमुख जन्मे हौ और दैवी सम्पद संयुक्त हौ यह तुमारे आच रणों से प्रसिद्ध है ॥५॥ आसुरी सम्पद अच्छी प्रकार से वर्जन करना ही कर्तव्य कर्म है इससे आसुरी सम्पदको विस्तार करिके कहते हैं कि जो दो प्रकार की भूतों की सृष्टि है सो मेरे मुख से श्रवण करो इस जगह असुर राक्षस सम्बन्धी दोनो प्रकृति की एकता करके देव प्रकृतिके साथ द्वइ मत कहा है इससे नवयें अ ध्यायके बारहें श्लोकमे आसुरीं राक्षसीं चैव इत्यादि त्रिविध प्रकृतिके साथ विरोध नहीं है हे अर्जुन इस लोकमे देव औ असुर सम्पदसे युक्त जो दो प्रकार भूतों की सृष्टि तिसके मध्यमे दैवी सम्पद युक्त सृष्टि मैने पूर्व ही विस्ताररूपसे कहा है अब आसुरी सम्पद से युक्त सो सृष्टि जो हमसे सुनो ॥ ६ ॥ आसुरी सम्पद इस श्लोक से लेकर बारह श्लोक तक दया करिके निरूपण करते हैं कि असुर स्वभाववाले मनुष्य सकल धर्म मे प्रवृत्ति औ अधर्मसे निवृत्ति कैसी होती है सो जानते ही नहीं इसी से इन लोगों मे शौच आचार औ सत्यता का लेश मात्र भी नहीं रहता है यह तुम जानो ॥ ७ ॥ वेदविहित जो धर्म्म अधर्म्म तिस मे प्रवृत्ति को असुर स्वभाव मनुष्य क्यों नहीं जानते और धर्म्म अधर्म्म को अङ्गीकार न करने से सांसारिक सुख औ दुख आदि होना किस प्रकारसे निरूपण किया जाय और शौच तथा आचार आदि मे ईश्वर की आज्ञाही को वा कैसे लङ्घन करते हैं और ईश्वर को न मानि कै जगत की उत्पत्ति किससे कहते है सोई कहते हैंकि जो वेद पुराण इतिहास को प्रमाण नहीं मानते और कहते हैं कि मुनि औ भांड तथा राक्षस येइ तीनो ने वेद को बनाया है और जिन की धर्म अधर्म की प्रतिष्ठा अर्थात् व्यवस्था नहीं है तेइ अप्रतिष्ठ कहे नास्तिक लोग अपनी पूर्व्वोक्त वाक्य को पुष्ट करने के कारणसे इस जगत को अप्रतिष्ठ कहते हैं अर्थात् यह जगत की विचित्रता स्वभावसिद्ध मात्र कहते हैं और जिनके मत मे इस जगत का स्थापक

अपरस्परसम्भूतंकिमन्यत्कामहेतुकं॥ ८॥ एतांदृष्टिमवष्टभ्यनष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः। प्रभवंत्युग्रकर्माणःक्षयायजगतोऽहिताः॥९॥ काममाश्रित्यदुष्पूरंदम्भमानमदान्विताः मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥ चिन्तामपरिमेयाञ्चप्रलयान्तामु

भाषा अनुवाद

ईश्वर नहीं है इस से यह संसार अनीश्वर है ऐसे नास्तीक लोग अपनी बात का पक्ष करके जगत को अनीश्वर कहते हैं जो पूछो कि तौ फेरि वे लोग इस जगत की उत्पत्ति किस से मानते हैं इस पर उनकी कहावत कहते है कि अपरस्पर कहे पर अपर से भिन्न जो स्त्री पुरुष इन दोनो के संयोग से संसार की उत्पत्ति होती है इसका और कोइ कारण नहीं है यह जगत काम हेतुक अर्थात् स्त्री पुरुष इन दोनो का जो काम सोइ धारा प्रवाह क्रम से इस संसार का कारण स्वरूप चला आवता है नास्तीक लोग ऐसे ही कहते है॥ ८॥ देखो निरीश्वर वादीयों की दृष्टि कहे तजवीज और कल्पना से कल्पित बातों औ उनके दर्शन कहे मतग्रन्थों का अध्ययन करके मलिनचित्त अल्पबुद्धि अर्थात् जो देखैं सुनै उसी पर तुर्त वेविचार विश्वासकरिके मनुष्य जिनको हिंसाही करना मात्र काम है वे शत्रुस्वरूप हो के संसार के नाश के हेतु प्रगट होते है॥ ९॥ और जो कामना भोगादि करने से भी कभी पूरी नहीं होती ऐसी कामना को अवलम्बन करके दम्भ पाषण्ड से युक्त होय क्षुद्र देवता भूत प्रेत आदि की आराधना से प्रवृत्त होते हैं सोइ कहते है कि असतग्राह ग्रहण अर्थात् इस मन्त्र के द्वारा इस देवता की आराधना से बहुत धन प्राप्त होगा ऐसा दुराग्रह मोहवशते जो मनुष्य अङ्गीकार करि लेतेहैं और अल्पबुद्धियों के अशुचि कहे मद्य मांस आदि युक्तव्रत नियम होते है तेई मनुष्य इन निषिद्ध कर्मोंमे प्रवृत्तहोते है॥१०॥ और प्रलय कहे मरण काल पर्यन्त है जिसका अन्त ऐसी जो अपरिमेय चिन्ता अर्थात् कितनी है इसका ठिकाना नहीं तिस के आश्रित कहे चिन्तापरायण मनुष्य जिनको काम भोग करनाही परमप्रयोजन है और कामभोग छोडके दूसरा और कोई परमपुरुषार्थ नहीं है इतनोहीकिये है निश्चय जोलोग ते कुकर्मकेद्वारा धन सञ्चय करने की इच्छा करते है इस लोककी पर लोक के साथ अन्वय होती

पाश्रिताः। कामोपभोगपरमाएतावदितिनिश्चिताः॥ ११॥ आशापाशशतैर्बद्धाः
कामक्रोधपरायणाः। ईहन्तेकामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥ इदमद्य
मयालब्धमिदंप्राप्स्येमनोरथं। इदमस्तीदमपिमेभविष्यतिपुनर्धनं॥१३॥ असौ
याहतःशत्रुर्हनिष्येचापरानपि। ईश्वरोऽहमहंभोगीसिद्धोऽहंबलवान्सुखी॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मिकोऽन्योऽस्तिसदृशोमया। यक्ष्येदास्यामिमोदिष्यइत्यज्ञानवि

भाषा अनुवाद

वृहस्पति का सूत्र प्रमाण देते हैं कामएवैक पुरुषार्थ इति इसका अर्थ यह है कि चैतन्यविशिष्ट जो काम उसी को पुरुष पद से कहते हैं॥ ११॥ इसी से आशा रूप सैकड़ो रस्सीयो से बन्धे इधर उधर खैंचे जाते हुये लोग काम क्रोध के आश्रय स्वरूपभूत काम उपभोग के अर्थ अन्याय कहे चोरी लबारी दगाबाजी ठगी बटपारी से धन बटोर ने की इच्छा करते हैं इसी से वह धन कुकर्म छोड सुकर्म मे नही लगे हैं देखो अज्ञानी आप अपने हाथ गले मे सैकडो फासी लगाय लेते हैं॥ १२॥ अब ऐसे लोगो के मनोरथ कहि कर उन को नरक प्राप्ति का हत्तान्त इस श्लोक से लेकर चार श्लोक से कहते हैं कि इसी अज्ञान से विशेष मोहको प्राप्त होके नरक मे पडते हैं देखो उनको कैसी औ मनोरथ ये है कि आज हम को यह लाभ भई और यह मनभावती प्यारी वस्तु मरे कहे आगे पावेंगे और यह धन हमारे है हमारा है और फेर भी तजवीज लगाये हैं कि यह धन भी हमारा होता हैपरन्तु यह नही सोचते कि हम किस के हवाले होयंगे और किस गति को जायंगे॥ १३॥ और इस शत्रुको हम मार डालेंगे औ इसको मार लिया है और हम जो चाहै सो करे हम कर्त्ता और हम भोगी है हम सिद्ध हैं जो कुछ करनाथा कर चुके हैं हम बलवान हम सुखी हैं इन सब बातों का स्मरण तो क्षण भर भी नही भूलते पर काल बलवान की सुध को तो एक बार्गी ही भूल गये हैं कि वह क्या करेगा॥ १४॥ और हमधनी हैं हम अभिजनवान् अर्थात् कुलीन तथा यज्ञदान आदि जो कभी किया तो समझते हैं कि हमारी बराबर और किसीने नही किया लोगो मे हम बडी प्रतिष्ठा पावेंगे अर्थात् प्रशंसा होगी और जोकोई हमारी स्तुतिकरेगा उसको हम

मोहिताः ॥ १५ ॥ अनेकचित्तविभ्रान्तामोहजालसमावृताः। प्रसक्ताःकामभोगेषु पतन्तिनरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥ आत्मसम्भाविताःस्तब्धाधनमानमदान्विताः। यजन्तेनामयज्ञैस्तेदंभेनाविधिपूर्वकं ॥ १७ ॥ अहङ्कारंबलंदर्पंकामंक्रोधञ्चसंश्रिताः। मा

भाषा अनुवाद

धन वस्त्र आदि देयँगे और उसपर हमप्रसन्न होंयगे इस प्रकार के मनुष्य अज्ञान से विमोहित मिथ्या अभिनिवेशको प्राप्त करके झूठे मनोरथो मे डूबे हुये है ॥१५॥ ऐसे मनुष्य जिस प्रकार का फल पावते है सो सुनो कि अनेक चित्त करके मनकी लाखों अभिलाषों मे प्रवृत्त जो चित्त तिससे विक्षेप को प्राप्त ये लोग सोई सोइ मोह मय जाल से घेरे हुये अर्थात् सूतके जालसे वह मत्स्य के समान बन्धे है और काम भोग मे आसक्त होके अशुचिजोलोहयुक्त नरक तिसमे आपही से पडते हैं ॥१६॥ यज्ञ करिके औरों से हम बडी प्रतिष्ठा पावें ऐसे जो उनके मनोरथ जो पीछे पंद्रहें श्लोक मे कहा है वह अभिलाष केवल दंभ अहंकार आदि प्रधान है सतोगुण प्रधान नहीं है इस अभिप्राय पर दो श्लोक से कहते हैं कि आप अपने मनसे सम्भावित करके महात्मा बने है पर कोई साधु उनकी प्रतिष्ठा नही करते है इसीसे वे शुष्क अर्थात् अनम्र स्वभाव करके कठोरचित्त मनुष्य धनादि से जो मान औ अहङ्कार तिससे युक्त होके यज्ञदान आदि वा तो के यज्ञ नाम मात्र ही है पर करते है इस वास्ते कि फलाना आदमी बडा पूजा करने वाला औ दानी है ऐसे नाम प्रसिद्ध होय इस वासना से यज्ञ दान करते है वह यज्ञ दान करना कैसा है सो कहते है कि वे खाली अपनी अपनी ख्याति लाभ अर्थात् नाम के लिये छोड और कुछ श्रद्धा से नहीं करते है तो अविधि पूर्वक यज्ञ दान जैसे है यह भी तैसे ही निष्फल है वह जानो ॥ १७ ॥ अब अविधि पूर्वकारत्वको प्रकाश करते है कि अभ्यसूयक करके निन्दा करनेवाले मनुष्य अर्थात् भगवान कहते है कि मेरे पथके अवलम्बी पुरुषो के गुणो मे दोष लगाने हारे मनुष्य अहङ्कार बल औ प्रगल्भता जो ढीठापन तथा काम और क्रोध का आश्रय कर अर्थात् दम्भ होय अपनी देह औ परकी देह मे चेतन ज्ञानरूप से टिका जो मै हूं सो सम्पूर्णरूपसे मेरे प्रति द्रोहकारी यज्ञ आदिकर्म करते है परन्तु मारे

मात्मपरदेहेषुप्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥ तानहंद्विषतःक्रूरान्संसारेषुनराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेवयोनिषु॥१९॥ आसुरींयोनिमापन्नामूढाजन्मनिजन्म
नि। मामप्राप्यैवकौन्तेयततोयान्त्यधमांगतिं ॥२०॥ त्रिविधंनरकस्येदंद्वारंनाशनमात्म
नः। कामःक्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयंत्यजेत् ॥२१॥ एतैर्विमुक्तःकौन्तेयतमोद्वारै
स्त्रिभिर्नरः। आचरत्यात्मनःश्रेयस्ततोयातिपरांगतिं ॥२२॥ यःशास्त्रविधिमुत्सृज्य

भाषा अनुवाद

दम्भके यज्ञादिमे श्रद्धाके विना अपनेको वृथा क्लेश देते हैं और पशु आदिकों को भी अविधिपूर्वक नाहक हिंसा करने से चैतन्य जीवका द्रोहमात्र ही फल उत्पन्न होय है और तो कुछ हाथलगता नहीं इसीसे ये मनुष्य मेरेसाथ द्रोह करनेवाले मेरे शत्रु तुल्य है इससे इन हत्यारों को जो फल मिलेगा वह तुम जानिलो ॥१८॥ और उनका आसुरी स्वभाव कभी जाता नहीं यह दो श्लोक से कहते हैं कि हमसे द्वेष करने वाले क्रूरस्वरूप नराधमोंको मैं जन्म मृत्युकी मार्गस्वरूप संसार मे आसुरी कहे अति क्रूर व्याघ्र सर्प आदि दुष्ट योनि मे हमेसा फेंका करता हूं अर्थात् उनको वही निषिद्ध योनि मिला करती हैं ॥ १९ ॥ और एव कहने से इस श्लोक मे यह कहा गया कि हे कौन्तेय अर्जुन बहुत जन्म आसुरी योनि मे प्राप्त जो मूढजन उनको मेरी प्राप्ति की शङ्का कहां है बल्कि मेरी प्राप्तिकी उपाय जो सतमार्ग उसको भी न पायके असुरादि योनि के भी अधम जो कृमि कीटादि गति तिस दुर्गतिको वे जाते हैं ॥ २० ॥ पूर्व कहे हुये सब आसुरी दोषोंके मध्यमे सकल दोष के कारणस्वरूप जो तीनि दोष तिन को सदाही त्याग करना योग्य है सोइ कहते हैं कि काम क्रोध औ लोभ ये तीन दोष नरक के द्वार स्वरूप हैं तो कौन नीच योनि प्राप्ति कारक होंय इसी से मुमुक्षु कहे मुक्ति की इच्छा रखने वाले इन तीनो दोषोंको सबतरह से त्याग करैं है ये अनर्थ के मूल हैं औ देखो कैसे दुख दाई हैं ॥ २१ ॥ अब इन तीन दोषों के त्याग करने मे विशेष फल कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्जुन तम कहे नरक के द्वार रूप काम आदि तीन दोष से अच्छी तरह मुक्त पुरुष अपने कल्याण के साधन स्वरूप तप योग आदि आचरण करते हैं और तिस के अनन्तर मुक्ति पावते

वर्त्ततेकामचारतः। नससिद्धिमवाप्नोतिनसुखंनपरांगतिं॥ २३॥ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणन्तेकार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वाशास्त्रविधानोक्तंकर्म्मकर्त्तुमिहार्हसि॥२४॥ इति देवासुरसम्पद्विभागयोगोनाम षोडषोऽध्यायः॥ १६॥

भाषा अनुवाद

हैं॥ २२॥ कामादि त्याग करना भी स्वधर्म आचरण के बिना नहीं हो सकै है यही कहते हैं कि शास्त्र औ विधि कहे वेद विहित धर्म त्याग करके जो मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार कर्म्म करते हैं वे सिद्धि कहे तत्त्व ज्ञान को नहीं पावते हैं और उपशम अर्थात् शान्तिरूप सुख भी नहीं पावते और न उत्तम गति जो मुक्ति तिसको पावते हैं॥२३॥ अब तात्पर्य कहते हैं कि यह काज औ यह अकाज इसकी व्यवस्था कहे निर्णय मे तुमको शास्त्र औ वेद स्मृति कहे धर्म शास्त्र पुराण प्रमाण स्वरूप हैं इस से शास्त्र की विधिमे कहे जो कर्म्म तिन्को जानि कर इस कर्म अधिकारमे वर्त्तमान तुम अपने अधिकार के अनुरूप कर्म करने को योग्य होउ जिस हेतु सत्त्व शुद्धि औ सम्यक ज्ञान औ मुक्ति के विषय मे भी कर्मही मूल कहे कारण स्वरूप है॥ २४॥ इति श्रीजगन्नाथ शुक्ल विरचित मनभावनी भाषाटीकायां षोडश अध्याय॥ १६॥

श्रीमद्भगवद्गीता

सप्तदश अध्यायः ।

अर्जुनउवाच । येशास्त्रविधिमुत्सृज्ययजन्तेश्रद्धयान्विताः । तेषांनिष्ठातुका कृष्णसत्त्वमाहोरजस्तमः ॥ १ ॥ श्रीभगवानुवाच । त्रिविधाभवतिश्रद्धादेहिनां

भाषा अनुवाद

तत्त्वज्ञान के अधिकारी होने मे जो सात्त्विकी श्रद्धा है सोई मुख्य कारण है यह पूर्व हीं कहा है इसके अब सत्रहें अध्यायमे भगवान श्रद्धाके तीनिभेद कहैंगे और जो सोरहें अध्याय मे यःशास्त्रविधिमुत्सृज्यवर्त्ततेकामचारतः इस तेईसयें श्लोक मे कहा कि वेद शास्त्र की विधि छोड़ि अपनी इच्छा के अनुसार कर्म करनेवाले को तत्त्वज्ञान नहीं होता है तो विधि त्याग करि श्रद्धा से कर्म मे वर्तमान जनो को तत्त्वज्ञान का अधिकार है कि नहीं यही ज्ञान होने की इच्छा से अर्जुन कहते हैं कि जो मनुष्य वेदशास्त्र की विधि को दुख समझकर अथवा आलस्य से त्याग करि के केवल लोकाचार के अनुसार श्रद्धायुक्त होय यज्ञ दान आदि कर्म करते हैं उसकी निष्ठा कहे स्थिति कैसी होती हैं इसी को पूछते है कि हे कृष्ण उनकी जो देव पूजा अथवा यज्ञ आदि कर्म हैं सो सात्त्विक राजसी किंवा तामसी हैं ऐसी तीन प्रकार की शङ्का होती है जो ये पूर्वोक्त कर्मकारी लोग सतोगुणी होयं तो सात्त्विक हेतु से तत्वज्ञान मे उनका अधिकार हो सके है और जो सतोगुणयुक्त न होंय तो नहीं हो सकता है यह पूछने का तात्पर्य है ॥ १ ॥ इस का उत्तर भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह जो वेदशास्त्र के क्रम से भगवद्दर्शन करनेवालोंकी सात्त्विकी श्रद्धा एकही प्रकार की है पर हां लोकाचार अनुसार कर्म अनुष्ठान करनेवालोंकी जो श्रद्धा सोई सात्त्विकी राजसी तामसी

साखभावजा। सात्त्विकीराजसीचैवतामसीचेतितांशृणु ॥२॥ सत्त्वानुरूपासर्वस्य श्रद्धाभवतिभारत। श्रद्धामयोऽयंपुरुषोयोयच्छ्रद्धःसएवसः ॥३॥ यजन्तेसात्त्विकादेवा न्यक्षरक्षांसिराजसाः। प्रेतान्भूतगणांश्चान्येयजन्तेतामसाजनाः ॥ ४ ॥ अशास्त्र

भाषा अनुवाद

तीन प्रकार की होती है,तिसका कारण यह है कि स्वभाव कहे पूर्व्वकर्म के संस्कारवशते उत्पन्न जो श्रद्धा उसको स्वभावजा कहते हैं इससे स्वभाव को अन्यथा करने मे निश्चित समर्थ जो शास्त्रोक्त विवेकज्ञान सो लोकाचार कर्म करनेवालों को नहीं है इससे शुद्ध पूर्व स्वभाव के क्रमसे उत्पन्न जो श्रद्धा सो तीन प्रकार की होती है सो तीन भेद क्रम से सुनो परन्तु भगवत अर्चन विषयक सात्त्विकी श्रद्धा जो एकही प्रकार है सो भी व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनन्दन इस दूसरे अध्याय के एकतालीशयें श्लोक मे कही गई है यह जानो ॥२॥ पूर्वपक्ष कहते है कि हां श्रद्धा सात्त्विकी है क्योंकि श्रीभगवानने एकादशस्कन्धके पचीशये अध्याय के द्वितीय श्लोक से सत्व कार्यरूप जो भगवान उद्धव के प्रति निर्देश किया अर्थात् दिखाया है कि शम दम तितिक्षा ज्ञान तप सत्य दया स्मृति तुष्टि त्याग अनिच्छा श्रद्धा लज्जा औ आत्मनिवृत्ति कहे आत्मसुख ये सब इन्हों सतोगुण ही की है इस से श्रद्धा तीन प्रकार की कैसे कहते है जो ऐसा कहो तो सुनो कि हां सत्य कहते हो पर तथापि रजोगुण औ तमोगुण के संयोग से सत्वगुण की तीन प्रकारता हेतुक सात्त्विक श्रद्धा भी जो तीन प्रकार होती है सोई कहते हैं कि जो पूर्व सात्त्विक स्वभाव था सो उसके संस्कार से फेर भी सात्त्विकश्रद्धायुक्त होता है और जो रजोगुण प्रकाश था सो रजोगुण स्वभाव होता और तमोगुण वालों की तमोगुणी श्रद्धा होती अर्थात् तामसयुक्त होता है इस कारण लोकाचार कर्म कारी ऐसे सात्त्विक राजस तामस स्वरूप तीन प्रकार श्रद्धाका निर्देशमात्र कहे देखाया है परन्तु जो लोग शास्त्रज्ञान से प्रगट विवेकज्ञान से युक्त है तिनका स्वभाव सर्वोत्तम होने के वास्ते एकही प्रकारकी श्रद्धा होती है.इतना ही इस प्रश्न का तात्पर्यार्थ है ॥३॥ सात्त्विक आदि जो गुणभेद उसीको कार्य भेदसे विस्तार कर कहते है कि सात्त्विक स्वभावके जन सत्वप्रकृति लोग देवतोंको पुजते है ऐसे

विहितंघोरंतप्यन्तेयेतपोजनाः। दम्भाहङ्कारसंयुक्ताःकामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तःशरीरस्थंभूतग्राममचेतसः। माञ्चैवान्तःशरीरस्थंतान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्
॥ ६ ॥ आहारस्त्वपिसर्वस्यत्रिविधोभवतिप्रियः। यज्ञस्तपस्तथादानंतेषांभेदमिमं
शृणु ॥ ७ ॥ आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः। रस्याःस्निग्धाःस्थिराहृ

भाषा अनुवाद

होराजसस्वभाव रजः प्रकृति देवता यक्ष राक्षसादिकों को पूजते औ तामसी तमो गुणी भूतप्रेतों को पूजते हैं ॥४॥ और राजस तामस के मध्य मे भी जो विशेष है सो फेर दोश्लोकसे कहते हैं कि शास्त्र को विना जाने भी पूर्व संस्कार बल से कोई कोइ उत्तम पुरुष सात्विक स्वभाव होते हैं कोई मध्यम जन राजस स्वभाव होते और कोई अधम लोग तामस स्वभाव होते हैं और जो अत्यन्त मन्दभाग्य लोग अन्धपरम्परा मे पाषण्डियों के सङ्ग से पाषण्ड आचार के अनुवर्ती होके शास्त्र विधान से भिन्न लोक भयङ्कररूप तपस्या करते हैं तिनके विषय मे हेतु स्वरूप दम्भ औ अहङ्कार से संयुक्त तथा काम कहे अभिलाष औ राग कहे अभिलषित वस्तु मे चित्तरञ्जन के अनुरूप जो अधिक आशक्ति और बल कहे विषयों का आग्रह इस सब से युक्त होके। इस श्लोकका अर्थ दूसरे श्लोक के साथ पूरा होता ह ॥ ५ ॥ शरीरस्थ कहे शरीर के कारणरूप देह मे वर्त्तमान जो पृथिवी अप तेज वायु आकाश पंच भूत तिनको वृथा उपास करने से दुर्बल करके औ अन्त र्यामीरूप देहके बीच टिके हुये मेरे को भी लङ्घन कर दुःखदाइ होय जो अवि वेकी लोग तपस्या करते हैं तिनको आसुर निश्चय कहे अति क्रूरबुद्धि जानो तात्पर्य यह कि मेरी आज्ञा लङ्घन करना ही मुझे दुःख देना है ॥६॥ और आहा, रादि भेद से भी सात्विकादि गुण देखावने के मनोरथ से इस श्लोक से लेकर त्रयोदश श्लोक पर्यन्त कहते हैं कि सकल मनुष्यों का आहार जो अन्न आदि भी यथायोग्य तीन प्रकारसे प्रिय लगता है और यज्ञ तपस्या तथा दान आदि भी तीन प्रकार के होते हैं, सो सब भेद सुनो कि राजस तामस आहार औ यज्ञ दानादि परित्याग करके सतोगुण की वृद्धि के निमित्त सात्त्विक आहार औ यज्ञ आदि के विषय मे जो यत्न करना कर्त्तव्य है यह भगवान कहते हैं ॥ ७ ॥ अब पूर्वोक्त

द्याचाहाराःसात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥ कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आ
हाराराजसस्येष्टादुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥ यातयामंगतरसंपूतिपर्युषितञ्चयत्।
उच्छिष्टमपिचामेध्यंभोजनंतामसप्रियं ॥ १० ॥ अफलाकांक्षिभिर्यज्ञोविधिदिष्टोयइ
ज्यते। यष्टव्यमेवेतिमनःसमाधायससात्त्विकः ॥ ११ ॥ अभिसन्धायतुफलंदम्भार्थ

भाषा अनुवाद

सात्त्विकादि आहार के तीन प्रकार भेद तीन श्लोक से कहते हैं कि आयु कहे जीवन सत्त्व कहे उत्साह बल कहे शक्ति औ आरोग्य औ सुख कहे चित्त की प्रसन्नता प्रीति कहे अभिरुचि इस से यह आया कि आयु सत्त्व आदि के बढ़ावनेवाले और रस्य कहे रसयुक्त और स्निग्ध कहे चिकने घृतयुक्त औ स्थिर कहे रसांशके द्वारा चिरकाल देह में रहनेवाले और हृद्य कहे देखतेमात्र भोजन की इच्छाहोय ऐसे सुन्दर स्वरूप आहार भक्ष्य भोज्य आदि सात्त्विकरूप सात्त्विक स्वभाव पुरुष को प्रिय होते हैं ॥८॥ और अति कटु नींब आदि औ अति अम्ल औ अति लवण औ अति उष्ण कहे गरम औ अति तीक्ष्ण मरिचादि औ अति रूक्ष औ अति उग्र सरसों आदि ये सब राजस स्वभाव मनुष्य को प्रिय होते हैं परन्तु ये सब वस्तु दुख कहे भोजन समय में हृदय को सन्ताप आदि और शोक कहे भोजन के अनन्तर अप्रसन्नता और आमय कहे रोग ये सब खानेवाले को देते हैं क्यों कि ये सब दुख शोकमय हैं ॥९॥ और जो अन्न यातयाम कहे जिसको एक पहर बीत गया और ठंढा हो गया और गतरस कहे जिसका रस सूख गया सोठीसा रह गया औ पूति कहे दुर्गन्धयुक्त जो है और पर्युषित कहे बासी अन्न औ उच्छिष्ट कहे दूसरे का जूठा और अमेध्य कहे अपवित्र अभक्ष्य मांस आदि ऐसे आहार तामस स्वभाव मनुष्यों को प्रिय लगते हैं ॥१०॥ और यज्ञ भी तीन प्रकार की हैं तिनके बीच में सात्त्विक जो यज्ञ सो तीन श्लोक से कहते हैं कि जो पुरुष फल की आकांक्षा रहित अवश्य कर्तव्य है यह जानि यज्ञ करते सो यज्ञ सात्विक कहावती है और वे मनुष्य किस कारण से यज्ञ अनुष्ठान करते इस पर कहते हैं कि यज्ञकर्म करनाही चाहिये औरकोई फलके अर्थ कर्तव्य नहीं है ऐसा विचारि मन को एकाग्र करके यज्ञकरते हैं ॥ ११॥ राजस यज्ञकहते हैं कि हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन

मपिचैवयत्। इज्यतेभरतश्रेष्ठतंयज्ञंविद्धिराजसं॥ १२॥ विधिहीनमसृष्टान्नंमंत्र
हीनमदक्षिणं। श्रद्धाविरहितंयज्ञंतामसंपरिचक्षते॥ १३॥ देवद्विजगुरुप्राज्ञ
पूजनंशौचमार्जवं। ब्रह्मचर्य्यमहिंसाचशारीरंतपउच्यते॥ १४॥ अनुद्वेगकरंवा
क्यंसत्यंप्रियहितञ्चयत्। स्वाध्यायाभ्यसनंचैववाङ्मयंतपउच्यते॥ १५॥ मनःप्र
सादःसौम्यत्वंमौनमात्मविनिग्रहः। भावसंशुद्धिरित्येतत्तपोमानसमुच्यते॥ १६॥
श्रद्धयापरयातप्तंतपस्तत्त्रिविधंनरैः। अफलाकांक्षिभिर्युक्तैःसात्त्विकंपरिचक्षते॥१७॥

भाषा अनुवाद

फलकी कामनापूर्वक अपने महत्वको जनावनेके अर्थजो यज्ञकीहुईजाय सो राजस यज्ञ जानो ॥१२॥ अब तामस यज्ञ कहते हैं कि विधि हीन औ असृष्टान्न कहे जो यज्ञ के अर्थ अन्न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य से नहीं मिला होय सो अन्न औ मन्त्र हीन औ दक्षिणा दान रहित होय तथा श्रद्धा वर्जित की हुई यज्ञ को तामस यज्ञ कहते हैं ॥ १३॥ तपस्या भी सात्त्विकादि भेद देखावने के मानस से प्रथम शरीरादि के भेद क्रम से त्रिविध है सो तीन श्लोक से कहते हैं कि प्राज्ञ कहे गुरुजन से भिन्न और और तत्त्वज्ञानी औ ब्राह्मण तथा गुरुजन की पूजा और शौच आदि क्रिया इन सब को शिष्ट पुरुष शरीर सम्पादित तपस्या कहते हैं ॥१४ और वचन सम्बन्धी तपस्या कहते हैं कि कोई मनुष्य जिनसे भय न होय ऐसे अनुद्वेग कर वचन और सत्य तथा श्रोता को प्रिय लगें और परिणाम कहे अंत को सुखदाई और वेद अभ्यास करनेवाले वचनो को भी वाक्य तपस्या कहते हैं ॥ १५॥ अब मानसिक तपस्या कहते हैं कि मन की निर्मलता और सौम्यत्व कहे अक्रूरता और मौन कहे मुनिधर्म जो मनन करना आत्म विनिग्रह कहे विषयोंसे इन्द्रियोंको निग्रह जो रोकना और भावसंशुद्धि कहे व्यवहारमे निष्कपट रहना ये सब मानसिक तपस्यास्वरूप कहेजाते हैं॥ १६॥ शरीर वचन मनके द्वारा तीन प्रकार तपस्या देखाया सोई तीन प्रकार तप जो सात्त्विकादि गुण भेद से भी तीन प्रकार है सो तीन श्लोक से कहते हैं कि जो उतकृष्ट श्रद्धा से फल की कामनारहित औ एकाग्रचित्त होय मनुष्य लोग त्रिविध प्रकार कर्म करते तिनको पण्डित लोग सात्त्विक कहते हैं॥ १७॥ राजस कहते हैं कि जो सत्कार

सत्कारमानपूजार्थंतपोदम्भेनचैवयत् । क्रियतेतदिहप्रोक्तंराजसंचलमध्रुवं ॥१८॥ मूढ़ग्राहेणात्मनोयत्पीड़याक्रियतेतपः । परस्योत्सादनार्थंवातत्तामसमुदाहृतं ॥ १९॥ दातव्यमितियद्दानंदीयतेऽनुपकारिणे । देशेकालेचपात्रेचतद्दानंसात्त्विकं स्मृतं॥२०॥ यत्तुप्रत्युपकारार्थंफलमुद्दिश्यवापुनः । दीयतेचपरिक्लिष्टंतद्दानंराजसंस्मृतं ॥२१॥ अदेशकालेयद्दानमपात्रेभ्यश्चदीयते । असत्कृतमवज्ञातंतत्तामसमु

भाषा अनुवाद

अर्थात् यह पुरुष साधु औ यह तपस्वी ऐसे प्रतिष्ठावचनो मे जो पूजा औ मान कहे उन को देख उठ खड़े होना औ प्रणाम करना आदि जो दैहिक पूजा और पूजा कहे अर्थ लाभादि इन सब के निमित्त औ अपने महत्व के प्रकाश के अर्थ जो की जाय अथवा जो अनित्य और चणिक रूप है उसी को इस लोक मे शिष्ट लोग राजस कहते हैं ॥ १८ ॥ तामस तपस्या कहते हैं कि अविवेक से कुचेष्टा कर शरीर को क्लेश देय किम्वा और किसीके विनाश या दुख के अर्थ अभिचार स्वरूप जो तपस्या तिसको पण्डितजन तामस तपस्या कहते हैं ॥ १९ ॥ पूर्व कथित श्रद्धा सत दान के विषय मे भी सात्विकादि तीन प्रकार कहते हैं कि दान करना ही चाहिये ऐसी निश्चय से जो दान और उस से प्रत्युपकार न होय अर्थात् अपना उपकार न चाहे न वह पुरुष उपकारके जोग्यहोय जिसको दानदेय और कुरुक्षेत्र काशी प्रयाग तीर्थ स्थान मे तथा ग्रहण संक्रान्ति पर्व आदिक मे और वेद शास्त्रयुक्त ब्राह्मणों को अथवा यह पात्र सकल पाप दों से दाता की रक्षा करै एवंभूत पात्र कहे पात्र को जो दान दिया जाय उसी को पण्डित जन सात्विक दान कहते हैं ॥ २० ॥ राजस दान कहते हैं कि समय के अनुसार यह मेरा प्रत्युपकार करेगा इस हेतु से अथवा स्वर्ग फलभोगके अर्थ चित्तक्लेशयुक्त देते समय कष्ट होय अर्थात्ऐसा जो दान तिसको शिष्टलोग राजस कहते हैं ॥२१॥ अब तामस दान कहते हैं कि अदेश कहे अपवित्र स्थान मे अकाल कहे अशौचादि समय मे और अपात्र कहे चोर लबार नाचने नकल करनेवालों को जो दान अथवा देश काल विद्यावान के रहते भी असत्कृत कहे पाद प्रक्षालन आदि सत्कार रहित अथवा अनादर से जो दान सुपात्र को भी दिया जाय तिस

दाहृतं ॥२२ ओंतत्सदितिनिर्देशोब्रह्मणस्त्रिविधःस्मृतः । ब्राह्मणास्तेनवेदाश्च यज्ञाश्चविहिताःपुरा ॥२३॥ तस्मादोमित्युदाहृत्ययज्ञदानतपःक्रियाः । प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताःसततंब्रह्मवादिनां ॥२४॥ तदित्यनभिसन्धायफलंयज्ञतपःक्रियाः । दा

भाषा अनुवाद

को शिष्ट लोग तामस दान कहते हैं ॥ २२ ॥ जो कहो कि ऐसा विचार करने से प्राय सब यज्ञ औ तपस्या तथा दान आदि राजस औ तामस मात्र ही होते हैं इस कारण यज्ञ आदि कर्मों मे यत्न करना वृथा है इस शङ्का पर पूर्वोक्त यज्ञ दान आदि बहुधा राजस तामस होने से भी सात्त्विकत्व प्रतिपादन की उपाय देखाय कर कहते हैं कि ओं तत् सत् ये जो तीन शब्द सो परमात्मा के नाम के अनुरूप निर्दिष्ट हैं इन के मध्य मे अकार उकार औ मकार का स्वरूप जो ओंकार सो ब्रह्म है यह श्रुतियों मे प्रसिद्ध है सो ओं शब्द ब्रह्म ही का नाम है और जगत्कारण हेतु से ज्ञानियों को अपरोक्ष है तत् भी ब्रह्म और परमार्थ औ विद्यमानत्व औ साधुत्व औ प्रसस्तत्वादि प्रयुक्त और हे सौम्य इस जगत की सृष्टि के पूर्व सत्स्वरूप मे था ऐसे श्रुतियों के कहने से सत् शब्द भी ब्रह्महो का नाम है और यह त्रिविध नाम कहने से निकृष्टको भी उत्कृष्ट करने को नाम समर्थ है इस अभिप्राय से प्रशंसा करते हैं कि विधाता ने सृष्टिके प्रथम इस परमात्मा के त्रिविध नाम का उद्देश कर के ब्राह्मण औ वेद औ यज्ञका निर्माण किया अथवा जो परमात्मा का यह तीन प्रकार निर्देश है सोई परमात्मा ने ब्राह्मण अति पवित्र को सृष्ट किया इससे ओं तत् सत् यह कहना अति प्रसस्त कर्के उत्तम है ॥ २३ ॥ अब ओंकारादि शब्दों को प्रसस्तता देखावने के मनोरथ से ओंकार का प्रसस्तत्व कहते हैं कि जिस हेतु परमात्मा का निर्देश इसी रूप से प्रसस्त है इस से ओ मात्र उच्चारण पूर्वक वेदादि उक्त यज्ञ दान औ तपस्या आदि शास्त्रोक्त क्रिया सकल यथावत् संपूर्ण न होने से अर्थात् हीन होने से भी अच्छी तरह गुण संपन्न सर्वाङ्ग पूर्ण होती है ॥ २४ ॥ दूसरे नाम की प्रसंशा करते हैं इस स्थल मे पूर्वोक्त ओं शब्द के साथ तत्पद का सम्बन्ध है शुद्ध चित्त मुमुक्षु पुरुषो की अक्षत फल रूप कामना ब्रह्मरूप यज्ञ आदि क्रिया

नक्रियाश्चविविधा क्रियन्तेमोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥ सद्भावेसाधुभावेचसदित्येतत्प्रयुज्य ते। प्रशस्तेकर्मणितथासच्छब्दःपार्थयुज्यते ॥२६॥ यज्ञेतपसिदानेचस्थितिःसदिति चोच्यते। कर्मचैवतदर्थीयंसदित्येवाभिधीयते॥२७॥ अश्रद्धयाहुतंदत्तंतपस्तप्तंकृत म्चयत्। असदित्युच्यतेपार्थनचतत्प्रेत्यनोइह ॥२८॥ इति सप्तदशोध्यायः ॥१७॥

भाषा अनुवाद

तत् शब्द उच्चारण पूर्वक की जाती हैं इसी से चित्तशुद्धि के द्वारा फल सङ्कल्प त्याग पूर्वक मुमुक्षुत्व हेतु से तत् शब्द का निर्देश करना भी प्रसस्त है ॥ २५ ॥ सत् शब्द प्रसस्त है यह दो श्लोक से कहते है कि सत् भाव कहे अस्तित्व और साधुभाव कहे साधुत्व इन दोनो अर्थ को सत् शब्द कहता है और हे अर्जुन प्रसस्त कहे माङ्गलिक विवाहादि कर्म मे भी यह सत् कर्म इन विषयों मे सत् शब्द का प्रयोग योग्य है और मङ्गलादि अर्थ को भी कहता है ॥ २६ ॥ और यज्ञ तप दान मे जो स्थिति कहे इन का तात्पर्य जानि कर अवस्थान है उसको भी विद्वान जन सत् कहते है औ परमात्मा के अर्थ अथवा यज्ञ तप दान के अर्थ जो कर्म किये जायें वे भी सत् कहे जाते है जो ये यज्ञ दान तप आदि कर्म परमात्मा की सेवा के अर्थ जो कर्म सब असात्विक किम्वा विगुण अङ्गहीन भी होयं पर श्रद्धापूर्वक किये होंय और ब्रह्मके नाम जो ओं तत् सत् इनसे युक्त किये होयं तो सगुण सात्विक होतें है ॥ २७ ॥ अब मनुष्य श्रद्धा पूर्वक कर्म मे प्रवृत्त होंय इस लिये अश्रद्धा कृत कर्म की निन्दा करते है कि अश्रद्धा से होम तप दान औ पूजा आदि कर्म जो किये जाते है उनको ज्ञानी औ शिष्ट कहे भलेलोग असत् भाव कहते है क्यो कि अङ्ग विकल होने से इन कर्मों का फल परलोक मे भी नहीं होता है और अयश करनेवाले हैं इस से इह लोक मे भी कुछ फल नहीं है तो शरीर का क्लेश औ धन की खराबी करने से भी क्या फल है अयश तो न करके औ करके भी मिले होगा जो इस फल की इच्छा होय तो ॥ २८ ॥ इति जगन्नाथ सुकुल विरचित मनभावनी टीकायां सप्तदशोध्याय ॥ १७ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादश अध्यायः।

अर्जुनउवाच। संन्यासस्यमहाबाहोतत्त्वमिच्छामिवेदितुं। त्यागस्यचहृषीकेश

भाषा अनुवाद

अब प्रथम समग्र अष्टादश अध्याय का तात्पर्य संक्षेप से श्रीधरस्वामी कहते हैं कि भगवान श्रीकृष्ण ने समग्र गीताशास्त्र का जो संग्रह अर्थ सोई परमार्थ है यह निर्णय करने के अर्थ अठारहें अध्याय मे संन्यास औ त्याग भिन्न भिन्न करके स्पष्ट रूप से कहा है और सर्व कर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी यह ५ अध्याय का १३ स्रोक औ शुभाशुभ फलैरेवं मोक्ष्य से कर्मबन्धनैः संन्यास योगयुक्तात्मा विमुक्तोमामुपैष्यसि यह ९ अध्याय का २८ स्रोक औ त्यक्त्वाकर्मफला संगंनित्यतृप्तोनिराश्रयः यह ४ अध्याय का २० स्रोक औ सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरुयतात्मवान् यह १२ अध्याय का ११ स्रोक इन सब स्रोकों से और और अध्याय मे भी तीन तीन स्रोकों से फल मात्र त्याग करके निष्काम समस्त कर्म करने का उपदेश दिया है परन्तु परम करुणामय सर्वज्ञ जो भगवान श्रीकृष्ण सो परस्पर विरुद्ध वचन कभी भी उपदेश न करैंगे इसी से कर्मोंके त्यागकरने के विषयमे जिस प्रकारसे विरोध न पडे सोई जानने की इच्छा करि अर्जुन कहते हैं कि हे हृषीकेश अर्थात् इन्द्रियों के नियामक प्रवर्त्तक और हे केशिनिषूदन केशी नाम दैत्य ब्रजलीला के समय अश्व रूप धरके आया तो भगवान उसके मुख मे अपना हाथ डाल ककरी के समान चीर डाल के डाल दियाथा सोई कहा कि हे महाबाहो श्रीकृष्ण संन्यास औ त्याग शब्द का तत्त्व अर्थ मै भिन्न भिन्न करके जाना चहूं हौं सो दया करके मुझसे कहिये ॥१॥ इस अर्जुन की प्रश्न

यन्केशिनिसूदन॥ १॥ श्रीभगवानुवाच। काम्यानांकर्मणान्यासंसंन्यासंकवयो विदुः। सर्वकर्मफलत्यागंप्राहुस्त्यागंविचक्षणाः॥२॥ त्याज्यंदोषवदित्येकेकर्मप्राहुर्म

भाषा अनुवाद

के उत्तर मे भगवान कहते है कि देखो पुत्र की कामना करि के पुत्रइष्टि यज्ञ करै और स्वर्ग की कामना करि अश्वमेध यज्ञ करै तथा और और कामना करि जो जो कर्म विहित है ऐसे जो काम्यकर्म तिन सब के परित्याग करने को ही पण्डित लोग संन्यास जानते है अर्थात् फल सहित सकल कर्म के त्याग को संन्यास ज्ञान करते है और जितने कर्म अकर्म कहे कुत्सित कर्म औ नित्य नैमित्तिक कर्मों के फलमात्र त्याग को विचक्षण कहे निपुण लोग त्याग कहते है पर विचार से तो कर्म त्याग करनेको तो त्याग नहीं कहते है फल त्याग यत्न त्याग हो सकै है क्यों कि बहुतेरे कर्म ऐसे है कि जिनका शरीर रहते त्याग नहीं हो सकता है तो शास्त्रोक्त कर्म नित्यनैमित्तिक उपासना आदि जिन से बुद्धि की शुद्धि औ ज्ञान की योग्यता होती उनका त्याग लोकविरुद्ध संसार अवस्था मे अनुचित है परन्तु जिसको तत्त्व ज्ञान नहीं भया है उसको कर्मफल के त्याग करने हीं को त्याग जानो और जिसको तत्वज्ञान है उसीको समस्त कर्म का संन्यास हो सके है और उचित भी है यह भगवानने अर्जुनसे कहा॥२॥ मतान्तर कहे अन्यमतको निषेध करते हुये उक्त विषय को दृढ करने की इच्छा से मतभेद देखाते है कि हिंसादि कर्म दोषयुक्त औ अनर्थहेतु से बन्धस्वरूप हैं इस लिये सब कर्म का त्याग करना उचित यह सांख्य मतवाले विवेकी लोग माहिं स्यात्सर्वभूतानि इस वचन से कहते है और अग्नीषोमीयं पशुमालभेत् इस श्रुति से अग्निष्टोम यज्ञ मे पशुहिंसा को यज्ञक्रिया का अङ्गविधान किया है और सकल कर्मों के करने मे जीवहिंसा ज्ञान अज्ञानपूर्वक होती है इससे कर्ममात्र का त्याग कहा है और कर्मकाण्डी मीमांसा मतवाले अग्नीषोमीयं पशुमालभेत् इस विधि केवलसे कहते है कि यज्ञकर्ममे हिंसा हिंसा नहीं है करनी ही चाहिये और यज्ञ छोडकर हिंसा करने से पुरुष को पाप होता है इस अभि प्राय पर भगवान कहतेहै कि कोई बुद्धिमान तो कहते कि दोषवत कहे दोषयुक्त

नीषिणः। यज्ञदानतपःकर्मनत्याज्यमितिचापरे॥३॥ निश्चयंशृणुमेतत्रत्यागेभर
तसत्तम। त्यागोहिपुरुषव्याघ्रत्रिविधःसंप्रकीर्त्तितः॥४॥ यज्ञदानतपःकर्मनत्या
ज्यंकार्य्यमेवतत्। यज्ञोदानंतपश्चैवपावनानिमनीषिणां॥५॥ एतान्यपितुकर्माणि
संगंत्यक्त्वाफलानिच। कर्त्तव्यानीतिमेपार्थनिश्चितंमतमुत्तमं॥६॥ नियतस्यतुसं

भाषा अनुवाद

कर्मत्याग करना चाहिये और कोई यज्ञ दान तप कर्मका त्याग नहीं कहते हैं क्यो कि विधिकृत हिंसा से दोष नहीं होता है परन्तु अहिंसातो परम धर्म है॥३॥ इस प्रकार से अन्य मत कहि कर अब अपने मत कहने की इच्छा से भगवान कहते है कि हे भरतसत्तम भरतवंशी अर्जुन इस पूर्वोक्त परस्परविरुद्ध मत के विषय मे निश्चयरूप जो मेरे वचन सो सुनो और त्याग की लोकमे प्रसिद्ध है तो उसके विषयमे और क्या सुनेंगे ऐसा अनादर न करना यहीकहतेहैं कि हे पुरुष व्याघ्र कहे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन त्याग पदार्थ बड़ा कठिन दुर्बोध है जिसहेतु इसकाम्य कर्मका त्याग तत्त्वदर्शी लोगों ने अच्छीतरह से विचार करके तामसआदि भेद से त्रिविध कहे तीन प्रकार का कहा है सो त्यागविषयक तीन प्रकार इसी अध्यायके इस सतये श्लोक से कहेंगे कि नियतस्यतुसंन्यास इति॥४॥ अब प्रथमअपने निश्चित वचनको दो श्लोकसे कहतेहै कि यज्ञदान औ तपरूपकर्मत्याग करनेके योग नहीं है वरन अवश्यही कर्त्तव्य है क्योंकि ये यज्ञ दान तप पूजन आदि सत्कर्म विवेकी पुरुषों को पावन करते हैं अर्थात् चित्त के शुद्धि करनेवाले है॥५॥ जिस प्रकार से किये गिये हुये ये कर्म विवेकी जनोके चित्त को शुद्ध करते है सोई प्रकार से इन कर्मोका अनुष्ठान देखावते हुये कहते है कि हे पार्थ अर्जुन सङ्ग कहे कर्त्ता भिनिवेश अर्थात् हम कर्त्ता इस कर्म को करते है इस अहंकार को छोडकर केवल ईश्वर के आधीन रूप से कर्म का अनुष्ठान करना उचित है और फल की कामना को भी त्याग करके जो कर्मका करना है यही हमारा निश्चित अभिमत सिद्धान्त है इसी से वह कर्म उत्तम है यह भगवानने अर्जुन से कहा है॥६॥ अब इस श्लोकसे देखावते है कि सकल काम्यकर्मोको बन्धकत्व है अर्थात् कामना करि किये हुये कर्म बन्धन करते है इस हेतु से उनका त्याग करना ही कर्त्तव्य है

न्यासःकर्मणोनोपपद्यते। मोहात्तस्यपरित्यागस्तामसःपरिकीर्त्तितः॥ ७॥ दुःख
मित्येवयत्कर्मकायक्लेशभयात्यजेत्। सकृत्वाराजसंत्यागंनैवत्यागफलंलभेत्॥ ८॥
कार्य्यमित्येवयत्कर्मनियतंक्रियतेऽर्जुन। सङ्गंत्यक्त्वाफलञ्चैवसत्यागःसात्त्विकोमतः॥९॥
नद्वेष्ट्यकुशलंकर्मकुशलेनानुषज्जते। त्यागीसत्त्वसमाविष्टोमेधावीछिन्नसंशयः॥१०॥

भाषा अनुवाद

परन्तु नियतकहे नित्य कर्मोंका त्यागकरना योग्यनहींहै क्योंकिनित्यकर्म सत्वबुद्धि केद्वारा मोक्षके साधनस्वरूपहैं इससे यद्यपि कर्मका परित्याग करना ठीक है तौ भी नित्यकर्म्म का त्याग मोह मात्रहीसे होता अर्थात् तामस है क्यों कि मोह तमो गुण से होता हैं इस से उस त्याग को शिष्ट लोगों ने तामस ही कहा है॥ ७॥ राजस त्यागको कहते हैं कि जो मनुष्य आत्मज्ञान के विना केवल कर्म्म करना दुख मात्र है यह विचारि के और शरीर के क्लेश के भय से नित्यकर्म्मको त्याग करता है सो त्याग राजस है क्यों कि दुख रजोगुण का धर्म्म है इसी से राजस त्याग कारी रजो गुणी पुरुष को ज्ञानमे निष्ठा जो त्याग का फल सो कभूं भी नहीं मिलै है॥ ८॥ अब सात्त्विकरूप त्याग कहते हैं कि हे अर्जुन कर्म्म सब कर्त्तव्य है ऐसे विचार से नियत कहे अवश्य कर्त्तव्य रूप विहित कर्मों को कर्तृत्व अभि निवेश कहे अहंबुद्धि औ फल की कामना रहित जो त्याग करना सो सात्विक त्याग है॥ ९॥ एवम्भूत सात्विक त्याग मे प्रकृष्ट निष्ठायुक्त पुरुष के लक्षण कहते है कि सतोगुण से सात्विकत्यागी पुरुष अकुशल कहे दुखदायी अर्थात् शिशिर कहे जाडे मे प्रातःस्नान आदि कर्म्म से द्वेष नहीं करते और कुशल कहे ग्रीष्म काल के मध्यान स्नान दानादि कर्मों मे प्रीति नहीं रखते है इसका कारण यह है कि वे लोग स्थिर बुद्धि अर्थात् विवेक से अन्यकृत पराभव अनादर आदि महा दुख भी महते है और स्वर्गादि सुख को भी त्याग करते है फेरि सुख औ दुख जो क्षणिक कहे क्षण मात्र रहनेवाला है यह निश्चय जानते है औ जिस का देहिक सुख दुख के ग्रहण औ त्याग की इच्छा रूप जो मिथ्या ज्ञान सो जिसका नष्ट हो गया है वही छिन्न संशय पुरुष है॥ १०॥ जो कहो कि पूर्वोक्त कर्मों के फल त्यागसे कर्मों ही का त्याग करना हीं श्रेष्ठ क्यों

नहिदेहभृताशक्यंत्यक्तुंकर्माण्यशेषतः । यस्तुकर्मफलत्यागीसत्यागीत्यभिधीयते॥११॥
अनिष्टमिष्टंमिश्रञ्चत्रिविधंकर्मणःफलं। भवत्यत्यागिनांप्रेत्यनतुसंन्यासिनांक्वचित्॥१२॥
पञ्चैमानिमहाबाहोकारणानिनिबोधमे। सांख्येकृतान्तेप्रोक्तानिसिद्धयेसर्वकर्मणां॥१३॥

भाषा अनुवाद

न होय जिस हेतु विक्षेप करनेवाले कर्म्म दूर होने से अविक्षेप क्रम से ज्ञाननिष्ठा रूप जो सुख सो सम्पन्न होयगा इस पर कहते हैं कि देह अभिमानयुक्त मनुष्य तावत् सर्व्व कर्मों का सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकते हैं इस में प्रमाण तीसरे अध्याय के पञ्चयें श्लोक आदि से कहा है कि न कश्चित् क्षणमपिजातुतिष्ठत्यकर्म्मकृत् इति इससे जो सकल कर्म्मका अनुष्ठान करके भी फलमें त्यागी है वेई पुरुष प्रधान त्यागी है ॥ ११ ॥ अब पूर्वोक्त त्यागका फल कहते हैं कि अनिष्ट कहे नरक औ इष्ट कहे देवत्व तथा मिश्र कहे मनुष्यत्व येई पाप पुण्य मिले हुये कर्मों के फल है सो काम्यकर्म करनेवालों को देहान्त होने पर प्राप्त होते हैं क्यों कि सकाम मनुष्यों को पाप पुण्य औ दोनोंसे मिले हुयें त्रिविध कर्म्म सम्भव होते हैं परन्तु ये कर्मसंन्यासी पुरुष को किसी तरह सम्भव नहीं होते और संन्यासी इस प्रसङ्गमें कर्मफलका त्यागीही लिया जाताहै यहां प्रमाण सुनो कि अनाश्रितः कर्मफलं कार्य्यं कर्मकरोति यः स संन्यासी च योगी च इति ६ अध्याय के प्रथम श्लोक से लेकर कहा है और कर्मफलत्यागी पुरुषको सब जगह संन्यासी कहा है इस से यह फल त्यागी सात्त्विक मनुष्य को पाप के असम्भव हेतु से और भगवत् को अर्पण करने से पुण्यफलके भी त्याग होने से त्रिविध जो कर्मफल वे किसी प्रकार से भी नहीं होते हैं ॥ १२ ॥ जो कहो कि कर्मी पुरुष को कर्मफल क्यों न होयँगे इसशङ्कापर सङ्गत्यागी विद्वान मनुष्यको जो कर्मबन्ध नहीं होते यह सिद्ध करने की इच्छासे यहां से पांच श्लोकके द्वारा कहते हैं कि हे महाबाहो कर्मोंकी निष्पत्तिमें ये पांचकारण मेरे वचनसे तुम जानो और अपने कर्तृत्वरूप अभिमान की निवृत्ति के अर्थ इन कारणों को अवश्यही जानना चाहिये कि इस प्रकार परमात्मा सम्यक् रूप से प्रसिद्ध अर्थात् ज्ञान का विषय होता है इस अर्थ का सूचन करनेवाला जो सांख्य भावार्थ यह कि तत्वज्ञान से प्रकाशमान आत्मबोध ही को

अधिष्ठानंतथाकर्त्ताकरणञ्चपृथग्विधं। विविधाश्चपृथक्चेष्टादैवञ्चैवात्रपञ्चमं ॥१४॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्मप्रारभतेनरः। न्याय्यंवाविपरीतंवापञ्चैतेतस्यहेतवः ॥१५॥
तत्रैवंसतिकर्त्तारमात्मानंकेवलन्तुयः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्नसपश्यतिदुर्मति ॥१६॥

भाषा अनुवाद

सांख्य कहते है और ऐसे कर्मो का अन्त कहे समाप्ति इसी मे है इस अर्थका सूचक जो कृतान्त अर्थात् सांख्य कृतान्त कहे वेदान्त सिद्धान्त मे अथवा इसमे सब तत्व गने गये है इस अर्थ का सूचक सांख्य और इस तरह से किया है अन्त अर्थात् सकल निर्णय है इस मे इस अर्थका सूचक जो कृतान्त पद इन दोनो पदार्थ को सांख्य कहते है सोइ सांख्यने ये पांचो कारण अच्छी प्रकार से कहा है इस से तुम इसको सम्यक् प्रकार से जानो॥ १३॥ सोई सर्वकर्म संपत्तिके विषय मे कारण कहते है कि अधिष्ठान कहे शरीर औ कर्त्ता कहे चित औ जड़ की ग्रन्थि रूप अहङ्कार और भिन्न भिन्न अनेक प्रकार करण स्वरूप चक्षु आदि इन्द्रीय और विविध कहे कार्य से या स्वरूप से भिन्न भिन्न चेष्टा अर्थात् प्राण अपानादि वायु के व्यापार समूह और अत्र कहे अधिष्ठान शरीर आदि सब के मध्य मे पञ्चम स्वरूप दैव अन्तर्यामी सर्वनियन्ता अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों के अनुकूलकारी सूर्य आदि देवता जानो इहां चित्तका अर्थ ज्ञान है॥ १४॥ इन्ही पांचों को सर्व्व कर्म मे कारणत्व कहते हैं कि इन्ही पांचो के कारण से आरम्भ किये जाते जो कर्म सकल तिनको शरीरादि मे अन्तर्गत कहे मानिके इस श्लोक मे कहा है कि जिस हेतु कर्मभाव जो शारीरिक औ वाचनिक तथा मानसिक होते है यह प्रसिद्ध है औ श्लोक का अर्थ यह है कि शरीर वचन औ मन के द्वारा सब मनुष्य जो कोई धर्म या अधर्म करतेहै सोई सकल कर्मके कारण है येई अधिष्ठान कहे शरीर आदि पांच कर्मोके हेतु है ॥१५॥ तो इससे फेरि क्या होता है इस अपेक्षा पर कहते है कि उन कर्मो के हेतु जो अधिष्ठानादि पांचभाव है और कोईहेतु नही है सो होनेसेभी शास्त्र औ आचार्य के उपदेशसे नहीं शोधी गई बुद्धि इस कारणसे जो दुर्म्मति मनुष्य उपाधि रहित असङ्गरूप आत्माको कर्त्तारूप देखते है इस से ये दुर्म्मति मनुष्य

यस्यनाहंकृतोभावोबुद्धिर्यस्यनलिप्यते। हत्वापिसइमांल्लोकान्नहन्तिननिबध्यते॥१७
ज्ञानंज्ञेयंपरिज्ञातात्रिविधाकर्मचोदना। करणंकर्मकर्तेतित्रिविधःकर्मसंग्रहः॥

भाषा अनुवाद

दर्शी नहीं हैं॥ १६॥ जिस को कर्म लेप नहीं है ऐसा सुमति कौन है इस अपेक्षा से कहते हैं कि मैंने यह कर्म किया और मैं कर्त्ता हूं ऐसी वासना जिसको नहीं है अथवा शरीर औ इन्द्रीभाव को कर्तृत्व देखने से अहंकार स्वभाव रूप कर्तृत्व का भी लेश जिसको नहीं हैं इस हेतु से जिसकी बुद्धि इष्ट अनिष्ट विचार से सकल कर्म मे आसक्त नहीं होती है ऐसा जो देहादि से भिन्न रूप आत्मदर्शी पुरुष प्राणियों को लोक दृष्टि से हनन करके भी सबमें अभिन्न रूप आत्मदृष्टि हेतु से किसीका भी हनन नहीं करता है और कर्मफल से बन्धको नहीं पावता है सत्वशुद्धि के द्वारा अपरोक्ष कहे प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होनेसे निष्काम कर्मके द्वारा उसको बन्धनकी शङ्का और बाकी क्या है यह ५ अध्याय के १० श्लोक मे कह चुके हैं कि जो कर्म फल की आसक्ति छोड़ भगवदर्पण पूर्वक कर्मका अनुष्ठान करते हैं ते मनुष्य जलके बीच वर्त्तमान पद्मपत्र के समान पुण्य पाप समस्त कर्म से अलग रहते लिप्त नहीं होते हैं॥ १७॥ कर्म मे अभिनिवेश जो इच्छा औ आसक्ति कहे तनमन से लगे रहना इन दोनो से रहित पुरुष हनन करके भी हनन नहीं करते औ बंधन को प्राप्त होते इस पूर्वोक्त वाक्यभाव के कहने के लिये कर्मकी विधि है औ कर्म श्रेय कहे कल्याण कर है और कर्मफल आदि सबको त्रिगुणात्मकत्व हेतु से गुणातीत जो आत्मा तिसको इस कर्मविधि आदिके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है इस कहने की अभिप्राय से कर्म विधि औ कर्म श्रेय कहते हैं कि ज्ञान कहे यही इष्टका साधन हैं ऐसा जो बोध औ ज्ञेय कहे इष्ट के साधन स्वरूप जो कर्म और परिज्ञाता कहे ऐसे ज्ञानका आश्रय भूत जो मनुष्य यही त्रिविध कर्मविधि कहे प्रेरणा है अर्थात् इसी प्रेरणा से लोग कर्म मे प्रवृत्त होते हैं श्लोकार्थ यह हैं कि कर्मविषयक जो विधि सो उक्तरूप त्रिगुणात्मक ज्ञान आदि को अवलम्बन करके प्रवृत्त होती है यह दूसरे अध्यायके ४५ श्लोक मे कहा है कि

१८॥ ज्ञानंकर्मचकर्त्ताचत्रिधैवगुणभेदतः। प्रोच्यतेगुणसंख्यानेयथावच्छृणुतान्यपि ॥ १९ ॥ सर्वभूतेषुयेनैकंभावमव्ययमीक्षते। अविभक्तंविभक्तेषुतज्ज्ञानंविद्धिसात्त्विकं ॥२०॥ पृथक्त्वेनतुयज्ज्ञानंनानाभावान्पृथग्विधान्। वेत्तिसर्वेषुभूतेषुतज्ज्ञानंविद्धिराजसं॥ २१ ॥ यत्तुकृत्स्नवदेकस्मिन्कार्येसक्तमहैतुकं। अतत्त्वार्थवदल्प

भाषा अनुवाद

हे अर्जुन त्रिगुणात्मक सकाम अधिकारीके सम्बन्धसे फल सम्बन्ध वेद मे कहा है और करण कहे साधन औ कर्म कहे कर्त्ताकी अत्यन्त इच्छा की अधिक ईसे किया जाय जो व्यापार और कर्त्ता कहे कियाका करने हारा और सब कर्म सम्पूर्ण रूप से इसी मे गृहीत होते है इस अर्थके सूचन करनेवाले पदको कर्मसंग्रह कहते हैं करण कर्म कर्त्तारूप तीन कारक ये क्रियाके आश्रयहैं और सम्प्रदान अपादान औ अधिकरण ये तीन केवल परस्पर आक्रमण से क्रिया के प्रवर्त्तक हैं साक्षात् क्रियाके आश्रय स्वरूप नहीं हैं इसीसे पूर्वोक्त तीन करणोको क्रिया के आश्रय स्वरूप कहा है॥ १८॥ अब क्रिया कारक औ फल को गुणात्मता से सत्त्व रज तम कृत त्रिविध भेद कहा चाहते है इस अपेक्षा पर कहते हैं कि इसीमे गुण कार्य भेदसे सम्पूर्णप्रतिपादन करकेकहते हैं इस अर्थका सूचन करनेवाला संख्यान कहे सांख्यशास्त्र तिस मे सात्त्विक आदि गुणभेद क्रमसे तथा कार्य के द्वारा ज्ञान औ कर्म तथा कर्त्ता ये प्रत्येक त्रिविध स्वरूप कहे गये हैं सोई मै यथावत् कहता हूं तिन को भी तुम श्रवण करो॥ १९॥ इस श्लोक से लेकर तीन श्लोक मे इस ज्ञानका सात्त्विक आदि भेद से तीन प्रकार कहते है कि ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त परस्पर भिन्न भिन्न सकल वस्तु मे प्राप्त एक निर्विकार स्वरूप अव्यय परमात्मतत्त्व का जिस ज्ञान से आलोचन किया जाय उस ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान तुम जानो ॥२०॥ इस श्लोक मे राजस ज्ञान कहते हैं कि भूत कहे देहधारीमात्र मे नाना भाव अर्थात् सब की शरीर मे क्षेत्रज्ञ आत्मा पृथक् पृथक् सुखी दुखी रूप से भिन्न भिन्न भी जाना जाय जिस ज्ञान से सो ज्ञान राजस जानो ॥२१॥ तामसज्ञान कहते हैं कि एक कार्य मे अर्थात् स्थूल शरीर मे अथवा प्रतिमा आदि मे सक्त कहे शरीर ही आत्मा औ प्रतिमा ही ईश्वर है

न्वतत्तामसमुदाहृतं ॥२२॥ नियतंसङ्गरहितमरागद्वेषतःकृतं। अफलप्रेप्सुना
कर्म्मयत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥ यत्तुकामेप्सुनाकर्म्मसाहङ्कारेणवापुनः। क्रिय
तेबहुलायासंतद्राजसमुदाहृतं ॥२४॥ अनुबंधंक्षयंहिंसामनपेक्ष्यचपौरुषं। मो
हादारभ्यतेकर्म्मयत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥ मुक्तसङ्गोऽनहंवादीधृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारःकर्त्तासात्त्विकउच्यते ॥ २६ ॥ रागीकर्म्मफलप्रेप्सुर्लुब्धोहिं

भाषा अनुवाद

ऐसे निश्चय से युक्त और अहेतुक कहे युक्तिविरुद्ध औ परमार्थ अवलम्बन रहित जो ज्ञान उक्त कारणों से अल्प विषय अल्प फल हेतु से तुच्छ है उस ज्ञान को शिष्टजनो ने तामसरूप निरूपण किया है॥ २२ ॥ अब इस श्लोक से ले तीन श्लोक के द्वारा सकल कर्म को त्रिविध कहते हैं कि फलप्राप्ति की इच्छा करते है ऐसे जो फल के लोभी जनो से किये जाते है उन से भिन्नरूप निष्काम कर्म के अनुष्ठान करने वालों से नियत कहे नित्यरूप से विहित औ अभिनिवेश आसक्ति शून्य जो कर्म किये जायं और जो पुत्र आदि के प्रीत्यर्थ अथवा शत्रु पर क्रोध भाव से किये न होंय ऐसे कर्म सात्त्विक है ॥ २३ ॥ और कर्मफल प्राप्ति का इच्छुक अथवा अहङ्कारी कहे जो अपने समान और को नही मानता है ऐसे अहङ्कारयुक्त मनुष्य से किये गये अथवा जो कर्म अति क्लेशयुक्त होंय उन्ही को शिष्टजन राजस स्वरूप कहते है ॥ २४ ॥ अब तामस कर्म कहते है कि पश्चात् बन्धकारें ऐसे अनुबन्ध कहे पश्चात्भावीशुभ अशुभ और धनव्यय तथा अपनी सामर्थ्य न विचारिके केवल मोह से जो कर्म आरम्भ किये जाय वेई तामस कर्म है ॥ २५ ॥ इस श्लोक से ले तीन श्लोक से कर्मकर्त्ता सब को त्रिविध करके कहते हैं कि कर्म अनुष्ठाई पुरुष कर्तृत्व अभिनिवेश बुद्धि रहित और गर्व्ववचन रहित औ धैर्य उत्साह जो उद्यम इन दोनो के द्वारा युक्त समस्त कर्म मे सिद्धि असिद्धि को अपेक्षा हर्ष विषाद शून्य होय ऐसे कर्त्ता पुरुषों को सात्विक स्वभाव कहते है ॥ २६ ॥ और पुत्र आदि के स्नेहयुक्त औ कर्मफल का कामी और परधन का अभिलाषी औ निर्दय स्वभाव औ शौच रहित औ हानि लाभ मे शोक हर्षयुक्त कर्मकारी मनुष्य राजस स्वरूप कहे रजो

सात्मकोऽशुचिः। हर्षशोकान्वित कर्त्ता राजस परिकीर्त्तित॥२७॥ अयुक्त प्राकृत स्तब्ध शठो नैष्कृतिकोऽलस। विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते॥२८॥ बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु। प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥२९॥ प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्य्याकार्य्ये भयाभये। बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धि सा पार्थ सात्त्विकी॥३०॥ यया धर्ममधर्मञ्च कार्य्यञ्चाकार्य्यमेव च। अयथावत् प्रजानाति बुद्धि सा पार्थ राजसी॥३१॥ अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्व्वार्थान्वि

भाषा अनुवाद

गुणी है॥२७॥ और अयुक्त कहे असावधान औ प्राकृत कहे विवेक रहित औ स्तब्ध अनम्र स्वभाव औ शठ कहे कर्मचोर औ नैष्कृतिक कहे परका अपमान करनेवाला तथा आलसी औ विषाद या सदा शोगी औ दीर्घसूत्री कोहे जो कर्म तुर्त करने का होय उसे महीनो तकटालै ऐसे मनुष्य तामसकर्त्ता कहावते है ऐसे ही कर्त्ताकी त्रैविध्य से ज्ञाताभी तीन प्रकारके है और कर्म की त्रैविध्यसे ज्ञेयमात्र को त्रैविध्य कहा औ बुद्धि त्रिविध कहने से कारण भी तीन प्रकार के है॥२८॥ अब बुद्धि औ धृति कहे धैर्यकी त्रैविध्य कहनेकी प्रतिज्ञा करते है कि हे धनञ्जय अर्जुन बुद्धि के औ धैर्यके सत्व आदि गुण क्रमसे तीन भेद जो है उन को मै भिन्न भिन्न कहता हूं तुम सावधान होय सुनो॥२९॥ अब इस श्लोक से ले तीन श्लोकसे बुद्धि की त्रैविध्य कहते है कि धर्म मे प्रवृत्ति औ अधर्म से निवृत्ति औ देश कालके अनुसार जो कर्त्तव्य औ अकर्त्तव्यकर्म औ काल अकाल जानि अर्थ अनर्थ ज्ञान तथा बन्ध ही कैसे औ मोक्ष ही वा कैसे होतो इस विचार से भय अभय ये सब बुद्धि कहे अन्तःकरण जानि सके है ऐसो बुद्धि सात्विकी है इस जगह बुद्धि के द्वारा पुरुष सबजानता है यह कहनेको ये परवह रीतिछोड इसीतरह परकहा कारण को कर्त्ता करके कहा है॥३०॥ और हे पार्थ अर्जुन जिस बुद्धि से धर्म अधर्म औ काल अकाल अयथावत् कहे ठीक ठीक नजाना जाय जिससे सो बुद्धि राजसी है॥३१॥ और तमोगुणसे आवृत कहे घेरी जो बुद्धि अधर्मको भी जानि धर्मके सकल विषय को विपरीत कहे उलटा जाने ऐसी विपरीत ग्रहण करनेवाली बुद्धि तामसी है यहां भी करणता बुद्धि की उचित थी पर कर्त्तारूप से कहा है अथवा धर्म

परीतान्बुद्धि सापार्थतामसी ॥ ३२ ॥ धृत्यायया धारयतेमनःप्राणेन्द्रियक्रिया।
योगेनाव्यभिचारिण्याधृतिःसापार्थसात्त्विकी ॥ ३३ ॥ ययातुधर्मकामार्थान्धृत्याधा
रयतेऽर्जुन। प्रसङ्गेनफलाकाङ्क्षीधृतिःसापार्थराजसी ॥ ३४ ॥ ययास्वप्नंभयंशोकं
विषादंमदमेवच। नविमुञ्चतिदुर्मेधाधृतिःसातामसीमता ॥ ३५ ॥ सुखंत्विदानीं
त्रिविधंशृणुमेभरतर्षभ। अभ्यासाद्रमतेयत्रदुःखान्तञ्चनिगच्छति ॥ ३६ ॥ तदग्रे
विषमिवपरिणामेऽमृतोपमं। तत्सुखंसात्त्विकंप्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजं ॥ ३७ ॥

भाषा अनुवाद

अन्त करण की वृत्ति बुद्धि औ निश्चय तथा इच्छा द्वेष आदि रूप अन्त करण की वृत्ति बहुत रहते भी धर्म अधर्म औ भय अभय की साधनरूप बुद्धि को प्रधान किया है और सब उपलक्षणरूपसे त्रिविध कहे गये हैं ॥३२॥ अब इस श्लोक को अवधिकर तीन श्लोकसे धृतिको त्रैविध्य कहते हैं कि हे अर्जुन योग कहे चित्त की एकाग्रता से और और विषय का धारण न करके जो धैर्य से मन औ प्राण तथा सब इन्द्रियों को सकल क्रिया की जुड़ई जायं वही धृति सतोगुणी है ॥ ३३ ॥ अब राजसी धृति कहते हैं कि हे अर्जुन तिससे भिन्न जा धृति कि जिस से धर्म अर्थ औ काम सब श्रेष्ठरूप से धारण किये जाय परित्यक्त न होय और उन के सङ्गम से धर्मादि के फल की आकांक्षी भी होय ऐसी धृति का नाम राजसी है ॥ ३४ ॥ अब तामसी धृति कहते हैं कि हे अर्जुन जिस मनुष्य को दुर्मेधा कहे अविवेकिनी नीच बुद्धि है और वह दुर्बुद्धि मनुष्य जिस धृति कहे धैर्य से निद्रा औ भय शोक तथा विषाद कहे दुख औ मद इनको नहीं छोड़ता है वह धृति तामसी है ॥३५॥ अब सुख भी तीन प्रकार का है यह प्रतिज्ञा आधे श्लोक से कहते हैं कि हे भरत वंशी अर्जुन अब त्रिविध सुख भी हम से सुनो कि जो पुरुष नित्य अभ्यास के हेतु से सुखभोग करता है और विषयी लोगों के समान विषय वासना से अति हठ धर करके सुख [illegible] नहीं करता औ प्रीति को नहीं प्राप्त होता है वैसा जो सुख भोगी पुरुष सो हठा[illegible] फलको प्राप्त होता अर्थात् दुखसे छूट जाता है ॥३६॥ और वह सुख कैसा है इस पर कहते हैं कि जो सुख आगे कहे प्रथम विषके तुल्य है औ अन्त को अमृत समान होता है वह सुख सात्त्विक है और आत्मा तथा

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमं। परिणामेविषमिवतत्सुखंराजसंस्मृतं॥३८॥
यदग्रेचानुबन्धेचसुखंमोहनमात्मनः। निद्रालस्यप्रमादोत्थंतत्तामसमुदाहृतं॥३९॥
नतदस्तिपृथिव्यांवादिविदेवेषुवापुनः। सत्त्वंप्रकृतिजैर्मुक्तंयदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः॥
४०॥ ब्राह्मणक्षत्रियविशांशूद्राणाञ्चपरन्तप। कर्माणिप्रविभक्तानिस्वभावप्रभवैः

भाषा अनुवाद

बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न है अर्थात् मलरूप रजोगुण तिनको तमोगुण सतो गुण दूर करे है तब यह सुख प्रगटै है॥३७॥ अब राजस सुख कहते हैं कि विषय वासना सहित इन्द्रियों के संयोग से जो प्रिय सङ्गम आदि सुख होता है और पहले तो अमृत तुल्य लगता है औ अन्त को दुख दाई हेतु से विष समान होता सोई सुख राजस है॥३८॥ तामस सुख कहते हैं कि अग्रे कहे पहिले और अनुबंध कहे पीछे भी जो सुख मोहकारी विशेष से निद्रा औ आलस्य तथा प्रमाद कहे चित्त की असावधानी औ मन की जड़ता से जो सुख होय है सोई तामस सुख है॥३९॥ अब जो पूर्व अध्यायों में कहीं नहीं कहा सो इस श्लोक से ले तीन श्लोक से कहते हैं कि इन सतोगुण आदि प्रकृति के गुणों से मुक्त अर्थात् छूटा हुआ सत्व आदि कहे प्राणीमात्र नहीं है अथवा और कोई वस्तु क्या पृथिवी मे मनुष्य आदि क्या स्वर्ग मे देवता आदिमे भी कोई नहीं है॥४०॥ जो समस्त क्रिया औ कारक कहे क्रियों के साधन तथा फल आदि औ प्राणीमात्र सब भी त्रिगुणात्मक कहे त्रिगुणमय भये हैं तो इन लोगों की मुक्ति कैसे घटै कहे होय सकै है इस शङ्का निवारण के अर्थ अपने अपने अधिकार अनुसार कर्म अनु ष्ठान के द्वारा भगवत आराधन से भई हुई भगवत की कृपा प्राप्ति से प्रगट जो तत्वज्ञान तिसके द्वारा ही जो मुक्ति होयगी यह जो सब गीता का सारसंग्रह है सो देखावनेका मानसकरके इसश्लोकसे ले अध्यायसमाप्ति पर्यन्त प्रकारान्तर कहे दूसरी रीत कहने का आरम्भ करते हैं कि हे परन्तप शत्रुनाशक अर्जुन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य औ शूद्र इन के कर्म प्रविभक्त कहे प्रकाष्ट रूप से भिन्न भिन्न विहित हैं और, द्विज पद से शास्त्र मे ब्राह्मण आदि तीन वर्ण कहे जाते हैं इस से शूद्र को अलग करके कहा है सोई लक्षण कहते हैं कि स्वभाव कहे सतोगुण

गुणैः ॥ ४१ ॥ शमोदमस्तपःशौचंक्षान्तिरार्जवमेवच। ज्ञानंविज्ञानमास्तिक्यंब्रह्म
कर्मस्वभावजं ॥ ४२ ॥ शौर्य्यंतेजोधृतिर्दाक्ष्यंयुद्धेचाप्यपलायनं। दानमीश्वरभाव
श्चक्षत्रकर्मस्वभावजं ॥ ४३ ॥ कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यंवैश्यकर्मस्वभावजं। परिचर्य्या

भाषा अनुवाद

आदि जिनसे सबका प्रभव कहे उत्पत्ति है उन्हींके अनुसार ब्राह्मण आदिके कर्म पृथक पृथक विहित है अथवा स्वभाव कहे पूर्व जन्मका संस्कार उसके अनुसार जो ब्राह्मण आदि की गुणक्रम से कर्मों मे प्रवृत्ति है विशेष यह कि ब्राह्मण सतोगुण प्रधान है औ क्षत्रिय कुछ सतोगुण सहित रजोगुण प्रधान है और वैश्य कुछ सतोगुण तमोगुण ले कर रजोगुण प्रधान है और शूद्र कुछ रजोगुण युक्त तमोगुण प्रधान है यह जानो ॥ ४१ ॥ तो वे स्वाभाविक कौन कर्म हैं सोई कहते है कि शम कहे चित्त की शान्ति औ दम कहे वाह्य इन्द्रियों की शान्ति औ तप जो १७ अध्याय के १४ स्लोक मे शरीर की तपस्या कहा है तथा शौच अर्थात् वाहर भीतर की शुद्धि औ क्षान्ति कहे क्षमा आर्जव कहे सोधापन औ ज्ञान कहे शास्त्र के अर्थ का वोध और विज्ञान कहे अनुभव तथा आस्तिक्य कहे परलोक है ऐसी निश्चय रूप वुद्धि ये सव ब्राह्मणों के स्वभाव सिद्ध कर्म हैं सो जानो ॥ ४२ ॥ अब क्षत्रिय के स्वभावज जो कर्म उनको कहते है कि शौर्य कहे पराक्रम औ तेज कहे ढीठापन धृति कहे धैर्य औ दाक्ष्य कहे निपुणता और संग्राम आन पडने से पीठिदे न भागना तथा दान कहे उदारता औ ईश्वर भाव अर्थात् विषय सम्बन्धी नियम आदि करने की शक्ति ये सव क्षत्रियों के स्वभाव ही से उत्पन्न कर्म है ॥ ४३ ॥ अव वैश्यके स्वभावज कहे स्वभाव सिद्ध कर्म कहते है कि कृषी कहे खेती औ गो रक्षा सो दो प्रकार की है एक तो गऊका रक्षण दूसरा अपने आश्रितका पालन करना औ वाणिज्य व्यापार खरीदना वेचना तथा ब्राह्मण देवता मे श्रद्धा रखना ये सव वैश्यवंश के स्वाभाविक कर्म हैं अव शूद्र का कर्म सुनो कि इन तीनो वर्ण की सेवारूप व्यापार शूद्रका स्वभावज कर्म है शूद्र को सेवा छोड और कर्म नहीं है ॥ ४४ ॥ ब्राह्मण आदि वर्णों के इन सव कर्मों को ज्ञान का हेतुत्व कहते हैं कि अपने अपने अधिकार

त्मकंकर्मशूद्रस्यापिस्वभावजं ॥ ४४ ॥ स्वेस्वेकर्मण्यभिरतःसंसिद्धिंलभतेनरः। स्व
कर्मनिरतःसिद्धिंयथाविन्दतितच्छृणु॥ ४५ ॥ यतःप्रवृत्तिर्भूतानांयेनसर्वमिदंततं।
स्वकर्मणातमभ्यर्च्यसिद्धिंविन्दतिमानवः॥ ४६ ॥ श्रेयान्स्वधर्मोविगुणःपरधर्मात्स्व
नुष्ठितात्। स्वभावनियतंकर्मकुर्वन्नाप्नोतिकिल्बिषं॥ ४७ ॥ सहजंकर्मकौन्तेय

भाषा अनुवाद

के अनुसार विहित कर्म मे निरत कहे निष्ठा से लगे ज्ये मनुष्य संसिद्ध कहे ज्ञान की योग्यता लाभ करते हैं और कर्म के द्वारा ज्ञान प्राप्ति की प्रकार इस श्लोक के आधे से ले डेढ़ श्लोक से कहते हैं कि अपने कर्म से सब तरह निष्ठायुक्त पुरुष जिस प्रकार से तत्त्वज्ञान लाभ करते है सो प्रकार तुम श्रवण करो ॥४५॥ अब कर्म से ज्ञान प्राप्ति का प्रकार कहते हैं कि अन्तर्यामी रूप जो परमेश्वर कि जिस से प्राणी मात्र चेष्टा करते हैं और कारण स्वरूप जो ईश्वर कि जिस ईश्वर से यह समस्त जगत व्याप्त है उस ईश्वर को समस्त कर्म के द्वारा अभ्यर्च्य कहे पूजन करके मनुष्य सम्पूर्ण ज्ञान की योग्यता रूप सिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ ४६ ॥ और पूर्व श्लोक मे कहा जो स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य उसी स्वकर्म विशेषण वचन का फल कहते हैं कि स्वानुष्ठित कहे अच्छीतरह से किये ज्ये पराये के धर्म की अपेक्षा से स्वधर्म कहे अपना धर्म विगुण अर्थात् अङ्गहीन भी श्रेय कहे अति उत्तम है इस हेतु बन्धुवध आदि से युक्त भी क्षत्री का धर्म जो युद्ध तिस से भिक्षाटन स्वरूप पर धर्म श्रेष्ठ नहीं है और पूर्वोक्त स्वभाव क्रम से नियत कहे नियम स्वरूप शास्त्रोक्त स्वधर्म का अनुष्ठान कर्त्ता ज्या कोई भी पुरुष किल्बिष जो पाप तिस को नहीं प्राप्त होता है सो अर्जुन तुम किस विचार के बखेडे मे पडे हौ अपने काम को देखो इस चिन्ता से कुछ फल नहीं हैं ॥४७॥ परन्तु स्वधर्म से जो सांख्यमत के अनुसार हिंसा को दोष रूप जानि के औ अहिंसा हेतु से परधर्म श्रेष्ठ जो विचार करो तौ परधर्म के आचरण मे भी दोष हैं इस अभिप्राय पर कहते है कि हे कौन्तेय अर्जुन मनुष्यों को सहज कहे स्वभावसिद्ध औ शास्त्रविहित जो स्वधर्म सो दोषयुक्त होने से भी त्याग करने योग्य नहीं है क्योंकि समस्त आरम्भ अर्थात् दृष्ट अदृष्ट

सदोषमपिनत्यजेत् । सर्वारम्भाहिदोषेणधूमेनाग्निरिवावृता ॥ ४८ ॥ असक्त
बुद्धि:सर्वत्रजितात्माविगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिंपरमांसंन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥
सिद्धिंप्राप्तोयथाब्रह्मतथाप्नोतिनिबोधमे । समासेनैवकौन्तेयनिष्ठाज्ञानस्ययापरा ॥
॥५०॥ बुद्ध्याविशुद्धयायुक्तोधृत्यात्मानंनियम्यच । शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वारागद्वेषौ

भाषा अनुवाद

कर्ममात्र सब दोषयुक्त है तो जैसे स्वाभाविक धूम से आवृत अग्निको दोषयुक्त रहते भी लोग धूम रूप दोष परित्याग करके केवल अन्धकार औ शीत वारण के अर्थ सेवन करते हैं तैसे ही स्वकर्म भी दोष अंश को छोडके गुण अंश मात्र सत्वबुद्धिके अर्थ सेवन करने योग्य है सोई कहा कि हे अर्जुन सहज कहे स्वाभाविक दोषयुक्त भी अपना कर्म छोडना न चाहिये क्यों कि सब आरम्भ कहे कर्म सदोष है जैसे धूम दोष से युक्त अग्नि को कौन छोड देय है ॥४८॥ जो कहो कि दोष अंश छोडि के गुण मात्र ही ग्रहण करि के कर्म किस प्रकार किये जाय सकेंगे इस अपेक्षा पर कहते हैं कि जिन की बुद्धि असक्त कहे आसक्ति रहित है और जितात्मा अर्थात् जो निरहङ्कार है और जिनकी इच्छा कर्म के फल से दूर होगई है ऐसे पुरुष सङ्ग जो आसक्ति औ फल इन दोनो को भी छोडकर इस अध्याय के नवम श्लोकमे कहे अनुसार आसक्ति औ फल त्यागरूप संन्यासके द्वारा परम नैष्कर्म्य सिद्धि कहे सर्व कर्म निवृत्तिरूप जो सत्वशुद्धि सो पावते हैं ॥४९॥ पूर्वोक्त ऐसे परमहंस पुरुष को ज्ञाननिष्ठाके क्रम से ब्रह्मभाव की प्राप्ति का प्रकार इस श्लोक से ले साठि के श्लोक तक कहते हैं कि हे कौन्तेय अर्जुन नैष्कर्म्यसिद्धि को प्राप्त करके ज्ञानविषयक प्रकृष्टनिष्ठा से जैसे पुरुष ब्रह्म को प्राप्त होते हैं सो प्रकार संक्षेप मे श्रवण करो अर्थात् ज्ञान की जो श्रेष्ठ निष्ठा है सो सुनो ॥५०॥ सोई कहते हैं कि उक्त प्रकार क्रमसे पूर्वोक्त विशुद्धस्वरूप सात्विक बुद्धियुक्त पुरुष सात्विकी धृति से आत्मा कहे इस बुद्धि को नियम्य कहे निश्चय करके शब्द आदि सर्व विषय का त्याग करनेके अनन्तर और विषयप्रयुक्त राग द्वेषको भी दूरकरके ब्रह्मभावको प्राप्तहोतेहैं इसश्लोकसे ले तीन श्लोकका अर्थ एकसाथ होताहै ॥५१॥ विविक्त सेवी कहे पवित्र देशवासी और लध्वासी कहे परिमित आहारकारी होय

व्युदस्यच ॥५१॥ विविक्तसेवीलघ्वाशीयतवाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरोनित्यंवैरा
ग्यंसमुपाश्रितः ॥५२॥ अहङ्कारंबलंदर्पंकामंक्रोधंपरिग्रहं। विमुच्यनिर्ममःशा
न्तोब्रह्मभूयायकल्पते ॥५३॥ ब्रह्मभूतःप्रसन्नात्मानशोचतिनकांक्षति। समःसर्वेषु
भूतेषुमद्भक्तिंलभतेपरां ॥ ५४ ॥ भक्त्यामामभिजानातियावान्यश्चास्मितत्त्वतः।
ततोमांतत्त्वतोज्ञात्वाविशतेतदनन्तरं ॥५५॥ सर्वकर्माण्यपिसदाकुर्वाणोमद्व्यपाश्रयः

भाषा अनुवाद

और इन उपायों से यत वाक् काय मानस अर्थात् वचन देह और मन को वश करके सदा ध्यान क्रम से जो योग कहे अविद्या अज्ञान निवृत्तिरूप ब्रह्म साक्षात् कार तिसमे तत्पर होय अपने ध्यान के अविच्छेद के लिये सम्पूर्णरूप से वारवार दृढ वैराग्य का आश्रय लेकर ॥५२॥ और अहङ्कार औ वल कहे निंद्यवस्तु की इच्छा औ दर्प कहे योगवल से आकाश गमनरूप आदि मायामे प्रवृत्ति और प्रार ब्धवशते अप्राप्य वस्तु मे जो काम क्रोध का रोकना और अदृष्टवशते हठात् प्राप्त वस्तु मे भी ममता रहित होके शान्ति को प्राप्त पुरुष ब्रह्म के साथ समता अर्थात् अहंब्रह्म ऐसा अचलरूप अवस्थान करनेके योग्यहै ॥५३॥ अहं ब्रह्म ऐसी निश्चय रूप अवस्थिति का फल कहते है कि ब्रह्मभूत कहे ब्रह्मभाव को प्राप्त प्रसन्न चित्त पुरुष देह आदिमे अभिमानके अभावसे नष्ट जो संसारीविषय तिनका शोच नहीं करते है और अप्राप्त विषय की भी आकांक्षा नहीं करते इसी से रागद्वेषादिजात विक्षेप के अभाव से भूतमात्र मे समभावयुक्त होने के अनन्तर सकल प्राणीयों मे मद्भावरूप जो मेरी उत्तमभक्ति तिसको प्राप्त होते है ॥५४॥ तिसके अनन्तर वही उत्तम भक्तिके द्वारा हम को यथार्थरूपसे जानते है और मै कैसा हूं इस अपेक्षा पर कहते है कि जिस रूप से हम सर्वव्यापी औ घनचिदानन्दस्वरूप हैं तैसा हम को जानते है और तिस के अनन्तर हम को ऐसे यथार्थरूप से जानि कै फेर उस ज्ञान के उपर कहे शान्त होने पर हमारे ही मे प्रवेश करते अर्थात् परमा नन्दस्वरूप होते है ॥५५॥ अपने अधिकार के अनुसार कर्मके क्रमसे भगवत की आराधना हेतु से कहा जो मुक्ति का प्रकार सो कहते है कि नित्य औ नैमित्तिक पूर्व कहे उन्ये सर्व कर्मका निरन्तर अनुष्ठानकारी और मत् व्यापाश्रय कहे जिस

मत्प्रसादादवाप्नोतिशाश्वतंपदमव्ययं ॥५६॥ चेतसासर्वकर्माणिमयिसंन्यस्यमत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्यमच्चित्तःसततंभव ॥५७॥ मच्चित्तःसर्वदुर्गाणिमत्प्रसादात्तरिष्य
सि। अथचेत्त्वमहङ्कारान्नश्रोष्यसिविनङ्क्ष्यसि ॥५८॥ यदहङ्कारमाश्रित्यनयोत्
स्यइतिमन्यसे। मिथ्यैवव्यवसायस्तेप्रकृतिस्त्वांनियोक्ष्यति ॥५९॥ स्वभावजेनकौन्ते

भाषा अनुवाद

के मै ही आश्रयणीय हौं और स्वर्ग आदि फल आश्रयणीय नहीं है ऐसे पुरुष मेरी अनुग्रह से सास्वत अर्थात् अनादि औ अव्यय कहे नित्य जो सर्व श्रेष्ठ ब्रह्मपद तिसको प्राप्त होते है ॥ ५६ ॥ जिस हेतु नित्य आदि कर्म के अनुष्ठान से ब्रह्म प्राप्ति होती है इस से सर्व कर्म बुद्धि के द्वारा हम को समर्पण करि के मत्पर कहे मही हौं परम प्रार्थनीय प्राप्य परम पुरुषार्थ सर्वस्वरूप जिस के अथवा व्यवसायात्मिका बुद्धि के कर्मयोग को आश्रय कर के सतत कहे कर्म अनुष्ठान काल मे भी मद्गतचित्तपुरुष ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविःब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतं इस ४ अध्यायके २४ श्लोक मे कहे हुये ज्ञानके द्वारा मेरे मे चित्त समर्पित होता है सो हे अर्जुन तुम बुद्धियोग से तद्रूप समचित्त होउ ॥ ५७ ॥ और समचित्त होने से जो होगा सो सुनो तात्पर्य यह कि मद्गतचित्त हो के मेरी कृपा से तावत दुर्ग अर्थात् दुस्तर सांसारिक दुख समूह से तरि जावगे और इस के विपरीत आच रण मे दोष कहते है कि और जो इस प्रकार कहने पर भी तुम अपने अहंकार अर्थात् हम बडे ज्ञानी इस अभिमानसे हमारे कहने पर कान न करोगे तो पुरुष को उचित औ हित करनेवाला जो धर्म तिस से भ्रष्ट होउगे अर्थात् विनष्ट हो जावगे औ दुर्गति भी भोगना पडेगा ॥५८॥ और जो कहो कि अच्छा हम धर्म से भ्रष्ट होय परन्तु तौ भी भाई और बन्धुवों के साथ युद्ध न करैंगे तिस पर कहते है कि मेरी कही सब बातो को अनादर पूर्वक अहङ्कारके भरोसे जो कहो कि मै युद्ध न करूंगा ऐसी जो तुम मनमे निश्चय करते हौ तो तुमारा यह निश्चय करना स्वाधीनता के अभाव हेतुसे अर्थात् तुम स्वाधीन नही हौ इससे यह बात मिथ्या कहे झूठमूठहै सोई कहतेहै कि जो तुमारीप्रकृति कहे क्षत्रीको रजोगुण, की अधिकाई सो तुम को अवश्यही युद्धमे प्रवृत्त करैगी अन्त को भय मारोगे औ

र्त्वनिबद्धःस्वेनकर्मणा। कर्तुंनेच्छसियन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपितत् ॥६०॥ ईश्वरः
सर्वभूतानांहृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानियन्त्रारूढानिमायया ॥६१॥
तमेवशरणंगच्छसर्वभावेनभारत। तत्प्रसादात्परांशान्तिंस्थानंप्राप्स्यसिशाश्वतं॥

भाषा अनुवाद

लड़ोगे और इस मीटने के मीटने से केवल जगत मे दुर्यश छोड और कुछ हाथ लागना नहीं है यह जानो ॥५९॥ और हे कौन्तेय कुन्तीनन्दन अर्जुन स्वभाव कहे जो पूर्व कर्म का संस्कार जिससे रजोगुण विशिष्ट क्षत्री के जामा को प्राप्त हो और शूरता आदिगुण कर्म से निवद्ध कहे वशीभूत तुम मोहके मारे जो इस समयमे युद्ध कर्मकरनेकी इच्छा नहीं करते हो पर इसके वाद अवश होय यही कर्म अवश्यही करोगे इसमेकुछभी झूठ न मानो ॥६०॥ इससे पिच्छिले दोनोश्लोकमे सांख्य आदि मतानुसारी मनुष्योकी प्रकृतिपारतंत्र्य कहे स्वभावाधीनता कही गई अब दो श्लोक से निज कहे अपना मत कहते है कि हे अर्जुन सकल भूतोंके हृदय मे नियामक रूपसे अन्तर्यामी ईश्वरस्थिति करते है तो किस प्रकार से टिके है इस आकांक्षा पर कहते है कि भूतमात्र को माया जो अपनी शक्ति तिस के ओर से भ्रमण कहे उपस्थिति समस्त कर्मोमे प्रवृत्त करावते भये सबमे टिकेहै जैसे काठपुतली को सूत्र धार वाजीगर लोग लोगों के सामने नचावैहै अथवा यन्त्र कहे शरीरआरूढ कहे जीव को भ्रमण करावते स्थिति करते है इस पर श्वेताश्वतर उपनिषद के मन्त्र का प्रमाण देते है कि एक स्वयं प्रकाश जो परमात्मा सो भूतो मे निगूढभाव से स्थित औ सर्वव्यापी सब का अन्तर्यामी औ कर्मो का नियन्ता औ भूतों का आधार रूप औ द्रष्टा देखनेवाला औ भूतमात्र को चेतनकारी अद्वितीय औ गुणातीत है और अन्तर्यामी जो बुद्धि मे स्थिति करके बुद्धि का नियम करै है और जिस को बुद्धि नहीं जानती और बुद्धि ही जिसकी उपाधिहै सोई तुमारेभी आत्मा औ अन्तर्यामी तथा कैवल्यस्वरूप है ॥६१॥ जब कि ईश्वर ही सर्व्वभूतमात्र का प्रेरक है और उसी की प्रेरणासे सकल कर्म प्राणी करते है तो फेरि अपना पुरुषार्थ करना वृथा है इस अभिप्राय से कहते है कि जिस हेतुसे जीवमात्र परमेश्वर के वशीभूत हैं इससे हे भारत अर्जुन तुम अहङ्कार को परित्याग करके सम्यक प्रकारसे

६२॥ इतितेज्ञानमाख्यातंगुह्याद्गुह्यतरंमया।विमृश्यैतदशेषेणयथेच्छसितथाकुरु।
॥६३॥ सर्वगुह्यतमंभूयःशृणुमेपरमंवचः। इष्टोऽसिमेदृढमितिततोवक्ष्यामितेहि
तं॥६४॥ मन्मनाभवमद्भक्तोमद्याजीमांनमस्कुरु। मामेवैष्यसिसत्यंतेप्रतिजानेप्रि

भाषा अनुवाद

ईश्वर की शरण ग्रहणकरो तदनन्तर तिनकी कृपासे परां कहे उत्तम शान्ति औ परमेश्वरसम्बन्धीनित्य जो स्थान सो पाओगे यह भगवाने अर्जुनसे कहा॥६२॥ अब समस्त भगवद्गीता का अर्थ कहे तात्पर्य कहते हैं कि इस प्रकार से मैं ने दया कर के तुम को ज्ञान उपदेश दिया और सो ज्ञान कैसा है इस अपेक्षा से कहते है कि गुह्य कहे गोपन करने योग्य तथा मन्त्रयोग आदिसे भी जो ज्ञान गुह्यतर अति रहस्य है सोई मैने कहा इससे तुम गीताशास्त्रको पहिले अच्छीतरह आलो चन कर के फेर तुमारी जैसी इच्छा होय तैसा करो भावार्थ यह कि इस गीता के अर्थको विचार करने से अवश्य ही तुमारा मोह निवृत्त हो जायगा यह भग वानने कहा॥ ६३ ॥ अति गूढ अर्थ से युक्त जो गीताशास्त्र तिसको सम्यक आलोचना करने को असमर्थ जो अर्जुन तिनसे अनुग्रह करके भगवान आप ही गीताका सारसंग्रहरूप अर्थ कहि इस श्लोकसे ले तीन श्लोकके द्वारा कहते है कि उस सब गोपनीयसेभी अति गुह्यतम जो हमारे वचन सो यद्यपि प्रसङ्ग प्रसङ्गपर कहे भी गये है पर तौ भी फेर कहता हूं सो तुम सुनो और वारवार कहने में हेतुयहतेहै कि तुम हमारे दृढ कहे अत्यन्त प्रियहो इसीसे तुमारी प्रीति औहित के अर्थ फेरभी कहूंगा अथवा मेरी वाक्य को तुमने दृढ प्रमाण करके जाना और जाना इससे तुम हमें अतिप्रिय हो तो फेरि तुमारेहितके जो वचनहै सो कहूंगा ॥६४॥ अब समस्तहितोंसे बढके परमहित क्याहै इस शङ्कापर कहनेको अङ्गीकार किये हुये गीतार्थ सारको कहते है कि मन्मना कहे मतचित्त होउ और मेरही भक्त कहे आश्रित होउ औ मतयाजी कहे मेरेही पूजनकारी होउ और प्रभीको नमस्कार करो इस प्रकार से वर्त्तमान रहने पर मेरी अनुग्रहसे प्राप्त तत्त्वज्ञानके द्वारा जो हम को प्राप्त होउगे इस मे कुछ संशय न करो क्योंकि तुम हमारे प्रियपात्र हो सो इसपर तुमको सत्यप्रत्यय कहे प्रतीति जिससे होय इससे हम तुम

योऽसिमे ॥६५॥ सर्वधर्मान्परित्यज्यमामेकंशरणंव्रज। अहंत्वांसर्वपातेभ्योमोक्ष यिष्यामिमाशुचः ॥६६॥ इदन्तेनातपस्कायनाभक्तायकदाचन। नचाशुश्रूषवेवाच्यं नचमांयोऽभ्यसूयति ॥६७॥ यइमंपरमंगुह्यंमद्भक्तेष्वभिधास्यति। भक्तिंमयिपरां कृत्वामामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥ नचतस्मान्मनुष्येषुकश्चिन्मेप्रियकृत्तमः। भवितान

भाषा अनुवाद

को प्रतिज्ञा करके कहते हैं ॥६५॥ पूर्व कही गुह्यतम बात से भी जो गुह्य कहे गोपनीय सो कहते हैं कि हमारी भक्तिही से सकल सिद्धि होती है इस प्रकार दृढ विश्वास करिके विधि कहे प्रारब्ध औ वेद शास्त्र के विधान का भरोसा छोडि एक हमारी ही शरण लेउ अर्थात् मेरे कहे पर विश्वास करो तो ऐसे हमारी शरणागत रूप मे वर्त्तमान तुमारे कर्म्मयोग से जो फेरि और पाप होंयगे ऐसा शोच न करना क्योंकि एक मेरे शरण मे प्राप्त तुमको मै यावत पाप से उद्धार औ मुक्त करूंगा इस से शोक दूर करो और अपना काम देखो ॥६६॥ इस प्रकार से श्रीभगवतगीता का तत्त्व अर्थ उपदेश करके अब गीता की संप्रदाय रूप प्रवर्त्तन करने मे अर्थात् दूसरे को उपदेश देने मे नियम कहते है कि हे अर्जुन इस गीताके अर्थ तत्त्व को तुम अतपस्का कहे स्वधर्म्म अनुष्ठान रहित मनुष्य से न कहना और न कभी अभक्त कहे ईश्वर गुरु तथा ब्राह्मण की भक्ति विहीन को कहना और अशुश्रूषु अर्थात् ब्राह्मण गुरु तथा ईश्वर की शुश्रूषा सेवा जो नहीं करता अथवा गीता श्रवण करने की जिसको अनिच्छा होय ऐसे मनुष्यों को भी कभी न कहियो और जो परमेश्वर स्वरूप हमारे मे मनुष्य बुद्धि लाय कर दोष आरोप करता हुआ निन्दा करै उसको भी तुमकभी न कहना यह तुम से हम प्रत्युपकार चाहते है ॥ ६७ ॥ पूर्व कहे हुये सब दर्पो से वर्जित भक्तजनों को गीतार्थ के उपदेश करनेवाले पुरुषका फल कहते है कि जो यह परम गुह्य गीतार्थ का उपदेश मेरे भक्तको करैगा सो मनुष्य मेरी पर कहे उत्तम भक्तिका अधिकारी होयगा और तदनन्तरसो मनुष्य सर्व संशयसे रहित होय हमको प्राप्त होयगा यह जानो ॥६८॥ तिसमेंहे अर्जुन उपदेश करने औ संप्रदाय चलानेवाले मनुष्यों के मध्य मे मेरा भक्त गीता का उपदेशकारी जो है उसके समान और

चमेतस्मादन्यःप्रियतरोभुवि ॥६९॥ अध्येष्यतेचयइमंधर्म्यंसम्वादमावयोः। ज्ञानय
ज्ञेनतेनाहमिष्टःस्यामिति मेमतिः ॥७०॥ श्रद्धावाननसूयश्चशृणुयादपियोनरः।
सोऽपिमुक्तःशुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥ कच्चिदेतच्छ्रुतंपार्थत्वयैका
ग्रेणचेतसा। कच्चिदज्ञानसम्मोहःप्रनष्टस्तेधनञ्जय ॥७२॥ अर्जुनउवाच। नष्टो

भाषा अनुवाद

कोई भी नहीं मेरा अत्यन्त परितोष करनेवाला है और न होगा और पृथिवी मे उससे अधिक प्रिय हमारे और कोई नही है न होगा ॥ ६९ ॥ अब गीता पाठ करने का फल कहते है कि जो मनुष्य हमारा औ तुमारा यह धर्मयुक्त संवाद नियम से पाठ करैगा सो पुरुष समस्त यज्ञों मे श्रेष्ट ज्ञानयज्ञ से हमारा पूजन किया यह मेरी निश्चित बुद्धिहै भावार्थ यह कि जो अर्थ न जानिकेभी लयके समान गीता पढैतो उसके श्रोता हम उस पर प्रसन्न होतेहैं ज्ञान अज्ञान किसी तरह से हमको स्मरण करै पर हम उसके निकट अवश्य जायंगे जैसे अजामिल औ व्याध आदिकों के निकट हम गये है ॥७० ॥ अब गीता श्रवण करने का फल कहते है कि जो कोई श्रद्धा कहे विश्वास युक्त होय केवल गीता पाठ श्रवण करै और अनसूय कहे यह मनुष्य क्यो जोरसे चिलाय के पढता है अथवा अशुद्ध निकले तो इसे टोकै ऐसे दोष न देखै ऐसे मनुष्य तावत सकल पाप से मुक्त होय अश्वमेध यज्ञ आदि कर्म करनेवाले जो लोक पावते है वे भी उसी लोक को प्राप्त होंयगे और जो अर्थयुक्त अति प्रीति पूर्वक श्रवण करैं तो वे जीवनमुक्त है औ अन्तको साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होयंगे इसमे कुछ सन्देह वाकोनही है॥७१॥ जो सम्यक प्रकार बोध तुमको न भया हो तो हम फेर भी तुमको उपदेश करैंगे इस आशय से पूछते है कि हे पार्थ अर्जुन कहो तो मैने जो कहा सो सब एकाग्र चित्त होय तुमने सुना और हे धनञ्जय संमोह कहे तत्वज्ञान के विषय मे अज्ञान जनित तुमारी विपरीत बुद्धि नष्ट भई कि नहीं अर्थात् मेरे वचनो से अज्ञान दूर गया कि नहीं यह भगवान ने पूछा ॥ ७२ ॥ तब तो भगवत की वाणी से परम कृतार्थ होय अर्जुन कहते है कि हे अच्युत श्रीकृष्ण आपकी कृपा से अब मेरा आत्मज्ञान के विषय मे मोह नष्ट होगया और स्मृति जो ज्ञान सो पाया औ

मोहःस्मृतिर्लब्धात्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मिगतसन्देहःकरिष्येवचनंतव ॥७३॥
सञ्जयउवाच। इत्यहंवासुदेवस्यपार्थस्यचमहात्मनः। सम्वादमिममश्रौषमद्भुतं
रोमहर्षणम् ॥७४॥ व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमंगुह्यमहंपरं। योगंयोगेश्वरात्कृ
ष्णात्साक्षात्कथयतःस्वयं ॥७५॥ राजन्संस्मृत्यसंस्मृत्यसम्वादमिममद्भुत। केशवा
र्जुनयोःपुण्यंहृष्यामिचमुहुर्मुहुः ॥७६॥ तच्चसंस्मृत्यसंस्मृत्यरूपमत्यद्भुतंहरेः।
विस्मयोमेमहान्राजन्हृष्यामिचपुनःपुनः ॥७७॥ यत्रयोगेश्वरोःकृष्णोयत्रपार्थोध

भाषा अनुवाद

आत्मस्वरूपके अनुसन्धानमे स्थिति भई अर्थात् आत्मस्वरूपका ज्ञान मेरेको प्रकाश भया और धर्मके विषयमे संदेह मेरे चित्तसे चली गई ऐसा जो मैहूं सो अब आप की आज्ञा प्रतिपालन करूंगा और युद्ध करने के लिये तयार खडा हूं जो आज्ञा होय सो अब करूं यह अर्जुन ने भगवान कहा ॥ ७३ ॥ सोई श्रीकृष्ण अर्जुन का संवाद राजा धृतराष्ट्र से सञ्जय कहते हैं कि महात्मा वासुदेव औ अर्जुन का यह अद्भुत संवाद रोंवा खडे करनेवाला मैंने जो सुना सो आपको कह सुनाया है ॥ ७४ ॥ अब सञ्जय यह वृत्तान्त अपने श्रवण करने का समाचार कहते हैं कि भगवान व्यासदेव ने हम को दिव्य चक्षु औ कर्ण दिया है कि उन्की कृपासे परम योगरूप जो परम गुह्य अर्जुन के प्रति साक्षात् योगमाया के ईश्वर श्रीकृष्णने आप अपने मुखसे कहा सो मैंने श्रवण किया और आपके प्रति भी मैंने कहा ॥७५॥ सो हे महाराज धृतराष्ट्र यह परमपवित्र केशव औ अर्जुनका अद्भुत संवाद स्मरणकरके मै वारंवार हर्षितहोताहूं अथवा वारंवार मेरे रोम खडेहोते हैं ॥७६॥ औ तत् शब्द से भगवान के विश्वरूप का निर्देश करते अर्थात् कहते हैं कि हे महाराज धृतराष्ट्र हरि श्रीकृष्णके उस अद्भुत विश्वरूपका स्मरण करि करिके हमको अत्यन्त विस्मय होती है अर्थात् आश्चर्य होता है और वारवार रोमाञ्च होता है ॥ ७७ ॥ इससे हे महाराज अब तुम अपने पुत्रों के राज्य लाभ की शंका भी परित्याग करो इस आशय पर कहते हैं कि जिसके पक्ष मे योगेश्वर श्रीकृष्ण वर्त्तमान है और जहां गाण्डीव धनुर्द्धारी अर्जुन तयार है तहांई श्री कहे राजलक्ष्मी औ विजय तथा भूति कहे उत्तर उत्तर अभिवृद्धि कहे बढ़ती औ

र्जुर्धरः । तत्रश्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम ॥७८॥ इतिअष्टादशोध्यायः ॥१८॥

भाषा अनुवाद

नीति जो न्याय सोसब निश्चयकरके है ऐसी मेरी मति है इससे अब तुम पुत्रोंको साथ ले श्रीकृष्ण की शरण जायके औ पांडवों को अपना सर्वस्व दे प्रसन्नकरावते हुये अपने पुत्रों की प्राण रक्षामात्र करो यह सञ्जयने धृतराष्ट्रको कहा समझाय के ॥७८॥ इति जगन्नाथसुक्कुलविरचित मनभावनीटीकायां अष्टादशोऽध्याय ॥१८॥

अति पावनि है अनभावन को नित आवनि गावन में मन दीजै
तजि दावन माय परावन जो वैतायनआवनहूं जियलीजै
भवरोग दुरावनि ज्ञान बढावनि मुक्ति उपावनि प्रतिदिन पीजै
कामिनके मन भामिनिज्यों मनभावनित्यों मनभावनि कीजै

ज्ञानरत्नाकरयन्त्रे यन्त्रिता समाप्ताचेयं श्रीमद्भगवद्गीता
॥ सम्वत् १९२४ वैशाख कृष्ण ३ ॥

अथ अङ्गन्यास करन्यासौ

ओंश्रीगणेशायनमः ओंअस्यश्रीभगवद्गीतामालामन्त्रस्य श्रीभगवान्वेदव्यास ऋषिरनुष्टुपछन्दः श्रीकृष्णःपरमात्मादेवता अशोच्यानन्वशोचस्त्वंप्रज्ञावादांश्चभाषस इतिबीजम् सर्वधर्मान्परित्यज्यमामेकंशरणंव्रजेतिशक्तिः अहंत्वासर्वपापेभ्योमोक्ष यिष्यामिमाशुचइतिकीलकं नैनंछिन्दन्तिशस्त्राणिनैनंदहतिपावक इत्यंगुष्ठाभ्यांनमः नचैनंक्लेदयन्त्यापोनशोषयतिमारुत इतितर्जनीभ्यांनमः अच्छेद्योयमदाह्योयमक्ले द्योशोष्यएवचेतिमध्यमाभ्यांनमः नित्यःसर्वगतःस्थाणुरचलोयंसनातनइत्यनामिका भ्यांनमःपश्यमेपार्थरूपाणिशतशोथसहस्रशइतिकनिष्ठिकाभ्यांनमः नानाविधानि दिव्यानिनानावर्णाकृतीनिचेतिकरतलकरपृष्ठाभ्यांनमः इतिकरन्यासः नैनंछिन्द न्तिशस्त्राणीतिहृदयायनमः नचैनंक्लेदयन्त्यापइतिशिरसेस्वाहा अच्छेद्योयमदाह्यो यमितिशिखायैवषट् नित्यःसर्वगत.स्थाणुरितिकवचायहुं पश्यमेपार्थरूपाणीतिनेत्र

कवचायवौषट् नानाविधानिदिव्यानीत्यस्त्रायफट् श्रीकृष्णप्रीत्यर्थेजपेविनियोगः इति
षडङ्गन्यासः अथध्यानम् ॐपार्थायप्रतिबोधितांभगवतानारायणेनस्वयं व्यासेनग्र
थितांपुराणमुनिनामध्येमहाभारते अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी
मंबत्वामनुसन्दधामिभगवद्गीतेभवद्वेषिणीम् १ नमोस्तुतेव्यासविशालबुद्धेफुल्लारविं
दायतपत्रनेत्र येनत्वयाभारततैलपूर्णः प्रज्वालितोज्ञानमयप्रदीपः २ प्रपन्नपारिजा
ताय तोत्त्रवेत्रैकपाणये ज्ञानमुद्रायकृष्णाय गीतामृतदुहेनमः ३ सर्वोपनिषदोगावोदो
ग्धागोपालनन्दनः पार्थोवत्सःसुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतंमहत् ४ वसुदेवसुतंदेवंकंसचा
णूरमर्दनं देवकीपरमानन्दं कृष्णंवन्देजगद्गुरुम् ५ भीष्मद्रोणतटाजयद्रथजलागान्धा
रनीलोत्पला शल्यग्राहवतीकृपेणवहिनीकर्णेनवेलाकुला अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा
दुर्योधनावर्त्तिनी सोत्तीर्णाखलुपाण्डवैःकुरुनदीकैवर्त्तकःकेशवः ६ पाराशर्यवचः
सरोजममलंगीतार्थगन्धोत्कटं नानाख्यानककेशरंहरिकथासम्बोधनाबोधितं लोके
सज्जनषट्पदैरहरहःपेपीयमानंमुदा भूयाद्भारतपङ्कजंकलिमलप्रध्वंसिनःश्रेयसे ७
मूकंकरोतिवाचालंपङ्गुंलङ्घयतेगिरिंयत्कृपातमहंवन्देपरमानन्दमाधवं ८ यंब्रह्मावरु
णेन्द्ररुद्रमरुतःस्तुन्वन्तिदिव्यैःस्तवैर्वेदैःसाङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्तियंसामगाःध्याना
वस्थिततद्गतेनमनसापश्यन्तियंयोगिनो यस्यान्तंनविदुःसुरासुरगणादेवायतस्मैनमः ९

श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यं ।

श्रीगणेशायनमः ऋषिरुवाच गीतायाश्चैवमाहात्म्यंयथावत्सूतमेवद पुराणमुनि
नाप्रोक्तंव्यासेनमुनिनोदितम् १ सूतउवाच पृष्टंभवद्भिर्ऋषिभिर्यद्गोप्यंपुरातनम्
यच्यतेकेनवैवक्तुंगीतामाहात्म्यमुत्तमम् २ कृष्णोजानातिवैसम्यक्किञ्चित्कुन्तीसुतः
फलम् व्यासोवाव्यासपुत्रोवायाज्ञवल्क्योथमैथिलः ३ अन्येश्रवणतःश्रुत्वालेशंसंकीर्त्त
यन्तिच तस्मात्किञ्चिद्वदाम्यत्रव्यासस्यास्यान्मयाश्रुतम् ४ सर्वोपनिषदोगावोदोग्धा
गोपालनन्दनः पार्थोवत्ससुधीर्भोक्तादुग्धंगीताऽमृतंमहत् ५ सारथ्यमर्जुनस्यादौकुर्व
न्गीतामृतंददौ लोकत्रयोपकारायतस्मैकृष्णात्मनेनमः ६ संसारसागरंघोरंतर्त्तुमि
च्छतियोनरः गीतानावंसमासाद्यपारंयातिसुखेनसः ७ गीताज्ञानंश्रुतंनैवसदैवा
भ्यासयोगतः मोक्षमिच्छतिमूढात्मायातिबालकहास्यताम् ८ येशृण्वन्तिपठन्त्येवगी
ताशास्त्रमहर्निशम् नतेवैमानुषाज्ञेयादेवरूपानसंशयः ९ गीताज्ञानेनसम्बोधंकृ

ज्ञात्वालभतेमुक्तिमुत्तमां ६३ गीतेत्युच्चारसंयुक्तोम्रियमाणोगतिंलभेत् यद्यत्कर्मच
सर्वत्रगीतापाठप्रकीर्त्तितम् ६४ तत्तत्कर्मचनिर्दोषंभूत्वापूर्णत्वमाप्नुयात् पितॄनु
द्दिश्ययःश्राद्धेगीतापाठंकरोतिवै ६५ सन्तुष्टाःपितरस्तस्यनिरयाद्यान्तिस्वर्गतिं गी
तापाठेनसन्तुष्टाःपितरःश्राद्धतर्पिताः ६६ पितृलोकंप्रयान्त्येवपुत्राशीर्वादतत्पराः
गीतापुस्तकदानंचधेनुपुच्छसमन्वितम् ६७ कृत्वाचतद्दिनेसम्यक्कृतार्थोजायतेजनः
पुस्तकंहेमसंयुक्तंगीतायाःशुद्धमानसः ६८ दत्वाविप्रायविदुषेजायतेनपुनर्भवः शत
पुस्तकदानञ्चगीतायाःप्रकरोतियः ६९ सयातिब्रह्मसदनंपुनरावृत्तिदुर्लभम् गी
तादानप्रभावेणसप्तकल्पावधिंसमाः ७० विष्णुलोकमवाप्नोतिविष्णुनासहमोदते स
म्यक्श्रुत्वाचगीतार्थंपुस्तकंयःप्रदापयेत् ७१ तस्मैप्रीतोहिभगवान्ददातिमनसे
प्सितं देहंमानुषमाश्रित्यचातुर्वर्ण्येषुभारत ७२ नश्रृणोतिनपठतिगीताममृतरूपि
णीं हस्तात्त्यक्त्वाऽमृतंप्राप्तंकष्टात्क्ष्वेडंसमश्नुते ७३ पीत्वागीतामृतंलोकेलब्ध्वामोक्षं
सुखीभवेत् जनैःसंसारदुःखार्त्तैर्गीताज्ञानंचयैःश्रुतम् ७४ संप्राप्तममृतंतैश्चगतास्ते
सदनंहरेः गीतामाश्रित्यबहवोभूभुजोजनकादयः ७५ निर्धूतकल्मषालोकेगता
स्तेपरमंपदं गीतासुनविशेषोस्तिजनेषूच्चावचेषुच ७६ ज्ञानेष्वेवसमग्रेषुसमाब्रह्म
स्वरूपिणी योभिसूयतिगीतांचयोनिन्दांवाकरोतिच ७७ समेतिनरकंघोरंयावदा
भूतसंप्लवं अहङ्कारेणमूढात्मागीतार्थंनैवमन्यते ७८ कुम्भीपाकेषुपच्येतयावत्कल्प
क्षयोभवेत् गीतार्थंवाच्यमानंयोनश्रृणोतिसमीपतः ७९ सशूकरभवांयोनिमनेका
सोधिगच्छति चौर्यंकृत्वाचगीतायाःपुस्तकंयःसमानयेत् ८० नतस्यैवफलंकिञ्चि
त्पठनाच्चवृथाभवेत् यःश्रुत्वानैवगीतार्थंमोदतेपरमार्थतः ८१ नैवाप्नोतिफलंलोके
प्रमादाच्चवृथाश्रमः गीतांश्रुत्वाहिरण्यंच्चपट्टांबरवेष्टनं ८२ निवेदयेश्चतस्मैप्रीत
येपरमात्मनः वाचकंपूजयेद्भक्त्याद्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ८३ अनेकैर्बहुधाप्रीत्यातुष्य
तांभगवान्हरिः माहात्म्यमेतद्गीतायाःकृष्णप्रोक्तंपुरातनम् ८४ गीतान्तेपठतेयस्तु
यथोक्तफलभाग्भवेत् गीतायाःपठनंकृत्वामाहात्म्यंनैवयःपठेत् ८५ वृथापाठफलंतस्य
श्रमएवउदाहृतः एतन्माहात्म्यसंयुक्तंगीतापाठंकरोतियः ८६ श्रद्धयायःश्रृणोत्येव
दुर्लभांगतिमाप्नुयात् श्रुत्वापठित्वागीतांचमाहात्म्यंयःश्रृणोतिच ८७ तस्यपुण्यफ
लंलोकेभवेद्वैमनसेप्सितम् एवंज्ञात्वाप्रकुर्वीतगीतापाठमनुत्तमम् ८८ ।

इति श्रीभगवद्गीतामाहात्म्यं श्रीकृष्णेनार्जुनायोक्तं समाप्तम्

येषां अयमेव परमः पुरुषार्थो यः कामोपभोगः पारत्रिकं तु सुखं नास्त्येवेत्येवं निश्चितात्मानः एतत्काया-तिरिक्तस्य भोक्तुरभावात्। तथाच बार्हस्पत्ये सूत्रे "चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः। काम एवैकः पुरुषार्थः" इति च ॥ ११ ॥

प० टी०—किं च—चिन्तामिति। प्रलयो मरणमेवान्तः पर्यवसानं यस्यास्तां परिमातुमशक्यां चिन्तां मनोरथसंततिमुपाश्रिताः कामा विषयास्तेषामुपभोग एव परमात्यन्तिकं प्राप्यं येषां ते एतावान्पुरुषार्थ इति कृतनिश्चयाः। श्रुतिरपि—"स यावत्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता" इति। भाष्यम्—तस्य पुरुषस्य, उ इति निर्धारणे, अकृत्स्नता सकलप्राप्तिराहित्यम्। तस्य कस्य? य एषां पूर्वोक्तानां विषयाणां मध्ये यावदेकैकं विषयं न प्राप्नोति तावदहमकृत्स्न एवेति मन्यतेऽहमप्राप्तसकलार्थ एवेति मन्यते ॥ ११ ॥

रा० टी०—किं च—कामेति। प्रलयान्तां मरणान्ताम्। अपरिमेयां परिमातुमशक्यां चिन्तामुपाश्रिताः कामोपभोगपरमाः काम्यमानवस्त्वनुभव एव परमो येषां ते विषयभोगैकरताः एतावदैहिकमेव फलं नान्य-दामुष्मिकमस्तीति निश्चयवन्तः ॥ ११ ॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ॥
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

त० टी०—अत एव—आशेति। आशा एव पाशास्तेषां शतैर्बद्धाः इतस्तत आकृष्यमाणाः काम-क्रोधपरायणाः कामक्रोधमात्रपरमाश्रया आसुरा भवन्तीत्यर्थः। एतावता असुराणां लक्षणमुक्तमिदानीं तत्प्रवृत्तिमाह—ईहन्त इति। कामभोगार्थमन्यायेन चौर्यप्राणिवधादिनाऽर्थसंचयान् प्रति ईहन्ते चेष्टन्ते ॥ १२ ॥

म० टी०—त ईदृशा असुराः—आशेति। अशक्योपायार्थविषया अनवगतोपायार्थविषया वा प्रार्थना आशास्ता एव पाशा इव बन्धनहेतुत्वात् पाशास्तेषां शतैः समूहैर्बद्धा इव श्रेयसः प्रच्याव्येतस्तत आकृष्य नीयमानाः कामक्रोधौ परमयनमाश्रयो येषां ते कामक्रोधपरायणाः स्त्रीव्यतिकराभिलाषपरानिष्टाभिलाषाभ्यां सदा परिगृहीता इति यावत्। ईहन्ते कर्तुं चेष्टन्ते कामभोगार्थं न तु धर्मार्थमन्यायेन परस्वहरणादिना अर्थसंचयान् धनराशीन् संचयानिति बहुवचनेन धनप्राप्तावपि तत्तृष्णानुवृत्तेर्विषयप्राप्तिवर्धमानतृष्णास्वरूपो लोभो दर्शितः ॥ १२ ॥

शं० टी०—किं च—आशेति। आशापाशशतैर्बद्धाः आशा अप्राप्तार्थाभिलाषास्ता एव पाशा बन्धनरज्ज-वस्तेषां शतैर्बद्धाः। कामक्रोधपरायणाः आसुराः कामभोगार्थं कामानां स्रगादिविषयाणां भोगार्थमेव न तु दानार्थं नापि धर्मार्थं च। किं तु विषयानुभवायैव अन्यायेन शास्त्रविरुद्धेन मार्गेण कपटवञ्चनादिरूपेणार्थ-संचयान् संपाद्यानीहन्ते कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्री० टी०—अत एव च—आशेति। आशा एव पाशास्तेषां शतानि तैर्बद्धाः इतस्तत आकृष्यमाणाः काम-क्रोधौ परमयनमाश्रयो येषां ते कामभोगार्थमन्यायेन चौर्यादिनाऽर्थानां संचयान्राशीनीहन्ते इच्छन्ति ॥ १२ ॥

स० टी०—अशक्योपायविषया आशास्ता एव बन्धकाः ॥ पाशास्तेषां शतैर्बद्धाः श्रेयसः प्रच्युता जडाः ॥ १ ॥ साभिलाषपरानिष्टाभिलाषाभ्यां सदाऽऽवृताः ॥ चेष्टन्ते कामभोगार्थं धर्मार्थं न कथंचन ॥ २ ॥ कर्तुं ते वित्तराशींश्च परस्वहरणादिना ॥ ३ ॥ १२ ॥

भा० टी०—आसुरानेव पुनर्विशिनष्टि—आशेति। आशा अशक्योपायार्थविषया अनवगतोपायार्थवि-षया वा प्रार्थनास्ता एव बन्धनहेतुत्वात् पाशाः। आशापाशानां शतैर्बद्धा एव सन्तः श्रेयसः प्रच्याव्ये-

ततस्ततः आकृष्यमाणाः कामक्रोधपरायणाः कामक्रोधौ परमयनं आश्रयो येषां ते कामभोगार्थं कामभोगप्रयोजनाय न तु धर्मार्थमन्यायेन परस्वापहरणादिनार्थसंचयानर्थप्रचयान् ईहन्ते चेष्टन्ते ॥ १२ ॥

पु० टी०–किं च–आशापाशशतैरिति । आशा एव पाशा बन्धनरज्जवस्तेषां शतानि तैर्बद्धाः । तदुक्तम्–'आशा नाम मनुष्यस्य काचिदाश्चर्यशृङ्खला । यया बद्धाः प्रधावन्ति मुक्तास्तिष्ठन्ति पङ्गुवत्' इति । तथा कामक्रोधौ परमयनं गतिर्येषां ते कामभोगार्थं विषयभोगार्थमन्यायेन द्यूतचौर्यादिनाऽर्थसंचयान् द्रव्यसंग्रहानीहन्तेऽपेक्षन्ते ॥ १२ ॥

रा० टी०–आशेति । आशा एव पाशास्तेषां शतैर्बद्धाः कामक्रोधा एव परं अयनमेषां ते कामक्रोधपरायणाः । कामभोगार्थं काम्यविषयानुभवार्थं अन्यायेन चौर्यादिनाऽर्थसंचयान्द्रव्यसमूहानीहन्ते वाञ्छन्ति ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥

स० टी०–तेषामर्थतृष्णां तन्मनोरथकथनेन विवृणोति–इदमद्येति । इदं धनक्षेत्रादिकं मया बुद्धिबलसामर्थ्यवता स्वसामर्थ्येनैव लब्धं न दैवादिना, इदं च धनं मनोरथं मनोऽभिलषितं स्वपौरुषेण प्राप्स्ये । इदं धनं स्वसामर्थ्यसंचितं मम गृहेऽस्ति । इदमपि मदुपायसाध्यं पुनर्भविष्यति ॥१३॥

म० टी०–तेषामीदृशी धनतृष्णानुवृत्तिं मनोराज्यकथनेन विवृणोति–इदमिति । इदं धनं अद्य इदानीमनेनोपायेन मया लब्धम्, इदं तदन्यत् मनोरथं मनस्तुष्टिकरं शीघ्रमेव प्राप्स्ये, इदं पुरैव संचितं मम गृहेऽस्ति, इदमपि बहुतरं भविष्यत्यागामिनि संवत्सरे पुनर्धनम् । एवं धनतृष्णाकुलाः पतन्ति नरकेऽशुचावित्यग्रिमेणान्वयः ॥ १३ ॥

शं०टी०–अन्यायेनार्थसंपादनपराणामासुराणां हृदये संकल्पप्रकारमाह–इदमितित्रिभिः । स्पष्टार्थाः॥१३॥

श्री० टी०–तेषां मनोराज्यं कथयन्नरकप्राप्तिमाह–इदमद्येति चतुर्भिः । प्राप्स्ये प्राप्स्यामि मनोरथं मनसः प्रियम् । शेषं स्पष्टम् । एषां च त्रयाणां श्लोकानामित्यज्ञानविमोहिताः सन्तो नरके पतन्तीति चतुर्थेनान्वयः ॥ १३ ॥

स० टी०–ईदृशीं धनतृष्णानुवृत्तिं तेषां कुचेतसाम् ॥ विवृणोति मनोराज्यकथनेन हरिः स्वयम् ॥ १॥ इदं धनं मयाऽनेनोपायेनाप्तं च संप्रति ॥ मनस्तुष्टिकरं चान्यत्प्राप्स्ये शीघ्रमिदं पुरा ॥ २ ॥ संचितं मे गृहे चास्ति बहुवित्तमिदं पुनः ॥ भविष्यत्येव सुतरं ममागामिनि वत्सरे ॥ ३ ॥ एवं तृष्णाकुला मूढा वैतरण्यादिकेऽशुचौ ॥ पतन्ति नरके घोरे नाकर्त्तं निःस्मृतिस्तवः ॥ ४ ॥ १३ ॥

भा० टी०–विवेकविरोधिनामासुराणामभिप्रायमाह–इदमिति । इदं द्रव्यं गोहिरण्यादयं इदानीं मया लब्धमिदमन्यत् मनोरथं मनस्तुष्टिकरं प्राप्स्ये प्राप्स्यामि, इदमस्ति पुरैव संचितम्, इदमपि मे पुनर्धनमागामिनि संवत्सरे भविष्यति तेनाहं धनी विख्यातो भविष्यामि ॥ १३ ॥

प० टी०–अथान्यायेनाप्यर्थलाभे केवलं मनोराज्यमेव कुर्वन्तीत्याह–इदमिति चतुर्भिः । मनोरथं मनसः प्रियशेषं प्राप्स्ये प्राप्स्यामि । शेषं स्पष्टम् । एषां त्रयाणां श्लोकानामित्यज्ञानविमोहिताः पतन्ति नरकेऽशुचाविति चतुर्थेनान्वयः ॥ १३ ॥

रा० टी०–चिन्ताप्रकारं दर्शयति–इदमित्यादिना त्रयेण । इदं धनम् अद्य मया लब्धम्, इदं मनोरथं प्राप्स्ये प्राप्स्यामि । इदं धनम् अस्ति, इदमपि धनं मे पुनर्भविष्यति ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

त० टी०–किं च–असाविति । असौ मदीयैर्दुर्जयः शत्रुः सर्वसामर्थ्यवता मया हतः । एवमपरानपि शत्रूनहं शूरो हनिष्यामि । दुर्बला हि दैवादिकं समाश्रयन्ते नाहं तथा, यत ईश्वरोऽहम् । स्वाधीनोऽहमितरेषां नियन्ताऽस्मि । अहं भोगी स्वत एव प्राप्तसर्वभोगः । सिद्धोऽहं पुत्रमित्रभृत्यादिभिराज्ञानुवर्तिभिः स्वतोऽपि बलवान् सुखी सर्वव्याधिरहितः ॥ १४ ॥

म० टी०–एवं लोभं प्रपञ्च्य तदभिप्रायकथनेनैव तेषां क्रोधं प्रपञ्चयति–असाविति । असौ देवदत्तनामा मया हतः शत्रुरतिदुर्जयः, अत इदानीमनायासेन हनिष्ये च हनिष्यामि अपरान् सर्वानपि शत्रून्, न कोऽपि मत्सकाशाज्जीविष्यतीत्यर्थः । चकारान्न केवलं हनिष्यामि तान् किं तु तेषां दारधनादिकमपि ग्रहीष्यामीत्यभिप्रायः । कुतस्तवैतादृशं सामर्थ्यं त्वत्तुल्यानां त्वदधिकानां वा शत्रूणां संभवादित्यत आह–ईश्वरोऽहं न केवलं मानुषो येन मत्तुल्योऽधिको वा कश्चित् स्यात् । किमेते करिष्यन्ति वराकाः सर्वथा नास्ति मत्तुल्यः कश्चिदित्यनेनाभिप्रायेण ईश्वरत्वं विवृणोति–यस्मादहं भोगी सर्वैर्भोगोपकरणैरुपेतः सिद्धोऽहं पुत्रभृत्यादिभिः सहायैः संपन्नः स्वतोऽपि बलवानत्योजस्वी सुखी सर्वथा नीरोगः ॥ १४ ॥

श्री० टी०–किं च–असाविति । ईश्वरो विद्याधनादिभिः समर्थः सिद्धः पुत्रैः पौत्रैः पशुभिर्धनधान्यैः संपन्नः कृतकृत्यः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १४ ॥

श्री० टी०–किंच–असाविति । सिद्धः कृतकृत्यः । स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

स० टी०–एवं प्रपञ्च्य तृष्णां तदभिप्रायकीर्तनात् ॥ संप्रपञ्चयति क्रोधं तेषां श्रीहरिरव्ययः ॥ १ ॥ मयाऽसौ देवदत्ताख्यो हतः शत्रुः सुदुर्जयः ॥ हनिष्याम्यपरान्सर्वानथ शत्रून्सुखेन च ॥ २ ॥ अपेरर्थस्तु मच्छत्रुः कश्च को जीवने क्षमः ॥ न केवलं हनिष्यामि किंतु तेषां धनादिकम् ॥ ३ ॥ गृहीष्यामीत्यभिप्रायश्चकाराद्‌त्र गम्यते ॥ कुतस्तवास्ति सामर्थ्यमीदृशं हि यतोऽपरे ॥ ४ ॥ त्वत्तुल्या अधिकाः किं न शत्रवस्तव चोच्यते ॥ न केवलं मनुष्योऽस्मि येन तुल्योऽधिकोऽथ वा ॥ ५ ॥ कश्चित्स्यादत एते किं करिष्यन्ति वराककाः ॥ सर्वथा नास्ति मत्तुल्यः कश्चिदन्येश्वरोऽस्म्यहम् ॥ ६ ॥ विवृणोतीश्वरत्वं च तदभिप्रायतो हरिः ॥ यतोऽहं भोगसामग्रीयुतः सिद्धोऽहमित्यतः ॥ ७ ॥ पुत्रभृत्यादिभिर्युक्तः स्वतोऽपि बलवानहम् ॥ सर्वथाहं च नीरोगोऽत्यन्तसुखैर्सतो युतः ॥ ८ ॥ १४ ॥

भा० टी०–यथोक्ते मदभिप्राये प्रतिबन्धकः शत्रुरपि न संभवतीत्याह–असाविति । असौ देवदत्तो दुर्जयः शत्रुर्मया हतः हनिष्ये चापरानन्यान् वराकान् । ननु तपस्विना, सत्त्वे कथं सर्वेषां पराभवे तव सामर्थ्यमित्याशङ्क्य किमेते करिष्यन्ति तपस्विनो यतः, सर्वथापि मत्तुल्यो नास्तीत्याह–ईश्वरोऽहम् । ऐश्वर्यातिरेकमेव प्रकटयति–भोगी सर्वभोगोपकरणवानहं सिद्धोऽहं पुत्रादिभिः संपन्नः, बलवान न केवलं मानुषबलवान् सुखी चाहमेव ॥ १४ ॥

प० टी०–किं च–असाविति । असौ वर्तमानः शत्रुर्मया हतोऽपरान् भविष्यतोऽपि शत्रून् हनिष्ये । सिद्धार्थः कृतार्थः । तदुक्तम्–' मृषा मनोरथश्रेणीमाधुर्यान्मोहितो दिवा । रात्रौ स्वाप्नं सुखं भुञ्जन्नरो जयति जीवितम् ' इति ॥ १४ ॥

रा० टी०–असाविति । असौ शत्रुर्मया हतः अपरानन्यानपि शत्रून् हनिष्ये च । अहमीश्वरः परोश्वरः भोगी ऐहिकामुष्मिकभोगसंपन्नः सिद्धः कृतकृत्यः बलवान् समर्थः ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ॥
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

त० टी०–किं च–आढ्य इति । आढ्यो धनधान्यसंपन्नः, अभिजनवानुत्तमकुले प्रसूतोऽहमेवास्मि । अतः कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया, न कोऽपीत्यर्थः । ननु केचिद्यज्ञदानादिना कीर्तिमन्तो दृश्यन्ते श्रूयन्ते च तत्सादृश्यं स्यादत आह–यक्ष्य इति । यज्ञपिशाचादीन् यक्ष्ये । दास्यामि स्तावकेभ्यो नटादिभ्यः । अतो यज्ञेन दानेनाप्यहमेव सर्वेषां कीर्तिमभिभूयोत्कृष्टो भविष्यामीत्यर्थः । ततश्च मोदिष्ये हर्षं प्राप्स्यामि सखीजनैः सह । इत्येवमाद्यज्ञानेन विमोहिता विविधं मोहं वृथा मनोरथरचनात्मकं भ्रमं प्रापिताः पतन्ति नरकेऽशुचावित्युत्तरेणान्वयः ॥ १५ ॥

म० टी०–ननु धनेन कुलेन वा कश्चित्त्वत्तुल्यः स्यादित्यत आह–आढ्य इति । आढ्यो धनी अभिजनवान् कुलीनोऽप्यहमेवास्मि । अतः कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया न कोऽपीत्यर्थः । यागेन दानेन वा कश्चित्तुल्यः स्यादित्यत आह–यक्ष्ये यागेनाप्यन्यानभिभविष्यामि, दास्यामि धनं स्तावकेभ्यो नटादिभ्यश्च । ततश्च मोदिष्ये मोदं हर्षं लप्स्ये नर्तक्यादिभिः सहेत्येवमज्ञानेनाविवेकेन विमोहिता विविधं मोहं भ्रमपरंपरां प्रापिताः ॥ १५ ॥

श्री० टी०–किं च–आढ्य इति । आढ्यो बहुधनसंपन्नः अभिजनवाननूचानः यक्ष्ये प्रतिष्ठार्थं धनार्थं जीवनार्थं वा यागं करिष्यामि दास्यामि स्तावकेभ्यो नटविटादिभ्यो न तु श्रोत्रियेभ्यो बन्धुभ्यश्च मोदिष्ये दत्त्वा भुक्त्वा संतोषं प्राप्स्यामीत्येवमज्ञानविमोहिताः सदसद्विवेकाभावोऽज्ञानं तेन विविधं मोहिताः मोहं प्राप्ताः ॥ १५ ॥

श्री० टी०–किंच–आढ्य इति । आढ्यो धनादिसंपन्नः । अभिजनवान् कुलीनः । यक्ष्ये यागाद्यनुष्ठानेनापि दीक्षितान्तरेभ्य. सकाशान्महतीं प्रतिष्ठां प्राप्स्यामि । दास्यामि स्तावकेभ्यः । मोदिष्ये हर्षं प्राप्स्यामीत्येवमज्ञानेन विमोहिताः मिथ्याभिनिवेशं प्रापिताः ॥ १५ ॥

स० टी०–कश्चिद्धनेन किं न स्यात्त्वत्तुल्योऽत्र कुलेन वा ॥ इत्यत्राह धनी यस्मादहमेव न मत्समः ॥ १ ॥ कुलीनोऽप्यहमेवास्मि न कश्चिन्मत्समोऽपरः ॥ यागेन वाऽथ दानेन न कोऽप्यस्तीह मत्समः ॥ २ ॥ अन्यानभिभविष्यामि यागेनाहं तथापरान् ॥ दानेन स्तावकेभ्योऽहं धनं दास्यामि पुष्कलम् ॥ ३ ॥ हर्षं लप्स्ये ततोऽहं वै नर्तक्यादिभिरेव च ॥ इत्येवमविवेकेन प्रापिता बहुविभ्रमम् ॥ ४ ॥ १५ ॥

भा० टी०–पुनरप्यासुराणामभिप्रायं वर्णयति–आढ्य इति । आढ्यो धनेन । अभिजनवान सप्तपुरुषं श्रोत्रियत्वादिसंपन्नोऽहमस्मि, तस्मान्मया धनाढ्येन कुलीनेन सदृशस्तुल्योऽन्यः कोऽस्ति ? न कोऽपीत्यर्थः । किंच यागदानाभ्यां तत्फलेन चान्येभ्योऽधिको भविष्यामीत्याह–यक्ष्ये यागेनाप्यन्यानभिभविष्यामि । दास्यामि नटस्तावकादिभ्यो । मोदिष्ये हर्षं चातिशयं यागदानफलं प्राप्स्यामि । दानादिना चापरानभिभविष्यामीत्येवमज्ञानेन विमोहिता. विविधं मोहिताः अविवेकभावमापन्नास्तथा चैषामभिप्रायोऽसाधीयान् कदापि नोपादेय इति भावः ॥ १५ ॥

प० टी०–किं च–आढ्य इति । आढ्यो धनसमृद्धः, अभिजनवान् कुलीनः, मया सदृशः कोऽस्ति कोऽपि नास्तीत्यर्थः । अथासामर्थ्येऽपि व्यर्थमनोरथानाह–यक्ष्ये इति । यक्ष्ये यागं करिष्ये, दास्यामि तुच्छभावादिदानं करिष्ये, एवं लोकोत्तरकरणेन मोदिष्ये हर्षं प्राप्स्यामीत्यज्ञानेन विमोहिता मिथ्याभिनिवेशं प्रापिताः ॥ १५ ॥

रा० टी०—आढ्येति । आढ्यः धनादिसंपन्नः अभिजनवान्कुलीनोऽस्मि । मया सदृशोऽन्यः कोऽस्ति? न कोऽपि । यक्ष्ये यागादिधर्माननुष्ठास्यामि । भूरिदक्षिणान्नादि दास्यामि । मोदिष्ये संतोषं प्राप्स्यामि इत्येवंरूपेणाज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ॥
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

त० टी०—एवं ते किं फलं प्राप्नुवन्तीत्यपेक्षायामाह—अनेकेति । सर्वकर्मफलप्रदात्रीश्वरसीहाय्यमृते स्वस्यैव सामर्थ्यमवकल्प्यैतत्कुर्यामित्थं कुर्यामिदमनुभूयामित्यनेकचित्तविभ्रान्ता अनेकेषु विषयेषु चित्तं तेन विभ्रान्ता विक्षिप्ता एवं मोहरूपेण जालेन समावृताः सूत्रमयेन जालेनावृता मत्स्या इव कामभोगेषु प्रसक्ता अभिनिविष्टाः सन्तोऽशुचौ विण्मूत्रश्लेष्मादिपूर्णे रौरवादौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

म०–टी०—अनेकेति । उक्तप्रकारैरनेकैश्चित्तैस्तत्तद्दुष्टसंकल्पैर्विविधं भ्रान्ताः, यतो मोहजालसमावृताः मोहो हिताहितवस्तुविवेकासामर्थ्यं तदेव जालमावरणात्मकत्वेन बन्धहेतुत्वात्, तेन सम्यगावृताः सर्वतो वेष्टिताः मत्स्या इव सूत्रमयेन जालेन परवशीकृता इत्यर्थः । अत एव स्वानिष्टसाधनेष्वपि कामभोगेषु प्रसक्ताः सर्वथा तदेकपराः प्रतिक्षणमुपचीयमानकल्मषाः पतन्ति नरके वैतरण्यादौ अशुचौ विण्मूत्रश्लेष्मादिपूर्णे ॥ १६ ॥

शं० टी०—एवं कामसंकल्पैर्विविधभावापन्नानां कामपराणां तत्प्रवृत्तेः फलमाह—अनेकेति । अनेकचित्तविभ्रान्ताः इदमद्य मया लब्धमित्येवंरूपैरनेकविधैश्चित्तविकारैर्विभ्रान्ता विविधं भ्रान्ताः, मोहजालसमावृताः मोहः सदसद्विवेकाभावः स एव जालं मत्स्यानामिवावरणात्मको नाशकश्च तेन सम्यगावृतास्तिरोहितविवेकास्तत एव कामभोगेषु विषयसेवायामेव प्रसक्ताः प्रकर्षेण सक्ताः परिनिष्ठितान् क्वचित्स्वधर्मे तत एवाशुचौ श्लेष्मपूयहृदादिरूपत्वादशुद्धे नरके रौरवादौ पतन्ति ॥ १६ ॥

श्री० टी०—एवंभूता यत्प्राप्नुवन्ति तच्छृणु—अनेकेति । अनेकेषु मनोरथेषु प्रवृत्तं चित्तमनेकचित्तं तेन विभ्रान्ता विक्षिप्ताः । तेनैव मोहमयेन जालेन समावृताः मत्स्या इव सूत्रमयेन जालेन यन्त्रिताः । एवं कामभोगेषु प्रसक्ताः अभिनिविष्टाः सन्तोऽशुचौ कश्मले नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

स० टी०—तत्तद्दुष्टैकसंकल्पैरनेकैः प्रागुदीरितैः ॥ कामिनो विविधं भ्रान्ता मोहजालेन वेष्टिताः ॥१॥ हिताहिताविवेकाख्यावरणेनातिवेष्टिताः ॥ मत्स्या इव हि सौत्रेण जालेन विवशीकृताः ॥ २ ॥ स्वानिष्टसाधनेष्वेव कामभोगेषु तत्पराः ॥ प्रतिक्षणं वर्धमानकल्मषा नरकेऽशुचौ ॥ ३ ॥ पतन्ति श्लेष्मविण्मूत्रपूर्णे वैतरणीमुखे ॥ ४ ॥ १६ ॥

भा० टी०—एवमभिप्रायवन्तः आसुराः कृत्याकृत्यविवेकहीनाः कस्मिंल्लोके गच्छन्तीत्याकाङ्क्षायामाह—अनेकेति । अनेकचित्तविभ्रान्ताः उक्तप्रकारैरनेकैश्चित्तैस्तद्दुष्टसंकल्पैर्विभ्रान्ताः विविधं भ्रान्ताः मोहजालसमावृताः कार्याकार्यहिताहितसारासारहेयोपादेयाविवेकाख्यो मोहः, स एव जालमिवावरणात्मकत्वात् तेन सम्यगावृताः पक्षिण इव सूत्रमयेन जालेन बन्धनं गताः, प्रसक्ताः कामभोगेषु कामानां विषयाणामुपभोगेषु प्रकर्षेण सक्ता आसक्तिं गताः तत्रैव निमग्नाः एतादृशाः सन्तस्तेनोपचीयमानकल्मषा अशुचौ विण्मूत्रादिपूर्णे वैतरण्यादिरूपे नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

प० टी०—किं च—अनेकेति । अनेकेषु व्यर्थमनोरथेषु प्रवृत्तं चित्तमनेकचित्तं तेन विशेषतो भ्रान्ताः तेषामुद्धारः कदापि नास्तीत्याह—मोहजालसमावृता इति । यथा सूत्रमयजालान्तः प्रविष्टानां मत्स्यानाम-

निर्गमस्तथा मोहजालसमावृतात्मा कामभोगेषु प्रकर्षेण सक्ता अशुचौ कश्मलरूपे नरके पतन्ति। अत्रेतदुक्तं भवति—"तुल्या व्यवहारतः सर्वा स्वप्नजागृदवस्थयोः। एकस्यावसरेऽन्यस्य यन्मिथ्यात्वं प्रतीयते" इति वैतथ्योपनिषदुक्तम्। श्रुतिभिः स्वाप्नव्यवहारदृष्टान्तेन जागृद्व्यवहारस्यापि मिथ्यात्वं दर्शितमासीदिदानीं तस्य स्वरूपेणैव मिथ्यात्वं मनोरथरूपत्वेन भगवता विस्तरेण प्रकटीकृतम्। तत्र मनोरथो द्वेधा संभावितोऽसंभावितश्च, तत्र दैनंदिनान्नपानादिविषयभोगमनोरथः संभावितः। सोऽपि दैवाधीनत्वात्साक्षिकः। असंभावितस्तु राज्यप्राप्त्यादिसकलभोगैर्मनोरञ्जनम्। एवमस्य मिथ्याभूतत्वं जानन्तोऽपि मनोरथपरंपरामातन्वन्ति तेषामुद्धारः कदापि नास्तीत्यर्थः। तदुक्तं टिप्पणिकासु—'स्वप्ने सुखं तु खमसत्यमेव तथापि तस्यानुभवस्तदानीम्। तथैव शुक्तौ रजतस्य मिथ्या मनोरथोऽयं तु विनाऽनुभूतिम्॥ १॥ सर्वतस्त्वनुभूतामरित्वोऽपि स्यान्मनोरथमयो व्यवहारः। शुक्तिवत्त्वनुभवादनुवेलं तन्मृषात्वमुदितं मुनिवर्यैः॥ २॥' इति। तदुक्तं विष्णुपुराणे सौभर्याख्याने—'मनोरथानां न समाप्तिरस्ति वर्षायुतेनाप्यथवापि लक्षैः। पूर्णेषु पूर्णेषु पुनर्नवानामुत्पत्तयः सन्ति मनोरथानाम्॥ १॥ पद्भ्यां गता यौवनिनश्च जाताः दारैश्च संयोगमिताः प्रसूताः। दृष्टाः सुतास्तत्तनयप्रसूतिं द्रष्टुं पुनर्वाञ्छति मेऽन्तरात्मा॥ २॥ यज्जीवितो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाद्य। मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसंगति॥ ३॥' इति॥ १६॥

रा० टी०—एवं चिन्ताप्रकारमुक्त्वा तेषां फलमाह—अनेकेति। अनेकचित्तविभ्रान्ताः अनेकधा चिन्तायुक्तमनसा विशेषभ्रान्तिमन्तः पुत्रमित्रादिविषयमोहाख्यजालेन समावृताः विषयभोगेष्वतितरामासक्ताः सन्तः अशुचौ नरके पतन्ति॥ १६॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः॥
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

त० टी०—यक्ष्य इत्यादिना यस्तेषां यज्ञदानाद्यभिमान उक्तः सोऽपि केवलं धर्मध्वजित्वाय न तु शास्त्रविधिविषय इत्याह—आत्मसंभाविता इति। आत्मनैव संभाविताः आत्मनैवात्मानं श्रेष्ठं मन्यमाना अत एव स्तब्धा अनम्राः। तत्र हेतुः—धनमानमदान्विताः। धनेन मानो गर्वः मदश्चोद्दर्पस्ताभ्यामन्विताः सन्तस्ते नामयज्ञैर्याज्ञिका दीक्षिता इति यष्टृत्वख्यापनाय ये यज्ञास्ते नामयज्ञाः, अथवा नाममात्रयज्ञैर्यज्ञाभासैर्यजन्ते। कथं? दम्भेन, न तु सात्त्विकश्रद्धया। अविधिपूर्वकं विधिहीनं यथा भवति तथेत्यर्थः॥ १७॥

म० टी०—ननु तेषामपि केषांचिद्वैदिके कर्मणि यागदानादौ प्रवृत्तिदर्शनादयुक्तं नरके पतनमिति नेत्याह—आत्मेति। सर्वगुणविशिष्टा वयमित्यात्मनैव संभाविताः पूज्यतां प्रापिता न तु साधुभिः कैश्चित्। स्तब्धा अनम्राः। यतो धनमानमदान्विताः धननिमित्तो यो मान आत्मनि पूज्यत्वातिशयाध्यासः तन्निमित्तश्च यो मदः परस्मिन् गुर्वादावप्यपूज्यत्वाभिमानस्ताभ्यामन्वितास्ते नामयज्ञैर्नाममात्रैर्यज्ञैर्न तात्त्विकैर्दीक्षिताः सोमयाजीत्यादिनाममात्रसंपादकैर्वा यज्ञैरविधिपूर्वकं विहिताङ्गेतिकर्तव्यतारहितैर्दम्भेन धर्मध्वजितया न तु श्रद्धया यजन्ते। अतस्तत्फलभाजो न भवन्तीत्यर्थः॥ १७॥

श्री० टी०—ननु तेषामपि ब्राह्मणत्वेन श्रुताध्ययनाध्यापनसंभवाद्वेदोक्तकर्मानुष्ठानसंभवाच्च कथमेतेषां वैदिकानामशुचिनरकपात इत्याशङ्कायां—न। "श्रद्धयाग्निः समिध्यते" इति "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति" इत्यादिश्रुत्युक्तलक्षणाभावात्तैरविधिना क्रियमाणयज्ञैर्यज्ञाभासैरेवेश्वरः प्रीयते इति मोहप्रवृत्तत्वाच्चैषामासुराणां नरकप्रापणमेव सिद्धमिति प्रतिपादयति—आत्मेति द्वाभ्याम्। धनमा-

नमदान्विताः मानो गर्वः मदो मत्तता धनोत्कर्षसमुत्पन्नौ मानमदौ ताभ्यां समन्वितास्तत एवात्मसंभाविता आत्मना स्वेनैव न तु कचिदपि शिष्टैः संभाविताः बहुकृतास्तत एव स्तब्धा उद्धताः नम्रताशून्यास्ते आसुरा नामयज्ञैर्नाम्ना यज्ञैर्नतु वैदिकक्रियया लक्षणेन वा किंत्वाभासयज्ञैरविधिपूर्वकं नियतकालमन्त्रहोमर्त्विग्विवर्जितं दम्भेन स्वमहत्त्वप्रसिद्ध्यै यजन्ते नत्वीश्वरप्रीतिसिद्ध्यै ॥ १७ ॥

श्री० टी०—यक्ष्य इति च यस्तेषां मनोरथ उक्तः स केवलं दम्भाहंकारादिप्रधान एव न तु सात्त्विक इत्यभिप्रायेणाह—आत्मसंभाविता इति द्वाभ्याम् । आत्मनैव संभाविताः पूज्यतां नीताः न तु साधुभिः कैश्चित् । अत एव स्तब्धा अनम्राः । धनेन यो मानो मदश्च ताभ्यामन्विताः सन्तस्ते नाममात्रेण ये यज्ञास्ते नामयज्ञाः। यद्वा दीक्षितः सोमयाजीत्येवमादिनाममात्रप्रसिद्धये ये यज्ञास्तैर्यजन्ते। कथम् ? दम्भेन न तु श्रद्धया, अविधिपूर्वकं च यथा भवति तथा ॥ १७ ॥

स० टी०—तेषामपि हि केषांचिद्वैदिके शुभकर्मणि ॥ प्रवृत्तिर्यागदानादौ दृश्यतेऽतो न सांप्रतम् ॥ १ ॥ नरके पतनं तेषामित्याशङ्कयाह तत्र च ॥ सर्वैर्गुणैर्विशिष्टाः स्मो वयमित्यात्मनैव ते ॥ २ ॥ पूज्यतां प्रापिता मूढैर्न तु कैश्चित्सुसाधुभिः ॥ अनम्रा धनहेतुर्यो मानस्तद्धेतुको मदः ॥ ३ ॥ तेनान्विता मखैर्नाममात्रैरुक्ताङ्गवर्जितैः ॥ धर्मध्वजितया मूढा यजन्ते श्रद्धया न तु ॥ ४ ॥ अतो न फलभाजस्ते यागैरविधिपूर्वकैः ॥ किं तु संसृतिभाजस्ते क्रूराः क्रूरविचेष्टिताः ॥ ५ ॥ १७ ॥

भा० टी०—ननु तेषामपि केषांचिद्वैदिककर्मणि यागादौ प्रवृत्तिदर्शनात् कथं सर्वेषां वैतरण्यादौ पतनमिति चेत्तत्राह—आत्मसंभाविताः सर्वगुणविशिष्टा वयमित्यात्मनैवात्मनि संभाविताः पूज्यतां गताः न तु साधुभिः। स्तब्धाः अप्रणतात्मानोऽनम्राः धनमानमदान्विताः धननिमित्तो मानो मदश्च ताभ्यां धनमानमदाभ्याम् अन्विताः। इदं चाप्युपलक्षणं धनमानानिमित्तो यो मदस्तेनान्विता इत्यस्यापि। नामयज्ञैर्नाममात्रैर्यज्ञैस्ते यजन्ते, यतो दम्भेन धर्मध्वजितयाऽविधिपूर्वकं विहिताङ्गेतिकर्तव्यतापूर्वकं यथा न भवति तथेत्यर्थः ॥ १७ ॥

प० टी०—आत्मेति। आत्मना स्वेनैव संभाविताः पूज्यतां नीता नान्यैः कैश्चित्। तावतैव स्तब्धा अनम्राः धनमानाभ्यां मदो गर्वस्तेनान्विताः सन्तो दम्भेन यज्ञैर्यजन्ते न परमार्थबुद्ध्या । तथापि यज्ञफलं प्राप्स्यन्त्येवेति चेत्तत्राह—अविधिपूर्वकमिति। द्रव्यपात्राद्यशुद्धिरविधिस्तत्पूर्वकं कर्म फलाय न भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

रा० टी०—यागादि कुर्वतां कथं नरके पात इत्यत आह—आत्मेति । आत्मनैव स्वेनैव संभाविताः बहुमताः वयं पूज्या इति मन्यमाना इति यावत् । अत एव स्तब्धाः, अनम्राः धननिमित्तगर्वदर्पाभ्याम् उपेतास्ते अविधिपूर्वकं दम्भेन स्वमहित्वप्रदर्शननिमित्तेन यज्ञैर्ज्योतिष्टोमादिभिर्यजन्ते नाम । न कृतार्थबुद्ध्या अतो नरकप्राप्तिस्तेषामिति भावः ॥ १७ ॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ॥
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ १८ ॥

त० टी०—अविधिपूर्वकत्वं (च) स्वभाववैपरीत्यादित्याह—अहंकारमिति । अनात्मनि पाञ्चभौतिके आत्मत्वाभिमानोऽहङ्कारस्तं संश्रिताः । बलं परपीडाकरणसामर्थ्यं, दर्पं दर्पो नाम स्वस्य पूज्यत्वातिशयबुद्ध्याऽन्यानादरस्तं, कामं स्त्र्यादिभोगासक्तिं, क्रोधं स्वपरसंतापजननरूपमन्तर्ज्वलनमेतान् दोषान् संश्रिताः मामीश्वरमात्मपरदेहेषु तत्तद्बुद्धिसाक्षितया वर्तमानं प्रद्विषन्तो मच्छासनातिक्रमः प्रद्वेषस्तं कुर्वन्तः अभ्यसूयकाः सन्मार्गवर्तिनां सतां गुणेषु दोषारोपकाः ॥ १८ ॥

म० टी०—यक्ष्ये दास्यामीत्यादिमङ्कल्पेन दम्भाहङ्कारादिप्रधानेन प्रवृत्तानामासुराणां वहिरङ्गसाधन-

मपि यागदानादिकं कर्म न सिध्यति, अन्तरङ्गसाधनं तु ज्ञानवैराग्यभगवद्भजनादि तेषां दूरापास्तमेवे-त्याह—अहंकारमिति । अहमभिमानरूपो योऽहङ्कारः स सर्वसाधारणः। एतैस्त्वारोपितैर्गुणैरात्मनो महत्त्वाभिमानमहंकारं तथा बलं परपरिभवनिमित्तं शरीरगतसामर्थ्यविशेषं दर्पं परावधीरणारूपं गुरुनृपाद्यतिक्रमकारणं चित्तदोषविशेषं काममिष्टविषयाभिलाषं क्रोधमनिष्टविषयद्वेषं, चकारात्परगुणासहिष्णुत्वरूपं मात्सर्यम्। एवमन्यांश्च महतो दोषान् संश्रिताः । एतादृशा अपि पतितास्तव भक्त्या पूताः सन्तो नरके न पतिष्यन्तीति चेन्नेत्याह—मामीश्वरं भगवन्तं आत्मपरदेहेषु आत्मनां तेषामासुराणां परेषां च तत्पुत्रभार्यादीनां देहेषु प्रेमास्पदेषु तत्तद्बुद्धिकर्मसाक्षितया सत्तयाप्रतिप्रेमास्पदमपि दुर्दैवपरिपाकात् प्रद्विषन्तः ईश्वरस्य मम शासनं श्रुतिस्मृतिरूपं तदुक्तार्थानुष्ठानपराङ्मुखतया तदतिवर्तनं मे प्रद्वेषस्तं कुर्वन्तः । नृपाद्याज्ञालङ्घनमेव हि तत्प्रद्वेष इति प्रसिद्धं लोके । ननु गुर्वादयः कथं तानानुशासति तत्राह—अभ्यसूयकाः गुर्वादीनां वैदिकमार्गस्थानां कारुण्यादिगुणेषु प्रतारणादिदोषारोपकाः । अतस्ते सर्वसाधनशून्या नरक एव पतन्तीत्यर्थः । मामात्मपरदेहेष्वित्यस्यापरा व्याख्या—स्वदेहे परदेहेषु च चिदंशेन स्थितं मां प्रद्विषन्तो यजन्ते दम्भयज्ञेषु श्रद्धायाः अभावाद्दीक्षादिनात्मनो वृथैव पीडा भवति । तथा पश्वादीनामप्यविधिना हिंसया चैतन्यद्रोहमात्रमवशिष्यत इति । अपरा व्याख्या—आत्मदेहे जीवानाविष्टे भगवल्लीलाविग्रहे वासुदेवादिसमाख्ये मनुष्यत्वादिभ्रमान्मां प्रद्विषन्तः । तथा परदेहेषु भक्तदेहेषु प्रह्लादादिसमाख्येषु सर्वदाऽऽविर्भूतं मां प्रद्विषन्त इति योजना । उक्तं हि नवमे—' अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः । राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहनीं श्रिताः ॥ ' इति । 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ' इति चान्यत्र । तथा च भजनीये द्वेषान्न भक्त्या पूतता तेषां संभवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

श्री० टी०—किं च—अहंकारमिति । अहमेव कुलशीलसंपन्नः सर्वशास्त्रपारगः सर्वज्ञो धर्मिष्ठः सर्वोत्तम इति येन स्वमुत्कृष्टं मन्यते सोऽसावहंकारस्तं बलं कामरागजं दर्पं दृप्ततां कामं क्रोधं चकारान्मोहलोभमयासूयादिबुद्धिदोषान् संश्रिता आत्मपरदेहेषु परदेहे आत्मदेहेषु च मामात्मानं प्रत्यग्लक्षणं द्विषन्तममान्तर्यामित्वमनङ्गीकृत्य मां द्विषन्तः यद्वा आत्मनो मम देहादिव्यतिरिक्तत्वं नित्यत्वं चैतन्यमात्रत्वमकर्तृत्वमभोक्तृत्वं चानङ्गीकृत्य प्रकर्षेण द्विषन्तः तत एवाभ्यसूयका आत्मनो देहव्यतिरिक्तत्वनित्यत्वैकत्वपूर्णत्वाविनियत्ववादिनां सत्पुरुषाणां गुणेषु दोषारोपकाः लोके च आसुरा योद्धाचाराः प्रभवन्ति ॥ १८ ॥

श्री० टी०—अविधिपूर्वकत्वमेव प्रपञ्चयति—अहंकारमिति । अहंकारादिसंश्रिताः सन्तः आत्मपरदेहेषु स्वदेहेषु परदेहेषु च चिदंशेन स्थितं मां प्रद्विषन्तो यजन्ते । दम्भयज्ञेषु श्रद्धाया अभावात् आत्मनो वृथैव पीडा भवति । तथा पश्वादीनामपि अविधिना हिंसायां चैतन्यद्रोहमात्रमेवावशिष्यत इति प्रद्विषन्त इत्युक्तम् । अभ्यसूयकाः सन्मार्गवर्तिनां गुणेषु दोषारोपकाः ॥ १८ ॥

स० टी०—यस्य इत्यादिसंकल्पैः प्रवृत्तानां विकर्मणि ॥ नास्ति रागादिभीशुद्धिहेतुः किं पुनरीश्वरे॥१॥ रतिर्वैराग्ययोगादि नास्तीत्याह जगत्पतिः ॥ आरोपितगुणैः स्वस्य महत्त्वाभिमतिं श्रिताः ॥ २ ॥ बलं शरीरसामर्थ्यं पराभिभवकारणम् ॥ परावधीरणारूपं दर्पं गुर्वाद्यतिक्रमम् ॥ ३ ॥ काममिष्टाभिलाषं च क्रोधं द्वेषमनिष्टके ॥ परैश्वर्यासहिष्णुत्वं मात्सर्यं चात्तथा परान् ॥ ४ ॥ संश्रिता महतो दोषान्नरकादिभयावहान् ॥ ईदृशा अपि ते भक्त्या पूताः सन्तो न नारकीम् ॥ ५ ॥ यातनां ते गमिष्यन्तीत्याशङ्क्याह रमापतिः ॥ मां श्रीनारायणं तेषामासुराणां वपुष्यपि ॥ ६ ॥ परेषां चैव तत्पुत्रभार्यादीनां सुरागिणाम् ॥ प्रेमास्पदेषु देहेषु तद्धीकर्मसाक्षिणम् ॥ ७ ॥ परप्रेमास्पदं श्रीमद्भगवन्तमधोक्षजम् ॥ दुर्दैवपरिपाकात्ते

प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥ ८ ॥ ममानुशासनाद्विद्दस्मृतिरूपात्पराङ्मुखाः ॥ श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे ते उल्लङ्घ्य प्रवर्तते ॥ ९ ॥ आज्ञाभङ्गी मम द्वेषीत्यादिस्मृत्या तथेरितम् ॥ अतः श्रुत्यर्थवैमुख्यं प्रद्वेषो मम नापरः ॥ १० ॥ ननु गुर्वादयः शिष्टाः कथं तानानुशासति ॥ इत्यत्राहाभ्यसूयां ते कुर्वन्तः सज्जनेष्वपि ॥ ११ ॥ वेदमार्गे स्थितानां ते कारुण्यादिगुणेष्वपि ॥ प्रतारणादिदोषाणामारोपणस्वभावकाः ॥ १२ ॥ स्वदेहे परदेहेषु चिदंशेन स्थितं हि माम् ॥ प्रद्विषन्तो यजन्ते ते दम्भयज्ञेषु हिंसया ॥ १३ ॥ पश्चादेरयथाशास्त्रं साक्षाच्चिद्द्रोहकारिणः ॥ वृथा दीक्षादिना पीडां सहन्त्यर्थोऽस्तु चोत्तरे ॥ १४ ॥ यद्वात्मदेहे भगवद्विग्रह ईश्वरे ॥ वासुदेवसमाख्येऽस्मिन् मनुष्यत्वादिविभ्रमात् ॥ १५ ॥ द्विषन्तः परदेहेषु भक्तदेहेषु मां हरिम् ॥ प्रह्लादादिसमाख्येषु सदाविर्भूतमित्यपि ॥ १६ ॥ १८ ॥

भा० टी०—न केवलं दम्भेनाविधिपूर्वकं यजन्त इत्येतावदेवापि तु—अहंकारमिति । अहंकारं विद्यमानैरविद्यमानैश्च गुणैरात्मन्यध्यारोपितैरात्मनो विशिष्टत्वाभिमानमविद्याख्यं कष्टतमं सर्वदोषाणां सर्वानर्थप्रवृत्तीनां च मूलं तथा बलं पराभिभवनिमित्तं शरीरादिसामर्थ्यं कामरागान्वितं दर्पं धर्मातिक्रमहेतुमन्तःकरणाश्रयं दोषविशेषं कामं स्त्र्यादिविषयं क्रोधमनिष्टविषयं चादिशब्दादन्यांश्च मात्सर्यादीन् महतो दोषान् संश्रिताः । किं च न केवलमहंकारादीनेव संश्रिताः किं तु तदाश्रयणेन मामीश्वरमात्मपरदेहेषु स्वदेहे परदेहेषु च तद्बुद्धिकर्मसाक्षिणं मां प्रद्विषन्तः श्रुतिस्मृतिरूपमच्छासनातिवर्तित्वं तदुक्तार्थानुष्ठानपराङ्मुखत्वं मद्द्वेषत्वं कुर्वन्तः दम्भेनाविधिपूर्वकं यजनं स्वदेहपीडनमहंकारादिकं सदवज्ञानं च श्रुतिस्मृतिप्रतिषिद्धं समाश्रिता मदाज्ञातिवर्तिन इत्यर्थः । ननु सत्कर्मस्थानामनुवृत्तिं किमिति न कुर्वन्तीति चेत्तत्राह—तेषां गुणेष्वभ्यसूयकाः सन्मात्सरा दोषाविष्करणशीलाः ॥ १८ ॥

म० टी०—तदेव प्रपञ्चयति—अहंकारमिति । अहङ्कारादीन् संश्रिता आत्मपरदेहेषु चिदंशत्वेनावस्थितं मां द्विषन्तोऽविधिपूर्वकं यजन्तो मृषैव स्वदेहं क्लेशयन्ति । पश्वादिहिंसायां च परदेहमत एवोभययोनिमेव द्विषन्तोऽभ्यसूयकाः सन्मार्गवर्तिनां गुणदोषारोपकाः ॥ १८ ॥

रा० टी०—सर्वकर्मकारयितारं सर्वान्तर्यामिणं त्वां कुतो न यजन्त इत्यत आह—अहंकारमिति । अहंकारादिसंश्रिताः सन्तः आत्मदेहे परदेहेषु च नियामकतया स्थितं मां प्रद्विषन्तः । यदि ईश्वरः कारयितास्ति तर्हीदानीमकुर्वाणं मां कारयतु कुर्वाणं च विघातयतु इत्येवं भगवदपलापरूपप्रद्वेषं कुर्वन्तः । अभ्यसूयकाः निर्दोषे दोषान्वदन्तः । गुणपूर्णे गुणहीनतां वदन्तः यजन्त इत्यनुपज्यते ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ॥
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥

त० टी०—एवमासुराणां प्रवृत्तिं स्वभावं चोक्त्वेदानीं तेषां नित्यसंसृतिरूपामधोगतिं फलमाह—तानिति द्वाभ्याम् । तान् मां साधूंश्च द्विषतः क्रूरानत्युग्रस्वभावान् संसारेषु जन्ममरणादिमार्गेषु तत्राप्यासुरीष्वेव योनिषु अजस्रं निरन्तरं क्षिपामि । तत्स्वभावानुगुणमुत्तरोत्तरं क्रूरबुद्धिमेव तेषां वर्धयामीत्यर्थः ॥ १९ ॥

म० टी०—तेषां त्वत्कृपया कदाचिन्निस्तारः स्यादिति नेत्याह—तानिति । तान् सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान् द्विषतः साधून् मां च क्रूरान् हिंसापरान् अतो नराधमान् अतिनिन्दितान् अजस्रं सन्ततमशुभान् अशुभकर्मकारिणः अहं सर्वकर्मफलदातेश्वरः संसारेष्वेव नरकसंसरणमार्गेषु क्षिपामि पातयामि । नरकगताश्च आसुरीष्वेव अतिक्रूरासु व्याघ्रसर्पादियोनिषु तत्तत्कर्मवासनानुसारेण क्षिपामीत्यनुपज्यते । एतादृशेषु द्रोहिषु नास्ति ममे-

श्वरस्य कृपेत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"अथ[य इह]कपूयचरणाः अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा" इति। कपूयचरणाः कुत्सितकर्माणः अभ्याशो ह शीघ्रमेव कपूयां कुत्सितां योनिमापद्यन्त इति श्रुतेरर्थः। अत एव पूर्वपूर्वकर्मानुसारित्वान्नेश्वरस्य वैषम्यं नैर्घृण्यं वा। तथा च पारमार्षं सूत्रम् 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति' इति। एवं च पापकर्माण्येव तेषां कारयति भगवान् तेषु तद्बीजसत्त्वात्। कारुणिकत्वेऽपि तानि न नाशयति तन्नाशकपुण्योपचयाभावात्। पुण्योपचयं न कारयति तेषामयोग्यत्वात्। न हीश्वरः पाषाणेषु यवाङ्कुरान् करोति। ईश्वरत्वादयोग्यस्यापि योग्यतां संपादयितुं शक्नोतीति चेत्, शक्नोत्येव सत्यसंकल्पत्वात्, यदि संकल्पयेत्। न तु संकल्पयति आज्ञालङ्घिषु स्वभक्तद्रोहिषु दुरात्मस्वप्रसन्नत्वात्। अत एव श्रूयते 'एष उ ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते, एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति। येषु प्रसादकारणमस्त्याज्ञापालनादि तेषु प्रसीदति। येषु तु तद्वैपरीत्यं तेषु न प्रसीदति सति कारणे कार्यं कारणाभावे कार्याभाव इति किमत्र वैषम्यम्? 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इति न्यायाच्च। अन्ततो गत्वा किंचिद्वैषम्यापादने महामायत्वाददोषः॥ १९॥

शं० टी०—किंच—तानिति। मां द्विषतः स्वदेहपरदेहेषु मामात्मानं द्विषतस्तत एव क्रूरान् क्रूरकर्मणो दयासत्यशौचाचारशून्यानशुभानमङ्गलाचारनिरतानत एव नराधमान् तानासुराभिरुक्तासुरसंपद्विशिष्टान् जनान् तत्कृतदुष्कर्मभिः संसारेषु संसारमार्गेषु। यद्वा संस्रियन्ते भुज्यन्त इति संसारा जननमरणादिदेहास्तेष्वनुभाव्येषु सत्सु तदनुभूत्यै आसुरीष्वेवातिक्रूरासु शुनकसूकरसर्पव्याघ्रादियोनिषु क्षिपामि तत्कर्मानुरूपामेव शुनकादियोनिमजस्रं पुनः पुनः प्रापयाम्यहमीश्वरो मदाज्ञाच्छेदिनो जनानित्यर्थः॥ १९॥

श्री० टी०—तेषां च कदाचिदप्यासुरस्वभावप्रच्युतिर्न भवतीत्याह—तानिति द्वाभ्याम्। तानहं मां द्विषतः क्रूरान्संसारेषु जन्ममृत्युमार्गेषु तत्रापि आसुरीष्वेव अतिक्रूरासु व्याघ्रादियोनिषु अजस्रमनवरतं क्षिपामि, तेषां पापकर्मणां तादृशं फलं ददामीत्यर्थः॥ १९॥

स० टी०—तेषां त्वत्कृपया जातु निस्तारः स्यादिहेति चेत्॥ मैवं सन्मार्गशत्रूंस्तान्मां साधूंन्द्विषतः शठान्॥ १॥ हिंसान्मुनिनिन्दिताचाराभित्यं चाशुभकारिणः॥ अहं सर्वेश्वरः कर्मफलदाता यथायथम्॥ २॥ संसारेषु सदा दुःखमार्गेषु नरकेषु च॥ पातयामि ततस्तांश्च व्याघ्रसर्पादियोनिषु॥ ३॥ क्रूरास्त्वन्यासुरीष्वेव तत्तत्कर्मानुसारतः॥ एतादृशेषु दुष्टेषु मत्कृपा नास्ति कर्हिचित्॥ ४॥ १९॥

भा० टी०—उक्तविशेषणवतामासुराणां गतिमाह—तानिति। तान्सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान् साधुद्वेषिणो द्विषन्तश्च मां क्रूरान् व्याघ्रादिक्रूरजन्तुतुल्यान् अजस्रं सततम् अशुभानशुभकर्मकारिणोऽतो नराधमान्नरेष्वतिनिकृष्टानहं धर्माधर्मफलप्रदाता परमेश्वरोऽधर्मदोषवत्त्वात्संसारेषु नरकसंसरणमार्गेषु आसुरीष्वेव क्रूरकर्मप्रायासु सिंहव्याघ्रादियोनिषु क्षिपामि संसारेऽस्मिँल्लोके, इयथः परमर्मभेदकत्वात् संसारेपन: ते च ते नराधमाश्चेति विषदंष्ट्र फलशून्यकुकल्पनालम्यत्वादाचार्यैः परित्यक्तः॥ १२॥

प० टी०—तेषां कदाचिदप्यासुरयोनिप्रच्युतिर्न भवतीत्याह—तानिति द्वाभ्याम्। तान् मां द्विषतः क्रूरान् नराधमान् मनुष्ययोनिष्वप्यधमान् संसारेषु जन्ममृत्युमार्गेषु तत्राप्यासुरीषु योनिषु व्याघ्रसर्पवृश्चिकादिहिंस्रयोनिष्वजस्रं निरन्तरं क्षिपामि॥ १९॥

रा० टी०—नरके पतन्तीत्येतावदेव न तेषां फलं किंतु किंचित्कालं संसारमनुभूय पश्चान्नित्यनरकमपि मयैव प्राप्नुवन्तीत्याह—तानिति द्वाभ्याम्। तानशुभांश्चेत्यादिनोक्तान्द्विषतः क्रूरान् अत एवाशुभान्नराधमान्संसारेषु तत्राप्यासुरयोनिषु अजस्रं पुनः पुनः क्षिपामि स्थापयामि॥ १९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ॥
मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

त० टी०–ततस्ते–आसुरीमिति । मूढा विवेकशून्या मच्छासनविपरीताचरणाश्रयां योनिमापन्नाः जन्मनि जन्मनि पुनः पुनस्तमोबहुलास्वेव जायमाना मां सर्वेश्वरं सर्वकर्मफलप्रदातारमप्राप्यैव गुरुशास्त्रोपदेशाभावेन अस्ति परमेश्वरो भगवान्वासुदेवः सर्वाराध्य इति ज्ञानमप्राप्यैव ततो मद्विषयाज्ञानादधमां श्वशूकरादियोनिरूपां गतिं फलं यान्ति प्राप्नुवन्ति ॥ २० ॥

म० टी०–ननु तेषामपि क्रमेण बहूनां जन्मनामन्ते श्रेयो भविष्यति ? नेत्याह–आसुरीमिति । ये कदाचिदासुरीं योनिमापन्नास्ते जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्म मूढास्तमोबहुलत्वेनाविवेकिनस्ततस्तस्मादपि यान्त्यधमां गतिं निकृष्टतमां गतिम् । मामप्राप्येति न मत्प्राप्तौ काचिदाशङ्काप्यस्ति, अतो मदुपदिष्टं वेदमार्गमप्राप्येत्यर्थः । एवकारस्तिर्यक्स्थावरादिषु वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्यतां दर्शयति । तेनात्यन्ततमोबहुलत्वेन वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्या भूत्वा पूर्वपूर्वनिकृष्टयोनितो निकृष्टतमामधमां योनिमुत्तरोत्तरं गच्छन्तीत्यर्थः । हे कौन्तेयेति निजसंबन्धकथनेन त्वमितो निस्तीर्ण इति सूचयति । यस्मादेकदा आसुरीं योनिमापन्नानामुत्तरोत्तरं निकृष्टतरनिकृष्टतमयोनिलाभो न तु तत्प्रतीकारसामर्थ्यमत्यन्ततमोबहुलत्वात्, तस्माद्यावन्मनुष्यदेहलाभोऽस्ति तावन्महताऽपि प्रयत्नेनासुर्याः संपदः परमकष्टतमायाः परिहाराय त्वरयैव यथाशक्ति दैवी संपदनुष्ठेया श्रेयोर्थिभिरन्यथा तिर्यगादिदेहप्राप्तौ साधनानुष्ठानायोग्यत्वान्न कदापि निस्तारोऽस्तीति महत् संकटमापद्येतेति समुदायार्थः । तदुक्तम् ' इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः । गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ' इति ॥ २० ॥

शं० टी०–ननु शुनकादियोनिषु प्रवेशितानामपि तेषां बहुजन्मनामन्ते मोक्षः स्यादेवेत्याशङ्कायां न, इमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति । जायस्व म्रियस्वेति श्रवणाद्वेदविरुद्धाचारनिरतानां पापिष्ठानां तेषां पुनःपुनर्जननमरणे विना न कदाचिदपि मत्प्राप्तिरस्तीत्याह–आसुरीमिति । अनेकचित्तविभ्रान्ताः कामभोगप्रसक्ता अशुचिनरा मूढाः स्वकीयदोषातिशयादेव जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्माप्यासुरीमेव योनिमापन्नाः सन्तो मामप्राप्य–अत्र मामिति मच्छब्देन स्वप्राप्तिसाधनं लक्ष्यते–मां मत्प्राप्तियोग्यं मानवं देहमप्राप्यैव ततोऽप्यासुरयोन्यपेक्षयाऽधमां निकृष्टां वृक्षपाषाणादिरूपां वा पैशाचीं वा गतिं गम्यत इति गतिस्तनुं यान्ति । न तु तामेव पुनः शुनकादियोनिमपि प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरित्यारभ्य ततो यान्त्यधमां गतिमित्यन्तेन ग्रन्थेन रजस्तमोदोषदूषितान्तरङ्गाणामासुराणां या संपत्तस्याः फलमधोधःपतनं विना न कदाचिदपि श्रेयःप्राप्तिर्यस्मान्नास्ति तस्माद्बुद्धिमान् सदा सदसद्विवेकी पुरुषः पुरुषत्वसिद्धेः साफल्याय स्वयं विवेकभ्रंशहेतोर्दुर्योनिप्राप्तेः पूर्वमेवासुरसंपत्तेरतिभयो भूत्वा सदा सदसद्विवेकवैराग्याभ्यां परमपुरुषार्थाय यतेतेति सूचितं भवति । तेनासुरसंपद्वन्त्याधैव न कश्चिन्मोक्षायेति सिद्धम् ॥२०॥

श्री० टी०–किंच–आसुरीमिति । ते च मामप्राप्यैवेत्येवकारेण मत्प्राप्तिशङ्का कुतस्तेषां मत्प्राप्त्युपायं सन्मार्गमप्यप्राप्य ततोऽप्यधमां कृमिकीटादियोनिं गतिं यान्तीत्युक्तम् । शेषं स्पष्टम् ॥ २० ॥

स० टी०–बहूनां जन्मनामन्ते ह्यासुराणां क्रमादपि ॥ नास्ति श्रेयोऽतिनिन्द्यत्वादित्याह भगवान्स्वयम् ॥ १ ॥ ये तु ज्ञात्वाऽऽसुरीं योनिमापन्नाः प्रतिजन्म ते ॥ मूढास्तमस आधिक्यादविवेकिन एव च ॥ २ ॥ तस्मादप्यधमां योनिं मामप्राप्यैव यान्ति ते ॥ अतो मदुपदिष्टं वै वेदमार्गं मनागपि ॥ ३ ॥ अप्राप्य नैव मद्भक्तावधिकारं प्रयान्त्यपि ॥ तस्माद्यावन्नृदेहेन संबन्धस्तावदेव हि ॥ ४ ॥ परिहृत्या-

सुरीं दुष्टां संपदं नरकावहाम् ॥ महतापि प्रयत्नेन दैवीं संपदमाश्रितः ॥ ५ ॥ भगवन्तं भजेत्प्राज्ञो यावन्मृत्युर्न चापतेत् ॥ तदते न कदाप्यस्ति निस्तारः संसृतेरिति ॥ ६ ॥ सूचितं हरिणा साक्षात्तदुक्तं च स्मृतावपि ॥ इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः ॥ ७ ॥ गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति ॥ ८ ॥ २० ॥

भा० टी०—ननु तेषामपि क्रमेण बहूना जन्मनामन्ते श्रेयो भविष्यति ?—नेत्याह—आसुरीमिति । मूढा अविवेकिनो जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्मासुरीं योनिमापन्नाः प्राप्ता मामीश्वरमप्राप्यैवाताससायैव मत्प्राप्तिशङ्काया अप्यभावात् । मच्छिष्टसाधुमार्गप्राप्तिमप्राप्येत्येवकारेण सूचितम् । तत आसुर्या योनितोऽप्यधमां निकृष्टां गतिं यान्ति तेषां श्रेयः कदापि न भविष्यतीति भावः । कौन्तेयेति संबोधयन् त्वं तु मत्पितृष्वसृपुत्रत्वान्मां प्राप्यासुर्यादियोनिषु गन्तुमयोग्योऽसीति मा शुच इति द्योतयति । यस्मादासुरीसंपदनर्थपरंपरारूपा सर्वपुरुषार्थपरिपन्थिनी तस्मादैवानुग्रहात् मानुषीं योनिमापन्नैः सर्वथैवेयं परिहरणीयेति समुदायार्थः ॥ २० ॥

प० टी०—अथासुरयोनिसंस्कारवशान्नीचनीचतरयोनिपूलयन्ते इत्याह—आसुरीमिति । आसुरीं योनिमापन्नाः प्राप्ता जन्मजन्मनि मूढा ज्ञानलवशून्या भवन्ति । अतो मामप्राप्याधमां गतिं यान्ति । श्रुतिरपीशावास्योपनिषत्सु—" आसुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः " इति । भाष्यम्—ये लोका आसुर्या नाम असुराणामंशभूता आसुर्यास्ते अन्धेन तमसा निबिडतराज्ञानेन वृता आच्छन्नाः सन्ति । अथ ते के ? ये आत्महन आत्मघातकाः पश्वादिहिंसारतास्ते प्रेत्य देहं त्यक्त्वा तान् पूर्वोक्तान् लोकानभिगच्छन्ति, ततः पुनर्निस्तारो नास्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

रा० टी०—आसुरीमिति । ततो मूढाः तामसस्वभावाः जन्मनि जन्मनि अनेकजन्मसु आसुरीं योनिमापन्नाः मामप्राप्यैवाधमां नित्यनरकलक्षणां गतिं यान्ति ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ॥
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥

त० टी०—एवमुक्तः सर्व आसुरभावः । इदानीं सर्वानर्थस्यासुरीसंपदश्च मूलं यत्परिहारेण सर्वानर्थः परिहृतो भवति, तत्त्रिविधं परित्यागार्थमाह—त्रिविधमिति । त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य नरकप्राप्तौ इदं द्वारमस्ति । किंभूतं ? आत्मनो नाशनं यद्द्वारं प्रविशन्नेव पुरुषो नश्यति सर्वपुरुषार्थरहितो भवति । किं तत्त्रिकं ? कामः क्रोधस्तथा लोभ इति । यस्मादात्मनो नाशनं नरकस्य द्वारं तस्मादेतत्कामादित्रयं त्यजेत् यत्नतः परिवर्जयेत् ॥ २१ ॥

म० टी०—नन्वासुरी संपदनन्तभेदवती कथं पुरुषायुषेणापि परिहर्तुं शक्येतेत्याशङ्क्य तां संक्षिप्याह—त्रिविधमिति । इदं त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य प्राप्तौ द्वारं साधनं सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतं आत्मनो नाशनं सर्वपुरुषार्थायोग्यतासंपादनेनात्यन्ताधमयोनिप्रापकम् ? किं तदित्यत आह—कामः क्रोधस्तथा लोभ इति । प्राग्व्याख्यातम् । यस्मादेतत्त्रयमेव सर्वानर्थमूलं तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् । एतत्त्रयत्यागेनैव सर्वाप्यासुरी संपत्त्यक्ता भवति । एतत्त्रयत्यागश्च उत्पन्नस्य विवेकेन कार्यप्रतिबन्धः । ततः परं चानुत्पत्तिरिति द्रष्टव्यम् ॥ २१ ॥

शं० टी०—प्रतिपादितायास्त्वासुरसंपत्तेः सर्वस्वमत्रैव पर्यवसितमेतत्त्रितये परित्यक्ते प्रधानमहानिबर्हणन्यायेनाऽऽसुरी संपत्सर्वापि परित्यक्ता स्यात्ततो मुमुक्षोरवश्यमेतत्त्रितयं त्यक्तव्यम् । एतत्त्यक्त्वा स्वधर्मेण श्रेयःसाधनमनुतिष्ठतः पुंसः परमपुरुषार्थः सिध्यतीति प्रतिपादयति—त्रिविधमिति द्वाभ्याम् । नरस्त्वेनो-

कृष्टजन्मवतां नराणां निरतिशयमर्कं दुःखं यत्र तन्नरकं शुनकसूकरादिनीचयोनिः नरकमिति शकन्ध्वादिकं रूपं तस्य नरकस्य. श्वादिनिकृष्टयोनिरूपस्य प्राप्तेः कामः क्रोधो लोभ इति त्रिविधं त्रिप्रकारकमेव द्वारं प्रवेशमार्गः नैवैतादृशं द्वारमन्यदस्तीत्यर्थः । ननु कामादीनां नीचयोनिप्राप्तिद्वारत्वमस्तु ततः का नो हानिरित्याशङ्कायामाह—नाशनमिति । जन्मान्तरानेककृतपुण्यातिशयान्मनुष्यत्वपुरुषत्वब्राह्मणत्ववेदाध्यायीतिमत्त्वविवेकित्वलक्षणं मोक्षसौधान्तमारूढस्यात्मनः स्वस्याधिकारिणो मुमुक्षोः कामादित्रयमेतत्पुरुषार्थस्य नाशकं भवति धर्माधर्मकर्तव्याकर्तव्यार्थानर्थबन्धमोक्षविवेकविज्ञानं नाशयतीत्यर्थः । नहि कामाकुलस्य क्रोधाविष्टस्य वा लोभग्रस्तस्य वा धर्माधर्मादेर्विवेकविज्ञानं भवति तदभावे पुरुषो विनश्यत्येव। मनुष्यत्वाद्युत्कृष्टमोक्षसाधनसंपत्त्या मोक्षसौधान्तमारूढोऽपि प्रमादेन तालारूढ इव कामादिभिरधः पातितः सन् निःशेषं विनश्यति। नहुषादपतितस्य स्वरूपनाशं विना किंचिच्छेषं सिध्यत्यत एवोच्यते नाशनमात्मन इति । यस्मादेवं कामादीनां प्रभावस्तस्मान्मुमुक्षुर्विवेकसंपन्नस्तत्स्वभावं ज्ञात्वा स्वाविनाशाय चण्डालमिव कामं कृष्णसर्पमिव क्रोधं मलमिव लोभं चैतत्त्रयं दूरतस्त्यजेन्न तेषां गोचरो भवेदित्यर्थः ॥ २१ ॥

श्री० टी०—उक्तानामासुरदोषाणां मध्ये सकलदोषमूलभूतं दोषत्रयं सर्वथा वर्जनीयमित्याह—त्रिविधमिति । कामः क्रोधो लोभश्चेतीदं त्रिविधं नरकस्य द्वारम् । अत एवात्मनो नाशनं नीचयोनिप्रापकम् । तस्मादेतत्त्रयं सर्वात्मना त्यजेत् ॥ २१ ॥

म० टी०—ननु वर्षशतेनापि परिहर्तुं न चासुरी ॥ शक्यतेऽनन्तभेदाढ्येत्याशङ्क्याह समासतः ॥ १ ॥ साधनं नरकप्राप्तौ त्रिप्रकारमिदं शृणु ॥ आसुर्याः संपदो मूलं पुरुषार्थैकघातकम् ॥ २ ॥ यस्मादेतत्त्रयं सर्वानर्थमूलमुदीरितम् ॥ तस्मादेतत्त्रयत्यागात्त्यक्ता सर्वासुरी भवेत् ॥ ३ ॥ उत्पन्नस्य त्रयस्यास्य विवेकेन विरागतः ॥ कार्यस्य प्रतिबन्धो हि त्यागोऽनुत्पत्तिरेव च ॥ ४ ॥ २१ ॥

भा० टी०—नन्वनन्तभेदवतीयमासुरी संपत्पुरुषायुषेणापि परिहर्तुमशक्येत्याशङ्क्य सर्वं आसुरसंपद्भेदोऽनन्तोऽपि यस्मिन्नन्तर्भवति यत्परिहारेण परिहृतश्च भवति तत्सर्वानर्थमूलभूतं दर्शयति—त्रिविधमिति । त्रिविधं त्रिप्रकारमिदं नरकस्य नरकप्राप्तौ द्वारमात्मनो नाशनं यद्द्वारं प्रविशन्नेवात्मा नश्यति न कस्मैचित्पुरुषार्थाय योग्यो भवति । किं तत् ? कामः क्रोधस्तथा लोभः इति त्रिविधं नरकस्य द्वारं नाशनमात्मनस्तस्मादेतत्कामादित्रयं श्रेयोर्थी त्यजेत् ॥ २१ ॥

प० टी०—अथोक्तानामसुरदोषाणां मध्ये सकलदोषमूलभूतं दोषत्रयं सर्वथा वर्जनीयमित्याह—त्रिविधमिति । इदं प्रोच्यमानं नरकस्य निरयप्राप्तेर्द्वारं त्रिविधमस्ति । तत्किम् ? कामः क्रोधस्तथा लोभः । तत्र कामनया विपर्यीक्रियतेऽसौ कामोऽभिलाषः तस्य प्रयत्नादप्राप्तौ क्रोधप्राप्तौ च प्राणादप्यधिकतरत्वेन संरक्षणं लोभः, एतत्त्रयम् । किंभूतम् ? आत्मनो नाशनमधमयोनिप्रापकं तस्मात्सर्वप्रयत्नेनैतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

रा० टी०—उक्तेषु पुमर्थविरोधिषु प्रधानदोषत्रयमवश्यं त्याज्यमित्याह—त्रिविधमिति । कामः क्रोधः लोभ इति इदं त्रिविधं नरकद्वारं नरकसाधनम् । अत एव आत्मनो नाशनमनर्थप्रापकम् । तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् । ततश्च कारणाभावान्नरकाणामप्राप्तिरिति भावः ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ॥
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥

त० टी०—त्यागमेव श्रेयोहेतुत्वेन स्तौति—एतैरिति । एतैः कामक्रोधलोभैस्तमोद्वारैस्तामिस्रान्धतामिस्रादिनरकस्य द्वारभूतैस्त्रिभिर्विमुक्तो विशेषतो मुक्तो नर आत्मनः श्रेयो मोक्षसाधनमाचरति मद्भक्तिज्ञानोपाये यतते । ततो ज्ञानभक्तिपरिपाकात्परां गतिं परमफलं मामेव याति ॥२२॥

म० टी०—एतत्त्रयं त्यजतः किं स्यादिति तत्राह—एतैरिति । एतैः कामक्रोधलोभैस्त्रिभिस्तमोद्वारैर्नरकसाधनैर्विमुक्तो विरहितः पुरुष आचरत्यात्मनः श्रेयो यद्विहितं वेदेनोचितं हे कौन्तेय, पूर्वं हि कामादिप्रतिबद्धः श्रेयो नाचरति येन पुरुषार्थः सिध्येत् । अश्रेयश्चाचरति येन निरयपातः स्यात् । अधुना तत्प्रतिबन्धरहितः सन्नश्रेयो नाचरति श्रेयश्चाचरति । तत ऐहिकं सुखमनुभूय सम्यग्धीद्वारा याति परां गतिं मोक्षम् ॥२२॥

शं० टी०—एवं कामादीनामनर्थप्रवृत्तिहेतुतया नरकद्वारत्वं मुमुक्षुत्याज्यत्वं च प्रतिपाद्य एतैर्विमुक्तः श्रेयःसाधननिष्ठो भूत्वा श्रेयः प्राप्नोतीत्याह—एतैरिति । नरो मुमुक्षुरधिकारी ब्राह्मणादिर्विद्वान् तमोद्वारैः तमसो नरकस्य द्वारैर्द्वारभूतैस्त्रिभिरेतैः कामक्रोधलोभैर्विमुक्तो विशिष्य निर्मुक्तः सन्नात्मनः स्वस्य श्रेयःसाधनं स्वाधिकारानुरूपं स्वाश्रमोचितं धर्मं वैदिकं वा श्रवणादिकं वा यदाऽऽचरति सम्यगनुतिष्ठति तदा तेनैवानुष्ठानेन चित्तशुद्धिद्वारा समुत्पन्नात्मज्ञानेन परां गतिं विदेहमुक्तिं याति गच्छतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

श्री० टी०—त्यागे च विशिष्टफलमाह—एतैरिति । तमसो नरकस्य द्वारभूतैरेतैस्त्रिभिः कामादिभिर्विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयःसाधनं तपोयोगादिकमाचरति । ततश्च मोक्षं प्राप्नोति ॥ २२ ॥

स० टी०—किं स्यादेतत्त्रयत्यागात्पुंस एतच्छृणु स्फुटम् ॥ एतैः कामादिभिर्दोषैस्त्रिभिर्नरकसाधनैः ॥१॥ पुमान्विरहितः श्रेयो यद्धितं वेदबोधितम् ॥ आचरत्यात्मनः सम्यग्धीद्वारैति परां गतिम् ॥ २ ॥ कामादिप्रतिबद्धः प्राक् श्रेयो नाचरति स्वयम् ॥ अश्रेयस्त्वाचरत्येव येन स्यान्निरये स्थितिः ॥ ३ ॥ कामादिशून्यः पुरुषो नाश्रेयश्चरति ह्ययम् ॥ श्रेयः सम्यक्करत्येव ततो याति परां गतिम् ॥ ४ ॥ २२ ॥

भा० टी०—एतैर्विमुक्तो लौकिकसुखोपभोगपूर्विकां परां गतिं यातीत्याह—एतैरिति । एतैः कामादिभिस्त्रिभिस्तमसो नरकस्य दुःखमोहात्मकस्य द्वारैः श्रेयःप्रवृत्तिप्रतिबन्धकैर्विमुक्तो नर आत्मनः श्रेयःसाधनं मदाराधनादिकमाचरत्यनुतिष्ठति । ततस्तदाचरणात् लौकिकसुखं भुक्त्वा परां गतिं मोक्षमपि याति गच्छति । यः कामादिभिर्विमुक्तः स एव नरः सार्थकनरजन्मा च इतरे पशवो निरर्थकनरजन्मानश्चेति सूचयितुं नर इत्युक्तम् । त्वं तु कामादिविनिर्मुक्तायाः कुन्त्याः पुत्रत्वादेतैर्विमुक्तः सन् लौकिकं सुखं भुक्त्वा परां गतिं गन्तुं योग्योऽसीति द्योतयन्नाह—कौन्तेयेति ॥ २२ ॥

प० टी०—त्यागे च विशिष्टफलमाह—एतैरिति । तमसो नरकस्य द्वारभूतैरेतैस्त्रिभिः कामादिभिर्मुक्तो नर आत्मनः श्रेयःसाधनं तपोयोगाद्याचरति । ततः परां शान्तिं याति ॥ २२ ॥

रा० टी०—न केवलं कामादित्यागेन नरकाप्राप्तिः परमपुमर्थप्राप्तिश्चास्तीत्याह—एतैरिति । तमोद्वारैर्नरकहेतुभिस्त्रिभिरेतैः कामक्रोधलोभैर्विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयः पुमर्थसाधनमाचरति । ततः परां गतिं मोक्षं याति ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ॥
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

त० टी०—उक्तस्य सर्वस्यासुरभावस्य कामादेस्त्रिविधस्य नरकद्वारस्य च परिवर्जनं श्रेयआचरणं च विधिनिषेधरूपशास्त्रज्ञानाधीनमिति वक्तुं तदनादरेणाचरणं सर्वश्रेयोबाधकमित्याह—यः शास्त्रविधिमिति । यच्छब्देन शास्त्रीयकार्यानुष्ठानाधिकारी सामान्यो गृह्यते । जीवानां हितं शास्ति बोधयतीति शास्त्रं वेदस्तदुपजीविस्मृतिपुराणेतिहासादि तत्संबन्धी विधिरित्युपलक्षणं निषेधस्य । तथा चैवं कुर्यादेवं न कुर्यादिति कर्तव्याकर्तव्यविषयो लिङ्गादिशब्दस्तमुत्सृज्योपेक्ष्य कामकारतः स्वेच्छया यो वर्तते गुणकार्येषु प्रवर्तते स सिद्धिं साधनसिद्धिं कर्मोद्युपायं कुर्वन्नपि नाप्नोति । सिद्ध्यभावे न सुखमैहिकामुष्मिकं किमपि प्राप्नोति, न परां गतिं मुक्तिं प्राप्नोति ॥ २३ ॥

म० टी०—यस्मादश्रेयोनाचरणस्य श्रेयआचरणस्य च शास्त्रमेव निमित्तं तयोः शास्त्रैकगम्यत्वात् तस्मात्—यः शास्त्रेति । शिष्यतेऽनुशिष्यतेऽपूर्वोऽर्थो बोध्यतेऽनेनेति शास्त्रं वेदः तदुपजीविस्मृतिपुराणादि च तत्संबन्धी विधिर्लिङ्गादिशब्दः कुर्यान्न कुर्यादित्येवं प्रवर्तनानिवर्तनात्मकः कर्तव्याकर्तव्यज्ञानहेतुर्विधिनिषेधाख्यस्तं शास्त्रविधिं विधिनिषेधातिरिक्तमपि ब्रह्मप्रतिपादकं शास्त्रमस्तीति सूचयितुं विधिशब्दः । उत्सृज्य अश्रद्धया परित्यज्य कामकारतः स्वेच्छामात्रेण वर्तते विहितमपि नाचरति निषिद्धमप्याचरति यः स सिद्धिं पुरुषार्थप्राप्तियोग्यतामन्तःकरणशुद्धिं कर्माणि कुर्वन्नपि नाप्नोति न सुखमैहिकं, नापि परां प्रकृष्टां गतिं स्वर्गं मोक्षं वा ॥ २३ ॥

शं० टी०—एवं दम्भदर्पातिमानाद्यासुरसंपत्तिमतां वेदशास्त्रविधिमुल्लङ्घ्य तदुक्तधर्माधर्मानुदस्य तत्फलप्रदातारं चापीश्वरमनादृत्य यथेष्टं कामोपभोगेषु परस्वहरणादौ च प्रवृत्तानां पापिष्ठानां पुनरारोहवर्जितमधःपतनं प्रतिपाद्य स्वाज्ञानुल्लङ्घनाय पुनरपि य एवमेव प्रवर्तते सोऽप्यधोलोकमेव गच्छति, न मुक्तिवार्तां स्वप्नेऽपि विन्दतीत्युक्तमेवार्थं द्रढयति—य इति । यः श्रुताध्ययनसंपन्नो ब्राह्मणादिरधिकारी शास्त्रविधिं विधीयतेऽपूर्वोऽर्थो बोध्यतेऽनेनेति विधिः "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत", "न कलञ्जं भक्षयेत्" इत्येवं कर्तव्याकर्तव्यार्थप्रकाशकं शास्त्रविधिं चोदनाविधिं निषेधं चोत्सृज्याविचार्य शास्त्रविधिमुपेक्ष्येत्यर्थः।कामकारतः कामनया यथेच्छं वर्तते शास्त्रनियममुल्लङ्घ्य स्वेच्छानुरूपं श्रद्धाविधुरं कर्मानुष्ठानं यः करोतीत्यर्थः । स कामायत्तप्रवृत्तिः पुरुषः सिद्धिमविधिना कृतत्वात्तैः कर्मभिश्चित्तशुद्धिं नाप्नोति । विध्युक्तस्यैव कर्मणः फलावश्यंभावित्वनियमात्तत एव स्वर्गीयं च सुखं न प्राप्नोति । कर्मणां मुक्तिसाधनत्वाभावात्परां गतिं मोक्षं चापि नाप्नोति । यथेच्छमविधिना कर्म कुर्वाणः स्वर्गापवर्गोभयभ्रष्टो भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

श्री० टी०—कामादित्यागश्च स्वधर्माचरणं विना न भवतीत्याह—य इति । शास्त्रविधिं वेदविहितं धर्ममुत्सृज्य यः कामकारतो यथेच्छं वर्तते, स सिद्धिं तत्त्वज्ञानं न प्राप्नोति, न च सुखमुपशमं, न च परां गतिं मुक्तिं प्राप्नोति ॥ २३ ॥

स० टी०—शिष्यते बोध्यतेऽनेनापूर्वार्थं इति शास्त्रकम् ॥ वेदस्तदुपजीव्येतत्स्मृत्याद्यपि तदेव च ॥१॥ तत्संबन्धिविधिं यस्तु परित्यज्यातिनास्तिकः ॥ स्वेच्छामात्रेण विहितं न करोति निषिद्धकृत् ॥ २ ॥ स सिद्धिं चेतसः शुद्धिं पुमर्थप्राप्तियोग्यताम् ॥ नाप्नोति नैहिकं सौख्यं न स्वर्गं नापवर्गकम् ॥ ३ ॥ २३ ॥

भा० टी०—आसुर्याः संपदः परिवर्जनस्य श्रेयआचरणस्य च किंकारणमित्यपेक्षायामुभयं शास्त्रप्रमाणाच्छक्यं कर्तुं नान्यथाऽत उभयोः शास्त्रं कारणमिति बोधयितुं शास्त्रविधित्यागेऽनर्थमाह—य इति । शिष्यतेऽनुशिष्यते बोध्यतेऽनेनाज्ञातोऽर्थ इति शास्त्रं वेदस्तदुपजीविस्मृतीतिहासपुराणादि च तस्य विधिः कुर्यान्न कुर्यादिति कर्तव्याकर्तव्यज्ञानकारणं शास्त्रसंबन्धिविधिनिषेधाख्यस्तं यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य विहाय कामकारतः स्वेच्छानुसारेण वर्तते कामस्य करणं कामकारस्तस्माद्धेतोः शास्त्रविधिमुत्सृज्येति वा संबन्धः। संसिद्धिं पुरुषार्थयोग्यतां चित्तशुद्ध्यादिलक्षणां नावाप्नोति नास्मिन्लोके सुखं नापि परां प्रकृष्टां गतिं स्वर्गं मोक्षं चाप्नोति ॥ २३ ॥

प० टी०—कामादित्यागश्च स्वधर्माचरणं विना न भवतीत्याह—य इति । शास्त्रविधिं वेदधर्ममुत्सृज्य यः कामकारतः स्वेच्छाचरणेन वर्तते स सिद्धिं तत्त्वज्ञानं न प्राप्नोति न सुखं तत्त्वज्ञानस्य फलरूपमात्मसुखं तत्फलरूपां परां गतिं मोक्षं न प्राप्नोति ॥ २३ ॥

रा० टी०—श्रेयःसाधनानुष्ठाने अज्ञानान्तरं विधातुं तत्करणे बाधकं तावदाह—य इति । यः शास्त्रोक्त-

विधानमुत्सृज्य कामकारतः स्वेच्छामात्रेण यत्र क्वचित्प्रवर्तते स सिद्धिं पुरुषार्थयोग्यतां नावाप्नोति । सुखमैहिकं परां गतिं मोक्षं वा नाप्नोति ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ॥
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥
इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु देवासुरसंपद्विभागयोगो
नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

त० टी०–फलितार्थमाह–तस्मादिति । यस्माच्छास्त्रानङ्गीकारिणां न किमपि फलं भवति, तस्मात् कार्याकार्यव्यवस्थितौ इदमित्थं वा कार्यमिदमित्थं वा न कार्यमित्यस्यां व्यवस्थायां ते तव दैवीप्रकृतिकस्य शास्त्रं वेदस्तदुपबृंहणस्मृतिपुराणेतिहासादिकं प्रमाणं निश्चायकम् । अतः शास्त्रविधानोक्तं विहितं प्रतिषिद्धं च धर्ममधर्मं च ज्ञात्वा इह कर्माधिकारे नरलोके स्ववर्णाश्रमोचितमेव युद्धादिकं कर्म कर्तुं त्वमर्हसि ॥ २४ ॥

• आसुरीं संपदं हित्वा कामाद्यैः कारणैः सह । शास्त्रोक्तमेव कर्तव्यमित्यादिष्टं हि षोडशे ॥ १ ॥
इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

म० टी०–यस्मादेव–तस्मादिति । यस्माच्छास्त्रविमुखतया कामाधीनप्रवृत्तिरैहिकपारत्रिकसर्वपुरुषार्थायोग्यस्तस्मात्ते तव श्रेयोऽर्थिनः कार्याकार्यव्यवस्थितौ किं कार्यं किमकार्यमितिविषये शास्त्रं वेदस्तदुपजीविस्मृतिपुराणादिकमेव प्रमाणं बोधकं नान्यत् स्वोत्प्रेक्षाबुद्धवाक्यादीत्यभिप्रायः । एवं चेह कर्माधिकारभूमौ शास्त्रविधानेन कुर्यान्न कुर्यादित्येवं प्रवर्तनानिवर्तनारूपेण वैदिकलिङ्गादिपदेनोक्तं कर्म विहितं प्रतिषिद्धं च ज्ञात्वा निषिद्धं वर्जयन् विहितं क्षत्रियस्य युद्धादि कर्म त्वं कर्तुमर्हसि सत्त्वशुद्धिपर्यन्तमित्यर्थः । तदेवमस्मिन्नध्याये सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतान् सर्वाश्रेय प्रापकान् सर्वश्रेय प्रतिबन्धकान्महादोषान् कामक्रोधलोभानपहाय श्रेयोऽर्थिना श्रद्दधानतया शास्त्रप्रवणेन तदुपदिष्टार्थानुष्ठानपरेण भवितव्यमिति संपद्द्वयविभागप्रदर्शनमुखेन निर्धारितम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां
श्रीभगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

शं० टी०–शास्त्रविधिनैव कर्मणा कर्तव्यत्वं निर्धारयन्नध्यायमुपसंहरति–तस्मादिति । यस्मादशास्त्रीयाणां कामैकनिबन्धनानां कर्मणां फलाभावो निश्चितस्तस्मात्ते मुमुक्षोः कार्याकार्यव्यवस्थितौ कर्तव्याकर्तव्यार्थयोर्व्यवस्थापने इदमेवमनेन कर्तव्यमिदं तु न कर्तव्यमित्येवमनुष्ठेयाननुष्ठेयार्थनिर्णये श्रुतिस्मृतिलक्षणमेव शास्त्रं प्रमाणं तत्तदर्थप्रमापकं देशकालमन्त्रतन्त्रदेवताद्रव्यर्त्विगादिज्ञानस्य हेयद्रव्यज्ञानस्य च कारणमित्यर्थः । यत एवं ततः कर्मभूमौ कर्माधिकारी दैवसंपत्त्या परित्यक्तकामादिदोषस्त्वमधीतविदितवेदवेदार्थः सन् शास्त्रविधानोक्तं शास्त्रविधिदिष्टमेव कर्म ज्ञात्वा मयेदं शास्त्रीयं कर्म कर्तव्यमिति शास्त्रतो विज्ञायैव स्वीयं कर्म कर्तुमर्हसि नान्यथा कर्मफलवैगुण्यापत्तेरित्यनेन स्ववर्णाश्रमोचितं कर्म शास्त्रेण विज्ञाय मुमुक्षुणा कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशंकरानन्द-
सरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

श्री० टी०—फलितमाह—तस्मादिति । इदं कार्यमिदमकार्यमित्यस्यां व्यवस्थायां ते तव शास्त्रं श्रुतिस्मृतिपुराणादिकमेव प्रमाणम् । अतः शास्त्रविधानोक्तं कर्म ज्ञात्वा इह कर्माधिकारे वर्तमानो यथाधिकारं कर्म कर्तुमर्हसि, तन्मूलत्वात्सत्त्वशुद्धिसम्यग्ज्ञानमुक्तीनामित्यर्थः ॥ २४ ॥

देवदैतेयसंपत्तिसंविभागेन षोडशे ॥ तत्त्वज्ञानेऽधिकारस्तु सात्त्विकस्येति दर्शितम् ॥ १ ॥

इति श्रीसुबोधिन्यां टीकायां श्रीधरस्वामिविरचितायां देवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

स० टी०—यस्माच्छास्त्रबहिर्भूतः कामाधीनप्रवृत्तिभाक् ॥ नैहिकामुष्मिकश्रेयोयोग्यस्तस्मात्तवाधुना ॥ १ ॥ किं कार्यं किमकार्यं चेत्यत्र शास्त्रं हि बोधकम् ॥ श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रमाणं नात्मकल्पना ॥ २ ॥ इहाधिकारभूमौ त्वं ज्ञात्वा शास्त्रविधानतः ॥ कुर्यान्न कुर्यादित्येवं निषिद्धं विहितं तथा ॥ ३ ॥ निषिद्धं वर्जयन्कर्म विहितं क्षत्रियस्य यत् ॥ युद्धादिशुद्धिपर्यन्तं कर्तुं योग्योऽसि सर्वदा ॥ ४ ॥ तदेवमस्मिन्नध्याये आसुर्याः संपदोऽव्ययम् ॥ मूलभूतांस्त्रीन्कामादींस्त्यक्त्वा दैवीं समाश्रयेत् ॥ ५ ॥ तेनापवर्गसिद्धिः स्यान्नान्यथा चेत्युदाहृतम् ॥ ६ ॥ २४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षं जनयति सुधियामासुरी दुःखहेतु-
र्ह्यासुर्यास्त्यागहेतुर्हरिचरणरतिर्नान्यथाऽतोऽप्यनन्यः ॥
स्वान्ते प्रेम्णैव कृष्णं स्मर भज सततं स्वात्मभूतं महेशं
मुक्तिस्तेनैव सिद्धा भवति हरिवचो मानमप्राकृतं वयम् ॥ १ ॥
यद्यस्त्यपेक्षा तव दैवसंपदि बिभेषि चेदासुरसंपदस्तदा ॥
समाश्रय त्वं वसुदेवनन्दने रतिं मतिं भ्रान्तिमपोह्य सर्वतः ॥ २ ॥

इति भावप्रकाशे श्रीसदानन्दविदा कृते ॥ दैवासुरविभागोऽयं षोडशः पूर्णतां गतः ॥
टीकाश्लोकसंख्या ॥ १६८ ॥ आदितष्टीकाश्लोकसंख्या ॥ ४४११ ॥

भा० टी०—यस्माच्छास्त्रविधिमुत्सृज्य कामचारतः प्रवृत्तानां पुरुषार्थहानिरनर्थावाप्तिश्च तस्मात्ते दैवीं संपदमभिजातस्य तव कार्याकार्यव्यवस्थितौ कर्तव्याकर्तव्यव्यवस्थायां शास्त्रं प्रमाणं ज्ञानसाधनमतः शास्त्रेण विधानं कुर्यादित्येवंलक्षणं शास्त्रविधानं तेनोक्तं स्वस्य क्षत्रियस्य यत्कर्म तदिह कर्माधिकारभूमौ कर्तुमर्हसि योग्योऽसि । इदं कर्तव्यमिदं नेति शासनं वेदाख्यरूपं शास्त्रं तदतिक्रमे प्रायश्चित्तं विधानम् । शास्त्रं च विधानं च ताभ्यामुक्तमिति तूक्तविधानपदार्थस्य 'शास्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या शास्त्रपदार्थेऽन्तर्भावमभिप्रेत्याचार्येणोक्तम् । तदनेन षोडशाध्यायेन संपद्द्वयं निरूपयता सर्वस्या आसुर्याः संपदो मूलभूतान् सर्वानर्थप्रापकान् सर्वार्थप्रतिबन्धकान् महादोषान् कामादीन् त्रीन्परित्यज्य तत्परिवर्जनं श्रेयआचरणकारणं शास्त्रविध्युल्लङ्घनं च विहाय श्रेयोर्थिना श्रद्दधानतया शास्त्रोपदिष्टार्थानुष्ठानपरेण भवितव्यमिति दर्शयता आसुर्याः परिवर्जनेन दैव्या उपादानेन च लभ्यमखण्डं मोक्षाख्यं ब्रह्म प्रकाशितम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यबालस्वामिश्रीपादशिष्यदत्तवंशावतंसरामकुमारसूनुधनपतिविदुषा विरचितायां गीताभाष्योत्कर्षदीपिकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

प० टी०—फलितमर्थमाह—तस्मादिति । इदं कार्यमित्यस्यां व्यवस्थायां ते तव श्रुतिस्मृतिरूपं शासनाच्छास्त्रं प्रमाणं नान्यत् । अत. शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि तन्मूलकत्वात्सत्त्वशुद्धिपूर्वकं तत्त्वज्ञानं हि भविष्यतीत्यर्थ. ॥ २४ ॥

अथाध्यायतात्पर्यम् ।

दैवी संपद्विमुक्त्यै शमदमसमताक्षान्तिवैराग्यरूपा
कामक्रोधाभिमानानृतकपटमयी चासुरी बन्धहेतुः ।
उत्पत्तिर्दैवसंपद्यनुजनुहदिता मामकाना जनाना
त्वं मा भैषीः किरीटिन्निति मधुरिपुणा षोडशे प्रोक्तमासीत् ॥ १ ॥

इति श्रीमद्दैवज्ञपण्डितसूर्यविरचितायां भगवद्गीताटीकायां परमार्थप्रपायां
दैवासुरसंपत्तिविवेको नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

रा० टी०–उक्त शास्त्रविध्यतिक्रमे संसिद्धिसुखाद्यभाव इति शङ्का निरस्यन्नुक्तान्तरं विधत्ते–तस्मादिति । यस्मादिदं कार्यमिदमकार्यमिति व्यवस्थाया वे तव विवेकिनः शास्त्रं प्रमाणं तदतिक्रमे च दोषः तस्मादिहलोके शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमर्हसि इति ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतार्थसंग्रहे राघवेन्द्रयतिकृते षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अर्जुन उवाच–ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः ॥
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण! सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥

त० टी०–पूर्वाध्याये तत्त्वज्ञानाधिकारार्थं मुमुक्षुणा सत्त्वैकनिष्ठेन भाव्यमित्येतदर्थं हेयोपादेययोर्दैवासुरसंपदोर्विभागमुक्त्वा तयोर्हेयोपादेयज्ञानासाधारणं कारणं शास्त्रमेवोपादेयं, तदुक्तमेव कार्यं तद्विरुद्धं निषिद्धं चाधमगतिदं नाचरणीयमित्यन्ते निर्णीतम् । इदानीं सात्त्विकश्रद्धयाऽनुष्ठितस्यैव श्रेयोहेतुत्वं राजसतामसश्रद्धयाऽनुष्ठितस्यासुरत्वात्संसारहेतुत्वमिति श्रद्धाऽऽहारयज्ञतपोदानादेस्त्रैविध्यदर्शनाय सप्तदशाध्याय आरभ्यते । तत्र ये शास्त्रविधिं कुतश्चित्कारणाद्विहाय शिष्टाचारमात्रेण निषिद्धत्यागपूर्वकं श्रद्धया यज्ञादि कर्मानुतिष्ठन्ति तेषु शास्त्रविध्युपेक्षालक्षणस्यासुरधर्मस्य श्रद्धापूर्वकानुष्ठानलक्षणस्य दैवधर्मस्य च दर्शनात् किं तेऽसुरेष्वन्तर्भवन्ति देवेषु वेत्येककोटिं निश्चेतुमशक्नुवंस्तन्निर्णयबुभुत्सुरर्जुन उवाच–ये शास्त्रविधिमिति । ये केचिच्छास्त्रविधिमज्ञानादुत्सृज्य श्रद्धयाऽन्विताः सन्तो यजन्ते देवताराधनादौ प्रवर्तन्ते । अत्र ये शास्त्रविधिमुत्सृज्येत्यनेन ये दुःखबुद्ध्या आलस्याद्वा शास्त्रविधिमुत्सृज्य शास्त्रज्ञाने श्रममकृत्वा केवलं शिष्टाचारपरंपरावशेन श्रद्धयाऽन्विताः सन्तो देवताराधनादौ प्रवर्तमाना गृह्यन्ते, न तु ये शास्त्रं सम्यग् ज्ञात्वा बुद्धिपूर्वकं तमनादृत्य यथेष्टाचारेण वर्तमाना गृह्यन्ते । कुतः ? श्रद्धयाऽन्वितत्वविशेषणात् । आस्तिक्यबुद्धिर्हि श्रद्धेत्युच्यते । सा च यथेष्टाचारिणां न संभवति । तस्माद्ये शास्त्रविधिमुत्सृज्येत्यत्र पूर्वोक्ता ज्ञेया । तेषां का निष्ठा स्थितिः ? हे कृष्णेति सामान्यतः पृष्ट्वा किंशब्देन प्रश्नस्थं विशेषं स्वयमेव व्यनक्ति–सत्त्वमाहो रजस्तम इति । उक्तप्रकारेण देवपूजादौ ये प्रवृत्तास्तेषां सत्त्वादिषु का निष्ठा आश्रयः? सत्त्वं–ते सत्त्वाश्रयाः आहोस्वित् रजोनिष्ठाः रजसि संश्रितास्तमःसंश्रिता वा इति विवेचनीयमिति भावः ॥ १ ॥

म० टी०–द्विविधाः कर्मानुष्ठातारो भवन्ति । केचिच्छास्त्रविधिं ज्ञात्वाऽप्यश्रद्धया तमुत्सृज्य कामकारमात्रेण यत्किंचिदनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थायोग्यत्वादसुराः । केचित्तु शास्त्रविधिं ज्ञात्वा श्रद्धधानतया तदनु-

सारेणैव निषिद्धं वर्जयन्तो विहितमनुतिष्ठन्ति ते सर्वपुरुषार्थयोग्यत्वाद्देवा इति पूर्वाध्यायान्ते सिद्धम्। ये तु शास्त्रीयं विधिमालस्यादिवशादुपेक्ष्य श्रद्धानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण निषिद्धं वर्जयन्तो विहितमनुतिष्ठन्ति ते शास्त्रीयविध्युपेक्षालक्षणेनासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठानलक्षणेन च देवसाधर्म्येणान्विताः किमसुरेष्वन्तर्भवन्तु किं वा देवेष्वित्युभयधर्मदर्शनादेककोटिनिश्चायकादर्शनाच्च संदिहानोऽर्जुन उवाच—ये इति। ये पूर्वाध्याये न निर्णीताः न देववच्छास्त्रानुसारिणः किं तु शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृतिचोदनामुत्सृज्य आलस्यादिवशादनादरस्य नासुरवदश्रद्धानाः किं तु वृद्धव्यवहारानुसारेण श्रद्धयान्विता यजन्ते देवपूजादिकं कुर्वन्ति तेषां तु शास्त्रविध्युपेक्षाश्रद्धाभ्यां पूर्वनिश्चितदेवासुरविलक्षणानां निष्ठा का कीदृशी तेषां शास्त्रविध्यनपेक्षा श्रद्धापूर्विका च सा यजनादिक्रियाव्यवस्थितिः हे कृष्ण भक्ताघकर्षण, किं सत्त्वं सात्त्विकी। तथा सति सात्त्विकत्वात्ते देवाः। आहो इति पक्षान्तरे। किं रजस्तमः राजसी तामसी च। तथा सति राजसतामसत्वादसुरास्ते। सत्त्वमित्येका कोटिः, रजस्तमइत्यपरा कोटिरितिविभागज्ञापनायाहोशब्दः ॥ १ ॥

शं० टी०—एवं दैवासुरसंपद्विभागं तत्स्वरूपं तत्फलं चासुराणां ज्ञानानधिकारित्वबोधनायासुरसंपत्तिमतां कामसंकल्पगुणकर्माणि च फलं च विशिष्य प्रतिपाद्य मुमुक्षोः शास्त्रज्ञानेनैव कर्म कर्तव्यमिति निरूप्याधुना शास्त्रार्थानभिज्ञानामपि शास्त्रीयमेव कर्म कामकारं विना श्रद्धया कुर्वतामपि मुमुक्षूणां सात्त्विकेष्वेवाहारयज्ञतपोदानादिषु प्रतिष्ठितानां ज्ञानाधिकारः शमदमादिषट्कसंपत्त्या आत्मज्ञानेन मोक्षाधिकारश्च युज्यत इति बोधयितुं सप्तदशाध्याय आरभ्यते। तत्रादौ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्येति तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं त इति शास्त्रविधिं ज्ञात्वापि तमुत्सृज्य कामकारेण यः प्रवर्तते स आसुरस्तस्य न चित्तशुद्धिर्न च ज्ञानं नापि तत्फलं च सिध्यतीति श्रुत्वा शास्त्रार्थमजानतां कामकारं विनैव श्रद्धया कर्माणि कुर्वतां पुरुषाणां दैवी वाऽऽसुरी वा का वा संपत्तिः का गतिस्तेषामिति जिज्ञासुरर्जुन उवाच—ये इति। ये सामान्याः पुरुषाः शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृतिलक्षणं शास्त्रं तद्विधिं विधानं श्रौतस्मार्तसूत्राध्ययनतदर्थपरिज्ञानाभावादनुष्ठानविधिमुत्सृज्याविज्ञाय श्रद्धया वृद्धव्यवहारसदर्शनसमुत्पन्नयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या विनैव कामकारं वैदिकेषु नियतेषु कर्मस्वत्यन्तविश्वासेनान्विताः सन्तो वैदिकेन कर्मणा देवान् यजन्ते शास्त्रार्थमज्ञात्वाऽपि श्रद्धया भक्त्या च श्रौतं स्मार्तं च कर्म ये कुर्वन्तीत्यर्थः। तेषां श्रद्धया कर्मणि वैदिके प्रवृत्तानां पुरुषाणां निष्ठा स्थितिः का किंलक्षणा? सत्त्वमाहो रजस्तमः इति कारणेन कार्यं गृह्यते। तुशब्दः पूर्वव्यावृत्त्यर्थः। तेषां तु निष्ठा वृत्तिः सात्त्विकी वा उत राजसी किं तामसी वा कथ्यतामिति। अत्र सत्त्वशब्देन दैवसंपत्तिः रजस्तमःशब्देनासुरसंपत्तिर्विवक्षिता। दैवासुरसंपत्त्योरधिकारविचारे प्रक्रान्तत्वात्तेषां संपद्दैवी वाप्युत आसुरी वेति प्रश्नार्थः। ननु यः शास्त्रविधिमुत्सृज्येत्यनेनैव वचनेन शास्त्रविधिमुत्सृज्य यः प्रवर्तते स आसुर इत्येतेषामप्यासुरत्वमुक्तमेव, पुनस्तेषां निष्ठा तु का कृष्णेत्यर्जुनस्य प्रश्नोऽनुपपन्न एवेति चेत्सत्यम्। यद्यपि शास्त्रविध्युत्सर्जनमुभयत्र सममेव तेषामेतेषां च, तथापि श्रद्धान्वितत्वविशेषणविशिष्टत्वात्तेषामेतेषां च विशेषो विद्यते। कामकारत इति तत्र कामकारत्वविशेषणविशेषोपपत्तेश्च शास्त्रविधिमुत्सृज्येति ज्ञात्वा शास्त्रोल्लङ्घनदोषविशेषाच्च तेषामेतेषां च भेदोऽनिवार्य एव। ननु शास्त्रविध्युत्सर्जनमत्रापि च विद्यत एवेति चेन्न शास्त्रविध्युत्सर्जनपदेनात्र शास्त्रार्थापरिज्ञानं विवक्षितं न तु ज्ञात्वा विध्युल्लङ्घनम्। ननु तर्हि शास्त्रार्थानभिज्ञानां मूढानां कथं वैदिके कर्मणि प्रवृत्तिरिति चेदुच्यते—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन इतिन्यायेन ज्ञानकर्मवृद्धप्रवृत्तिसंदर्शनेन मूढानामपि श्रद्धावतां सद्बुद्धीनां वैदिककर्मप्रवृत्तिरुपपद्यते यतिभ्यो वृद्धेषु नमत्सु सत्सु बालानां नमनक्रिया यथा ततस्तेषामेतेषां च विशेषणभेदाद्भेदः सिध्यति, तत एवार्जुनेन पृष्टं तेषां निष्ठा तु का कृष्णेत्यतो न कश्चिदन्यथानुपपत्तिः ॥ १ ॥

श्री० टी०—उक्ताधिकारहेतूनां श्रद्धा मुख्या तु सात्त्विकी ॥ इति सप्तदशे गौणश्रद्धाभेदस्त्रिधोच्यते ॥ १ ॥ पूर्वाध्यायान्ते 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति' इत्यनेन शास्त्रोक्तविधिमुत्सृज्य कामकारेण वर्तमानस्य ज्ञानेऽधिकारो नास्तीत्युक्तम् । तत्र शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामकारं विना श्रद्धया वर्तमानानां किमधिकारोऽस्ति नास्ति वेति बुभुत्सया अर्जुन उवाच—य इति । अत्र च शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते इत्यनेन शास्त्रार्थं बुद्ध्वा तमुल्लङ्घ्य वर्तमाना न गृह्यन्ते तेषां श्रद्धया यजनानुपपत्तेः । आस्तिक्यबुद्धिर्हि श्रद्धा । न चासौ शास्त्रज्ञानवतां शास्त्रविरुद्धेऽर्थे संभवति । तानेवाधिकृत्य त्रिविधा भवति श्रद्धा, यजन्ते सात्त्विका देवानित्याद्युत्तरानुपपत्तेश्च । अतो नात्र शास्त्रविद्विद्विषन्तो गृह्यन्ते । अपि तु क्लेशबुद्ध्या आलस्याद्वा शास्त्रार्थज्ञाने प्रयत्नमकृत्वा केवलमाचारपरंपरावशेन श्रद्धया कचिद्देवताराधनादौ प्रवर्तमाना गृह्यन्ते । अतोऽयमर्थः—ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य दुःखबुद्ध्या आलस्याद्वा अनादृत्य केवलमाचारप्रामाण्येन श्रद्धयान्विताः सन्तो यजन्ते तेषां तु का निष्ठा का स्थितिः क आश्रयः । तामेव विशेषेण पृच्छति—किं सत्त्वम् आहो किं वा रजः अथवा तम इति । तेषां तादृशी देवपूजादिप्रवृत्तिः किं सत्त्वसंश्रिता रजःसंश्रिता वा तमःसंश्रिता वेत्यर्थः । श्रद्धायाः सात्त्विकत्वात् क्लेशबुद्ध्या आलस्येन च शास्त्रानादरस्य च राजसतामसत्वाच्चेधा संदेहः । यदि सत्त्वभावसंश्रितास्तर्हि तेषामपि सात्त्विकत्वाद्यथोक्तात्मज्ञानेऽधिकारः स्यात्, अन्यथा नेति प्रश्नतात्पर्यार्थः ॥ १ ॥

म० टी०—स्वयंज्योतिर्ब्रह्म श्रुतिशिखरगीतं निरवधि जगद्धामाद्वैतं प्रकृतिपुरुषान्तर्गतमजम् ॥ महेशाद्याराध्यं व्रजयुवतिभिः स्वाद्यममृतं महः श्रीकृष्णाख्यं सुखनिधिमहं नौमि सततम् ॥ १ ॥ त्रिविधाः कर्मकर्तारो भवन्ति पुरुषा भुवि ॥ केचिच्छास्त्रविधिं ज्ञात्वा श्रद्धाहीना विहाय तम् ॥ २ ॥ कामकारेण यत्किंचिदनुतिष्ठन्ति तेऽसुराः ॥ केचिच्छास्त्रविधिं ज्ञात्वा श्रद्धानतयोत्तमाः ॥ ३ ॥ निषिद्धं वर्जयन्तो येऽनुतिष्ठन्ति यथाविधि ॥ ते पुरुषार्थयोग्यत्वाद्देवा इत्यपि बोधितम् ॥ ४ ॥ आलस्यादिवशात्ते तूपेक्ष्य शास्त्रविधिं स्वयम् ॥ श्रद्धानतया वृद्धव्यवहारैकदर्शनात् ॥ ५ ॥ निषिद्धं वर्जयन्तश्च कुर्वन्ति विहितं सदा ॥ शास्त्रीयोपेक्षणात्ते किं प्रविष्टा असुरेषु वा ॥ ६ ॥ श्रद्धानतया किं वा देवेष्विति वितर्कयन् ॥ अर्जुनः संदिहानः सन्नुवाच श्रीहरिं प्रति ॥ ७ ॥ श्रुतिस्मृतिविधिं त्यक्त्वा य आलस्यादिना जनाः ॥ देवपूजादिकं वृद्धव्यवहारानुसारतः ॥ ८ ॥ श्रद्धानतया नित्यं कुर्वन्त्यानन्दसागर ॥ देवासुरविभिन्नाना तेषां निष्ठाऽस्ति कीदृशी ॥ ९ ॥ किं सात्त्विकी वेदनिष्ठा राजसी वाथ तामसी ॥ १० ॥ १ ॥

भा० टी०—गीताभाष्यप्रकाशेन जगदुद्धारकौ परौ । वन्दे परस्परात्मानौ देवौ श्रीकृष्णशंकरौ ॥ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' इतिभगवद्वाक्यात् ये शास्त्रविधिं परित्यज्य कामकारतः प्रवृत्तास्ते नास्तिकाः असुराः, ये तु शास्त्रविधिमनुरुध्य विहितानुष्ठानाय प्रतिषिद्धप्रहाणाय च श्रद्धानतया प्रवृत्तास्ते आस्तिकाः सुरा इति ज्ञात्वा श्रद्धावतां शास्त्रानभिज्ञानां निष्ठां जिज्ञासुरर्जुन उवाच—ये इति । ये केचिदसुराणां देवानां च विशेषणैरविशेषिताः शास्त्रविधिं श्रुतिस्मृत्यादिशास्त्रविधानमुत्सृज्यालस्यादिनाऽपश्यन्तो वृद्धव्यवहारादेव श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्याऽन्विताः संयुक्ताः सन्तः देवादीन्यजन्ति पूजयन्ति । ये तु किंचिच्छास्त्रविधिमुपलभमाना एवाश्रद्धानतया तमुत्सृज्यायथाविधि देवादीन्पूजयन्ति तेऽत्र न गृह्यन्ते श्रद्धयान्विता इति विशेषणात् । तेषामेवंभूतानां निष्ठा तु का किं सत्त्वमवस्थानं श्रद्धायाः सात्त्विकत्वात् ? आहो रजः किं वा तमः क्लेशबुद्ध्या आलस्येन च शास्त्रादर्शनस्य राजसतामसत्वात् ? एतदुक्तं भवति—या तेषां देवादिविषया पूजा सा किं सात्त्विकी आहोस्विद्राजसयुत तामसीति 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥' इति निरुक्तिमभिप्रेत्य सर्वत्र सत्तास्फु-

त्यां विना स्थितस्य परमात्मनस्तव किंचिदप्यविदितं न भवतीति सूचयन्संबोधयति–कृष्णेति । मम संशयापकर्षणेति वा संबोधनार्थः ॥ १ ॥

पु० टी०–पूर्वाध्यायान्ते 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य' इत्यादिना शास्त्रविधिमुल्लङ्घ्य प्रवृत्तस्य सिद्धिर्नास्तीत्युक्तं, तदेव पृच्छन्नर्जुन आह–ये शास्त्रविधिमिति । ये शास्त्रविधिं विधिनिषेधात्मकमुल्लङ्घ्य दुःखबुद्ध्याऽऽलस्याद्वाऽनादृत्य केवलं लौकिकाचारपरंपरया श्रद्धा विना यजन्ते तेषां का निष्ठा क आश्रयः सत्त्वमाहोस्विद्रजस्तमो वा । 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इत्यादिवत् फलोपधानं नैव वेति प्रश्नार्थः ॥ १ ॥

रा० टी०–चतुर्दशाध्याये नान्यं गुणेभ्यः कर्तारमित्यादिना सर्वोऽपि परिणामो गुणकृत इति सामान्यत उक्तस्तत्र सत्त्वादिगुणकृतानां श्रद्धानामाहारस्य तपःप्रभृतिकर्मणां च सदसद्रूपाणां भेदेच्छया प्रपञ्चनं क्रियते । पूर्वत्र शास्त्रविधानोक्तं ज्ञात्वा कर्म कार्यमित्युक्ते लब्धावसरोऽर्जुनः शास्त्रविध्यज्ञानिनां का स्थितिरिति पृच्छति–य इति । ये जनाः शास्त्रविधिमुत्सृज्य अज्ञात्वा श्रद्धयान्विताः श्रद्धामात्रेण यजन्ते तेषां निष्ठा तु स्थितिस्तु का कीदृशी । तामेव विविच्याह–सत्त्वमित्यादिना । किं सात्त्विकी राजसी तामसी वा स्थितिरित्यर्थः । ते किं सात्त्विकाः राजसास्तामसा वेति यावत् ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच–त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥

त० टी०–एवं पृष्टोऽर्जुनसंदेहमपनिनीषुस्तावच्छास्त्रज्ञानवतां तदनुकूलाचाराणामनेकजन्मानुष्ठिताकाम्यकर्मणां सात्त्विकानां तु श्रद्धा मोक्षोपयोगिनी भगवदाराधनविषयिकैकैव भवति । शास्त्रज्ञानहीनानां मोक्षमार्गेऽनधिकृतानां सकामानां जीवानां गुणत्रयविभागेन श्रद्धात्रयविभागं श्रीभगवानुवाच–त्रिविधेति । देहिनां परमार्थज्ञानहीनानां प्रवृत्तिमात्रनिष्ठानां मनुष्याणां सर्वेषां श्रद्धा सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा भवति । त्रैविध्ये हेतुः–सा स्वभावजेति । स्वभावः स्वकीयप्राचीनकर्मानुगुणो रुचिविशेषस्तस्माज्जाता स्वभावजा । जीवस्य यत्र रुचिविशेषस्तत्र श्रद्धा जायते । श्रद्धा नामायं ममेष्टं साधयेदिति विश्वासः, विश्वासपूर्विकैव साधने प्रवृत्तिर्भवति । रुचिश्रद्धाप्रयत्नानां निमित्तभूता अन्तःकरणरञ्जकाः सत्त्वादयो गुणाः कार्यैकगम्या अतस्त्रिविधा भवति । तामिमां त्रिविधां श्रद्धां वक्ष्यमाणां शृणु ॥ २ ॥

म० टी०–ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य श्रद्धया यजन्ते ते श्रद्धाभेदाद्भिद्यन्ते । तत्र ये सात्त्विक्या श्रद्धयान्वितास्ते देवाः शास्त्रोक्तसाधनेऽधिक्रियन्ते तत्फलेन च युज्यन्ते । ये तु राजस्या तामस्या च श्रद्धयान्वितास्तेऽसुरा न शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते न वा तत्फलेन युज्यन्त इति विवेकेनार्जुनस्य संदेहमपनिनीषुः श्रद्धाभेदं श्रीभगवानुवाच–त्रिविधेति । यया श्रद्धयान्विताः शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते सा देहिनां स्वभावजा, जन्मान्तरकृतो धर्माधर्मादिशुभाशुभसंस्कार इदानींतनजन्मारम्भकः स्वभावः । स त्रिविधः सात्त्विको राजसस्तामसश्चेति । तेन जनिता श्रद्धा त्रिविधा भवति सात्त्विकी राजसी तामसी च, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य । या त्वारब्धे जन्मनि शास्त्रसंस्कारमात्रजा विदुषां सा कारणैकरूपत्वादेकरूपा सात्त्विक्येव, न राजसी तामसी चेति प्रथमचकारार्थः । शास्त्रनिरपेक्षा तु प्राणिमात्रसाधारणी स्वभावजा । सैव स्वभावत्रैविध्यात्त्रिविधेत्येवकारार्थः । उक्तविधात्रयसमुच्चयार्थश्चरमश्चकारः । यतः प्राग्भवीयवासनारूपस्वभावस्याभिभावकं शास्त्रीयं विवेकविज्ञानमनादृतशास्त्राणां देहिनां नास्ति अतस्तेषां स्वभाववशाभिधां भवन्तीं तां श्रद्धां शृणु । श्रुत्वा च देवासुरभावं स्वयमेवावधारयेत्यर्थः ॥ २ ॥

श्री० टी०—कारणे ज्ञाते कार्यं बोधयितुं शक्यं न त्वज्ञाते सत्यतः कारणश्रद्धाभेदज्ञापनेन निष्ठाभेदं बोधयितुं श्रीभगवानुवाच—त्रिविधेति । देहिनां प्राणिनां श्रद्धा सात्त्विकी राजसी च तामसी चेति त्रिविधैव त्रिप्रकारा त्रिधैव भिन्ना भवतीत्यर्थः । श्रद्धायास्त्रैविध्यसिद्धौ कारणमाह—स्वभावजेति । 'आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च । पञ्चैतानि विलिख्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः' इत्यनेन प्राग्भवीयपुण्यापुण्यादिसंस्कारः स्वभावः स्वेन सह भवतीति स्वभावस्तस्माज्जाता स्वभावजा । यद्वा स्वभावः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका प्रकृतिस्तस्माज्जाता स्वभावजा तत एव सत्त्वादिगुणभेदाच्छ्रद्धाया अपि सात्त्विकी राजसी तामसी चेति भेद उपपन्न इत्यर्थः । यत्प्रधानक्रियायां वर्तमानानां देहिनां निष्ठां त्वं पृच्छसि तां श्रद्धां मयोच्यमानां शृणु, श्रद्धासंभूतिप्रकारं शृण्वित्यर्थः ॥ २ ॥

श्री० टी०—अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच—त्रिविधेति । अयमर्थः—शास्त्रतत्त्वज्ञानतः प्रवर्तमानानां परमेश्वरपूजाविषया सात्त्विकी एकविधैव श्रद्धा । लोकाचारमात्रेण तु प्रवर्तमानानां देहिनां या श्रद्धा सा तु सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा भवति । तत्र हेतुः स्वभावजा । स्वभावः पूर्वकर्मसंस्कारस्तस्माज्जाता स्वभावजा । स्वभावमन्यथा कर्तुं समर्थं हि शास्त्रोक्तं विवेकज्ञानं तत्तु तेषां नास्ति । अतः केवलं पूर्वस्वभावेनैव भवतीति श्रद्धा त्रिविधा भवति तामिमां त्रिविधां श्रद्धां शृणु । तदुक्तम्—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन इत्यादिना ॥ २ ॥

म० टी०—सात्त्विक्या श्रद्धया युक्ता देवाः शास्त्रोक्तसाधने ॥ अधिक्रियन्ते युज्यन्ते तत्फलेन च साधकाः ॥ १ ॥ राजस्या ये तु तामस्या श्रद्धया संयुताश्च ते ॥ नाधिक्रियन्ते शास्त्रीये युज्यन्ते तत्फलेन न ॥ २ ॥ इत्येवं हि विवेकेन सभक्त्यार्जुनस्य च ॥ संदेहोच्छित्तये श्रद्धाभेदं श्रीश उवाच ह ॥ ३ ॥ शास्त्रोक्तविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धया यया ॥ जन्मान्तरीयधर्मादिसंस्कारो योऽधुनातने ॥ ४ ॥ जन्मन्यारम्भकः सोऽयं स्वभावस्त्रिविधो नृणाम् ॥ सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्चेति तेन सा ॥ ५ ॥ त्रिविधोत्पादिता श्रद्धा सात्त्विक्यादिभिदावती ॥ श्रद्धां तां त्वं शृणु श्रुत्वा स्वयमेवावधारय ॥ ६ ॥ देवासुरस्वभावेन सा यथा भवति त्रिधा ॥ ७ ॥ २ ॥

भा० टी०—प्रश्नानुरूपमुत्तरं श्रीभगवानुवाच—त्रिविधेति । त्रिविधा त्रिप्रकारा श्रद्धा भवति, ययाऽन्वितानां निष्ठां त्वं पृच्छसि सा देहिनां देहवतां जीवानां स्वभावजा जन्मान्तरकृतधर्माधर्मादिसंस्कारो मरणकालेऽभिव्यक्तः स्वभाव उच्यते । तस्माज्जाता जीवानां त्रिविधात् स्वभावात् जातत्वात् श्रद्धा त्रिविधा भवतीत्यर्थः । या तु अस्वभावजा अनूनाममावोऽस्वभावः मरणमित्यर्थः । तस्मिन्समीपे सति जाता मरणसमये व्यस्तानां समस्तानां वा गुणानामुद्भवे जन्मान्तरे तत्संस्कारवशात् तत्तद्गुणाधिक एव भवतीति व्यवस्थाकारणमितीतरेषां व्याख्या । सा तु ' गुरुमस्तीति वक्तव्यम् ' इतिन्यायविजृम्भितत्वादुपेक्ष्या । श्रद्धायास्त्रैविध्यमाह—सात्त्विकी सत्त्वनिर्वृत्ता देवादिपूजाविषया, राजसी रजोनिर्वृत्ता यक्षरक्षःपूजाविषया, तामसी तमोनिर्वृत्ता प्रेतपिशाचादिपूजाविषया । एवं त्रिविधां तां श्रद्धां मयोच्यमानां शृणु ॥ २ ॥

प० टी०—ननु शास्त्रविधेरुल्लङ्घनं शास्त्रार्थमबुद्ध्वा बुद्ध्वा वा ? नाद्यो यजनासंभवात्नापरः श्रद्धानुत्पत्तेरास्तिक्यबुद्धिर्हि श्रद्धा, न चासौ शास्त्रज्ञानवतां शास्त्रविरुद्धे संभवतीति पर्यालोच्य भगवानाह—त्रिविधेति । देहिनां मनुष्याणां स्वभावजा श्रद्धा त्रिविधा भवति । प्राचीनसंस्कारः स्वभावस्तस्माज्जाता स्वभावजा स्वभावमन्यथाकर्तुं समर्थं शास्त्रोत्थज्ञानं तत्तु तेषां नास्त्यतः केवलं सत्त्वरजस्तमःप्रधानप्राचीनसंस्कारेण श्रद्धा त्रिविधा तां शृणु ॥ २ ॥

रा० टी०—ते त्रिविधा अपि सन्तीति भावेन प्राक् यागाङ्गतया यष्टृविशेषणत्वेनोक्तश्रद्धां सात्त्विकत्वादिना विभज्य तदाश्रयेण तेषां सात्त्विकत्वादिस्वरूपमाह—त्रिविधेति द्वाभ्याम् । श्रद्धा आस्तिक्यनिष्ठा स्वभावजैवेत्यन्वयः । मनोवृत्तिश्रद्धाव्यावृत्तये स्वभावजैवेत्युक्तम् । तां त्रिविधां शृणु श्रुत्वा तत्र निष्ठां कुर्वित्यर्थः । तदन्वितैः क्रियमाणयजनप्रकारं शृण्वित्यर्थः ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ! ॥
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥

त० टी०—सत्त्वानुरूपेति । सत्त्वमन्तःकरणं तदनुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति । सत्त्वादिगुणरञ्जितान्तःकरणभेदाच्छ्रद्धाभेदः । यद्यप्यन्तःकरणस्य सात्त्विकाहंकारकार्यत्वात् सात्त्विकत्वमेव, तथाऽपि तदाप्यायकान्नपानादेः सात्त्विकादित्रैविध्यात्त्रिविधं भवति । तथा च प्राचीनकर्मनिमित्तकत्वाज्जन्मत एव केषांचित्सत्त्वगुणप्रधानं, केषांचिद्रजःप्रधानं, केषांचित्तमःप्रधानं, सत्त्वमन्तःकरणं देवयक्षरक्षसां क्रमेण भवति । मनुष्याणां तु प्रायेण व्यामिश्रं, केषांचिदेकैकगुणप्रधानं सत्त्वं भवति । एवं च सर्वस्य पुरुषस्य सत्त्वानुरूपान्तःकरणरूपा श्रद्धा भवति । हे भारत ! सत्त्वप्रधानस्य सात्त्विकी, रजःप्रधानस्य राजसी, तमःप्रधानस्य तामसीति विवेकः । फलितमाह—श्रद्धामयोऽयं पुरुष इति । अयं मोक्षानधिकारी संसारी पुरुषः श्रद्धामयः श्रद्धाप्रधानः । प्राधान्ये मयट् स्त्रीमय इतिवत् । तस्माद्यो यच्छ्रद्धः स एव सः, यः पुरुषो यादृश्या श्रद्धया युक्तः स एव सः । सात्त्विक्यादिश्रद्धया युक्तः सात्त्विकादिरूप एव पुरुषो भवति । एवं श्रद्धयैव निष्ठाऽपि दर्शिता । एतेन तेषां निष्ठा तु का कृष्णेति प्रश्नस्योत्तरमुक्तम् । सत्त्वादिनिष्ठानां फलं तु 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः' इति चतुर्दशे उक्तम् ॥ ३ ॥

म० टी०—प्राग्भवीयान्तःकरणगतवासनारूपनिमित्तकारणवैचित्र्येण श्रद्धावैचित्र्यमुक्त्वा तदुपादानकारणान्तःकरणवैचित्र्येणापि तत्त्रैविध्यमाह—सत्त्वेति । सत्त्वं प्रकाशशीलत्वात्सत्त्वप्रधानत्रिगुणापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतारब्धमन्तःकरणम् । तच्च कचिदुद्रिक्तसत्त्वमेव यथा देवानां, कचिद्रजसाभिभूतसत्त्वं यथा यक्षादीनां, कचित्तमसाभिभूतसत्त्वं यथा प्रेतभूतादीनां, मनुष्याणां तु प्रायेण व्यामिश्रमेव । तत्र शास्त्रीयविवेकज्ञानेनोद्भूतसत्त्वं रजस्तमसी अभिभूय क्रियते । शास्त्रीयविवेकविज्ञानशून्यस्य तु सर्वस्य प्राणिजातस्य सत्त्वानुरूपा श्रद्धा सत्त्ववैचित्र्याद्विचित्रा भवति, सत्त्वप्रधानेऽन्तःकरणे सात्त्विकी, रजःप्रधाने तस्मिन् राजसी, तमःप्रधाने तु तस्मिंस्तामसीति । हे भारत महाकुलप्रसूत ज्ञाननिरतेति वा शुद्धसात्त्विकत्वं द्योतयति । यत्त्वया पृष्टं तेषां निष्ठा केति तत्रोत्तरं शृणु—अयं शास्त्रीयज्ञानशून्यः कर्माधिकृतः पुरुषः त्रिगुणान्तःकरणसंपिण्डितः श्रद्धामयः प्राचुर्येणास्मिन् श्रद्धा प्रस्तुतेति तत्प्रस्तुतवचने मयट्, अन्नमयो यज्ञ इतिवत् । अतो यो यच्छ्रद्धः या सात्त्विकी राजसी तामसी वा श्रद्धा यस्य स एव श्रद्धानुरूप एव स सात्त्विको राजसस्तामसो वा । श्रद्धैव निष्ठा व्याख्यातेत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

श्रं० टी०—तदाह—सत्त्वेति । सत्त्वानुरूपा सत्त्वमिति रजस्तमसोरुपलक्षणम् । सत्त्वरजस्तमोगुणानामनुरूपा गुणत्रयभेदानुवृत्ता सर्वस्य प्राणिजातस्य श्रद्धा भवति पुण्यापुण्यकर्मवशादन्तःकरणविजृम्भितसत्त्वादिगुणभेदमाश्रित्यैव पुरुषाणां श्रद्धा भवति न तु पुरुषभेदमाश्रित्येत्यर्थः । ननु सत्त्वादिगुणानुगुण्येन प्राणिनां श्रद्धा भवतु प्रकृते किमायातमित्याकाङ्क्षायामाह—श्रद्धामय इति । अयमिति दृष्टव्यवहारो गृह्यते । अयं प्रत्यक्षः व्यवहारविषयः पुरुषः श्रद्धामयः अधिकृते पुरुषे श्रद्धाप्राचुर्येण दृश्यते, ततोऽयं श्रद्धामयः श्रद्धा-

प्रधानत्वाच्छ्रद्धामय इत्युच्यत इत्यर्थः । ननु पुरुषस्य श्रद्धामयत्वे सिद्धेऽपि का निष्ठेत्युक्तेः किमुत्तरमित्याकाङ्क्षायामाह—य इति । योऽधिकारी पुरुषः स्वधर्मनिष्ठो यच्छ्रद्धः यद्गुणसंभावितश्रद्धावान् भवति स पुरुषः स एव तद्गुण एव भवति । सत्त्वगुणसंभावितश्रद्धावान् सात्त्विकः रजोगुणसंभावितश्रद्धावान् राजसस्तमोगुणसंभावितश्रद्धावान् तामसो भवतीत्यर्थः । यद्यपि श्रद्धा सत्त्वस्यैव धर्मो न तु रजस्तमसोस्तथापि तयोः प्राधान्ये सत्यपि तत्र सत्त्वस्योपसर्जनत्वसंभवात्तद्गुणत्वापि तद्धर्माभासः श्रद्धाभासिकी संभवत्यत एवोच्यते यो यच्छ्रद्धः स एव स इति । एतेन सत्त्वरजस्तमोगुणसंभावितश्रद्धावतां तेषां निष्ठा क्रमात्सात्त्विकी राजसी तामसी चेत्युत्तरं सूचितं भवति । ततः सिद्धं सात्त्विकानां दैवी सपद्राजसतामसानां त्वासुरी संपदिति ॥ ३ ॥

श्री० टी०—ननु च श्रद्धा सात्त्विक्येव सत्त्वकार्यत्वेन त्वयैव भगवता उद्धवं प्रति निर्दिष्टत्वात् । यथोक्तम् ' शमो दमस्तितिक्षेज्या तपः सत्यं दया स्मृतिः । तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः ' इत्येताः सत्त्वस्य वृत्तय इति । अतः कथं तस्यास्त्रैविध्यमुच्यते ? सत्यम्, तथाऽपि रजस्तमोयुक्तपुरुषाश्रयत्वेन रजस्तमोमिश्रत्वेन सत्त्वस्य त्रैविध्यात् श्रद्धाया अपि त्रैविध्यं घटत इत्याह—सत्त्वानुरूपेति । सत्त्वानुरूपा सत्त्वतारतम्यानुसारिणी सर्वस्य विवेकिनोऽविवेकिनो वा लोकस्य श्रद्धा भवति । तस्मादयं पुरुषः लौकिकः श्रद्धामयः श्रद्धाविकारः त्रिविधया श्रद्धया विक्रियत इत्यर्थः । तदेवाह यो यच्छ्रद्धः, यादृशी श्रद्धा यस्य स एव सः, तादृश्या श्रद्धया युक्त एव सः । यः पूर्वं सत्त्वोत्कर्षेण सात्त्विकश्रद्धया युक्तः पुरुषः स पुनस्तादृशः स्वसंस्कारेण सात्त्विकश्रद्धया युक्त एव भवति । यस्तु रजस उत्कर्षेण राजसश्रद्धायुक्तः स पुनस्तादृश एव भवति । यस्तु तमस उत्कर्षेण तामसश्रद्धया युक्तः स पुनस्तादृश एव भवति इति लोकाचारमात्रेण प्रवर्तमानेष्वेवं सात्त्विकराजसतामसश्रद्धाव्यवस्था । शास्त्रजनितविवेकज्ञानयुक्तानां तु स्वभावविजयेन सात्त्विक्येकैव श्रद्धेति प्रकरणार्थः ॥ ३ ॥

स० टी०—प्राग्भवीयमनोनिष्ठवासनानां विचित्रता ॥ निमित्तमस्ति श्रद्धाया वैचित्र्ये चेत्युदीरितम् ॥ १ ॥ इदानीं तदुपादानमनोवैचित्र्यतोऽपि च ॥ श्रद्धावैचित्र्यमाहेशो महामायानियामकः ॥ २ ॥ सत्त्वं प्रकाशशीलत्वादन्तःकरणमुच्यते ॥ क्वचिदुद्रिक्तसत्त्वं तद्यथास्ति त्रिदिवौकसाम् ॥ ३ ॥ क्वचिद्रजोऽभिभूतं तद्यक्षादीनां मनो यथा ॥ क्वचित्तमोऽभिभूतं तद्यथा प्रेतादिदेहिनाम् ॥ ४ ॥ मनुष्याणां तु तत्सत्त्वं व्यामिश्रं प्रायशो भवेत् ॥ तच्च शास्त्रीयबोधेनोद्भूतसत्त्वं रजस्तमः ॥ ५ ॥ क्रियते चाभिभूयैव तच्छून्यस्य तु तच्छृणु ॥ सर्वस्य प्राणिजातस्य श्रद्धा सत्त्वानुसारिणी ॥ ६ ॥ सत्त्वप्रधाने मनसि सात्त्विकी पूर्वपुण्यजा ॥ रजःप्रधाने तस्मिन्सा राजसी पूर्वकर्मजा ॥ ७ ॥ तमःप्रधाने तस्मिन्सा तामसीति त्रिधा स्मृता ॥ का निष्ठेति त्वया पृष्टं यत्तत्रोत्तरमुच्यते ॥ ८ ॥ शास्त्रीयज्ञानशून्योऽयं कर्मण्यधिकृतः पुमान् ॥ श्रद्धामयोऽस्य निष्ठापि व्याख्याता श्रद्धयैव हि ॥ ९ ॥ या यस्य सात्त्विकी श्रद्धा राजसी वाऽथ तामसी ॥ श्रद्धानुरूप एवास्ति स पुमानिति निर्णयः ॥ १० ॥ ३ ॥

१ भा० टी०—प्राचीनकर्मोद्बोधिता त्रिविधा वासना स्वभावशब्दिता त्रिविधायाः श्रद्धायाः निमित्तमित्युक्तम् । इदानीं तस्या उपादानानुरूपत्वेन त्रैविध्यं ज्ञापयन् तन्मयस्य पुरुषस्य त्रैविध्यं ज्ञापयति—सत्त्वानुरूपेति । सर्वस्य प्राणिजातस्य सत्त्वानुरूपा सात्त्विकादिसंस्कारोपेतान्तःकरणानुरूपा त्रिविधसंस्कारोपेतचित्तोपादाना श्रद्धा त्रिविधा भवतीत्यर्थः । श्रद्धामयः श्रद्धाप्रायोऽयं पुरुषो जीवः । कथं ? यो यच्छ्रद्धः यस्य जीवस्य या श्रद्धा स यच्छ्रद्धः स एव स श्रद्धानुरूप एव सः जीवः । श्रद्धायास्त्रैविध्यात्तन्मयो जीवोऽपि त्रिविध इत्यर्थः । यथा त्वं भरतवंशोद्भवत्वात् भारतस्तथेति संबोधनाशयः ॥ ३ ॥

प० टी०—तामेवाह—सत्त्वानुरूपेति । सर्वस्य प्राणिनः श्रद्धा सत्त्वानुरूपा विशिष्टसंस्कारोपस्कृतान्तःकरणानुरूपा वक्तव्या, यत आस्तिक्यबुद्धिः सत्त्वमन्तरेण नोत्पद्यते । तथा सति गुणप्राधान्यवशात्त्रिविधा भवति । एवमयं पुरुषः संसारी श्रद्धामयस्त्रिविधया श्रद्धया विविक्त इति । तदाह—यो यच्छ्रद्धः यादृशी श्रद्धा यस्यासौ यच्छ्रद्धस्तादृश्या श्रद्धया युक्तः स एव सः ॥ ३ ॥

रा० टी०—अस्तु श्रद्धा त्रिविधा । तेषां का निष्ठेति प्रश्नस्य किमुत्तरमित्यत आह—यो यच्छ्रद्धः स एव स इति । यो यजमानः सात्त्विकश्रद्धः स सात्त्विकः । यो राजसश्रद्धः स राजसः । यस्तामसश्रद्धः स तामस इत्यर्थः । कुत एवमित्यतस्तदुपपादनायोक्तं सत्त्वेति । सर्वस्य जन्तोः श्रद्धा सत्त्वानुरूपा जीवस्वरूपानुरूपा भवति 'सत्त्वं जीवः क्वचित्प्रोक्तः' इत्यादिवचनात् । श्रद्धायाः जीवस्वरूपानुरूपत्वात्तया तत्स्वरूपं ज्ञेयमित्यर्थः । श्रद्धायाः जीवानुरूपत्वमेव कुत इत्यत उक्तं श्रद्धेति । अयं पुरुषो जीवः श्रद्धामयः । ताद्रूप्यार्थे मयट्—श्रद्धास्वरूप इत्यर्थः ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ॥
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

त० टी०—तदेवं श्रद्धया निष्ठा ज्ञेया । श्रद्धा तु सात्त्विकादिभेदभिन्ना देवादिपूजालिङ्गेन कार्येण लक्ष्येत्याह—यजन्त इति । सात्त्विकाः सत्त्वप्रचुरा जनाः समानशीलानेव देवान् यजन्ते, तेषां देवाराधनविषया श्रद्धा सात्त्विकीति ज्ञेया । राजसा रजःप्रचुरा जना समानशीलानेव यक्षरक्षांसि यजन्ते, तेषां राजसी श्रद्धा भवति । अन्ये तामसा जनाः समानशीलांस्तामसानेव प्रेतान् भूतगणांश्च यजन्ते, तेषां तामसी श्रद्धा भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

म० टी०—श्रद्धा ज्ञाता सती निष्ठां ज्ञापयिष्यति । केनोपायेन सा ज्ञायतामित्यपेक्षिते देवपूजादिकार्यलिङ्गेनानुमेयेत्याह—यजन्त इति । जनाः शास्त्रीयविवेकहीनाः ये स्वाभाविक्या श्रद्धया देवान् वसुरुद्रादीन् सात्त्विकान् यजन्ते तेऽन्ये सात्त्विका ज्ञेयाः । ये च यक्षान् कुबेरादीन् रक्षांसि च राक्षसान् निर्ऋतिप्रभृतीन् राजसान् यजन्ते तेऽन्ये राजसा ज्ञेयाः । ये च प्रेतान् विप्रादयः स्वधर्मात्प्रच्युता देहपातादूर्ध्वं वायवीयं देहमापन्नाः उल्कामुखकटपूतनादिसंज्ञाः प्रेता भवन्तीति मनूक्तान् पिशाचविशेषान् वा, भूतगणांश्च सप्तमातृकादींश्च तामसान् ये यजन्ते तेऽन्ये तामसा ज्ञेयाः । अन्य इति पदं त्रिष्वपि वैलक्षण्यद्योतनाय संबध्यते ॥४॥

धू० टी०—एवं सत्त्वरजस्तमःसंभावितश्रद्धावतां पुरुषाणां सात्त्विकी राजसी तामसी च प्रकृतिरिति सूचयित्वा तेषां प्रकृत्यनुरूपाणि कर्माण्याह कर्मणा लिङ्गेन तेषां स्वभावो ज्ञातव्य इति सूचयितुम्—यजन्त इति । सात्त्विकाः श्रोत्रिया दैवसंपत्तिमन्तो देवानग्न्यादीन् वैदिकेन कर्मणा यजन्ते सात्त्विक्या श्रद्धया । तदन्ये राजसास्तामसाश्चासुरसंपत्तिमन्तो राजस्या तामस्या च श्रद्धया यक्षरक्षांसि पिशाचान् भूतगणांश्च यजन्ते ॥ ४ ॥

श्री० टी०—सात्त्विकादिभेदमेव कार्यभेदेन प्रपञ्चयति—यजन्त इति । सात्त्विका जनाः सत्त्वप्रकृतीन् देवानेव यजन्ते पूजयन्ति । राजसास्तु रजःप्रकृतीन्यक्षान् राक्षसांश्च यजन्ते । एतेभ्योऽन्ये तु विलक्षणास्तामसा जनास्तामसानेव प्रेतान् भूतगणांश्च यजन्ते । सत्त्वादिप्रकृतीनां तत्तद्देवतानां तु पूजारुचिभिस्तत्तत्पूजकानां सात्त्विकत्वादि ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

स० टी०—श्रद्धा ज्ञाता सती निष्ठां ज्ञापयिष्यति साऽपि ॥ ॥ ज्ञायतां कथमित्युक्तेऽनुमेया कार्यलिङ्गतः ॥ १ ॥ शास्त्रीयज्ञानहीना ये स्वाभाविक्या तया युताः ॥ श्रद्धया सात्त्विकान्देवान्यजन्ते

रुद्रमुख्यकान् ॥ २ ॥ ते जनाः सात्त्विका ज्ञेया ये तु यक्षांश्च राक्षसान् ॥ यजन्ते राजसास्तेऽन्ये ज्ञातव्या राजसा जनाः ॥ ३ ॥ प्रेतान्पिशाचभेदान्ये मातृकादींश्च तामसान् ॥ यजन्ते भूतसंघास्ते ज्ञातव्यास्तामसा जनाः ॥ ४ ॥ ४ ॥

भा० टी०—एवं श्रद्धायास्त्रैविध्येन पुरुषाणां त्रैविध्यं निरूप्य यथोक्तानां पुरुषाणां सत्त्वादिनिष्ठा कथं ज्ञातुं शक्येत्याकाङ्क्षाप्रवृत्तये देवादिपूजारूपकार्येण लिङ्गेन साऽनुमेयेत्याशयेनाह—यजन्त इति। सात्त्विकाः सात्त्विकश्रद्धामया, सत्त्वनिष्ठाः देवान्वसवादीन् सात्त्विकान्यजन्ते पूजयन्ति। राजसाः कुबेरनिर्ऋतिप्रमुखान् यक्षरक्षांसि राजसान्यजन्ते। अन्ये तामसा जनाः प्रेतान्। विप्रादयः स्वधर्मात्प्रच्युता देहपातादूर्ध्वं वायवीयं देहमापन्ना उल्कामुखकटपूतनादिसंज्ञाः प्रेता भवन्तीति सनूक्तान् पिशाचविशेषान् वा भूतगणांश्च सप्तमातृकादींश्च तामसान्यजन्ते। एवं पूजात्रैविध्येन जीवानां निष्ठात्रैविध्यं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

प० टी०—यजन्ते सात्त्विका देवानिति। स्पष्टम् ॥ ४ ॥

रा० टी०—यो यच्छ्रद्ध इत्यत्र सात्त्विकादिश्रद्धः सात्त्विकादिरित्युक्तम्। तत्र सात्त्विकश्रद्धादिः किंकर्मवानिति जिज्ञासायां ता शृण्विति प्रतिज्ञातमाह—यजन्त इति। सात्त्विकाः सात्त्विकश्रद्धावन्तः शास्त्रविधानमजानन्तोऽपि सात्त्विकश्रद्धामात्रान्विता जना इति यावत्, देवान् यजन्ते। राजसा राजसश्रद्धावन्तः शास्त्रविधानमजानन्त इति सर्वत्र ज्ञेयं, यक्षरक्षांसि यजन्ते। तामसास्तामसश्रद्धावन्तः प्रेतादीन् यजन्ते। यद्यपि यागविधिषु ऐन्द्रं दध्यादिषु इन्द्रादिदेवता एवोद्देश्यतया श्रुताः इति राजसादिरपि तत्र श्रुतदेवतोद्देशेनैव यजनं करोति। तथापि तैरिष्टम्। यक्षराक्षसाः पीनत्वाद्देवनामानो महेन्द्रादिसनामकाः गृह्णन्तीति स्मृत्या तत्तन्नामकयक्षादीनामेव तत्तद्धविर्भोक्तृत्वाद्यक्षरक्षांसि यजन्त इत्याद्युक्तमिति ज्ञेयम्। अत्र देवयाजिनां विष्णुभक्त्यादिमत्वान्मोक्ष एव फलम्। राजसानां तु स्वर्गप्रविनिश्चितत्वेन कल्पितः साकल्पिकः स्वर्गः। तामसानां तु शिवपरिवारभूतादित्वप्राप्तिः फलं ज्ञेयम्। 'मोक्षः साकल्पिकः स्वर्गो भूतादित्वं फलं क्रमात्' इति स्मृतेः ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ॥
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ॥
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

त० टी०—ननु शास्त्रविधिमुपेक्ष्य श्रद्धया यजतां श्रद्धात्रैविध्येन सात्त्विकादित्रैविध्यमुक्तं, तथाऽपि तेषां शास्त्रोपेक्षणाद्देवत्वं न भवति 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः' इत्यादिना सर्वपुरुषार्थहीनत्वकथनात्। नाप्यसुरत्वं तेषु दैवसाधर्म्यस्य तपोयज्ञादेर्दर्शनात्। तस्मात्कस्तेषां निश्चय इति चेत्तत्राह—अशास्त्रविहितमिति द्वाभ्याम्। अशास्त्रविहितं शास्त्रेण वेदेन तदनुकूलेन स्मृतिपुराणादिना च यन्न विहितमत एव घोरं प्राणिपीडाकरं तपो ये जनास्तप्यन्ते, उपलक्षणमिदं यज्ञादेः। तथाऽतिघोरं यज्ञं च ये कुर्वन्ति कथंभूता दम्भाहङ्कारसंयुक्ता दम्भो धार्मिकत्वख्यापनम्, अहङ्कार आत्मनः श्रेष्ठत्वाभिमानस्ताभ्यां संयुक्ताः, कामरागबलान्विताः कामो विषयाभिलाषः, रागस्तदभिनिवेशः, बलं तत्प्राप्त्यर्थं प्रयत्नाग्रहस्तैरन्विताः सन्तः शरीरस्थमुपादानतया शरीरे स्थितं भूतग्रामं पृथिव्यादिभूतसमूहं कर्षयन्तः, वृथैवोपवासादिभिः कृशं कुर्वन्तः, अचेतसो विवेकहीना अन्तःशरीरस्थं मां च मदंशभूतं जीवं चैव कर्षयन्तोऽधमगतिप्रापणेन दुःखी कुर्वन्तस्तपोयज्ञादि कुर्वन्ति। ते आसुर-

निश्चयास्तानासुरनिश्चयान् परिहारार्थं विद्धि । असुरा हि मच्छासनमुल्लङ्घ्य यथेष्टाचारिणः मदाज्ञाविपरीताचारित्वात्तेषां सुखलवसंभावनाऽपि नास्ति, प्रत्युताजस्रदुःखे नरके पतन्ति । प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचावित्युक्तत्वात् ॥ ५ ॥ ६ ॥

म० टी०—एवमनादृतशास्त्राणां सत्त्वादिनिष्ठा कार्यतो निर्णीता । तत्र केचिद्राजसतामसा अपि प्राग्भवीयपुण्यपरिपाकात्सात्त्विका भूत्वा शास्त्रीयसाधनेऽधिक्रियन्ते । ये तु दुराग्रहेण दुर्दैवपरिपाकप्राप्तदुर्जनसङ्गादिदोषेण च राजसतामसतां न मुञ्चन्ति ते शास्त्रीयमार्गाद्भ्रष्टा असन्मार्गानुसरणेनेह लोके परत्र च दुःखभागिन एवेत्याह द्वाभ्याम्—अशास्त्रविहितमिति । अशास्त्रविहितं शास्त्रेण वेदेन प्रत्यक्षेणानुमितेन वा न विहितम्—अशास्त्रेण बुद्धाद्यागमेन बोधितं वा—घोरं परस्यात्मनः पीडाकरं तपस्तप्तशिलारोहणादि तप्यन्ते कुर्वन्ति ये जनाः, दम्भो धार्मिकत्वख्यापनम्, अहंकारोऽहमेव श्रेष्ठ इति दुरभिमानः ताभ्यां सम्यग्युक्ताः, योगस्य सम्यक्त्वमनायासेन वियोगजननासामर्थ्यं, कामे काम्यमानविषये यो रागस्तन्निमित्तं यद्बलमत्युग्रदुःखसहनसामर्थ्यं तेनान्विताः, कामो विषयेऽभिलाषः, रागः सदा तदभिनिविष्टत्वरूपोऽभिष्वङ्गः, बलमवश्यमिदं साधयिष्यामीत्याग्रहः, तैरन्विता इति वा । अत एव बलवत् दुःखदर्शनेऽप्यनिवर्तमानाः कर्शयन्तः कृशीकुर्वन्तो भूयोपवासादिना शरीरस्थं भूतग्रामं देहेन्द्रियसंघाताकारेण परिणतं पृथिव्यादिभूतसमुदायमचेतसो विवेकशून्याः मां चान्तःशरीरस्थं भोक्तृरूपेण स्थितं भोग्यस्य शरीरस्य कृशीकरणेन कृशीकुर्वन्त एव मामन्तर्यामित्वेन शरीरान्तःस्थितं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षीभूतमीश्वरमाज्ञालङ्घनेन कर्शयन्त इति वा । तानैहिकसर्वभोगविमुखान् परत्र चाधमगतिभागिनः सर्वपुरुषार्थभ्रष्टानासुरनिश्चयान् आसुरो विपर्यासरूपो वेदार्थविरोधिनिश्चयो येषां तान् मनुष्यत्वेन प्रतीयमानानप्यसुरकार्यकारित्वादसुरान्विद्धि जानीहि परिहरणाय । निश्चयस्यासुरत्वात्तत्पूर्विकाणां सर्वासामन्तःकरणवृत्तीनामासुरत्वम् । असुरत्वजातिरहितानां च मनुष्याणां कर्मणैवासुरत्वात्तानसुरान्विद्धीति साक्षान्नोक्तमिति च द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

शं० टी०—राजसानां तामसानां चासुरमेव धर्मं प्रतिपादयति—अशास्त्रेति द्वाभ्याम् । दम्भो मन्त्रतन्त्रवेषभाषाविद्यापरिकराटोपः, अहंकारः कुलशीलविद्याश्रमादिभिरुत्कृष्टोऽहमित्यन्तःकरणाटोपस्ताभ्यां संयुक्ताः, कामरागबलान्विताः—कामाः ऐहिकामुष्मिकभोग्यपदार्थाः, रागस्तेषामुपभोगेच्छा, बलमिच्छावेगस्तैः सम्यगन्वितास्तत एवाचेतसोऽविवेकिनो ये मूढाः शरीरस्थं स्थूलशरीर उदरे चान्यत्र विद्यमानं भूतग्रामं स्थूलसूक्ष्मरूपप्राणिसमुदायम् । यद्वा प्राणेन्द्रियग्रामं कर्शयन्तोऽन्नरसाद्यभावेन शोषयन्तो मां चैवान्तःशरीरस्थमन्तःशरीरं बुद्धिः तत्र सर्वप्रकाशकतया विद्यमानं मां चापि प्रत्यग्रूपं कर्शयन्तो मनोबुद्धीन्द्रियाणामुपवासकृताविश्रान्त्या प्रवृत्त्युपरमे सत्यात्मचैतन्यस्य स्फुरणं न भवति । तदभाव एवास्य प्रत्यगात्मनः कृशीकरणं तत्कुर्वन्तः सन्तो ये जनाः अशास्त्रविहितम् न शास्त्रविहितं अशास्त्रविहितं घोरं पीडाकरं तपस्तप्यन्ते उपवासव्रतादिना कायशोषणं कामरागबलानुरूपया श्रद्धया ये कुर्वन्तीत्यर्थः । तानासुरनिश्चयान् आसुराणां निश्चयो येषां तानासुरनिश्चयान् विद्धि दुष्करव्रतानासुरान् विजानीहीत्यर्थः । एतेनाभासश्रद्धावतां राजसानां तामसानां चासुर्येव संपदिति सूचितम् । तेन सात्त्विकानां दैव्येव संपदिति सिद्धम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

श्री० टी०—राजसतामसेषु पुनर्विशेषान्तरमाह—अशास्त्रविहितमिति द्वाभ्याम् । शास्त्रविधिमजानन्तोऽपि केचित्प्राचीनपुण्यसंस्कारेणोत्तमाः सात्त्विका एव भवन्ति । केचित्तु मध्यमा राजसा भवन्ति । अधमास्तु तामसा भवन्ति । ये पुनरत्यन्तं मन्दभाग्याः गतानुगत्या पाखण्डसङ्गेन च तदाचारानुवर्तिनः सन्तः अशास्त्रविहितं घोरं भूतभयंकरं तपस्तप्यन्ते कुर्वन्ति । तत्र हेतवः—दम्भाहंकाराभ्यां संयुक्ताः । तथा कामोऽभिलाषः, रागः आसक्तिः, बलमाग्रहः । एतैरन्विताः सन्तः तानासुरनिश्चयान् विद्धीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ५ ॥

किंच—कर्ष(श)यन्त इति । शरीरस्थं प्रारम्भकत्वेन देहे स्थितं भूतानां पृथिव्यादीनां ग्रामं समूहं कर्ष(र्श)-यन्तः वृथैवोपवासादिभिः कृशं कुर्वन्तोऽचेतसोऽविवेकिनः मां च अन्तर्यामितया अन्तःशरीरस्थं देहमध्ये स्थितं मदाज्ञालङ्घनेनैव कर्ष(र्श)यन्तः सन्त एवं ये तपश्चरन्ति तानासुरनिश्चयानासुरोऽतिक्रूरो निश्चयो येषां तान् विद्धि ॥ ६ ॥

स० टी०—इत्यनादृतशास्त्राणां निष्ठोक्ता त्रिविधा नृणाम् ॥ केचित्पुण्यवशात्सन्ति सात्त्विकाः शास्त्रतत्पराः ॥ १ ॥ दुराग्रहेण ये स्वत्रं दुर्दैवपरिपाकतः ॥ दुष्टसङ्गादिदोषेण न मुञ्चन्त्यासुरीं मतिम् ॥ २ ॥ ते शास्त्रीयाध्वनो भ्रष्टा असन्मार्गानुसारतः ॥ इहामुत्र च दुःखैकभाज एवेति कथ्यते ॥ ३ ॥ यन्न श्रुत्या न वा स्मृत्या विहितं तप आसुरम् ॥ यद्वा शास्त्रेण बुद्धवादिप्रणीतेनैव बोधितम् ॥ ४ ॥ घोरं स्वस्य परस्यापि कुर्वन्त्यत्यन्तदुःखदम् ॥ आत्मनो धार्मिकत्वस्य ख्यापनं दम्भ ईरितः ॥ ५ ॥ श्रेष्ठोऽहमेवमित्येवमहंकारो दुराग्रहः ॥ ताभ्यामत्यन्तसंयुक्ता यो रागः काम्यगोचरे ॥ ६ ॥ तन्निमित्तं बलं दुःखं सोढुं सामर्थ्यमित्यपि ॥ विषयाभिलापः कामो रागोऽभिष्वङ्ग उच्यते ॥ ७ ॥ साधयिष्याम्यवश्यं चेत्याग्रहो बलमुच्यते ॥ तैर्युता बलवद्दुःखदर्शनेऽप्यनिवर्तिनः ॥ ८ ॥ ९ ॥ पृथ्व्यादिभूतसंघं ये देहस्थमविवेकिनः ॥ कृशीकुर्वन्त आत्मानं मां चैवान्तःशरीरगम् ॥ १ ॥ अन्तर्यामितया भोक्तृभावेन साक्षिभावतः ॥ मदाज्ञालङ्घनेनैव मां द्विषन्तो नराधमाः ॥ २ ॥ तान्पुमर्थास्परिभ्रष्टानिहामुत्राघभागिनः ॥ आसुरोऽतिविपर्यासो विरुद्धत्वेन च श्रुतेः ॥ ३ ॥ निश्चयो दुर्धियां येषां तान्मनुष्यत्वरूपतः ॥ प्रतीयमानानासुर्यां कान्तान्विद्धयासुरान्छठान् ॥ ४ ॥ सर्वथा देय पवासो दुष्ट आसुरनिश्चयः ॥ श्रेयोऽर्थिभिर्विपश्चिद्भिर्दूरेरित्येवमाशयः ॥ ५ ॥ ६ ॥

भा० टी०—एवं कार्यतो निर्णीतानां सत्त्वादिनिष्ठानां मध्ये देवपूजादितत्परस्य सत्त्वनिष्ठस्य दौर्लभ्यं रजस्तमोनिष्ठानां बाहुल्यं च ज्ञापयितुमाह—अशास्त्रेति । अशास्त्रविहितं श्रुतिस्मृत्यादिरूपेण शास्त्रेण विहितं न भवति तत् शास्त्रं न भवतीत्यशास्त्रं तेन, बुद्धाद्यागमेन बोधितमिति वा । घोरं प्राणिनामात्मनश्च पीडाकरं तपो ये जनास्तप्यन्ते निर्वर्तयन्ति । जनान्विशिनष्टि—दम्भाहंकारसंयुक्ताः दम्भो धर्मध्वजित्वम्, अहंकारोऽहमेव सर्वोत्तम इति दुरभिमानस्ताभ्यां सम्यग्युक्ताः । कामरागबलान्विताः—कामो विषयाभिलाषः, कामस्य कारणीभूतो विषयाभिष्वङ्गात्मको रागः, कामरागाभ्यां कृतं बलं विषयसंपादनोत्साहस्तेनान्विताः, कामरागबलैरन्विता इति वा ॥ ५ ॥ रजोनिष्ठान् प्राधान्येन प्रदर्श्य तमोनिष्ठान् प्राधान्येन विशिनष्टि—कर्शयन्त इति । शरीरस्थं भूतग्रामं करणसमुदायरूपेण परिणतं कर्शयन्तः कृशीकुर्वन्तः यतोऽचेतसोऽविवेकिनो मूढाः मां चैव तत्कर्मबुद्धिसाक्षिभूतमन्तःशरीरस्थं कर्शयन्तो मदनुशासनातिक्रमणं कुर्वन्तो भोक्तृरूपेणान्तःशरीरस्थम् । भोग्यस्य शरीरस्य कर्शनेन कृशीकुर्वन्त इति तु भोग्यस्य कृशीकरणेनापि निरवयवस्य भोक्तुः वास्तवं कार्श्यं न संभवतीत्यभिप्रेत्याचार्यैः नोक्तम् । य एवंविधास्तान् आसुरो निश्चयो येषां ते आसुरनिश्चयाः तान्परिहरणार्थं विद्धि विजानीहीति करुणानिधिर्भगवानुपदिशति ॥ ६ ॥

१ पु० टी०—अथाविहितं कर्म दर्शयति—अशास्त्रविहितमिति द्वाभ्याम् । शास्त्रेणाविहितमननुज्ञातं घोरं भयावहं श्मशाने नग्नत्वेनानुष्ठीयमानं घोरसाधनादि ये जनास्तपस्तप्यन्तेऽनुतिष्ठन्ति । दम्भो धर्मध्वजित्वम्, अहंकारो गर्वस्ताभ्यां संयुक्ताः । कामोऽभिलाषो, राग आसक्तिर्बलमाग्रहस्तैरन्वितास्तानासुरनिश्चयान्विद्धीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ५ ॥ तदुदाहरति—कर्शयन्त इति । शरीरस्थं शरीरान्तर्गतं भूम्यादिभूतग्रामं प्राणधारोपवासादिभिः कर्शयन्तः कृशं कुर्वन्तः । च परं मामन्तर्यामित्वेन स्थितं दुःखसाक्षिणं कुर्वन्तोऽत एवाचेतसो दैवप्राप्यमित्यजानन्तस्तानासुरनिश्चयानासुरोऽतिक्रूरो निश्चयो येषां ते तथाविधान् विद्धि ॥ ६ ॥

रा० टी०—न केवलं तामसानां मूढादित्वं तमःप्राप्तिरपीत्याह—अशास्त्रेत्यादि द्वाभ्याम्। ये जनाः शास्त्रादन्येन दुरागमादिना विहितं घोरं महाकष्टरूपं तपः दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः इच्छासक्त्याग्रहयुक्ताः सन्तस्तप्यन्ते कुर्वन्ति ॥ ५ ॥ किंच—कर्शयन्त इति। शरीरस्थं भूतग्रामं लक्ष्म्यादिदेवतासमुदायं मां चान्तर्नियामकत्वेन शरीरस्थं कर्शयन्तो (कृशत्वेना)ल्पगुणत्वेन पश्यन्तोऽचेतसोऽविवेकिनः। तानासुरनिश्चयानसुरसंबन्धिनिश्चयान्विद्धि जानीहि। ते दैत्यरक्षःपिशाचा इत्यर्थः। तमःप्राप्तियोग्या इति भावः ॥ ६ ॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ॥
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

त० टी०—एवं परिहार्यमासुरत्वं प्रदर्श्य सात्त्विकानामुपादानार्थं राजसतामसानां परिहारार्थं यज्ञतपोदानानां गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं तावत् सात्त्विकादियज्ञादेरन्तःकरणनिमित्तत्वादन्तःकरणस्य शुद्धेस्तु "अन्नमयं हि सोम्य! मनः आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" इति श्रुत्या आहारशुद्धिमूलत्वनिश्चयादाहारस्य गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं प्रतिजानीते—आहारस्त्वपीति। न केवलं श्रद्धैव देहिनां त्रिविधा भवति। किंतु सर्वस्य जनस्य यस्तु आहारः प्रियो भवति, सोऽपि त्रिविध एव। सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन स्वस्वप्रकृत्यनुसारात्त्रिविधेष्वेकतमः प्रियः, नतु चतुर्थः कश्चिदित्यर्थः। तथा यज्ञास्तथा तपो दानं च त्रिविधं भवति। तेषामाहारादीनां भेदमिमं वक्ष्यमाणं शृणु ॥ ७ ॥

म० टी०—ये सात्त्विकास्ते देवा ये तु राजसास्तामसाश्च ते विपर्यस्तत्वादसुरा इति स्थिते सात्त्विकानामादानाय राजसतामसानां हानाय चाहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यमाह—आहार इति। न केवलं श्रद्धैव त्रिविधा, आहारोऽपि सर्वस्य प्रियस्त्रिविध एव भवति सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वेन चतुर्थ्या विधायाः असंभवात्। यथा दृष्टार्थः आहारस्त्रिविधस्तथा यज्ञतपोदानान्यदृष्टार्थान्यपि त्रिविधानि। तत्र "यज्ञं व्याख्यास्यामो द्रव्यं देवतात्याग." इति कल्पकारैर्देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यज्ञ इति निरुक्तः। स च यजतिना जुहोतिना च चोदितत्वेन यागो होमश्चेति द्विविधः—वषट्कारप्रयोगान्ता याज्यापुरोनुवाक्यावन्तो यजतयः, उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रयोगान्ता याज्यापुरोनुवाक्यारहिताः जुहोतय इति कल्पकारैर्व्याख्यातो यज्ञशब्देनोक्तः। तपः कायेन्द्रियशोषणं कृच्छ्रचान्द्रायणादि। दानं परस्वत्वापत्तिफलकः स्वस्वत्वत्यागः। तेषामाहारयज्ञतपोदानानां सात्त्विकराजसतामसभेदं मया व्याख्यायमानमिमं शृणु ॥ ७ ॥

शं० टी०—एवं श्रद्धाभेदेन देवादियजनभेदेन शास्त्रीयाशास्त्रीयकर्मानुष्ठानेन च सात्त्विका राजसास्तामसा ज्ञातव्या इति सूचयित्वाऽधुना त्वाहारेण यज्ञेन तपसा दानेन च ते ज्ञातव्या इति सूचयितुमाहारयज्ञतपोदानादीनां सत्त्वादिगुणभेदेन त्रैविध्यं प्रतिपादयति सात्त्विकैर्मुमुक्षुभिः। सात्त्विका एवाहारादयश्चित्तशुद्धये कर्तव्या नेतर इति ज्ञापयितुं च—आहारास्त्विति। स्पष्टोऽर्थः ॥ ७ ॥

श्री० टी०—आहारादिभेदादपि सात्त्विकादिभेदं दर्शयितुमाह—आहारस्त्वित्यादित्रयोदशभिः। सर्वस्यापि जनस्य य आहारोऽन्नादिः स तु यथायथं त्रिविधः प्रियो भवति। तथा यज्ञतपोदानानि च त्रिविधानि भवन्ति। तेषां च वक्ष्यमाणमिमं भेदं शृणु। एतच्च राजसतामसाहारयज्ञादिपरित्यागेन सात्त्विकाहारयज्ञादिसेवया सत्त्ववृद्धौ यत्नः कर्तव्य इत्येतदर्थं कथ्यते ॥ ७ ॥

स० टी०—ये सात्त्विकास्ते देवाः स्यू राजसास्तामसास्तु ये ॥ तेऽसुराः सर्वथा त्याज्या ग्राह्या देवास्तु सात्त्विकाः ॥ १ ॥ इत्याहारतपोयज्ञदानत्रैविध्यमुच्यते ॥ त्रिविधोक्ता यथा श्रद्धा तथाहारस्त्रिधाऽप्यपि

॥ २ ॥ सर्वस्य प्राणिनो भोक्तुः प्रियो यज्ञस्तपस्तथा ॥ देवतोद्देशतो द्रव्यत्यागो याग उदाहृतः ॥ ३ ॥ तपश्चान्द्रायणाद्युक्तं शरीरेन्द्रियशोषणम् ॥ दानं स्वस्वत्वत्यागोऽन्यस्वत्वापादनमीरितम् ॥४॥ तेषां चतुर्णां भेदं त्वं प्रोच्यमानं मया शृणु ॥ ५ ॥ ६ ॥

भा० टी०—तत्तदाहारेषु प्रीत्यतिरेकेण सात्त्विकत्वादिकं यज्ञादीनामपि सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिविधत्वं च बुद्ध्वा सात्त्विका आहारादयो ग्राह्याः राजसतामसाश्च परित्याज्या इति बोधयितुमारभते—आहार इत्यादिना । आह्रियते इत्याहारो भक्ष्यादिरूपः । सर्वस्य सात्त्विकादिभेदभिन्नस्य प्राणिजातस्य भोक्तुराहारोऽपि त्रिविधस्त्रिप्रकारः प्रियः इष्टो भवति, तथा यज्ञस्त्रिविधः तथा दानम् । तेषामाहारादीनामिमं वक्ष्यमाणं भेदं शृणु ॥ ७ ॥

म० टी०—अथ सात्त्विकादीनामाहारादिभेदमाह—आहार इत्यादित्रयोदशभिः । सर्वस्यापि जनस्य य आहारोऽन्नादिः स तु यथायथं त्रिविधः प्रियो भवति । तथा यज्ञतपोदानानि च त्रिविधानि भवन्ति । तेषां वक्ष्यमाणमिमं भेदं त्रिविधं शृणु ॥ ७ ॥

रा० टी०—श्रद्धाभेदात्सात्त्विकादिभेदः तत्तदीयसदसत्कर्मविवेकेन सात्त्विकादिस्वरूपविवेक उक्तः । आहारादिभेदेनापि तेषां विवेकं प्रतिज्ञापूर्वमाह—आहारस्त्वित्यादिसप्तभिः । सर्वस्येति सात्त्विकादिजनस्येत्यर्थः । यज्ञस्तपोदानं तथा त्रिविधमित्यर्थः । तेषामिति आहारादीनामित्यर्थः ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ॥
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ॥
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ॥
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

म० टी०—तत्र तावदाहारभेदानाह त्रिभिः श्लोकैः—आयुरिति । आयुरादिवर्धना आहाराः सात्त्विकानां प्रिया भवन्ति । तत्रायुश्चिरजीवनं, सत्त्वमन्तःकरणं गुणो वा तस्य कार्यं ज्ञानं सत्त्वशब्देनोच्यते 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्' इतिवचनात् । बलं स्वधर्मानुष्ठानसामर्थ्यम्, आरोग्यं रोगराहित्यं, सुखं चित्तप्रसादः, प्रीतिरभिरुचिस्तेषां विवर्धना विवृद्धिकराः । ते च रस्या मधुररसोपेताः, स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः, स्थिराः शरीरे रसांशेन चिरकालस्थायिनः, हृद्या हृदयङ्गमाः, एवंविधा आहारा भक्ष्यभोज्यादिरूपाः सात्त्विकप्रिया भवन्ति । तथा—कट्विति । अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि योजनीयः । तथा चातिकटुर्निम्बादिः, अत्यम्लः, अतिलवणः, अत्युष्णः, अतितीक्ष्णो मरीच्यादिः, अतिरूक्षः स्नेहवर्जितः कङ्गुकोद्रवादिः, अतिविदाहिनः कण्ठोदरदाहकराः—एवंभूता आहारा राजसस्य इष्टाः प्रिया भवन्ति । ते च दुःखं तात्कालिकतापः, शोकः पश्चाद्भावि दौर्मनस्यम्, आमयो रोगः, एतान् प्रददतीति दुःखशोकामयप्रदाः । तथा—यातयाममिति । यातयामं बहुकालावस्थितं, गतरसं निर्गतस्वाभाविकरसं, पूति दुर्गन्धव्याप्तं, पर्युषितं रात्र्यन्तरितत्वेन रसान्तरापन्नम्, उच्छिष्टं गुरुव्यतिरिक्तेभ्योऽन्येषां भुक्तावशिष्टम्, अमेध्यं यज्ञानर्हमशुचि, एवंविधं

तमोमयं भोजनं तामसस्य पुरुषस्य प्रियं भवति। पुनरपि तमसो विवृद्धिकरम्। तस्माच्छ्रेयस्कामे राजसं तामसं च हित्वा सत्त्ववृद्ध्ये सात्त्विकाहार एव सेवनीय इति भावः॥ ८–१०॥

म० टी०—आहारयज्ञतपोदानानां भेदः पञ्चदशभिर्व्याख्यायते। तत्राहारभेदस्त्रिभिः—आयुरिति। आयुश्चिरजीवनं, सत्त्वं चित्तधैर्यं बलवति दुःखेऽपि निर्विकारत्वापादकं, बलं शरीरसामर्थ्यं स्वोचिते कार्ये श्रमाभावप्रयोजकम्, आरोग्यं व्याध्यभावः, सुखं भोजनानन्तराह्लादः, तृप्तिः प्रीतिर्भोजनकालेऽनभिरुचिराहित्यमिच्छौत्कट्यं तेषां विवर्धनाः विशेषेण वृद्धिहेतवः, रस्याः आस्वाद्याः मधुररसप्रधानाः, स्निग्धाः सहजेनागन्तुकेन वा स्नेहेन युक्ताः, स्थिराः रसाद्यंशेन शरीरे चिरकालस्थायिनः, हृद्याः हृदयंगमाः दुर्गन्धाशुचित्वादिदृष्टादृष्टदोपशून्याः, आहाराश्चर्व्यचोष्यलेह्यपेयाः, सात्त्विकानां प्रियाः—एतैर्लिङ्गैः सात्त्विका ज्ञेयाः सात्त्विकत्वमभिलषद्भिश्चैत आदेया इत्यर्थः॥८॥ कट्विति। अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि योजनीयः। कटुरितक्तः कटुरसस्य तीक्ष्णशब्देनोक्तत्वात्। तत्रातिकटुर्निम्बादिः, अत्यम्लोऽतिलवणोऽत्युष्णश्च प्रसिद्धः। अतितीक्ष्णो मरीचादिः, अतिरूक्षः स्नेहशून्यः कङ्गुकोद्रवादिः, अतिविदाही संतापको राजिकादिः, दुःखं तात्कालिकीं पीडां, शोकं पश्चाद्भाविदौर्मनस्यम्, आमयं रोगं च धातुवैषम्यद्वारा प्रददतीति तथाभिधा आहारा राजसस्येष्टाः। एतैर्लिङ्गै राजसा ज्ञेयाः सात्त्विकैश्चैत उपेक्षणीया इत्यर्थः॥ ९॥ यातेति। यातयाममर्धपक्वं निर्वीर्यस्य गतरसपदेनोक्तत्वादिति भाष्यम्। गतरसं विरसतां प्राप्तं शुष्कं, यातयामं पक्वं सत्प्रहरादिव्यवहितमोदनादि शैत्यं प्राप्तं, गतरसमुद्धृतसारं मथितदुग्धादीत्यन्ये, पूति दुर्गन्धं, पर्युषितं पक्वं सद्रात्र्यन्तरितम्। चेन तत्कालोन्मादकरं धत्तूरादि समुच्चीयते। यदतिप्रसिद्धं दुष्टत्वेन उच्छिष्टं भुक्तावशिष्टम्, अमेध्यमयज्ञार्हमशुचि मांसादि। अपि चेति वैद्यकशास्त्रोक्तमपथ्यं समुच्चीयते। एतादृशं यद्भोजनं भोज्यं तत्तामसस्य प्रियं सात्त्विकैरतिदूरादुपेक्षणीयमित्यर्थः। एतादृशभोजनस्य दुःखशोकामयप्रदत्वमतिप्रसिद्धमिति कण्ठतो नोक्तम्। अत्र च क्रमेण रस्यादिवर्गः सात्त्विकः, कट्वादिवर्गो राजसः, यातयामादिवर्गस्तामस इत्युक्तमाहारवर्गत्रयम्। तत्र सात्त्विकवर्गविरोधित्वमितरवर्गद्वये द्रष्टव्यम्। तथा ह्यतिकटुत्वादिकं रस्यत्वविरोधि तादृशस्यानास्वाद्यत्वात्। रूक्षत्वं स्निग्धत्वविरोधि। तीक्ष्णत्वविदाहित्वे धातुपोषणविरोधित्वात्स्थिरत्वविरोधिनी। अत्युष्णत्वादिकं हृद्यत्वविरोधि। आमयप्रदत्वमायुःसत्त्वबलारोग्यविरोधि। दुःखशोकप्रदत्वं सुखप्रीतिविरोधि। एवं सात्त्विकवर्गविरोधित्वं राजसवर्गे स्पष्टम्। तथा तामसवर्गेऽपि गतरसत्वयातयामत्वपर्युषितत्वानि यथासंभवं रस्यत्वस्निग्धत्वस्थिरत्वविरोधीनि। पूतित्वोच्छिष्टत्वामेध्यत्वानि हृद्यत्वविरोधीनि। आयुःसत्त्वादिविरोधित्वं तु स्पष्टमेव। राजसवर्गे दृष्टविरोधमात्रं, तामसवर्गे तु दृष्टादृष्टविरोध इत्यतिशयः॥ १०॥

श्रं० टी०—आयुरिति। आयुषो ज्योग्जीवनस्य सत्त्वस्यान्तःकरणस्य तत्स्फूर्तेर्बलस्य देहेन्द्रियशक्तेरारोग्यस्य रोगानुदयस्य सुखस्य संतोषस्य प्रीतेश्चक्षुष्प्रीतेर्विवर्धनाः वर्धकाः रस्याः रसोपेता मधुराः स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः स्थिरा सारवत्तराः हृद्या मनोरमा आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥ कट्विति। अतिशब्दः कट्वादिभिः प्रत्येकं संबध्यते। अतिकटुरतितिक्तो निम्बादिः कटुकस्तिक्तशब्देनोच्यते अत्यम्लोऽतिलवणोऽत्युष्णः अतितीक्ष्णो वृद्धमरीचिः रूक्षो निःस्नेहः प्रियङ्ग्वादिः, विदाही सर्षपादिः, सद्योदुःखप्रदाः पश्चाच्छोकरोगप्रदा आहारा राजसस्येष्टाः॥ ९॥ यातेति। यातयामं मन्दपक्वं, गतरसम् अतिपक्वम्, पूति दुर्गन्धि, पर्युषितं पुरातनं, उच्छिष्टं भोजनशेषं, अमेध्यमयज्ञशेषं, भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥

श्री० टी०—तत्राहारत्रैविध्यमाह—आयुरितित्रिभिः। आयुर्जीवितम्, सत्त्वमुत्साहः, बलं शक्तिः, आरोग्यं रोगराहित्यं, सुखं चित्तप्रसादः, प्रीतिरभिरुचिः, आयुरादीनां विवर्धनाः विशेषेण वृद्धिकरास्ते

म० टी०—इदानीं क्रमप्राप्तं त्रिविधं यज्ञमाह—अफलेति त्रिभिः । अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्य-पशुबन्धज्योतिष्टोमादिर्यज्ञो द्विविधः—काम्यो नित्यश्च । फलसंयोगेन चोदितः सर्वाङ्गोपसंहारेणैव मुख्यकल्पे-नानुष्ठेयः काम्यः । फलसंयोगं विना जीवनादिनिमित्तसंयोगेन चोदितः सर्वाङ्गोपसंहारासंभवे प्रतिनि-ध्याद्युपादानेनामुख्यकल्पेनाप्यनुष्ठेयो नित्यः । तत्र सर्वाङ्गोपसंहारासंभवेऽपि प्रतिनिधिमुपादायावश्यं यष्ट-व्यमेव प्रत्यवायपरिहारायावश्यकजीवनादिनिमित्तेन चोदितत्वादिति मनः समाधाय निश्चित्य अफला-काङ्क्षिभिरन्तःकरणशुद्ध्यर्थितया काम्यप्रयोगविमुखैर्विधिदृष्टो यथाशास्त्रं निश्चितो यो यज्ञ इज्यतेऽनुष्ठीयते स यथाशास्त्रमन्तःकरणशुद्ध्यर्थमनुष्ठीयमानो नित्यप्रयोगः सात्त्विको ज्ञेयः ॥ ११ ॥

शं० टी०—अफलेति । यष्टव्यमेवानेन मनेश्वरप्रीतिलक्षणः पुरुषार्थः सिध्यतीति मनः समाधाय मनसो नैश्चल्यमापाद्य श्रद्धाभक्तिभ्यामफलाकाङ्क्षिभिर्निष्कामैः श्रोत्रियैस्तन्त्रमन्त्रार्थवेदिभिर्विधिदृष्टो विध्युक्तनियमो-पेतो यो यज्ञ इज्यते स सात्त्विको यज्ञ इत्यर्थः ॥ ११ ॥

श्री० टी०—यज्ञोऽपि त्रिविधः, तत्र सात्त्विकं यज्ञमाह—अफलाकाङ्क्षिभिरितित्रिभिः । फलाकाङ्क्षार-हितैः पुरुषैर्विधिना दृष्टः आवश्यकतया विहितो यो यज्ञ इज्यते अनुष्ठीयते स सात्त्विको यज्ञः । कथमिज्यते यष्टव्यमेवेति यज्ञानुष्ठानमेव कार्यं नान्यत्फलं साधनीयमित्येवं मनः समाधाय एकाग्रं कृत्वेत्यर्थः ॥११॥

स० टी०—त्रिविधं यज्ञमाहेशः क्रमप्राप्तमिहाधुना ॥ अनुष्ठेयो द्विधा यज्ञः काम्यो नित्यश्च तत्र तु ॥१॥ नित्यो यष्टव्यमेवेति प्रत्यवायजिहासया ॥ मनो निश्चित्य शुद्ध्यर्थतया काम्यपराङ्मुखैः ॥ २ ॥ यज्ञो-ऽनुष्ठीयते प्राज्ञैर्निश्चितो यो यथाविधि ॥ विज्ञेयः सात्त्विको यज्ञोऽनुष्ठितो धीविशुद्धये ॥ ३ ॥ ११ ॥

भा० टी०—एवमाहारत्रैविध्यं विभज्य क्रमप्राप्तं यज्ञत्रैविध्यं विभजन्नादावुपादेयं सात्त्विकं यज्ञमाह—अफलेति । अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षावर्जितैरग्निष्टोमादिः विधिदृष्टः शास्त्रचोदनादृष्टो यो यज्ञो यष्टव्य-मेव यज्ञस्वरूपनिवर्तनमेव कर्तव्यमिति बुद्ध्या मनः समाधाय नानेन पुरुषार्थो मम कर्तव्य इति निश्चित्ये-ज्यते निर्वर्त्यते स सात्त्विको यज्ञ उच्यते । स एव श्रेयोऽर्थिभिरुपादेय इत्यर्थः ॥ ११ ॥

प० टी०—अथ यज्ञोऽपि त्रिविधस्तत्र सोपाधिकं यज्ञमाह—अफलाकाङ्क्षिभिरिति त्रिभिः । 'कुर्व-न्नेवेह कर्माणि' इत्यादिविधिना यष्टव्यमेवेति दृष्टो यज्ञः फलाकाङ्क्षारहितैः पुरुषैर्मनः समाधाय शुद्धं कृत्वा य इज्यतेऽनुष्ठीयते स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

रा० टी०—यज्ञभेदेन सात्त्विकादिभेदमाह—अफलेति । फलाकाङ्क्षारहितैर्यो यज्ञो विधिदृष्टो विधिज्ञान-पूर्वकः यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय इज्यते अनुष्ठीयते स सात्त्विक इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ॥
इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

त० टी०—राजसयज्ञमाह—अभिसंधायेति । फलमभिसंधाय इदं मम स्यादित्युद्दिश्य तु यदि-ज्यते यजनं क्रियते, दम्भार्थं धार्मिकत्वख्यापनार्थमपीत्यपिशब्दाद्यशोऽर्थः, यस्तं यज्ञं राजसं विद्धि॥१२॥

म० टी०—अभिसंधायेति । फलं काम्यं स्वर्गादि अभिसंधाय उद्दिश्य न त्वन्तःकरणशुद्धिम् । तुर्नित्य-प्रयोगवैलक्षण्यसूचनार्थः । दम्भो लोके धार्मिकत्वख्यापनं तदर्थमपि चैवेति विकल्पसमुच्चयाभ्यां त्रैविध्य-सूचनार्थम् । पारलौकिकं फलमभिसंधायैवादम्भार्थत्वेऽपि पारलौकिकफलानभिसंधानेऽपि दम्भार्थमेवेति विकल्पेन द्वौ पक्षौ । पारलौकिकफलार्थमप्यैहलौकिकदम्भार्थमपीति समुच्चयेनैकः पक्षः । एवं दृष्टादृष्टफलाभिसं-धिनान्तःकरणशुद्धिमनुद्दिश्य यदिज्यते यथाशास्त्रं यो यज्ञोऽनुष्ठीयते तं यज्ञं राजसं विद्धि जानीहि । हे भरतश्रेष्ठेति योग्यतासूचनम् ॥ १२ ॥

शं० टी०—अभिसंधायेति । स्वर्गादिफलार्थं वा दम्भार्थं वा क्रियमाणो यज्ञो राजस इत्यर्थः ॥ १२ ॥

श्री० टी०—राजसं यज्ञमाह—अभिसंधायेति । फलमभिसंधाय उद्दिश्य तु यदिज्यते यज्ञः क्रियते दम्भार्थं च महत्त्वख्यापनार्थं तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

स० टी०—स्वर्गादिफलमुद्दिश्य लोके दम्भार्थमेव वा ॥ चित्तशुद्धिमनुद्दिश्य दृष्टादृष्टफलेप्सुना ॥ १ ॥ यश्चानुष्ठीयते शास्त्रात्तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ ज्ञानाय भरतश्रेष्ठ योग्योऽसि त्वं तु सात्त्विकम् ॥ २ ॥ काम्यो मुमुक्षुभिर्हेयः सर्वथेत्याशयो हरेः ॥ ३ ॥ १२ ॥

भा० टी०—राजसं यज्ञं ज्ञापयति—अभीति । अभिसंधाय तु फलं स्वर्गादिफलमुद्दिश्य दम्भार्थमपि चैव इह धार्मिकत्वख्यापनार्थं च यत् इज्यते यद्यजनं क्रियते, तं यज्ञं राजसं रजसा निर्वृत्तं परिहरणार्थं विद्धि जानीहि । भरतश्रेष्ठेति संबोधयन् राजसयज्ञे तव योग्यता नास्तीति सूचयति ॥ १२ ॥

प० टी०—राजसं यज्ञमाह—अभिसंधायेति । फलमभिसंधायोद्दिश्य दम्भार्थं महत्त्वख्यापनार्थं च इज्यते तं राजसं यज्ञं विद्धि ॥ १२ ॥

रा० टी०—अभीति । फलमभिसंधाय मे भूयादिति कामयमान एव अपि दम्भार्थमेव आत्ममहत्त्वप्रदर्शनार्थमेव यदिज्यते तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ॥
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

त० टी०—तामसं यज्ञमाह—विधिहीनमिति । शास्त्रोक्तद्रव्यसंस्कारहीनमसृष्टान्नं पात्रेभ्यो न प्रतिपादितमन्नं यस्मिन् साङ्गमात्र? (स्तं साङ्गमन्त्र) हीनमदक्षिणं यथोक्तदक्षिणाहीनं श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते कथयन्ति ॥ १३ ॥

म०टी०—विधीति । यथाशास्त्रबोधितविपरीतम्, अन्नदानहीनं स्वरतो वर्णतश्च मन्त्रहीनं, यथोक्तदक्षिणाहीनम्, ऋत्विग्द्वेषादिना श्रद्धारहितं तामसं यज्ञं परिचक्षते शिष्टाः। विधिहीनत्वाद्येकैकविशेषणः पञ्चविधः सर्वविशेषणसमुच्चयेन चैकविध इति षट् । द्वित्रिचतुर्विशेषणसमुच्चयेन च बहवो भेदास्तामसयज्ञस्य ज्ञेयाः । राजसे यज्ञेऽन्तःकरणशुद्ध्यभावेऽपि फलोत्पादकमपूर्वमस्ति यथाशास्त्रमनुष्ठानात् । तामसे यथाशास्त्रानुष्ठानान्न किमप्यपूर्वमस्तीत्यतिशयः ॥ १३ ॥

शं० टी०—विधिहीनमिति । स्पष्टोऽर्थः ॥ १३ ॥

श्री० टी०—तामसं यज्ञमाह—विधिहीनमिति । विधिहीनं शास्त्रोक्तविधिशून्यम्, असृष्टान्नं ब्राह्मणादिभ्यो न सृष्टं न निष्पादितमन्नं यस्मिंस्तम्, मन्त्रैर्हीनं, यथोक्तदक्षिणारहितं च श्रद्धाशून्यं यज्ञं तामसं परिचक्षते कथयन्ति शिष्टाः ॥ १३ ॥

स० टी०—विधिहीनं यथाशास्त्रावबोधितविपर्ययम् ॥ अन्नदानविहीनं च स्वरतो वर्णतस्तथा ॥ १ ॥ मन्त्रहीनं यथाशास्त्रदक्षिणाहीनमध्वरम् ॥ आस्तिक्यबुद्धिशून्यं तं तामसं कथयन्ति वै ॥ २ ॥ अयं पञ्चविधो यज्ञस्त्याज्यः श्रेयोऽर्थिभिः सदा ॥ यथाशास्त्रमनुष्ठानाद्राजसेऽस्ति फलं मनाक् ॥ ३ ॥ तामसे त्वयथाशास्त्रानुष्ठानान्न फलं मनाक् ॥ ४ ॥ १३ ॥

भा० टी०—एवं फलाभिसंधिपूर्वकमनुष्ठीयमानत्वात् चित्तशुद्ध्यजनकत्वेऽपि यथाशास्त्रमनुष्ठीयमानत्वात् स्वर्गादिफलोत्पादकं लोके धार्मिकत्वख्यापकं च राजसयज्ञमुक्त्वा, दृष्टादृष्टफलशून्यमयथाशास्त्रमनुष्ठीयमानं सर्वथा हेयं तामसं यज्ञमाह—विधीति । विधिहीनं यथाचोदितविपरीतं शास्त्रोक्तविधितो विपर्यये-

स० टी०—क्रमप्राप्तस्य तपसस्त्रैविध्यं प्राह मापतिः ॥ देवा ब्रह्महरीशाद्या द्विजाश्च ब्राह्मणा वराः ॥ १ ॥ आचार्यमुख्या गुरवः प्राज्ञा वेदविदो बुधाः ॥ तेषां प्रणामशुश्रूषाद्यागमोक्तं हि पूजनम् ॥ २ ॥ शरीरशोधनं शौचं मृज्जलाभ्यां तथाऽऽर्जवम् ॥ यथाशास्त्रं प्रवृत्त्यादौ वक्रत्वाभाव उच्यते ॥ ३ ॥ निषिद्धमैथुनाभावो ब्रह्मचर्यमहिंसनम् ॥ प्राणिनां पीडनाभावः शारीरं तप उच्यते ॥ ४ ॥ शरीरमुख्यैः कर्त्राद्यैः साध्यं तत्पञ्चहेतुभिः ॥ न केवलं शरीरेण कृतं शारीरमुच्यते ॥ ५ ॥ यतो वक्ष्यति भगवान् 'पञ्चैते तस्य हेतवः' ॥ ६ ॥ १४ ॥

भा० टी०—एवं ज्ञानादानार्थं यज्ञत्रैविध्यं विभज्य तपसः सात्त्विकादिभावं निरूपयितुं सर्वस्य तस्य त्रिविधं स्वरूपं प्रथममाह—देवेति त्रिभिः । देवाः ब्रह्मविष्णुशिवादयः, द्विजाः पूज्यत्वात् द्विजोत्तमाः, गुरवः पित्राचार्यादयः, प्राज्ञाः पण्डिताः विदितवेद्याः—तेषां प्रणामशुश्रूषादिना पूजनं, शौचं मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनं, आर्जवम् ऋजुत्वं विहितनिषिद्धयोरेकरूपप्रवृत्तिनिवृत्तित्वं, ब्रह्मचर्यं प्रतिषिद्धमैथुनासमाचरणं, अहिंसा प्राणिनामपीडनम् । चकारोऽस्तेयादिसमुच्चयार्थः । शरीरनिर्वर्त्यं शारीरं शरीरप्रधानैः सर्वैरेव कर्त्रादिभिः साध्यं शारीरं तप उच्यते। 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥ शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥' इति वक्ष्यमाणत्वात् १४

प० टी०—अथ कायवाङ्मनोविभागेन तपस्त्रैविध्यमाह—देवद्विजेति । प्राज्ञा गुरुव्यतिरिक्ता अन्येऽपि तत्त्वविदः । देवब्राह्मणादिपूजनशौचादिकं च शारीरं शरीरनिर्वर्त्यं तप उच्यते ॥ १४ ॥

श० टी०—प्राक्प्रतिज्ञातं तपोभेदेन सात्त्विकादिभेदं दर्शयितुं शारीरादिभेदेन तत्त्रैविध्यं तावदाह—देवेति । देवादिपूजनं यथायोग्यं ध्येयम्। शौचं बाह्याभ्यन्तररूपम् । ब्रह्मचर्यमूर्ध्वरेतस्त्वम् । शारीरं शरीरसंबन्धि ॥ १४ ॥

विशिष्टं स्वाध्यायस्याभ्यसनमावृत्तिरपि तप एवेत्यर्थः । वाङ्मयं तदपि वाचा निर्वर्त्यमानत्वाद्वाङ्मयं तप उच्यते । चकारात् स्तोत्रपाठादिरपि वाङ्मयं तप एव भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

श्री० टी०—वाचिकं तप आह—अनुद्वेगेति । उद्वेगं भयं न करोतीत्यनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं च श्रोतुः प्रियं च हितं च परिणामे सुखकरं, स्वाध्यायाभ्यसनं वेदाभ्यासश्च वाङ्मयं वाचा निर्वर्त्यं तपः ॥ १५ ॥

स० टी०—न कस्यचिद्दुःखकरं मानमूलमबाधितम् ॥ श्रोतुस्तत्कालसुखदं परिणामे सुखावहम् ॥ १ ॥ अनुद्वेगकरत्वादिविशेषणचतुष्टयम् ॥ समुचित्यैव यद्वाक्यं नैकेनापि विवर्जितम् ॥ २ ॥ यथा भो वत्स शान्तस्त्वं भव स्वाध्यायमाचर ॥ योगं तथाऽनुतिष्ठ त्वं निःश्रेयसस्ते भविष्यति ॥ ३ ॥ यथाविध्यागमाभ्यासो वाङ्मयं तप उच्यते ॥ ४ ॥ १५ ॥

भा० टी०—शारीरं तप उक्त्वा वाक्प्रधानैः कर्त्रादिभिः साध्यं तदाह—अन्विति । अनुद्वेगकरमिति कस्याप्युद्वेगकरं दुःखजनकं न भवतीति तत्, सत्यं यथादृष्टार्थप्रतिपादकं, प्रियं दृष्टार्थे उच्चारणकाले श्रोतुः श्रुतिसुखं, हितमदृष्टार्थे परिणामपथ्यम् । विशेषणधर्माणामनुद्वेगकरत्वादीनां विशेष्येण वाक्येन समुच्चितानां परस्परसमुच्चयद्योतनार्थश्चकारः । सत्यप्रियहितानुद्वेगकरत्वानामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा हीनतारहितं सत्यत्वादिविशेषणचतुष्टयेन विशिष्टं वाक्यं, यथा—शान्तो भव वत्स, स्वाध्यायं योगं चानुतिष्ठ, तथा ते श्रेयो भविष्यतीति स्वाध्यायाभ्यसनं चैव प्राङ्मुखत्वं पवित्रपाणित्वमित्यादिविधानमनतिक्रम्य स्वाध्यायस्यावर्तनं च वाङ्मयं वाक् प्राचुर्येण प्रस्तुताऽस्मिन्निति वाङ्मयं वाक्प्रधानमित्यर्थः ॥ १५ ॥

प० टी०—अथ वाङ्मयं तप आह—अनुद्वेगकरमिति । परस्योद्वेगजनकं न भवति तथाविधं वाक्यं, सत्यं यथार्थभाषणम् । तदपि दुःखपर्यवसायि न भवतीत्याह—प्रियमिति । प्रियं च तद्धितं च—प्रियं सुश्राव्यं, परिणामे हितं च । तथा च मनुः—'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्' इति । स्वाध्यायाभ्यसनं स्वशाखाध्ययनाभ्यासः । एतद्वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

रा० टी०—अन्विति । अनुद्वेगकरं परस्यासङ्गो यथा न भवति तादृशं वाक्यम्, सत्यं यथार्थवाक्यमिति सर्वत्रान्वेति । प्रियं श्रवणसमये पुनः पुनः श्रवणेच्छाकरम् । हितं कालान्तरे सुखकरं च । स्वाध्यायाभ्यसनं च यत्तदिति शेषः । वाङ्मयं वागात्मकं तपः ॥ १५ ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ॥
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

त० टी०—मानसं तप आह—मनःप्रसाद इति । मनःप्रसादः कामक्रोधादित्यागेन मनसः स्वच्छता, सौम्यत्वं मुखादिप्रसादहेतुरन्तस्तुष्टिः, मौनं वृथाऽऽलापवर्जनम्, आत्मविनिग्रहः मनसोऽसत्प्रवृत्तेरवष्टम्भनं, भावसंशुद्धिः भावस्य हृदयस्य संशुद्धिर्विषयभोगवासनारूपमालिन्याभावः, इत्येतन्मानसं तप उच्यते ॥ १६ ॥

म० टी०—मन इति । मनसः प्रसादः स्वच्छता विषयचिन्ताव्याकुलत्वराहित्यं, सौम्यत्वं सौमनस्यं सर्वलोकहितैषित्वं प्रतिषिद्धाचिन्तनं च, मौनं मुनिभाव एकाग्रतयाऽऽत्मचिन्तनं निदिध्यासनाख्यम् । वाक्संयमहेतुर्मनःसंयमो मौनमिति भाष्यम् । आत्मविनिग्रहः आत्मनो मनसो विशेषेण सर्ववृत्तिनिग्रहो निरोधः समाधिरसंप्रज्ञातः । भावस्य हृदयस्य शुद्धिः कामक्रोधलोभादिमलनिवृत्तिः पुनरशुद्ध्युत्पादराहित्येन सम्यक्त्वेन विशिष्टा सा भावशुद्धिः । परैः सह व्यवहारकाले मायाराहित्यं सेति भाष्यम् । इत्येतदेवंप्रकारं तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

शं० टी०—मन इति। मनःप्रसादः मनसो विषयेभ्यो विश्लिष्याविकारात्मनैकत्रावस्थानं प्रसादः। सौम्यत्वं उपकारिण्यपकारिण्यपीष्टेऽप्यनिष्टे च पक्षपातरहितत्वेन मनसोऽवस्थानं सौम्यत्वमक्रूरता वा। मौनं मुनेर्भावो मौनं सगुणस्य वा निर्गुणस्य वाप्यनुसंधानपरत्वं मौनं, ध्यानपरायण एव मुनिस्तद्भाव एव मौनं न तु वाङ्मात्रनिरोधः। अन्यथा पश्वादीनामपि तद्व्याप्तेः। आत्मविनिग्रह आत्मनो मनसो विनिग्रहो विषयेषु प्रवृत्तिनिरोधनं, भावसंशुद्धिः भाव्यतेऽर्थोऽनेनेति भावोऽन्तःकरणं तस्य रागद्वेषादिदोषसंश्लेषाभावापादनं भावसंशुद्धिरित्येतत् सर्वं मन एकसाध्यत्वान्मानसं तप उच्यते महर्षिभिरित्यर्थः॥ १६॥

श्री० टी०—मानसं तप आह-मनःप्रसाद इति। मनसः प्रसादः स्वस्थता, सौम्यत्वमक्रूरता, मौनं मुनेर्भावः मननमित्यर्थः। आत्मनो मनसो विनिग्रहः विषयेभ्यः प्रत्याहारः, भावसंशुद्धिर्व्यवहारे मायाराहित्यम्—इत्येतन्मानसं तपः॥ १६॥

स० टी०—मनःस्वच्छत्वमक्षोभ्यं सर्वलोकहितैषिता॥ निदिध्यासनमैकाग्र्यं समाधौ चित्तनिग्रहः॥ १॥ कामादिमलसंक्रान्त्या मायाराहित्यमाशिषोः॥ भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥२॥१६॥

भा० टी०—एवं वाक्प्रधानं तप उक्त्वा मनःप्रधानं तदाह—मन इति। मनःप्रसादो मनसः शान्तिः, स्वच्छतापादनं चिन्ताव्याकुलत्वादिहीनतासंपादनमिति यावत्। सौम्यत्वं मुखादिप्रसादकार्यगम्यं सौमनस्यं, मौनं वाक्संयमस्य मनसः संयमपूर्वकत्वात् वाग्विषयो मनसः संयमो मौनं, सर्वतः सामान्यरूपो मनोनिरोध आत्मविनिग्रह इति विशेषः। ननु मुनेर्भावो मौनमेकाग्रतया आत्मचिन्तनं निदिध्यासनाख्यमिति मौनशब्दार्थः आचार्यैः कुतो न दर्शित इति चेत्तदुक्तमुनिभावस्य राजसत्वाद्यभावेन राजसतामसतपोभ्यामस्याग्रहणापत्तेरिति गृहाण। भावसंशुद्धिः परैर्व्यवहारकालेऽमायावित्वम्। यत्तु भावस्य हृदयस्य शुद्धिः कामक्रोधलोभादिमलनिवृत्तिः, पुनरशुद्ध्युत्पादराहित्येन सम्यक्त्वेन विशिष्टा सा भावसंशुद्धिरिति तन्नोपादेयमाचार्यैरनुक्तत्वात्। राजसे तामसे च तपस्येतादृशभावसंशुद्धेरसंभवाच्च। इत्येतत्तपो मानसं मनसा प्रधानेन निर्वर्त्यमुच्यते॥ १६॥

म० टी०—अथ मानसं तप आह—मन इति। मनःप्रसादो मनसः स्वास्थ्यम्, सौम्यत्वमक्रूरता, मौनं मुनेर्भावो मननमित्यर्थः। आत्मविनिग्रहो विषयेभ्यः प्रत्याहारः, भावसंशुद्धिर्व्यवहारे मायाराहित्यमेतन्मानसं तपः। श्रुतिरपि "तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति ब्रह्मचर्येण तपसा श्रद्धया यज्ञेनानाशकेन" इति। भाष्यम्—तमेतमात्मानं वेदानुवचनेनोपनिषद्भिभागेन विविदिषन्ति वेदितुं ज्ञातुमिच्छन्ति। तथा ब्रह्मचर्येण शारीरेण तपसा श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या, यज्ञेन सात्त्विकेन अत एवानाशकेन नश्वरफलाभिसंधिराहित्येन॥ १६॥

रा० टी०—मन इति। मनःप्रसादः विषयेष्वप्रयासेन प्रवृत्तिः, सौम्यत्वमक्रौर्यम्, मौनं मननशीलत्वम्, आत्मविनिग्रहः आत्मनि परमात्मनि मनसो विशिष्यावस्थानम्, भावे आशये संशुद्धिः नानाकामराहित्यम्। इत्येतन्मानसं तप उच्यते॥ १६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥

त० टी०—तदेवं शारीरादिभेदेनोक्तस्य त्रिविधस्यापि तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमाह—श्रद्धयेति। परया प्रकृष्टया श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या तत्प्रकृतं त्रिविधं शारीरवाङ्मनोभिरित्युक्तम्, अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षारहितैः, युक्तैः समाहितैर्नरैर्यत्तपस्तप्तमनुष्ठितं तत्सात्त्विकं परिचक्षते कथयन्ति॥१७॥

म० टी०—शारीरवाचिकमानसभेदेन त्रिविधस्योक्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमिदानीं दर्शयति—श्रद्धयेति त्रिभिः । तत्पूर्वोक्तं त्रिविधं शारीरं वाचिकं मानसं च तपः श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या परया प्रकृष्टया अप्रामाण्यशङ्काकलङ्कशून्यया फलाभिसंधिशून्यैर्युक्तैः समाहितैः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारैर्नरैरधिकारिभिस्तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकं परिचक्षते शिष्टाः ॥ १७ ॥

श्रं० टी०—उक्तस्यैव तपसस्त्रिविधस्य सत्त्वादिगुणभेदेन त्रैविध्यमाह—श्रद्धयेति । युक्तैरेकाग्रचित्तैः परमेश्वरभक्तियुक्तैरत एवाफलाकाङ्क्षिभिर्नरैः परया श्रद्धया तप्तं तत्त्रिप्रकारकं तपः सात्त्विकं सत्त्वगुणसंभावितास्तिश्रद्धया निष्पादितत्वात्सात्त्विकमिति परिचक्षते कथयन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

श्री० टी०—तदेवं शरीरवाङ्मनोभिर्निर्वर्त्यं त्रिविधं तपो दर्शितं, तस्य त्रिविधस्यापि तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमाह—श्रद्धयेतित्रिभिः । त्रिविधमपि तपः परया श्रेष्ठया श्रद्धया फलाकाङ्क्षाशून्यैर्युक्तैरेकाग्रचित्तैर्नरैस्तप्तं तत्सात्त्विकं कथयन्ति ॥ १७ ॥

स० टी०—शारीरादिकभेदेन प्रोक्तस्य त्रिविधस्य च ॥ तपसः प्रोच्यते भूयस्त्रैविध्यं सात्त्विकादिना ॥ १ ॥ सात्त्विके पुरुषे त्रेधा पूर्वोक्तं तप उच्यते ॥ राजसे तामसे यस्मात्तत्त्रैविध्यं न संभवेत् ॥ २ ॥ अतः सात्त्विकपुंस्युक्तं तपस्त्रिविधं वचः ॥ राजसे तामसे प्रोक्तं तद्विरुद्धं सदा यतः ॥ ३ ॥ तत्पूर्वोक्तं तपः सम्यक् श्रद्धयाऽऽस्तिक्यरूपया ॥ बुद्ध्या प्रकृष्टयाऽऽशङ्काशून्यया शास्त्रगोचरे ॥ ४ ॥ फलाभिसंधिरहितैः शुद्धचित्तैः समाहितैः ॥ अनुष्ठितं मुनिश्रेष्ठाः सात्त्विकं कथयन्ति तत् ॥ ५ ॥ १७ ॥

भा० टी०—यथोक्तं कायिकादिभेदेन त्रिविधं तपस्तत्सात्त्विकादिभेदेन कथं त्रिविधं भवतीत्याकाङ्क्षायां तत्त्रैविध्यं प्रदर्शयन्नादौ सात्त्विकं तदाह—श्रद्धयेति । तत्पूर्वोक्तं कायिकवाचिकमानसभेदेन त्रिविधं श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या परयोत्कृष्टया भक्तियुक्तया अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षावर्जितैर्युक्तैः समाहितैः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारैर्नरैरनुष्ठातृभिः तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकं परिचक्षते शिष्टाः कथयन्ति ॥ १७ ॥

प० टी०—अथ सात्त्विकादिभेदेन पुनस्त्रैविध्यमाह—श्रद्धयेति । त्रिविधं शरीरवाङ्मनोविभागेन कथितं तपोऽफलाकाङ्क्षिभिस्तथा युक्तैरेकाग्रान्तःकरणैर्नरैस्तप्तमनुष्ठितं तत्सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

रा० टी०—इदानीं सात्त्विकादितपोभेदेन सात्त्विकादिजीवभेदं प्रतिज्ञापूर्वमाह—श्रद्धयेत्यादिभिस्त्रिभिः। नरैस्तप्तं कृतं तपः यत् तत्त्रिविधमित्यर्थः । तत्कथमित्यत आह—अफलेति । युक्तैर्भगवदर्पणादियोगयुक्तैः तप्तं तप इत्यनुषज्यते ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ॥
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

त० टी०—राजसं तप आह—सत्कारेति । सत्कारः साधुकारः—साधुरयं तपस्वी श्रेष्ठ इत्यादि वाक्प्रशंसा, मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिपूजाद्रव्योपायनादीत्येतदर्थं सत्कारमानपूजार्थं दम्भेन च हेतुना यत्तपः क्रियते तदिह राजसमत एव चलमपायि तथाऽप्यध्रुवं किंचित्कालस्थायि, न यावज्जीवमित्यर्थः ॥ १८ ॥

म० टी०—सत्कारेति । सत्कारः साधुरयं तपस्वी ब्राह्मण इत्येवमविवेकिभिः क्रियमाणा स्तुतिः, मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिः, पूजा पादप्रक्षालनार्चनधनदानादिः, तदर्थं, दम्भेनैव च केवलं धर्मध्वजित्वेनैव च न, त्वास्तिक्यबुद्ध्या यत्तपः क्रियते तद्राजसं प्रोक्तं शिष्टैः, इह अस्मिन्नेव लोके फलदं न पारलौकिकं चलमत्यल्पकालस्थायिफलम्, अध्रुवं फलजनकतानियमशून्यम् ॥ १८ ॥

शं० टी०—सत्कारेति । सत्कारमानपूजार्थं सत्कारार्थं मानार्थं पूजार्थं च सत्कारः साधुरयं विद्वान् ब्राह्मण इति स्तुत्यर्थं, मानो बहुमानस्त्वभ्युत्थानादिस्तत्प्रयोजनार्थं, पूजा गन्धपुष्पदक्षिणाभिः स्वपूजा तदर्थं च दम्भेन वेषभाषादिप्रकाशनेन दाम्भिकैर्यत्तपः क्रियते तत्तप इहास्मिन् लोके एव फलप्रदं भवति, तच्चाध्रुवं देहमात्रोपयोगित्वादध्रुवम् तत्रापि चलं तात्कालिकफलं क्षणिकमेवंलक्षणं यत्तपस्तद्राजसमिति महर्षिभिः प्रोक्तमित्यर्थः ॥ १८ ॥

श्री० टी०—राजसं तप आह—सत्कार इति । सत्कारः साधुकारः साधुरयमिति तापस इत्यादिवाक्पूजा, मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिर्दैहिकी पूजा, पूजाऽर्थलाभादिः—एतदर्थं दम्भेन च यत्तपः क्रियते अत एव चलमनियतमध्रुवं च क्षणिकं यदेवंभूतं तपस्तदिह राजसं प्रोक्तम् ॥ १८ ॥

स० टी०—तपस्वी ब्राह्मणः साधुरयमित्यविवेकिभिः ॥ क्रियमाणा स्तुतिः प्रोक्तः स सत्कारस्तदाप्तये ॥ १ ॥ प्रत्युत्थानप्रणामादिर्मानः पूजार्चनादिकम् ॥ तदर्थं धार्मिकत्वादिख्यापनेनैव यत्तपः ॥ २ ॥ क्रियते राजसं प्रोक्तं तदत्रैव फलप्रदम् ॥ अत्यल्पकालस्थायित्वाच्चलं तद्व्यभिचारि च ॥ ३ ॥ १८ ॥

भा० टी०—सात्त्विकं तप उदाहृत्य राजसं तदुदाहरति—सत्कार इति । सत्कारः साधुरयं तपस्वीत्येवंस्तुतिरूपः साधुकारः, मानो माननं प्रत्युत्थानाभिवादनादि, पूजा पादप्रक्षालनार्चनाऽऽराधनाद्यर्पणादि, तदर्थं दम्भेन चैव नास्तिक्येन केवलधर्मध्वजित्वेन यत्तपः क्रियते तदिहास्मिन्नेव लोके सत्कारादिफलप्रदं राजसं प्रोक्तं कथितम् । चलं क्षणिकफलमध्रुवम् अनियतफलं, यद्वा चलं कादाचित्कफलं दाम्भिकोऽयमिज्ञपरिज्ञानकाले कस्मिंश्चित्सत्कारादिफलप्रदं न तु सर्वदेति यावत् । अत एवाध्रुवं सत्कारादिप्राप्तिपर्यन्तं स्थायि न तु सदैवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

प० टी०—सत्कार इति । सत्कारः साधुरयं तापस इति, मानः प्रत्युत्थानाभिवन्दनादिस्तदर्थम् । दम्भेन प्रसिद्धेन यत्कृतम् । चलमनित्यफलम्, अध्रुवं क्षणिकं तद्राजसं तपः ॥ १८ ॥

रा० टी०—सत्कार इति । सत्कारो मनसा आदरः, मानो वाचा प्रशंसा, पूजा अर्चनम्, एतदर्थं दम्भेन च आत्मनो महत्त्वप्रदर्शनार्थं वा यत्तपः क्रियते तत्तप इहलोके राजसं प्रोक्तम् । चलं पातभयेन चलनहेतुः । अध्रुवं क्षयिष्णु ॥ १८ ॥

**मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ॥
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥**

त० टी०—तामसमाह—मूढग्राहेणेति । मूढा अविवेकिनस्तेषां ग्राहेण वृथाऽभिनिवेशेन आत्मनः स्वस्य पीडया यत्तपः क्रियते, परस्योत्सादनार्थमुच्छेदनार्थं वा क्रियते, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

म० टी०—मूढेति । मूढग्राहेण अविवेकोविदायकृतेन दुराग्रहेण आत्मनो देहेन्द्रियसंघातस्य पीडया यत्तप, क्रियते परस्योत्सादनार्थं वा अन्यस्य विनाशार्थमभिचाररूपं वा तत्तामसमुदाहृतं शिष्टैः ॥ १९ ॥

शं० टी०—मूढग्राहेणेति । मूढग्राहेण अर्थानर्थस्वरूपानभिज्ञो मूढस्तस्य ग्राहस्त्वहमेव बुद्धिमानित्यभिनिवेशो मूढग्राहस्तेनात्यन्तमूढबुद्ध्या स्वस्य पीडया कायक्लेशेन यदुक्तं त्रिविधं तप, क्रियते कायक्लेशमात्रैकप्रयोजनम् । अथवा परस्योत्सादनार्थमाभिचारिकक्रियया शत्रुविनाशार्थं वा यत्कृतमपि तत्तपस्तामसं तमःसम्भावितश्रद्धानिष्पादितत्वात्तामसमिति मुनिभिरुदाहृतमित्यर्थः ॥ १९ ॥

श्री० टी०—तामसं तप आह—मूढेति । मूढग्राहेणाविवेककृतेन दुराग्रहेणात्मनः पीडया यत्तपः क्रियते परस्योत्सादनार्थं वाऽन्यस्य विनाशार्थमभिचाररूपं तत्तामसमुदाहृतं कथितम् ॥ १९ ॥

स० टी०—मौढ्याद्दुराग्रहेणैव देहाद्यत्यन्तपीडया ॥ यत्तपः क्रियतेऽन्यस्य विनाशायाभिचारिकम् ॥ १ ॥ तत्तपस्तामसं शिष्टैः प्रोक्तं हेयं मुमुक्षुभिः ॥ २ ॥ १९ ॥

भा० टी०—एवं राजसं तप उक्त्वा तामसं तदाह—मूढेति । मूढग्राहेण अविवेकनिश्चयेन यद्येते तपश्चरन्ति तर्ह्यहमप्येतत्तपसोऽधिकं करिष्यामीत्येवमादिरूपेणात्मनः पीडया परस्योत्सादनार्थं वा एतादृशोऽयं कायिकवाचिकमानसतपोयुक्तोऽतोऽस्याज्ञापालनेनास्मदीयं कार्यं सर्वं सेत्स्यतीति बुद्धिं राजादीनामुत्पाद्य परस्य शत्रोर्नाशार्थं वा यत्तपः क्रियते तत्तामसमुदाहृतं शिष्टैः ॥ १९ ॥

प० टी०—मूढग्राहेणेति । मूढत्वे सति ग्राह आग्रहस्तेन, आत्मनः शरीरस्योपवासादिपीडया, परस्योत्सादनं मारणमारणोच्चाटनाद्याभिचारिकम्, तत्तामसम् ॥ १९ ॥

रा० टी०—मूढेति । मूढग्राहेणाविवेकदुराग्रहेण आत्मनः पीडया परस्य शत्रोरुत्सादनार्थं वा यत्तपः क्रियते तत्तामसम् ॥ १९ ॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ॥
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

त० टी०—इदानीं प्रतिज्ञातेषु यज्ञादिष्ववशिष्टस्य दानस्य गुणतस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—दातव्यमिति । दातव्यमित्येव निश्चयेन न तु फलोद्देशेन यद्दानं दीयते, अनुपकारिणे प्रत्युपकाराकर्त्रे अयं मम प्रत्युपकारं करिष्यतीत्युद्देशाद्विपर्ययायेत्यर्थः । देशे माथुरपुष्करकुरुक्षेत्रगङ्गादिक्षेत्रे, काले कार्तिकसहोमाघमासादौ, पात्रे च शमदमतितिक्षादियुक्ताय श्रोत्रियाय तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

म० टी०—इदानीं क्रमप्राप्तस्य दानस्य त्रैविध्यं दर्शयति त्रिभिः—दातव्यमिति । दातव्यमेव शास्त्रचोदनावशादित्येवं निश्चयेन न तु फलाभिसंधिना यद्दानं तुलापुरुषादि दीयते अनुपकारिणे प्रत्युपकाराजनकाय, देशे पुण्ये कुरुक्षेत्रादौ, काले च पुण्ये सूर्योपरागादौ, पात्रे चेति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी पात्रायेत्यर्थः । कीदृशायानुपकारिणे दीयते पात्राय च विद्यातपोयुक्ताय । (पातीति पाता रक्षकस्तस्मै) पात्रे रक्षकायेति वा । विद्यातपोभ्यामात्मनो दातुश्च पालनक्षम एव प्रतिगृह्णीयादिति शास्त्रात् । तदेवंभूतं दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

शं० टी०—दानस्य त्रैविध्यमाह—दातव्यमितित्रिभिः । स्पष्टोऽर्थः ॥ २० ॥

श्री० टी०—पूर्वं प्रतिज्ञातमेव दानस्य त्रैविध्यमाह—दातव्यमिति । दातव्यमित्येवंनिश्चयेन यद्दानं दीयते अनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय देशे कुरुक्षेत्रादौ काले ग्रहणादौ । पात्रे चेति देशकालादिसाहचर्यात्सप्तमी प्रयुक्ता । पात्रभूताय तपःश्रुतादिसंपन्नाय ब्राह्मणायेत्यर्थः । यद्वा पात्र इति चतुर्थ्येवैषा पात्रे (इति तृजन्तं) रक्षकायेत्यर्थः । स हि सर्वस्मादापद्गणाद्दातारं पातीति । यदेवंभूतं दानं तत्सात्त्विकम् ॥ २० ॥

स० टी०—क्रमप्राप्तस्य दानस्य त्रैविध्यं दर्शयत्यजः ॥ दातव्यमेव शास्त्रोक्तमित्येवं निश्चयेन वै ॥ १ ॥ न तु फलाभिलाषेण यत्तुलापुरुषादिकम् ॥ प्रत्युपकारशून्याय कुरुक्षेत्रादिपावने ॥ २ ॥ देशे सूर्योपरागादौ काले पुण्येऽह्नि पर्वणि ॥ विद्यातपोभ्यां युक्ताय पात्राय च यथाविधि ॥ ३ ॥ दीयते श्रद्धया भक्त्या विष्णुप्रीत्यर्थमेव यत् ॥ तदेवं सात्त्विकं दानं प्रोक्तं सम्यक्फलप्रदम् ॥ ४ ॥ २० ॥

भा० टी०—एवं तपस्त्रैविध्यं विभज्य क्रमप्राप्तं दानत्रैविध्यं विभजन्नादौ सात्त्विकं दानमुदाहरति—दातव्यमिति । दातव्यमित्येवं मनः कृत्वा यद्दानं देयवस्तु दीयतेऽनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थायापि निरपेक्षं दीयते पुण्ये देशे कुरुक्षेत्रादौ काले संक्रान्त्यादौ पात्रे च यद्दानं समर्पणं षडङ्गविद्वेदपारगे इत्यादौ तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् । तथाच प्रथमदानशब्दः कर्मव्युत्पत्त्या देयवस्तुपरः । चकारानुकृष्टस्तु भावव्युत्पत्त्या समर्पण-

पर: । तेन यो देयद्रव्यवाची द्वितीयान्तस्तत्संयोगात्संप्रदाने चतुर्थ्यपेक्षा । द्वितीयस्तु त्यागवाची प्रथमान्त: ।. तेन तत्र पात्रभूते पुंसि न चतुर्थ्यपेक्षा । 'कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम्' इति पारिभाषिक्या: संज्ञाया: अत्र कर्मविभक्त्यभावेनाप्रवृत्ते: । एतेन ' पात्रे चेति चतुर्थ्यर्थे सप्तमी । कीदृशायानुपकारिणे दीयते पात्राय च विद्यातपोयुक्ताय । पात्रे रक्षकायेति वा । विद्यातपोभ्यामात्मनो दातुश्च पालनक्षम एव प्रतिगृह्णीयादिति शास्त्रात् ' इति कल्पनं व्यर्थमेवेति बोध्यम् ॥ २० ॥

प० टी०—अथ त्रिविधं दानमाह—दातव्यमिति त्रिभि: । अवश्यं दातव्यमेवेति नियमेन यद्दीयतेऽनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय, काले ग्रहणादौ, देशे कुरुक्षेत्रादौ, पात्रे षडङ्गवेदपारगे । अत्र सप्तम्या चतुर्थी ज्ञेया । तप:श्रुतादिसंपन्नाय ब्राह्मणायेत्यर्थ: । यदेवंभूतं दानं तत्सात्त्विकम् ॥ २० ॥

श० टी०—प्राक्प्रतिज्ञातदानभेदेन सात्त्विकादिभेदमाह—दातव्यमित्यादित्रिभि: । दातव्यमित्यास्तिक्यबुद्ध्या दानं कर्मणि ल्युट् । दातव्यं वस्तु पुण्यदेशे पुण्यकालेऽनुपकारिणे उपकारमनपेक्ष्य सत्पात्रे च पात्राय दीयते इति यत् तद्दानं सात्त्विकम् ॥ २० ॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुन: ॥
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

त० टी०—राजसदानमाह—यत्त्विति । तुशब्द: पूर्वोक्तान्निष्कृष्टत्वद्योतनार्थ: । प्रत्युपकारार्थं ममायमुपकरिष्यतीत्येवमर्थं, फलमैहिकमामुष्मिकं वा पुनरुद्दिश्य यद्दीयते परिक्लिष्टं च एतावद्द्रव्यं मया कथं देयमिति चित्ते परिक्लेशयुक्तं यथा भवति तथा तद्दानं राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

म० टी०—यत्त्विति । प्रत्युपकारार्थं कालान्तरे मामयमुपकरिष्यतीत्येवं दृष्टार्थं फलं वा स्वर्गादिकमुद्दिश्य यत्पुनर्दानं सात्त्विकविलक्षणं दीयते, परिक्लिष्टं च कथमेतावद्व्ययितमिति पश्चात्तापयुक्तं यथा भवत्येवं च यद्दीयते तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

शं० टी०—यदिति । परिक्लिष्टं लोभातिशयेनान्त:करणक्लेशसंयुक्तं यत्तद्दानं राजसम् ॥ २१ ॥

श्री० टी०—राजसं दानमाह—यत्त्विति । कालान्तरेऽयं मां प्रत्युपकारं करिष्यतीत्येवमर्थम्, फलं वा स्वर्गादिकमुद्दिश्य यत्पुनर्दानं दीयते, परिक्लिष्टं चित्तक्लेशयुक्तं यथा भवत्येवंभूतं तद्दानं राजसमुदाहृतं कथितम् ॥ २१ ॥

स० टी०—कालान्तरे हि विप्रोऽयं मामित्युपकरिष्यति ॥ इत्येवं दीयते यद्वा स्वर्गमुद्दिश्य यत्पुन: ॥ १ ॥ पश्चात्तापयुतं दानं तच्छिष्टै राजसं स्मृतम् ॥ २ ॥ २१ ॥

भा० टी०—सात्त्विकं दानमुक्त्वा राजसं तदाह—यत्त्विति । यत्तु प्रत्युपकारार्थं कालान्तरे त्वयं मा प्रत्युपकरिष्यतीत्येवं दृष्टार्थं फलमुद्दिश्यास्य दानस्यादृष्टस्वर्गादिफलं मे भविष्यतीति तदुद्दिश्य पुनर्दीयते च परिक्लिष्टं खेदसंयुक्तं कथमेतावद्व्ययितमिति पश्चात्तापयुक्तं यथा स्यादित्येवं च तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

प० टी०—राजसमाह—यत्त्विति । कालान्तरेणायमपि मां प्रत्युपकरिष्यतीति स्वर्गादिलोकमुद्दिश्य वा । परिक्लिष्टं क्लेशयुक्तं वा यद्दीयते तद्राजसं दानम् ॥ २१ ॥

रा० टी०—यत्त्विति । परिक्लिष्टम्=अन्यायार्जितं द्रव्यम् ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ॥
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

त० टी०—तामसदानमाह—अदेश इति । अत्रादेशकाले इत्यनेन पुण्यत्वविशिष्टदेशकालयो:

पर्युदासोऽभिमेतः, न केवलयोः, असंभवात् । तथा चादेशे म्लेच्छामेध्यादिसंसृष्टेऽशुद्धे इत्यर्थः । अकाले संक्रान्तिद्वादशीदर्शव्यतीपातादिपुण्यकालरहिते, अपात्रेभ्यश्च नटनर्तकमूर्खकर्षकादिभ्यः कथंचिद्देशकालादौ प्राप्तेऽपि असत्कृतं पादप्रक्षालनादिसत्काररहितम्, अवज्ञातं तिरस्कारवचनपूर्वकं यद्दानं दीयते तत्तामसमुदाहृतमुक्तम् ॥ २२ ॥

म० टी०—अदेशेति । अदेशे स्वतो वा दुर्जनसंसर्गाद्वा पापहेतावशुचिस्थाने, अकाले पुण्यहेतुत्वेनाप्रसिद्धे यस्मिन् कस्मिंश्चित्, अशौचकाले वा, अपात्रेभ्यश्च विद्यातपोरहितेभ्यो नटविटादिभ्यः यद्दानं दीयते देशकालपात्रसंपत्तावपि असत्कृतं प्रियभाषणपादप्रक्षालनपूजादिसत्कारशून्यमवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च तद्दानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

शं० टी०—अदेशेति । असत्कृतमर्घ्यपाद्यादिभिरनर्चितमवज्ञातमवमानप्रयुक्तं दानं यत्तत्तामसमिति मुनिभिरुदाहृतम् ॥ २२ ॥

श्री० टी०—तामसं दानमाह—अदेशेति । अदेशे अशुचिस्थाने, अकाले अशौचसमये अपात्रेभ्यो विटनटनर्तकादिभ्यो यद्दानं दीयते देशकालपात्रसंपत्तावपि असत्कृतं पादप्रक्षालनादिसत्कारशून्यम्, अवज्ञातं तिरस्कारयुक्तम् । एवंभूतं दानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

स० टी०—स्वतो वा दुष्टसंसर्गादशुचिस्थान एव हि ॥ अशौचकालेऽपात्रेभ्यो नटादिभ्यः प्रदीयते ॥ १ ॥ देशकालादिसंपत्तावपि सत्कारवर्जितम् ॥ पात्रेष्ववज्ञया युक्तं यद्दानं तामसं स्मृतम् ॥२॥ २२ ॥

भा० टी०—राजसं दानमुक्त्वा तामसं तदुदाहरति—अदेशेति । अदेशकालेऽपुण्यदेशे म्लेच्छाशुच्यादिसंकीर्णे, अकाले अपुण्यहेतुत्वेन प्रख्यातेऽशौचकाले संक्रान्त्यादिविशेषरहिते वा, अपात्रेभ्यश्च मूर्खनटतस्करादिभ्यो देशादिसंपत्तावपि प्रियवचनपादप्रक्षालनपूजादिसत्काररहितमवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च यद्दानं दीयते तद्दानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

प० टी०—तामसमाह—अदेशकालेति । अदेशेऽशुचिस्थले, अकाले सूतकादावपात्रेभ्यो विटनटादिभ्यो यद्दीयते । असत्कृतं सत्काररहितम् । अवज्ञातं पादप्रक्षालनादिरहितम् । तत्तामसम् ॥ २२ ॥

रा० टी०—अदेशेति । अदेशकाल इत्यिद्वन्द्वैकवद्भावः । अशुचिदेशकालयोः असत्कृतं नमस्कारादिसत्काररहितम्, अवज्ञातं अवज्ञाकरणयुक्तं यथा तथा अपात्रेभ्यः यद्दीयते तत्तामसमित्यर्थः ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

त० टी०—तदेवमाहारयज्ञादीनि मुमुक्षुभिः सात्त्विकान्युपादेयानि राजसतामसानि हेयानीत्येतदर्थं तेषां त्रैविध्यमुक्तम् । तत्र सात्त्विकाहारेण शुद्धसत्त्वानां सात्त्विकयज्ञादिष्वधिकृतानामनुष्ठातॄणामनुष्ठेयेषु सात्त्विकेष्वपि यज्ञतपोदानेषु देशकालद्रव्यमन्त्रक्रियादिकिंचिदङ्गवैगुण्येन प्रत्यवायापत्त्याऽदृष्टानुत्पत्तौ तन्नैष्फल्यं स्यादिति तद्वैगुण्यपरिहाराय परमकारुणिको भगवानङ्गपूरणत्वेन तत्साद्गुण्यकारणं परब्रह्मवाचकशब्दोच्चारणमुपदिशति—ॐ तत्सदितीति । ॐ तत्सदित्येवंरूपो ब्रह्मणः परमात्मनः पुरुषोत्तमस्य निर्देशः, निर्दिश्यते प्रतिपाद्यतेऽनेनेति निर्देशप्रतिपादकः शब्दो नामेत्यर्थः, त्रिविधस्त्रिप्रकारः स्मृतः, वेदवेदान्तविद्भिर्महर्षिभिस्त्रिनामतया निर्दिष्ट इत्यर्थः । "ओमिति ॐ ब्रह्म" "तद्ब्रह्म ॐ सद्ब्रह्म" "ओमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत" इत्यादिश्रुतिभिः "एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामः परं तपः । प्रणवाद्यास्तथा वेदाः प्रणवे पर्यवस्थिताः" ॥ "ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्" इत्यादि-

स्मृतिभिश्च ओंकारो ब्रह्मनामतया निर्दिष्टः । "तत्त्वमसि, तदेवर्तं तदु सत्यमाहुः, तदेव ब्रह्म परमं कवीनाम्" इत्यादिश्रुतिभिः, "यत्तत्पदमनुत्तमं तद्ब्रह्म परमं धाम" इत्यादिस्मृतिभिश्च तच्छब्दस्य ब्रह्मनामतया निर्देशः स्मृतः । "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत्प्रतिष्ठाः" इत्यादिश्रुत्या 'सदसत् क्षरमक्षरम्' इत्यादिस्मृत्या च सच्छब्दो ब्रह्मनामतया निर्दिष्टः । साद्गुण्यहेतुत्वेनैनं ब्रह्मनिर्देशं स्तौति तेन त्रिविधेन ब्रह्मणो निर्देशेन ब्राह्मणा वैदिकास्त्रैवर्णिका वेदाश्च यज्ञाश्च कर्तृकरणकर्मरूपाः पुरा पूर्वं सृष्ट्यादौ महात्मकेन प्रजापतिना विहिताः, प्रवर्तिताः वैगुण्यपरिहारेण साद्गुण्यपूर्णीकृता इत्यर्थः । तस्मान्महाप्रभावोऽयं परमात्मनिर्देशो यज्ञादिवैगुण्यपरिहाराय नियततया स्मर्तव्य इति भावः ॥ २३ ॥

म० टी०—सदेवमाहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्यकथनेन सात्त्विकानि तान्यादेयानि राजसतामसानि तु परिहर्तव्यानीत्युक्तम् । तत्राहारस्य दृष्टार्थत्वेन नास्त्यङ्गवैगुण्येन पुण्ये फलाभावशङ्का । यज्ञतपोदानानां त्वदृष्टार्थानामङ्गवैगुण्यादपूर्वानुत्पत्तौ फलाभावः स्यादिति सात्त्विकानामपि तेषामानर्थक्यं प्राप्तं प्रमादबहुलत्वादनुष्ठातॄणाम् । अतस्तद्वैगुण्यपरिहाराय ओंतत्सदिति भगवन्नामोच्चारणरूपं सामान्यप्रायश्चित्तं परमकारुणिकस्तयोपदिशति भगवान्—ओमिति । ओं तत्सदित्येवंरूपो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशः निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशः प्रतिपादकशब्दः नामेति यावत् । त्रिविधः तिस्रो विधा अवयवा यस्य स त्रिविधः स्मृतः वेदान्तविद्भिः । एकवचनात्त्र्यवयवमेकं नाम प्रणववत् । यस्मात्पूर्वैर्महर्षिभिरयं ब्रह्मणो निर्देशः स्मृतस्तस्मादिदानींतनैरपि स्मर्तव्य इति विधिरत्र कल्प्यते । वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष इत्यादिष्विव वचनानि त्वपूर्वत्वादिति न्यायात् । यज्ञदानतपःक्रियासंयोगाच्चास्य तद्वैगुण्यमेव फलं नष्टाश्वदग्धरथवत् परस्पराकाङ्क्षया कल्प्यते । 'प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् । स्मरणादेव तद्विष्णोः संपूर्णं स्यादिति श्रुतिः' इति स्मृतेः, तथैव शिष्टाचाराच्च । ब्रह्मणो निर्देशः स्तूयते कर्मवैगुण्यपरिहारसामर्थ्यकथनाय—ब्राह्मणा इति त्रैवर्णिकोपलक्षणम् । ब्राह्मणाद्याः कर्तारः वेदाः करणानि यज्ञाः कर्माणि तेन ब्रह्मणो निर्देशेन करणभूतेन पुरा विहिताः प्रजापतिना तस्माद्यज्ञादिसृष्टिहेतुत्वेन तद्वैगुण्यपरिहारसमर्थो महाप्रभावोऽयं निर्देश इत्यर्थः ॥ २३ ॥

शं० टी०—ननु देशकालपात्रद्रव्यमन्त्रतन्त्रादिस्वरूपं ज्ञात्वा यथाशास्त्रं वैदिकं कर्म श्रद्धाभक्तिविनयैः कर्तुं न शक्यते । तेन सर्वस्यापि वैदिकस्य कर्मणो वैगुण्यमेव प्रसज्यते । तत्र कथमित्याकाङ्क्षायाम् "विद्वान् यजते" इतिश्रवणादेशकालादिस्वरूपज्ञेन विदुषैव सर्वं कर्म विज्ञाय श्रद्धया कर्तव्यम्, तथापि यज्ञदानतपोव्रतादीनामतत्त्वज्ञेन क्रियमाणानामश्रद्धया वा भ्रमप्रमादादिना वा क्वचित्तन्त्रमन्त्रस्वरवर्णादिलोपेन वा वैगुण्ये प्राप्ते ॐतत्सदित्युक्त्या सर्वं सगुणं सफलं च भवतीति बोधयितुमयमुपदेशः क्रियते—ओमिति । "ओमिति ब्रह्म" इति "तत्त्वमसि" इति "सदेव सोम्य" इति च श्रवणात् । ओमिति तदिति सदिति च परस्य ब्रह्मणो निर्देशः—निर्दिश्यते वस्त्वनेनेति निर्देशो नाम, त्रिविधस्त्रिप्रकारः स्मृतो वेदान्तविद्भिरुद्दालकादिभिः । ॐतत्सदित्येतानि त्रीणि ब्रह्मणो नामान्युक्तानीत्यर्थः । एवं नामनिर्देशं कृत्वा नाम्नां महत्त्वमाह—ब्राह्मणा इति । पुरा सर्गादौ तेनोक्तेन नामत्रितयेन ब्राह्मणा ऋगाद्या वेदाः श्रौतस्मार्ताश्च सर्वे यज्ञा विहिताः निर्मितास्तेभ्यः समुत्पन्ना इत्यर्थः । एतेन पावनानां वेदादीनां जनिहेतुत्वात्तेषां त्रयाणामपि नाम्नां पवित्रत्वस्येयत्ता नास्तीति सूचितम् । ततस्तदुच्चारणं सर्वपापप्रायश्चित्तमपीति सिद्धम् ॥ २३ ॥

श्री० टी०—ननु चैवं विचार्यमाणे सर्वमपि यज्ञतपोदानादि राजसतामसप्रायमेवेति व्यर्थो यज्ञादिप्रयास इत्याशङ्क्य, तथाविधस्यापि सात्त्विकत्वापादनप्रकारं दर्शयितुमाह—ओमिति । ॐतत्सदित्येवं त्रिविधो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो नामव्यपदेशः स्मृतः शिष्टैः । तत्र तावत "ओमिति ब्रह्म"

इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेरोमिति ब्रह्मणो नाम जगत्कारणत्वेनातिप्रसिद्धत्वात् अविदुषां परोक्षत्वाच्च तच्छब्दोऽपि ब्रह्मणो नाम। परमार्थसत्त्वसाधुत्वप्रशस्तत्वादिभिः सच्छब्दो ब्रह्मणो नाम। ("सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादिश्रुतेः।) अयं त्रिविधोऽपि नामनिर्देशो विगुणमपि सगुणीकर्तुं समर्थ इत्याशयेन स्तौति—तेन त्रिविधेन ब्रह्मणो निर्देशेन ब्राह्मणाश्च वेदाश्च यज्ञाश्च पूर्वं सृष्ट्यादौ विहिताः विधात्रा निर्मिताः सगुणीकृता वा। यद्वा यस्यायं त्रिविधो निर्देशस्तेन परमात्मना ब्राह्मणादयः पवित्रतमाः सृष्टाः। तस्मात्तस्यायं त्रिविधो निर्देशोऽतिप्रशस्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥

स० टी०—एवमाहारमुख्यानां त्रैविध्यकथनेन च ॥ ग्राह्याणि सात्त्विकान्येव त्याज्यान्यन्यानि सर्वथा ॥ १ ॥ इत्युक्तं तत्र भोज्यस्य दृष्टार्थत्वेन केवलम् ॥ अङ्गवैगुण्यतो नास्ति फलाभावादिशङ्कनम् ॥ २ ॥ अदृष्टार्थस्य यज्ञादेरङ्गवैगुण्यतो भवेत् ॥ अपूर्वस्याप्यनुत्पत्तौ फलाभावेन कर्मिणाम् ॥ ३ ॥ सात्त्विकानामपि छोपामानर्थक्यं समागतम् ॥ प्रमादबहुलत्वाच्चानुष्ठातॄणामतो हरिः ॥ ४ ॥ वैगुण्यपरिहारार्थंनो वस्तुविति च त्रिधा ॥ कीर्तनं भगवन्नाम्नः प्रायश्चित्ततयाऽधुना ॥ ५ ॥ अतिकारुणिकत्वेन साक्षादुपदिशत्यजः ॥ ओं तत्सदितिरूपोऽयं ब्रह्मणः परमात्मनः ॥ ६ ॥ नामनिर्देश आत्मज्ञैश्चिन्तितस्त्रिविधः श्रुतौ ॥ यस्मादेवमतः सर्वैः स्मर्तव्यमधुनातनैः ॥ ७ ॥ प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत् ॥ स्मरणादेव तद्विष्णोः संपूर्णं स्यादिति श्रुतिः ॥ ८ ॥ स्तूयते ब्रह्मनिर्देशः कर्मवैगुण्यनाशकृत् ॥ त्रिधा निर्देशतो विष्णोः कर्तारो ब्राह्मणादयः ॥ ९ ॥ वेदाः सृष्टाः साधनाख्या यज्ञाः कर्मात्मकाः पुरा ॥ तस्माद्यज्ञादिसृष्टेश्च हेतुत्वेन हरेरयम् ॥ १० ॥ निर्देशः कर्मवैगुण्यपरिहारक्षमोऽस्त्यपि ॥ ११ ॥ २३ ॥

भा० टी०—एवमाहारादीनां सात्त्विकानामादानाय हानाय च राजसतामसानां तेषां त्रैविध्यमुक्तम्। इदानीं विहितानां यज्ञादिकर्मणां प्रमादावश्यंभावात् तत्प्रयुक्ते वैगुण्ये कथं परिहारः स्यादित्याकाङ्क्षायां तेषां साद्गुण्यकरणाय करुणानिधिर्भगवान् प्रायश्चित्तमुपदिशति—ॐतत्सदिति। एष निर्देशः निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधो नामनिर्देशः। "ॐमिति ब्रह्म" "तत्त्वमसि" "सदेव सोम्य" इत्यादिवेदान्तेषु ब्रह्मविद्भिः स्मृतश्चिन्तितः। यज्ञादिसाद्गुण्यसिद्ध्यर्थमवश्यमिदं प्रायश्चित्तमनुष्ठेयमिति बोधनाय निर्देशं स्तौति—ब्राह्मणाः कर्तारो द्विजाः वेदाः करणानि यज्ञाः कर्माणि पुरा पूर्वं प्रजापतिना तेन निर्देशेन विहिता निर्मिताः।तथा च कर्त्रादीनां त्रयाणामपि कारणभूतत्वादस्य वैगुण्यनिवारकत्वं युक्तमेवेति भावः ॥ २३ ॥

प० टी०—ननु चैवं विचार्यमाणे सर्वमपि यज्ञतपोदानादि राजसं तामसं वा विगुणत्वात्कृतमपि व्यर्थत्वमापद्येतेत्याशङ्क्य तस्य विगुणस्यापि सगुणत्वोपपादनप्रकारं दर्शयितुमाह—ॐमिति। ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशो नामव्यपदेशस्त्रिविधः स्मृतः। स कः? ॐतत्सदिति। एवं तेन त्रिविधेन ब्रह्मणा यज्ञकर्मकर्तारस्तथा वेदा विधिमार्गप्रवर्तकास्तथा यज्ञाः कर्मरूपाः पुरा पूर्वसृष्ट्यादौ विहिता निर्मिताः। तत्र ॐमिति ब्रह्मणो नाम। तदुक्तं छान्दोग्योपनिषत्सु—"अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः"—तथा "ॐमित्येकाक्षरमुपासीतोम्" इति। तदुक्तम् 'नोद्गीथेन समं किंचिच्छोधकं जगति स्मृतम्। यं विनाम्नायवर्गोऽपि स्वकार्ये न प्रवर्तते' इति। तथा सर्वानुक्रमकारः शाकलोऽपि 'प्रजापतिरोङ्कारः सर्वदैवत्यः पारमेष्ठ्यो ब्राह्मो दैव आध्यात्मिकः' इति। भाष्यम्—प्रजापतिर्देवता ॐमिति शब्दः सर्वदेवतास्वभिधायकत्वेन 'सर्वदैवत्यः परमोत्कृष्टस्थाने तिष्ठतीति पारमेष्ठ्यो ब्राह्मो ब्रह्मदैवत्य आध्यात्मिकशरीरवर्तिप्रत्यगात्मनोऽभिधायको वेति। तथा ब्राह्मणेऽप्याम्नातम् ""तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत् तदेतदोम्" इति। भाष्यम्—'तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म' इत्यादिश्रुतेः। शुक्राणि शबलब्रह्माणि हिरण्यगर्भादीन्यभितोऽतपन् तपश्चकुः।

तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्तपः कुर्वाणेभ्यः सकाशाद् ये वर्णा अजायन्तेति स्पष्टम् । तथा च ॐमिति नामनिर्देशेन वेदा विहिताः, तदित्यनेन ब्राह्मणाः, सदित्यनेन यज्ञाः ॥ २३ ॥

रा० टी०—अफलाकाङ्क्षिभिरित्यादिना पूर्वं यज्ञतपोदानानां सात्त्विकत्वादिहेतवोऽसाधारणधर्मा उक्ताः । साधारणांस्तु वक्तुमनेककर्तृकचरितानुवादरूपपुराकल्पाख्यार्थवादमाह—ॐमित्यादिना । निर्दिश्यते अनेनेति निर्देशो नाम ब्रह्मणः त्रिविधः स्मृतः । ॐ तं प्रविष्टमाश्रितम् इति यावत् । जगदत्र परे इति वा । ईश्वरो वा जगति प्रोतः प्रविष्ट इति वा व्युत्पत्त्या ॐमिति नाम हरेः । अवरक्षणकान्तिगतिप्रवेशेत्याद्यर्थस्यावतेष्टि-लोपश्चेतिसूत्रेण मन्प्रत्ययः । तस्य टिलोपे ज्वरत्वरेत्यूठि सार्वधातुक इति गुणे च ॐमिति रूपसिद्धिः । गुणैस्ततत्त्वाद्वा तदित्यस्य परोक्षवाचित्वाद्ब्रह्मणश्च वेदैकवेद्यतया परोक्षत्वात्तदिति नाम । निर्दोषसर्वशुभगुण-पूर्णत्वात्सदिति नामेति ज्ञेयम् । तेन ब्रह्मणा ब्राह्मणादयः पुरा सृष्टिकाले विहिताः सृष्टाः । वेदानां विधानं नाम अभिव्यक्तिर्ज्ञेया ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ॥
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

त० टी०—एवं ब्राह्मणाद्युत्तमसृष्टौ तच्छ्रेयोहेतुतया समुदितस्य त्रिविधस्य ब्रह्मनाम्नः समन्वय उक्तः । इदानीमभीष्टसिद्ध्यर्थं कार्येषु त्रयाणामोङ्काराद्यवयवानां समन्वयप्रकार उच्यते । तत्रादावों-कारस्यान्वयमाह—तस्मादिति । यस्मादयं सर्ववेदादिभूतः परब्रह्मवाचकस्तस्मादोमित्युदाहृत्योच्चार्य ब्रह्मवादिनां त्रैवर्णिकानामोंकारोच्चारणानन्तरं विधानोक्ता विधिना दर्शिता यज्ञदानतपःक्रियाः सततं सर्वदा प्रवर्तन्ते प्रकर्षेण दोषाभावेन संपद्यन्ते ॥ २४ ॥

म० टी०—इदानीमकारोकारमकारव्याख्यानेन तत्समुदायोङ्कारव्याख्यानवदोङ्कारतच्छब्दसच्छब्दव्या-ख्यानेन तत्समुदायरूपं ब्रह्मणो निर्देशं स्तुत्यतिशयाय व्याख्यातुमारभते चतुर्भिः । तत्र प्रथममोङ्कारं व्याचष्टे—तस्मादिति । यस्मात् " ॐमिति ब्रह्म " इत्यादिषु श्रुतिष्वोमिति ब्रह्मणो नाम प्रसिद्धं तस्मा-दोमित्युदाहृत्य ओङ्कारोच्चारणानन्तरं विधानोक्ताः विधिशास्त्रबोधिता ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां यज्ञदानतपः-क्रियाः सततं प्रवर्तन्ते प्रकृष्टतया वैगुण्यराहित्येन वर्तन्ते । यस्यैकावयवोच्चारणादप्यवैगुण्यं किं पुनस्तस्य सर्वस्योच्चारणादिति स्तुत्यतिशयः ॥ २४ ॥

शं० टी०—इममेवार्थं प्रतिपादयन्नादौ प्रणवस्य विनियोगमाह—तस्मादिति । यस्मादेतन्नामत्रितयं ब्रह्म-वाचकत्वेन वेदादिजनकत्वेन च पवित्रतममिति मतं तस्मादोमित्युदाहृत्य कर्मारम्भे तदन्ते चोङ्कारमुच्चार्य ब्रह्मवादिनां ब्रह्म वेदस्तदर्थं च वेदितुं शीलमेषामस्ति ते ब्रह्मवादिनो वेदवेदार्थपारगा ब्राह्मणास्तेषां ब्रह्मवा-दिनां विधानोक्ताः विध्युक्ता यज्ञदानतपःक्रियाः सर्वाः कचिच्छ्रद्धादिनाङ्गवैकल्येऽप्याद्यन्तयोरोमित्युच्चा-रणेन सततं यथोक्तलक्षणैः संपूर्णं यथा तथा प्रवर्तन्ते प्रकर्षेण वर्तन्ते प्रवर्तन्ते । प्रकृष्टाः साङ्गाः सात्त्विका भवन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

श्री० टी०—इदानीं प्रत्येकमोंकारादीनां प्राशस्त्यं दर्शयिष्यन्नोङ्कारस्य तावदाह—तस्मादिति । यस्मा-देवं ब्रह्मणो निर्देशस्तस्मादोमित्युदाहृत्य उच्चार्य कृता वेदवादिनां यज्ञाद्याः शास्त्रोक्ताः क्रियाः सततं सर्वदा अङ्गवैकल्येऽपि प्रकर्षेण वर्तन्ते सगुणा भवन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

स० टी०—अथोङ्कारादिनामास्य श्रीमद्भगवतो हरेः ॥ व्याख्यातुं वेदनिर्णीतनिर्देशस्तुतये पुनः ॥ १ ॥ आरभतेऽत्र भगवानोमित्यादौ चतुष्टयम् ॥ ओमिति ब्रह्मणो नाम प्रसिद्धं यत आगमे ॥ २ ॥ तस्मादा-

मित्युदाहृत्य विधिशास्त्रेण बोधिताः ॥ प्रकृष्टत्वेन वर्तन्ते यज्ञदानतपःक्रियाः ॥ ३ ॥ अङ्गवैगुण्यराहित्या-त्सततं वेदवादिनाम् ॥ यस्यैकाक्षयवोच्चार्यमाणे वैगुण्यसंक्षयः ॥ ४ ॥ किं पुनस्तस्य सर्वस्योच्चारणादिति संस्तुतिः ॥ ५ ॥ अहो हरेर्नाम महत्फलं श्रवौ श्रुतं सर्वोंकार इति स्मृतं हृदि ॥ पुनाति यज्ञादिकृतं ह्यल-क्षणं लुनाति पापौघमुदीरणात्सकृत् ॥ ६ ॥ २४ ॥

भा० टी०—तस्मादिति । यस्मादों तत्सदिति ब्रह्मणो निर्देशो यस्माच्च ब्राह्मणादीना कारणं तस्मादो-मित्युदाहृत्योच्चार्य ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां यज्ञदानतपःक्रियाः विधानोक्ताः शास्त्रचोदिताः सततं सर्वदा प्रवर्तन्ते ॥ २४ ॥

प० टी०—यज्ञोपक्रान्तमर्थमाह—तस्मादिति । यस्मादेवं ब्रह्मणो निर्देशस्तस्मात्कारणादोमित्युदाहृत्योच्चार्य वेदविधानोक्तब्रह्मवादिना मोक्षार्थिनां यज्ञदानतपसा क्रियाः सततं निरन्तरं प्रवर्तन्ते ॥ २४ ॥

रा० टी०—तस्मादिति । तस्मादोमित्यस्य भगवन्नामत्वात् ॐमित्युदाहृत्य ॐकारमुच्चार्य ब्रह्मवादिना सततं यज्ञादिक्रियाः विधानोक्ताः विभ्युक्ताः प्रवर्तन्ते । एतेनोर्ध्वंकारार्थधीपूर्वकं ॐमित्युच्चार्य ब्राह्मणै. सह विभ्युक्तदिशाऽनुष्ठानं यज्ञादेः सात्त्विकत्वे हेतुरुक्तो भवति ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ॥
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

त० टी०—एवं फलानुसंहितकर्मणामोंकारोच्चारणपूर्वकं साफल्यमुक्तमिदानीं निष्कामाणां मुमुक्षू-णां यज्ञादिषु तदितिशब्दान्वयमाह—तदिति । पूर्वोक्तं श्रुत्यादिसिद्धं ब्रह्मणो नाम उदाहृत्येति पूर्वश्लोकादाहृत्य योजनीयं, तदुच्चार्य फलमनभिसंधाय फलाकाङ्क्षां विहाय मोक्षकाङ्क्षिभिर्वेदान्वितैर्यज्ञदा-नतपःक्रियाश्च विविधाः क्रियंन्ते, केवलं तच्छब्दनिर्दिष्टपरमात्मोद्देशेन निर्वर्त्यन्ते इत्यर्थः ॥ २५ ॥

म० टी०—द्वितीयं तच्छब्दं व्याचष्टे—तदिति तत्त्वमसीत्यादिश्रुतिप्रसिद्धम् । तदिति ब्रह्मणो नामोदा-हृत्य फलमनभिसंधायान्तःकरणशुद्ध्यर्थं यज्ञतपःक्रिया दानक्रियाश्च विविधा मोक्षकाङ्क्षिभिः क्रियन्ते तस्मादतिप्रशस्तमेतत् ॥ २५ ॥

शं० टी०—एवमोंकारस्य कर्मसाद्गुण्यसंपादने विनियोगमुक्त्वा तत्पदस्य विनियोगमाह—तदितीति । उदा-हृत्येति पदं पूर्वोक्तमनुवर्तते । मोक्षकाङ्क्षिभिर्मोक्षैककामैः । एतेन पूर्वोक्तानां कामित्वं सूचितम् । मुमुक्षुभिर्ब्राह्मणैः फलं कर्मजन्यमनभिसंधाय संकल्पाननपेक्ष्य चेश्वरार्पणबुद्ध्या चित्तशुद्धये कर्मारम्भादौ तदिति पदमुदाहृत्य समुच्चार्य यज्ञदानतपःक्रियाः श्रौतादयो यज्ञक्रियाः, शारीरादयस्तपःक्रियाः, कन्यागवादिभेदेन विविधा दान-क्रियाश्च क्रियन्ते । श्रद्धाद्यङ्गलोपे सति तत्पदप्रयोगेन सगुणाः क्रियन्त इत्यर्थः ॥ २५ ॥

श्री० टी०—किंच द्वितीयं नाम प्रस्तौति—तदिति । तदित्युदाहृत्येति पूर्वस्यानुषङ्गः । तदित्युदाहृत्य शुद्धचित्तैर्मोक्षकाङ्क्षिभिः पुरुषैः फलाभिसंधिमकृत्वा यज्ञाद्याः क्रियाः क्रियन्ते अतश्चित्तशोधनद्वारेण फलसंक-ल्पत्याजनेन मुमुक्षुत्वसंपादकत्वात्तच्छब्दनिर्देशः प्रशस्त इत्यर्थः ॥ २५ ॥

स० टी०—तदिति ब्रह्मणो नाम प्रसिद्धं तत्त्वमादिके ॥ वेदवाक्ये समुच्चार्यानभिसंधाय तत्फलम् ॥ १ ॥ अन्तःकरणशुद्ध्यर्थं यज्ञदानतपःक्रियाः ॥ क्रियन्ते मोक्षमिच्छद्भिः प्रशस्ततममेव तत् ॥ २ ॥ श्रुतौ तदित्येव मुकुन्दनाम तत्परोक्षरीत्या परिवर्णितं परम् ॥ मुमुक्षुभिर्ध्येयमनन्यचेतसा तथैव चेयं भवमु-क्तये धिया ॥ ३ ॥ २५ ॥

भा० टी०—ओमितिनाम्नो विनियोगमुक्त्वा तदित्यस्य विनियोगमाह—तदिति । फलमनभिसंधाय

मोक्षकाङ्क्षिभिः मुमुक्षुभिः यज्ञतपःक्रिया दानक्रियाश्च विविधाः क्षेत्रहिरण्यप्रदानादिलक्षणाः तदिति ब्रह्माभिधानमुच्चार्य क्रियन्ते निर्वर्त्यन्ते ॥ २५ ॥

प० टी०–अथ द्वितीयनामनिर्देशं स्तौति–तदिति । तदित्युदाहृत्येति पूर्वस्यानुषङ्गः । नामनिर्देशमुच्चार्य चित्तशुद्ध्यर्थं प्रवृत्तैर्मोक्षकाङ्क्षिभिः फलमनभिसंधाय यज्ञतपःक्रियास्तथा दानक्रियाश्च क्रियन्ते ॥ २५ ॥

रा० टी०–किंच–तदिति । तत्परोक्षं फलं स्वर्गादनभिसंधाय मम स्यादित्यनिच्छन् । तथा तत् वेदैकगम्यतया परोक्षभूतं ब्रह्म अभिसंधाय ममास्पदं स्यादितीच्छन्यज्ञोऽग्निहोत्रादि तपः क्रियाः प्रागुक्तशारीरादितपोरूपक्रियाः दानक्रियाश्च विविधाः मोक्षकाङ्क्षिभिः क्रियन्त इत्युक्त्वा वेदैकवेद्यतया तत्पदोक्तब्रह्मोद्देशेनेतरफलानुद्देशेन च क्रियमाणत्वरूपधर्मान्तरमपि यज्ञादेः सात्त्विकत्वादिहेतुरुक्तो भवति । तदिति ब्रह्मोद्दिश्य यज्ञादेः करणाच्च ब्रह्मणस्तदिति नामेति चोक्तं भवति ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते ॥
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥ २६ ॥

त० टी०–इदानीं सच्छब्दान्वयमकारमाह–सद्भाव इति द्वाभ्याम् । सद्भावे वस्तुनोऽविद्यमानताशङ्काव्यावृत्तिः सद्भावस्तस्मिन्, तथा साधुभावे च असद्वृत्तत्वशङ्कायां सद्वृत्तत्वख्यापनं साधुभावस्तस्मिन्, सदित्येतत् श्रुतिस्मृतिसिद्धं ब्रह्मणो वाचकं पदं लोकवेदयोः प्रयुज्यते शिष्टैः । तथा प्रशस्ते माङ्गलिके विवाहोत्सवादौ कर्मणि सदिदं कर्मेति सच्छब्दो हे पार्थ प्रयुज्यते इत्यर्थः ॥२६॥

म० टी०–तृतीयं सच्छब्दं व्याचष्टे द्वाभ्याम्–सद्भाव इति । "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धं सदित्येतद् ब्रह्मणो नाम सद्भावे अविद्यमानत्वशङ्कायां विद्यमानत्वे साधुभावे च असाधुत्वशङ्कायां साधुत्वे च प्रयुज्यते शिष्टैः । तस्माद्वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः साधुत्वं तत्फलस्य च विद्यमानत्वं कर्तुं क्षममेतदित्यर्थः । तथा सद्भावसाधुभावयोरिव प्रशस्ते अप्रतिबन्धेन आशुसुखजनके माङ्गलिके कर्मणि विवाहादौ सच्छब्दो हे पार्थ युज्यते प्रयुज्यते । तस्मादप्रतिबन्धेनाशु फलजनकत्वं वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः समर्थमेतन्नामेति प्रशस्ततरमेतदित्यर्थः ॥ २६ ॥

शं० टी०–एवमोन्तच्छब्दयोर्विनियोगमुक्त्वाऽथ सच्छब्दस्य विनियोगमाह–सद्भाव इति द्वाभ्याम् । सद्भावे विद्यमानस्य वस्तुनोऽस्तित्वं सद्भावस्तस्मिन् सद्भावे देवदत्तस्य पुत्रोऽस्तीत्येतस्मिन्नर्थे पण्डितैः सदित्येतत्पदं प्रयुज्यते । यद्वा सतो ब्रह्मणो भावः सद्भावस्तस्मिन् सर्वस्य ब्रह्मभावे विवक्षिते सदिदमिति सच्छब्दः प्रयुज्यते । साधुभावे च सद्वृत्तता साधुभावस्तस्मिन् विवक्षिते साधोः साधुभावे संज्ञिः सन्नयमिति सच्छब्दः प्रयुज्यते । तथाच कर्मणः प्रशस्तत्वे विवक्षिते सदिदं कर्मेति सच्छब्दः प्रयुज्यत इत्यर्थः ॥२६॥

श्री० टी०–सच्छब्दस्य प्राशस्त्यमाह–सद्भाव इति द्वाभ्याम् । सद्भावे अस्तित्वे देवदत्तस्य पुत्रादिकमस्तीत्यस्मिन्नर्थे साधुभावे च साधुत्वे देवदत्तस्य पुत्रादि श्रेष्ठमित्यस्मिन्नर्थे सदित्येतत्पदं प्रयुज्यते । प्रशस्ते माङ्गलिके विवाहादिकर्मणि च सदिदं कर्मेति सच्छब्दो युज्यते प्रयुज्यते संगच्छत इति वा ॥ २६ ॥

स० टी०–सदेवेतिश्रुतौ नाम सदिति ब्रह्मणो हरेः ॥ तदसत्त्वशङ्कायां सद्भावे सत्प्रयुज्यते ॥ १ ॥ तथा साधुत्वशङ्कायां साधुभावे प्रयुज्यते ॥ वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः साधुता क्षमम् ॥ २ ॥ प्रकर्तुं तत्फलस्यापि विद्यमानत्वमेव सत् ॥ प्रशस्ते च विवाहादौ सच्छब्दोऽत्र प्रयुज्यते ॥ ३ ॥ सर्वमङ्गलहेतुत्वाद्यतो माङ्गलिकेऽखिले ॥ तस्मादप्रतिबन्धेन सुखहेतुतयाऽसकृत् ॥ ४ ॥ उच्चार्यमाणमाधत्ते फलं सन्नाम तद्धरेः ॥ अहो श्रीमद्धरेर्नाममहिमायं निरङ्कुशः ॥५॥ सदेव सोम्येदमितिश्रुतौ श्रुतं विना हरिं नैव विकारनामनी ॥ सदित्युदीर्येव हरिं सुधीर्भजेदसत्सु सत्त्वापदमध्वरादिषु ॥ ६ ॥ २६ ॥

भा० टी०—तृतीयनाम्नो विनियोगमाह द्वाभ्याम्—सदिति । सतः सद्भावे यथाऽविद्यमानस्य पुत्रस्य जन्म तथा साधुभावेऽसद्वृत्तस्यासाधोः सद्वृत्तिता साधुभावस्तस्मिन्साधुभावे च सदित्येतत् ब्रह्मणोऽभिधानं प्रयुज्यतेऽभिधीयते । तथा प्रशस्ते कर्मणि विवाहादौ च सच्छब्दः प्रयुज्यते । पृथापुत्रे त्वयि पार्थशब्दो यथेति सूचयन्नाह—पार्थेति ॥ २६ ॥

प० टी०—अथ सच्छब्दस्य प्राशस्त्यमाह—सद्भाव इति । सद्भावेऽस्तित्वे देवदत्तस्य पुत्रादिकमस्तीत्येतस्मिन्नर्थे साधुभावे च साधुत्वे देवदत्तस्य पुत्रादि श्रेष्ठमित्येतस्मिन्नर्थे सदित्येतत्पदं प्रयुज्यते । तथा प्रशस्ते विवाहादिमाङ्गलिके कृत्ये सच्छब्दो युज्यते ॥ २६ ॥

रा० टी०—किंच । साधुगुणोपेततया सच्छब्दार्थभगवज्ज्ञानपूर्वकतयाऽनुष्ठानमपि सात्त्विकत्वहेतुधर्मान्तरं यज्ञादेरितिभावेन सच्छब्दार्थमाह—सद्भाव इति । सद्भावे असतः सत्तारूपप्रजननार्थे साधुभावे साधुत्वे । प्रशस्ते कर्मणि शुभकर्मणि चेत्यर्थः ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ॥
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

त० टी०—तस्मात्—यज्ञ इति । यज्ञे यज्ञकर्मणि या स्थितिः तपसि च या स्थितिर्दाने च या स्थितिर्निष्ठा सा सदित्युच्यते । सदसतोर्विनिर्णयं संगृह्णाह—कर्म चैवेति । यस्य चैतन्नामत्रयं स परब्रह्मभूतो भगवानेवार्थः प्रयोजनमुद्देश्यो यस्य तत् तदर्थीयं कर्म पूजोपहारजन्मोत्सवाद्यङ्गतया तुलसीपुष्पाद्यवचयतदवरोपणमन्दिरनिर्माणमार्जनोपलेपनचित्रकरणविविधव्यञ्जनपाककरणगीतवाद्यनृत्यप्रदक्षिणप्रणामादिसर्वं सदित्येवाभिधीयते, सतः परमात्मनः प्राप्तिहेतुत्वात् । अत्रावधारणद्वयं तत्रैकमयोगव्यवच्छेदार्थकम् । द्वितीयमन्ययोगव्यवच्छेदार्थकं, तदर्थीयं कर्म सन्नेति न अपितु सदेव । तदर्थीयव्यतिरिक्तं कर्म सन्नेत्यर्थः । " यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते " इति श्रुत्या " त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा" इत्युपक्रम्य " क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते " इत्यादिना भगवता स्वयमपि देवादिभक्तानां स्वर्गादिफलकर्मणां क्षयिष्णुत्वाभिधानात् । भगवदर्थस्य कर्मणस्तु ' मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि । सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ' इत्यादिना शाश्वताव्ययफलत्वप्रतिपादनात् । तदेवं भगवदर्थीयं यज्ञदानतपआद्यन्यदपि सर्वं कर्म परमात्माभिधानत्रयप्रयोगपूर्वकं सात्त्विकश्रद्धयाऽनुष्ठितं श्रेयस्करं भवतीति सिद्धम् ॥ २७ ॥

म० टी०—यज्ञ इति । यज्ञे तपसि दाने च या स्थितिस्तत्परतयाऽवस्थितिर्निष्ठा सापि सदित्युच्यते विद्वद्भिः । कर्म चैव तदर्थीयं तेषु यज्ञदानतपोरूपेष्वर्थेषु भवं तदनुकूलमेव च कर्म । अथवा यस्य ब्रह्मणो नामेदं प्रस्तुतं तदेवार्थो विषयो यस्य तदर्थं शुद्धब्रह्मज्ञानं तदनुकूलं कर्म तदर्थीयं, भगवदर्पणबुद्ध्या क्रियमाणं कर्म वा तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते । तस्मात्सदिति नाम कर्मवैगुण्यापनोदनसमर्थं प्रशस्ततरम् । यत्रैकैकोऽवयवोऽप्येतादृशः किं वक्तव्यं तत् समुदायस्योंतत्सदिति निर्देशस्य माहात्म्यमिति संपिण्डितार्थः ॥ २७ ॥

श्रीं० टी०—किंच—यज्ञ इति । यज्ञे श्रौतादौ तपसि शारीरादौ दाने च कन्यादानादौ या स्थितिस्तत्परत्वं सा च विद्वद्भिः सदित्युच्यते । यज्ञादीनामश्रद्धादिदोषोपपत्तौ साधुत्वसिद्धये सच्छब्दः प्रयुज्यत इत्यर्थः । तदर्थीयम्—अत्र तच्छब्देन लोकशास्त्रप्रसिद्धः परमेश्वरो गृह्यते । तदर्थीयं परमेश्वरार्थकं कर्म च

१ तदर्थीयमिति पाठः ।

सदित्येवाभिधीयते । अश्रद्धादिदोषप्राप्तौ यज्ञादीनां साद्गुण्याय ॐ तत्सदिति ब्रह्मणो नामत्रयं प्रयुज्यत इत्युक्त्या सात्त्विक्या श्रद्धयैव मुमुक्षुभिर्यज्ञदानादि कर्म नियमेन कर्तव्यमिति पर्यवसितं नान्यथेत्यर्थः ॥ २७ ॥

श्री० टी०—किंच—यज्ञ इति । यज्ञादिषु च या स्थितिस्तात्पर्येणावस्थानं तदपि सदित्युच्यते । यस्य चेदं नामत्रयं स एव परमात्मा अर्थः फलं यस्य तत्तदर्थं कर्म पूजोपहारगृहाङ्गणपरिमार्जनोपलेपरङ्गमालिकादिक्रिया तत्सिद्धये यदन्यत्कर्म क्रियते उद्यानशालिक्षेत्रधनार्जनादिविषयं तत्कर्म तदर्थीयम् । तच्चातिव्यवहितमपि सदित्येवाभिधीयते । यस्मादेवमतिप्रशस्तमेतन्नामत्रयं तस्मादेतत्सर्वकर्मसाद्गुण्यार्थं कीर्तयेदिति तात्पर्यार्थः । अत्र चार्थवादानुपपत्त्या विधिः कल्प्यते 'विधेयं स्तूयते वस्तु' इति न्यायात् । अपरे तु प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिरित्यादिवर्तमानोपदेशः समिधो यजतीत्यादिवद्विधितया परिणमनीय इत्याहुः । तत्तु सद्भावे साधुभावे चेत्यादिषु प्राप्तार्थत्वान्न संगच्छत इति पूर्वोक्तक्रमेण विधिकल्पनैव ज्यायसी ॥ २७ ॥

स० टी०—यज्ञे तपसि दाने च या निष्ठा तत्परात्मिका ॥ सा सदित्युच्यतेऽभिज्ञैस्तेष्वर्थेषु मखादिषु ॥ १ ॥ भवन्तदनुकूलं च कर्म सद्याभिधीयते ॥ अथवा यस्य नामेदं ब्रह्मणः प्रस्तुतं परम् ॥ २ ॥ तदर्थो विषयो यस्य ब्रह्मज्ञानस्य तत्तथा ॥ ब्रह्मार्पणधिया कर्म क्रियमाणं विशुद्धये ॥ ३ ॥ तदर्थीयं सदित्येवं प्रशस्तमभिधीयते ॥ यस्यैकैकोऽप्यवयवः प्रशस्तो हीदृशो मतः ॥ ४ ॥ किं पुनस्तस्य सर्वस्य वाच्यं माहात्म्यमद्भुतम् ॥ ५ ॥ यन्नाद्गो समुदीरणाद्भगवतो नामोन्तरित्यादिकं साद्गुण्यं कुरुते यदङ्गविकलं ध्येयं सदोपासकैः ॥ ज्ञेयं वेदविदो रहस्यमखिलं नामार्थतो यत्परं तच्छ्रीकृष्णमहोभिधं मम मतौ भूयाद्वचः स्वार्थतः ॥ ६ ॥ २७ ॥

भा० टी०—यज्ञ इति । यज्ञे यज्ञकर्मणि या स्थितिस्तथा तपसि या स्थितिः दाने च या स्थितिः सा च विद्वद्भिः सदित्युच्यते । तदर्थीयं यज्ञदानतपोर्थीयम् अथवा यस्याभिधानत्रयं प्रकृतं तदर्थीयमीश्वरार्थीयमित्येतत्सदित्येवाभिधीयते । तदेतद्यज्ञतपआदि कर्म असात्त्विकं विगुणमभक्तिपूर्वकमपि ब्रह्मणोऽभिधानत्रयेण सात्त्विकं सगुणं सभक्तिकं संपादितं भवत्यतोऽवश्यमों तत्सदिति ब्रह्मणोऽभिधानत्रयमुदाहृत्य यज्ञादि प्रवर्तनीयमिति प्रकरणार्थः ॥ २७ ॥

प० टी०—किं च—यज्ञ इति । यज्ञे तपसि दाने च स्थितिस्तात्पर्येणावस्थानं तदपि सदित्युच्यते । यस्य चेदं नामत्रयं स एव परमात्मेत्यर्थः । तथा तदर्थीयं यज्ञदानतपोनिमित्तं पूजोपहारगृहाङ्गणपरिमार्जनोपलेपनध्वजपताकादि तथोद्यानक्षेत्रधनार्जनादि यत्कर्म क्रियते तदपि सदित्येवाभिधीयते । यस्मादेवमतिप्रशस्तं नामत्रयं तस्मादेतत्सर्वकर्मसाद्गुण्यार्थं कीर्तयेदिति तात्पर्यार्थः । नायमर्थवादः, किं तु ब्रह्मणो नामनिर्देशस्यातिप्राशस्त्याद्विधिरेव कल्प्यते ॥ २७ ॥

रा० टी०—भगवन्निष्ठापूर्वकत्वमपि कर्मणः सात्त्विकत्वहेतुभूतं धर्मान्तरमितिभावेन निष्ठापि सच्छब्दार्थ इत्याह—यज्ञ इति । स्थितिर्निष्ठा । भगवानेभिरवश्यं फलं प्रयच्छतीतिबुद्धिरिति यावत् । किंच भगवद्विषयतयाऽनुष्ठानमपि धर्मान्तरमिति भावेनाह—कर्मेति । तदर्थोऽयं सच्छब्दार्थभगवदर्थोऽयम् ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ॥
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु श्रद्धात्रयविभागयोगो
नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

त० टी०–तदेतत्सर्वं श्रद्धयैवानुष्ठेयमिति द्रढयितुमश्रद्धया कृतस्य नैष्फल्यं वदन्नध्यायमुपसंहरति–अश्रद्धयेति । अश्रद्धया होमदानतपःकृतं यच्चान्यदपि लौकिकं वैदिकं कर्म कृतं तत्सर्वमसदित्युच्यते । हे पार्थ तदश्रद्धया कृतं न प्रेत्य परलोकेऽपूर्वाजनकत्वात् नो इह लोके यशःसुखकरं भवति, सद्भिर्निन्दितत्वात् "श्रद्धापूतं वदान्यस्य हतमश्रद्धयेतरत्" इति स्मृतेः । तस्माद्राजसतामसमासुरं कर्म विहाय सात्त्विकश्रद्धयैव सर्वं कर्म भगवत्प्रीत्यर्थमनुष्ठितमन्तःकरणशोधनहेतुतया ज्ञानभक्तिद्वारेण मोक्षहेतुर्भवतीतीह दर्शितम् ॥ २८ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

म० टी०–यथालस्यादिना शास्त्रीयं विधिमुत्सृज्य श्रद्धानतयैव वृद्धव्यवहारमात्रेण यज्ञतपोदानादि कुर्वता प्रमादाद्वैगुण्ये प्राप्ते ॐ तत्सदिति ब्रह्मनिर्देशेन तत्परिहारस्तथाऽश्रद्धानतया शास्त्रीयं विधिमुत्सृज्य कामकारेण यत्किंचिद्यज्ञादि कुर्वतामसुराणामपि तेनैव वैगुण्यपरिहारः स्यादिति कृतं श्रद्धया सात्त्विकत्वहेतुभूतयेत्यत आह–अश्रद्धयेति । अश्रद्धया यद्धुतं हवनं कृतमग्नौ दत्तं यत् ब्राह्मणेभ्यः यच्च तपस्तप्तं यच्चान्यत्कर्म कृतं स्तुतिनमस्कारादि तत्सर्वमश्रद्धया कृतमसत् असाध्वित्युच्यते । अत ओंतत्सदिति निर्देशेन न तस्य साधुभावः शक्यते कर्तुं सर्वथा तदयोग्यत्वाच्छिलायां इवाङ्कुरः, तत्कस्मादसदित्युच्यते शृणु हे पार्थ ! चो हेतौ । यस्मात्तदश्रद्धाकृतं न प्रेत्य परलोके फलति विगुणत्वेनापूर्वाजनकत्वात्, नो इह नापीह लोके यशः साधुभिर्निन्दितत्वात्, अत ऐहिकामुष्मिकफलविकलत्वादश्रद्धाकृतस्य सात्त्विक्या श्रद्धयैव सात्त्विकं यज्ञादि कुर्यादन्तःकरणशुद्धये, तादृशस्यैव श्रद्धापूर्वकस्य सात्त्विकस्य यज्ञादेर्दैवाद्वैगुण्यशङ्कायां ब्रह्मणो नामनिर्देशेन साद्गुण्यं संपादनीयमिति परमार्थः । श्रद्धापूर्वकमसात्त्विकमपि यज्ञादि विगुणं ब्रह्मणो नामनिर्देशेन सात्त्विकं सगुणं च संपादितं भवतीति भाष्यम् । तदेवमस्मिन्नध्याये आलस्यादिनाऽनादृतशास्त्राणां श्रद्धापूर्वकं वृद्धव्यवहारमात्रेण प्रवर्तमानानां शास्त्रानादरेणासुरसाधर्म्येण श्रद्धापूर्वकानुष्ठानेन च देवसाधर्म्येण किमसुरा अमी देवा वेत्यर्जुनसंशयविषयाणां राजसतामसश्रद्धापूर्वकं राजसतामसयज्ञादिकारिणोऽसुराः शास्त्रीयज्ञानसाधनानधिकारिणः सात्त्विकश्रद्धापूर्वकं सात्त्विकयज्ञादिकारिणस्तु देवाः शास्त्रीयज्ञानसाधनाधिकारिण इति श्रद्धात्रैविध्यप्रदर्शनमुखेनाहारादित्रैविध्यप्रदर्शनेन भगवता निर्णयः कृत इति सिद्धम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपादशिष्यमधुसूदनसरस्वतीविरचितायां श्रीभगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां श्रद्धात्रयविभागयोगविवरणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

शं० टी०–श्रद्धाविधुरस्य कर्मणो निष्फलत्वमाह–अश्रद्धयेति । अश्रद्धया श्रौते स्मार्ते च कर्मणि यदग्नौ हुतं यदन्नोदकादिकं ब्राह्मणेभ्यो दत्तं यच्छारीरादिलक्षणं तपस्तप्तं यदन्यत् स्तोत्रमन्त्रजपादिकं कर्म कृतं भवति तत्सर्वमसन्निष्फलमेव भवति । तदेव विस्पष्टयति–नचेति । शरीरादिबहुप्रयासेन कृतं भक्तिश्रद्धाविधुरं यत्सर्वं कर्म प्रेत्य परलोकसुखाय न भवति नो इह ऐहिकसुखाय च न भवति, श्रद्धावैधुर्यान्मन्त्रादिलोपाच्च, तत्कर्म देवा अपि नानुमन्यन्ते नैव च शिष्टा अप्यतः श्रद्धाशून्यं कर्म निष्फलमेवेत्यर्थः । नन्वश्रद्धया देयमिति विधिबलादश्रद्धया कृतमपि कर्म दानादिफलवदेव स्यादिति चेत्सत्यं, यद्यप्यश्रद्धया देयमिति श्रूयते तथापि "केवलाघो भवति केवलादी" इति केवलादिनो महापापित्वप्राप्तौ तन्निवृत्तये त्वश्रद्धया देयमिति दयया श्रुत्योच्यते न तु विधीयते 'यतिश्च ब्रह्मचारी च विद्यार्थी गुरुपोषकः । अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च' इत्यादिषु भिक्षुकेष्वन्येषु वा दोषवत्सु सत्सु न तेषु श्रोत्रियस्य श्रद्धा जायते । तथापि गृहस्थैकशरणानां तेषां गत्यन्तराभावादश्रद्धयापि च दातव्यमेवेत्युच्यते । 'अश्रद्धया देयं

ह्रिया देयम्' इति । 'यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः । वर्तन्ते गृहिणं तद्वदाश्रित्येतर आश्रमाः' इति न्यायेन । सर्वाश्रमिणा गृहस्थैकशरणत्वाद्दानमेव गृहस्थस्येति गृहिणो दानैकप्रधानत्वस्मरणाच्च यथाकथंचिदर्थिभ्यो श्रद्धया वा ह्रिया वा भिया वाऽवश्यं दातव्यमिति दानस्यावश्यकरणीयत्वं सूच्यते अश्रद्धया देयमित्यादिना । ततो नायं विधिः । अन्यथा 'अश्रद्धया देयम्' 'श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः' 'श्रद्धा कामस्य मातरम्' इति सर्वस्यापि कर्मणः श्रद्धाप्रधानत्वविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् । तस्माच्छ्रौतं स्मार्तं च कर्म सर्वं श्रद्धयैव कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीशिष्यश्रीशंकरानन्द-
सरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

श्री० टी०—इदानीं सर्वकर्मसु श्रद्धयैव प्रवृत्त्यर्थमश्रद्धाकृतं सर्वं निन्दति—अश्रद्धयेति । अश्रद्धया हुतं हवनं, दत्तं दानं, तप्तं निर्वर्तितं तपः । यच्चान्यदपि कृतं कर्म तत्सर्वमसदित्युच्यते । यतस्तत्प्रेत्य लोकान्तरे न फलति विगुणत्वात्तो इह न चास्मिँल्लोके फलति अयशस्करत्वात् ॥ २८ ॥

रजस्तमोमयीं त्यक्त्वा श्रद्धा सत्त्वमयीं श्रितः ॥ तत्त्वज्ञानेऽधिकारी स्यादिति सप्तदशे स्थितम् ॥ १ ॥

इति सुबोधिन्यां टीकायां श्रीधरस्वामिविरचितायां श्रद्धात्रयविभाग-
योगविवरणं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

स० टी०—एवं यज्ञादिकं कर्म विगुणं ह्यपि सात्त्विकम् ॥ सच्छ्रद्धापूर्वकं ब्रह्मनामत्रयप्रयोगतः ॥ १ ॥ सद्गुणं भवतीत्येवं हरिणा समुदीरितम् ॥ इदानीं श्रद्धया हीनं सर्वं यागादि निष्फलम् ॥ २ ॥ भवतीत्यत्र पदार्थो श्रीमद्भगवता स्वयम् ॥ प्रधानत्वेन सच्छ्रद्धा यज्ञदानादिकर्मसु ॥ ३ ॥ स्तूयते निन्द्यते सर्वं श्रद्धाहीनं मखादिकम् ॥ यत्कृतं हवनं वह्नौ दत्तं पात्रेभ्य एव यत् ॥ ४ ॥ अनुष्ठितं तपो यच्च कृतं स्तुत्यादि कर्म यत् ॥ अश्रद्धया च तत्सर्वमसाध्वित्युच्यते कृतम् ॥ ५ ॥ तदश्रद्धाकृतं यस्मान्नामुत्रेह फलत्यपि ॥ अङ्गवैगुण्यतोऽपूर्वाजनकत्वेन हेतुना ॥६॥ नापीहास्ति यशो लोके निन्दितत्वाच्च साधुभिः ॥ अतो मुमुक्षुभिः श्रद्धा संपाद्या सात्त्विकी तथा ॥ ७ ॥ यज्ञादिकर्म कर्तव्यं चित्तशुद्ध्यात्मलब्धये ॥ ८ ॥ २८ ॥

श्रद्धात्रैविध्यमादौ सकलमखतपोदानसाद्गुण्यहेतो-
रोन्तत्सन्नाम चोक्तं श्रुतिविततफलं ब्रह्मविद्यादिहेतु ॥
श्रद्धाहीनं विनिन्द्यं सकलमपि कृतं येन संप्रोक्तमित्थं
तं श्रीकृष्णं गुरूणामपि परमगुरुं भूरिभावैर्नतोऽस्मि ॥ १ ॥
रजस्तमोद्भु खनिदानमाराभ्यक्त्वा समाश्रित्य गुणं विशुद्धम् ॥
हरेः पदाम्भोजयुगं सदैव ध्यात्वैव मोक्षो भवपाशबन्धात् ॥ २ ॥
तत्राप्यसामर्थ्यवतां जनानां यज्ञादि साद्गुण्यकरं हि विष्णोः ॥
नामत्रयं दोषगणापहं तत्प्रोक्तं मुमुक्षुः सततं भजेत ॥ ३ ॥
अनादिनिर्णीतमिदं मतं यत्सर्वेषु यज्ञादिषु नाम विष्णोः ॥
प्रधानमस्तीत्यत एतदेव स्मृत्वा विमुच्येत विकल्पजालात् ॥ ४ ॥

इति भावप्रकाशे श्रीसदानन्दविदा कृते ॥ श्रद्धात्रैविध्यबोधोऽयं पूर्तिं सप्तदशो गतः ॥
टीकाश्लोकसंख्या ॥ १३९ ॥ आदितष्टीकाश्लोकसंख्या ॥ ४६७० ॥

भा० टी०—तत्र सर्वत्रास्तिक्यलक्षणायाः श्रद्धायाः प्रधानतया सर्वं तयैव संपाद्यते यस्मात्तस्माद्दृढ-

या हुतं हव्यहवनं कृतं दत्तं च ब्राह्मणेभ्यो यत्तपस्तप्तं यच्चान्यत्कर्म स्तुतिनमस्कारादि कृतं तत्सर्वमसदि-त्युच्यते सत्प्राप्तिमार्गाद्बाह्यत्वात् असत्त्वमेव प्रतिपादयति। न च तद्बहुलायासमपि प्रेत्य मृत्वा फलाय नापीह यशोरूपफलाय साधुभिर्निन्दितत्वात्। हुतमित्युक्त्या विहिते कर्मणि श्रद्धावानधिकारी प्रतिषिद्धे तु श्रद्धारहितोऽपीति बोधितम्। एतेन निषेधलङ्घिनो नास्तिकस्य प्रत्यवायाभावप्रसङ्गो निरस्तः। ननु "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति श्रुत्या श्रद्धया कृतं वीर्यवत्तरं चेत् श्रद्धारहितमपि वीर्यवदित्यर्थात् बोधितमिति कथं भगवता प्रोक्तमसदित्युच्यत इति। नैष दोषः। यतः श्रुतिस्थ-श्रद्धापदं भक्तिरूपश्रद्धापरं स्मृतिस्थं तु विश्वासात्मकश्रद्धापरम्। एवं च नास्तिक्यबुद्ध्या कृतं सर्वं निर-र्थकमेवातो नास्तिक्यं श्रेयोर्थिभिः सर्वथैव हेयमिति भाव.। पृथापुत्रस्य तव तु कदापि तन्नोचितमिति सूचयन्संबोधयति—पार्थेति॥ २८॥

तदनेन सप्तदशाध्यायेन श्रद्धादित्रैविध्यं निरूपयता शास्त्रानभिज्ञानामपि सात्त्विकश्रद्धावता राजस-तामसाहारादिपरिवर्जनेन सात्त्विकाहारादिसेवया सत्त्वैकशरणाना प्राप्तमपि यज्ञादिवैगुण्यं ब्रह्मनामनिर्देशे-न परिहरता परिशुद्धबुद्धीना श्रवणादिना ब्रह्मात्मसाक्षात्कारो भवतीति प्रदर्शितम्॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यबालस्वामीश्रीपादशिष्यदत्तवंशावतंसरामकुमारसूनुधनपतिविदुषा विरचितायां गीताभाष्योत्कर्षदीपिकायां सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

प० टी०—अथाश्रद्धाकृतं सर्वं निन्दति—अश्रद्धयेति। असद्भावेऽश्रद्धया हुतं होमः, दत्तं दान, तप्तं निर्वर्तितं तपः यच्चान्यदपि पूर्वोक्तवत्कृतं तत्सर्वमसदित्युच्यते। यतः प्रेत्य लोकान्तरे न फलमिति विगुण-त्वात्। नेह चास्मिन् लोके फलति अयशस्करत्वात्। तस्माद्रजस्तमःप्रधाना श्रद्धा त्यक्त्वा सत्त्वमयी श्रद्धा श्रयेदित्यध्यायतात्पर्यम्॥ २८॥

अथाध्यायतात्पर्यम्।

प्राक्संस्कारानुरूपं विधिविधुरधियः श्रद्धया सयजन्ते दानाहारक्रियाद्यैस्त्रिविधगुणवशात्तत्फलं वै लभन्ते। तद्वैगुण्यं निहन्तुं प्रभवति तदोंतत्सदेषा त्रिवर्णी तेन ब्रह्मार्पणं स्यादिदमिति दशमे सप्तयुक्ते निरुक्तम्॥१॥

इति श्रीमद्दैवज्ञपण्डितसूर्यविरचितायां भगवद्गीताटीकायां परमार्थप्रपायां श्रद्धाविवेको नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

श्री० टी०—यज्ञादेः सात्त्विकत्वहेतुभूतधर्मानुक्त्वा तदन्यथात्वेऽपि हेतुभूतधर्मानाह—अश्रद्धयेति। भगवच्छ्रद्धाऽभावेनेत्यर्थः। हुतमित्यादौ शास्त्रानुसारेणेति योज्यम्। भगवच्छ्रद्धा विना शास्त्रानुसारेणानु-ष्ठितमपि यज्ञहोमादिकं तदसदेवोच्यते। तत्प्रेत्य न च, इह च नो। ऐहिकामुष्मिकपुमर्थप्रदं नेत्यर्थः। अतो भगवच्छ्रद्धाभक्त्यादिपूर्वकमेवानुष्ठितहोमादीनि इहामुत्रफलप्रदानीति श्रद्धैव प्रयोजिकेति सैव त्रिविधा भवति श्रद्धेत्यादिना प्राधान्येनोक्तेति भाव.। वस्तुतस्तु श्रद्धाऽभावे शास्त्रानुसारित्वमेव नेति ज्ञेयम्॥२८॥

इति श्रीगीतार्थसंग्रहे राघवेन्द्रयतिकृते सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अथ अष्टादशोऽध्यायः ।



अर्जुन उवाच–संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

त० टी०–अथेदानीमलसानामल्पबुद्धीनां मुमुक्षूणामेकेनैवाध्यायेन सम्यग्ज्ञातेन सर्वगीताध्यायार्थावगतये सर्वगीतार्थं संक्षिप्य वक्तुमयमध्याय आरभ्यते । तत्र पूर्वाध्यायान्ते " कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते" इत्यनेन परब्रह्मार्थस्यैव कर्मणः सत्त्वमुक्तं; तेन कर्मफलस्यैव त्यागो न तु कर्मण इति सूचितम्, ' सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ' इत्यनेन द्वादशेऽध्यायेऽपि कर्मफलस्यैव त्याग उक्तः । पञ्चमे तु ' सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ' इत्यने कर्मसंन्यास उक्तः । एवं सर्वकर्मसंन्यासं फलमात्रत्यागेन कर्मानुष्ठानं च परस्परविरुद्धं मुमुक्षवे सर्वज्ञो भक्तवत्सलो भगवान्कथमुपदिशेत् । तस्मात्संन्यासत्यागयोः स्वरूपैक्यं भेदो वेति संदेहेन तयोस्तत्त्वबुभुत्सयाऽर्जुन उवाच–संन्यासस्येति । महाबाहो केशिनिषूदनेति संबोधनाभ्यां शत्रुसंहारार्थं महान्तौ बाहू यस्य स तथा । दुर्जयमहासुरस्य केशिनः संहारकस्त्वं भक्तस्य ममापि शत्रूनाशयिष्यसीति सूचितम् । हे हृषीकेशेत्यनेन सर्वेन्द्रियेश ममान्तःसर्वसंशयनिवारणक्षमेदानीमिमं (मे) संशयं छिन्धीत्याह–संन्यासस्य । संन्यासशब्दार्थस्य तत्त्वं स्वरूपयाथात्म्यं वेदितुमिच्छामि । त्यागस्य च तत्त्वं स्वरूपयाथात्म्यं पृथग्वेदितुमिच्छामि । अत्र ' वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ।' ' न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः ' इत्यादिश्रुतिषु संन्यासस्त्यागश्च मोक्षसाधनतया विहितः । तथा " सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी" । "सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्" इति पूर्वं भवताऽपि द्वौ विहितौ । किमेतौ संन्यासत्यागशब्दौ भिन्नार्थौ ? उतैकार्थौ ? यदि भिन्नार्थौ तर्हि पृथक्त्वेन वक्तव्यौ । यद्येकार्थौ तर्हि तदवान्तरभेदनिमित्तं वक्तव्यम् । यथाऽहमसंदिग्धं तत्स्वरूपं जानीयां तथा विविच्य ब्रूहीत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

म० टी०–पूर्वाध्याये श्रद्धात्रैविध्येनाऽऽहारयज्ञतपोदानत्रैविध्येन च कर्मिणां त्रैविध्यमुक्तं सात्त्विकानामादानाय राजसतामसानां च हानाय । इदानीं तु संन्यासत्रैविध्यकथनेन संन्यासिनामपि त्रैविध्यं वक्तव्यम् । तत्र तत्त्वबोधानन्तरं यः फलभूतः सर्वकर्मसंन्यासः स चतुर्दशेऽध्याये गुणातीतत्वेन व्याख्यातत्वान्न सात्त्विकराजसतामसभेदमर्हति । योऽपि तत्त्वबोधात्प्राक् तदर्थं सर्वकर्मसंन्यासस्तत्त्वबुभुत्सया वेदान्तवाक्यविचाराय भवति सोऽपि "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" इत्यादिना निर्गुणत्वेन व्याख्यात. । यस्त्वनुत्पन्नतत्त्वबोधानामनुत्पन्नतत्त्वबुभुत्सूनां च कर्मसंन्यासः "स संन्यासी च योगी च" इत्यादिना गौणो व्याख्यातस्तस्य त्रैविध्यसंभवात्तद्विशेषं बुभुत्सुः अर्जुन उवाच–संन्यासस्येति । अविदुषामनुत्पन्नविविदिषाणां च कर्माधिकृतानामेव किंचित्कर्मपरिग्रहेण किंचित्कर्मपरित्यागो यः स त्यागांशगुणयोगात् संन्यासशब्देनोच्यते । एतादृशस्यान्तःकरणशुद्ध्यर्थमविद्वत्कर्माधिकारिकर्तृकस्य संन्यासस्य केनचिद्रूपेण कर्मत्यागस्य तत्त्वं स्वरूपं पृथक् सात्त्विकराजसतामसभेदेन वेदितुमिच्छामि । त्यागस्य च तत्त्वं वेदितुमिच्छामि । किं संन्यासत्यागशब्दौ घटपटशब्दाविव भिन्नजातीयार्थौ किं वा ब्राह्मणपरिव्राजकशब्दाविवैकजातीयार्थौ । यद्याद्यस्तर्हि त्यागस्य तत्त्वं संन्यासात्पृथक् वेदितुमिच्छामि । यदि द्वितीयस्तर्हिं वान्तरोपाधिभेदमात्रं वक्त-

न्यम्। एकव्याख्यानेनैवोभयं व्याख्यातं भविष्यति। महाबाहो केशिनिषूदनेति संबोधनाभ्यां बाह्योपद्रवनिवारणस्वरूपयोग्यताफलोपधाने प्रदर्शिते। हृषीकेशेत्यन्तरुपद्रवनिवारणसामर्थ्यमिति भेदः। अत्यनुरागात्संबोधनत्रयम्। अत्रार्जुनस्य द्वौ प्रश्नौ कर्माधिकारिकर्तृकत्वेन पूर्वोक्तयज्ञादिसाधर्म्येण संन्यासशब्दप्रतिपाद्यत्वेन च गुणातीतसंन्यासद्वयसाधर्म्येण त्रैगुण्यसंभवासंभवाभ्यां संशयः प्रथमस्य प्रश्नस्य बीजम्। द्वितीयस्य तु संन्यासत्यागशब्दयोः पर्यायत्वात् कर्मफलत्यागरूपेण च वैलक्षण्योक्तेः संशयः बीजम् ॥१॥

शं० टी०—सात्त्विक्या श्रद्धया समन्वितस्य सात्त्विकैर्यज्ञतपोदानादिभिः परिशुद्धात्मन एव ब्राह्मणादेर्ज्ञानाधिकार इति सूचयितुं श्रद्धया यज्ञतपोदानादीनां हेयत्वोपादेयत्वविज्ञानाय तेषां सात्त्विकत्वादिभेदं च विभज्य सम्यग्दर्शयित्वाऽधुना त्यागसंन्यासशब्दयोरेकार्थत्वं काम्यनिषिद्धयोरेव त्याज्यत्वं नित्यानां तु यज्ञदानादीनां नियमेन कर्तव्यत्वं त्यागस्य सात्त्विकत्वादिभेदं नैष्कर्म्यसिद्धिलक्षणज्ञानस्य कर्मणश्च कर्तुश्च बुद्धेर्धृतेश्च सुखस्य च सात्त्विकत्वं राजसत्वं तामसत्वं च ब्राह्मणादीनां कर्माणि च तैः प्रसन्नान्तःकरणस्य ज्ञानं तद्वतो यतेर्ज्ञाननिष्ठां च परमात्मस्वरूपवेदनप्रकारं ब्रह्मप्राप्तिं चैवमादिकं सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सर्वोपनिषदां चार्थं सर्वं संगृह्यैकत्र प्रतिपादयितुमष्टादशाध्याय आरभ्यते। तत्रादौ 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा' इति, 'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः' इति, 'संन्यासयोगयुक्तात्मा' इति 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्' इति, 'सर्वकर्मफलत्यागम्' इति च तत्र तत्र कर्मसंन्यासकर्मफलत्यागौ प्रतिपादितौ। कर्मफलत्यागेन कर्मानुष्ठानं कर्मसंन्यासं चोभयं स्मृत्वा एकस्मिन्नेवाश्रमे तयोरनुष्ठानानुपपत्तिं मन्यमानस्तदनुष्ठानप्रकारं ज्ञातुमिच्छुरर्जुन उवाच—संन्यासस्येति। संन्यासस्य संन्यासशब्दार्थस्य त्यागस्य त्यागशब्दार्थस्य च, चः समुच्चयार्थः। पृथग्विभज्य तत्त्वं याथार्थ्यं निश्चितमर्थं त्वत्तो वेदितुमिच्छामि। मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्येति, योगसंन्यस्तकर्माणमिति, सर्वकर्मफलत्यागमिति च तत्र तत्र त्वयोक्तयोः संन्यासत्यागशब्दयोः प्रत्येकमर्थविशेषं विज्ञातुमिच्छामि। हे केशिनिषूदन केशिनामानं दैत्यं निषूदितवानिति हे केशिनिषूदनेति संबुद्धिः। गृहमेधिविषये यथा ब्रह्मचर्यशब्दस्य यथा वाऽहिंसाशब्दस्य चार्थविशेषस्तथा संन्यासशब्दस्य त्यागशब्दस्य चार्थविशेषो वक्तव्य इत्यर्थः ॥ १ ॥

श्री० टी०—न्यासत्यागविभागेन सर्वगीतार्थसंग्रहम् ॥ स्पष्टमष्टादशे प्राह परमार्थविनिर्णये ॥ १ ॥ अत्र च 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। संन्यासयोगयुक्तात्मा' इत्यादिषु कर्मसंन्यास उपदिष्टः, तथा 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥' इत्यादिषु च फलमात्रत्यागेन कर्मानुष्ठानमुपदिष्टम्। न च परस्परं विरुद्धं सर्वज्ञः परमकारुणिको भगवानुपदिशेत्। अतः कर्मसंन्यासस्य तदनुष्ठानस्य चाविरोधप्रकारं बुभुत्सुरर्जुन उवाच—संन्यासस्येति। भो हृषीकेश सर्वेन्द्रियनियामक हे केशिनिषूदन केशिनाम्नो हि महतो हयाकृतेर्दैत्यस्य युद्धे मुखं व्यादाय भक्षयितुमागच्छतोऽत्यन्तं व्यात्ते मुखे वामबाहुं प्रवेश्य तत्क्षणमेव विवृद्धेन तेनैव बाहुना कर्कटिकाफलवत्तं विदार्य निषूदितवान्। अत एव हे महाबाहो इति संबोधनम्। संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथग्विवेकेन वेदितुमिच्छामि ॥ १ ॥

स० टी०—अखण्डानन्दाद्यं निगमशिरसा भावविषयं मुनीन्द्रैराराध्यं परमपदमीशानमकलम्॥ विशुद्धया सद्भक्त्या सपदि सुजनैः प्राप्यममृतं मुकुन्दं वन्देऽहं भ्रमतिमिरविध्वंसिचरणम् ॥ १ ॥ शरण्यं सुखाद्यं सनकमुखसद्भिर्हृदि धृतं महायोगेशानं सुरनरजगद्धेतुममलम्॥ चिदानन्दाकारं सकलरससारं हरिपदं सदा स्मारं स्मारं भवजलधिपारं सुकृलये ॥ २ ॥ प्राग्विक्षिप्ततया प्रोक्तं विस्तरेण यतस्ततः ॥ शास्त्रार्थमुपसंहृत्याधुना संक्षेपतोऽखिलम् ॥ ३ ॥ अनायासेन बोधार्थमभिधातुमुपक्रमः ॥ गीताशास्त्रस्य

सर्वस्याध्यायेऽस्मिन्नर्थसंग्रहः ॥ ४ ॥ वेदार्थस्य च सर्वस्य वक्तव्योऽस्तीत्यवोऽर्जुनः ॥ अष्टाविंशत्यतः पूर्वाध्याये यज्ञादिकर्मणाम् ॥ ५ ॥ त्रैविध्यमुक्तमाकर्ण्य संन्यासेऽप्यस्ति संभवः ॥ त्रैविध्यस्येति जिज्ञासुरुवाच श्रीहरिं प्रति ॥ ६ ॥ कर्माधिकारिणामेव किंचित्कर्मपरिग्रहात् ॥ किंचित्कर्मपरित्यागस्त्यागाशगुणयोगतः ॥ ७ ॥ संन्यासशब्दतः प्रोक्तस्तस्य चित्तविशुद्धये ॥ अविद्वत्कर्तृकस्यापि संन्यासस्य यथार्थतः ॥ ८ ॥ पृथक्त्वरूपमिच्छामि वेदितुं गुणभेदतः ॥ त्यागस्यापि स्वरूपं च सम्यगिच्छामि वेदितुम् ॥ ९ ॥ संन्यासत्यागशब्दौ किं भिन्नार्थौ वैकवाचकौ ॥ आद्यश्चेत्तर्हि संन्यासात्तत्त्वं त्यागस्य वै पृथक् ॥ १० ॥ इच्छामि बोद्धुमन्त्यश्चेदेकेनोभयनिर्णयम् ॥ द्वाभ्यां संबोधनाभ्यां च बाह्योपद्रववारणे ॥ ११ ॥ सामर्थ्यं दर्शयित्वान्तर्गतद्वेषनिवारणे ॥ हृषीकेशेति सामर्थ्यं भक्तानामिति दर्शितम् ॥ १२ ॥ हरावत्यनुरागाद्वा ज्ञेयं संबोधनत्रयम् ॥ १३ ॥ १ ॥

भा० टी०—नमः समाय सोमाय मखार्च्याय मखारये ॥ कृष्णायाकृष्णरूपाय विष्णवे शंभवे नमः ॥ १ ॥ पूर्वाध्यायैर्विस्तरेणेतस्ततो विक्षिप्तवयोक्तमर्थमुपनिषत्सु चेतस्ततो विस्तृतमर्थं सुखप्रतिपत्तये उपसंहृत्य वक्तुमयमध्याय आरभ्यते । अतीताध्यायेषूक्तस्य सर्ववेदार्थस्यास्मिन्नध्याये ऽवगम्यमानत्वात् । अर्जुनस्तु संन्यासत्यागशब्दार्थयोरेव विशेषं बुभुत्सुरुवाच—संन्यासस्येति । संन्यासस्य संन्यासशब्दार्थस्य त्यागस्य च त्यागशब्दार्थस्य च पृथगन्योन्यविभागवत्तत्त्वं याथात्म्यं वेदितुं ज्ञातुमिच्छामि । हे महाबाहो इति संबोधयन् तव बाहुतो जातैः क्षत्रियैः महाबाहुभिरितरैर्बाह्वादिसाध्ये कर्मण्यधिकृतैरन्यैश्च कृतस्य संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथग्वेदितुमिच्छामीति ध्वनयति । सर्वेन्द्रियनियन्तुरन्तर्यामिणः सर्वज्ञस्य मदभिप्रायानुसारेणैतत् कथनं सुकरमिति बोधयन्नाह—हृषीकेशेति । स्वजनसुखार्थं केश्यादिदुष्टनिषूदनस्य तव स्वभक्तस्य ममाप्यज्ञाननिषूदनं युक्तमेवेति सूचयन्संबोधयति—केशिनिषूदनेति ॥ १ ॥

म० टी०—अन्तर्यामिस्वरूपेण गुरुणा येन दर्शितम् । निजस्वरूपं तं वन्दे गोविन्दमजमद्वयम् ॥ १ ॥ पूर्वं पश्चिमाध्याये 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य' इति तथा 'संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि' इत्यादिवाक्यैः कर्मसंन्यासः प्रशंसितोऽनन्तरं सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् इत्यादिना फलमात्रत्यागेन कर्मानुष्ठानमुपदिष्टम् । तत्परस्परविरुद्धमिति संदेहे तयोस्तत्त्वं जिज्ञासुरर्जुनः पुनः पृच्छति स्म—संन्यासस्येति । भो हृषीकेश सर्वेन्द्रियेश स्वामिन् संन्यासस्य फलत्यागस्य च तत्त्वं रहस्यं पृथग्वेदितुं पृथक्प्रकारेण ज्ञातुमिच्छामि । केशिनाम्नो हयाकृतेर्दैत्यस्य युद्धे वर्तमानवामबाहुप्रसारप्रवेशनेन तं निषूदितवान् नाशितवानत एव महाबाहो इति संबुद्धिः । केश्यादिमहादैत्यवारणसमर्थस्य तवास्मत्संदेहापाकरणे कियानायास इत्यर्थः ॥ १ ॥

रा० टी०—पूर्वाध्यायेषु सर्वेषु 'त्रैगुण्यविषया वेदा' इत्यादिना यत्पुमर्थहेतुज्ञानसाधनं विप्रकीर्णतयोक्तं तदिह मन्दानां बुद्ध्यारोहाय संक्षिप्य निरूप्यते । तथा चतुर्दशाध्यायोक्तं त्रिगुणकार्यं चोच्यते । संन्यासश्च योगश्चेत्यादिना पञ्चमादौ संन्यासस्य त्यागाच्छान्तिरनन्तरमिति द्वादशे त्यागस्य च पुमर्थहेतुत्वमुक्तम् । तयोः स्वरूपनिर्णयाय पृच्छति—संन्यासस्येति । हे हृषीकेश सर्वेन्द्रियस्वामिन् । केशिनामकासुरमर्दन । संन्यासस्य त्यागस्य च पृथक् तत्त्वं स्वरूपं वेदितुं ज्ञातुमिच्छामि । द्वयोरपि शब्दयोरापाततोऽर्थैक्यप्रतीतेरिति भावः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच—काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ॥
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

त० टी०–अथैतयोः स्वरूपैक्यं यथा स्यात्तथा वक्तुं तावदस्मिन्विषये मतान्तराणि दर्शयन् श्रीभगवानुवाच—काम्यानामिति । " स्वर्गकामो यजेत । पुत्रकामो यजेत । वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः " इत्यादिभिर्वाक्यैः सकाममधिकृत्य विहितानां पशुयागपुत्रेष्ट्यादीनां कर्मणां न्यासं त्यागमननुष्ठानं संन्यासं संन्यासशब्दार्थं कवयः केचित्पण्डिता विदुर्जानन्ति । तथाऽऽह मनुः– "मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः । नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया । " इति नित्यनैमित्तिकानामनुष्ठीयमानानां सर्वेषां कर्मणां फलत्यागं त्यागशब्दार्थं प्राहुर्विचक्षणा विवेकिनः । फलत्यागेनापि त्यागशब्दस्य मुख्यार्थत्वात् । ननु " अहरहः सन्ध्यामुपासीत । यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति " इत्यादिषु फलश्रवणाभावादेषां फलमेव नास्ति कथं तत्त्यागवचनमिति चेन्न " धर्मेण पापमपनुदति । कर्मणा पितृलोकः " इत्यादिश्रुतिषु श्रवणात् तत्त्यागस्य संभवात् । किंच " अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते " इति श्रुतौ अविद्याशब्दनिर्दिष्टस्ववर्णाश्रमोचितकर्मणो मृत्युशब्दनिर्दिष्टप्रमादतरणोपायत्वरूपफलस्यापि सत्त्वात् । " स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः " इति भवता वक्ष्यमाणत्वाच्च । तदत्यागे दोषाभावात् । काम्यकर्मणां तु " गतागतं कामकामा लभन्ते " इति संसरणहेतुत्वाभिधानान्न मृत्युतरणोपायसिद्धिहेतुत्वसंभावनाऽपीत्यलं विस्तरेण ॥ २॥

म० टी०–तत्राग्रिमस्य सूचीकटाहन्यायेन निराकरणायोत्तरम्—काम्यानामिति । काम्यानां फलकामनया चोदितानामन्तःकरणशुद्धावनुपयुक्तानां कर्मणामिष्टिपशुसोमादीनां न्यासं त्यागं संन्यासं विदुर्जानन्ति कवयः सूक्ष्मदर्शिनः केचित् । 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ' इति वाक्येन वेदानुवचनशब्दोपलक्षितस्य ब्रह्मचारिधर्मस्य यज्ञदानशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य गृहस्थधर्मस्य तपोऽनाशकशब्दाभ्यामुपलक्षितस्य वानप्रस्थधर्मस्य नित्यस्य नित्येहितेन पापक्षयेण द्वारेणात्मज्ञानार्थत्वं बोध्यते । न च विनियोगवैयर्थ्यं ' ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ' इत्यनेनैव लब्धत्वादिति वाच्यम् । विनियोगाभावे हि सत्यपि नित्यकर्मानुष्ठाने ज्ञानं स्याद्वा न वा स्यात् , सति तु विनियोगे ज्ञानमवश्यं भवेदेवेति नियमार्थत्वात् । तस्मान्नित्यकर्मणामेव वेदने विविदिषायां वा विनियोगात् सत्त्वशुद्धिविविदिषोत्पत्तिपूर्वकवेदनार्थिना नित्यान्येव कर्माणि भगवदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठेयानि । काम्यानि तु सर्वाणि सफलानि परित्याज्यानीत्येकं मतम् । अपरं मतं सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः, सर्वेषां काम्यानां च प्रतिप्रदोक्तफलत्यागं सत्त्वशुद्ध्यर्थितया विविदिषासंयोगेनानुष्ठानं विचक्षणा विचारकुशलास्त्यागं प्राहुः । 'खादिरो यूपो भवति' 'खादिरं वीर्यकामस्य यूपं करोति' इत्यत्र यथैकस्य खादिरत्वस्य क्रतुप्रकरणपाठात् फलसंयोगाच्च क्रत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वं च प्रमाणभेदात् यथाऽग्निहोत्रेष्टिपशुसोमानां सर्वेषामपि शतपथपठितानां चोत्पत्तिविधिसिद्धानां तत्तत्फलसंयोगः प्रत्येकवाक्येन विविदिषासंयोगश्च यज्ञादिवाक्येन क्रियत इत्युपपन्नम् 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इति न्यायात् । तदुक्तं संक्षेपशारीरके—'यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा स्वोत्पत्त्याम्नानसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ।।' इति । तस्मात्काम्यान्यपि फलाभिसंधिमकृत्वाऽन्तःकरणशुद्धये कर्तव्यानि । न ह्यग्निहोत्रादिकर्मणां स्वतः काम्यत्वनित्यत्वरूपो विशेषोऽस्ति । पुरुषाभिप्रायभेदकृतस्तु विशेषः फलाभिसन्धित्यागे कुतस्त्यः । नित्यकर्मणां च प्रातिस्विकफलसद्भावम् 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ' इत्यत्र वक्ष्यति । नित्यानामेव विविदिषासंयोगेन काम्यानां कर्मणां फलेन सह स्वरूपतोऽपि परित्यागः पूर्वार्धस्यार्थः । काम्यानां नित्यानां च संयोगपृथक्त्वेन विविदिषासंयोगवशात् स्वरूपतोऽनुष्ठानेऽपि प्रातिस्विकफलाभिसंधिमात्रपरित्याग इत्युत्तरार्धस्यार्थः । तदेतदाहुर्वार्तिककृतः—'वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने । समेतमिति वाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥ यद्वा

विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् । तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ' इति । तदेवं सफलकाम्य-कर्मत्यागः संन्यासशब्दार्थः । सर्वेषामपि कर्मणां फलाभिसंधित्यागस्त्यागशब्दार्थ इति न घटपटशब्दयोरिव संन्यासत्यागशब्दयोर्भिन्नजातीयार्थत्वं किं त्वन्तःकरणशुद्धयर्थकर्मानुष्ठाने फलाभिसंधित्याग इत्येक एवार्थ उभयोरिति निर्णीत एकः प्रश्नोऽर्जुनस्य ॥ २ ॥

शं० टी०—एवादशमर्जुनप्रश्नतात्पर्यं विज्ञाय "संन्यासयोगाद्यतय इति" " त्यागेनैके अमृतत्वम् " इति श्रवणात् मयेदं संन्यस्तं त्यक्तमिति संन्यासत्यागशब्दयोर्लोके वेदे च विसर्ग एक एवार्थो न त्वर्थान्तरमस्ति, तथापि गृहिविषये तयोरर्थं केचिदन्यथा वर्णयन्ति तेषां मतमिमं वक्ष्यामि शृण्विति श्रीभगवानुवाच—काम्यानामिति । पुत्रकामो यजेत, स्वर्गकामो यजेत, पशुकामो यजेतेति एवं कामोपबन्धेन विहितानां काम्यानां ज्योतिष्टोमादिकर्मणां न्यासं परित्यागमेव गृहस्थस्य संन्यासमिति केचित्कवयो विद्वांसो विदुर्जानन्ति । काम्यकर्मपरित्याग एव मुमुक्षोर्गृहिणः संन्यास इति वदन्तीत्यर्थः । केचित्पदं सर्वत्रान्वेति । केचिद्विचक्षणाः पण्डिताः सर्वकर्मफलत्यागं सर्वेषां काम्यानामकाम्यानां नित्यनैमित्तिकानां च कर्मणां फलत्यागं फलमात्रस्य परित्यागं त्यागं संन्यासं प्राहुः । कामेन चाऽकामेन वा विधिना कर्तव्यत्वेन प्राप्तानि वैदिकानि कर्माण्यनुष्ठायेश्वरार्पणबुद्धया तत्फलपरित्याग एव गृहिणोऽधिकृतस्य संन्यासो न तु कर्मत्याग इति केचिद्वदन्तीत्यर्थः । ननु यः पशुकामः स्यात्स एतं प्राजापत्यमजं तूपरमालभेत स वा एतस्मै प्रजां पशून् प्रजनयति " इति काम्यकर्मणां यथा फलं श्रूयते, न तथा " अहरहः संध्यामुपासीत । सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति । अहरहर्यजमानः स्वयमेवाग्निहोत्रं जुहोति " इत्यादिषु नित्यानां कर्मणां फलं श्रूयते । कथमविद्यमानस्य फलस्य त्याग उपपद्यते ब्रह्मचारिणो भार्यात्यागवदिति चेन्न 'कर्मणा पितृलोकः' इति 'धर्मेण पापमपनुदति ' इति 'सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति' इति 'अग्नीन्हुत्वा विधानेन यत्पुण्यं फलमाप्नुयात्' इति नित्यानामपि फलश्रवणात् । 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च' इति भगवतापि नित्यानां फलमुच्यते, ततोऽस्त्येव नित्यानामपि फलमन्यथा फलत्यागविधानायोगात्तस्माद्युक्तमेवोक्तं 'सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः' इति । ततः सिद्धं गृहिणां कर्मफलत्याग एव त्यागः संन्यासो न तु सर्वकर्मत्याग इति ॥ २ ॥

श्री० टी०—उत्तरं श्रीभगवानुवाच—काम्यानामिति । " पुत्रकामो यजेत । स्वर्गकामो यजेत " इत्येवमादिकामोपबन्धेन विहितानां काम्यानां कर्मणां न्यासं परित्यागं संन्यासं कवयो विदुः—सम्यक्फलैः सह सर्वकर्मणामपि न्यासं संन्यासं पण्डिता विदुः जानन्तीत्यर्थः । सर्वेषां काम्यानां नित्यनैमित्तिकानां च कर्मणां फलमात्रत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा निपुणाः न तु स्वरूपतः कर्मत्यागम् । ननु नित्यनैमित्तिकानां फलाश्रवणादविद्यमानस्य कथं त्यागः स्यात् ? नहि वन्ध्यायाः पुत्रत्यागः संभवति । उच्यते, यद्यपि स्वर्गकामः पशुकाम इत्यादिवत् " अहरहः संध्यामुपासीत । यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति " इत्यादिषु फलविशेषो न श्रूयते तथाप्यपुरुषार्थे व्यापारे प्रेक्षावन्तं प्रवर्तयितुमशक्नुवन् विधिर्विश्वजिता यजेतेत्यादिष्विव सामान्यतः किमपि फलमाक्षिपत्येव । नचाविनष्टकुलमतश्रद्धया स्वविधिरेव विधेः प्रयोजनमिति मन्तव्यं, पुरुषप्रवृत्त्यनुपपत्तेर्दुष्परिहरत्वात् । श्रूयते च नित्यादिष्वपि फलम् " सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति " इति " कर्मणा पितृलोकः " इति " धर्मेण पापमपनुदति " इत्येवमादिषु, तस्माद्युक्तमुक्तम् 'सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः' इति । ननु फलत्यागेन पुनरपि निष्फलेषु कर्मस्वप्रवृत्तिरेव स्यात्तन्न सर्वेषामपि कर्मणां संयोगपृथक्त्वेन विविदिषार्थतया विनियोगात् । तथा च श्रुतिः—" तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन " इति । अतः प्रतिपदोक्तं सर्वं फलं बन्धकत्वेन त्यक्त्वा विविदिषार्थं सर्वकर्मानुष्ठानं घटत एव । विविदिषा च नित्यानित्यवस्तुविवेकेन

निवृत्तदेहाभिमानतया बुद्धेः प्रत्यक्प्रवणता । तावत्पर्यन्तं च सत्त्वशुद्ध्यर्थं ज्ञानाविरुद्धं यथोचितमावश्यकं कर्म कुर्वतस्तत्फलत्याग एव कर्मत्यागो नाम न स्वरूपेण । तथाच श्रुतिः "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इति । ततः परं तु सर्वकर्मनिवृत्तिः स्वत एव भवति । तदुक्तं नैष्कर्म्यसिद्धौ—'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः । कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव ॥' इति । उक्तं च भगवता 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥' इति । वसिष्ठेन चोक्तम् 'न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ । कर्मणो मूलभूतस्य संकल्पस्यैव नाशतः ॥' इति । ज्ञाननिष्ठाविक्षेपकत्वमालक्ष्य त्यजेद्वा । तदुक्तं भगवता भागवते—'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वाऽनपेक्षकः । सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥' इत्यादि । अलमतिप्रसङ्गेन प्रकृतमनुसरामः ॥ २ ॥

स० टी०—सूचीकटाहन्यायादौ तत्रान्त्यस्योत्तरं हरिः ॥ उवाच शृणु काम्यानां चोदितानां फलेप्सया ॥१॥ शुद्धावनुपयुक्तानां पशुसोमादिरूपिणाम् ॥ त्यागं जानन्ति संन्यासं कवयः सूक्ष्मदर्शिनः ॥२॥ अन्येऽनुष्ठीयमानानां सर्वेषामेव कर्मणाम् ॥ धीशुद्ध्यर्थं फलत्यागं प्राहुस्त्यागं विदां वराः ॥ ३ ॥ संयोगस्य पृथक्त्वेन सर्वेषामपि कर्मणाम् ॥ तमेतमितिवाक्येन युभुत्साया नियोगतः ॥ ४ ॥ वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने ॥ तमेतमितिवाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥ ५ ॥ यद्वा विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् ॥ तमेतमितिवाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥ ६ ॥ इत्युक्तं वार्तिके तस्मादेवं सिद्धं विभागशः ॥ काम्यकर्मपरित्यागः संन्यास इति शुब्दितः ॥ ७ ॥'फलाभिसंधिसंत्यागस्त्यागशब्दार्थको मतः ॥ धीशुद्ध्यर्थमनुष्ठाने कर्मणां फलवर्जनम् ॥ ८ ॥ उभयोरेक एवार्थः संन्यासत्यागशब्दयोः ॥ ९ ॥ २ ॥

भा० टी०—एवं पृष्टो ज्ञातार्जुनाभिप्रायः सर्वेष्वध्यायेषु तत्र तत्र निर्दिष्टौ संन्यासत्यागशब्दौ न विविक्तार्थावित्यतः प्रश्नौचित्यं मत्वा तन्निर्णयाय श्रीभगवानुवाच—काम्यानामिति । काम्यानां स्वर्गादिकामनाप्रयुक्तानामश्वमेधादीनां कर्मणां न्यासं परित्यागं संन्यासं संन्यासशब्दार्थमनुष्ठेयत्वेन प्राप्तानामननुष्ठानं कवयः पण्डिताः केचिद्विदुः विजानन्ति । नित्यनैमित्तिकानामनुष्ठीयमानानां सर्वकर्मणामात्मसंबन्धितया प्राप्तस्य फलस्य परित्यागः सर्वकर्मफलत्यागः तं त्यागं त्यागशब्दार्थं विचक्षणाः निपुणाः पण्डिताः कथयन्ति । ननु नित्यनैमित्तिकानां कर्मणां फलाभावात् वन्ध्यापुत्रस्य त्याग इव तेषां फलत्यागासंभवात् उक्तस्त्यागशब्दार्थो न युक्त इति चेदुच्यते—यद्यपि स्वर्गकामः पशुकाम इत्यादिवत्संध्यामुपासीत यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिषु फलविशेषो न श्रूयते तथाप्यपुरुषार्थे व्यापारे प्रेक्षावन्तं प्रवर्तयितुमशक्नुवन् विधिर्विश्वजिन्न्यायेन किमपि फलमाक्षिपत्येव । श्रूयते च नित्यादिषु फलम् "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति । कर्मणा पितृलोकः । धर्मेण पापमपनुदति" इत्येवमादिषु । वक्ष्यति च भगवान् 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥' इति । तस्माद्युक्तमुक्तं 'सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः' इति । नन्वेवमपि निष्फलेषु कर्मस्वप्रवृत्तिरेव प्राप्तेति वाच्यं, सर्वेषामपि कर्मणां संयोगपृथक्त्वेन "तमेतमात्मानं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इतिश्रुत्या विविदिषार्थतया विनियोगात् । तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः 'वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने । तमेतमितिवाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः ॥ यद्वा विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् । तमेतमितिवाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः ॥' इति । तथाच चतुर्थाध्यायस्थं पारमर्षसूत्रं 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इति । 'खादिरो यूपो भवति । खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत' इत्यत्रैकस्य खादिरत्वस्योभयत्वे क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वरूपोभयात्मकत्वे वचनद्वयेन क्रतुशेषत्वफलशेषत्वसंयोगभेदावगमान्न नित्यानित्यसंयोगविरोधः । तथा सर्वेषां

कर्मणां स्वोत्पत्तिविधिसिद्धानां प्रत्येकं वाक्येन तत्तत्फलसंयोगः तमेतमितिवाक्येन विविदिषासंयोगश्च सिध्यत इति ॥ २ ॥

प० टी०—एतत्प्रश्नोत्तरं भगवानाह—काम्यानामिति । काम्यानीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि तेषां सम्यक् फलैः सह न्यासः परित्यागस्तं कवयः पण्डिताः संन्यासं विदुर्जानन्ति । तथा काम्यातिरिक्तानां सर्वेषां कर्मणां नित्यनैमित्तिकानामवान्तरफलत्यागं विचक्षणाः कुशलास्त्यागं प्राहुः । अत्रैतदुक्तं भवति । नित्यान्यकरणे प्रत्यवायसाधनानि संध्यावन्दनादीनि । नैमित्तिकानि पुत्रजन्माद्यनुबन्धीनि जातेष्ट्या-दीनि । प्रायश्चित्तानि, पापक्षयसाधनानि चान्द्रायणादीनि । उपासनानि सगुणब्रह्मविषयमानसव्यापा-ररूपाणि शाण्डिल्यविद्यादीनि । एतेषां नित्यादीनां बुद्धिशुद्धिः परमप्रयोजनम् , उपासनानां तु तदैका-ग्र्यम् "विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिश्रुतेः 'तपसा कल्मषं हन्ति' इत्यादिस्मृतेश्च । नित्यनैमित्तिकयोरुपास-नानां चावान्तरफलं पितृलोकसत्यलोकप्राप्तिः "कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाꣳ श्रेष्ठः" इति श्रुतेः । सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुः ॥ २ ॥

श्री० टी०—अथाप्यत्र विवक्षाभेदेन भेदं इवभावेनोत्तरमाह—काम्यानामिति । वैकल्पिककाम्यानां ज्योतिष्टोमादीनां स्वर्गादिफलानिच्छया विशेषणत्यागेन काम्यानां कर्मणां त्यागं नियतकाम्यानां कारी-र्यादीनां स्वरूपाकरणेन त्यागं संन्यासं ज्ञानिनो विदुः जानन्ति । विचक्षणाः कुशलाः सर्वकर्मणां भगव-त्यर्पितत्वात्फलत्यागं त्यागशब्दार्थमाहुरित्यर्थः ॥ २ ॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

त० टी०—पुनर्मतान्तरमाह—त्याज्यमिति । एके मनीषिणः सांख्याचार्या दोषवत् हिंसादोष-वत्त्वेन बन्धकमिति हेतोः सर्वं यज्ञादिकं कर्म मुमुक्षुणा त्याज्यमिति प्राहुः । तत्र यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे पण्डिताः कर्मनिष्ठाः प्राहुः ॥ ३ ॥

म० टी०—अधुना द्वितीयप्रश्नप्रतिवचनाय संन्यासत्यागशब्दार्थस्य त्रैविध्यं निरूपयितुं तत्र विप्रतिपत्ति-माह—त्याज्यमिति । सर्वं कर्म बन्धहेतुत्वात् दोषवत् दुष्टम् । अतः कर्माधिकृतैरपि कर्म त्याज्यमेवेत्येके मनीषिणः प्राहुः । यद्वा दोषवत् दोष इव यथा दोषो रागादिस्त्यज्यते तद्वत्कर्म त्याज्यमनुत्पन्नबोधैरनुत्प-न्नविविदिषैः कर्माधिकारिभिरपीत्येकः पक्षः । अत्र द्वितीयः पक्षः कर्माधिकारिभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा विवि-दिषोत्पत्त्यर्थं यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे मनीषिणः प्राहुः ॥ ३ ॥

श्री० टी०—एवं संन्यासत्यागयोरेकत्वेऽपि मतभेदेन काम्यकर्मत्यागस्य सर्वकर्मफलत्यागस्य च संन्या-सशब्दार्थत्वं प्रतिपाद्य पुनरपि त्यागशब्दस्य मतान्तरेणार्थान्तरं वर्णयति—त्याज्यमिति । एके केचन मनीषिणो विद्वांसः दोषवद्दोषो दूषणं निषेधलक्षणमस्यास्तीति दोषवद्दोषयुक्तं 'न कलञ्जं भक्षयेत् । न सुरां पिबेत् ।' इत्यादिशास्त्रप्रतिषिद्धं दुर्गतिर्दुर्योनेश्च प्रापकं कलञ्जभक्षणादिलक्षणं पातकं यत्तत्कर्म त्याज्यं त्यक्तव्यमिति प्राहुः । दोषवत्कर्मणस्त्याग एव त्यागो न तु काम्यानां नापि कर्मफलस्य च त्यागशब्दार्थत्वेपा दुर्गतिदुर्योनिप्रापकत्वाभावात्फलाभावे प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यसंभवाच्च "यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते" इत्यादिश्रुति-विरोधप्रसङ्गाच्च । "यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि" इत्युदुक्तकर्मणां वैदिकानां कर्तव्यत्वश्रवणाच्च । तस्माद्दोषवत्कर्मत्याग एव त्यागः संन्यास इति केचिद्वदन्तीत्यर्थः । यद्वा मनीषिणः प्रकृतिविकृतिविलक्षण-मात्मानमसङ्गचिद्रूपं मन्तुं शीलं येषामस्ति ते मनीषिणः केचित्पण्डिताः सांख्याः—दोषवत् " न हिंस्यात्स-

र्वा भूतानि" इति प्राणिमात्रस्य हिंसानिषेधके श्रुतिवचने जागर्ति सति 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इति निषेधो बुद्धिपूर्वकहिंसाया दोषाधिकत्वबोधनार्थ एव भवति, न तु बुद्धिपूर्विका भूतहिंसा दोषहेतुर्न कर्तव्येत्येवमर्थो भवति। तथात्वे त्वबुद्धिपूर्विकाया हिंसाया दोषाभावप्रसङ्गाद्विशेषविध्यनर्थत्वप्रसङ्गाच्च । ततो दोषाधिकत्वबोधकत्वमेव विशेषविधेरभ्युपगन्तव्यम् । तेनाग्नीषोमीयपशुहिंसायामपि बुद्धिपूर्वकत्वाद्दोषाधिकत्वमेव भवति । उभयत्रापि बुद्धिपूर्वकत्वाविशेषात्तर्ह्यग्नीषोमीयं पशुमालभेतेतिविधेर्व्यर्थत्वमेव स्यादिति चेन्न । प्रकारान्तरेणार्थवत्तासिद्धेः । रागतः प्राप्तामिषसेवाया अग्नीषोमीययजनव्याजेनावकाशप्रदानपरत्वाद्विधिः सार्थ एव भवति । यथा रागतः प्राप्तव्यवायस्य धर्मप्रजासंपत्त्यर्थं स्त्रियमुद्वहेदित्येषविधिः कर्माङ्गतया स्त्रीपरिग्रहविधानव्याजेनावकाशं प्रयच्छन्नर्थवान् भवति तद्वत् । यत एवमतः "सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः" इति न्यायेन सर्वमपि कर्म द्रव्यसाध्यत्वेन हिंसाप्रधानत्वाद्दोषवदेव भवति । दोषवत्त्वेन बन्धकत्वाच्छ्रौतं स्मार्तं च वैदिकं कर्म सर्वमपि त्याज्यमेवेति सर्वकर्मत्यागमेव त्यागं प्राहुरित्यर्थः । ननु विहिताकरणे प्रत्यवायः स्यादिति चेन्न । दोषवत्कर्मानुष्ठाने ततोऽधिकतरः प्रत्यवायः स्यादित्याहुः । ततः कलञ्जभक्षणक्रियावत्सर्वस्यापि कर्मणो दोषवत्त्वेन तत्त्यागो न दोषायेति च ते मन्यन्त इत्यभिप्रायः । एवं सांख्यमतभेदेन त्यागशब्दस्यार्थभेदमुक्त्वा मीमांसकमतभेदेनाप्यर्थभेदं सूचयितुमाह—यज्ञेति । "अकृत्वा वैदिकं नित्यं प्रत्यवायी भवेन्नरः" इति "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इति "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" इति "सत्यं वद धर्मं चर" इति "सत्यान्न प्रमदितव्यं धर्मान्न प्रमदितव्यम्" इत्यादिश्रुतिभिः 'श्रौतं चापि तथा स्मार्तं कर्माकृत्वा वसेद्द्विजः। तद्विहीनः पतत्येव ह्यालम्बरहितान्धवत् ॥' इत्यादिस्मृतिभिश्च वैदिककर्मणो नित्यस्यावश्यकरणीयत्वविधानादकरणे प्रत्यवायविधानाच्च ब्राह्मणस्य यज्ञदानतपः यज्ञो दानं तप इत्येवंलक्षणं वैदिकं कर्म न त्याज्यं न कदापि च त्यक्तव्यं, किंतु निरुक्तश्रुतिस्मृतिबलाद्यावज्जीवं कर्तव्यमेव 'एकाहं जपहीनस्तु संध्याहीनो दिनत्रयम् । द्वादशाहमनग्निश्च शूद्र एव न संशयः ॥ त्र्यहं संध्याविरहितो द्वादशाहं निरग्निकः । चतुर्वेदधरो विप्रः शूद्र एव न संशयः ॥ तस्मान्न लङ्घयेत्संध्यां सायं प्रातः समाहितः । उल्लङ्घयति यो मोहात्स याति नरकं ध्रुवम्' इति । संध्यावन्दनौपासनाग्निहोत्रादेरुपलक्षणम् "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्योऽप्यग्निहोत्रादेः कर्मणः परित्यागे प्रत्यवायाधिक्यश्रवणाद्ब्राह्मणादीनां यज्ञदानादिकं वैदिकं कर्म नित्यं नियमेन कर्तव्यमेव । ननु द्रव्यसाध्यस्य यज्ञदानादेः कर्मणो हिंसावत्त्वेन दोषवत्त्वाद्दोषवतः कर्मणः कथमनुष्ठानमुपपद्येत इति चेदुच्यते—'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्येतद्वचनं क्रोधतः प्राप्तं ब्राह्मणवधं दोषाधिकत्वं वदन्निषेधयति, नतु बुद्धिपूर्वकहिंसामात्रे सर्वत्र दोषाधिक्यं बोधयति, विशेषविधेः स्वविधेयमात्रविषयत्वात् । ब्राह्मणान् सर्वान् भोजयेद्देवदत्तं न भोजयेदित्यत्र निषेधस्य स्वविधेयमात्रविषयत्वदर्शनाच्चतोऽग्नीषोमीयपशुहिंसादौ दोषाधिकत्वं बोधयितुं न शक्नोति स्वविधेयमात्रोपक्षीणत्वाद्विशेषस्य । नापि 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इत्ययं निषेधोऽपि यागीयपशुहिंसायां सामान्यतोऽपि दोषमासञ्जयितुं कल्पते सामान्यतो विशेषस्य बलीयस्त्वात् । 'अन्नं न प्रतिगृह्णीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि' इत्येतन्निषेधापेक्षया 'याचयेच्छ्रोत्रियस्यान्नम्' इत्येतस्य विधेर्बलीयस्त्वावगमात् । ब्राह्मणान् सर्वान्भोजय, देवदत्तं भोजयेत्यत्र विशेषस्य बलीयस्त्वदर्शनाच्च सामान्यस्य तृणगुल्मच्छेदादौ सावकाशत्वाच्च । 'सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलीयः' इति निरवकाशस्य बलीयस्त्वस्मरणाच्च । ततो यागीयपशुहिंसायाः सामान्यतो विशेषतश्च दोषगन्धः संपादयितुं न शक्यते । किंच 'मधुपर्के च यज्ञे च पित्र्ये दैवे च कर्मणि । अत्रैव पशवो हिंस्या नान्यत्रेत्यब्रवीन्मनुः' इति 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इति तीर्थेभ्यो यज्ञादिभ्योऽन्यत्र भूतान्यहिंसन्निति भूतहिंसानिषेधस्य यागीयव्यतिरिक्तहिंसाविषयत्वश्रवणान्निषेधाप्राप्तेः 'या-

चयेच्छ्रोत्रियस्यान्नं तदभावे जलं पिबेत्' इति विष्णुकाया: श्रोत्रियान्नादनक्रियाया निर्दुष्टत्वं पावकत्वं च यथा, तथा यागीयपशुहिंसाया अपि विष्णुकाया निर्दुष्टत्वं पावनत्वं चावगम्यते । तथैव श्रूयते "धर्मेण पापमपनुदति । तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति । तपसा कल्मषं हन्ति । ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा' इति । तस्माद्ब्राह्मणादेर्यज्ञदानादिलक्षणं नित्यं वैदिकं कर्मावश्यकमनुष्ठातव्यमेव [illegible] कदा पित्याज्यम् किंतु 'न तु काम्यं समाचरेत् । न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादिवचनात्काम्यं निषिद्धं चैतद्द्वयमेव त्याज्यमिति काम्यनिषिद्धत्याग एव त्यागो न तु कर्मफलत्यागस्त्याग इत्यपरे केचन मनीषिणो वैदिकशिरोमणयो मीमांसकाः प्राहुरित्यर्थः । ननु 'संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्' इत्यर्जुनकृतप्रश्नस्य विषयो मुख्यसंन्यासो वा उत गौणसंन्यासो वा । आद्ये स विद्वत्संन्यासो वा किं विविदिषासंन्यासो वा । नाद्यः विद्वत्संन्यासस्य निरुपमिकल्पासंभवाचामसः परिकीर्तित इति वक्ष्यमाणतामसादिभेदानुपपत्तेश्च । सति विदुषः कर्माणि कर्तव्ये तत्संन्यासस्य विकल्पाः स्युः नासति । "तस्य कार्यं न विद्यते" इति "नैवास्ति किंचित्कर्तव्यम्" इति विदुषः सर्वकर्माभावश्रवणात् । ज्ञानयोगेन सांख्यानामिति ब्रह्मविदां यतीनां ज्ञाननिष्ठापरत्वविधानाच्च नास्ति विकल्पावकाशः । ननु यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादिविधिबलाद्विदुषोऽपि कर्म कर्तव्यमेवेति चेन्न, विधेर्मिथ्यात्वोपपत्तेः । 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' इति द्वैतस्य सर्वस्य मायामात्रत्वेन मिथ्यात्वे सिद्धे तदन्त.पातिनः कर्मविधेरपि शुक्तिरजतवन्मिथ्यात्वेन बलासंभवात् स्वमिथ्यात्वदर्शिनं प्रति नियोक्तृत्वायोगात् । नहि मिथ्याभूतं रजतं स्वतत्त्ववेदिनं पुरुषमादानादौ प्रवर्तयितुं शक्नोति । तद्वन्मिथ्याभूतः कर्मविधेरपि विद्वांसं न प्रवर्तयितुं शक्नोतीत्यर्थः । न द्वितीयः । सर्वतो विरक्तस्य विदुषः कर्मणा साध्यमपश्यतः काम्यकर्मपरित्यागेन वा कर्मफलत्यागेन वा कर्मानुष्ठानानुपपत्ते. । चित्तशुद्धये कर्म कर्तव्यमेवेति चेन्न । सर्वतो विरक्त्यतिरिक्तचित्तशुद्ध्यन्तराभावात् । विधिबलादीश्वरप्रीत्यै कर्म कर्तव्यमेवेति चेन्न 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्' इति त्यागविधेस्ततोऽपि प्रबलत्वात् । 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम्' इतीश्वरेणैव जिज्ञासोर्विध्युपेक्षाविधानात् । तृतीयं श्रवरं कर्मेति मुमुक्षोर्विरक्तस्य कर्मनिन्दापूर्वकं श्रवणपरत्वविधानाच्च । 'आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद्गृहात्' इति विविदिषोः सर्वकर्मसंन्यासस्मरणात्ततो विविदिषोरपि कर्मसंबन्धासंभवेन निरुक्तविकल्पानामनवकाशः संभवति । ततो गौण एव संन्यासो गृहिनिष्ठः प्रश्नस्य विषयो, न तु मुख्य इति सिद्धम् । जिज्ञासितो गौण एव सन्यास इत्यत्र प्रमाणं पूर्वोक्तगीतावचनान्येवेति बोद्धव्यम् ॥ ३ ॥

श्री० टी०—अविदुष. फलत्यागमात्रमेव त्यागशब्दार्थो न कर्मत्याग इत्येतदेव मतान्तरनिरासेन दृढीकर्तुं मतभेदं दर्शयति—त्याज्यमिति । दोषवद्धिंसादिदोषवत्केवलं बन्धकमिति हेतोः सर्वमपि कर्म त्याज्यमित्येके सांख्याः प्राहुर्मनीषिण इति । अस्यायं भावः न हिंस्यात्सर्वा भूतानीति निषेध. पुरुषस्यानर्थहेतुर्हिंसेत्याह । "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादिप्राकरणिको विधिस्तु हिंसायाः क्रतूपकारकत्वमाह । अतो भिन्नविषयत्वेन सामान्यविशेषन्यायागोचरत्वाद्बाध्यबाधकता नास्ति । द्रव्यसाध्येषु च सर्वेष्वपि कर्मसु हिंसादेः संभवात्सर्वमपि कर्म त्याज्यमेवेति । तदुक्तम् 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्त.' इति । अस्यार्थ.—उपायो ज्योतिष्टोमादिः सोऽपि दृष्टोपायवत्, गुरुपाठादनु श्रूयत इत्यनुश्रवो वेदस्तद्बोधित. । तत्राविशुद्धिर्हिंसा तथा क्षयो विनाशः । अग्निहोत्रज्योतिष्टोमादिजन्यस्वर्गेषु तारतम्यं च वर्तते । परोत्कर्षस्तु सर्वान् हि खीकरोति । अपरे तु मीमांसका यज्ञादिकं कर्म न त्याज्यमिति प्राहु । अयं भाव.—क्रत्वर्थापि सतीयं हिंसा पुरुषेणैव कर्तव्या । सा चान्योद्देशेनापि कृता पुरुषस्य प्रत्यवायहेतुरेव । यथाहि विधिर्विधेयस्य तदुद्देशेनानुष्ठानं विधत्ते तादर्थ्यलक्षणत्वाच्छेषत्वस्य न त्वेवं निषेधो निषेधस्य तादर्थ्यमपेक्षते प्राप्तिमात्रापेक्षितत्वात् । 'अन्यथा । ज्ञानप्रमादा-

दिकृते दोषाभावप्रसङ्गात् । तदेवं समानविषयत्वेन सामान्यशास्त्रस्य विशेषेण बाधान्नास्ति दोषवत्त्वमतो नित्यं यज्ञादिकर्म न त्याज्यमिति । अनेन विधिनिषेधयोः समानबलता वार्यते सामान्यविशेषन्यायं संपादयितुम् ॥ ३ ॥

स० टी०—अथ द्वितीयप्रश्नस्य परिहाराय केशवः ॥ संन्यासत्यागयोस्तत्त्वं वक्तुं त्रैविध्यमेव हि ॥ १ ॥ विप्रतिपत्तिमाहादौ त्याज्यमित्यादिना स्फुटम् ॥ बन्धहेतुतया सर्वं कर्म दुष्टमतो बुधैः ॥ २ ॥ त्याज्यमेके बुधाः प्राहुः कर्मण्यधिकृतैरपि ॥ इत्येकं मतमत्रोक्तं द्वितीयं प्राह केशवः ॥ ३ ॥ कर्माधिकारिभिः पुंभिर्धीशुद्ध्या बोधलब्धये ॥ यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ४ ॥ ३ ॥

भा० टी०—काम्यानि वर्जयित्वा नित्यनैमित्तिकानि फलाभिसंधिं विना कर्तव्यानीत्युक्तं पक्षं प्रतिपक्षनिरासेन दृढयितुं विप्रतिपत्तिमाह—त्याज्यमिति । दोषोऽस्यास्तीति दोषवत् बन्धहेतुत्वात् सर्वमेव कर्म त्याज्यं त्यक्तव्यं दोषो रागादिर्यथा त्यज्यते तद्वत्त्याज्यमिति वा । एके मनीषिणो बुद्धिमन्तः पण्डिताः सांख्यदृष्टिमाश्रिता अधिकृतैः कर्मिभिरपि सर्वं कर्म त्याज्यमिति प्राहुः कथयन्ति । ननु अधिकृतानां कर्मिणां कर्मत्यागं प्रत्यवायजनकं कथं प्राहुरिति चेत्, हिंसादियुक्तकर्मत्यागे तेषामपि प्रत्यवायाभावं तदनुष्ठाने परं प्रत्यवायं चाभिप्रेत्येति गृहाण । परे मीमांसकदृष्टिमाश्रिता यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम् 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिविधिबोधितहिंसातिरिक्तहिंसानिषेधे 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इतिवाक्यस्य सार्थक्याद्विधिबोधितं कर्म न प्रत्यवायावहं प्रत्युत विहितत्याग एव प्रत्यवायावह इत्यतः सर्वं कर्म न त्यक्तव्यमिति प्राहुः । अधिकृतान् कर्मिण एवापेक्ष्यैते विकल्पाः न तु ज्ञाननिष्ठान् त्यक्तसर्वपरिग्रहान् । ज्ञानयोगेन सांख्यानां निष्ठा मया प्रोक्तेति कर्माधिकारविनिर्मुक्तान् संन्यासिनोऽपेक्ष्य । ननु कर्मयोगेन योगिनामित्यधिकृताः कर्म कुर्वन्तः पूर्वं विभक्तनिष्ठा अपि इह शास्त्रोपसंहारप्रकरणे यथा विचार्यन्ते तथा सांख्या अपि ज्ञाननिष्ठा विचार्यन्ताम् । एवं च संन्यासिनोऽपेक्ष्य न त्वेते विकल्पा इत्युक्तमनुपपन्नमिति चेन्न । गुणाना कर्म—"नैव किंचित्करोमि" इति कर्माण्यात्मन्यपश्यन्त इच्छादीनि च क्षेत्रधर्मत्वेनैव पश्यन्तो नियतं कर्म मोहात्परित्यजन्ति कायक्लेशदुःखभयाद्वा कर्मपरित्यजन्तीति वक्तुमशक्यत्वेन तेषां मोहदुःखनिमित्तत्यागानुपपत्तेः, 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी । नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्' इत्यादिभिस्तत्त्वविदां संन्यासप्रकारस्योक्तत्वाच्च । ननूदाहृतवचने मनसेत्युक्तत्वात् न कायिकादीनां संन्यासः । सर्वकर्माणीति विशेषितत्वात् सर्वेषामिति चेन्न, मानसानामेव सर्वेषामिति तदर्थात् । कायादिव्यापाराणां कारणानि वर्जयित्वाऽन्यानि सर्वाणि कर्माणि मनसा संन्यस्येति तदर्थो ग्राह्य इति चेन्न, वक्तृकर्तृत्वतया नैव कुर्वन्न कारयन्निति विशेषणानर्थक्यप्रसङ्गात् । ननु सर्वकर्मसंन्यासोऽयं मरिष्यतो भगवतोक्तो न जीवतः इति चेन्न, नवद्वारे पुरे देही आस्ते इति विशेषणानुपपत्तेः । तस्मादुदाहृतवचनादिभिस्तत्त्वविदः संन्यासप्रकारस्योक्तत्वात् तेषां मोहादिनिमित्तत्यागानुपपत्तेश्च कर्मिणामनात्मज्ञानां कर्मफलत्यागस्तुत्यर्थं ये कर्मण्यधिकृता अनात्मविदो येषां च मोहात्कायक्लेशभयाच्च त्यागः संभवति त एव तामसास्त्यागिनो राजसाश्चेति निन्द्यन्ते 'मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः । सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् । अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥' इत्यादिना चतुर्दशद्वादशादौ परमार्थसंन्यासिनो विशेषितत्वात्, ज्ञानस्य या परा निष्ठेति वक्ष्यमाणत्वाच्च । ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनो नेह विवक्षिताः किं त्वतत्त्वविदः संन्यासिनस्तामसत्वाद्यपेक्षया सात्त्विकत्वेन गुणेन स्तूयन्ते । न च 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' इति हेतुवचनेन मुख्य एवायं संन्यास इति अभिव्यक्तं त्यागाच्छान्तिरनन्तरमितिवत् हेतुवचनस्तुत्यर्थत्वादिति संक्षेपः ॥ ३ ॥

प० टी०—अथास्मिन्नर्थे मतान्तरमुपन्यस्यति—त्याज्यमिति । यज्ञे हिंसादिदोषवत्कर्म बन्धकं भवतीति त्याज्यमित्येके मनीषिणः सांख्या वदन्ति । तथाऽपरे मीमांसका "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादिश्रुतिबलाद्यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति वदन्ति ॥ ३ ॥

रा० टी०—सर्वकर्मफलत्यागमिति स्वोक्तत्यागस्वरूपावधारणाय प्रातीतिकीं विद्वन्मतविप्रतिपत्तिमुद्भावयति—त्याज्यमिति । एके मनीषिणो ज्ञानिनः दोषवत् बन्धकत्वदोषयुक्तं काम्यकर्म त्याज्यम् अकार्यमाहुः । अपरे च मनीषिणः यज्ञादि न त्याज्यमिति प्राहुः । तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकर्म यज्ञाङ्गानि । यद्वा नित्यनैमित्तिकानि । मनीषिण इतिविशेषणात्प्राचीनपक्षेऽपि फलत्याग एवाभिमतो न स्वरूपत्यागः । अतो न मतयोर्विरोधः ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ॥
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

त० टी०—एवं मतान्तराण्युक्त्वा त्यागविषयं निर्णयमाह—निश्चयमिति । तत्रैवं वादिविप्रतिपन्ने त्यागे निश्चयं सर्वाविरुद्धपक्षं मे मत्तः शृणु । हे भरतसत्तम ! नहि त्यागः सर्वैरवगन्तुं शक्यः । हे पुरुषव्याघ्र ! हि यस्मात्त्यागस्त्रिविधस्तामसादिभेदेन संप्रकीर्तितस्तत्त्वविद्भिर्विवेकेन कथित इत्यर्थः ॥४॥

म० टी०—एवं विप्रतिपत्तौ निश्चयमाह—निश्चयमिति । तत्र त्वया पृष्टे कर्माधिकारिकर्तृके संन्यासत्यागशब्दाभ्यां प्रतिपादिते त्यागे फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागे मे मम वचनान्निश्चयं पूर्वाचार्यैः कृतं शृणु हे भरतसत्तम । किं तत्र दुर्ज्ञेयमस्तीत्यत आह—हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ हि यस्मात् त्यागः कर्माधिकारिकर्तृकः फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागः त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तामसादिभेदेन संप्रकीर्तितः । अथवा विशिष्टाभावरूपस्त्यागो विशेषणाभावाद्विशेष्याभावादुभयाभावाच्च त्रिविधः संप्रकीर्तितः । तथाहि फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागः सत्यपि कर्मणि फलाभिसंधित्यागादेकः । सत्यपि फलाभिसंधौ कर्मत्यागाद्द्वितीयः । फलाभिसंधेः कर्मणश्च त्यागात्तृतीयः । तत्र प्रथमः सात्त्विक आदेयः । द्वितीयस्तु हेयो द्विविधः—दुःखबुद्ध्या कृतो राजसः, विपर्यासेन कृतस्तामसः । एतावान् कर्माधिकारिकर्तृकस्त्यागोऽर्जुनस्य प्रश्नविषयः । तृतीयस्तु कर्मानधिकारिकर्तृको नैर्गुण्यरूपो नार्जुनप्रश्नविषयः । सोऽपि साधनफलभेदेन द्विविधः । तत्र सात्त्विकेन फलाभिसंधित्यागपूर्वककर्मानुष्ठानरूपेण त्यागेन शुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नविविदिषस्यात्मज्ञानसाधनश्रवणाख्यवेदान्तविचाराय फलाभिसंधिरहितस्यान्तःकरणशुद्धौ सत्यां तत्साधनस्य कर्मणो वैतुष्ये जात इवावहननस्य परित्यागः । स एकः साधनभूतो विविदिषासंन्यास उच्यते । तमभ्रे नैष्कर्म्यसिद्धिं परमामिति वक्ष्यति । द्वितीयस्तु जन्मान्तरकृतसाधनाभ्यासपरिपाकादस्मिञ्जन्मन्यादावेवोत्पन्नात्मबोधस्य कृतकृत्यस्य स्वत एव फलाभिसंधेः कर्मणश्च परित्यागः फलभूतः । स विद्वत्संन्यास इत्युच्यते । स तु यस्त्वात्मरतिरेव स्यादित्यादिश्लोकाभ्यां प्राग्व्याख्यातः । स्थितप्रज्ञलक्षणादिभिश्च बहुधा प्रपञ्चितः । यस्मादेवं त्यागस्य तत्त्वं दुर्ज्ञेयं त्वया चोक्तं तत्त्वं वेदितुमिच्छामीति, अतो मम सर्वज्ञस्य वचनाद्विद्धीत्यभिप्रायः । संबोधनद्वयेन कुलनिमित्तोत्कर्षः पौरुषनिमित्तोत्कर्षश्च योग्यतातिशयसूचनायोक्तः ॥ ४ ॥

शं० टी०—त्यागगुणेन मुख्यसंन्याससादृश्यसंभवाद्द्रुहिणः काम्यकर्मत्याग एव संन्यास इति, सर्वकर्मफलत्याग एव संन्यास इति, दोषवत्कर्मत्याग एव संन्यास इति, काम्यनिषिद्धकर्मपरित्याग एव संन्यास इति त्यागशब्दार्थं संन्यासं पण्डिताः स्वस्वमतानुसारेण बहुधा वर्णयन्ति । इत्येवं मतभेदेन त्यागशब्दस्यार्थभेदं प्रतिपाद्य स्वाभिमतमर्थं वक्तुं स्वमतसिद्धस्य त्यागस्याधिकारिभेदेन त्रैविध्यमाह—निश्चयमिति । उक्तरीत्या

च बहुधा विकल्पिते तत्र तस्मिन् त्वत्प्रश्नविषयभूते त्यागे त्यागशब्दार्थे संन्यासे मे निश्चयं मया निश्चित-मर्थं मत्तः शृणु । श्रुतार्थप्रवृत्तिसिद्धये श्रोतारं स्तौति—हे भरतसत्तम हे पुरुषव्याघ्रेति । हि यस्मात्कारणा-त्त्यागं पण्डिता अपि बहुधा वर्णयन्ति तस्मात्त्यागो बुद्धिमतामपि दुर्विज्ञेयः । सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुर्वित्यत्र नित्यानां नैमित्तिकानां च सर्वेषां कर्मणां फलमात्रपरित्याग एव यथा विवक्षितस्तथा मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य योगसंन्यस्तकर्माणमित्यादावपि कर्मसंन्यासपदस्य कर्मफलत्याग एवार्थो विव-क्षितो भवति, न तु कर्मसंन्यासः कर्माधिकारे कर्मसंन्यासविधानायोगात् । य उक्तलक्षणस्त्यागः स एव त्रिविधस्तामसादिभेदेन त्रिप्रकार इति मुनिभिः संप्रकीर्तितो भवति त्वं मयोच्यमानं शृणित्यर्थः ॥ ४ ॥

श्री० टी०—एवं मतभेदमुपन्यस्य स्वमतं कथयितुमाह—निश्चयमिति । तत्रैवं विप्रतिपन्ने त्यागे निश्चयं मे वचनाच्छृणु । त्यागस्य लोकप्रसिद्धत्वात्किमत्र श्रोतव्यमिति माऽवमंस्था इत्याह—हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ, त्यागोऽयं दुर्बोधः । हि यस्मादयं कर्मत्यागस्तत्त्वविद्भिस्तामसादिभेदेन त्रिविधः सम्यग्विवेकेन प्रकीर्तितः । त्रैविध्यं च 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणः' इत्यादिना वक्ष्यति ॥ ४ ॥

म० टी०—तत्र त्यागे त्वया पृष्टे कर्माधिकृतकर्तृके ॥ संन्यासत्यागशब्दाभ्यामृषिभिः प्रतिपादिते ॥१॥ निश्चयं मद्वचोभिस्त्वं पूर्वाचार्यैः कृतं शृणु ॥ कर्माधिकारिणो यस्मात्त्यागः सफलकर्मणः ॥ २ ॥ ताम-सादिकभेदेन त्रिप्रकार उदाहृतः ॥ फलाभिसंधिसंत्यागो विद्यमानेऽपि कर्मणि ॥ ३ ॥ सात्त्विकोऽयं परित्याग उपादेयो मुमुक्षुभिः ॥ फलाभिसंधौ सत्येव कर्मत्यागस्तु राजस. ॥ ४ ॥ अज्ञानतो द्वयो-रेव प्रमादादिभिरेव यः ॥ त्यागः फलाभिसंधेश्च कर्मणश्च स तामसः ॥ ५ ॥ हेयत्वेन मतावेतौ त्यागौ राजसतामसौ ॥ मुख्यो यः कर्मसंन्यासो निस्त्रैगुण्यः स नेह वै ॥ ६ ॥ अर्जुनप्रश्नविषयो न वा तस्य विवेचनम् ॥ यतस्त्यागस्य दुर्बोधं तत्त्वं तस्मान्ममेप्सितुः ॥ ७ ॥ वाक्याद्विद्धीत्यभिप्रायः संबोधन-द्वयेन तु ॥ कुलौत्कर्ष्यात्सत्त्वकौत्कर्ष्याद्योग्यत्वं सूच्यतेऽर्जुने ॥ ८ ॥ ४ ॥

भा० टी०—एवं मतभेदेन संन्यासत्यागशब्दार्थयोस्तत्त्वं पृथगुक्त्वा स्वाभिमतं तयोरैक्यं दर्शयितुमाह—निश्चयमिति । तत्र त्यागे त्यागसंन्यासविकल्पे मे मम वचनान्निश्चयं शृणवधारय । त्यागसंन्यासवाच्यो योऽर्थः स एक एवेत्यभिप्रेत्याह—त्यागस्त्रिविधः त्रिप्रकारः तामसादिप्रकारैः संप्रकीर्तितः सम्यक्शास्त्रेषु कथितो हि यस्मात्त्यागसंन्यासशब्दवाच्योऽर्थोऽधिकृतस्य कर्मिणोऽनात्मज्ञस्य तामसादिभेदेन त्रिविधः शास्त्रेषु संप्रकीर्तितः सर्वशास्त्रज्ञादीश्वरादन्येन वक्तुमशक्यः तस्मादत्र दुर्विज्ञानेऽर्थे परमार्थशास्त्रार्थविषय-मैश्वरं निश्चयमध्यवसायं शृणु । भरतानां क्षत्रियवराणां मध्ये सत्तम साधुतमेति संबोधयन् क्षत्रियवरैः कर्त-व्ये त्यागे संन्यासे च मयोच्यमानं निश्चयं शृण्विति ध्वनयति । न केवलं क्षत्रियवरैरेव कर्तव्ये त्याग-संन्यासशब्दार्थे निश्चयो मयोच्यतेऽपि तु पुरुषश्रेष्ठैरन्यैरपि कर्माधिकृतैरज्ञैः कर्तव्ये तस्मिन्निति ध्वनयन् संबोधयति—पुरुषव्याघ्रेति ॥ ४ ॥

प० टी०—एवं मतभेदमुपन्यस्य स्वमतं कथयितुमाह—निश्चयमिति । तत्रैवं विप्रतिपन्ने त्यागे मे वच-नान्निश्चयं शृणु । हि यस्मात् कारणात्त्वं पुरुषव्याघ्र पुरुषार्थसाधनशील इति निश्चयेन त्यागस्त्रिविध. संप्रकीर्तितस्तामसादिभेदेन सम्यक्प्रकारेणाग्रे निरूपितोऽस्ति ॥ ४ ॥

रा० टी०—अविरोधप्रकारं प्रतिज्ञापूर्वमुपपादयति—निश्चयमिति । तत्र विप्रतिपन्ने त्यागे विषये निश्चितं मतं मे सकाशात् शृणु श्रुत्वा निष्ठां कुरु । त्यागो हि फलत्याग. । कर्मणि ममतात्यागः । भगवति कर्तृ-त्वानुसंधानपूर्वं स्वस्य कर्तृत्वाभिमानत्याग इति त्रिविध. संप्रकीर्तित इत्येके । वक्ष्यमाणसात्त्विकादि-भेदेनेत्यन्ये ॥ ४ ॥

*यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ॥
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

त० टी०—कोऽसौ निश्चय इत्यत आह—यज्ञदानेतिद्वाभ्याम् । यज्ञदानतप इति वैदिकं कर्म मुमुक्षुणा न त्याज्यम्, अपि तु कार्यं कर्तव्यमेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव मनीषिणां मननशीलानामनभिहितफलानां पावनानि मनःशुद्धिकराणि ॥ ५ ॥

म० टी०—कोऽसौ निश्चयो विप्रतिपत्तिकोटिभूतयोः पक्षयोर्द्वितीय. पक्ष इत्याह—यज्ञ इति द्वाभ्याम् । चो हेतौ । यस्मात् यज्ञदानतपांसि मनीषिणामकृतफलाभिसंधीना पावनानि ज्ञानप्रतिबन्धकपापमलक्षालनेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानेन च शोधकानि । अकृतफलाभिसंधीनामेव यज्ञदानतपांस्येव शोधकानि भवन्त्येव । उपाधिशुद्धयैवोपहितशुद्धिरत्राभिप्रेता । तस्मादन्तःकरणशुद्ध्यर्थिभिः कर्माधिकृतैर्यज्ञो दानं तप इति यत् फलाभिसंधिरहितं कर्म तन्न त्याज्यं किंतु कार्यमेव तत् । अत्याज्यत्वेन कार्यत्वे लब्धेऽप्यत्यादरार्थं पुनः कार्यमेवेत्युक्तम् । यस्मात्कार्यं कर्तव्यतया शास्त्रविहितं तस्मान्न त्याज्यमेवेति वा ॥५॥

शं० टी०—यत्प्रतिज्ञातं मे निश्चयं शृण्विति तं स्वनिश्चयं प्रतिपादयति—यज्ञेति द्वाभ्याम् । यज्ञः श्रौतः स्मार्तश्च, दानं पात्रेष्वर्थसमर्पणं, तपः स्वाध्यायः, त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । अध्ययनस्य धर्मस्कन्धत्वेन गृहिधर्मत्वश्रवणात् 'तपो हि स्वाध्याय.' इति स्वाध्यायस्य तपस्त्वश्रवणात्तप.शब्देनाध्ययनमुच्यते । एवं यज्ञदानतपोलक्षणं त्रिविधं नित्यं वैदिकं कर्म मुमुक्षोर्गृहिणो विरक्तस्य न त्याज्यं न कदाचित्त्यक्तव्यं किंतु नित्यत्वात्पुरुषार्थहेतुत्वादकरणे प्रत्यवायाच्च यज्ञोऽध्ययनं दानमिति । "अहरहः संध्यामुपासीत । उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति" इत्यादिश्रुत्युक्तं कर्म नित्यं मुमुक्षोः कार्यं श्रद्धाभक्तिभ्यां नियमेन कर्तव्यमित्यर्थः । उक्ते कर्मणि प्रवृत्तिसिद्धये फलमाह—यज्ञ इति । मनीषिणामधीतविदितवेदवेदार्थानां सदसद्विवेकवता मुमुक्षुणा परमेश्वरार्पणबुद्ध्या कृतानि यज्ञो दानं तपः । चकारोऽत्र यज्ञदानादीनामुक्तानामनुक्तानां श्रौतानां स्मार्तानां च कर्मणां समुच्चयार्थ. । एवकारो यज्ञदानादेर्वैदिकस्यैव कर्मणो वर्णाश्रमिणा विहितस्य पावनत्वनिर्धारणार्थः । यज्ञदानतपोलक्षणानि श्रौतानि स्मार्तान्येव कर्माणि पावनान्युपात्तसर्वदुरितक्षयकराणि सत्त्वशोधकानि तद्द्वारा ज्ञानस्य तत्फलस्य च कारणानीत्यर्थः ॥ ५ ॥

श्री० टी०—प्रथमं तावन्निश्चयमाह—यज्ञदानेति द्वाभ्याम् । मनीषिणां विवेकिनां पावनानि चित्तशुद्धिकराणि ॥ ५ ॥

स० टी०—कश्चासौ निश्चयस्तत्र द्वाभ्यामाह रमापतिः ॥ फलाभिसंधिहीनानां यज्ञदानतपांसि हि ॥१॥ शोधकान्यात्मविज्ञानप्रतिबन्धमलक्षयात् ॥ तस्माच्चित्तविशुद्ध्यात्मविज्ञानायाधिकारिभिः ॥ २ ॥ फलाभिसंधिहीनं यत्कर्म त्याज्यं न तद्बुधैः ॥ यस्माद्यज्ञादिकं कर्म कर्तव्यत्वेन चोदितम् ॥ ३ ॥ तस्मान्न त्याज्यमेवेति किं तु कार्यं प्रयत्नत. ॥ ४ ॥ ५ ॥

भा० टी०—प्रतिज्ञातं निश्चयं प्रदर्शयन् तत्र हेतुमाह—यज्ञ इति । यज्ञो दानं तप इत्येवंत्रिविधं कर्म न त्याज्यं न त्यक्तव्यम् । व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्येन द्रढयति । कार्यमेव तत् त्रिविधं कर्म करणीयमेव । चो हेतौ । यस्माद्यज्ञदानतपांस्येव पावनानि विशुद्धिकराणि, पावनान्येवेति वा । मनीषिणां कुशलानां फलाभिसंधिरहितानाम् ॥ ५ ॥

प० टी०—तत्रादौ त्यागस्य स्वरूपं दर्शयति—यज्ञदानतप इति द्वाभ्याम् । यज्ञदानतपोरूपं कर्म न त्याज्यं किं तु तत्कार्यमेव । कुत. ? यज्ञो दानं तपश्च मनीषिणां ज्ञानवतां कर्तुं पावनानि चित्तशोधकानि ॥५॥

* यज्ञो दानं तप कर्म—इति मधुसूदनटीकासंमत पाठ ।

रा० टी०—निश्चयं शृणुवेति प्रतिज्ञातमाह—यज्ञेति। द्वन्द्वैकवद्भावः। कुतः कार्यमित्यत आह—यज्ञ इति। पावनानि पवित्र्यकरणानि अबन्धकानीतियावत्। यद्वा मनीषिणा ज्ञानिनां मुक्तवानन्दातिशयकराणि। अतः सर्वैरपि वर्णाश्रमोचितकर्माणि कार्याण्येवेति। यतीनामपि ज्ञानयज्ञविद्याभयदानब्रह्मचर्यादितपांसि च सन्त्येव। स्त्रीशूद्रादीनामपि विष्णुनामाध्ययनरूपो यज्ञः सत्यवचनमुपवासादि तपश्चास्त्येवेति भावः॥ ५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च॥
कर्तव्यानीति मे पार्थ! निश्चितं मतमुत्तमम्॥ ६॥

त० टी०—ननु "मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः" इति कर्मणां बन्धनत्वाभिधानात्कथमेषां पावनत्वमिष्यत आह—एतानीति। यानि यज्ञादीनि कर्माणि पावनान्युक्तानि एतान्यपि सङ्गमहमेवं करिष्यामीत्यभिनिवेशं त्यक्त्वा, फलानि च ममैतत्फलसाधनानीति फलोद्देशं विहाय केवलमीश्वराज्ञापालनात्मकतया कर्तव्यानि हे पार्थ, इति मे मम निश्चितमुत्तमं श्रेष्ठं मतम्॥ ६॥

भ्यो मतेभ्य उत्कृष्टतमं प्रत्यवायरहितत्वेन नरकाद्यनिष्टनिवृत्तिहेतुत्वात्स्वर्गगमागमक्लेशानिवर्तकत्वाच्चित्तशुद्धिद्वाराऽभीष्टमुक्तिहेतुत्वाच्च तेभ्यः श्रेष्ठतममित्यर्थः ॥ ६ ॥

श्री० टी०—येन प्रकारेण कृतान्येतानि पावनानि भवन्ति तं प्रकारं दर्शयन्नाह—एतानीति । यानि यज्ञादिकर्माणि मया पावनानीत्युक्तम्, एतान्येव कर्तव्यानि । कथम् ? सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनतया कर्तव्यानीति फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानीति च निश्चितं मे मम मतम् । अत एवोत्तमम् ॥ ६ ॥

म० टी०—धीशोधनेऽस्ति सामर्थ्यं यदि यज्ञादिकर्मणाम् ॥ शोधकान्येव तर्हि स्युः कृतान्यपि फलेप्सुना ॥ १ ॥ कृतं फलाभिसंध्येकत्यागेनेत्येव चेच्छृणु ॥ धर्मस्वाभाव्यतः शुद्धिः काम्यानामपि संभवेत् ॥ २ ॥ तथापि कामिना सा तत्फलभोगोपयोगिनी ॥ ज्ञानोपयोगिनी नास्ति तदुक्तं वार्तिके स्फुटम् ॥ ३ ॥ काम्येऽपि शुद्धिरस्त्येव भोगसिद्ध्यर्थमेव सा ॥ विड्वराहादिदेहेन नहेन्द्रं भुज्यते फलम् ॥ ४ ॥ ज्ञानोपयोगिनीं शुद्धिमादधत्यत्र यानि तु ॥ यज्ञादीन्येव कर्माणि बन्धकान्यपि कामिनाम् ॥ ५ ॥ मुमुक्षुभिः परित्यज्य कर्तृत्वाभिमतिं तथा ॥ अभिसंधीयमानानि त्यक्त्वा कर्मफलानि च ॥ ६ ॥ कर्तव्यानि धियः शुद्ध्यै इति मे निश्चितं मतम् ॥ अत एव हि हे पार्थ न त्याज्यानि मुमुक्षुभिः ॥ ७ ॥ कर्माधिकारिभिर्धीरैः कर्माणीत्युत्तमं मतम् ॥ ८ ॥ ६ ॥

भा० टी०—प्रतिज्ञातमर्थमुपसंहरति—एतानीति । एतानि यज्ञदानतपांसि ससङ्गस्य फलार्थिनो बन्धहेतवोऽपि कर्माणि मुमुक्षुभिः सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं फलानि च त्यक्त्वा परित्यज्य चित्तशुद्ध्यर्थं कर्तव्यानीत्येतन्निश्चितं मम परमेश्वरस्य वासुदेवस्य मतम् । यतो ममेदं निश्चितमत उत्तमं सर्वोत्कृष्टम् । उत्तमत्वान्मम निश्चितमिति वा । त्वया तु मत्संबन्धिना मदीयं निश्चितं मतमेवोपादेयमिति सूचनाय संबोधनं पार्थेति । यत्तु अपिशब्द एवंशब्दार्थ इति भाष्यविरुद्धमन्ये वर्णयन्ति तन्नादर्तव्यं, सति संभवे स्वार्थत्यागस्यान्याय्यत्वात् ॥ ६ ॥

प० टी०—केन प्रकारेण कृतानि पावनानि भवन्तीत्याह—एतानीति । एतानि यज्ञदानतपोरूपाणि कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि चैहिकामुष्मिकाणि त्यक्त्वा केवलमीश्वरार्पणतया कर्तव्यानीति मे मतं निश्चितमसंदिग्धम् । उत्तमत्वादेतदेवादरणीयमित्यर्थः ॥ ६ ॥

रा० टी०—यज्ञादि न त्याज्यं कार्यमेव तदित्युक्तमयुक्तं, त्याज्यं कर्मेत्युक्तमनीषिमतविरोधादित्यतः सङ्गादित्यागरूपविशेषणत्याग एव तेषामभिमतः । न स्वरूपत्याग इतिभावेन यज्ञादेः करणप्रकारमाह—एतानीति । प्रागुक्तयज्ञादिरूपकर्माणि ममताभिमानरूपस्नेहात्मकसङ्गं त्यक्त्वा स्वर्गादिफलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानि इति निश्चितं मे उत्तमं मतम् ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ॥
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

त० टी०—'त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः संप्रकीर्तितः' इत्युक्तं त्रैविध्यमेव दर्शयति—नियतस्येति । काम्यस्य कर्मणो बन्धहेतुत्वेन दोषवत्त्वात्त्याग उपपद्यते । नियतस्य तु नित्यकर्तव्यतया विहितस्य महायज्ञादेस्तु कर्मणः सन्न्यासस्त्यागो नोपपद्यते । अन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वेन मुमुक्षूपादेयत्वात् । एवं मोहात् कर्तव्याकर्तव्याविवेकात् तस्य नित्यस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः । "प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च" इति तमोजन्यमोहहेतुत्वेन तामसत्वमित्यर्थः ॥ ७ ॥

म० टी०—तदेवं "यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे" इति स्वपक्षः स्थापितः । इदानीम् "त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः" इति परपक्षस्य पूर्वोक्तत्यागत्रैविध्यव्याख्यानेन निराकरणमारभते—नियतस्येति । काम्यस्य कर्मणोऽन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वाभावेन बन्धहेतुत्वेन च दोषवत्वाद् बन्धनिवृत्तिहेतुबोधार्थिना क्रियमाणस्त्याग उपपद्यत एव । नियतस्य तु नित्यस्य कर्मणः शुद्धिहेतुत्वेनादोषस्य संन्यासस्त्यागो मुमुक्षुणाऽन्तःकरणशुद्ध्यर्थिना नोपपद्यते, शास्त्रयुक्तिभ्यां तस्यान्तःकरणशुद्ध्यर्थमवश्यानुष्ठेयत्वात् । तथा चोक्तं प्राक्—"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते" इति । ननु दोषवत्त्वं काम्यस्येव नित्यस्यापि दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादेर्व्रीहिपश्वादिहिंसामिश्रितत्वेन साङ्ख्यैरभिहितम् । न च "व्रीहीनवहन्ति" "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादिविशेषविधिगोचरत्वात् क्रत्वङ्गहिंसाया "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" इति सामान्यनिषेधस्य तदितरपरत्वमिति, सांप्रतं भिन्नविषयत्वेन विधिनिषेधयोरबाधेनैव समावेशसंभवात् । निषेधेन हि पुरुषस्यानर्थहेतुर्हिंसेत्यभिहितं न त्वक्रत्वर्था सेति । विधिना च क्रत्वर्था सेत्यभिहितं न त्वनर्थहेतुर्नेति । तथा च क्रतूपकारकत्वपुरुषानर्थहेतुत्वयोरेकत्र संभवात् क्रत्वर्थापि हिंसा निषिद्धैवेति हिंसायुक्तं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादि सर्वं दुष्टमेव । विहितस्यापि निषिद्धत्वं निषिद्धस्यापि च विहितत्वं श्येनादिवदुपपन्नमेव । यथा हि "श्येनेनाभिचरन्यजेत" इत्याद्यभिचारविधिना विहितोऽपि श्येनादिर्न हिंस्यात्सर्वाभूतानीति निषेधविषयत्वादनर्थहेतुरेव । तद्दोषसहिष्णोरेव च रागद्वेषादिवशीकृतस्य तत्राधिकारः । एवं ज्योतिष्टोमादावपि । तथा चोक्तं महाभारते—'जपस्तु सर्वधर्मेभ्यः परमो धर्म उच्यते । अहिंसया हि भूतानां जपयज्ञः प्रवर्तते ' इति । मनुनापि ' जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ ' इति वदता मैत्रीमहिंसां प्रशंसता हिंसाया दुष्टत्वमेव प्रतिपादितम् । अन्तःकरणशुद्धिश्चैतदर्शेन गायत्रीजपादिना सुतरामुपपत्स्यत इति हिंसादिदोषदुष्टं ज्योतिष्टोमादि नित्यं कर्म दोषासहिष्णुना श्येनादिकमिव कर्माधिकारिणापि त्याज्यमिति प्राप्ते ब्रूमः—न क्रत्वर्था हिंसाऽनर्थहेतुः, विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशात् । तथाहि विधिना बलवदिच्छाविषयसाधनताबोधरूपां प्रवर्तनां कुर्वताऽनर्थसाधने तदनुपपत्तेः स्वविषयस्य प्रवर्तनागोचरस्यानर्थसाधनत्वाभावोऽप्यर्थादाक्षिप्यते । तेन विधिविषयस्य नानर्थहेतुत्वं युज्यते । न हि क्रत्वर्थत्वं साक्षाद्विध्यर्थः, येन विरोधो न स्यात्, किंतु प्रवर्तनैव । प्रवर्तनाकर्मभूता तु पुरुषप्रवृत्तिः पुरुषार्थमेव विषयीकुर्वती क्वचित् क्रतुमपि पुरुषार्थसाधनत्वेन पुरुषार्थभावमापन्नं विषयीकरोतीत्यन्यत् । पुरुषप्रवृत्तिश्च बलवदिच्छोपधानदशायां जायमाना न भाव्यस्यार्थहेतुतामाक्षिपति न वाऽनर्थहेतुतां प्रतिक्षिपति । किंतु यथाप्राप्तमेवावलम्बते, बलवदिच्छाविषये स्वत एव प्रवृत्तेः स्वर्गादौ विध्यनपेक्षणात् । अत एव विहितश्येनफलस्यापि शत्रुवधरूपस्याभिचारस्यानर्थहेतुत्वमुपपद्यत एव, फलस्य विधिजन्यप्रवृत्तिविषयत्वाभावात् । विधिजन्यप्रवृत्तिविषयं तु धात्वर्थरूपं करणं प्रवर्तनाऽवलम्बते । सा चानर्थहेतुं न विषयीकरोतीति विशेषविधिबाधितं सामान्यनिषेधवाक्यं रागद्वेषादिमूलाक्रत्वर्थलौकिकहिंसाविषयम् । तेन श्येनाग्नीषोमीययोर्वैषम्यादुपपन्नमदुष्टत्वं ज्योतिष्टोमादेः । विधिस्पृष्टस्यापि निषेधविषयत्वे षोडशिग्रहणस्याप्यनर्थहेतुत्वापत्तिर्नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति निषेधात् । तस्मान्न किंचिदेतदिति भाट्टं दर्शनम् । प्राभाकरं तु दर्शनं फलसाधने रागत एव प्रवृत्तिसिद्धेर्न नियोगस्य प्रवर्तकत्वम् । तेन श्येनस्य रागजन्यप्रवृत्तिविषयत्वेन विधेरौदासीन्यान्न तस्यानर्थहेतुत्वं विधिना प्रतिक्षिप्यते । अग्नीषोमीयहिंसायां तु क्रत्वङ्गभूतायां फलसाधनत्वाभावेन रागाभावाद्विधिरेव प्रवर्तकः । स च स्वविषयस्यानर्थहेतुतां प्रतिक्षिपतीति प्रधानभूता हिंसानर्थ (भावेन) जनयति न क्रत्वर्थेति न हिंसामिश्रत्वेन ज्योतिष्टोमादेर्दुष्टत्वमिति सममेव । एतावन्मात्रे तु विशेषः—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इत्यर्थपदव्याख्यानत्वेनाधर्मत्वं श्येनादेः प्राभाकरमते । भाट्टमते तु श्येनफलस्यैवाभिचारस्यानर्थहेतुत्वादध-

र्मत्वं, श्येनस्य तु विहितस्य समीहितसाधनस्य धर्मत्वमेव। अर्थपदव्यावर्त्यत्वं तु कलञ्जभक्षणादेर्निषिद्धस्यैवेति फलतोऽनर्थहेतुत्वेन (तु) शिष्टानां श्येनादौ न धर्मत्वेन व्यवहारः । तदुक्तम् 'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते । केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते' इति । तार्किकाणां तु दर्शनं कृतिसाध्यत्वमर्थहेतुत्वमनर्थाहेतुत्वं चेति त्रयं विध्यर्थः । तत्र क्रत्वर्थहिंसायां साक्षान्निषेधाभावात्प्रायश्चित्तानुपदेशाच्च कृतिसाध्यत्वार्थहेतुत्ववदनर्थाहेतुत्वमपि विधिना बोध्यत इति न तस्या अनर्थहेतुत्वम् । श्येनादेस्त्वभिचारस्य साक्षादेव निषेधात्प्रायश्चित्तोपदेशाच्चानर्थहेतुत्वावगमात्तावन्मात्रं तत्र विधिना न बोध्यत इत्युपपन्नं, श्येनाग्नीषोमीययोर्वैलक्षण्यम् । औपनिषदैस्तु भाट्टमेव दर्शनं व्यवहारे प्रायेणावलम्बितम् । तथा च भगवद्बादरायणप्रणीतं सूत्रम्–' अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ' इति । ज्योतिष्टोमादिकर्म अग्नीषोमीयहिंसादिमिश्रितत्वेन दुष्टमिति चेत्, न। "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादिविधिशब्दादित्यक्षरार्थः । अपप्रशंसापरं तु वाक्यं न क्रत्वर्थहिंसाया अधर्मत्वबोधकं, तस्य तत्रातात्पर्यात् । तथाच सांख्यानां विहिते निषिद्धत्वज्ञानमनर्थाहेतावनर्थहेतुत्वज्ञानं, धर्मे चाधर्मत्वज्ञानमनुष्ठेये चाननुष्ठेयत्वज्ञानं विपर्यासरूपो मोहः । तस्मान्मोहान्नित्यस्य कर्मणो यः परित्यागः स तामसः परिकीर्तितः । मोहो हि तमः ॥ ७ ॥

शं० टी०–"निश्चयं शृणु मे तत्र" इत्युपक्रान्तं स्वसिद्धान्तमुक्त्वाऽधुना मुमुक्षोरविरक्तस्य कर्मसंन्यासं निषेधयन् "त्रिविधः संप्रकीर्तितः" इत्युक्तं त्यागस्य त्रैविध्यं प्रतिपादयति–नियतस्येति । नियतस्य श्रुतिस्मृतिविहितस्य संध्योपासनाग्निहोत्रादेः कर्मणः संन्यासः काम्यकर्मवत्परित्यागो मुमुक्षोरशुद्धचित्तस्य नोपपद्यते, नित्यस्य कर्मणः सत्त्वशोधकत्वादकरणे प्रत्यवायाच्चास्य कर्मसंन्यासो न कर्तव्य इत्यर्थः । कर्मणस्तत्त्वमविज्ञायापातदृष्ट्या दोष इति त्यागोऽविवेकेन कृतश्चेत्कथमित्यत आह–मोहादिति । कृत्याकृत्यज्ञानाभावो मोहोऽविवेकस्तस्मान्मोहात्तस्य नियतस्य स्वानुष्ठानजन्यचित्तशुद्धिद्वारा मोक्षहेतुत्वेनोपादेयस्य नित्यस्य कर्मणः परित्यागस्तामसस्तमोगुणकार्यत्वात्तामस इति सद्भिः परिकीर्तितः । तमोगुणादेव मोहो वैचित्त्यमनिष्टादिकर्मफलाज्ञानं तस्मादेवोपादेयमपि नित्यं कर्म त्यजति, त्यक्त्वाऽकारणदोषजं फलं नरकं च प्राप्नोतीत्यर्थः । एतेनाशुद्धस्यानिर्विण्णस्य च कर्मत्यागो न कर्तव्य इति सूचितं भवति ॥ ७ ॥

श्री० टी०–प्रतिज्ञातं त्यागस्य त्रैविध्यमिदानीं दर्शयति–नियतस्येति त्रिभिः । काम्यस्य कर्मणो बन्धकत्वात् संन्यासो युक्तः । नियतस्य नित्यस्य पुनः कर्मणः संन्यासस्त्यागो नोपपद्यते सत्त्वशुद्धिद्वारा मोक्षहेतुत्वात् । अतस्तस्य परित्यागः उपादेयेऽपि त्याज्यमित्येवंलक्षणान्मोहादेव भवेत् । स च मोहस्य तामसत्वात्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

स० टी०–तदेवं कर्म न त्याज्यं स्वात्मनः स्थापितं मतम् ॥ त्याज्यं दोषवदित्यादिपरपक्षनिराकृतम् ॥ १ ॥ कर्तुमारभते त्यागत्रैविध्यमधुना हरिः ॥ काम्यस्य दोषवत्त्वात्तस्यात्त्यागः शुद्धयर्थिनां नृणाम् ॥ २ ॥ नित्यस्य कर्मणः शुद्धिहेतुत्वेनानघस्य तु ॥ चित्तशुद्धयर्थिनस्त्यागो मुमुक्षोर्नोपपद्यते ॥ ३ ॥ धीशुद्धये शास्त्रयुक्तिभ्यामनुष्ठेयं मुमुक्षुणा ॥ काम्यस्येवास्य नित्यस्य दोषवत्त्वं न संभवेत् ॥ ४ ॥ पावनत्वापरिज्ञानात्त्यागो नित्यस्य कर्मणः ॥ अवश्यमेव कर्तव्यं यच्चनित्यमितीर्यते ॥ ५ ॥ अज्ञानात्तत्परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ६ ॥ ७ ॥

भा० टी०–स्वाध्यवसायमुक्त्वा त्यागस्य त्रैविध्यं दर्शयितुमारभते–नियतस्येति । नियतस्य नित्यस्य तु कर्मणः मुमुक्षोरशुद्धस्याधिकृतस्य संन्यासः परित्यागो नोपपद्यते नोपपन्नो भवति नियतमवश्यकर्तव्यं त्यज्यते चेति विप्रतिषिद्धत्वात् । मोहात् पावनत्वापरिज्ञानात्तस्य नियतस्यावश्यकर्तव्यतया वेदविहितस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः । मोहस्य तमस्तन्निमित्तकत्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

प० टी०—अथ त्यागत्रैविध्यमाह—नियतस्येति । काम्यस्य कर्मणो बन्धकत्वात्तत्संन्यासो युक्तः, नियतस्य नित्यस्य तु कर्मणः संन्यासस्त्यागो नोपपद्यते न युज्यते सत्त्वशुद्धिद्वारा मोक्षहेतुत्वात् । मोहादज्ञानात्तस्य नित्यस्य कर्मणो यस्त्यागः स तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

रा० टी०—स्वरूपत्यागो नेत्येतदुपपादयन् त्यागो हि त्रिविध इत्युक्तं प्रपञ्चयति—नियतस्य त्विति । वर्णाश्रमोचितस्य तु कर्मणः संन्यासस्त्यागो नोपपद्यते युक्तो न भवति, 'स्वयज्ञादीन्परित्यज्य निरयं यात्यसंशयम्' इति पाद्मे प्रत्यवायस्मरणात् । स्वरूपत्याग एव त्यागशब्दार्थो न सङ्गफलयोस्त्याग इति मिथ्याज्ञानाख्यमोहात्तस्य यज्ञादिकर्मणः परित्यागः तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ॥
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

त० टी०—राजसं त्यागमाह—दुःखमिति । कर्मफले वैराग्याभावात् केवलमनुष्ठाने दुःखमिति मत्वा यत्कर्म कायक्लेशभयात् त्यजेत् स त्यागकर्ता एतादृशं राजसं त्यागं कृत्वा नैव त्यागफलं लभेत् । यथावस्थितवस्तुज्ञानं शास्त्रीयत्यागफलं न प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ८ ॥

म० टी०— पूर्वोक्तमोहाभावेऽपि—दुःखमिति । दुःखमिति अनुपजातान्तःकरणशुद्धितया कर्माधिकृतोऽपि दुःखमेवेदमिति मत्वा कायक्लेशभयान्नित्यं कर्म त्यजेदिति यत् स त्यागो राजसः । दुःखं हि रजः । अतः स मोहरहितोऽपि राजसः पुरुषस्तादृशं राजसं त्यागं कृत्वा नैव त्यागफलं सात्त्विकत्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठालक्षणं नैव लभेत् लभेत ॥ ८ ॥

शं० टी०—राजसत्यागस्य लक्षणं फलं चाह—दुःखमिति । यथोक्तनियमेन यन्नित्यं कर्तव्यं तत्कर्म श्रमसाध्यत्वाद्दुःखं दुःखात्मकमायाससाध्यमित्येवं निश्चित्यालसत्वदोषेण कर्मणः कर्तव्यत्वं विजानन्नपि यः कायक्लेशभयाद्देहेन्द्रियादिक्लेशो भवत्यस्यानुष्ठानेनेति भयात्त्यजेत्त्यजति, स पुरुषो देहानुगतरागविशिष्टत्वाद्राजसं रजोदूषितबुद्धिदोषादागतं राजसं त्यागं कर्मसंन्यासं कृत्वापि त्यागफलं त्यागस्य कर्मसंन्यासस्य फलं चित्तशुद्धिं तज्जन्यज्ञानं तत्फलं मोक्षं च न लभेत् न लभते । किंतु स्वधर्मत्यागात्मकस्य राजसत्यागस्यानुरूपं विहिताकरणप्रत्यवायतः प्राप्तं फलं नरकमेव प्रतिपद्यत इत्यर्थः । एतेन 'न सुखाल्लभ्यते सुखम्' इतिन्यायेन स्वधर्मानुष्ठानक्लेशसहिष्णोरेव पुरुषार्थः सिध्यतीति सूचितम् ॥ ८ ॥

श्री० टी०—राजसं त्यागमाह—दुःखमिति । यः कर्माऽऽत्मबोधं विना केवलं दुःखमित्येवं ज्ञात्वा शरीरायासभयान्नित्यं कर्म त्यजेदिति यत्तादृशस्त्यागो राजसः, दुःखस्य राजसत्वात् । अतस्तं राजसं त्यागं कृत्वा राजसः पुरुषस्त्यागस्य फलं ज्ञाननिष्ठालक्षणं नैव लभत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

स० टी०—चित्तशुद्धिं विना यस्तु कर्मण्यधिकृतः पुमान् ॥ दुःखमित्येव देहादावविरागितया जड ॥ १ ॥ मत्वा कर्म त्यजेत्कायक्लेशभीत्याऽऽत्ममोदितम् ॥ पूर्वोक्तमोहशून्योऽपि राजसः स च पूरुषः ॥ २ ॥ तादृशं राजसं त्यागं कृत्वात्मज्ञानयोग्यताम् ॥ चित्तशुद्ध्या न चाप्नोति सात्त्विकत्यागजं फलम् ॥ ३ ॥ प्रत्युत त्यागतोऽवश्यं कर्तव्यस्यैव कर्मणः ॥ प्रत्यवैति ततो मूढः संसृतिं नरकं व्रजेत् ॥ ४ ॥ अतो मुमुक्षुभिर्नित्यं न त्याज्यं धीविशोधकम् ॥ किं तु कार्यं स्वकर्मेति श्रीहरेरयमाशयः ॥ ५ ॥ ८ ॥

भा० टी०—एवं तामसत्यागप्रकारमुक्त्वा राजसं तमाह—दुःखमिति । मोहाभावेऽपि दुःखमेवेति मत्वा यत्कर्म कायक्लेशभयात् शरीरदुःखभयात् त्यजेत्—यतिस्त्वन्ययं वा, यस्त्यजेदित्यर्थः । स राजसं रजोनिर्वृत्तं

त्यागं कृत्वा त्यागस्य ज्ञानपूर्वकस्य सर्वकर्मत्यागस्य फलं मोक्षाख्यं नैव लभेत् । एवकारेणैतादृशत्यागवता मोक्षाशापि न कर्तव्येति सूचयति ॥ ८ ॥

प० टी०—राजसं त्यागमाह—दुःखमिति । अथ कर्ता कर्म दुःखं दुःखसाध्यमिति मत्वा कायक्लेशभयाद्यस्त्यजेत् स राजसं त्यागं कृत्वा ज्ञाननिष्ठालक्षणं त्यागफलं नैव लभेत् ॥ ८ ॥

रा० टी०—दुःखमिति । दुःखं प्रतिकूलवेदनीयरूपदुःखकरणमित्येव कायक्लेशभयाच्च कर्म त्यजेदिति यत्स राजसत्यागः । तं राजसत्यागं कृत्वा त्यागफलं भगवत्प्रीतिरूपं नैव लभेत् ॥ ८ ॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ! ॥
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

त० टी०—सात्त्विकं त्यागमाह—कार्यमिति । कार्यं कर्तव्यमेवेति बुद्ध्या नियतमवश्यकर्तव्यतया विहितं नित्यनैमित्तिकं कर्म सङ्गं स्वकर्तृत्वाभिनिवेशं फलं चैव त्यक्त्वा यत्क्रियते स त्यागः सात्त्विको मतः । भगवदाराधनरूपतया सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पादक इत्यर्थः ॥ ९ ॥

म० टी०—कर्मत्यागस्तामसो राजसश्च हेयो दर्शितः । कीदृशः पुनरुपादेयः सात्त्विकस्त्याग इत्युच्यते—कार्यमिति । विध्युद्देशे फलाश्रवणेऽपि कार्यं कर्तव्यमेवेति बुद्ध्या नियतं नित्यं कर्म सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं फलं च त्यक्त्वैव यत् क्रियतेऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं स त्यागः सात्त्विकः सत्त्वनिर्वृत्तो मत आदेयत्वेन संमतः शिष्टानाम् । ननु नित्यानां फलमेव नास्ति कथं फलं त्यक्त्वेत्युक्तम् । उच्यते—अस्मादेव भगवद्वचनान्नित्यानां फलमस्तीति गम्यते, निष्फलस्यानुष्ठानासंभवात् । तथा चाऽऽपस्तम्बः—'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निमिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इत्यानुषङ्गिकं फलं नित्यानां दर्शयति । अकरणे प्रत्यवायस्मृतिश्च नित्यानां प्रत्यवायपरिहारं फलं दर्शयति 'धर्मेण पापमपनुदति । तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति', 'येन केन च यजेतापि वा दर्विहोमेनानुपहतमना एव भवति', 'तदाहुर्देवयाजी श्रेयानात्मयाजी३ इत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात् । स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियत इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयते' इत्यादिश्रुतयश्च ज्ञानप्रतिबन्धकपापक्षयलक्षणं ज्ञानयोग्यतारूपपुण्योत्पत्तिलक्षणं चात्मसंस्कारं नित्यानां कर्मणां फलं दर्शयन्ति । तदभिसन्धिं त्यक्त्वा तान्यनुष्ठेयानीत्यर्थः । यदुक्तं त्यागसंन्यासशब्दौ घटपटशब्दाविव न भिन्नजातीयार्थौ, किंतु फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्याग एव तयोरर्थ इति तन्न विस्मर्तव्यम् । तत्र सत्यपि फलाभिसंधौ मोहाद्वा कायक्लेशभयाद्वा यः कर्मत्यागः स विशेष्याभावकृतो विशिष्टाभावस्तामसत्वेन राजसत्वेन च निन्दितः । यस्तु सत्यपि कर्मणि फलाभिसंधित्यागः स विशेषणाभावकृतो विशिष्टाभावः सात्त्विकत्वेन स्तूयत इति विशेष्याभावकृते विशेषणाभावकृते च विशिष्टाभावत्वस्य समानत्वान्न पूर्वापरविरोधः । उभयाभावकृतस्तु निर्गुणत्वान्न त्रिविधमध्ये गणनीय इति चावोचाम । एतेन "त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः" इति प्रतिज्ञाय कर्मत्यागलक्षणे द्वे विधे दर्शयित्वा प्रतिज्ञाननुरूपां कर्मानुष्ठानलक्षणां तृतीयां विधां दर्शयतो भगवतः प्रक्रमकौशलमापादितम् । न हि भवति त्रयो ब्राह्मणा भोजयितव्याः द्वौ कठकौण्डिन्यौ तृतीयः क्षत्रिय इति तद्वदिति परास्तम् । तिसृणामपि विधानां विशिष्टाभावरूपेण त्यागसामान्येनैकजातीयतया प्राग्व्याख्यातत्वात् । तस्माद्भगवत्कौशलोद्भावनमेव महत्कौशलमिति द्रष्टव्यम् ॥ ९ ॥

शं० टी०—फलमग्रे विवक्षन् सात्त्विकत्यागमाह—कार्यमिति । विध्युल्लङ्घनभीत्या मुमुक्षया च कार्यं ममेदमवश्यं कर्तव्यमित्येव । कर्तव्यताबुद्धेर्विकल्पान्तरनिषेधार्थ एवकारः । मयेदं कर्मेश्वरप्रीत्यै करणीयमेवेति दृढनिश्चयवता मुमुक्षुणा नियतं विध्युक्तं यन्नित्यं तत्कर्म, सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं कामं वा फलं च ।

च: समुच्चयार्थः। यद्यपि "स्वर्गकामः पशुकामः" इतिवन्नित्यस्य कर्मणः फलं न श्रूयते, तथापि फलाभावे "अहरहः संध्यामुपासीत" इत्यादिकर्मविधेरुन्मत्तवाक्य इवानर्थक्यं स्यादतो यत्किंचित्फलं कल्पनीयमुपात्तदुरितक्षयलक्षणम्। तादृशफलं च फलकामनां च त्यक्त्वा परित्यज्येत्यर्थः। ननु फलानपेक्षायां सत्यां पुंसः प्रवृत्तिरेव न स्यादिति चेन्न। सातोर्विष्णुद्धननीत्यैव प्रवृत्तिसंभवात्, 'श्रुतिस्मृतिभ्यां सुजनो नियम्यते' इतिस्मृतेः। वैऽथे दन्तधावने कृते मुखशुद्धिवद्विना फलकामनया कर्माणि कृते कर्तुः "आपः शुन्धन्तु मैनसः" "पापेभ्यो रक्षन्तात्" इत्यादिमन्त्रक्रियाशक्तिबलेन सत्त्वशुद्धिलक्षणं फलमर्थात्स्वयमेव सिध्यति। तत्फलं मोक्षश्च। अतस्तत्र कामसंकल्पादि न कर्तव्यं, किंतु सङ्गं फलं च त्यक्त्वा। एवं नित्यं यत्कर्म कुरुते स त्यागः सात्त्विकः सत्त्वगुणनिष्पन्नत्वात्सात्त्विक इति मतः सतामभिप्रेतेनाभिमतः, कर्मफलध्वंसाभावात्प्रत्यवायकृतानर्थाभावाच्च पूर्वोक्तत्यागद्वयापेक्षया सात्त्विककर्मफलत्यागः श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ९ ॥

श्री० टी०—सात्त्विकं त्यागमाह—कार्यमिति। कार्यमित्येवं बुद्ध्वा नियतमवश्यकर्तव्यतया विहितं कर्मसङ्गं फलं च त्यक्त्वा क्रियत इति यत् स तादृशस्त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

स० टी०—तामसो राजसो हेयः कर्मत्यागद्वयं दर्शितः ॥ कीदृशः पुनरादेयः सात्त्विकस्त्याग उच्यते ॥ १ ॥ अवश्यं कार्यमेवेति बुद्ध्या शास्त्रविधेर्बलात् ॥ कर्तृत्वाभिनिवेशाख्यं सङ्गं त्यक्त्वा फलं तथा ॥ २ ॥ नित्यं नैमित्तिकं कर्म क्रियते सत्त्वशुद्धये ॥ आदेयत्वेन शिष्टानां स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ३ ॥ ननु नास्त्येव नित्यानां फलं त्यक्त्वेति तत्कथम् ॥ उक्तमित्यत्र च ब्रूमः श्रीमद्भगवतो हरेः ॥४॥ वाक्यादेव फलं तेषामस्तीत्येवं हि गम्यते ॥ यतो न निष्फलस्यास्ति बुद्धिपूर्वमनुष्ठितिः ॥ ५ ॥ कर्मणा पितृलोकः स्यादित्यादिश्रुतिवाक्यतः ॥ अवश्यं फलमस्त्येवानुतिष्ठ्यादि च कर्मणाम् ॥ ६ ॥ नित्यानामननुष्ठाने प्रत्यवायस्तुतिस्तथा ॥ प्रत्यवायक्षयं तेषां फलं स्वं दर्शयत्यतः ॥ ७ ॥ धर्मेण पापमित्यादिश्रुतयो दर्शयन्त्यपि ॥ साक्षात्फलं धियः शुद्धिर्नित्यानामानुषङ्गिकम् ॥८॥ पितृलोकादिसंप्राप्तिः प्रत्यवायक्षयस्तथा ॥ मोहाद्वा क्लेशभीत्या वा फलासङ्गे च सत्यपि ॥ ९ ॥ नित्यकर्मपरित्यागः क्रियते योऽविपश्चिता ॥ स त्यागस्तामसत्वेन राजसत्वेन निन्दितः ॥ १० ॥ फलाभिसंधिसंत्यागो यस्तु कर्मणि सत्यपि ॥ स्तूयते सात्त्विकत्वेन स त्यागः सत्त्वशोधकः ॥ ११ ॥ ९ ॥

भा० टी०—एवं राजसत्यागप्रकारमुक्त्वा सात्त्विकं तमाह—कार्यमिति। सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं फलं च त्यक्त्वा विहाय कार्यं कर्तव्यमित्येव नियतं नित्यं यत्कर्म क्रियते, स त्यागः सात्त्विको मतः। ननु नित्यानां विध्युद्देशे फलाश्रवणात् तेषां फलं त्यक्त्वेति कथमुक्तमिति चेत्, नित्यानां कर्मणां फलवत्त्वे भगवद्वचनं प्रमाणमिति गृहाण। अन्यथा भगवद्वचनमनर्थकं स्यात्। यद्वा विधिना कृतस्य कर्मण आनर्थक्ये विध्यानर्थक्यप्रसङ्गात् श्रौतफलाभावेऽपि कर्माधिकृतो यो नित्यं कर्मकृतमात्मसंस्कारं प्रत्यवायपरिहारं च फलं कर्तुः करोतीति कल्पयति तामपि कल्पनां निवारयति भगवान्—फलं त्यक्त्वेति। अयमेव त्यागश्चित्तशुद्धिहेतुरिति सूचनार्थमर्जुनेति संबोधनम्। ननु कर्मपरित्यागस्त्रिविधो मत इति त्यागस्य त्रैविध्यं प्रस्तुत्य सङ्गफलत्यागस्य तृतीयत्वेन कथनमयुक्तम्। यथा त्रयो ब्राह्मणा आगतास्तत्र षडङ्गवेदविदौ द्वौ क्षत्रियस्तृतीय इति तद्वदिति चेन्नैष दोषः। कर्मसंन्यासस्य सङ्गफलत्यागस्य च त्यागसामान्येन राजसतामसत्वेन कर्मत्यागनिन्दया सङ्गफलत्यागस्य तृतीयत्वेन प्रदर्शनस्य सात्त्विकत्वेन स्तुत्यर्थत्वादित्येवमाचार्यैः प्रतिज्ञातं त्यागत्रैविध्यं त्रिभिः श्लोकैः प्रदर्शितम्। केचित्तु विशिष्टाभावरूपत्यागो विशेषणाभावाद्विशेष्याभावादुभयाभावाच्च त्रिविधः संप्रकीर्तितः। तथाहि फलाभिसंधिपूर्वककर्मत्यागः सत्यपि कर्मणि फलाभिसंधित्यागादेकः। सत्यपि फलाभिसंधौ कर्मत्यागात् द्वितीयः। फलाभिसंधेः कर्मणश्च त्यागात्तृतीयः। तत्र प्रथमः सात्त्विक आदेय-

त्वेनान्नैव विधित्सितः । द्वितीयस्तु दुःखबुद्ध्या कृतो राजसः । विपर्यासेन कृतस्तामसः । इति राजसतामसभेदेन द्विविधोऽप्ययमेव हेयत्वेन निन्दितः । तृतीयस्तु विदुषा कर्मानधिकारिणा विविदिषुणा च कर्तुं योग्यो द्विविधः । तत्राद्यः स्थितप्रज्ञलक्षणादौ प्राग्व्याख्यातः । द्वितीयस्तु " नैष्कर्म्यसिद्धिं परमाम् " इत्यत्र वक्ष्यत इति वर्णयन्ति । अस्मिन् पक्षे एकस्मिन्द्वयोरन्तर्भावं कृत्वा तृतीयः प्रदेशान्तरे प्रक्षिप्त इति प्रतिज्ञाया अनिर्वाहो भगवतो महदकौशलापादको द्रष्टव्यः ॥ ९ ॥

प० टी०—सात्त्विकं त्यागमाह—कार्यमिति । कार्यमवश्यकर्तव्यत्वेन प्राप्तमित्येव मत्वा नियतं नित्यं कर्म सङ्गं फलं च त्यक्त्वा यत्क्रियते स त्यागः सात्त्विको मतः । अत्रैतदुक्तं भवति । वेदबोधितस्य कर्मणः प्रयोजनद्वयं दर्शितमस्ति स्वर्गादीष्टप्राप्तिः संसाराद्यनर्थपरिहारश्च । तत्रेष्टप्राप्तिर्मीनस्य बडिशामिषप्राप्तिरिव दुःखगर्भा सुखेनावस्थानमेवानर्थपरिहारः । तथाचोभयोर्मध्येऽवश्यकत्वेन किमनुष्ठेयमिति विचारेऽनर्थपरिहार एवानुष्ठातुं श्रेयानिति भगवतो हार्दम् ॥ ९ ॥

रा० टी०—कार्यमिति । कार्यमवश्यं कर्तव्यमन्यथा प्रत्यवायादितिबुद्ध्या सङ्गं मदीयमिति स्नेहं स्वर्गादिफलं च त्यक्त्वैव नियतं वर्णाश्रमोचितं कर्म यत् क्रियते स त्यागः कर्मानुष्ठानसहितः सात्त्विको मतः ॥९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ॥
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

त० टी०—तदेवं सात्त्विकत्यागेनोत्पन्नज्ञानस्य मुमुक्षोर्वर्तनप्रकारमाह—न द्वेष्टीति । सत्त्वसमाविष्टो यदा सत्त्वेनात्मानात्मविवेकज्ञानहेतुना समाविष्टो व्याप्त अत एव मेधावी मेधा तत्त्वावधारणलक्षणा बुद्धिस्तद्वान् तत एव छिन्नसंशयः, देहात्मयाथात्म्यनिश्चयेन छिन्नसंदेहः । एवंभूतो यः सात्त्विकत्यागी अकुशलं शरीरदुःखावहं शिशिरे प्रातःस्नानमेकादश्युपवासजागरणादिकं कर्म न द्वेष्टि प्रतिकूलबुद्ध्या न त्यजति । कुशले सर्वजनसामान्यप्रियत्वेनाभिमते ग्रीष्मेऽसकृत्स्नानजलक्रीडादिवास्वापारामाटनादौ नानुषज्जते प्रीत्यतिशयं न करोति । परिणामे सुखापादकं महदपि दुःखं सहते । संसारफलकं महदपि सुखं नेच्छतीत्यर्थः ॥ १० ॥

म० टी०—सात्त्विकस्य त्यागस्याऽऽदानाय सत्त्वशुद्धिद्वारेण ज्ञाननिष्ठा फलमाह—नेति । यस्त्यागी सात्त्विकेन त्यागेन युक्तः पूर्वोक्तेन प्रकारेण कर्तृत्वाभिनिवेशं फलाभिसंधिं च त्यक्त्वाऽन्तःकरणशुद्ध्यर्थं विहितकर्मानुष्ठायी यदा सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वेनात्मानात्मविवेकज्ञानहेतुना चित्तगतेनातिशयेन सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरजस्तमोमलराहित्येनासमन्तात् फलाव्यभिचारेणाविष्टो व्याप्तो भवति भगवदर्पितनित्यकर्मानुष्ठानात् पापमलापकर्षलक्षणेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपपुण्यगुणाधानलक्षणेन च संस्कारेण संस्कृतमन्तःकरणं यदा भवतीत्यर्थः । तदा मेधावी शमदमसर्वकर्मोपरमगुरूपसदनादिसाधनाङ्गयुक्तेन मनननिदिध्यासनाख्यफलोपकार्यङ्गयुक्तेन च श्रवणाख्यवेदान्तवाक्यविचारेण परिनिष्पन्नं वेदान्तमहावाक्यकरणकं निरस्तसमस्ताप्रामाण्याशङ्कं चिदन्याविषयकमहं ब्रह्मास्मीति ब्रह्मात्मैक्यज्ञानमेव मेधा, तया नित्यं युक्तो मेधावी स्थितप्रज्ञो भवति, तदा छिन्नसंशयः अहं ब्रह्मास्मीति विद्यारूपया मेधया तदविद्योच्छेदे तत्कार्यसंशयविपर्ययशून्यो भवति, तदा च क्षीणकर्मत्वात न द्वेष्ट्यकुशलं कर्माशोभनं काम्यं निषिद्धं वा कर्म न प्रतिकूलतया मन्यते, कुशले शोभने नित्ये कर्मणि नानुषज्जते न प्रीतिं करोति कर्तृत्वाद्यभिमानरहितत्वेन कृतकृत्यत्वात् । तथा च श्रुतिः—' भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ' इति । यस्मादेवं सात्त्विकस्य त्यागस्य फलं तस्मान्महताऽपि प्रयत्नेन स एवोपादेय इत्यर्थः ॥ १० ॥

शं० टी०—एवं तामसादित्यागत्रयस्वरूपं प्रतिपाद्य बहुजन्मस्वीश्वरार्पणबुद्ध्या फलाभिसंधिरहिततया सात्त्विकत्यागनिष्ठया सम्यगनुष्ठितैर्यज्ञदानादिकर्मभिः सम्यक्संस्कृतत्वेन विशुद्धान्तःकरणस्य शमदमादिसत्त्वगुणसंपन्नस्य सात्त्विकत्यागेनान्तःकरणपरिपाकसिद्धेः फलमाह—न द्वेष्टीति । सात्त्विकत्यागनिष्ठया भक्त्याऽनेकजन्मभिः समाराधितपरमेश्वरप्रसादसंपन्नस्त्यागी सात्त्विकत्यागनिष्ठः पुरुषः सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वं रजस्तमस्तत्कार्यविनिर्मुक्त आत्मानात्मस्वरूपनिर्धारणसमर्थोऽन्तःकरणपरिपाकविशेषस्तेन समाविष्टः सत्त्वविशिष्टः स एव मेधावी ब्रह्मविद्गुरोः सकृदुपदेशमात्रेण ब्रह्मैवाहमिति संप्राप्तात्मतत्त्वविज्ञानस्तत एव छिन्नसंशयः छिन्नः स्वस्य कूटस्थासङ्गचिदात्मत्वविज्ञानेन विच्छिन्नः संशयः संचितागामिवर्तमानकर्मभिर्मम लेपोऽस्ति वा न वा, कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणः संसार आत्मनो वाऽनात्मनो वा, मोक्षकारणं योगो वाप्युपास्तिर्वा कर्म वा ज्ञानं वा तन्निष्ठा वा, मोक्षः सालोक्यादिर्वा निर्विशेषात्मनावस्थानलक्षणो वाऽन्यो वा, इत्येवमादिर्यस्य स छिन्नसंशयः स एवाकुशलं न लभ्यते कुशलं निःश्रेयसं येन तदकुशलं शरीरारम्भकत्वेनेदं संसारलक्षणं बन्धकमिति काम्यं कर्म च नरकहेतुत्वेनेदं दुःखकारणमिति निषिद्धमपि किमनेनेति न द्वेष्टि द्वेषोऽप्रीतिस्तामत्र न करोति । तमःकृतमोहाभावादिदं दुष्टं बन्धकं न कर्तव्यमिति बुद्धिं न करोतीत्यर्थः । कुशले कुशलसाधने यज्ञदानादौ कर्मणि नित्ये मोक्षकारणमिति नानुषज्जते । अनुषङ्गः प्रीतिस्तां न करोतीति मुक्तस्य मोक्षेच्छाऽसंभवे साधनापेक्षाभावात्तत्र कर्तव्यत्वबुद्धिं न करोति, किंतु 'दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते । गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः' इति न्यायेन कुशलमकुशलं च कर्म सर्वं संन्यस्य ब्रह्मात्मना तिष्ठतीत्यर्थः । एतेन सर्वकर्मफलकामनात्यागपूर्वकमीश्वरार्पणबुद्ध्या सम्यगनुष्ठितैरेव यज्ञदानादिभिः सत्त्वशुद्धिः । शुद्धसत्त्वस्यैव सम्यग्ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वविषयकमप्रतिबद्धं सम्यग्ज्ञानवत एव संशयादिविच्छित्तिः सर्वकर्मसंन्यासः तन्निष्ठा च सिध्यतीति बोधितं भवति । ततो ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभाव इति सिद्धम् । 'तत्सर्वस्यापि गीताशास्त्रस्य सर्वस्यापि च वेदस्य तात्पर्यं तथाप्यविप्लुतं भवतीति वेदितव्यमित्यर्थः' ॥ १० ॥

श्री० टी०—एवंभूतसात्त्विकत्यागपरिनिष्ठितस्य लक्षणमाह—न द्वेष्टीति । सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वेन संव्याप्तः सात्त्विकत्यागी अकुशलं दुःखावहं शिशिरे प्रातःस्नानादिकं कर्म न द्वेष्टि । कुशले च सुखकरे कर्मणि निदाघे माध्याह्नस्नानादौ नानुषज्जते प्रीतिं न करोति । तत्र हेतुः—मेधावी स्थिरबुद्धिः । यत्र परपरिभवादि महदपि दुःखं सह्यते स्वर्गादिसुखं च त्यज्यते तत्र कियदेतत्तात्कालिकं सुखं दुःखं चेत्येवमनुसंधानवानित्यर्थः । अत एव छिन्नः संशयो मिथ्याज्ञानं दैहिकसुखदुःखयोरुपादित्सापरिजिहीर्षालक्षणं यस्य सः ॥ १० ॥

स० टी०—सात्त्विकस्त्याग आदेयः सत्त्वशुद्ध्यात्मलब्धये ॥ इत्युक्तं तत्फलं ज्ञाननिष्ठामाहाधुना हरिः ॥ १ ॥ यस्त्यागी सात्त्विकेनैव त्यागेन युत उच्यते ॥ त्यक्त्वा फलाभिसंधिं च कर्तृत्वाभिनिवेशनम् ॥ २ ॥ धीशुद्धये विहितं कर्म कुर्वन्भगवदर्पणम् ॥ तत्प्रसादात्सधीशुद्धिस्तया प्राप्ताधिकारिताम् ॥ ३ ॥ सत्त्वेन तत्त्वविज्ञानहेतुभूतेन संयुतः ॥ वैराग्यसद्विवेकादियोग्यतापूर्वकेण च ॥ ४ ॥ असंदिग्धाविपर्यस्तवेदान्तवचसां सदा ॥ विचारेण सुनिष्पन्नाहं ब्रह्मास्मीति या मतिः ॥ ५ ॥ सा मेधा यस्तया नित्यं युक्तो मेधाव्युदारधीः ॥ मेधावित्वेन संछिन्नः संशयो यस्य मोहजः ॥ ६ ॥ स्वात्मावस्थानमेवास्ति परं मोक्षैकसाधनम् ॥ नैवान्यत्किंचिदित्येवं निश्चयेन प्रमात्मना ॥ ७ ॥ सदैव क्षीणकर्मत्वात्काम्यकर्माद्यशोभनम् ॥ प्रतिकूलतया नायं मन्यते स्वात्मनि स्थितः ॥ ८ ॥ कुशले शोभने नित्ये न करोति रतिं सुधीः ॥ छत्वकृत्यतया तुत्तस्यफक्र्तृत्वमीर्यतः ॥ ९ ॥ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ॥ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ १० ॥ त्यागस्य सात्त्विकस्यास्ति यस्मादेवं फलं ततः ॥ महताऽपि प्रयत्नेन स आदेयो मुमुक्षुणा ॥ ११ ॥ १० ॥

भा० टी०—एवं सात्त्विकं त्यागमुक्त्वा योऽधिकृतः सङ्गं फलाभिसंधिं च त्यक्त्वा कर्म करोति तादृश-कर्मानुष्ठानेन संस्कृतात्मा सन् जन्मादिविक्रियारहितत्वेन निष्क्रियमात्मानमात्मत्वेन संबुद्धः सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य नैव कुर्वन्न कारयन्नासीनो नैष्कर्म्यलक्षणां ज्ञाननिष्ठां प्राप्नोतीत्येवम्पूर्वोक्तस्य कर्मयोगस्य प्रयोजन-माह—न द्वेष्टीति। यस्त्यागी पूर्वोक्तसङ्गफलत्यागवान् नित्यकर्मानुष्ठायी यदा सत्त्वसमाविष्टः सङ्गं फलाभिसंधिं च त्यक्त्वा कर्मानुष्ठानतः सङ्गफलाभ्यामकलुषीक्रियमाणं नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुद्धं समुद्भूत-स्वभावात्मानात्मविवेकविज्ञानहेत्वन्तःकरणं सत्त्वमत्र ग्राह्यं, तेन समाविष्टः संव्याप्तः संयुक्त इति यावत्। अत एव मेधावी ब्रह्मात्मज्ञानलक्षणा प्रज्ञा मेधा तद्वान् मेधावी। मेधावित्वादेव ब्रह्मात्मस्वरूपावस्थानमेव परं निःश्रेयससाधनं नान्यत् किंचिदित्येवं निश्चयेन छिन्नोऽविद्याकृतः संशयो यस्य स छिन्नसंशयः "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"। "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चा-स्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" इति श्रुतेः स तदा अकुशलमशोभनं काम्यं निषिद्धं च कर्म न द्वेष्टि काम्या-दिकर्मशरीरारम्भादिद्वारेण संसारकारणमतः किमनेनेत्येवं द्वेषं न करोति। कुशले चित्तशुद्ध्यादिद्वारा मोक्ष-हेतुत्वात् शोभने नित्ये कर्मणि नानुषज्जते सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तितन्निष्ठाहेतुत्वेन मोक्षकारणमतोऽनेन मदीयं प्रयोजनं सेत्स्यतीत्यनुषङ्गमासक्तिं प्रीतिं न करोतीत्यर्थः। एवंभूतसात्त्विकपरित्यागनिष्ठस्य लक्षणमाह—सत्त्वसमाविष्टः—सात्त्विकत्यागी अकुशलं दुःखावहं शिशिरे प्रातःस्नानादि कर्म न द्वेष्टि कुशले च सुखकरे कर्मणि निदाघे मध्याह्नस्नानादौ नानुषज्जते प्रीतिं न करोति। तत्र हेतुः—मेधावी स्थिरबुद्धिः। यत्र परपरिभ-वादिमहद्दुःखमपि सह्यते स्वर्गादिसुखं च त्यज्यते तत्र कियदेतत्कालिकं सुखं दुःखं चैवमनुसंधानवान् इत्यर्थः। अत एव छिन्नः संशयो मिथ्याज्ञानं दैहिकसुखदुःखयोरूपादित्सापरिजिहीर्षालक्षणं यस्य स इत्यपरे। इतरे तु स तु त्यागी सात्त्विकत्यागकर्ता। तुशब्दस्तामसराजसत्यागकर्तृतो विशेषद्योतकः। अकुशलमविवेकिनं मोक्षकथानभिज्ञं देहाभिमानिनम्। अत एवान्तःकरणशुद्धिप्रयोजककर्माचरणासहिष्णुं किमर्थं वा एतत्कर्माचरसि किंवा पुत्रदारादिनिर्वाहकृत्कर्म त्यजसीत्येवमादि जल्पन्तं न द्वेष्टि धिक् त्वां परतो गच्छेत्येवमादिचेष्टाभावात् द्वेषं न करोतीत्यर्थः। तथा कर्मकुशले नित्यनैमित्तिककर्माचरणकुशले तन्मात्रासङ्गात्फलत्यागवति स्वसमाने नानुषज्जते। 'ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति। भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्' इत्युक्तमनुषङ्गं न करोति। ननु तस्योभयविधलिङ्गदर्शनात् संशय एव किं न स्यादित्यत उक्तम्—छिन्नसंशयः संशयरहितः। तत्रैव हेतुमाह—मेधावीति। स्वीकरणनिश्चयधारणा-वान्। कुतोऽयं निश्चयस्तस्येत्यत उक्तम्—असमाविष्ट इति। असमे क्षयिफलान्तरासदृशे निरतिशयानन्दरूपे फले आविष्टो लिप्सावान् अत ईदृग्लक्षणो योगी त्यागी ज्ञेय इति भाव इति वर्णयन्ति। एवममुख्यं सा-त्त्विकं त्यागमुक्त्वा मुख्यं तमाह—न द्वेष्टि सत्त्वेन सम्यगाविष्टो न्यासत्यागी मुख्यः सात्त्विकत्यागी संन्यासीत्यर्थः। अकुशलमसुखप्रदं कर्म त्रिषवणस्नानचतुर्गुणशौचभिक्षाटनादिप्रयासरूपं न द्वेष्टि। कुशले मिष्टान्नभक्षणादौ नानुषज्जते प्रीतिं न करोति। यद्वा कर्मकुशले सेवादिकर्मकुशले शिष्यादौ नानुषज्जते तत्राकुशलं वा तं न द्वेष्टि। एतेन रागद्वेषशून्यत्वमस्य दर्शितम्। तदपि कुत इत्यपेक्षायामाह—मेधावीति। ऊहापोहकु-शलतया नित्यानित्यवस्तुविवेचनादौ प्रज्ञावान्। अनेन मोक्षाचरय परित्याग इत्युक्तात्तामसात्त्यागात् व्यावृत्तिः। मेधावित्वादेव छिन्नसंशयः। किं कर्माण्येवमुक्तिसाधनानि उत संन्यास एवेतिसंशयरहितः। अनेन कार्य-मित्येवेत्युक्तादमुख्यसात्त्विकत्यागात् व्यावृत्तिरेव। त्यागीत्यनेन यज्ञो दानमित्युक्तात्त्यागात् पूर्वार्धेन काये-त्युक्ताद्राजसात्त्यागात् व्यावृत्तिरित्यन्ये। आचार्योक्तव्याख्यानापेक्षयोदाहृतव्याख्यानत्रयेऽप्यधिकं स्वार-स्यं चिन्त्यम्॥ १०॥

प० टी०—अथैवंभूतसात्त्विकत्यागपरिनिष्ठितस्य लक्षणमाह—न द्वेष्टीति । त्यक्तरजस्तमस्कः सत्त्वेन समाविष्टः प्रविष्ट एवंविधस्त्यागी अकुशलं देहपीडाकरं कर्म न द्वेष्टि एतत्कार्यमिति न मनुते । तथा कुशले निदाघे मध्याह्नस्नानवद्देहसुखावहे कर्मणि नैव सज्जते, एतत्सुखकरमिति प्रीतिं न कुरुते । अनेन कायक्लेशभयात्त्यजेदित्यादिवद्रजोगाहित्यं दर्शितम् । यतो मेधावी बुद्धिमान् दैहिकसुखदुःखे अमन्यमानोऽत एव मन्मतावलम्बनेन छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

रा० टी०—सात्त्विकत्यागिनो विशेषणान्याह—न द्वेष्टीति । अकुशलं तात्कालिकसुखदं न किं तु कायक्लेशदुःखदं कर्म न द्वेष्टि । कुशले पूर्वार्जितपुण्यफले नानुषज्जते नेच्छति । सत्त्वसमाविष्टः सम्यक्सत्त्वगुणेन व्याप्तः मेधावी भगवत्तत्त्वज्ञानी छिन्नसंशयः परापरतत्त्वविषये भगवद्धर्मानुष्ठाने वा संदेहहीनः त्यागी भगवति सर्वकर्मसमर्पणवान्स सात्त्विकत्यागीत्यर्थः ॥ १० ॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

त० टी०—ननु सत्त्वसमाविष्टः कुशलाकुशलयोः कर्मणोर्यदि प्रीतिद्वेषौ न करोति, तर्हि किमर्थं तदनुष्ठानं फलाभावात् । फलाभिसंधिनाऽनुष्ठितस्य च बन्धकत्वमसकृदुक्तमेव । तस्मान्मुमुक्षुणा सर्वमेव कर्म त्याज्यमित्याशङ्क्याह—न हीति । देहं बिभर्तीति देहभृत् तेन देहभृता उत्पन्नज्ञानेनानुत्पन्नज्ञानेन वा कर्माण्यशेषतस्त्यक्तुं नैव शक्यानि । देहनिर्वाहहेतूनां भोजनाच्छादनाद्यर्थककर्मणामवर्जनीयत्वात् । तस्माद्यस्तु कर्मफलत्यागी कर्मफलानपेक्षी स त्यागीत्यभिधीयते निरूप्यते ॥ ११ ॥

म० टी०—तदेवमात्मज्ञानवतः सर्वकर्मत्यागः संभाव्यते कर्मप्रवृत्तिहेत्वो रागद्वेषयोरभावादित्युक्तम् । संप्रत्यज्ञस्य कर्मत्यागासंभवे हेतुरुच्यते—नहीति । मनुष्योऽहं ब्राह्मणोऽहं गृहस्थोऽहमित्याद्यभिमानेनानाधिते देहं कर्माधिकारहेतुवर्णाश्रमादिरूपं कर्तृभोक्तृत्वाद्याश्रयं स्थूलसूक्ष्मशरीरेन्द्रियसंघातं बिभर्ति अनाद्यविद्यावासनावशादृव्यवहारयोग्यत्वेन कल्पितमसत्यमपि सत्यतया स्वभिन्नमपि स्वाभिन्नतया पश्यन् धारयति पोषयति चेति देहभृत्तद्वाधितकर्माधिकारहेतुर्देहाभिमानस्तेन विवेकज्ञानशून्येन देहभृता कर्मप्रवृत्तिहेतुरागद्वेषपौष्कल्येन सततं कर्मसु प्रवर्तमानेन कर्माण्यशेषतः निःशेषेण त्यक्तुं हि यस्मान्न शक्यं न शक्यानि सत्या कारणसामग्र्या कार्यत्यागस्याशक्यत्वात् । तस्मात् यस्त्वज्ञोऽधिकारी सत्त्वशुद्ध्यर्थं कर्माणि कुर्वन्नपि भगवदनुकम्पया तत्फलत्यागी । तुशब्दस्तस्य दुर्लभत्वद्योतनार्थः । स त्यागीत्यभिधीयते गौण्या वृत्त्या स्तुत्यर्थमत्याग्यपि सन् । अशेषकर्मसंन्यासस्तु परमार्थदर्शिनैव देहभृता शक्यते कर्तुमिति स एव मुख्यया वृत्त्या त्यागीत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

शं० टी०—इदानीं नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेष्वधिकृतो देहात्मबुद्धिः पुरुषस्तस्याशेषकर्मपरित्यागस्याशक्यत्वात्कर्मफलत्यागेन कर्मानुष्ठान एवाधिकारो न तु कर्मत्याग इति प्रतिपादयति—न हीति । हि यस्मात्कारणाद्देहभृता देहमयमेवाहमिति स्वात्मना बिभर्तीति देहभृत् देहात्मबुद्धिरज्ञ एव कर्माधिकारी न त्वात्मज्ञस्तस्य कूटस्थमेवात्मानं सर्वदृश्यविलक्षणं पश्यतो विदुषो देहात्मत्वबुद्ध्यसंभवात्कर्माधिकारानुपपत्तेरहं कर्तेति कर्तृत्वाभिमानिनः । एवं देहाद्यहंबुद्धेः कर्मण्यधिकारस्ततो देहभृताऽनात्मज्ञेन अशेषतोऽशेषाणि नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धान्यन्यान्यपि च कर्माणि त्यक्तुं संन्यसितुं न शक्यं तस्याकर्त्रात्मज्ञानाभावात् । यस्त्वकर्त्रात्मज्ञानवान् भवति तस्यैवाशेषकर्मसंन्यास उपपद्यते न त्वन्यस्य । तस्माद्यस्त्वनात्मज्ञः कर्मण्यधिकृतः सन् कर्मफलत्यागी भवति स एव त्यागी सर्वकर्मसंन्यासी निष्काम इत्यभिधीयते । सर्वेषामपि

तामिमानेन देहं धर्माश्रमाश्रयम् ॥ कर्तृत्वाद्याश्रयं स्थूलसूक्ष्मसंघातमात्मज्ञात् ॥ ३ ॥ विभर्त्यनाद्यविद्यादि-वशादात्मतया स च ॥ देहभृत्तेन कर्माणि कर्मण्येवाधिकारिणा ॥ ४ ॥ विवेकज्ञानशून्येन रागद्वेषवशा सदा ॥ त्यक्तुं निःशेषतो यस्मान्न शक्यानि कथंचन ॥५॥ सत्यां कारणसामग्र्यां कार्यत्यागोऽतिदुष्करः ॥ तस्मादज्ञोऽधिकारी यः कुर्वन्कर्माणि शुद्धये ॥६॥ फलाभिसंधिसंत्यागी तुशब्देनातिदुर्लभः ॥ स त्यागीत्युच्यते गौण्या वृत्त्या मुख्यस्तु तत्त्ववित् ॥ ७ ॥ ईश्वरानुग्रहात्कर्मफलत्यागितया सुधीः ॥ युज्यते तत्त्वबोधेन नान्यथेत्याशयो हरेः ॥ ८ ॥ ११ ॥

भा० टी०—तदेवं सात्त्विकत्यागवतः शुद्धचित्तस्य सर्वकर्मत्यागे मुख्यसंन्यासेऽधिकारं प्रदर्श्याधिकृतस्य देहाभिमानित्वेन देहभृतोऽज्ञस्याबाधितात्मकर्तृत्वविज्ञानवत्त्वाद् कर्तेति निश्चितबुद्धेरशेषकर्मपरित्यागस्याशक्यत्वात् कर्मफलत्यागेन विहितकर्मानुष्ठाने एवाधिकारो न त्याग इत्येवमर्थं दर्शयितुमाह—नहीति । हि यस्माद्देहभृता देहं स्वात्मत्वेन बिभर्ति धारयतीति देहभृत् देहाभिमानवान् तेनाज्ञेनाशेषतः निःशेषेण सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुं संन्यसितुं न शक्यते । तस्माद्यस्त्वज्ञो देहभृदधिकृतो विहितानि कर्माणि कुर्वन् तत्फलत्यागी कर्मफलाभिसंधिमात्रसंन्यासी स त्यागीत्यभिधीयते । कर्म्यपि सन् त्यागीति स्तुत्यभिप्रायेणोक्तम् । तथा च परमार्थदर्शिना देहाभिमानशून्येनाशेषकर्मसंन्यासः शक्यते कर्तुमिति भावः ॥ ११ ॥

श्री० टी०—तदेवाह—न हीति । देहभृता देहाभिमानवता वैदिकव्यवहाराय करचरणव्यापारं कुर्वताऽशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न हि शक्यम् । कायक्लेशभयात्कथं त्यक्तुं शक्यत्व इत्यर्थः । न हि कश्चित्क्षणमपीति पूर्वमेवोक्तम् ॥ ११ ॥

रा० टी०—पूर्वं कर्तव्यानीति मे पार्थेत्यत्र सङ्गफलत्याग एव त्यागशब्दार्थ इति स्वसिद्धान्तो निर्णीतः । अधुना त्याज्यं दोषवदितिपक्षस्य बीजखण्डनाय सर्वकर्मपरित्यागो वा विहितकर्मत्यागो वा न त्यागशब्दार्थः । येन त्याज्यं दोषवदित्यस्य सर्वकर्मत्यागोऽर्थ इत्युच्यत इतिभावेनाह—न हीति । अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यम् 'नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' इत्युक्तेः । नापि विहिताशेषत्यागः 'स्वयज्ञादीन्परित्यज्य निरयं यान्ति' इतिप्रत्यवायस्मरणादिति भावः । हि यस्मादशक्यं तस्माद्यस्तु कर्मफलत्यागी स एव त्यागीत्यभिधीयते । अतस्त्याज्यमिति पक्षस्यापि फलत्याग एवार्थ इति भावः ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

म० टी०—ननु यथा देहपुष्ट्युद्देशाभावेनापि कृतस्य दधिदुग्धमिष्टान्नादिभोजनस्य पुष्टिफलत्वदर्शनात् तथा विधिनाऽनुष्ठितकर्मणामिह फलोद्देशाभावेऽपि प्रेत्येष्टानिष्टं फलं स्यादेवातो मोक्षविरोधित्वान्मुमुक्षुणा हेयमेव सर्वं कर्मेति चेत् तत्राह—अनिष्टमिति । अनिष्टं नरकतिर्यगादिप्राप्तिफलम्, इष्टं दिव्यभोगप्राप्तिलक्षणं, मिश्रमिष्टानिष्टं मनुष्यसंबन्धिपुत्रपश्वादीति त्रिविधं कर्मणः शुभाशुभस्य फलमत्यागिनां फलत्यागरहितानामेव प्रेत्य देहत्यागादूर्ध्वं देहान्तरे भवति । न तु संन्यासिनां सम्यक् त्यक्तफलानां क्वचिदपि मोक्षविरोधिफलं भवति । एवं च सात्त्विकानां पापाचारासंभवान्नानिष्टोत्पत्तिः । सुकृतानां तु भगवत्यर्पितत्वान्न तद्भोगोत्पत्तिरत एव मिश्रमपि न भवति । तस्मान्नोक्तशङ्काऽवकाशः ॥ १२ ॥

म० टी०—ननु देहभृतः परमात्मज्ञानशून्यस्य कर्मिणोऽपि कर्मफलाभिसंधित्यागित्वेन गौणसंन्यासिनः परमात्मज्ञानवतो देहाभिमानरहितस्य सर्वकर्मत्यागिनो मुख्यसंन्यासिनश्च कः फले विशेषो यल्लाभेन गौण-

त्वमेकस्य यज्ञाभेन च मुख्यत्वमन्यस्य, कर्मफलत्यागित्वं तु द्वयोरपि तुल्यमित्यन्यो विशेषो वाच्यः । उच्यते—अनिष्टमिति । अत्यागिनां कर्मफलत्यागित्वेऽपि कर्मानुष्ठायिनामज्ञानां गौणसंन्यासिनां प्रेत्य विविदिषापर्यन्तसत्त्वशुद्धेः प्रागेव मृतानां पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणं भवति मायामयं फल्गुतया लयमदर्शनं गच्छतीति निरुक्तेः । कर्मण इति जात्यभिप्रायमेकवचनं, एकस्य त्रिविधफलत्वानुपपत्तेः । तच्च फलं कर्मणस्त्रिविधत्वात् त्रिविधं पापस्यानिष्टं प्रतिकूलवेदनीयं नारकतिर्यगादिलक्षणं, पुण्यस्य इष्टमनुकूलवेदनीयं देवादिलक्षणं, मिश्रस्य तु पापपुण्ययुगलस्य मिश्रमिष्टानिष्टसंयुक्तं मानुष्यलक्षणमित्येवं त्रिविधमित्यनुवादो ह्ययमर्थः । एवं गौणसंन्यासिनां शरीरपातादूर्ध्वं शरीरान्तरग्रहणमावश्यकमित्युक्त्वा मुख्यसंन्यासिनां परमात्मसाक्षात्कारेणाविद्यातत्कार्यनिवृत्तौ विदेहकैवल्यमेवेत्याह—न तु संन्यासिनां क्वचित् । परमात्मज्ञानवतां मुख्यसंन्यासिनां परमहंसपरिव्राजकानां प्रेत्य कर्मणः फलं शरीरग्रहणमनिष्टमिष्टं मिश्रं च क्वचिद्देशे काले वा न भवत्येवेत्यवधारणार्थस्तुशब्दः, ज्ञानेनाज्ञानस्योच्छेदे तत्कार्याणां कर्मणामुच्छिन्नत्वात् । तथा च श्रुतिः—'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ' इति । पारमर्षं च सूत्रम्—' तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ' इति परमात्मज्ञानादशेषकर्मक्षयं दर्शयति । तेन गौणसंन्यासिनां पुनः संसारः मुख्यसंन्यासिनां तु मोक्ष इति फले विशेष उक्तः । अत्र कश्चिदाह 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च' इत्यादौ कर्मफलत्यागिषु संन्यासिशब्दप्रयोगात् कर्मिण एवात्र फलत्यागसाम्यात् संन्यासिशब्देन गृह्यन्ते । तेषां च सात्त्विकानां नित्यकर्मानुष्ठानेन निषिद्धकर्माननुष्ठानेन च पापासंभवान्नानिष्टं फलं संभवति नापीष्टं काम्याननुष्ठानात् , ईश्वरार्पणेन फलस्य त्यक्तत्वाच्च । अत एव मिश्रमपि नेति त्रिविधकर्मफलासंभवः । अत एवोक्तम् 'मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः । नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया' इति । स वक्तव्यः शब्दस्यार्थस्य च मर्यादा न निर्भारे भवतेति । तथाहि—"गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः" इति शब्दमर्यादा । यथा "अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति" इत्यत्र अमावास्याशब्दः काले मुख्यः । तत्कालोत्पन्ने कर्मणि च गौणः 'य एवं विद्वानमावास्यायां यजते' इत्यादौ । तत्रामावास्यायामिति कर्मग्रहणे पितृयज्ञस्य तदङ्गत्वान्न फलं कल्पनीयमिति विधेर्लाघवमिति पूर्वपक्षितं कात्यायनेन—"अङ्गं वा समभिव्याहारात्" इति । गौणार्थस्य मुख्यार्थोपस्थितिपूर्वकत्वान्मुख्यार्थस्य चेहाबाधादमावास्याशब्देन काल एव गृह्यते । फलकल्पनागौरवं तूत्तरकालीनं प्रमाणवत्त्वादङ्गीकार्यमिति सिद्धान्तितं जैमिनिना—"पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्" इति । एवं स्थिते संन्यासिशब्दस्य सर्वकर्मत्यागिनि मुख्यत्वात् कर्मिणि च फलत्यागसाम्येन गौणत्वान्मुख्यार्थस्य चेहाबाधात्तस्यैव संन्यासिशब्देन ग्रहणमिति शब्दमर्यादया सिद्धम् । सत्यां कारणसामग्र्यां कार्योत्पाद इति चार्थमर्यादा । तथाहि ईश्वरार्पणेन त्यक्तकर्मफलस्यापि सत्त्वशुद्ध्यर्थं नित्यानि कर्माण्यनुतिष्ठतोऽन्तराले मृतस्य प्रागर्जितैः कर्मभिस्त्रिविधं शरीरग्रहणं केन वार्यते 'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः' इति श्रुतेः । अन्ततः सत्त्वशुद्धिफलज्ञानोत्पत्त्यर्थं तदधिकारिशरीरमपि तस्यावश्यकमेव । अत एव विविदिषासंन्यासिनः श्रवणादिकं कुर्वतोऽन्तराले मृतस्य योगभ्रष्टशब्दवाच्यस्य 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' इत्यादिना ज्ञानाधिकारिशरीरप्राप्तिरवश्यं भाविनीति निर्णीतं षष्ठे, यत्र सर्वकर्मत्यागिनोऽप्यज्ञस्य शरीरग्रहणमावश्यकं, तत्र किं वक्तव्यमज्ञस्य कर्मिण इति । तस्मादज्ञस्यावश्यं शरीरग्रहणमित्यर्थमर्यादया सिद्धं पराक्रान्तं चैकभविकपक्षनिराकरणे सूरिभिः । तस्माद्यथोक्तं भगवत्पूज्यपादभाष्यकृतं व्याख्यानमेव न्याय्यम् । तदयमत्र निष्कर्षः—अकर्त्रभोक्तृपरमानन्दाद्वितीयसत्यस्वप्रकाशब्रह्मात्मसाक्षात्कारेण निर्विकल्पेन वेदान्तवाक्यजन्येन विचारनिश्चितप्रामाण्येन सर्वप्रकाराप्रामाण्यशङ्काशून्येन ब्रह्मात्मज्ञानेनात्माज्ञाननिवृत्तौ तत्कार्यकर्तृत्वाद्यभिमा-

नरहितः परमार्थसंन्यासी सर्वकर्मोच्छेदाच्छुद्धः केवलः सन्नाविद्याकर्मादिनिमित्तं पुनः शरीरग्रहणमनुभवति, सर्वभ्रमाणां कारणोच्छेदेनोच्छेदात् । यस्त्वविद्यावान् कर्तृत्वाद्यभिमानी देहभृत् स त्रिविधः रागादिदोषप्राबल्यात् काम्यनिषिद्धादियथेष्टकर्मानुष्ठायी मोक्षशास्त्रानधिकार्येकः । अपरस्तु यः प्राक् कृतसुकृतवशात् किंचित्क्षीणरागादिदोषः सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुमशक्नुवन्निषिद्धानि काम्यानि च परित्यज्य नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि फलाभिसंधित्यागेन सत्त्वशुद्ध्यर्थमनुतिष्ठन् गौणसंन्यासी मोक्षशास्त्राधिकारी द्वितीयः सः । ततो नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनान्तःकरणशुद्ध्या समुपजातविविदिषः श्रवणादिना वेदनं मोक्षसाधनं संपिपादयिषुः सर्वाणि कर्माणि विधितः परित्यज्य ब्रह्मनिष्ठं गुरुमुपसर्पति विविदिषासंन्यासिसमाख्यस्तृतीयः । तत्राद्यस्य संसारित्वं सर्वप्रसिद्धम् । द्वितीयस्य त्वनिष्टमित्यादिना व्याख्यातम् । तृतीयस्य तु 'अयतिः श्रद्धयोपेतः' इति प्रश्नमुत्थाप्य निर्णीतं षष्ठे । अज्ञस्य संसारित्वं ध्रुवं कारणसामग्र्याः सत्त्वात् । तत्तु कस्यचिज्ज्ञानानुगुणं कस्यचिज्ज्ञानाननुगुणमिति विशेषः । विज्ञस्य तु संसारकारणाभावात् स्वत एव कैवल्यमिति द्वौ पदार्थौ सूचितावस्मिन् श्लोके ॥ १२ ॥

शं० टी०—एवं तामसादित्यागवतामापाततोऽकर्मिणामपि कर्मित्वं सात्त्विकत्यागिनस्त्वकर्मित्वं च प्रतिपाद्य कर्मिणां कर्मफलमकर्मिणां तदभावं च प्रतिपादयति—अनिष्टमिति । अनिष्टं पापकर्मफलं नारकत्वं तिर्यक्त्वं वा, पुण्यकर्मफलमिष्टं देवत्वं, मिश्रमुभयमिश्रफलं मनुष्यत्वं च " पुण्येन पुण्यलोकं नयति" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं त्रिविधं त्रिप्रकारकमपि कर्मफलमत्यागिनां कर्मतत्फलत्यागमकुर्वतां तामसादित्यागिनां प्रेत्य मरणादूर्ध्वं भवत्येव । बाह्यत्यागेऽपि क्रियया कर्मणां त्यागाभावात्कृतानां कर्मणां फलावश्यंभावित्वाच्च त्रिविधं कर्मफलमत्यागिनां भवत्येव न तु संन्यासिनां, कर्मफलत्यागसंजातसत्त्वशुद्धिसंभावितात्मज्ञानेन संन्यस्ताकुशलादिसर्वकर्मणां यतीनां कचित्किंचिदपि संचितस्यागामिनो वाऽन्यस्य वा पुण्यापुण्यलक्षणस्य कर्मणो ज्ञानाग्निनिर्दग्धस्वरूपस्य फलं न भवति । ' सति कुड्ये चित्रकर्म ' इतिन्यायेन स्वस्यैव सत्त्वाभावे फलदानासंभवादकर्मिणां विदुषां विदेहमुक्तिरेवेति सिद्धम् ॥ १२ ॥

श्री० टी०—एवंभूतस्य कर्मफलत्यागस्य फलमाह—अनिष्टमिति । अनिष्टं नारकित्वं, इष्टं देवत्वं, मिश्रं मनुष्यत्वं, एवं त्रिविधं पापस्य पुण्यस्य चोभयमिश्रस्य च कर्मणो यत्फलं प्रसिद्धं तत्सर्वमत्यागिना सकामानामेव प्रेत्य परत्र भवति तेषां त्रिविधकर्मसंभवात् । न तु संन्यासिनां कचिदपि भवति । संन्यासिशब्देनात्र फलत्यागसाम्यात्प्रकृताः कर्मफलत्यागिनोऽपि गृह्यन्ते । ' अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च ' इत्येवमादौ च कर्मफलत्यागिषु संन्यासिशब्दप्रयोगदर्शनात् । तेषां सात्त्विकानां पापासंभवात् ईश्वरार्पणेन च पुण्यफलस्य त्यक्तत्वात् त्रिविधमपि कर्मफलं न भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

स० टी०—ननु कर्मफलत्यागितया देहाभिमानिनः ॥ गौणसंन्यासिनो ज्ञानशून्यस्यापि च कर्मिणः ॥ १ ॥ देहाभिमानशून्यस्य मुख्यसंन्यासिनस्तथा ॥ त्यागित्वमुभयत्रापि तुल्यमस्तीति गम्यते ॥ २ ॥ तयोः फले विशेषः को यदभावेन गौणता ॥ एकस्यान्यस्य यद्भावे मुख्यत्वमिति चेच्छृणु ॥ ३ ॥ कर्मानुष्ठायिनां कर्मफलत्यागितयाऽस्ति च ॥ गौणसंन्यासिनां चित्तशुद्धेः प्रागेव कालतः ॥ ४ ॥ मृतानां प्राकृतस्यास्ति शरीरग्रहणं फलम् ॥ मायिकं फलगुभावेनादर्शनं लयमेति यत् ॥ ५ ॥ एकत्वं कर्मणश्चेति जात्यभिप्रायतः स्मृतम् ॥ अन्यथा त्रिविधं तत्स्यात्कथमेकस्य कर्मणः ॥ ६ ॥ कर्मणस्त्रिविधत्वाच्च त्रिविधं फलमीरितम् ॥ पापस्यानिष्टमात्रं च तिर्यगादिकलक्षणम् ॥ ७ ॥ देवादिलक्षणं चेष्टं पुण्यस्य फलमीरितम् ॥ मिश्रस्य पापपुण्याख्ययुगलस्य नृलक्षणम् ॥ ८ ॥ इष्टानिष्टयुतं प्रोक्तं फलं हेयतयाऽखिलम् ॥ गौणसंन्यासिनामेवं देहपातादनन्तरम् ॥ ९ ॥ देहान्तरस्य ग्रहणमावश्यकमितीरितम् ॥ मुख्यसंन्या-

सिनां ब्रह्मसाक्षात्कारेण तद्विदाम् ॥ १० ॥ अविद्यादिनिवृत्तौ स्यात्कैवल्यात्मकनिर्वृतिः ॥ न देहग्रहणं तेषां क्वचित्कालेऽथवा दिशि ॥ ११ ॥ अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥ ज्ञानेनाज्ञानबाधे हि तत्कार्याणां च कर्मणाम् ॥ १२ ॥ उच्छिन्नत्वात्पुनर्देहग्रहणं संभवेत्कथम् ॥ क्षीयन्ते चास्य कर्माणीत्येवं श्रुत्याऽप्युदीरितम् ॥ १३ ॥ गौणसंन्यासिनां तेन संसारो हरिणेरितः ॥ मुख्यसंन्यासिनां मोक्षो विशेषोऽयं फले तयोः ॥ १४ ॥ अयमत्रास्ति निष्कर्षः पूर्वोक्तस्य विवेचनात् ॥ नित्यशुद्धपरानन्दप्रत्यगद्वैतवस्तुनः ॥ १५ ॥ साक्षात्कारेण वेदान्तवाक्यजन्येन भास्वता ॥ सुनिश्चितप्रमात्वेन तत्त्वज्ञानेन सर्वथा ॥ १६ ॥ अज्ञानध्वान्तबाधे तत्कार्यकर्तृत्वबाधनात् ॥ यः परमार्थसंन्यासिकर्मोच्छेदात्स निर्मलः ॥ १७ ॥ नाविद्याकामकर्मादिनिमित्तं त्रिविधं फलम् ॥ शरीरग्रहणं भूयोऽनुभवत्येव सर्वथा ॥ १८ ॥ कारणोच्छेदतः सर्वभ्रमाणां विनिवृत्तितः ॥ यस्त्वज्ञो देहभृत्सोऽयं त्रिविधो भवति क्षितौ ॥ १९ ॥ रागादिदोषप्राबल्याद्यथेष्टाचारसंमुखः ॥ कर्म काम्यनिषिद्धादि समाचरति मूढधीः ॥ २० ॥ एकोऽयं मोक्षशास्त्रे योऽनधिकार्यतिपामरः ॥ अपरः प्राक्कृतैः पुण्यैः किंचित्क्षीणमलः पुमान् ॥ २१ ॥ त्यक्त्वा काम्यं निषिद्धं च नित्यं नैमित्तिकं शुभम् ॥ फलाभिसंधिसंत्यागात्सत्त्वशुद्ध्यर्थमाचरन् ॥ २२॥ स चायं गौणसंन्यासी मोक्षशास्त्रेऽधिकारवान् ॥ अन्यो धीशुद्धिमासाद्य श्रवणादिपरायणः ॥ २३ ॥ विवेकी ब्रह्मविन्मार्गे प्रवृत्तोऽयं तृतीयकः ॥ तत्राद्यस्य महानर्थभाक्त्वं प्रत्यक्षमेव हि ॥ २४ ॥ द्वितीयस्याप्यनिष्टादिफलं त्रिविधं स्मृतम् ॥ तृतीयस्य पुरा षष्ठेऽध्याये संनिर्णयः कृतः ॥ २५ ॥ द्वितीयस्यापि सत्कर्मतारतम्याद्गतेरपि ॥ तारतम्यं स्मृतौ वेदे निर्णीतं च मनीषिभिः ॥ २६ ॥ संसारित्वं ध्रुवं देहाद्यभिमानिनि पूरुषे ॥ अविद्याकामकर्मादिसामग्र्याः संभवादिति ॥ २७ ॥ सा च संसारिताज्ञानानुगुणा कस्यचिद्भवेत् ॥ कस्यचिन्न तथेत्येवं विशेषस्तत्र शोधितः ॥ २८ ॥ तत्त्वज्ञस्य तु संसारकारणाभावतः स्वतः ॥ सिद्धं कैवल्यमेवास्तीत्यत्रार्थौ सूचितावुभौ ॥ २९ ॥ तावत्कर्मफलं नृणामविरतं संसारवारां निधाविष्टानिष्टविमिश्रजन्मनिविडं भ्रान्त्या कुलानां भवेत् ॥ यावत्सज्जनचञ्चरीकनिवहस्वाद्ये रसैकास्पदे श्रीमत्कृष्णपदाम्बुजेन मनसो वृत्ती रता षट्पदी ॥ ३० ॥ १२ ॥

भा० टी०—अमुख्यसंन्यासापेक्षया मुख्यसंन्यासस्य विशिष्टं प्रयोजनं किमित्याकाङ्क्षायामाह—अनिष्टमिति । अनिष्टं नरकतिर्यगादिलक्षणं, इष्टं देवादिलक्षणम्, मिश्रमिष्टानिष्टसंयुक्तं मनुष्यलक्षणं चैवं त्रिविधं त्रिप्रकारं कर्मणो धर्माधर्मलक्षणस्य फलं बाह्यानेककारकव्यापारनिष्पन्नत्वादनेकम्, अविद्याकृतत्वात् मिथ्याभूतमिन्द्रजालमायोपमं महामोहकरं प्रत्यगात्मोपसर्जनं फल्गुतया लयमदर्शनं गच्छतीति फलशब्दनिर्वचनात् । तदेवं त्रिविधं फलमत्यागिनामज्ञानां कर्मिणामपरमार्थसंन्यासिनां प्रेत्य शरीरपातादूर्ध्वं भवति । फलाभिसंधिरहितानां कर्मणां देहपातादूर्ध्वं संचितादिकर्माङ्कुराभिफलस्यावश्यंभावादिति भावः । संन्यासिनां तु परमार्थसंन्यासिनां परमहंसपरिव्राजकानां केवलज्ञाननिष्ठानामुन्मूलिताविद्यादिसंसारबीजानां क्वचिद्देशे काले वा यथोक्तं फलं न भवति । अतः परमार्थतत्त्वविदः क्रियाकारकफलानामात्मन्यविद्याध्यारोपितत्वदर्शिन एवाशेषकर्मसंन्यासित्वं संभवति, न त्वज्ञस्याधिष्ठानादीनि क्रियाकर्तॄणि कारकाण्यात्मत्वेन पश्यतोऽशेषकर्मसंन्यासित्वमिति भावः । यत्त्वपरे एवंभूतस्य कर्मफलत्यागस्य फलमाह—अनिष्टादिरूपं त्रिविधं फलमत्यागिनां सकामानामेव प्रेत्य परत्र भवति तेषां त्रिविधकर्मसंभवात्, न तु संन्यासिनां क्वचिदपि भवति । संन्यासिशब्देनात्र फलत्यागसाम्यात् प्रकृताः कर्मफलत्यागिनो गृह्यन्ते 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः । स संन्यासी च योगी च' इत्येवमादौ च फलत्यागिषु संन्यासिशब्दप्रयोगदर्शनात् । तेषां सात्त्विकानां पापासंभवात् ईश्वरार्पणेन च पुण्यफलस्य त्यक्तत्वात् त्रिविधमपि कर्म फलं न भवती-

त्यर्थ इति वर्णयन्ति । तत्रोपादेयं संन्यासिशब्दस्य परमार्थसंन्यासिनि सर्वकर्मत्यागिनि मुख्यत्वात् कर्मिणि च फलत्यागसाम्येन गौणत्वात् मुख्यार्थस्य चेहाबाधात्तस्यैव संन्यासिशब्देन ग्रहणसंभवे गौणग्रहणस्य 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः' इति शब्दमर्यादाऽपरिज्ञानविजृम्भितत्वात् । सत्यां कारणसामग्र्यां कार्योत्पाद इत्यर्थ मर्यादाऽज्ञानमूलकत्वाच्च ईश्वरार्पणेन त्यक्तकर्मफलस्यापि सत्त्वशुद्ध्यर्थं नित्यानि कर्माण्यनुतिष्ठतोऽन्तराले मृतस्य प्रागर्जितकर्मरूपकारणसामग्र्या त्रिविधशरीररूपकार्योत्पाद आवश्यक एवेति दिक् ॥ १२ ॥

प० टी०—एवंभूतस्य कर्मफलत्यागस्य फलमाह—अनिष्टमिति । अनिष्टं नारकित्वम्, इष्टं देवत्वम्, मिश्रं मनुष्यत्वम् । एवं त्रिविधं पापस्य पुण्यस्य मिश्रस्य च कर्मणो यत्फलं प्रसिद्धं तत्सर्वमत्यागिना सकामानामेव प्रेत्य परत्र भवति, तेषां त्रिविधकर्मसंभवात् । न तु संन्यासिना कचिदपि भवति । संन्यासशब्देनात्र फलत्यागिनो गृह्यन्ते 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' इत्येवमादौ फलत्यागिषु संन्यासिप्रयोगदर्शनात् ॥ १२ ॥

रा० टी०—अत्यागिनिन्दापूर्वं त्यागिनं स्तौति—अनिष्टमिति । अनिष्टं नरकादि, इष्टं काम्यकर्मिणामिच्छाविषयीभूतं स्वर्गादि, मिश्रमिष्टानिष्टमेलनरूपं मानुषादि, कर्मणस्त्रिविधं फलमत्यागिना कर्मफलमत्यजतां प्रेत्य मृत्वा देहान्निर्गत्य स्थितानां भवति । संन्यासिनां तु अनियतकाम्यानां फलत्यागिनां नियतानां स्वरूपत्यागिनां कचिदपि इह वा परत्र वा नास्ति । इष्टानिष्टादिरूपं कर्मणः फलमित्यनुपङ्गः । अत्र त्यागिनामितिवक्तव्ये संन्यासिनामित्युक्तिः त्यागिनो हि परार्थं कारीर्यादिनियतकाम्यं कुर्वन्ति, संन्यासिनस्तु तदपि नेत्येतावन्तं त्यागिभ्यो विशेषं सूचयितुं, फलेच्छाभावेन तेषु त्यागित्वस्यापि सत्यत्वात् । नत्विति । तुशब्देन त्यागिनां ज्ञानभक्त्यादिद्वारा अपरोक्षतो मुक्त्यानन्दातिशयफलं भवतीति सूच्यते । उपपादितमेतत् त्यागाच्छान्तिरनन्तरमित्यत्र द्वादशेऽध्याये आद्यादौ ॥ १२ ॥

पञ्चैतानि[1] महाबाहो कारणानि निबोध मे ॥
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

त० टी०—त्रिविधं कर्मफलं सकामानामेव भवति, नतु त्यागिनामित्युक्तम् । तत्र विवेकाविवेकप्रयुक्तयोः कर्मण्यहङ्कारानहङ्कारयोरेव हेतुत्वप्रदर्शनाय कर्मसामान्ये प्रति कारणपञ्चकं प्रतिजानाति—पञ्चैतानीति । हे महाबाहो ! एतानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि कर्मनिर्वर्तकानि मे मत्तो निबोध जानीहि । कर्मण्यहङ्कारनिवृत्तये विवेकार्थं मुमुक्षुणाऽवश्यं ज्ञातव्यानीति प्रशंसति । सांख्ये सम्यक् ख्यायन्ते निरूप्यन्ते विविच्यन्ते तत्त्वान्यस्मिन्निति सांख्यं तस्मिन् । कथंभूते कृतान्ते बन्धमोक्षहेतुतया हेयोपादेयविभागेन कृतोऽन्तः कर्माकर्मनिर्णयो यस्मिन् तत्कृतान्तं सांख्यशास्त्रं तस्मिन् । यद्वा सम्यक् ख्यायन्ते निरूप्यन्ते ज्ञातव्या जीवेश्वरमायादिपदार्था यस्मिन् तत्सांख्यं, कृतोऽन्तो बन्धमोक्षसाधनादिनिर्णयो यस्मिन् तत्कृतान्तं तस्मिन् सांख्ये कृतान्ते वेदान्तशास्त्रे सर्वकर्मणां सिद्धये बन्धकत्वाभावेन यथावत्तत्त्वज्ञानोत्पत्तये प्रोक्तानि प्रकर्षेण संशयाभावेनोक्तानि ॥ १३ ॥

म० टी०—तत्रात्मज्ञानरहितस्य संसारित्वे हेतुः कर्मत्यागासंभव उक्तः 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' इति । तत्राज्ञस्य कर्मत्यागासंभवे को हेतुः? कर्महेतावधिष्ठानादिपञ्चके तादात्म्याभिमान इतीममर्थं चतुर्भिः श्लोकैः प्रपञ्चयति । तत्र प्रथमेनाधिष्ठानादीनि पञ्च वेदान्तप्रमाणमूलानि हेयत्वार्थमवश्यं ज्ञातव्यानी-

1. पञ्चेमानीत्यपि पाठः ।

इत्याह—पञ्चेति । इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये कारणानि निर्वर्तकानि हे महाबाहो, मे मम परमाप्तस्य सर्वज्ञस्य च वचनान्निबोध बोद्धुं सावधानो भव । न ह्यत्यन्तदुर्ज्ञानान्येतान्यनवहितचेतसा शक्यन्ते ज्ञातुमिति चेतःसमाधानविधानेन तानि स्तौति । महाबाहुत्वेन च सत्पुरुष एव शक्तो ज्ञातुमिति सूचयति स्तुत्यर्थमेव । किमेतान्यप्रमाणकान्येव तव वचनाज्ज्ञेयानि? नेत्याह—सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि निरतिशयपुरुषार्थप्राप्त्यर्थं सर्वानर्थनिवृत्त्यर्थं च ज्ञातव्यानि । जीवः, ब्रह्म, तयोरैक्यं, तद्बोधोपयोगिनश्च श्रवणादयः पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्तेऽस्मिन्निति सांख्यं वेदान्तशास्त्रं, तस्मिन्नात्मतत्त्वमात्रप्रतिपादके किमर्थमनात्मभूतान्यवस्तूनि लोकसिद्धानि च कर्मकारणानि पञ्च प्रतिपाद्यन्त इत्यतः शास्त्रविशेषणं कृतान्त इति । कृतमिति कर्मोच्यते, तस्यान्तः परिसमाप्तिस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्या यत्र तस्मिन् कृतान्ते शास्त्रे प्रोक्तानि प्रसिद्धान्येव लोकेऽनात्मभूतान्येवात्मतया मिथ्याज्ञानारोपेण गृहीतान्यात्मतत्त्वज्ञानेन बाधसिद्धये हेयत्वेनोक्तानि । यदा ह्यनात्मधर्म एव कर्मात्मन्यविद्ययाऽध्यारोपितमित्युच्यते तदा शुद्धात्मज्ञानेन तद्बाधात्कर्मणोऽन्तः कृतो भवति । अत आत्मनः कर्मासंबन्धप्रतिपादनायानात्मभूतान्येव पञ्च कर्मकारणानि वेदान्तशास्त्रे मायाकल्पितान्यनूदितानीति नाद्वैतात्ममात्रतात्पर्यहानिस्तेषां तदङ्गत्वेनैवेतरत्र प्रतिपादनात् । इहापि च सर्वकर्मान्तत्वं ज्ञानस्य प्रतिपादितम् 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इति । तस्माज्ज्ञानशास्त्रस्य कर्मान्तत्वमुपपन्नम् ॥ १३ ॥

शं० टी०—ननु विदुषामपि संन्यासिनामकर्मित्वं न भवति । शिष्यादीनां तत्त्वोपदेशेन हितोपदेशेन वा पुण्यक्रियासंभवात्तथाऽऽहारादिषु कचिदुष्टान्नभक्षणेन वा संचारादिषु प्राणिपीडया वान्यथा वा पापक्रियासंभवाच्च तत्तत्क्रियाफलमिष्टानिष्टादिलक्षणं स्यादेवेति चेत्सत्यम् । महान्तो ब्रह्मविदो जीवन्मुक्ताः शिष्येभ्योऽन्येभ्यश्च वा साधुभ्यो ब्रह्मतत्त्वमुपदिशन्ति हितं च तेषां कचिदाहारादिषु दुष्टान्नसेवा च संभवति, भ्रमप्रमादादिना कचित्प्राणिपीडा च । तथापि निरन्तरब्रह्मनिष्ठासंपन्नसम्यग्ज्ञानेन निष्कलं निष्क्रियं नित्यकूटस्थासङ्गचिद्रूपमेव परं ब्रह्माहमित्येवेति स्वात्मना साक्षात्कृतवतां सदा तदात्मनैव तिष्ठतामधिष्ठानादिभ्यः क्रियाकर्तृकारकादिभ्यो भिन्नमेवात्मानमकर्तारमभोक्तारमाकाशवदक्रियं परिपूर्णमेव सर्वदा पश्यतां परमहंसपरिव्राजकानां स्वतो भिन्नैरेवाधिष्ठानादिभिः क्रियमाणपुण्यपापादिक्रियालेशसंबन्धासंभवात्तन्निमित्तकेष्टानिष्टफलं कल्पयितुं न शक्यते इति बोधयितुमाह कर्मनिष्पत्तेः कारणान्याह—पञ्चैतानीति द्वाभ्याम् । सांख्ये सम्यक् ख्यायते निरूच्यते आत्मानात्मनोस्तत्त्वं प्रकाश्यतेऽनेनेति सांख्यं वेदान्तशास्त्रं, तस्मिन् सांख्ये कृतान्ते 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति, 'उपशान्तोऽयमात्मा' इति, 'शिवं शान्तम्' इति, 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' इति, 'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्' इति, 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इति, 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' इति, 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इति, 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' इत्येवं कृतः स्पष्टीकृत आत्मानात्मनोरन्तस्तत्त्वनिश्चयो यत्र तत्कृतान्तम् । यद्वा क्रियत इति कृतं विहितप्रतिषिद्धादिलक्षणं कर्म, तस्यान्तः समाप्तिर्येन 'न तेषां धर्माधर्मौ' 'त्यज धर्ममधर्मं च' इत्यादिशास्त्रेण, तत्कृतान्तम् । यद्वा कृतस्य कर्मणो वैदिकस्य नित्यनैमित्तिकादेः संन्यस्य श्रवणं कुर्यादित्यन्तः समाप्तिर्यच्छ्रवणनिमित्तं तत्कृतान्तं । तस्मिन् कृतान्ते सर्वकर्मसमाप्तिकारणे सांख्ये वेदान्ते सर्वकर्मणां सिद्धये यावन्ति कर्माणि चलनात्मकानि तेषां सर्वेषां कर्मणां निष्पत्तये क्रियामात्रस्य सिद्धये इत्यर्थः । एतानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि प्रोक्तानि क्रियासंभूतिप्रकारविद्भिः ऋषिभिः कथितानि वक्ष्यामि । मे मम वचनान्निबोध अभिप्रायादिद्वारं क्रियानिष्पत्तिप्रकारमात्मनोऽकर्तृत्वं च पण्डितानामपि दुर्विज्ञेयं मत्तोऽन्यमतं निरतां पुरस्तात् । क्रियानिष्पत्तिकारणसामग्रीम् ... कर्मणस्तत्कृतत्वनिश्चयेनात्मनि कर्तृत्वभ्रमं परित्यजेत्यर्थः ॥ १३ ॥

श्री० टी०—ननु कर्म कुर्वतः कर्मफलं कथं न भवेदित्याशङ्क्य सङ्गत्यागिनो निरहंकारस्य सतः कर्मफलेन लेपो नास्तीत्युपपादयितुमाह—पञ्चेमानीति पञ्चभिः। सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि मे वचनान्निबोध जानीहि। आत्मनः कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्यर्थमवश्यमेतानि ज्ञातव्यानीत्येवं तेषां स्तुत्यर्थमाह—सांख्य इति। सम्यक् ख्यायते ज्ञायते परमात्माऽनेनेति सांख्यं तत्त्वज्ञानं तस्मिन्, कृतं कर्म तस्यान्तः समाप्तिरस्मिन्निति कृतान्तस्तस्मिन्वेदान्तसिद्धान्त इत्यर्थः। यद्वा संख्यायन्ते गण्यन्ते तत्त्वानि यस्मिन्निति सांख्यं, कृतः अन्तो निर्णयो यस्मिन्निति कृतान्तं सांख्यशास्त्रमेव तस्मिन्प्रोक्तानि। अतः सम्यग्विबोधेत्यर्थः ॥ १३ ॥

स० टी०—तत्त्वमज्ञानशून्यस्य संसारित्वेऽस्ति कारणम् ॥ प्रोक्तं स्वकर्मणां त्यागासंभवो हरिणा स्वयम् ॥ १ ॥ न हि देहभृतेत्यत्रेदानीं तस्यैव देहिनः ॥ उच्यते कर्मणां त्यागासंभवे संसृतौ तथा ॥ २ ॥ तादात्म्याध्यासको हेतुरधिष्ठानादिपञ्चके ॥ इमं प्रपञ्चयत्यर्थं श्लोकैश्चतुर्भिरीश्वरः ॥ ३ ॥ इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च निर्वर्तकानि च ॥ सर्वेषां कर्मणां चैव निष्पत्त्यर्थं महाभुज ॥ ४ ॥ ममेश्वरस्य वचनाद्बोद्धुं भव समाहितः ॥ समाधानं विना ज्ञातुं न शक्यं त इमान्यपि ॥ ५ ॥ सर्वानर्थनिवृत्त्यर्थं ज्ञातव्यानि प्रमाणत. ॥ जीव ब्रह्म तयोरैक्यं तद्विज्ञानोपयोगिनः ॥ ६ ॥ श्रवणाद्याः पदार्थाश्च व्युत्पाद्यन्तेऽत्र शास्त्रके ॥ तत्सांख्यं नाम वेदान्तशास्त्रं तस्मिन्कृतक्षये ॥ ७ ॥ कृतमित्युच्यते कर्म तस्यान्तस्तत्त्वबोधतः ॥ स बोधो जायते येन स कृतान्तोऽस्ति तत्र च ॥ ८ ॥ प्रोक्तान्यनात्मभूतानि भ्रान्त्यात्मत्वेन लौकिकैः ॥ गृहीतान्यात्मबोधेन तासिद्ध्यर्थमेव हि ॥ ९ ॥ यतो हेयतयोक्तानि ज्ञातव्यानीत्यतो धिया ॥ अन्यधर्मोऽस्ति कर्मैतन्मायया प्रत्यगात्मनि ॥ १० ॥ आरोपितमतो बोधात्कर्मणोऽन्तः कृतो भवेत् ॥ अत एवात्मनः कर्मासंबन्धज्ञानसिद्धये ॥ ११ ॥ अविद्यारोपिता एव हेतवः पञ्च कर्मणाम् ॥ अनूद्यन्ते वेदान्तशास्त्रे अद्वैतबोधके ॥ १२ ॥ अद्वैतमात्रतात्पर्यहानिर्नैवास्त्यतो यतः ॥ तदङ्गत्वेन तेषां च प्रतिपादनमागमे ॥ १३ ॥ फलवत्संनिधौ यत्तत्तदङ्गमफल श्रुतम् ॥ इति न्यायेन चैतेषामङ्गत्वं ब्रह्मबोधने ॥१४॥१३॥

भा० टी०—एवं परमार्थसंन्यासिना त्रिविधकर्मफलाभावमुक्त्वा परमार्थसंन्यासाधिकारकारणस्यात्मन्यकर्तृत्वज्ञानस्यावश्यकता बोधयितुमाह—पञ्चैतानीत्यादिना। एतानि वक्ष्यमाणानि कारणानि निर्वर्तकानि निबोध मद्वचनाज्जानीहि। ज्ञात्वा च महाबाहुसाध्ये कायिके युद्धे कर्मणि कर्तृत्वाभिमानं परित्यजेति ध्वनयन्संबोधयति महाबाहो इति। तेषामवश्यज्ञातव्यताज्ञापनाय तानि स्तौति—सांख्य इति। त्वंपदार्थ आत्मा तत्पदार्थो ब्रह्म तयोरैक्यधीः तदुपयोगिनश्च शमदमादयो ज्ञातव्याः पदार्थाः संख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते यस्मिन् वेदान्तशास्त्रे तत्सांख्यम्। सांख्यं विशिनष्टि—कृतान्ते। कृतस्य कर्मणोऽन्तः परिसमाप्तिर्यत्र तस्मिन्कृतान्ते 'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' इत्यात्मज्ञाने जाते सर्वकर्मणां निवृत्तेर्दर्शितत्वात् आत्मज्ञानार्थकस्य सांख्यस्यापि कृतान्तत्वं, तस्मिन्प्रोक्तानि सर्वेषां कर्मणां सिद्धये निष्पत्त्यर्थं कथितानीत्यर्थः। संख्या मोचकं ज्ञानं तत्संबन्धिनि तज्जनके सांख्येऽकृतान्तेऽकृतो वेदोऽपौरुषेयत्वात् तस्यान्ते वेदान्ते इत्यर्थस्तु प्रश्लेषं विनैवार्थसंभवमभिप्रेत्याचार्यैर्न प्रदर्शित.। यत्तु संख्यायन्ते गण्यन्ते तत्त्वान्यस्मिन्निति सांख्यं, कृतोऽन्तो निर्णयो यस्मिन्निति कृतान्तं सांख्यशास्त्रमेव तस्मिन्नित्यपरे वर्णयन्ति तन्नोपादेयम्। सांख्यशास्त्रे अधिष्ठानादीनां कारणत्वेनानुक्तत्वात्। भिन्ना भोक्तार आत्मान इति प्रतिपादकस्य सांख्यशास्त्रस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वशून्य एक एवात्मेति स्वसिद्धान्तविरुद्धस्य स्वोक्तेऽर्थे प्रमाणत्वेनोपन्यासायोगाच्च ॥ १३ ॥

प० टी०—ननु भुजिक्रिया कुर्वतस्तृप्तिर्भवतीत्यनुभवे कर्म कुर्वत. फलं कथं न भवेदित्याशङ्क्य सङ्गत्या-

गिनो निरहंकारस्य सतः कर्मलोपो नास्तीत्युपपादयितुमाह—पञ्चेमानीति । सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि मे मत्तः सकाशान्निबोध जानीहि । आत्मनः कर्तृत्वाभिमाननिवृत्त्यर्थमेतानि ज्ञातव्यानीत्येवं तेषां स्तुत्यर्थमाह—सांख्य इति । किंभूतानि? सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि । संख्यायन्ते परिगण्यन्ते तत्त्वानि यस्मिन्निति सांख्यं, कृतान्तः सिद्धान्तः, तस्मिन् वेदान्तसिद्धान्ते इत्यर्थः ॥ १३ ॥

रा० टी०—काम्यानामित्यत्रोक्तदिशा वैकल्पिककाम्यानां फलत्यागः, नियतकाम्यानां स्वरूपत्यागः, न तु संन्यासिनामित्यत्रोक्तदिशा परार्थमपि नियतकाम्यानामननुष्ठानमित्येतावन्मात्रं न संन्यासशब्दार्थः, किंतु कर्माणि कर्तृत्वाभिमानत्यागोऽपीति वक्तुं कर्मकारणानि प्रतिज्ञापूर्वमाह—पञ्चेत्यादित्रिभिः । एतानि वक्ष्यमाणानि कारणानि कर्मकारणानि मे सकाशात् निबोध शृणुष्व । सांख्ये कृतान्ते सिद्धान्ते कपिलाख्यविष्णुकृतसांख्यनामकशास्त्रे सर्वकर्मसिद्ध्यर्थं प्रोक्तानि । श्रोतृविश्वासार्थेयमुक्तिः ॥ १३ ॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ॥
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

त० टी०—तान्येवाह—अधिष्ठानमित्यादिचतुर्भिः । अधिष्ठानमधिष्ठीयते भोक्तृतया पुरुषेणास्मिन्नित्यधिष्ठानं पञ्चमहाभूतसङ्घातरूपं शरीरं, तथा कर्ता जीवपुरुषक्षेत्रज्ञादिशब्दाभिधेय आत्मा, तस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं ज्ञातृत्वं च शास्त्रसिद्धम् "स एनमुत्क्रामन्तमीक्षते इवाश्नन्पिबन्नास्ते" इतिश्रुतौ मनस उत्क्रान्त्यनन्तरमपि कर्तृत्वाभिधानात् "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" इति सूत्राच्च । तथा "मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति" इत्यत्रापि । तथा भोक्तृत्वमपि "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति । "उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्" इत्यादिशास्त्रसिद्धम् । अत्र केचित्कर्ताऽचिज्जडग्रन्थिरहंकार इति वदन्ति, तदुदाहृतशास्त्रविरोधादुपेक्षणीयम् । पृथग्विधमनेकप्रकारं करणं वाक्पाण्यादिपञ्चेन्द्रियं, विविधाश्च पृथक्चेष्टाः प्राणापानादयो वायुव्यापाराः । दैवं चैवात्र पञ्चमम् । अत्र कारणसमुदाये पञ्चमं दैवं देवानामप्यन्तर्यामी परमात्मा कर्मनिष्पत्तौ प्रधानहेतुरित्यर्थः । "सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः । ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" इत्युक्तवक्ष्यमाणत्वात् । "परात्तु तच्छ्रुतेः" इति सूत्रकारनिर्णयाच्च ॥ १४ ॥

म० टी०—प्रमाणमूलानि कर्मकारणानि पञ्चात्मनो कर्तृत्वसिद्ध्यर्थं हेयत्वेन ज्ञातव्यानीत्युक्ते कानि तानीत्यपेक्षायां तत्स्वरूपमाह द्वितीयेन—अधिष्ठानमिति । इच्छाद्वेषसुखदुःखचेतनादभिव्यक्तेराश्रयोऽधिष्ठानं शरीरम् । तथा कर्ता । यथाधिष्ठानमनात्मा भौतिकं मायाकल्पितं स्वाप्नगृहरथादिवत्, तथा कर्ताऽहं करोमीत्याद्यभिमानवान् ज्ञानशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्योऽहङ्कारोऽन्तःकरणं बुद्धिर्विज्ञानमित्यादिपर्यायशब्दवाच्यस्तादात्म्याध्यासेनात्मनि कर्तृत्वादिधर्माध्यारोपहेतुरनात्मा भौतिको मायाकल्पितश्चेति तथा शब्दार्थः । स्थूलशरीरस्य लोकायतिकैरात्मत्वेन परिगृहीतस्याप्यन्यैः परीक्षकैरनात्मत्वेन निश्चयात्तद्दृष्टान्तेन तार्किकादिभिरात्मत्वेन परिगृहीतस्य कर्तुरप्यनात्मत्वनिश्चयः सुकर इत्यर्थः । करणं च श्रोत्रादि शब्दाद्युपलब्धिसाधनम् । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः । पृथग्विधं नानाप्रकारं पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चेति द्वादशसंख्यम् । करणवर्गे मनो बुद्धिश्चेति वृत्तिविशेषौ । वृत्तिमांस्त्वहंकारः कर्तैव । चिदाभासस्तु सर्वत्रैवाविशिष्टः । विविधा नानाप्रकाराः पञ्चधा दशधा वा प्रसिद्धाः । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षार्थः । पृथक् असंकीर्णाः, चेष्टाः क्रियारूपाः क्रियाशक्तिप्रधानापञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्याः क्रियाप्राधान्येन वायवीयत्वेन व्यपदिश्यमानाः प्राणापानव्यानोदानसमानाः नागकूर्मकृकलदेवदत्तधनंजयाख्याश्च तदन्तर्भूता एव । अत्र च सुषुप्तावन्तःकरणस्य

कर्तुर्लयेऽपि प्राणव्यापारदर्शनाद्भेदव्यपदेशाच्चान्तःकरणादत्यन्तभिन्न एव प्राण इति केचित् । क्रियाशक्तिज्ञानशक्तिमदेकमेव जीवत्वोपाधिभूतमपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतकार्यं क्रियाशक्तिप्राधान्येन प्राण इति ज्ञानशक्तिप्राधान्येन चान्तःकरणमिति व्यपदिश्यत इत्यभियुक्ताः । 'स ईक्षां चक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत' इति श्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं प्राणस्योक्तम् । तथा 'सधीः स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ध्यायतीव लेलायतीव' इत्यादिश्रुतावुत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं बुद्धेरुक्तम् । स्वतन्त्रोपाधिभेदे च जीवभेदप्रसङ्गः तस्मात् बुद्धिप्राणयोरेकत्वेनैवोत्क्रान्त्याद्युपाधित्वं युक्तं भेदव्यपदेशश्च शक्तिभेदात् । सुषुप्तौ च ज्ञानशक्तिभागलयेऽपि क्रियाशक्तिभागदर्शनमेकत्वेऽपि न विरुद्धमनुभवसिद्धत्वात् । दृष्टिसृष्टिनये सर्वलयेऽपि प्राणव्यापारवच्छरीरस्य सुषुप्तोऽयमित्येवंरूपेण परैः कल्पितत्वाच्च । तस्मादुभयथापि व्यपदेशभेद उपपन्नः । दैवं च अनुग्राहकदेवताजातम् । चशब्दस्तथेत्यनुकर्षणार्थः । अत्र कारणवर्गे पञ्चमं पञ्चसंख्यापूरणम् । एवशब्दस्तथाशब्देन संनयमानोऽनात्मत्वभौतिकत्वकल्पितत्वाद्यवधारणार्थः पञ्चानामपि । तत्र शरीरस्य कर्तृकरणक्रियाधिष्ठानस्य देवता पृथिवी । "यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं दिशः श्रोत्रं मनश्चन्द्रं पृथिवीं शरीरम्" इति श्रुतौ वागाद्यधिष्ठात्र्यग्न्यादिभिः सह शरीराधिष्ठातृत्वेन पृथिवीपाठात् । कर्तुरहंकारस्याधिष्ठात्री देवता । रुद्रः पुराणादिप्रसिद्धः । करणानां चाधिष्ठात्र्यो देवताः सुप्रसिद्धाः । श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणानां दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विनः । वाक्पाणिपादपायूपस्थानां वह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रप्रजापतयः । मनोबुद्ध्योश्चन्द्रबृहस्पती इति । पञ्चप्राणानां क्रियारूपाणां सद्योजातवामदेवाघोरतत्पुरुषेशानाः पुराणप्रसिद्धाः । भाष्ये दैवमादित्यादि चक्षुराद्यनुग्राहकमित्यधिष्ठानादिदेवतानामप्युपलक्षणम् ॥ १४ ॥

शं० टी०—तानि कानीत्याकाङ्क्षायामाह—अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं सुखदुःखभोगायतनं करणानामाश्रयो वा शरीरम् । तथाशब्दश्चार्थः—कर्ता च—कर्ता भोक्ताहमिति सर्वत्राहंमानी साभासाहंकारो विज्ञानात्मा । पृथग्विधं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विधा विभक्तं करणं ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि मनोबुद्धिश्चेति द्वादशविधं करणं च, पृथक् दशधा भिन्ना चोर्ध्वादिगतिभेदेन विविधा नानाप्रकारा चेष्टा वायुचेष्टाविशेषाः प्राणादयो नागादयश्च दश । अत्रैतेषु क्रियानिष्पत्तिकारणत्वेन प्रोक्तेष्वधिष्ठानादिषु चतुर्षु चकारस्त्वर्थः । एवकारोऽतिरिक्तव्यवच्छेदार्थः । पञ्चमं तु दैवमेव श्रोत्रादीन्द्रियप्रवर्तकं, दिग्वातार्कादिलक्षणं सर्वकर्मसिद्धिकारणं दैवमेव नान्यदस्तीत्यर्थः । यद्यपि पञ्चैतानीति पञ्चत्वसंख्ययैव कारणान्तराभावः सिध्यति, तथापि पुनरेवकारः पुरुषस्य मयेदं क्रियत इति दुष्टेऽप्यदुष्टेऽपि च कर्मणि कर्तृत्वभ्रमापनोदनार्थः । नन्वदृष्टेश्वरादीनामपि क्रियासिद्धिकारणत्वसंभवात्पञ्चैतानीति पञ्चसंख्यावधारणाभ्यामतिरेकव्यवच्छेदोऽनुपपन्न एवेति चेत्सत्यम् । 'बलाद्दैवेन नीयते' इति, "एष एव साधु कर्म कारयति" इति श्रवणादस्त्येवादृष्टेश्वरादेरपि कारणत्वं, तथापि—"यो दिक्षु तिष्ठन् दिग्भ्योऽन्तरः" इतीश्वरस्य दिगादीनामन्तर्यामित्वश्रवणात्तदन्तस्थतया तेष्वेव दिगाद्यधिदैवतेष्वन्तर्भावः । कर्त्राश्रयत्वाददृष्टस्य कर्तर्यन्तर्भावस्ततो न काचिदनुपपत्तिरतोऽधिष्ठानादीनामेव पञ्चानां सर्वकर्मनिष्पत्तिकारणत्वमिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

श्री० टी०—तान्येवाह—अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं शरीरं, कर्ता चिज्जडग्रन्थिरहंकारः, पृथग्विधमनेकप्रकारं करणं चक्षुःश्रोत्रादि, विविधाश्च कार्यतः स्वरूपतश्च पृथग्भूताश्चेष्टाः प्राणापानादीनां व्यापाराः । अत्र चैतेष्वेव पञ्चमं दैवं च कारणं, चक्षुराद्यनुग्राहकमादित्यादिसर्वप्रेरकोऽन्तर्यामी वा ॥ १४ ॥

स० टी०—कानि तानीत्यपेक्षायां तत्स्वरूपमिहोच्यते ॥ इच्छाद्वेषाद्यभिव्यक्तेरधिष्ठानं शरीरकम् ॥ १ ॥ दृष्टान्तार्थस्तथाशब्दो विज्ञेयोऽत्र मनीषिभिः ॥ यथाधिष्ठानमध्यस्तं शरीरं भौतिकं जडम् ॥ २ ॥

तथैवाहं करोमीति कर्त्रहंकार आत्मनि ॥ कल्पितो मायया सूक्ष्मभूतकार्यतया जडः ॥ ३ ॥ यथा स्थूलशरीरस्य चार्वाकैरात्मताधिया ॥ गृहीतस्यापि वेदज्ञैरनात्मत्वेन निश्चयात् ॥ ४ ॥ तद्दृष्टान्तेन कर्तुश्च तार्किकैरात्मताधिया ॥ गृहीतस्याप्यनात्मत्वनिश्चयः सुकरो भवेत् ॥ ५ ॥ श्रोत्रादिकरणं चैव शब्दादिज्ञानसाधनम् ॥ दशेन्द्रियमनोबुद्धिरूपेणास्ति पृथग्विधम् ॥ ६ ॥ वृत्तिभेदे मनोबुद्धी अहंकारस्तु वृत्तिमान् ॥ क्रियाशक्तिप्रधानाश्च प्राणा नानाविधाः क्रियाः ॥ ७ ॥ दशधा पञ्चधा वापि प्राणापानादिरूपतः ॥ असंकीर्णाः क्रियारूपा भौतिकाः कल्पिताः परे ॥ ८ ॥ अनुग्राहकमर्कादि दैवं चक्षुर्मुखस्य च ॥ अत्र कारणवर्गे तत्पञ्चसंख्याप्रपूरकम् ॥ ९ ॥ तथेत्यनुकर्षणार्थश्चशब्दोऽस्ति स्थलत्रये ॥ तेनाप्यस्तत्वमेतेषां भौतिकत्वमनात्मनाम् ॥ १० ॥ प्रत्यगात्मन्यसङ्गेऽस्मिन्पञ्चानामीश्वरो जगौ ॥ ११ ॥ १४ ॥

भा० टी०—कानि तानीत्यपेक्षायामाह—अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं इच्छाद्वेषसुखदुःखज्ञानादीनामभिव्यक्तेराश्रयो देहः, तथा कर्ता उपाधिलक्षणो बुद्ध्याद्युपाध्यनुविधायी तद्धर्मानात्मनि पश्यन्नुपहित उपाधिप्रधानो भोक्ता, करणं च श्रोत्रादिशब्दाद्युपलब्धये पृथग्विधं नानाप्रकारं ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च मनो बुद्धिश्चेति द्वादशसंख्यम्। विविधाश्च पृथक्चेष्टाः वायवीयाः प्राणापानाद्याः। अत्र चतुर्थं दैवमेव पञ्चमं चक्षुराद्यनुग्राहकमादित्यादिदैवम् सर्वप्रेरकोन्तर्यामीति स्वात्मनः कर्तृत्वव्यावृत्तये परमात्मनः कर्तृत्वप्रतिपादनमयुक्तमित्यभिप्रेत्याचार्येन प्रदर्शितम् ॥ १४ ॥

प० टी०—तान्याह—अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं शरीरं, कर्ता जडचैतन्यग्रन्थिरहंकारः, पृथग्विधं बहुविधं करणं चक्षुरादि, विविधा अनेकप्रकाराश्चेष्टाः प्राणापानादिव्यापाराः । एतेष्वेव पञ्चमं दैवं चक्षुरादीनामधिदैवं सूर्यादिसर्वप्रेरकोऽन्तर्यामी वा ॥ १४ ॥

रा० टी०—प्रतिज्ञातमाह—अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं देहभूम्यादिः, कर्ता विष्णुः, पृथग्विधं करणम् इन्द्रियस्रुक्स्रुवादि । विविधा नानाप्रकारा पृथक् परस्परभिन्ना, चेष्टा हस्तादिक्रिया ध्यानरूपमानसक्रिया च प्रधानहोमादिक्रियाहेतुभूता कारकाश्रिता वान्तरक्रिया चेत्यर्थः । दैवमदृष्टं अत्र कर्मविषये पञ्चमं कारणम् । यद्वा कर्तृपदेन पराधीनकर्ता जीवः । दैवपदेन विष्णुः । कर्मणां कर्त्रादिकारकषट्कसाध्यत्वेऽपि इह कर्मापादानादेरनुक्तिः, असार्वत्रिकत्वात्तस्येति ज्ञेयम् ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ॥
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥

त० टी०—इमान्येव सर्वकर्महेतव इत्याह—शरीरेति । शरीरवाङ्मनोभिस्त्रिभिरेवैर्यत्कर्म नरः प्रारभते निर्वर्तयति न्याय्यं शास्त्रविहितं धर्म्यं, विपरीतं वा शास्त्रनिषिद्धं वा । न्याय्यविपरीतयोर्मध्ये प्राणापानाद्यन्यत्सर्वमन्तर्भवति । तस्य सर्वविधस्य कर्मणः पञ्चैते यथोक्ता हेतवः कारणानि भवन्ति ॥ १९ ॥

म० टी०—स्वरूपमुक्त्वा तेषां पञ्चानां कर्महेतुत्वमाह तृतीयेन—शरीरेति । शारीरं वाचिकं मानसिकं च विधिप्रतिषेधलक्षणं त्रिविधं कर्म धर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धम् । अक्षपादेन चोक्तम् 'प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः' इति । बुद्धिर्मनः । अतः प्राधान्याभिप्रायेणोच्यते शरीरेण वाचा मनसा वा यत्कर्म प्रारभते निर्वर्तयति नरः मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य । कीदृशं कर्म ? न्याय्यं वा शास्त्रीयं धर्म, विपरीतं वा अशास्त्रीयमधर्मं यच्च निमिषितचेष्टितादि जीवनहेतुरन्यद्वा विहितप्रतिषिद्धसमं तदपि पूर्वकृतधर्माधर्मयोरेव

भुक्तमागतं गतमिति - दुष्टमदुष्टं कर्म कृतमिति वाऽकृतश्रवणादिः सन् य आत्मानं तत्तत्कर्मणां कर्तारमेव पश्यति मन्यत इत्यर्थः । स एवं निष्क्रिय एवात्मन्यकर्तरि स्वे कूटस्थासङ्गचिद्रूपे कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यन्यधर्मारोपयिता पुरुषः स्वयमकृतबुद्धिर्नित्यनिरन्तरश्रवणमननादिसंस्कारैः सुसंस्कृता निष्क्रियो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽयमात्माहंपदार्थ इत्येवमाकारेण सम्यग्विषयीकृतात्मतत्त्वा बुद्धिर्यस्य स कृतबुद्धिः प्रबुद्धात्मतत्त्वस्तद्विपरीतस्त्वकृतबुद्धिश्च । तथा कृतश्रवणोऽपि सम्यङ्नापरोक्षीकृतात्मस्वरूपस्तस्य भावोऽकृतबुद्धित्वं तस्मादेव दुर्मतिरविद्याकार्यत्वेन दुष्टे देहेन्द्रियादावेवाहमिति मतिर्यस्य स दुर्मतिः । यद्वा रजस्तमोवासनात्मिकयाऽविद्यया दूषिता मतिर्यस्य स दुर्मतिः पशुवद्देहात्मबुद्धिरेव भवति, यतोऽनात्मानमेवाधिष्ठानादिकं सक्रियमात्मनं पश्यत्यहं कर्ता भोक्ता गच्छाम्यागच्छामि कुर्वे भुञ्ज इति । यथाभ्रेषु धावत्स्वधावन्तं चन्द्रं धावन्तं पश्यति, यथा नावि गच्छन्त्यामगच्छन्तं तरुं गच्छन्तं पश्यति मूढस्तथाक्रियं बुद्धावपि सक्रियमेव पश्यति यथा, तथायमात्मानमकर्तारमेव श्रुत्वा मत्वा च पुनरपि कर्तारं भोक्तारमेव पश्यत्यतः स आत्मतत्त्वम् 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' इति, 'नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रम्' इति, 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' इतिश्रुतिस्मृत्याचार्यबोधितं न पश्यति न विजानातीत्यर्थः । नन्वयं पुरुष आत्मानमकर्तारमेव कर्तारं पश्यतीति यदुक्तं तदनुपपन्नमेव, सर्वप्रमाणविरोधादहं करोमीत्यहंभावस्य कर्तृधर्मस्य प्रत्यक्षत्वात् । न त्वयं देहधर्मः मृतदेहस्याहंभावाभावाद्गमनादिक्रियाभावाच्च । देहचेष्टा सर्वाप्यात्मकर्तृका सत्यात्मन्युपलभ्यमानत्वात्सति वायौ वृक्षचेष्टावदिति सर्वस्यापि कर्मण आत्मकर्तृकत्वमेवानुमीयते । " स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम् " इति श्रूयते च । ततः कर्तृत्वमात्मधर्म एवेति चेत्सत्यं, कर्तृत्वमात्मनः श्रूयते मृतदेहस्य च तन्न दृश्यते । तथापि श्रुतियुक्तिभिर्विचार्यमाणे निरवयवस्य व्योमवदविक्रियस्यात्मनश्चलनक्रियाऽसंभवात्कर्तृत्वं न सिध्यति सुषुप्तावात्मनः कर्तृत्वाभावस्य सर्वप्रत्यक्षत्वात् । ननु सुषुप्तावात्मोपलम्भाभावात्तदसत्त्वे तत्कर्तृत्वाभावो युक्त एवेति चेन्न । 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्' इति सुषुप्तावात्मसद्भावस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्तदसत्त्वासिद्धेः । 'स्वप्नमहमद्राक्षम्' इति स्वस्य स्वप्नदर्शनवत्सुषुप्तिसुखस्यानुभूयमानत्वात्स्वप्न इव सुषुप्तावात्माऽस्त्येवाहंपदार्थस्तदसत्त्वे सुषुप्तितत्सुखज्ञानाभावप्रसङ्गात् । सुषुप्तितत्सुखज्ञातुः स्वस्य सद्भावोऽभ्युपगन्तव्यस्तत्र सत्यात्मसद्भावेऽप्यात्मनः कर्तृत्वं न दृश्यते । ननु सुषुप्तावप्यात्मनः सुखमस्वाप्समिति स्वापक्रियाकर्तृत्वमस्त्येवेति चेन्न । निरवयस्य क्रियानुपपत्तौ तिष्ठत्यास्त इत्यत्र यथा तथा स्वपितीति व्यपदेशमात्रमेव नात्र पुरुषव्यापारः संभवति करणाभावान्निरवयवत्वाच्चात्मनः । किंच " स्वमपीतो भवति " इति श्रवणात्तत्रात्मा स्वस्य निरुपाधिकस्वरूपप्राप्तिं प्रकाशयत्यस्वाप्समिति न तु बुद्ध्यादिवत्स्वपितीति "असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति । एष सुप्तेषु जागर्ति" इति च श्रुतेः । यत एवमतः कर्तृत्वमन्यधर्मः । एव न त्वात्मधर्मः 'निष्कलं निष्क्रियम्' इति, 'नायं हन्ति न हन्यते' इति, 'अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता' इति, 'वृक्ष इव स्तब्ध.' इति, "नित्यः सर्वगतः स्थाणु.' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतमात्मनः कर्तृत्वाभावमेव बोधयति । न किंचिदात्मा चेष्टते निरवयवत्वात्परिपूर्णत्वादित्यादियुक्तयश्चाक्रियत्वमेव साधयन्ति । तर्हि कस्य धर्मः कर्तृत्वमिति चेदुच्यते—पुनरपि सता मुमुक्षूणामात्मनि कर्तृत्वभ्रमविच्छित्त्यै जाग्रत्स्वप्नयोर्देहे चान्यत्राहंममेत्यभिमानवतो विज्ञानात्मन एव साभासस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च जाग्रत्स्वप्नयोः स्वतन्त्रहंममेत्यभिमानी विज्ञानात्मा सर्वाणि कर्माणि करोति, उभयत्रापि तस्यैव कर्तृत्वं विद्वत्प्रत्यक्षं सुषुप्तौ तदभावात्कर्तृत्वधर्मप्रतीत्यभावस्ततोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां विज्ञानात्मन एव कर्तृत्वं, यस्मादिदमहं करोमीत्यभिमानेन सामान्यं विशेषं वा कर्म करोति । तथाच श्रुतिः—"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" इति, 'मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' इति सर्वप्रमाणैर्विज्ञानात्मन एव कर्तृत्वावधारणान्न त्वात्मा कर्ता भोक्तेति सिद्धम् ।

शरीरमास्थाय करोति सर्वमित्यत्र मायापरिमोहितात्मेति लिङ्गान्माययाऽन्यदिव "स एष आत्मा" इति, "ध्यायतीव लेलायतीव" इति च श्रवणाद्गजारूढे राजनि राजायं गच्छतीति गमनक्रियाकर्तृत्वं यथाऽऽरोपितं, तथा माययाऽविद्यया मूढैरात्मन्यारोपितं कर्म करोतीवेत्यनुवदति करोति सर्वमितिश्रुतिः, ननु सत्यमिति ब्रूते, तत्सत्यत्वे संसारित्वादात्मनो मोक्षाभावप्रसङ्गात्स्ववचनव्याघातप्रसङ्गाच्च । यतः स्वयमेव मोक्षं वक्ति 'विमुक्तश्च विमुच्यते' इति। तस्मादात्मनो न कर्तृत्वमिति व्यवस्थितम्। ननु 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु' इति तुशब्दयोगात्केवलशब्दस्वारस्याच्चात्मनः केवलस्य तु कर्तृत्वाभावेऽप्युपाधिविशिष्टस्य कर्तृत्वमस्त्येवेति चेद्भवानत्र प्रष्टव्यः। आत्मन उपाधिवैशिष्ट्यसिद्धेः संबन्धः संयोग उच्यते उत समवायो वा? आद्ये संयोगः सर्वत उच्यते, किमेकदेशेन वा? न द्वितीयः, निरवयवस्य देशकल्पनायोगात्। नाद्यः, परिच्छिन्नस्योपाधेः पूर्णेन सह सर्वतः संयोगायोगान्निरवयवसावयवयोः संयोगासंभवाच्च। सत्यपि सर्वतः संयोगसंबन्धे स्वात्मनोऽपि जडत्वं जगदान्ध्यं च स्यात्। न द्वितीयः, समवायसमवायिनोर्द्वयोः संबन्धसिद्धौ समवायान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात्तयोरयुतसिद्धत्वाभावाच्च समवायः सिध्यति। "कर्माणुगान्यनुक्रमेण देही" इत्यात्मनो देहित्वश्रवणादुभयोर्देहदेहिनोरवयवावयविभावसंभवादस्त्येवायुतसिद्धत्वमिति चेन्न। यत्राऽवयवी तत्राऽवयव इतिवद्यत्रात्मा तत्र देह इति व्याप्त्यभावादयुतसिद्धत्वाऽसिद्धेः। तर्हि देहीति कथमिति चेदविद्याद्वारा-मध्यासंसंबन्धेनात्मनो देहित्वसंभवाद्देहीत्युक्तिराध्यासिकी, न तु वास्तवी। संयोगसमवाययोरन्यतरसंबन्धाङ्गीकारेऽपि विशेषणनाशाद्विशिष्टस्यापि नाश इतिन्यायेनोपाधिनाशादात्मनोऽपि नाशप्रसङ्गादस्य नित्यत्वप्रतिपादकश्रुतिविरोधप्रसङ्गाच्च, संसारित्वमोक्षरहितत्वाद्यनर्थप्रसङ्गाच्च। "न तद्भाति किंचन। असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इतिश्रवणादसङ्गस्य निरवयवस्यात्मनो निर्विशेषस्योपाधिना तद्धर्मेण तत्कर्मभिर्वा संबन्धः कल्पयितुं केनापि न शक्यते। तस्मादात्मनः क्रिया वा क्रियाश्रयत्वं वा क्रियाविषयत्वं वा क्वचित्कदाचित्किंचिदपि न संभवति। तत एवोच्यते भगवताऽविद्यां तत्कार्यं च मोचयित्वा भक्तान् रक्षितुमिच्छता सर्वज्ञेनात्मानं केवलं त्विति। तुशब्द आत्मन उपाधिभिन्नत्वद्योतकार्थः। सावयवं सक्रियमुपाधिं कर्तारं भोक्तारं च पश्यतु, न तु केवलं निष्कलं निष्क्रियमात्मानं प्रमादेनापि कर्तारं पश्येत्। निरवयवस्यासङ्गस्यात्मनः क्रियाश्रयत्वादेरसंभवाच्च एवंलक्षणमात्मतत्त्वं सद्गुरोर्मुहुः श्रुत्वा मत्वा चात्मानं पुण्यपापक्रियाकर्तारं भोक्तारं वा पश्यति स एव दुर्मतिरविवेकी न त्वजाविपाल इत्यर्थः ॥ १६ ॥

श्री० टी०—ततः किमत आह—तत्रेति। तत्र सर्वस्मिन्कर्मणि एते पञ्च हेतवः इत्येवं सति केवलं निरुपाधिकमसङ्गमात्मानं तु यः कर्तारं पश्यति शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामसंस्कृतबुद्धित्वाद्दुर्मतिरसौ सम्यङ्न पश्यति ॥ १६ ॥

स० टी०—एतेषामेव कर्तृत्वं सर्वस्यापीह कर्मणः॥ आत्मनो नास्ति कर्तृत्वमित्याह भगवान् हरिः ॥ १ ॥ तत्र कर्मणि पूर्वोक्ते सर्वस्मिन्पञ्चहेतुभिः॥ निर्वर्त्यमाने सति य आत्मानं सर्वसाक्षिणम् ॥ २ ॥ स्वप्रकाशपरानन्दमनाद्यं केवलं परम् ॥ उदासीनमकर्तारमद्वितीयमविक्रियम् ॥ ३ ॥ वस्तुतोऽसाक्षिनं सन्तमधिष्ठानादिकर्मणः॥ कर्ताहमिति चाध्यासात्कर्तारं हि क्रियाश्रयम् ॥ ४ ॥ पश्यत्यविद्यया रज्जुं भुजङ्गमिव मूढधीः॥ महामोहावृतत्वेन पश्यन्नप्यन्यथामतिः॥ ५ ॥ शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामसंस्कृतमतिः कुधीः॥ प्रतिबन्धकपापेन दुष्टा यस्य मतिः स च ॥ ६ ॥ न पश्यत्येव विभ्रान्तो ह्यन्यमप्यावभासतः॥ अतोऽशुद्धमनस्कत्वाद्विवेक्यविरागवान् ॥ ७ ॥ ज्ञानायोग्यतया सन्तमकर्तारमविक्रियम् ॥ कर्तारं विक्रियावन्तं कल्पयन्मायया परम् ॥ ८ ॥ संसारी देहभृत्कर्माधिकारी कर्मकर्तृषु ॥ तादात्म्याध्यासतः कर्म प्रकुर्वन्संसरत्यधः॥ ९ ॥ एतेन तार्किको यस्तु देहादिभ्यो विलक्षणम् ॥ आत्मानं केवलं बुध्या कर्तारं

कार्यमिति न्याय्यविपरीतयोरेवान्तर्भूतम् । पञ्चैते यथोक्ता अधिष्ठानादयस्तस्य सर्वस्यैव कर्मणो हेतवः कारणानि ॥ १५ ॥

शं० टी०—उक्तमेवार्थं विस्पष्टयति—शरीरेति । नरो वाह्यदृष्ट्या कर्मकर्ता पुरुषः "शरीरवाङ्मनोभिः तत्कर्मणा करोति" इति श्रवणादत्र शरीरपदेन वागव्यतिरिक्तानीन्द्रियाणि गृह्यन्ते । शरीरेणेन्द्रियैर्वाचा मनसा च बुद्धिपूर्वकं न्याय्यं शास्त्रीयं वा विपरीतं प्रतिषिद्धं वा यत्कर्म प्रारभते करोति तस्य करणत्रयनिर्वर्त्यस्य कर्मणः विहितस्य निषिद्धस्य वान्यस्य वा सर्वस्याप्येते अधिष्ठानादयः पञ्च हेतवः कारणानि भवन्ति । ननु सर्वस्यापि कर्मणः करणत्रयसाध्यत्वे सिद्धे सत्यधिष्ठानादीनां कारणत्वोक्तिर्व्यर्थेवेति चेत्सत्यं, विहितं प्रतिषिद्धं च यत्क्रियते पुरुषेण तत्सर्वं करणत्रयेणैव सिध्यति, तथापि "यद्धि मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति" इति न्यायेन बुद्धिपूर्वकस्यैव कर्मणः करणत्रयसाध्यत्वं नत्वबुद्धिपूर्वकस्य क्षुतजृम्भणादेस्तत्राप्युच्छ्वासनिःश्वासोन्मेषादेः स्वाभाविकक्रियात्वेन करणत्रयसाध्यत्वासंभवात्कर्त्रेकसाध्यायाः फलानुभूतिक्रियायास्तत्साध्यत्वायोगाच्च करणत्रयस्य चेष्टामात्रकारणत्वं न संभवति । तत एवोच्यते 'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः । तस्याप्येते पञ्च हेतवः' इति । तेन शरीरादीनां पृथक्करणत्वाभावात्तत्कृतकर्मणोऽप्येतान्येव कारणानीति सूचितं भवति । ततः पुरुषादृष्टानुरूपेण सर्वकर्मनिष्पादकत्वं पुण्यापुण्यकर्मफलानुभावकत्वमनुभवितृत्वं चाधिष्ठानादीनामेवेति सिद्धम् ॥ १५ ॥

श्री० टी०—एतेषामेव सर्वकर्महेतुत्वमाह—शरीरेति । यथोक्तैः पञ्चभिः प्रारभ्यमाणं कर्म त्रिष्वेवान्तर्भाव्यं शरीरवाङ्मनोभिरित्युक्तं शारीरम् । वाचिकं मानसं च त्रिविधं कर्मेति प्रसिद्धेः । शरीरादिभिर्यत्कर्म धर्म्यं वाऽधर्म्यं वा करोति नरस्तस्य सर्वस्य कर्मण एते पञ्च हेतवः ॥ १५ ॥

म० टी०—उक्त्वा स्वरूपं पञ्चानामेतेषां कर्महेतुताम् ॥ आहेदानीं जगन्नाथो भगवान्करुणानिधिः ॥१॥ देहेन मनसा वाचा निर्वर्तयति कर्म यत् ॥ शास्त्रीयं वाप्यशास्त्रीयं धर्माधर्मात्मकं नरः ॥ २ ॥ निमेषोन्मेषचेष्टादिनिमित्तं जीवनेऽस्ति यत् धर्माधर्मफलत्वेनैवाऽन्तर्भूतं तयोर्द्वयोः ॥ ३ ॥ न्याय्याद्वा विपरीताद्वा भिन्नं कर्म न किंचन ॥ सर्वस्य कर्मणश्चैते यथोक्ताः पञ्च हेतवः ॥ ४ ॥ अधिष्ठानादयो नैभ्यो भिन्नः कर्तास्ति कश्चन ॥ एभ्यो विलक्षणः साक्षी निष्क्रियो निर्विकल्पकः ॥ ५ ॥ कूटस्थः प्रत्यगात्मैव ज्ञेयो ब्रह्माद्वयात्मकः ॥ तेनैव सुमतिर्विद्वानन्यथा दुर्मतिर्नरः ॥ ६ ॥ यदज्ञानाल्लोकोऽचलवपुषि कूटस्थचिद्गणौ मृषाहंकर्तास्मीत्यपि तनुयुगाध्यासवशतः ॥ प्रकल्प्यानर्थाब्धौ भ्रमति सततं भ्रान्तिगहने विमुक्तो यज्ज्ञानाद्भवति सुमतिर्नौमि तमजम् ॥ ७ ॥ १५ ॥

भा० टी०—पञ्चानां स्वरूपमुक्त्वा कर्महेतुत्वमाह—शरीरेति । यत्कर्म न्याय्यं वा धर्म्यं शास्त्रीयं, विपरीतं वाऽधर्म्यमशास्त्रीयम् । यद्यपि निमिषितचेष्टादिजीवनहेतु, तदपि पूर्वकृतधर्मादेरेव कार्यमिति न्याय्यविपरीतयोर्ग्रहणेन ग्राह्यम् । यन्न्याय्यादिकर्म शरीरवाङ्मनोभिस्त्रिभिर्नरः प्रारभते निर्वर्तयति तस्य सर्वस्यैव कर्मणः पञ्चैते यथोक्ता अधिष्ठानाद्यो हेतवः कारणानि । ननु पञ्चैतानीत्यादिनाऽधिष्ठानादीनि सर्वकर्मणां निर्वर्तकान्युक्तानि, अत्र तु शरीरवाङ्मनोभिः कर्म प्रारभत इत्युक्तमतः पूर्वापरविरोध इति चेत्, नैष दोषः । शरीराद्यारभ्ये त्रिविधे कर्मणि पञ्चानामधिष्ठानादीनां हेतुत्वस्य विवक्षणात् । दर्शनश्रवणादि च जीवनलक्षणं त्रिविधकर्मण्येवान्तर्भवतीति त्रिधैव राशीकृत्योच्यते । ननु फलोपभोगकाले करणान्तरापेक्षासंभवात्कथं पञ्चानामेवाधिष्ठानादीनां तत्र हेतुत्वमिति चेत्, अपेक्षितस्य सर्वस्यापि कारणस्यैतेष्वेवान्तर्भावात्पञ्चानां हेतुत्वं न विरुध्यते ॥ १५ ॥

प० टी०—एतेषामेव सर्वकर्महेतुत्वमाह—शरीरेति । नरः शरीरवाङ्मनोभिर्न्याय्यं धर्म्यं विपरीतमधर्म्यं वा यत्कर्म प्रारभते तस्य हेतव उक्ताः पञ्च ॥ १५ ॥

रा० टी०—तर्हि करणकारकं कुतो नोक्तमित्यतो वा कस्यैतानि करणानीत्यतो वाह—शरीरेति । अत्र शरीरमनोवाचामेव करणकारकत्वेनोक्त्या कर्मापादानादीनि न सार्वत्रिकाणीति सूचितम् ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ॥
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥

त० टी०—इदानीमधिष्ठानादिहेतुपञ्चकनिरूपणस्य प्रयोजनमाह—तत्रेति । तत्र एवं यथोक्ते न्याय्ये विपरीते वा कर्मणि अधिष्ठानादिहेतुके निश्चिते सति कस्मिंश्चिदपि कर्मणि कर्तारमात्मानं केवलमहमेव कर्तेति यः पश्यति जानाति, स अकृतबुद्धित्वात् अकृता शास्त्राचार्योपदेशसंस्काररहिता बुद्धिर्यस्य स तथाभूतत्वान्न पश्यति । यथाऽवस्थितात्मनः कर्तृत्वं परमेश्वरनियम्यशरीरेन्द्रियाधीनमिति न पश्यति, अतो दुर्मतिः दुष्टाऽयथार्थग्राहिणी मतिर्यस्य स विपर्ययज्ञानात्संसारे बन्धं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

म० टी०—इदानीमेतेषामेव कर्मकर्तृत्वादात्मनो न कर्तृत्वमित्यधिष्ठानादिनिरूपणफलमाह—तत्रेति । तत्र कर्मणि प्रागुक्ते सर्वस्मिन् एवं सति अधिष्ठानादिपञ्चहेतुके सति तैर्निर्वर्त्यमाने आत्मानं सर्वजडप्रपञ्चस्य भासकं सत्तास्फूर्तिरूपं स्वप्रकाशपरमानन्दमनाद्यं केवलमसङ्गोदासीनमकर्तारमविक्रियमद्वितीयं तु एव परमार्थतः । अविद्यया त्वधिष्ठानादौ प्रतिबिम्बितमादित्यमिव तोये तदाभासकमनन्यत्वेन परिकल्प्य तोयचलनेनादित्यश्चलतीतिवदधिष्ठानादिकर्मणोऽहमेव कर्तेति साक्षिणमपि सन्तं कर्तारं क्रियाश्रयं यः पश्यत्यविद्यया कल्पयति रज्जुमिव भुजङ्गं, स एवं पश्यन्नपि न पश्यत्यात्मानं तत्त्वेन स्वरूपाज्ञानकृतत्वादध्यासस्य । स भ्रान्त्या विपरीतमेव पश्यति न यथातत्त्वमित्यत्र को हेतुस्तत्र आह—अकृतबुद्धित्वात् । शास्त्राचार्योपदेशन्यायैरनुपजनितविवेकबुद्धित्वात् । नहि रज्जुतत्त्वसाक्षात्काराभावे भुजङ्गभ्रमं कश्चन बाधते । एवं शास्त्राचार्योपदेशन्यायैः परिनिष्ठितेऽहमस्मि सत्यं ज्ञानमनन्तमकर्त्रभोक्तृपरमानन्दमद्वयमद्वयं ब्रह्मेति साक्षात्कारेऽनुपजनिते कुतो मिथ्याज्ञानतत्कार्यबाधः? एतादृशं साक्षात्कारमेव गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारेण कुतो न जनयतीत्यत आह—दुर्मतिः । दुष्टा विवेकप्रतिबन्धकपापेन मलिना मतिर्यस्य सः । अतोऽशुद्धबुद्धित्वान्नित्यानित्यवस्तुविवेकादिशून्यत्वेन तत्त्वज्ञानायोग्यत्वादकर्तारमपि कर्तारं केवलमप्यकेवलमात्मानमविद्यया कल्पयन्संसारी कर्माधिकारी देहमृदृढबुद्धिः कर्मकर्तृषु तादात्म्याभिमानात्कर्मत्यागासमर्थः सर्वदा जननमरणप्रबन्धेनानिष्टमिष्टं मिश्रं च कर्मफलमनुभवति । एतेन यस्तार्किको देहादिव्यतिरिक्तं आत्मानमेव कर्तारं केवलं पश्यति सोऽप्यकृतबुद्धित्वेन व्याख्यातः । अन्यस्त्वाह—आत्मा केवलो न कर्ता किन्त्वधिष्ठानादिभिः संहतः सन् परमार्थतः कर्तैव । कर्तारमात्मानं केवलं पश्यन् दुर्मतिरिति केवलशब्दप्रयोगादिति । तन्न, परमार्थतः सर्वक्रियाशून्यस्यासङ्गस्यात्मनोऽधिष्ठानादिभिः संहतत्वानुपपत्तेः । जलसूर्यकादिवत्तु आविद्यकेन संहतत्वेन कर्तृत्वमपि तादृशमेव, अधिष्ठानादीनामप्याविद्यकत्वाच्च । केवलशब्दस्तु स्वभावसिद्धमात्मनोऽसङ्गाद्वितीयरूपत्वमनुवदति । कर्तृत्वदर्शिनो दुर्मतित्वहेतुत्वेनेत्यदोषः ॥ १६ ॥

सं० टी०—'प्रकृत्यैव च कर्माणि' इति न्यायेन अधिष्ठानादिपञ्चकस्यैव प्राकृतस्य क्रियामात्रकारणत्वे सिद्धे फलितमाह—तत्रैवमिति । एवमधिष्ठानादीनामेव पञ्चानां सर्वकर्मनिर्वर्तकत्वनिष्कर्षे सत्यां यः अकृतात्माऽऽत्मानात्मतत्त्वविचारशून्यः पुरुषस्तत्र प्रकृतैरेवाधिष्ठानादिभिः कृते विहिते निषिद्धे वा कर्मण्यहमेवास्य कर्मणः कर्तेत्यकर्तारमेवात्मानं केवलं लोकोत्तरं निष्कलं निष्क्रियं निर्विशेषं कर्तारं पश्यति, यथा स्नाते

पश्यतीतरः ॥ १० ॥ अकृतधीतया सोऽपि व्याख्यातोऽनात्मदर्शतः ॥ कर्तृत्वं कल्पिते सिद्धं देहादि- जडपञ्चके ॥ ११ ॥ प्रत्यगात्माऽक्रियः सिद्धो वाक्याद्भगवतो हरेः ॥ १२ ॥ सकलजडविकाराध्यासत- श्छिद्रनेऽच्छे कुमतिरकृतबुद्धिः कल्पयन्कर्तृभावम् ॥ भ्रमति भवजलाब्धौ तर्कविद्योऽप्युपेक्ष्यस्त्विति वदति हरिर्यस्तं प्रपद्ये मुकुन्दम् ॥ १३ ॥ १६ ॥

भा० टी०–एवमधिष्ठानादीना सर्वकर्मणि हेतुत्वमुक्त्वाऽविदुष आत्मन्यकर्तरि कर्तृत्वदृष्टिमनुवदति–तत्रेति । तत्रैवं सति एवं यथोक्तैः पञ्चभिः हेतुभिः सर्वस्मिन्कर्मणि निर्वर्त्ये सति केवलं शुद्धमसंहतमकर्तारमात्मानमात्मनोऽनन्यत्वेन कल्पितैरधिष्ठानादिभिः क्रियमाणस्य कर्मणोऽहमेव कर्तेति कर्तारं योऽकृतबुद्धित्वात् वेदान्ताचार्योपदेशन्यायैरसंस्कृतबुद्धित्वात् पश्यति अतः स दुर्मतिः नैव पश्यति । योऽपि देहातिरिक्तात्मवादी तार्किकादिः केवलमकर्तारं शुद्धमात्मानं कर्तारं पश्यति, असावप्यकृतबुद्धित्वान्न पश्यति आत्मनः कर्मणो वा तत्त्वम् । अतः दुर्मतिः कुत्सिता विपरीता दुष्टाऽजस्रं जननमरणप्राप्तिहेतुभूता मतिरस्येति स पश्यन्नपि न पश्यति । यथा तैमिरिकोऽनेकचन्द्रं, यथा वाऽन्येषु धावत्स्वेवासनस्थितमात्मानं धावन्तं पश्यति तथाऽधिष्ठानादिषु क्रियाकर्तृषु तद्रतं स्वात्मानमकर्तारं कर्तारं पश्यति स दुर्मतिरित्यर्थः ॥ १६ ॥

प० टी०–ततः किमत आह–तत्रेति । तत्र सर्वस्मिन् कर्मण्येते पञ्च हेतव इत्येवं सति केवलं निरुपाधिमसङ्गमात्मानं यः कर्तारं पश्यति स शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामकृतबुद्धित्वाद्दुर्मतिरसौ सम्यङ् न पश्यति ॥१६॥

रा० टी०–ततश्च किमित्यत आह–तत्रैवं सतीति । तत्र कर्मणीश्वरादिपञ्चकस्यैवं कारणत्वे सति जीवस्य स्वातन्त्र्याभावेन केवलं परप्रेरणां विना स्वतः क्रियाहीनमात्मानं कर्तारं स्वातन्त्र्येण कर्मकर्तारं यस्तु पश्यति मन्यते सोऽकृतबुद्धित्वात् श्रवणाद्यसंस्कृतबुद्धित्वाद्दुर्मतिः दुष्टबुद्धिः सन्न पश्यति, तत्त्वविन्न भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

श० टी०–एवमविवेकिन आत्मनः स्वतन्त्रकर्तृत्वज्ञातृत्वं दुर्मतित्वं च निरूप्य निरहंकारस्य सुबुद्धित्वेन कर्मलेपाभावं निरूपयति–यस्येति । यस्य शास्त्राचार्योपदेशसंस्कृतान्तःकरणस्य पुरुषस्य अहंकृतो भावोऽहं कर्तेत्येवंरूपो भावोऽभिप्रायो न भवति । परमेश्वराधीनदेहेन्द्रियनिमित्तकर्तृत्वनिश्चयात् । अत एव बुद्धिर्यस्य न लिप्यते, ममेदं कर्म मदीयमिष्टं साधयेदितीष्टसाधनत्वेन तत्राभिनिवेशं न करोति । स एवंभूतो विविक्तात्मस्वरूप इमाँल्लोकान् प्राणिनो हत्वाऽपि न हन्ति, हननक्रियाऽऽश्रयो न भवति । यद्यप्येवंभूतस्य न हिंसादिकर्म संभवति, तथाऽपि कथंचित्स्यात्तर्हि अहं कर्तेति न मन्यते इत्यर्थः । तत एव न निबध्यते तत्कर्मफलानुभवाय तत्र तत्र न जायते इत्यर्थः ॥ १७ ॥

म० टी०–तदेवं चतुर्भिः श्लोकैः 'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य' इति चरणत्रयं व्याख्यातमिदानीं 'न तु संन्यासिनां क्वचित्' इति तुरीयं चरणमेकेन व्याचष्टे–यस्येति । यस्य पूर्वोक्तविपरीतस्य पुण्यैः कर्मभिः क्षपितेषु विवेकविरोधिपापेषु नित्यानित्यवस्तुविवेकादिसाधनचतुष्टयं प्राप्तवतः शास्त्राचार्योपदेशन्यायजनिताकर्त्रभोक्तृस्वप्रकाशपरमानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्याज्ञाने सकार्ये बाधिते न भवत्यहं कर्तेत्येवंरूपो भावः प्रत्ययः । यस्य भावः सद्भावः अहंकृतोऽहमिति व्यपदेशार्हो न, अहंकारबाधेन शुद्धस्वरूपमात्रपरिशेषादिति वा । अहंकृतोऽहंकारस्य भावः तत्तादात्म्यं यस्य न विवेकेन बाधितत्वादिति वा । बाधितानुवृत्तावपि एत एव पञ्चाधिष्ठानादयो मायया मयि सर्वात्मनि कल्पिताः सर्वकर्मणां कर्तारो

मया स्वप्रकाशचैतन्येनासङ्गेन कल्पितसंबन्धेन प्रकाश्यमानाः, अहं तु न कर्ता किंतु कर्तृतद्व्यापाराणां
साक्षिभूतः क्रियाज्ञानशक्तिमदुपाधिद्वयनिर्मुक्तः शुद्धः सर्वकार्यकारणासंबद्धः कूटस्थनित्यो निर्द्वयः सर्ववि-
कारशून्यः 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः । साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो अक्षरात्परतः परः ।
अज आत्मा महान्ध्रुवः सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतः । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः । निष्कलं निष्क्रियं
शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'अविकार्योऽयमुच्यते' 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि
सर्वशः । अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥' 'तत्त्ववित्तु न सज्जते' 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति
न लिप्यते' इत्यादिस्मृतिभ्यश्च । तस्मान्नाहं कर्तेत्येवं परमार्थदृष्टेः बुद्धिरन्तःकरणं यस्य न लिप्यते नानु-
शयिनी भवति, इदमहकार्षमेतत् फलं भोक्ष्य इत्यनुसंधानं कर्तृत्ववासनानिमित्तं लेपोऽनुशयः । स च पुण्ये
कर्मणि हर्षरूपः पापे पश्चात्तापरूपः । ईदृशेन द्विविधेनापि लेपेन बुद्धिर्न युज्यते कर्तृत्वाभिमानबाधात् ।
तथा च ज्ञानिनं प्रकृत्य श्रुतिः—'एतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे
उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः । तदेतदृचाभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा
नो कनीयान् । तस्यैव स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति' । पापकेनेति पुण्यस्याप्युप-
लक्षणम् । वर्धते कनीयानिति च पुण्यपापयोः परितोषपरितापाभिप्रायम् । एवं यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य
न लिप्यते, स पूर्वोक्तदुर्मतिविलक्षणः सुमतिः परमार्थदर्शी पश्यत्यकर्तारमात्मानं केवलं; स कर्तृत्वाभिमाना-
भावादनिष्टादित्रिविधकर्मफलभागी न भवतीत्येतावति शास्त्रार्थेऽहंकाराभावबुद्धिलेपाभावौ स्तोतुमाह—हत्वा
हिंसित्वापि स इमॉंल्लोकान्सर्वान् प्राणिनः न हन्ति हननक्रियायाः कर्ता न भवति अकर्तृस्वरूपसाक्षात्का-
रात् । न निबध्यते नापि तत्कार्येणाधर्मफलेन संबध्यते । अत्र नाहंकृतो भाव इत्यस्य फलं न हन्तीति ।
बुद्धिर्न लिप्यत इत्यस्य फलं न निबध्यत इति । अनेन च कर्मालेपप्रदर्शनेऽतिशयमात्रमुक्तं न तु सर्व-
प्राणिहननं संभवति । हत्वापीति कर्तृत्वाभ्यनुज्ञा बाधितकर्तृत्वदृष्ट्या लौकिक्या, न हन्तीति कर्तृत्वनिषेधः
शास्त्रीयया परमार्थदृष्ट्येति न विरोधः । शास्त्रादौ नायं हन्ति न हन्यते इति सर्वकर्मासंस्पर्शित्वमात्मनः
प्रतिज्ञाय न जायत इत्यादिहेतुवचनेन साधयित्वा वेदाविनाशिनमित्यादिना विदुषः सर्वकर्माधिकारनिवृत्तिः
संक्षेपेणोक्ता । मध्ये च तेन तेन प्रसङ्गेन प्रसारिता, इह शास्त्रार्थैतावत्त्वप्रदर्शनायोपसंहृता—न हन्ति न निब-
ध्यत इति । एवं चाविद्याकल्पितानामधिष्ठानाद्यनात्मकृतानां सर्वेषामपि कर्मणामात्मविद्यया समुच्छेदो-
पपत्तेः परमार्थसंन्यासिनामनिष्टादित्रिविधं कर्मफलं न भवतीत्युपपन्नम् । परमार्थसंन्यासश्चाकर्त्रात्मसाक्षात्कार
एव । जनकादीनामेतादृशसंन्यासित्वेऽपि बलवत्प्रारब्धकर्मवशात् बाधितानुवृत्त्या परपरिकल्पनया वा कर्म-
दर्शनं न विरुद्धं परमहंसानामीदृशानां भिक्षाटनादिवत् । अत एव ज्ञानफलभूतो विद्वत्संन्यास उच्यते ।
साधनभूतस्तु विविदिषासंन्यासोऽनेवंविधोऽपि प्रथममुत्तरकाले ज्ञानोत्पत्तावेवंविधो भवतीति वक्ष्यते ॥१७॥

शं० टी०—एवमनात्मकर्तृके कर्मण्यकर्तारमेवात्मानं मयेदं कृतमिति यः कर्तारं पश्यति स शतेना श्रुत-
श्राविवेदान्तोऽप्यविदितात्मस्वरूपत्वेन दुर्मतिरिति प्रतिपाद्य, यस्तु श्रुत्याचार्येश्वरप्रसादसंपन्नः सततश्र-
वणमनननिदिध्यासादिसमुत्पन्नज्ञानेनात्मयाथात्म्यदर्शी विद्वाननात्मकर्तृके दुष्टे शिष्टे वा कर्मण्यात्मानमक-
र्तारमेव पश्यति स एव सुमतिः पण्डितोत्तमः शरीरयात्रादिलक्षणं वाऽन्यद्वा कर्म दुष्टमदुष्टं कृत्वापि स्वय-
मकर्तैव भवति न किंचिदप्युपाधिकृतेन कर्मणा लिप्यत इत्याह—यस्येति । ब्रह्मविदाचार्यप्रसादपात्री-
भूतस्य वैदिकैरेव कर्मभिः सात्त्विकैर्बहुजन्माराधितपरमेश्वरानुग्रहवतः शुद्धात्मनः श्रवणादिजन्य-
ज्ञानेन क्षीरनीरवदात्मानात्मनोः स्वरूपं ज्ञातृज्ञेयलक्षणं सम्यग्विभज्य तत्रात्मन्येवात्मभावमापद्य
सदा तदात्मनैव स्थितो यस्य महात्मनो ब्रह्मवित्तमस्याधिष्ठानादिभिरेव स्ववेद्यैरविद्याकार्यैर्विहिते

प्रतिषिद्धे वान्यस्मिन् वा कर्मणि क्रियमाणे सति भावः भाव्यते अहमिति गृह्यतेऽनेनेति भावोऽन्तःकरणं ब्रह्मैवाहमिति स्वस्वरूपे ब्रह्मण्येवाहंभावमुपेत्य सदा तदात्मनैव वर्तमानोऽहमात्मको बुद्धिविशेषो नाहंकृतः कर्मकर्तर्युपाधावहंकरणमहंकृतं ब्रह्माकारतामुत्सृज्य कर्त्राकारेणाहमित्यवस्थानं न विद्यते यस्य भावस्य स नाहंकृतः अधिष्ठानादिलक्षण उपाधिरेव स्ववासनानुरूपेणेदं कर्म करोतीत्यहं तूपाधितत्कर्मणो-रुभयोः साक्षी तटस्थो निष्क्रिय एवास्मीति ब्रह्मात्मनैव स्थितः सन् चिरकालं नित्यनिरन्तरसत्कारभ्यासबले-नाहारादिकर्मकालेऽपि कर्तर्यहंभावरहित इत्यर्थः। तथा यस्योक्तलक्षणस्य ब्रह्मविदो बुद्धिर्वृत्तिरूपा न लिप्यते मयेदं सुष्ठु दुष्टं च कर्म कृतमित्येवंभावनावती न भवति धर्मशीलस्य बुद्धिर्मयायं धर्मः कृतोऽमयधर्मः कृत इति तेन कर्मणा यथा लिप्यते धर्माधर्मसंस्कारवती भवति तथा मयेदं दुष्टमदुष्टं कृतमिति सामान्येन वा विशेषेण वा तत्संस्कारवती न भवति प्रतिच्छायावत्स्वभिन्नेनैवोपाधिना कृते कर्मण्यहं करोमि मयेदं कृतमिति प्रत्ययो ब्रह्मविद्बुद्धेर्नोदेति कर्तृतत्कर्मतादात्म्यसंबन्धाभावात्। येनाहमिदं करोमीति यत्कर्म क्रियते तद्बुद्धेरेव मयेदं कृतमिति कृतत्वभावनालेपश्च सिध्यति नान्यस्य बुद्धेः, यथा स्नानमहं करोमीति स्नानं कृतवतो देवदत्तस्य बुद्धेरेव मया स्नानं कृतमिति कृतत्वभावना तेन कर्मणा लेपश्च, न तु तटस्थयज्ञदत्तस्य बुद्धे-रस्ति तद्वत्। नन्वननुरूपदृष्टान्तोपन्यासेनेदं विपरीतमुच्यते, ब्रह्मविदः स्वदेहे तत्कृते च कर्मण्यहमिति मयेदं कृतमिति च प्रत्ययो न जायते इति विदुषोऽपि स्वदेहे स्नाते सत्यहमिति मया स्नात-मिति च प्रत्ययो जायत एव विद्वच्छरीरयोः परस्परविभागाभावादिति चेन्न। तयोर्ज्ञातृज्ञेयत्वलक्षणेन परस्पर-भिन्नस्वभावत्वादेकत्वानुपपत्तेः। सत्येकत्वे तथाविधः प्रत्ययः प्रसज्जेत। न हि देह एव विद्वान्नापि विद्वानेव हि देहो भवति। तयोर्ज्ञातृज्ञेयत्वधर्मेण घटतज्ज्ञातृवद्भिन्नस्वभावत्वाद्विभक्तत्वमेव युक्तं, नत्वेकत्वं प्रत्यक्षादि-प्रमाणविरोधात्। ततोऽधिष्ठानादिलक्षणोपाधौ वासनया तत्कर्मणि प्रवृत्ते सति तत्राहं करोमीत्यहंप्रत्ययो नोदेति कर्तृतादात्म्याभावात्। तत एव मयेदं कृतमिति तद्बुद्धेः कृतत्वभावना च तत्क्रियालेपश्च न संभवति। तत एवोच्यते 'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' इति। यदुक्तमननुरूपदृष्टान्तोपन्यासेनेति तन्न। विद्वच्छरीरयोर्ज्ञातृज्ञेयत्वधर्मेण विलक्षणतया परस्परभिन्नत्वे सति शरीरे तत्कृते च कर्मणि तद्भिन्नस्य विदु-षस्त्वहमिति मयेदं कृतमिति प्रत्ययानुत्पत्तौ युक्त एव दृष्टान्तः। एवं ब्रह्मविदः स्वस्योपाधितद्धर्मतत्कर्मसंब-न्धलेशाभावज्ञानमेवाप्रतिपद्धं नैष्कर्म्यसिद्धेः परमकारणमिति सूचयित्वा तादृशज्ञानसिद्धेः फलमाह— हत्वापीति। य एवमधिष्ठानादिभिरेव पञ्चभिरनात्मकैर्दृश्यभूतैः क्रियमाणे कर्मणि चेष्टामात्रे वाऽहंकार-ममकारशून्यो भवति स विद्वानिमान् त्रीन् लोकान्•लोकस्थान् देवर्षिब्राह्मणादीन् सर्वप्राणिनो हत्वापि स्वह-स्तेन सर्वसंहारं कृत्वापि न हन्ति। न किंचिदपि हिनस्ति—स्वयं तद्धननक्रियायाः कर्ता न भवतीत्यर्थः। नन्विदमतिविरुद्धमुच्यते ब्रह्मवित्स्वयं लोकत्रयं हत्वापि न हन्तीति, येन यत्कर्म क्रियते स तस्य कर्मणः कर्ता भवन्नेव दृश्यते कुलालादिः। कथं ब्रह्मवित्स्वयं सर्वप्रपञ्चसंहारं कृत्वाप्यकर्तैव भवतीति? किमन्यं प्रयो-जयति वा स्वयमेव न करोति वा? नाद्यः, अन्यप्रयोगेऽपि राज्ञ इवैतस्यापि हननक्रियासंभवात्। न द्वितीयः, हत्वापीत्युक्तिविरोधप्रसङ्गात्। ततोऽस्त्येव हननक्रियाकर्तृत्वं विदुष इति चेत्सत्यं, यो यत्कर्म करोति कारयति वा स तस्य कर्मणः साक्षात् क्रमेण वा कर्तैव भवति। न तथायं विद्वान् स्वान्यत्करणजातं प्रयोज-यति, नापि स्वयं च करोति, किं तु मेघस्थश्चन्द्रो मेघकर्मणीव देहस्थो विद्वान् देहेन्द्रियादिभिः कृते कर्मणि कर्तेव दृश्यते। सम्यग्बुद्ध्या विचार्यमाणे मेघानामेव धावनक्रियाकर्तृत्वं, न तु चन्द्रस्य यथा, तथा देहेन्द्रियाद्यभि-मानिन एव विज्ञानात्मनो हननक्रियाकर्तृत्वं, न तु विदुषः। नहि कूटस्थासङ्गचिद्रूपेणैव तिष्ठतो विदुषस्त्वधिष्ठाना-दिभिः संयोगः समवायो वा संभावयितुं शक्यते, तदसंभवे तत्कर्तृके कर्मणि कर्तृत्वं च न संभवति। तत एवो-

च्यते परमेश्वरेण हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्तीति। मूढदृष्ट्या चन्द्रवद्वृद्धि.क्रियावानिव प्रतीयमानोऽपि वस्तुतो ब्रह्मविद्ब्रह्मभावापन्नत्वात् क्रियामात्रस्य तु कर्ता न भवति, तत एवाकर्तुर्ब्रह्मविदस्तत्कर्मफलसंबन्धं निषेधति न निबध्यत इति। यस्मान्निष्क्रियब्रह्मभावापत्त्या ब्रह्मविच्च उपाधिसंबन्धरहितत्वेन स्वयमुपाधिकृतस्य कर्मणः पुण्यस्य पापस्यान्यस्य वा कर्ता न भवति, तस्मादेव न निबध्यते तत्कार्येण फलेन दुष्टेन वाप्यदुष्टेन च न संयुज्यते, कर्मणामन्यकर्तृकत्वात्। नैवान्यकर्तृककर्माण्यस्य लेपाय फलाय च भवति। नहि देवदत्तकृतेन कर्मणा यज्ञदत्तो लिप्यते बध्यते वा, तद्वन्मयेदं कृतमित्यात्मन्यविद्ययाऽध्यस्तं पूर्वमिदानीं वा न तदात्मनोऽविक्रियस्याकाशकल्पस्य लेपाय फलाय च भवति। नहि नीलं नभ इत्यज्ञैरारोपितेन नीलिम्ना नभो लिप्यते न नीलं च भवति। नापि चेदं जलमित्यध्यस्तजलेन मरुर्जलवान् भवत्यार्द्रश्च। तद्वदारोपितेन कर्मणा दुष्टेनाप्यदुष्टेन वात्मा निरवयवः कूटस्थः क्रियावान्न भवति, नापि च तत्फलवान्। यस्मादेवं तस्मादात्मन्येवात्मतामापन्न आत्मविद्यतिः स्वस्याविक्रियात्मत्वदृष्ट्या मया कूटस्थेन पूर्वं चाधुना च नैव किंचित्कृतमिति मुहुर्मुहुः स्वयाथात्म्यविषयीकरणसमुत्पन्नविज्ञानबलात्संचितादिभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यो विनिष्क्रम्य तत्फलेन जन्मादिना दुःखादिना च न किंचित् स्पृश्यत इत्यर्थः। एतेन लोकत्रयस्थिताशेषप्राणिसंघातघाते कृते सत्यपि ब्रह्मविदस्तद्धननक्रिया च तत्कृतप्रत्यवायलेशश्च न संभवतीत्येवंलक्षणो ब्रह्मज्ञानस्य महिमा महात्तरः संसारबन्धविच्छेदहेतुरिति ज्ञानस्य माहात्म्यं स्वाभाविकमेव स्तूयते—हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यत इति। ननु नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठानिर्दग्धसर्ववासनामन्थेर्मोहात्मनः स्वात्मारामस्य स्वानन्दामृतरसपायिनो नित्यतृप्तस्य सर्वात्मदर्शिनो विदुषः प्रवृत्तिरस्तीति सूच्यते। प्रवृत्तिहेतोरविद्याकामादेः समाधिना निर्मूलितत्वात्। किंतु परावरैकत्वविज्ञाननिर्दग्धद्वैतदर्शनस्य ब्रह्मविद्यतेः क्वचिदाहारविहारादिलक्षणेन शरीरयात्रामात्रैकप्रयोजनेन कर्मणा दुष्टेन वाप्यदुष्टेन लेपो नास्तीत्युच्यते। तथैव श्रूयते 'तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन' इति, 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इति ॥ १७ ॥

श्री० टी०—कस्तर्हि सुमतिः यस्य कर्मलेपो नास्तीत्युक्तमित्यपेक्षायामाह—यस्येति। अहमिति कृतोऽहं कर्तेत्येवंभूतो भावोऽभिप्रायो यस्य नास्ति। यद्वा अहंकृतोऽहंकारस्य भावः स्वभावः कर्तृत्वाभिनिवेशो यस्य नास्ति शरीरादीनामेव कर्मकर्तृत्वालोचनादित्यर्थः। अत एव यस्य बुद्धिर्न लिप्यते इष्टानिष्टबुद्ध्या कर्मसु न सज्जते स एवंभूतो देहादिव्यतिरिक्तात्मदर्शी इमाँल्लोकान्सर्वानपि प्राणिनो लोकदृष्ट्या हत्वाऽपि विविक्तया स्वदृष्ट्या न हन्ति। न च तत्फलैर्निबध्यते बन्धं न प्राप्नोति। किं पुनः सत्त्वशुद्धिद्वाराऽपरोक्षज्ञानोत्पत्तिहेतुभिः कर्मभिस्तस्य बन्धशङ्केत्यर्थः। तदुक्तम्—'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन' इति ॥ १७ ॥

स० टी०—तदेवं चतुर्भिः श्लोकैर्गौणसंन्यासिनां फलम् ॥ अनिष्टादित्रिधायोक्तं व्याख्यातं हेतुभिः सह ॥ १ ॥ इदानीं तुर्यपादं तद्व्याचष्टे मुख्यतत्परम् ॥ पूर्वोक्तविपरीतस्य यस्य ब्रह्मविदः सतः ॥ २ ॥ शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां संस्कृतात्मैक्यसन्मतेः ॥ स्वप्रकाशचिदानन्दाकर्त्रभोक्त्रात्मवेदिनः ॥ ३ ॥ सकार्याविद्येऽज्ञाने नास्त्येवाहंकृता मतिः ॥ अहं कर्तेतिरूपो यः प्रत्ययस्तस्य नास्तिता ॥ ४ ॥ नास्त्यहंकारतादात्म्यं यस्य शुद्धात्मदर्शिनः ॥ अधिष्ठानादयः पञ्च मायया मयि कल्पिताः ॥ ५ ॥ कर्तारः कर्मणां नाहं कर्तोदासीनभावतः ॥ किं तु साक्षितया तेषां व्यापृतेरवभासकः ॥ ६ ॥ इत्येवं यस्य शुद्धात्ममतेर्नाहंकृतिर्जडे ॥ यस्यान्तःकरणं बुद्धिर्नैवानुशयिनी फले ॥ ७ ॥ अकार्यमिदमत्राहं भोक्ष्य एतत्फलं त्विति ॥ कर्तृत्ववासनाहेतुर्लेपो नानुशयात्मकः ॥ ८ ॥ स परमार्थदर्शीत्थं पश्यन्नात्मानमक्रियम् ॥ हिंसि-

त्वाप्यखिलाँल्लोकान्प्राणिनः कालधर्मिणः ॥ ९ ॥ हननक्रियायाः कर्ता न भवत्यनहंकृतिः ॥ न चाधर्मफलेनासौ संबध्यत उदारधीः ॥ १० ॥ अत्र नाहंकृतो भावो न हन्तीत्यस्ति तत्फलम् ॥ बुद्धिर्न लिप्यते यस्य न निबध्यत इत्यपि ॥ ११ ॥ अनेनातिशयोक्तेन कर्मालेपः प्रदर्शितः ॥ हत्वापीति तु लौकिक्या दृष्ट्या बाधितयेरितम् ॥ १२ ॥ शास्त्रीयया न हन्तीति न विरोधो मनागपि ॥ एवं मायाकृतं सर्वं बुद्ध्या कर्तृमुखं जगत् ॥ १३ ॥ मुख्यसंन्यासिनां नास्ति त्रिविधं कर्मणः फलम् ॥ स परमार्थसंन्यासो ब्रह्मबोधो न चापरः ॥ १४ ॥ ब्रह्मात्मैक्ये परिज्ञाते नष्टेऽज्ञाने सकार्यके ॥ स्वतः सिद्धोऽस्ति संन्यासः सर्वेषामेव कर्मणाम् ॥ १५ ॥ संन्यासित्वेऽपि पूर्वेषां जनकादिमहीक्षिताम् ॥ प्रारब्धकर्मणा तेषां लोकदृष्ट्या क्रियावताम् ॥ १६ ॥ स्वदृष्ट्या न क्रिया काचिन्न कर्ता कर्म वा क्वचित् ॥ भिक्षाटनादिकं कर्म यथा संन्यासिना धिया ॥ १७ ॥ बाधितं सन्न बन्धस्य कारणं सर्वथा भवेत् ॥ तथा तत्त्वविदा सर्वं कर्म श्रौतं च लौकिकम् ॥ १८ ॥ गृहस्थानामपि स्वीयदृष्ट्या बाधितमेव सत् ॥ न बन्धकं यतस्तेषां प्रत्यगात्मनि केवले ॥ १९ ॥ सदा स्थितिर्न देहादौ जडवर्गे विनश्वरे ॥ अतो निरङ्कुशा तृप्तिः कृतकृत्यतया विदाम् ॥ २० ॥ यत्पादाम्बुजषट्पदीमतिरियं त्यक्त्वाऽखिलाहंकृतिं स्वात्मानन्दमृते न कुत्र विषये रन्तुं मनागीप्सति ॥ यद्बोधामृतपूरपूरितधियं काचित्क्रिया न स्पृशेत्तं श्रीकान्तमनर्थधामविधुरं नित्यं मुकुन्दं भजे ॥ २१ ॥ १७ ॥'

भा० टी०—क. पुनः सुमतिः यः सम्यक् पश्यतीत्यपेक्षायामाह—यस्येति । यस्य शास्त्राचार्योपदेशन्यायसंस्कृतबुद्धित्वादहंकृतोऽहंकर्तेत्येवंलक्षणो भावो भावनाप्रत्ययः एते एव पञ्चाधिष्ठानादयोऽविद्ययात्मनि कल्पिताः सर्वकर्मणां कर्तारः, नाहम्, अहं तु तद्व्यापाराणां साक्षिभूतो 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः' केवलोऽविक्रियश्च इत्येवं पश्यतोऽहंकृतो भावो नास्तीत्यर्थः । बुद्धिर्यस्य न लिप्यते—बुद्धिरन्तःकरणं यस्यात्मन उपाधिभूता न लिप्यतेऽहमकार्षं तेनाहं नरकं गमिष्यामीति क्लेशशालिनी न भवतीत्यर्थः । स सुमतिः कृतबुद्धिः सम्यग्द्रष्टा इमान् प्रत्यक्षादिनानुभूयमानान् लोकान्प्राणिनो हत्वापि न हन्ति हननक्रिया न करोति, कर्तृत्वाभिमानरहितत्वात् । न निबध्यते—नापि तत्कार्येण हननक्रियाफलेन संबध्यते निर्लिप्तबुद्धित्वात् । भावः सद्भावः अहंकृतोऽहमिति व्यपदेशार्हो न, अहंकारबाधेन शुद्धस्वरूपमात्रपरिशेषात् । अहंकृतोऽहंकारस्य भावस्तत्तादात्म्यं यस्य न विवेकेन बाधितत्वादिति वेति केचित् । यस्य नाहंकृत इति समानाधिकरणे षष्ठ्यौ । ततश्च यस्य लिङ्गलक्षणस्योपाधेरहंकारात्मिका वृत्तिमनुत्पादयतोऽहमध्यासशून्यस्य भावः सत्ता । यद्वाहमहंकृतिं करोतीत्यहंकृदन्तःकरणं यस्य संबन्धिनोऽहंकृतोऽन्तःकरणस्य न भावः न स्थितिः, अहंकृतिशून्यं यस्यान्तःकरणमित्यर्थः । तथाहमा कृतोऽहमध्यासमूलक इति यावत् । एवंविधो भावः पदार्थो ममेत्यध्यासरूपो यस्य लिङ्गात्मनो नास्तीत्युभयविधाध्यासशून्यत्वमुक्तं भवति । यस्य प्रमातुर्भावः प्रत्ययमात्रस्वरूप आत्मा नाहंकृतः—अहमिव कृतोऽहंकारतादात्म्यं प्रापितोऽहंकृतस्तथा न । यस्य बुद्धिर्न लिप्यते आत्मभावेन रञ्जिता न भवति, यस्य बुद्धेर्व्यतिरिक्तमात्मानं पश्यतो बुद्धिधर्माः कर्तृत्वादयो नात्मनि प्रतीयन्त इति कर्तात्मवादितार्किकनिरासः । यस्य आत्मधर्माश्चैतन्यादयो बुद्धौ न संसृज्यन्त इति बुद्धिमेव चेतनां वदतो बौद्धस्य निरासः । चिदचितोरन्योन्यस्मिन्नन्योन्यधर्माध्यासो यस्य नास्तीत्यर्थ इत्यन्ये । यस्य बुद्धिः शास्त्राचार्यसमाहिता तैलधारेवाविच्छिन्ना न लिप्यते विजातीयप्रत्ययलेपं न प्राप्नोति स पश्यतीति स विद्वानिति पूर्वश्लोकस्य पश्यतिपदानुषङ्गेण योज्यम् । कथं पुनरयमेवंविध इति ज्ञेयमित्याशङ्क्य चेष्टालिङ्गकमनुमानमाह—हत्वापीति । हन्धातुनाऽत्र तदुपाया लक्ष्यन्ते, अनास्थितानिति चाध्याह्रियन्ते । ततश्च, हिंसोपायभूतान्पापग्रहणादीनुपायान् कृत्वाऽनास्थितानिमान् लोकान् स्वयं न हन्ति अहंममाभिमानशून्यत्वात् इत्यर्थः ।

अतश्च न निबध्यते नास्य बन्धो जीवन्मुक्तत्वादितीतरे। हत्वापि न हन्ति न निबध्यत इति वाक्यशेषे हेतुत्वेन प्रतीयमानस्य यस्येत्यादेः, एतत्फलभूतेन प्रतीयमानस्य हत्वापीत्यादेश्च पूर्वपरानुगुण्येन व्याख्यानं कृतवतां सर्वज्ञानां मार्गप्रदर्शकानां भाष्यकृतामुदाहृतयत्किंचित्कल्पनाकरणेन न्यूनता नापादनीया। ननु यद्यपि स्तुतिरियं तथापि हत्वापि न हन्तीति विप्रतिषिद्धमुच्यमानं कथमुपपद्यत इति चेत् देहाद्यात्मबुद्ध्या हन्ताहमिति हि लोकैर्दृश्यते, नाहं कर्ता किं तु तद्व्यापारसाक्षी क्रियाज्ञानशक्तिमदुपाधिद्वयविनिर्मुक्तः शुद्धः सन् कार्यकरणासंबद्धोऽद्वितीयोऽविक्रिय इत्येवं हि विद्वान्पश्यति लौकिकीं पारमार्थिकीं च दृष्टिमाश्रित्य, तदुभयमुपपद्यत एवेति गृहाण। तथाच 'यः केवलमात्मानमकर्तारं कर्तारं पश्यति स दुर्मतिः। यस्तु यथाभूतमात्मानमकर्तारं पश्यति स सुमतिरिति द्वयोः संपिण्डितार्थः। ननु आत्मानं केवलं तु यः इति केवलपदप्रयोगात् अधिष्ठानादिविशिष्टः करोत्येव आत्मा। एवं विशिष्टस्य कर्तृत्वे सति केवलमात्मानं यः कर्तारं पश्यति स दुर्मतिरिति चेन्न, श्रुतिस्मृत्यादिभिरात्मनोऽविक्रियस्वभावत्वप्रतिपादनात्। तथा च श्रुतिः—"असङ्गो ह्ययं पुरुषः। साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। अप्राणो ह्यमनाः शुद्धो ह्यक्षरात्परतः परः। अज आत्मा महान् ध्रुवः। निष्कलं निष्क्रियम्। ध्यायतीव लेलायतीव" इत्येवमाद्याः। स्मृतयश्च 'कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्। अविकार्योऽयमुच्यते। प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' इत्येवमाद्याः। न्यायाश्च न तावदात्मा स्वतो विक्रियते निरवयवत्वादाकाशवत्, नापि परतोऽसङ्गस्याविकार्यस्य स्वतन्त्रस्य परतो विक्रियावत्त्वायोगात्। किंचात्मनो विक्रियावत्त्वाभ्युपगमे तस्य स्वनिष्ठाविक्रिया अधिष्ठानादिनिष्ठा वा। नाद्यः, श्रुत्यादिभिरात्मनोऽविक्रियत्वप्रतिपादनात्। न द्वितीयः, अन्यनिष्ठाविक्रियाऽन्यस्मिन्निति विप्रतिषिद्धत्वात्। अविद्यागमितमपि नान्यनिष्ठत्वमन्यस्य, यथा रजतत्वं न शुक्तिकाया, यथा तलमलिनत्वं बालैर्गमितमपि यथा नाकाशस्य। तथाधिष्ठानादिविक्रियापि तेषामेव नात्मनस्तस्मादविक्रियस्यात्मनः केनचित्संहननं संहत्य वा कर्तृत्वं संभवतीति केवलत्वमात्मनः स्वाभाविकं केवलशब्दोऽनुवदति। नायं हन्ति न हन्यते इति प्रतिज्ञाय न जायत इत्यादिना हेतुवचनेनाविक्रियत्वमुक्त्वा वेदाविनाशिनमिति विदुषः कर्माधिकारनिवृत्तिं शास्त्रादौ संक्षेपत उक्त्वा तत्र तत्र प्रसङ्गं कृत्वा प्रसारितं 'न हन्ति न निबध्यते' इत्युपसंहरति। एवं सति देहभृत्त्वाभिमानानुपपत्तावविद्याकृताशेषकर्मसंन्यासोपपत्तेः परमार्थसंन्यासिनामनिष्टादि त्रिविधं कर्मणः फलं न भवतीत्युपपन्नम्। तद्विपर्ययश्चेतरेषां भवतीत्येतच्चापरिहार्यमित्येष गीताशास्त्रस्यार्थ उपसंहृतः। स एष वेदार्थसारो निपुणमतिभिः पण्डितैः विचार्य प्रतिपत्तव्य इति॥ १७॥

बोध्यम् । अन्यस्य त्वपरोक्षिणोऽपि दोषकृदेवेति वृत्रहत्यादिनेन्द्रादेरपि ईषद्बन्धोऽपि यदहंकारकृत एवेत्याकर एव व्यक्तम् । एवं कर्तृत्वाभिमान्यनभिमानिनोः सहेतुकं निन्दास्तुत्योरुक्त्या कर्मणि कर्तृत्वाभिमानत्यागोऽपि संन्यासशब्दार्थ इत्युक्तं भवति ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ॥
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

स० टी०–कर्मण्यभिमानरहितः कर्मभिस्तत्फलैश्च न लिप्यते इत्युक्तं, सा निरभिमानता सत्त्वगुणवृद्ध्या भवत्यतः सत्त्वस्योपादानाय सत्त्वादिगुणकृतं ज्ञानादिभेदं वक्तुं तावत् कर्मविधेः कर्मणश्च त्रैविध्यमाह–ज्ञानमिति । तत्र ज्ञानं कर्मकर्तृविधिदेवताविषयं, ज्ञेयं ज्ञातव्यं साङ्गं कर्म, परिज्ञाता तस्य कर्मणो बोद्धा, एवं त्रिविधा कर्मचोदना प्रवर्तनोपदेशादिशब्दाभिधेयः कर्मविधिरित्यर्थः । " चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः " इतिभट्टैरुक्तत्वात् । तत्र ज्ञेयं कर्म त्रिविधं–करणं कर्म कर्तेति । साधकतमं करणं वाक्पाण्यादीन्द्रियं स्रुगादि च, कर्म कर्तुरीप्सिततमं कर्तुः क्रियया आप्यमाणं ज्योतिष्टोमादिकं, कर्ता क्रियानिर्वर्तकः स्वतन्त्रः, त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्म संगृह्यतेऽस्मिन्निति कर्मसंग्रहः करणकर्मकर्तेति त्रिविधो ज्ञेय इत्यर्थः ॥ १८ ॥

म० टी०–पूर्वमधिष्ठानादिपञ्चकस्य क्रियाहेतुत्वेनात्मनः सर्वकर्मासंस्पर्शित्वमुक्तम् । संप्रति तमेवार्थं ज्ञानज्ञेयादिप्रक्रियारचनया त्रैगुण्यमेवव्याख्यया च विवरीतुमुपक्रमते–ज्ञानमिति । ज्ञानं विषयप्रकाशक्रिया, ज्ञेयं तस्य कर्म, परिज्ञाता तस्याश्रयो भोक्तान्तःकरणोपाधिपरिकल्पितः । एतेषां त्रयाणां संनिपाते हि हानोपादानादिसर्वकर्मारम्भः स्यादत एतत् त्रयं सर्वेषां कर्मणां प्रवर्तकम् । तदेतदाह–त्रिविधा कर्मचोदनेति । चोदनेति प्रवर्तकमुच्यते । चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुरिति शाबरे । 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' इति । भाट्टे च वचने क्रियाप्रवर्तकवचनत्वं यद्यपि चोदनापदशक्यतया प्रतीयते तथापि वचनत्वं विहाय प्रवर्तकमात्रमिह लक्ष्यते ज्ञानादिषु वचनत्वाभावात् । एवं च प्रेरणीयत्वं प्रेरकत्वं चानात्मन एव नात्मन इत्यभिप्रायः । तथा करणं साधकतमं बाह्यं श्रोत्रादयन्तरस्थं बुद्ध्यादि । कर्म कर्तुरीप्सिततमं क्रियया व्याप्यमानम् उत्पाद्यमाप्यं विकार्यं संस्कार्यं च । कर्ता च इतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकाणां प्रयोक्ता क्रियाया निर्वर्तकश्चिदचिद्ग्रन्थिरूप इति त्रिविधस्त्रिप्रकारः, कर्म संगृह्यते समवैत्यत्रेति कर्मसंग्रहः कर्माश्रयः । चकारार्थादितिशब्दात् संप्रदानमपादानमधिकरणं च राशित्रयान्तर्भूतम् । एवं कारकषट्कमेव त्रिविधं क्रियाया आश्रयो नतु कूटस्थ आत्मेत्यर्थः । कर्मप्रेरकस्य कर्माश्रयस्य च कारकरूपस्य त्रैगुण्यात्मकत्वात्तदकारकस्वभावो गुणातीतश्चात्मा सर्वकर्मासंस्पर्शीत्यभिप्रायः । अथवा ज्ञानं प्रेरणारूपं लिङादिशब्दजन्यं, ज्ञेयं तस्य ज्ञानस्य विषयत्वेन लिङादिशब्दस्वरूपं प्रेरकं, परिज्ञाता तस्य ज्ञानस्याश्रयः प्रेरणीय इत्येवं त्रिविधा कर्मचोदना कर्म क्रियापुरुषव्यापाररूपार्थी भावना, तद्विषया चोदना प्रेरणा विधिरूपा शाब्दी भावनेत्यर्थः । तथा करणं सेतिकर्तव्यताकं साधनं धात्वर्थः, कर्म भाव्यं स्वर्गादिफलं, कर्ता फलकामनावान् पुरुषः क्रियाया निर्वर्तक इत्येवं त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्मणः पुंव्यापाररूपस्यार्थभावनायाः संग्रहः संक्षेपः । तदेवमर्थभावनारूपपुंप्रयत्नस्य विधेयस्याभावाच्छब्दभावनारूपो विधिर्न शुद्धमात्मानं गोचरयति कारकाश्रयत्वाद्विधिविधेययोः । तदुक्तम् 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इति । कारकाणां च त्रैगुण्यरूपत्वमनन्तरमेव व्याख्यास्यत इत्यभिप्रायः । अत्र प्रसङ्गाद्विधिश्चिन्त्यते–प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रेरणा तावत्सर्वलोकानुभवसिद्धा । राज्ञा प्रेरितो बालेन प्रेरितो ब्राह्मणेन प्रेरितोऽहमिति हि प्रवर्तमाना वक्तारो

भवन्ति । सा च प्रवर्तना प्रवर्तकराजादिनिष्ठा । तत्रोत्कृष्टस्य निकृष्टं प्रति प्रवर्तना आज्ञा प्रेषणेति चोच्यते । निकृष्टस्योत्कृष्टं प्रति प्रवर्तना याच्ञाऽध्येषणेति चोच्यते । समस्य समं प्रत्युत्कर्षनिकर्षोदासीन्येन प्रवर्तनाऽनुज्ञाऽनुमतिरिति चोच्यते । ते चाज्ञादयो ज्ञानविशेषा इच्छाविशेषा वा चेतनधर्मा एव लोके प्रसिद्धाः । वेदे तु विधिनाऽहं प्रेरितः करोमीति व्यवहर्तारो भवन्ति । तत्र स्वयमचेतनत्वादपौरुषेयत्वाच्च वैदिकस्य विधेर्न चेतनधर्मेणाज्ञादिना प्रेरकता संभवति । अतः स्वधर्मेणैव साऽभ्युपगन्तव्या गत्यन्तरासंभवात् । स एव च धर्मश्चोदना प्रवर्तना प्रेरणा विधिरुपदेशः शब्दभावनेति चोच्यते । तत्र केचिदलौकिकमेव शब्दव्यापारं कल्पयन्ति । अन्ये तु "क्लृप्तेनैवोपपत्तौ नालौकिककल्पनं सहन्ते । प्रवर्तना हि प्रवृत्तिहेतुर्व्यापारः । विधिशब्दस्य चाख्यातत्वेन दशलकारसाधारणेनोपाधिना पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनां प्रति वाचकत्वं तज्ज्ञानहेतुत्वमिति यावत् । सा च ज्ञातैवानुष्ठातुं शक्यत इति तद्धीहेतोरपि शब्दस्य तद्धेतुत्वं परंपरया भवत्येव । तत्र विधिशब्दस्य पुरुषप्रवृत्तिरूपभावनाज्ञानहेतुर्व्यापारस्तद्वाचकशक्तिमत्तया विधिशब्दज्ञानम् । स एव च तस्य प्रवृत्तिहेतुर्व्यापार इति प्रवर्तनाभिधानीयकं लभते ज्ञानद्वारेणैव शब्दस्य प्रवृत्तिजनकत्वात्, ज्ञानजनकव्यापारातिरिक्तव्यापारकल्पने मानाभावात् । ज्ञानजनकश्च व्यापारस्तस्य स्वज्ञानं, शक्तिज्ञानं, शक्तिविशिष्टस्वज्ञानं च । तत्राद्ययोरन्यतरस्य शब्दभावनात्वम् । तृतीयस्य तु तत्र करणत्वमिति विवेकः । एवं स्थिते निष्कर्षः—विधिना स्वज्ञानं जन्यते प्रवर्तनात्वेनाभिधीयतेऽपीति विधिज्ञानमेव शब्दभावना । तस्यां च पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनैव भाव्यतयान्वेति । करणतया च प्रवृत्तिवाचकशक्तिमद्विधिज्ञानमेव । भावनासाध्यस्यापि फलावच्छिन्नां भावनां प्रति करणत्वं फलकरणत्वादेव यागस्येव स्वर्गभावनां प्रति न विरुध्यते । यथा च पुरुषः स्वप्रवृत्तिं भावयेत् । केनेत्यपेक्षायां पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिमत्तया ज्ञातेन विधिशब्देनेति करणांशपूरणम् । कथमित्याकाङ्क्षायामर्थवादैः स्तुत्वेतीतिकर्तव्यतांशपूरणम् । इयं गौः क्रय्येति लौकिके विधौ बहुक्षीरा जीवद्वत्सा रूपवत्या समांसमीनेत्यादिलौकिकार्थवादवत् (समां समां प्रतिवर्षं प्रसूयते सा गौः) । नन्वाख्यातत्वेन विधिशब्दादुपस्थिता पुरुषप्रवृत्तिर्भाव्यतयान्वेतु । करणं तु कथमनुपस्थितमन्वेति ? उच्यते—विधिशब्दस्यानन्यश्रवणेनोपस्थापितस्तस्य पुरुषप्रवृत्तिवाचकशक्तिरपि स्मरणेनोपस्थापिता । तदुभयवैशिष्ट्यं तद्विशिष्टं ज्ञायता च मनसेति वाचकशक्तिमत्तया ज्ञातो विधिशब्द उपस्थित एव । अनेन यच्छ्रुत्युपात्ततावमेवेति प्रतिशब्दं स्वाध्यायविधितात्पर्याच्छब्दातिरिक्तेनोपस्थितमपि शाब्दबोधे भासत एव । यथा ज्योतिष्टोमादि नामधेयं यथा वा लिङ्गविनियोज्यो मन्त्रः । तदुक्तमाचार्यैरद्विदधिकरणे "अनुपस्थितविशेषणा विशिष्टबुद्धिर्न भवति न त्वनभिहितविशेषणा" इति । एवमर्थवादानामुपस्थितिः श्रोत्रेण । प्राशस्त्यस्य तु तैरेव लक्षणया तदुभयनिष्ठज्ञाततयास्तु मनसेत्यर्थवादैः प्रशस्तत्वेन ज्ञात्वेतीतिकर्तव्यतायामन्वयोऽप्युपपन्न एव । ननु किं प्राशस्त्यं ? न तावत् फलसाधनत्वं, तस्य यागेन भावयेत् स्वर्गमित्यर्थभावनान्वयवशेन विधिवाक्यादेव लब्धत्वात् । नान्यत्, प्रवृत्तावनुपयोगात् । उच्यते—बलवदनिष्टाननुबन्धित्वं प्राशस्त्यम् । तच्च नेष्टहेतुत्वज्ञानाल्लभ्यते, इष्टहेतावपि कलञ्जभक्षणादावनिष्टहेतुत्वस्यापि दर्शनात् । विहितश्येनफलस्य च शत्रुवधस्यानिष्टानुबन्धित्वं दृष्टम् । अतो यावत्साधनस्य फलस्य चानिष्टाहेतुत्वं नोच्यते तावदिष्टहेतुत्वेन ज्ञातेऽपि तत्र पुरुषो न प्रवर्तते । अत एवोक्तम् ' फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते । केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते ॥' इति । अतः स्वतः फलतो वानर्थाननुबन्धिस्वरूपप्राशस्त्यबोधनेनार्थवादा विधिशक्तिमुत्तम्भयन्ति । क उत्तम्भः स्वतः फलतो वानर्थानुबन्धित्वशङ्कायाः प्रवृत्तिप्रतिबन्धिकाया विगमः । इदमेकं च विधेः प्रवृत्तिजनने साहाय्यमर्थवादैः क्रियत इति विधिरर्थवादसाकाङ्क्षः । एवमर्थवादा अप्यभिधया गौण्या वा वृत्त्या भूतमर्थं वदन्तो-

ऽपि स्वाध्यायविध्यापादितप्रयोजनवत्त्वलाभाय विधिसाकाङ्क्षाः। सोऽयं नष्टाश्वदग्धरथवत्संप्रयोगः। यथैकस्य दग्धस्य रथस्य जीवद्भिरश्वैरन्यस्य विद्यमानस्य रथस्याविद्यमानाश्वस्य संप्रयोगः परस्परस्यार्थवत्त्वाय तथार्थवादानां प्रयोजनांशो विधिना पूर्यते। विधेश्च शब्दभावनाया इतिकर्तव्यतांशोऽर्थवादैरिति। तदिदमुभयोः श्रवणे पूर्णमेव वाक्यमेकस्य श्रवणे त्वन्यस्य कल्पनया पूरणीयम्। यथा 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत' इति विधावर्थवादांशोऽश्रुतोऽपि कल्प्यते। 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति' इत्याद्यर्थवादे विध्यंशः। तथा च सूत्रम् 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इति। विधिना स्तुतिसाकाङ्क्षेण प्रयोजनसाकाङ्क्षाणामर्थवादानामेकवाक्यत्वाद्विधीनां विधेयानां स्तुत्यर्थेन स्तुतिप्रयोजनेन स्तुतिरूपेण प्रयोजनसाकाङ्क्षेण लाक्षणिकेनार्थेन चानर्थक्याभावादर्थवादा धर्मे प्रमाणानि स्युरिति तदर्थः। ननु 'य एव लौकिकाः शब्दास्त एव वैदिकास्त एव चामीषामर्थाः' इति न्यायाद्विधिशब्दस्य लोके यत्र शक्तिर्गृहीता वेदेऽपि तदर्थकेनैव तेन भवितव्यम्। लोके च प्रेषणादौ पुरुषधर्मवाचित्वं क्लृप्तमिति वेदे शब्दभावनावाचित्वं कथमुपपद्यते। उच्यते—लोकवेदयोरैकरूप्यमेव। तथा हि—लोके प्रेषणादिकं न तेन तेन रूपेण विधिपदवाच्यम्, अननुगमेन नानार्थत्वप्रसङ्गात्। तद्वदेव भावनावाचित्वोपपत्तेश्च। किंतु प्रेषणाध्येषणानुज्ञास्वस्ति प्रवर्तनात्वमेकम्। तच्च शब्दव्यापारेऽपि तुल्यमिति तदेव लिङादिपदवाच्यम्। तच्च लौकिकशब्दे नास्त्येव। तत्र राजादीनामेव प्रवर्तकत्वात्। प्रवर्तकव्यापार एव हि (प्रेषणात्वेन इत्यादिना न विधिपदवाच्यं किंतु प्रवर्तनात्वेन वाच्यं) प्रवर्तना प्रवर्तकत्वं च राजादेरिव वेदस्याप्यनुभवसिद्धम्। ननु वेदेऽपि प्रवर्तनावानीश्वरः कल्प्यतां लोके राजादिवत्। तदुक्तम् 'विधिरेव तावद्गर्भ इव श्रुतिकुमार्याः पुंयोगे मानम्' इति। न, वेदस्यापौरुषेयत्वात्। न हि वेदस्य कर्ता पुरुषो लोके वेदे वा प्रसिद्धः। तत्कल्पने च तज्ज्ञानप्रामाण्यापेक्षया वेदप्रामाण्ये निरपेक्षत्वेन स्थितं स्वतःप्रामाण्यं भग्नं स्यात्। बुद्धवाक्येऽपि प्रामाण्यप्रसङ्गाच्च। ईश्वरवचनत्वे समानेऽपि बुद्धवाक्यं न प्रमाणं वेदवाक्यं तु प्रमाणमिति सुभगाभिक्षुकन्यायप्रसङ्गः। महाजनानामनुभयसिद्धत्वाभावेन तत्परिग्रहापरिग्रहाभ्यामपि विशेषानुपपत्तेः। ईश्वरप्रेरणाया लोकवेदसाधारणत्वेन लोकेऽपि राजादीनां प्रेरकत्वं न स्यात्। ईश्वरप्रेरणायां स्थितायामेव राजादिरप्यसाधारणतया प्रेरक इति चेत्, हन्त सा तिष्ठतु न वा, किं त्विहाप्यसाधारणः प्रेरको वेद एव राजादिस्थानीय इत्यलमत्र मार्गे। ईश्वरप्रेरणायाः साधारणाया असाधारणप्रेरणासहकारेणैव प्रवर्तकत्वात्। किंच ईश्वरप्रेरणाया सर्वोऽपि विहितं कुर्यादेव न तु कश्चिदपि लङ्घयेत्, निषिद्धेऽपि चेश्वरप्रेरणास्त्येव। अन्यथा न कोऽपि तत्र प्रवर्तेतेति तदपि विहितं स्यात्। तथा चोक्तम् 'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥' इति। तस्माद्राजादिरिव वेदोऽपि स्वप्रवर्तनां ज्ञापयन्निच्छोपहारमुखेन प्रवर्तयतीति सिद्धं लोकवेदयोरैकरूप्यम्। पूर्वमीमांसकानां स्वतन्त्रो वेदो ब्रह्ममीमांसकानां तु ब्रह्मविवर्तत्वात्परतन्त्रो वेद इति यद्यपि विशेषस्तथापि श्वसिततुल्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वमुभयेषामपि समानम्। अत्र च प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवत्त्वं प्रवर्तनात्वं सखण्डोऽखण्डो वोपाधिस्तस्मिन् विधिपदशक्येऽपि तदाश्रयविशेषोपस्थितिर्गवादितुल्यैव। अनुकूलव्यापारत्वं वा शक्यं प्रवृत्त्यंशस्त्वाख्यातत्वेन शक्त्यन्तरलभ्य एव। दण्डीत्यत्र संबन्धिनि मतुबर्थे प्रकृत्यर्थदण्डांशवत्। फलसाधनताबोध एव प्रेरणा तामेव कुर्वन् प्रेरको विधिः। अतः फलसाधनतैव प्रेरणात्वेन विधिपदशक्येति मण्डनाचार्याः। फलसाधनता चार्थभावनान्वयलभ्येत्युक्तं प्राक्। इममेव च पक्षं पार्थसारथिप्रभृतयः पण्डिताः प्रतिपन्नाः। औपनिषदानामपि केषांचिदिष्टसाधनतावादोऽनेनैव मतेनोपपादनीयः। इष्टसाधनत्वं स्वरूपेणैव लिङादिपदशक्यं न प्रेरणात्वेनेति तार्किकाः, तन्न। गौरवादन्यलभ्यत्वादन्वयायोग्यत्वाच्च। इच्छाविषयसाधनत्वापेक्षया प्रवर्तनात्वमतिलघु इच्छातद्विषययोरप्रवेशात्। इच्छाज्ञानस्यापि प्रवृत्तिज्ञानवत् प्रवृत्तिहेतुत्वाभावात्, वस्तुगत्या च

इच्छाविषयस्तत्साधनमिति शब्देन प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। साधनत्वमात्रस्यैव शक्यत्वे च तेनैव प्रत्ययेनोपस्थापितया प्रकृत्या सह श्रुत्या तदन्वयसंभवे पदान्तरोपस्थापितस्वर्गेण सह वाक्येन तदन्वयासंभवात् प्रवर्तनात्व एव पर्यवसानं श्रुत्या वाक्यस्य बाधात्। प्रत्ययश्रुतेः पदश्रुतितोऽपि बलीयस्त्वेन पशुना यजेतेत्यत्र प्रकृत्यर्थं पशुं विहाय प्रत्ययार्थेन करणेन सहैवैकत्वस्यान्वयादेकं करणं पशुरिति वचनव्यत्यया ऋत्वङ्गत्वमेकत्वस्य स्थितं किमु वक्तव्यं पदान्तरसमभिव्याहाररूपाद्वाक्याद्बलीयस्त्वमिति। वाक्यार्थान्वयलभ्यत्वाच्च नेष्टसाधनत्वं पदार्थः। तथा हि प्रवर्तनाकर्मभूता पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावना किं केन कथमित्यंशत्रयवती विधिनालम्बनत्वेन प्रतिपाद्यत इत्युक्तं प्राक्। अपुरुषार्थकर्मिकायां च तस्या प्रवर्तनानुपपत्तेरेकपदोपस्थापितमप्यपुरुषार्थं धात्वर्थं विहाय भिन्नपदोपात्तमन्यविशेषणमपि कामिपदसंबन्धेन साध्यतान्वययोग्यं स्वर्गमेव पुरुषार्थं साभाव्यतयालम्बते। इच्छाविषयस्यैव कृतिविषयत्वनियमात्। स्वर्गं कामयते स्वर्गकाम इति कर्मणि द्वितीयाया अन्तर्भूतत्वात्। यजतेरकर्मकत्वेन स्वर्गमित्युक्तेऽनन्वयाच्च। अत एव यत्र कामिपदं न श्रूयते तत्रापि तत्कल्प्यते। यथा प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्तीत्यादौ प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमुपेयुरित्यादि। एवं च लब्धभाव्याया तस्या समानपदोपस्थापितो धात्वर्थ एव करणतयान्वेति, भाव्यांशस्य कर्मविषयेणावरुद्धत्वात्। सुविभक्तियोग्ये धात्वर्थनामधेये ज्योतिष्टोमादौ तृतीयाश्रवणात्। यत्रापि नामधेये द्वितीया श्रूयते तत्रापि व्यत्ययानुशासनेन तृतीयाकल्पनात्। तदुक्तं महाभाष्यकारैरग्निहोत्रं जुहोतीति तृतीयार्थे द्वितीयेति। अत एव तैः प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्राधान्येन प्रकृत्यर्थो गुणत्वेनेति प्रत्ययार्थभावनां प्रति धात्वर्थस्य गुणत्वेन करणत्वमुक्तम्। आख्यातं क्रियाप्रधानमिति वदद्भिर्निरुक्तकारैरप्येतदेवोक्तम्। भावार्थाधिकरणे च तथैव स्थितम्। तेन सर्वत्र प्रत्ययार्थं प्रति धात्वर्थस्य करणत्वेनैवान्वयनियमः। अत एव गुणविशिष्टधात्वर्थविधौ धात्वर्थानुवादेन केवलगुणविधौ च मत्वर्थलक्षणा विधेर्विप्रकृष्टविषयत्वं च। यथा सोमेन यजेतेति विशिष्टविधौ सोमवता यागेनेति दध्ना जुहोतीति गुणविधौ दधिमता होमेनेति। नामधेयान्वये तु सामानाधिकरण्योपपत्तेर्धात्वर्थमात्रविधानाच्च न मत्वर्थलक्षणा न वा विधिविप्रकर्षः। तदेवं ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यत्राख्यातार्थो भावयेदिति किमित्याकाङ्क्षायां कर्मविषयं स्वर्गमिति विधिश्रुतेर्बलीयस्त्वादाकाङ्क्षाया उत्कटत्वाच्च। तथा च स्थितं षष्ठाध्याये। ततः केनेत्यपेक्षिते यागेनेति तृतीयान्तपदसमानाधिकरणत्वात् करणत्वेनैवान्वयनियमाच्च। किंनाम्नेत्यपेक्षिते ज्योतिष्टोमेनेति तन्नाम्नेत्यर्थः। शब्दादनुपस्थितोऽपि ज्योतिष्टोमशब्दो भासत एव शाब्दे बोधे श्रवणेनोपस्थापितस्तात्पर्यवशात्। नामधेयान्वये च न विभक्त्यर्थो द्वारं नञिवाद्यर्थान्वय इव। तेन मत्वर्थलक्षणामन्तरेणैव ज्योतिष्टोमशब्दवतेत्यन्वयलाभः। तथाच कविप्रयोगः 'हिमालयो नाम नगाधिराजः' इति, हिमालयनामवानित्यर्थः। एवमिह 'प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यादावगृहीतसङ्गतिकैकपदवति वाक्ये मधुकरादिपदं स्वरूपेणैव भासते नामधेयवत् नार्थमुपस्थापयति प्रागगृहीतसङ्गतिकत्वात्। अत एव मधुकरशब्दवाच्य इत्यपि लक्षणया नान्वयः शक्यज्ञानपूर्वकत्वाल्लक्ष्यज्ञानस्य। स्वरूपतस्तु शब्दे भाते वाच्यवाचकसंबन्धः पश्चात्कल्प्यते संसर्गनिर्वाहायेति। तदयं वाक्यार्थः—ज्योतिष्टोमनाम्ना यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेदिति। कथमित्यपेक्षिते श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिः सामवायिकारादुपकारकाङ्गग्रामपूर्व्येति विकृतौ प्रकृतिवदित्युपबन्धेन नित्ये यथाशक्तीत्युपबन्धेन मुख्यालाभे प्रतिनिधायापीति यावन्न्यायलभ्यं तत्पूरणम्। एवं च यागस्य स्वर्गावच्छिन्नभावनाकरणत्वेन स्वर्गकरणत्वं करणत्वेन च साक्षात्कर्तृव्यापारविषयत्वरूपं कृतिसाध्यत्वं श्रुत्यर्थाभ्यां लभ्यत इति तदुभयमपि न लिङादिपदवाच्यम्, अप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात्। अनन्वयाच्च, इष्टसाधनमिति समासे गुणभूतमिष्टपदं स्वर्गकाम इति समासान्तरगुणभ-

तेन स्वर्गपदेन कथमन्वियात् इष्टस्वर्गसाधनमिति । नहि राजपुरुषो वीरपुत्र इत्यत्र वीरपदराजपदयोरन्वयोऽस्ति पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतु पदार्थैकदेशेनेति न्यायात् । करणविभक्त्यन्तज्योतिष्टोमादिनामधेयानन्वयप्रसङ्गादिदोषाश्चास्मिन् पक्षे द्रष्टव्याः । एतेनेष्टसाधनत्वमनिष्टासाधनत्वं कृतिसाध्यत्वमिति त्रयमपि विध्यर्थ इत्यपास्तम् । अतिगौरवादर्थवादानां सर्वथा वैयर्थ्यापत्तेश्च । अत एव कृतिसाध्यत्वमात्रं विध्यर्थ इत्यपि न भावनाकरणत्वेनार्थलभ्यत्वादित्युक्तेः । अलौकिको नियोगस्त्वलौकिकत्वादेव न विध्यर्थः । पराक्रान्तं चात्र सूरिभिः । तस्मादनन्यलभ्या लघुभूता च प्रेरणैव लिङादिपदवाच्येति स्थितम् । प्रवर्तकं तु ज्ञानं वाक्यार्थमर्यादालभ्यमन्यदेव सर्वेषामपि वादिनाम् । आख्यातार्थ एव च विशेष्यतया भासते न धात्वर्थो न नामार्थः स्वर्गकामो वेति चोक्तप्रायमेव । तेन च यागानुकूलकृतिमान् स्वर्गकाम इति तार्किकमतं पुरुषविशेष्यकवाक्यार्थज्ञानमपास्तम् । संक्षेपेण मतं भाट्टमिदमत्रोपपादितम् । यद्वक्तव्यमिहान्यत्तदनुसन्धेयमाकरात् ॥ १८ ॥

शं० टी०—एवं विहितप्रतिषिद्धादीनां कर्मणां सर्वेषामधिष्ठानादिपञ्चकैकनिर्वर्त्यत्वं, तत्कृते कर्मणि कर्तृत्वाभिमानिनो दुर्मतेः कर्मभिर्बद्धत्वं, कृतबुद्धेर्विदुषस्त्वकर्तुस्तद्रहितत्वं च प्रतिपाद्याथ निरुक्तलक्षणं निष्कर्मत्वज्ञानमेवाप्रतिबद्धं कैवल्यसिद्धेः परमकारणमित्यारुरुक्षोर्मोक्षैककामस्य तादृशज्ञानसिद्धेः कारणं सत्त्वशुद्धिस्तत्सिद्धेः कारणं तु कर्मैव सात्त्विकं तदेव कर्तव्यमिति बोधयितुं कर्मप्रवृत्तिहेतुं कर्माश्रयं च ज्ञानकर्मकर्तृबुद्ध्यादीनां सात्त्विकत्वराजसत्वादिभेदं च प्रतिपादयितुमुत्तरग्रन्थ आरभ्यते । यद्यपि सप्तदशे आहारादीनां सात्त्विकादिभेदः प्रतिपादितस्तथापि तत्र श्रद्धादीनामेव पञ्चानां सात्त्विकादिभेदः प्रतिपादितो न तु ज्ञानादीनाम् । तेषां सात्त्विकादिभेदे विज्ञाते हेयांशं राजसं तामसं च त्यक्त्वा सात्त्विके ज्ञानादौ प्रवृत्तस्य सत्त्वं शुध्यति । तेन ज्ञानं तत्फलं च सिध्यति । तदर्थमत्र चोदनायाः कर्माश्रयस्य च स्वरूपज्ञानादीनां गुणभेदेन भेदं च प्रतिपादयति द्वाविंशत्या । ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावमेव सर्ववेदार्थं गीतार्थं च दृढीकर्तुम्—ज्ञानमिति । ज्ञानमिष्टानिष्टादिरूपं द्रव्यगुणकर्मादिपदार्थजातम् । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं साधारणः सर्वपदार्थविषयको बोधः, ज्ञातव्यं द्रव्यगुणादिपदार्थजातं सर्वं ज्ञेयमित्युच्यते, परिज्ञाता ज्ञेयस्य ज्ञानस्य च ज्ञाता प्रमाता साभासो विज्ञानात्मा । इत्येवंप्रकारेण चोदना चोद्यते प्रवर्त्यतेऽनेनेति चोदना सामान्येन सर्वपदार्थानां हानोपादानादिक्रियाहेतुस्त्रिविधा त्रिप्रकारा प्रमाणप्रमेयप्रमातृलक्षणस्य यस्य संनिधिमात्रेण ज्ञानादिक्रिया जायते सा चोदना त्रिविधेत्यर्थः । एवं प्रवृत्तेः कारणस्य त्रैविध्यमुक्त्वा कर्माश्रयस्यापि त्रैविध्यमाह—करणमिति । क्रियतेऽनेनेति करणं बाह्यमाभ्यन्तरं च । श्रोत्रादिवागादिबुद्ध्यादिद्वादशविधं कर्मेप्सिततमं कर्तुराप्तिक्रियाविषयभूतं यद्वस्तु द्वितीयान्तं तत्कर्मेत्यर्थः । कर्ता करणानां प्रयोक्ता न तु स्वयं तत्प्रयोज्यः स्वतन्त्रः कर्ता विज्ञानात्मा । एवं कर्मसंग्रहः कर्म सम्यग्गृह्यतेऽस्मिन्निति कर्मसंग्रहः क्रियाश्रयः करणादिस्त्रिविधस्त्रिप्रकार इत्यर्थः । ननु संप्रदानादेः क्रियाश्रयत्वसंभवे कथं क्रियाश्रयस्य त्रैविध्यमिति चेन्न । संप्रदानादेः परंपरया विना साक्षात्क्रियाश्रयत्वासंभवात् । यथा कर्मणः साक्षात्क्रियाश्रयत्वं न तथा संप्रदानादेः संभवति ततो युक्तं क्रियाश्रयस्य त्रैविध्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

श्री० टी०—हत्वापि न हन्ति न निबध्यत इत्येतदेवोपपादयितुं कर्मचोदनायाः कर्माश्रयस्य च कर्मफलादीनां च त्रिगुणात्मकत्वान्निर्गुणस्यात्मनस्तत्संबन्धो नास्तीत्यभिप्रायेण कर्मचोदनां कर्माश्रयं चाह—ज्ञानमिति । ज्ञानमिष्टसाधनमेतदिति बोधः, ज्ञेयमिष्टसाधनं कर्म, परिज्ञाता एवंभूतज्ञानाश्रयः, एवं त्रिविधा कर्मचोदना चोद्यते प्रवर्त्यते अनयेति चोदना, ज्ञानादित्रितयं कर्मप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः । यद्वा चोदनेति विधिरुच्यते । तदुक्तं भट्टैः—'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' इति । ततश्चायमर्थः—उक्तलक्षणं त्रिगुणात्मकं ज्ञानादित्रयमवलम्ब्य कर्मविधिः प्रवर्तत इति । तदुक्तम्—'त्रैगुण्यविषया वेदाः' इति । तथाच

करणं साधकतमं, कर्म च कर्तुरीप्सिततमम्। कर्ता क्रियानिर्वर्तकः। कर्म संगृह्यते अस्मिन्निति कर्मसंग्रहः करणादित्रिविधं कारकं क्रियाश्रय इत्यर्थः। संप्रदानादिकारकत्रयं तु परंपरया क्रियानिर्वर्तकमेव केवलं न तु साक्षात् क्रियाया आश्रयः। अतः करणादित्रितयमेव क्रियाश्रय इत्युक्तम् ॥ १८ ॥

स० टी०—क्रियाहेतुतया प्रोक्तमधिष्ठानादिपञ्चकम् ॥ कर्मासंस्पर्शिता तद्वदात्मनस्तद्विदस्तथा ॥ १ ॥ प्रोच्येदानीं तमेवार्थं ज्ञानज्ञेयादिभेदतः ॥ त्रैगुण्यभेदाद्व्याख्यातुं समुपक्रमते हरिः ॥ २ ॥ वस्तुभानक्रियाज्ञानं ज्ञेयं तस्यास्ति कर्म च ॥ तस्याश्रयः परिज्ञाता मोक्ता बुद्ध्याद्युपाधिकः ॥ ३ ॥ त्रयाणां संनिपातेन प्रारम्भः सर्वकर्मणाम् ॥ अत एतत्त्रयं प्राह सर्वकर्मप्रवर्तकम् ॥ ४ ॥ चोदनेति क्रियायाश्च प्राहुरत्र प्रवर्तकम् ॥ चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः ॥ ५ ॥ इत्येवं शाबरे भाष्ये चोदनानिर्णयः कृतः ॥ एवं च प्रेरणीयत्वं प्रेरकत्वमनात्मनः ॥ ६ ॥ नात्मनश्चेत्यभिप्रायस्त्रिविधेत्युक्तितो हरेः ॥ बाह्यं श्रोत्रादिकरणं तत्साधकतमं स्मृतम् ॥ ७ ॥ अन्तःस्थं तत्र बुद्ध्यादिकरणं द्विविधं स्मृतम् ॥ क्रियया व्याप्यमानं यत्कर्तुरत्यन्तमीप्सितम् ॥ ८ ॥ तत्कर्मात्रोच्यते तच्चोत्पाद्याप्यादि चतुर्विधम् ॥ स्वतन्त्रः कारकैरन्यैरप्रयोज्यः स्वयं हि यः ॥ ९ ॥ समस्तकारकाणां च कर्ता स स्यात्प्रयोजकः ॥ निर्वर्तकः क्रियायाश्च चिदचिद्ग्रन्थिरूपधृक् ॥ १० ॥ कर्म संगृह्यते चास्मिन्समवैतीति संग्रहः ॥ कर्माश्रयोऽस्ति त्रिविधश्चार्थादिति प्रयोगतः ॥ ११ ॥ संप्रदानमपादानमाधारश्च त्रयं त्रिषु ॥ अन्तर्भूतमनेनोक्तं कारकपञ्चा क्रिया ॥ १२ ॥ न स्वात्मनि क्रियातीते स कूटस्थो यतस्त्विति ॥ कर्माश्रयस्य कर्मानुप्रेरकस्य च सर्वतः ॥ १३ ॥ कारकात्मतया तद्वत्त्रैगुण्यात्मतया तथा ॥ अकारकस्वभावोऽयं गुणातीतोऽक्रियोऽचलः ॥ १४ ॥ सर्वकर्माद्यसंस्पर्शीत्यभिप्रायो हरेर्विभोः ॥ १५ ॥ १८ ॥

भा० टी०—आत्मनः कर्तृत्वं फलसंबन्धित्वं च नास्तीत्युक्तं तदेवोपपादयितुं कर्मणां प्रवर्तकमाह—ज्ञानमिति। ज्ञायतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्याऽविशेषेण सर्वविषयं ज्ञानमात्रमुच्यते। तथा ज्ञेयमपि सामान्येनैव, ज्ञातव्यं सर्वमुच्यते। तथा परिज्ञाताऽविद्याकल्पितोपाधिप्रधानो भोक्तेत्येवं त्रिविधा कर्मचोदना कर्मणां, प्रवर्तकं त्रिविधमित्यर्थः। करणं क्रियतेऽनेनेति बाह्यं श्रोत्राद्याभ्यन्तरं बुद्ध्यादि, कर्मेप्सिततमं कर्तुः क्रियया व्याप्यमानम्। कर्ता स्वतन्त्रः, स्वातन्त्र्यं च कारकाप्रयोज्यस्य तत्प्रयोक्तृत्वम्। अविद्याकल्पितोपाधिप्रधानो व्यापारयिता—इति त्रिविधः कर्मसंग्रहः संगृह्यतेऽस्मिन्निति संग्रहः कर्मणस्त्रिषु समवेतत्वात्। अयं त्रिविधः कर्मसंग्रहः। ज्ञानादीनां हि त्रयाणां संनिपाते हानोपादानोपेक्षाप्रयोजनः सर्वकर्मारम्भो भवतीति ज्ञानादिरूपा त्रिविधा कर्मचोदनोच्यते। ततश्च पञ्चभिरधिष्ठानादिभिरारब्धं वाङ्मनःकायाश्रयभेदेन त्रिधा राशीभूतं त्रिषु करणादिषु संगृह्यत इति करणादिरूपस्त्रिविधः कर्मसंग्रह उच्यते इति भावः। अत्र भाष्यस्यास्य सामान्यरूपत्वात् तदविरोधेन व्याख्यानान्तराण्यपि निर्दुष्टान्युपादेयानि ॥ १८ ॥

प० टी०—'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः' इत्यादि पूर्वोक्तमस्ति, तदेवोपपादयितुं कर्मचोदनायाः कर्माश्रयस्य च कर्मफलाना त्रिगुणात्मकत्वान्निर्गुणस्यात्मनस्तत्संबन्धो नास्तीत्यभिप्रेत्याह—ज्ञानमिति। ज्ञानमिष्टसाधनमिति बोधः, ज्ञेयमिष्टसाधनं कर्म, परिज्ञाता एवंभूतज्ञानाश्रयः। एवं त्रिविधा कर्मचोदना चोद्यते प्रवर्त्यतेऽनयेति चोदना ज्ञानादित्रयं कर्मप्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः। यद्वा चोदनोपदेशः। तदुक्तम्—'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः' इति। ततश्चायमर्थः—उक्तलक्षणं त्रिगुणात्मकं ज्ञानादित्रयमवलम्ब्य कर्मविधिः प्रवर्तत इति ज्ञानं करणं साधकतमं कर्म च कर्तुरभीप्सिततमम्। कर्ता च क्रियानिर्वर्तकः। कर्म संगृह्यतेऽस्मिन्निति कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

रा० टी०—ननु जीवस्य स्वतः कर्तृत्वाभावे यजेतेत्यादिविधीनां वैयर्थ्यं स्यात् जडेश्वरमुक्तानां तद्विषयत्वादित्यत आह—ज्ञानमिति । विधिश्चोदना प्रेरणेति पर्यायः । कर्मचोदना यजेतेत्यादि कर्मसु प्रेरणा । ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञातेतीतिशब्दो योज्यः । त्रिविधा ज्ञानादिरूपेण त्रिविधा । ज्ञानं विधिविषयं ज्ञेयं चेष्टाप्रयत्नरूपप्रवृत्तिलक्षणमधिष्ठानादिलक्षणं पुरुषार्थलक्षणं च । परिज्ञाता तु सर्वज्ञसर्वप्रेरकेश्वरसंनिहितो जीवरादिः । तन्निमित्तं कर्म चोदना प्रवर्तत इति । 'दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः' इत्यादाविव निमित्तनिमित्तिनोरभेदोपचारेण निमित्तत्रैविध्येन नैमित्तिकचोदनापि त्रिविधेत्युपचर्यते । यजेतेत्यादिश्रौतस्मार्तविधौ सति स्वप्रवृत्तिविषयप्रेरणाज्ञानं भवति । ततश्चेच्छाप्रयत्नरूपप्रवृत्तिरात्मसंनिहितेश्वरप्रेरणया पुमर्थमुद्दिश्य कर्माणि जीवस्य भवति । इति विधिज्ञानादेः कर्मचोदनायाश्च निमित्तनिमित्तिभावो ध्येयः । न च स्वतः कर्तृत्वाभावात्पराधीनकर्तृजीवस्य विधिज्ञानद्वारा कथं प्रवृत्त्यादार्थं विधिविषयत्वमिति शङ्क्यम् । अपराधीनकर्तृत्वस्य विधिविषयतायां प्रयोजकत्वेन क्वाप्यनुपलम्भेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां पराधीनकर्तृशक्तिकस्यैव विधिविषयत्वावश्यंभावात् । जडेश्वरमुक्तानां विध्यविषयत्वेन प्रमाणभूतविधेर्वैयर्थ्यायोगाच्च । पराधीनकर्तुरेव परिशेषप्रमाणेऽपि विधिविषयत्वस्यावश्यकत्वाच्च । तस्माज्जीवे विध्यविषयेभ्यो जडेश्वरमुक्तेभ्यो व्यावृत्तस्य स्वसंबन्धितया विधिज्ञानस्य तज्जन्यायाः फलतत्साधनेच्छायाः साधनविषयकृतेश्चानुभवसिद्धत्वात् । तस्य च ज्ञानादेः न ऋते त्वदित्यादिश्रुतिभिरीश्वराधीनत्वेऽप्यस्वतन्त्रकर्तृत्वमात्रेण विधिविषयत्वं कर्मफलभाक्त्वं च युक्तम् । तदुक्तं गीताभाष्ये—अकर्तृत्वेपि विधिद्वारा ईश्वरप्रसादादिच्छोत्पत्त्योकारणैः कर्मद्वारा पुरुषार्थो भवतीति न प्रवृत्तिविधिवैयर्थ्यमिति । यद्वा दैवं चेवेति पूर्वत्र दैवपदेनेश्वरस्य कर्मसु प्रेरकत्वमुक्तं, तत्प्रेरणास्वरूपमुच्यते—ज्ञानमिति । कर्मचोदना कर्मसु जीवानामीश्वरप्रेरणा ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञातेति त्रिविधा । ज्ञानज्ञेयपरिज्ञातृरूपत्रिविधभगवत्स्वरूपेत्यर्थः । विशेषणबलाद्धर्मधर्मिभावः । तस्येयं प्रेरणेत्याद्युक्तिश्च युक्तेति भावः । पूर्वोक्तपञ्चकर्मकारणानि संक्षिप्याह—करणमिति । करणम् इन्द्रियस्रुक्स्रुवादि । अधिष्ठानपदोक्तदेहादिकमदृष्टं च । कर्म हस्तादिचेष्टा कर्तृपदेन जीवेश्वरावुभावपि ग्राह्याविति त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्मकरणसंग्रहः पञ्चकारणानां संक्षेप इति ॥ १८ ॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ॥
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

म० टी०—अथोपादेयसात्त्विकज्ञानकर्मकर्तृस्वरूपज्ञापनाय तेषां सात्त्विकादिभेदं वक्तुं प्रतिजानीते—ज्ञानमिति । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं सर्वकर्मविषयं, कर्म कर्त्रानुष्ठेयं, कर्ता तस्यानुष्ठाता, करणाद्यन्यत्कारकमत्रैवान्तर्भूतमिति सत्त्वादिगुण (भेद) तस्त्रिधैव प्रोच्यते । क्व? गुणसंख्याने—गुणाः सत्त्वादयः सम्यक् ख्यायन्ते स्वरूपतः कार्यतश्च यस्मिन्निति गुणसंख्यानं सांख्यशास्त्रं, तस्मिन् तान्यपि ज्ञानादीनि वक्ष्यमाणानि यथावच्छृणु अवधारय ॥ १९ ॥

म० टी०—इदानीं ज्ञानज्ञेयज्ञातृरूपस्य करणकर्मकर्तृरूपस्य च त्रिकद्वयस्य त्रिगुणात्मकत्वं वक्तव्यमिति तदुभयं संक्षिप्य त्रिगुणात्मकत्वं प्रतिजानीते—ज्ञानमिति । ज्ञानं प्राग्व्याख्यातम् । ज्ञेयमप्यत्रैवान्तर्भूतं ज्ञानोपाधिकत्वाज्ज्ञेयत्वस्य । कर्म क्रिया त्रिविधः कर्मसंग्रह इत्यत्रोक्ता । चकारात् करणकर्मकारकयोरत्रैवान्तर्भावः क्रियोपाधिकत्वात् कारकत्वस्य । कर्ता क्रियायाः निर्वर्तकः । चकारात् ज्ञाता च । कर्तुः क्रियोपाधिकत्वेऽपि पृथक् त्रैगुण्यकथनं गुणाधिकभ्रमकल्पितात्मत्वनिवारणार्थम् । ते हि कर्तैवात्मेति मन्यन्ते । गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि सम्यक् कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं कापिलम् तस्मिन्, ज्ञानं क्रिया च कर्ता

च गुणभेदतः सत्त्वरजस्तमोभेदेन त्रिधैव प्रोच्यते । एवकारो विधान्तरनिवारणार्थः । यद्यपि कापिलं शास्त्रं परमार्थब्रह्मैकत्वविषये न प्रमाणं, तथाप्यपरमार्थगुणगौणभेदनिरूपणे व्यावहारिकं प्रामाण्यं भजत इति वक्ष्यमाणार्थस्तुत्यर्थं गुणसंख्याने प्रोच्यत इत्युक्तम् । तन्त्रान्तरेऽपि प्रसिद्धमिदं न केवलमस्मिन्नेव तन्त्र इति स्तुतिः । यथावत् यथाशास्त्रं शृणु श्रोतुं सावधानो भव तानि ज्ञानादीनि । अपिशब्दात्तद्भेदजातानि च गुणभेदकृतानि । अत्र चैवमपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यं चतुर्दशेऽध्याये तत्र सत्त्वं निर्मलत्वादित्यादिना गुणानां बन्धहेतुत्वप्रकारो निरूपितो गुणातीतस्य जीवन्मुक्तत्वनिरूपणाय । सप्तदशे पुनः "यजन्ते सात्त्विका देवान्" इत्यादिना गुणकृतत्रिविधस्वभावनिरूपणेनाऽऽसुरं रजस्तमःस्वभावं परित्यज्य सात्त्विकाहारादिसेवया दैवः सात्त्विकः स्वभावः संपादनीय इत्युक्तम् । इह स्वभावतो गुणातीतस्यात्मनः क्रियाकारकफलसंबन्धो नास्तीति दर्शयितुं तेषां सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वमेव न रूपान्तरमस्ति येनात्मसंबन्धिता स्यादित्युच्यते इति विशेषः ॥ १९ ॥

धं० टी०–यद्विवक्षितं सत्त्वादिगुणभेदेन ज्ञानादीनां त्रैविध्यं तदेव विशदयति–ज्ञानमिति । गुणसंख्याने गुणाः सत्त्वादयस्तत्कार्याणि च सम्यक्ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्ते यत्र तद्गुणसंख्यानं सांख्यशास्त्रं तस्मिन्गुणसंख्याने कापिले शास्त्रे । ज्ञानमुक्तलक्षणं पदार्थबोधः, कर्म च श्रौतस्मार्तादिलक्षणं, कर्ता कर्मनिर्वर्तकश्चेत्येतत्त्रयं गुणभेदतः सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिधैव त्रिविधमेव भवति । ज्ञानादीनां सत्त्वादिगुणकृतत्रैविध्यव्यतिरेकेण विधान्तराभावनिर्धारणार्थं एवकारः । चकारो समुच्चयार्थो । घटः पट इत्यादिज्ञानस्य तामसज्ञानपक्षान्तर्भावात् । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं साधारणं सत्त्वादिगुणभेदात्सात्त्विकं राजसं तामसमिति त्रिधैव भवति । तथैव कर्मापि कर्तापि त्रिधैव भवतीति कपिलादिभिः प्रोच्यत इत्यर्थः । यथावद्यथाशास्त्रं सांख्यशास्त्रे यथा प्रोक्तं तथा गुणभेदेन भिन्नानि ज्ञानादीन्यपि मया च वक्ष्यमाणानि शृणु, श्रुत्वा सारग्रहणेऽवहितत्वरो भवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

श्री० टी०–ततः किमत आह–ज्ञानमिति । गुणाः सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं सांख्यशास्त्रं तस्मिन्, ज्ञानं च कर्म च क्रिया कर्ता च प्रत्येकं सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिधैवोच्यते । तान्यपि ज्ञानादीनि वक्ष्यमाणानि यथावच्छृणु । त्रिधैवेत्येवकारो गुणत्रयोपाधिव्यतिरेकेणात्मनः स्वतःकर्मादिप्रतिषेधार्थः । चतुर्दशेऽध्याये तत्र सत्त्वं निर्मलत्वादित्यादिना गुणानां बन्धकत्वप्रकारो निरूपितः । सप्तदशेऽध्याये यजन्ते सात्त्विका देवानित्यादिना गुणकृतत्रिविधस्वभावनिरूपणेन रजस्तमःस्वभावं परित्यज्य सात्त्विकाहारादिसेवया सात्त्विकः स्वभावः संपादनीय इत्युक्तम् । इह तु क्रियाकारकफलादीनामात्मसंबन्धो नास्तीति दर्शयितुं सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वमुच्यत इति विशेषो ज्ञातव्यः ॥ १९ ॥

म० टी०–ज्ञानादिकत्रिकस्याथ करणादित्रिकस्य च ॥ वक्तुं त्रिगुणात्मत्वमित्युपक्रमते हरिः ॥ १ ॥ ज्ञातं प्रागेव व्याख्यातं ज्ञेयमन्तर्गतं त्विह ॥ ज्ञानोपाधिकता यस्माज्ज्ञेयत्वस्य ततस्तथा ॥ २ ॥ कर्मशब्दात्क्रिया ग्राह्या चकारादुभयोरपि ॥ अन्तर्भावः क्रियायां स्यात्करणस्य च कर्मणः ॥ ३ ॥ क्रियोपाधिकता यस्मात्कारकत्वस्य सर्वथा ॥ निर्वर्तकक्रियायाश्च कर्ता ज्ञाता च चान्यथा ॥ ४ ॥ गुणाः सत्त्वादयः सम्यक् ख्यायन्तेऽस्मिन् हि कापिले ॥ शास्त्रे त्रिधैव भेदेन सत्त्वादेः प्रोच्यते यतः ॥ ५ ॥ यथाशास्त्रं शृणु श्रोतुं सावधानो भवेति च ॥ यद्यपि कापिलं शास्त्रं ब्रह्मैकत्वनिरूपणे ॥ ६ ॥ अप्रमाणं तथाप्यत्र गुणगौणनिरूपणे ॥ व्यावहारिकप्रामाण्यं भजते चेत्यदोषकृत् ॥ ७ ॥ १९ ॥

भा० टी०–क्रियाकारकफलानामात्मसंबन्धो नास्ति इति दर्शयितुं तेषां सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वात् सत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन त्रैविध्यप्रतिपादनमारभ्यते–ज्ञानमिति । कर्मशब्देन क्रिया ग्राह्या वक्ष्यमाणानुरोधात् । ननु कर्तुरीप्सिततमं कर्मेति पारिभाषिकं कर्मकारकं, कर्ता च क्रियाणां निर्वर्तकः, गुणभेदतः सत्त्वादिगुण-

भेदेन त्रिधैव गुणसंख्याने प्रोच्यते। अवधारणं गुणव्यतिरेकेण विधान्तरं ज्ञानादिषु नास्तीति निर्धारणार्थम्। गुणाः सत्त्वादयः सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसंख्यानं कापिलशास्त्रं यद्यपि परमार्थब्रह्मैकत्वविषये विरुध्यते, तथापि तेषां कापिलानां गुणगौणव्यापारनिरूपणेऽभियुक्तत्वात् तच्छास्त्रमपि वक्ष्यमाणस्तुत्यर्थत्वेनोपादीयते। वक्ष्यमाणार्थस्य तन्त्रान्तरेऽपि प्रसिद्धिकथनं स्तुतिः। तानि ज्ञानादीनि अपिशब्दात्तद्भेदजातानि च गुणभेदकृतानि शृणु वक्ष्यमाणेऽर्थे मनःसमाधानं कुर्वित्यर्थः ॥ १९ ॥

प० टी०—ततः किमत आह—ज्ञानमिति। गुणाः सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्ते यस्मिन्निति गुणसंख्यानं सांख्यशास्त्रं तस्मिन्, ज्ञानं च कर्म च कर्ता च प्रत्येकं सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिधैवोच्यते। तान्यपि ज्ञानादीनि वक्ष्यमाणानि यथावच्छृणु। त्रिधैवेत्येवकारेण गुणत्रयोपाधिव्यतिरेकेणात्मनः स्वतः कर्मादिप्रतिषेधार्थम् ॥ १९ ॥

रा० टी०—सात्त्विकज्ञानकर्मादेः मुक्तिहेतुत्वात्तदनुष्ठानाय सत्त्वादिगुणनिमित्तान्ज्ञानादिभेदान्प्रतिज्ञापूर्वमाह—ज्ञानमिति। सत्त्वादिगुणभेदतः ज्ञानादिकं प्रत्येकं त्रिविधम्। गुणसंख्याने गुणाः संख्यायन्ते यत्र तस्मिन्नैष्ठिकसांख्यशास्त्रे प्रोच्यते। तान्यपि यथावद्यथास्थितं शृणु ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ॥
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥

त० टी०—तत्र ज्ञानस्य सत्त्वादिगुणतस्त्रैविध्यमाह—सर्वभूतेष्विति त्रिभिः। सर्वभूतेषु देवमनुष्यपश्वादिषु जातिस्वभावतो विभक्तेषु परस्परं व्यावृत्तेषु एकं ज्ञानैकस्वरूपत्वेन विशेषवर्जितं भावमात्मवस्तु अविभक्तं देवमनुष्यादिवर्णाश्रमादिविभागरहितमव्ययं व्ययशीलेषु शरीरेषु व्ययरहितं परिणामशून्यं कूटस्थमित्यर्थः, अन्तर्यामिणं भगवन्तं वा कर्मानुष्ठानवेलायां येन ज्ञानेन पश्यति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥ २० ॥

म० टी०—एवं ज्ञानस्य कर्मणः कर्तुश्च प्रत्येकं त्रैविध्ये ज्ञातव्यत्वेन प्रतिज्ञाते प्रथमं ज्ञानत्रैविध्यं निरूपयति त्रिभिः श्लोकैः। तत्राद्वैतवादिनां सात्त्विकं ज्ञानमाह—सर्वेष्विति। सर्वेषु भूतेषु अव्याकृतहिरण्यगर्भविराट्संज्ञेषु बीजसूक्ष्मस्थूलरूपेषु समष्टिव्यष्ट्यात्मकेषु। सर्वेष्वित्यनेनैव निर्वाहे भूतेष्वित्यनेन भवनधर्मकत्वमुच्यते। तेनोत्पत्तिविनाशशीलेषु दृश्यवर्गेषु, विभक्तेषु परस्परव्यावृत्तेषु नानारसेषु अव्ययमुत्पत्तिविनाशादिसर्वविक्रियाशून्यमदृश्यमविभक्तमव्यावृत्तं सर्वत्रानुस्यूतमधिष्ठानतया बाधावधितया च एकमद्वितीयं भावं परमार्थसत्तारूपं स्वप्रकाशानन्दमात्मानं येनान्तःकरणपरिणामभेदेन वेदान्तवाक्यविचारपरिनिष्पन्नेनेक्षते साक्षात्करोति तन्मिथ्याप्रपञ्चबाधकमद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकं सर्वसंसारोच्छित्तिकारणं ज्ञानं विद्धि। द्वैतदर्शनं तु राजसं तामसं च संसारकारणं न सात्त्विकमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

श्री० टी०—तत्र ज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रतिपादयन्नादौ बहुजन्मभिः सत्त्ववृत्त्या सर्वकर्मफलपरित्यागपूर्वकमीश्वरार्पणबुद्ध्या समनुष्ठितसात्त्विककर्मसमुत्पादितं यच्छुद्धसत्त्वं सकृच्छ्रवणमात्रेण तत्त्वावधारणशक्तं तस्मादुत्पन्नस्यात्मैकत्वदर्शनलक्षणस्य सात्त्विकज्ञानस्य लक्षणमाह—सर्वभूतेष्विति। विभक्तेषु नामरूपजातिगुणक्रियाविशेषैर्व्यावर्तकैः परस्परभिन्नेषु सर्वभूतेषु सर्वेष्वव्यक्तादिस्थूलान्तेषु भूतेषु शरीरेषु स्थावरेषु जङ्गमेषु च सर्वत्र घटमठादिष्वाकाशवदविभक्तं निरवयवत्वान्निर्विशेषत्वाच्च विभागवर्जितमखण्डात्मना सर्वतः परिपूर्णमत एकमेकरूपं तदीयधर्मकर्मादिभिरस्पृष्टमत्यन्तविशुद्धं चिदेकरसमव्ययं भूतेषु नश्यत्सु सत्सु स्वयमविनश्यन्तं भूतानामाविर्भावतिरोभावागमनिर्गमादिषु स्वयमाविर्भावतिरोभावागमनिर्गमादिधर्मनिर्मुक्तमविक्रियात्मनैकरूपेण सर्वदा विद्यमानं नित्यं शाश्वतमित्यर्थः। एवंलक्षणं भावं—नामरूपादिकं सर्वं भाव्यते यत्र येन

वा स भावः प्रत्यगात्मा तं सच्चिदानन्दैकरसमात्मानं स्वं येन शुद्धसत्त्वसंभावितेन "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" इति, "अशरीरं शरीरेषु" इत्यादिश्रुतिवाक्यार्थश्रवणमात्रात्समुत्पन्नेन ज्ञानेनाखण्डाकारवृत्त्या कृतबुद्धिर्विद्वानीक्षते पश्यति सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति, स्वं च सर्वं च ब्रह्मैवेति पश्यति तज्ज्ञानमद्वैतात्मविषयकं द्वैतभ्रमविध्वंसकं सात्त्विकं बहुजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपरिपाकसमुदितशुद्धसत्त्वसमुत्पन्नत्वात्सात्त्विकं विद्धि । तदेव विदेहमुक्तिकारणमिति विजानीहीत्यर्थः ॥ २० ॥

श्री० टी०—तत्र ज्ञानस्य सात्त्विकादित्रैविध्यमाह—सर्वभूतेष्विति त्रिभिः । सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विभक्तेषु परस्परं व्यावृत्तेषु अविभक्तमनुस्यूतमेकमव्ययं निर्विकारं भावं परमात्मतत्त्वं येन ज्ञानेनेक्षते आलोचयति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥ २० ॥

स० टी०—हेयोपादेयरूपेण पुराध्यायत्रये गुणाः ॥ निरूपिता इहेदानीमात्मनस्तैरसङ्गिनः ॥ १ ॥ गुणातीतस्य संबन्धः स्वाभाव्यान्नास्ति कारकैः ॥ इति तेषां गुणात्मत्वं पुनरत्र निरूप्यते ॥ २ ॥ ज्ञानत्रैविध्यमेवादौ त्रिभिः श्लोकैरिहोच्यते ॥ अद्वैतवादिना ज्ञानं सात्त्विकं हरिणेर्यते ॥ ३ ॥ आब्रह्मस्थावरान्तेषु सर्वभूतेष्वनेकधा ॥ दृश्यवर्गेषु चान्योन्यव्यावृत्तेषु विनाशिषु ॥ ४ ॥ जन्मादिविक्रियाशून्यमन्यानुवृत्तमदृश्यकम् ॥ अधिष्ठानतया बाधावधिमात्मानमक्षरम् ॥ ५ ॥ स्वप्रकाशं परानन्दं येन ज्ञानेन पश्यति ॥ तन्मिथ्यादृश्यबाधेन चिदद्वैतात्मदर्शनम् ॥ ६ ॥ सात्त्विकं सर्वसंसारोच्छित्तिहेतुमवेहि भोः ॥ राजसं तामसं द्वैतदर्शनं बन्धकारणम् ॥ ७ ॥ हेयं ग्राह्यं तु सत्त्वोत्थं ज्ञानं मोक्षैकसाधनम् ॥८ ॥२०॥

भा० टी०—तत्र ज्ञानस्य त्रैविध्यं विभजनादौ तस्य सात्त्विकत्वमाह—सर्वभूतेष्विति । सर्वभूतेष्वव्यक्तादिस्थावरान्तेषु विभक्तेषु देहादिभेदेन विभागवत्सु एकमद्वितीयं, भावं परमार्थवस्तु सच्चिदानन्दरूपम्, अव्ययं स्वात्मना धर्मेण वा न व्येतीत्यव्ययं, कूटस्थं नित्यम्, विभक्तं प्रतिदेहं विभागशून्यं व्योमवन्निरन्तरं, येन ज्ञानेनोपनिषत्सिद्धान्तजन्येनाद्वैतवादी पश्यति तदद्वैतात्मदर्शनं सम्यक् ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि विजानीहि ॥ २० ॥

प० टी०—अथ सात्त्विकं ज्ञानमाह—सर्वभूतेष्विति । सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विभक्तेषु नामरूपकर्मभिः परस्परं व्यावृत्तेष्वविभक्तमनुस्यूतं घटपटादिष्वाकाशमिवैकमद्वितीयमव्ययं निर्विकारं भावं सद्रूपं परमात्मतत्त्वं येनेक्षत आलोचयति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि । सात्त्विकत्वसंपादनमाहारादिकं पूर्वं प्रोक्तमेव । श्रुतिरपि शातपथी—"यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् । न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्" इति । भाष्यम्—"अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति"इति पूर्वश्रुत्यात्मनोऽविनाशित्वं, श्रुतीनां च तदाश्रयवर्तित्वमुक्तं सदेव द्रढयति । एवमात्मानं यद्वा प्रकारान्तरेणेन्द्रियादिना न पश्यति, किं स्वात्मनैवात्मानं पश्यति । अथ तथात्वेनात्मानं पश्यन्नप्येतत्पुरोवर्तिपदार्थवद्द्रष्टव्यमित्याकारेण न पश्यति, हि यस्मात्कारणादात्मद्रष्टुः पुरुषस्य दृष्टेर्विपरिलोपो न विद्यते । कुतः ? अविनाशित्वात् । एकपदार्थज्ञाने नष्टे सति पदार्थान्तरज्ञानं भवति । प्रकृतेऽद्वितीयस्याभावाद्दृष्टेर्विपरिलोपो विपर्यासो न संभवति । यतस्तद्द्वितीयं तस्माद्द्वितीयं—तद्द्वितीयं नास्ति । यत्—तदात्मनः सकाशाद्विभक्तं यत्पश्येत्तस्मादात्मातिरिक्तं न किमपि पश्येदित्यर्थः ॥ २० ॥

रा० टी०—प्रतिज्ञातं ज्ञानत्रैविध्यं तावदाह—सर्वेत्यादित्रयेण । विभक्तेषु परस्परं भिन्नेषु तारतम्योपेतेषु च सर्वभूतेषु भवन्ति विद्यन्त इति भूतानि जीवाः प्रकृत्यादिजडानि च । सर्वेषु जीवेषु जडेषु च तदाधारकत्वेन तेभ्यो भिन्नत्वेनेति तात्पर्याभिप्रायः । भावं सदा विद्यमानं विष्णुमेकं प्रधानं सर्वोत्तममिति

यावत्। अविभक्तं सर्वत्र स्थितावपि अधिष्ठानभेदनिमित्तभेदहीनम्। "न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" इतिसूत्रोक्तदिशा सर्वत्र निर्दोषपादेयसद्गुणतया ऐक्येन स्थितामिति यावत्। अव्ययं स्वतोऽधिष्ठानव्ययेन च व्ययहीनम्। येन ज्ञानेनेक्षते विषयीकरोति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि जानीहीति ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ॥
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

न० टी०—राजसं ज्ञानमाह—पृथक्त्वेनेति । तुशब्दः पूर्वोक्तान्निकृष्टत्वद्योतनार्थः। पृथक्त्वेन दृश्यमानेषु ब्राह्मणादिषूत्तमाधमतया प्रतीयमानेषु भूतेषु नानाभावाञ्जीवात्मनः पृथग्विधान् तत्तद्देहयोगादुत्तमाधमान् सुखिदुःखिनः यज्ज्ञानं वेत्ति येन ज्ञानेन पुरुषो जानाति तज्ज्ञानं राजसं विद्धि॥२१॥

म० टी०—पृथगिति। तुशब्दः प्रागुक्तसात्त्विकव्यतिरेकप्रदर्शनार्थः। पृथक्त्वेन भेदेन स्थितेषु सर्वभूतेषु देहादिषु नानाभावान् प्रतिदेहमन्यानात्मनः पृथग्विधान् सुखदुःखित्वादिरूपेण परस्परविलक्षणान् येन ज्ञानेन वेत्तीति वक्तव्ये यज्ज्ञानं वेत्तीति करणे कर्तृत्वोपचारादेधांसि पचन्तीतिवत् कर्तुरहंकारस्य तद्वृत्त्यभेदाद्वा, तज्ज्ञानं विद्धि राजसमिति पुनर्ज्ञानपदमात्मभेदज्ञानमनात्मभेदज्ञानं च परामृशति। तेनात्मना परस्परं भेदस्तेषामीश्वराद्भेदस्तेभ्य ईश्वरादन्योन्यतश्चाचेतनवर्गस्य भेद इत्यनौपाधिकभेदप्रपञ्चकज्ञानं कुतार्किकाणां राजसमेवेत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

श्री० टी०—येनात्मनामनेकत्वं पश्यति तद्राजसमित्याह—पृथक्त्वेनेति। तुशब्दः पूर्वस्मादस्य वैलक्षण्यबोधनार्थः। नानाविधमलिनवासनया विशिष्टः पुरुषः सर्वेषु भूतेषु देवर्षिमनुष्यादिशरीरेषु पृथक्त्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वेन स्वभावत एव नानाभावाननेकान् क्षेत्रज्ञान् पृथग्विधान् सुखदुःखादिभेदेन परस्परविलक्षणान्। अत्र ज्ञानस्य करणत्वमेव न तु कर्तृत्वं संभवति। ततः यथेन ज्ञानेन वेत्ति पश्यति घटमठादिषु स्थितानामाकाशानामनेकत्वं तदीयवक्रत्वादिधर्मैर्वक्रत्वादिमत्त्वं यथा पश्यति तथा देवमनुष्यादिशरीरेषु स्वत एव जीवात्मनामनेकत्वं जन्ममरणादिविकारविशिष्टत्वं सुखादिभाक्त्वं च येन विजानाति तज्ज्ञानमयथाग्राहकत्वाद्राजसम्। यज्ञदानादिकर्मसंभावितरजोदोषविशिष्टान्तःकरणवृत्तित्वाच्च राजसं बन्धस्यैव कारणं न तु मुक्तेरित्यर्थः ॥ २१ ॥

श्री० टी०—राजसं ज्ञानमाह—पृथक्त्वेनेति। पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं इत्यस्यैव विवरणं सर्वेषु भूतेषु देहेषु नानाभावान्वस्तुत एवानेकान् क्षेत्रज्ञान् पृथग्विधान् सुखी दुःखीत्यादिरूपेण विलक्षणान्येन ज्ञानेन वेत्ति तज्ज्ञानं राजसं विद्धि ॥ २१ ॥

स० टी०—तुशब्दः सात्त्विकज्ञानाद्भिन्नत्वादिदं हि राजसम् ॥ भेदेन सर्वभूतेषु स्थितेषु देहनामसु ॥ १ ॥ प्रतिदेहं विभिन्नांश्च प्रत्यगात्मान आन्तरान् ॥ सुखित्वादिकरूपेण परस्परविलक्षणान् ॥ २ ॥ येन ज्ञानेन जानाति तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ ज्ञानं वेत्तीति करणे कर्तृत्वं ह्यौपचारिकम् ॥ ३ ॥ एधांसि पचन्तीति प्रयोगोऽस्ति तथैव तत् ॥ अन्योन्यमात्मनां भेदस्तेषां भेदस्तथेश्वरात् ॥ ४ ॥ भेदोऽचेतनवर्गस्य तेभ्य ईशात्तथा मिथः ॥ इत्यनौपाधिको भेदस्तार्किकाणां च पञ्चधा ॥ ५ ॥ संमतो राजसत्वेन तज्ज्ञानं हेयमेव हि ॥ ६ ॥ २१ ॥

भा० टी०—एवमद्वैतवादिनां सात्त्विकमुपादेयमुक्त्वा तार्किकाणां तद्राजसं हेयमाह—पृथक्त्वेनेति। तुशब्दः संसारोच्छित्तिहेतुभूतात्पूर्वोक्तात्सात्त्विकात् ज्ञानात् तदुच्छित्त्यहेतुभूतस्य प्रत्युत तत्कारणस्य वैलक्षण्यद्योतनार्थः। पृथक्त्वेन प्रतिशरीरमन्यत्वेन हेतुना पृथग्विधान् भिन्नलक्षणान् नानाभावान्

भिन्नात्मनः सर्वेषु भूतेषु यज्ज्ञानं वेत्ति जानाति। ज्ञानस्य कर्तृत्वासंभवात् येन ज्ञानेन वेत्तीत्यर्थः। एधांसि पचन्तीतिवत् करणे कर्तृत्वोपचारादेवं प्रयोगः। तज्ज्ञानं राजसं रजोनिर्वृत्तं विद्धि। यत्पृथक्त्वेन स्थितेषु भूतेष्विति तु दूरान्वयदोषेणाध्याहारदोषेण च अस्वरसत्वादाचार्यैरुपेक्षितम् ॥ २१ ॥

प० टी०—राजसमाह—पृथक्त्वेनेति। सर्वेषु भूतेषु देहेषु नानाभावान् क्षेत्रज्ञानहं सुख्यहं दुःखीत्यादिप्रतीत्या वस्तुत एव पृथग्विधान् येन ज्ञानेन वेत्ति तद्राजसज्ज्ञानं विद्धि ॥ २१ ॥

रा० टी०—पृथगिति। यज्ज्ञानं सर्वभूतेषु पृथक्त्वेन वेत्ति सर्वजीवजडानि अन्तर्भेदयुतत्वेन विषयीकरोति इत्यस्यैव व्याख्या—नानेत्यादि। नानाभावान्नानाप्रकारभूतजीवजडरूपपदार्थान्पृथग्विधान्परस्परं भिन्नान्नीचोच्चतया स्थितांश्च वेत्ति विषयीकरोति। विष्णोरन्यत्र यथार्थमिति यावत्। उपलक्षणमेतत्। संदिग्धतया भगवत्स्वरूपविषयकं यत्तज्ज्ञानं राजसमित्यर्थः। तुशब्देन चायमर्थो ग्राह्यः। तेनेश्वरादन्यत्र यथार्थज्ञानस्य सात्त्विकत्वात्कथं राजसत्वमिति निरस्तं बोध्यम्। ईश्वरविषये संशयरूपत्वस्याधिकस्यापि भावात् ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्* ॥
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

त० टी०—तामसं ज्ञानमाह—यत्त्विति। तुशब्दस्तस्मादप्यतिनिकृष्टं द्योतयति। यज्ज्ञानमेकस्मिन्कार्ये एकस्मिन्नान्यस्मिन्। क्षुद्रदेवताप्रेतभूतगणाद्याराधनरूपे कर्मणि अतितुच्छेऽपि कृत्स्नफलवत्सक्तमेतदेव मम सर्वाभीष्टप्रदमिति अहैतुकं हेतुरहितं निर्युक्तिकं यतोऽतत्त्वार्थवत् शास्त्रसिद्धतत्त्वार्थशून्यम्, अत एवाल्पं च अल्पविषयत्वादल्पफलकं तज्ज्ञानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

म० टी०—यदिति। तुशब्दो राजसाद्भिनत्ति। बहुषु भूतकार्येषु विद्यमानेष्वेकस्मिन् कार्ये भूतविकारे देहे प्रतिमादौ वा अहेतुकं हेतुरुपपत्तिस्तद्रहितमन्येषां भूतकार्याणामात्मत्वाभावे कथमेकस्य तादृशस्यात्मत्वमित्यनुसंधानशून्यं, कृत्स्नवत् परिपूर्णवत्सक्तम्—एतावानेवात्मा ईश्वरो वा नातः परमस्तीत्यभिनिवेशेन युक्तम्। यथा दिगम्बराणां सावयवो देहपरिमाण आत्मेति। यथा वा चार्वाकाणां देह एवात्मेति। एवं पाषाणदार्वादिमात्र ईश्वर इत्येकस्मिन् कार्ये सक्तम्। अहेतुकत्वादेवातत्त्वार्थवत्—न तत्त्वार्थालम्बनम्। अल्पं च नित्यत्वविभुत्वाग्रहात्। ईदृशं नित्यविभुदेहादिविविक्तात्मतद्व्यतिरिक्तेश्वरग्राहिवादिकज्ञानविलक्षणमनित्यपरिच्छिन्नदेहाद्यात्माभिमानरूपं चार्वाकादीनां यज्ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतं तामसानां प्राकृतजनानामीदृशज्ञानवर्तित्वात् ॥ २२ ॥

शं० टी०—तामसं ज्ञानत्वलक्षणमाह—यदिति। तुशब्दोऽस्य ज्ञानस्योभयविलक्षणत्वद्योतनार्थः। एकस्मिन् कार्ये भूतकार्ये देहे प्रतिमादौ वा कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तमात्मा परमेश्वरश्च स्वयं स्वरूपेणैतावान् देहपरिमाणक एवात्मा प्रतिमापरिमाण एवेश्वरो नैतद्व्यतिरिक्तोऽस्तीति निश्चययुक्तम्। यद्वा कृत्स्नवत् एष घट एष पट इति कृत्स्नपदार्थनिश्चयो यथा तथा कार्ये देहे प्रतिमादौ वा सक्तम्। एष देह एवात्माहमिति, एष पाषाणादिरेवेश्वर इति निश्चययुक्तमहेतुकं देहस्यैवात्मत्वनिश्चये प्रतिमादेरेवेश्वरत्वनिर्धारणे च हेतुस्तदभावादहेतुकम्। ननु देह एवात्मा अहमर्थत्वादित्यादियुक्तिरस्त्येवेति चेन्न, स्वप्नमहमद्राक्षमित्यादौ व्यभिचारदर्शनाद्देहदाहे त्वात्मदाहप्रसङ्गाच्च। न देहस्यात्मत्वसाधको हेतुरस्ति नापि प्रतिमादेरीश्वरत्वसाधको हेतुरस्ति। ननु प्रतिमाद्याकार ईश्वरः कामान् प्रयच्छति तत एष प्रतिमादिरेवेश्वरः कामप्रदत्वादित्यादियुक्तिरस्त्येवेति चेन्न, अश्वत्थस्याप्यारोग्यप्रदत्वदर्शनाच्चातिव्याप्तिः स्यात्। किंतु तत्र भक्त्याराधितः परमेश्वरः सर्वगतस्तत्र

,* अहेतुकम्—पाठान्तरम्

स्थितः सन्कामान् प्रयच्छति न तु प्रतिमादिस्तस्य नाशे ईश्वरस्यापि नाशप्रसङ्गात् । ततो देहप्रतिमादेरात्मेश्वरत्वसाधकयुक्तिर्नास्ति । अत एवातत्त्वार्थवदवाधितार्थस्तत्त्वार्थः स यस्य ज्ञानस्य नास्ति तदतत्त्वार्थवदयथार्थविषयकमत एवाल्पम्—अल्पविषयत्वेनाल्पफलत्वेन चाल्पं निकृष्टमित्यर्थः । यदेवंलक्षणं ज्ञानं तत्तामसं बहुजन्मभिस्तामसयज्ञदानादिकर्मानुष्ठानसंप्राप्ततमोगुणकार्यत्वात्तामसमिति कपिलादिभिरुदाहृतमुच्यत इत्यर्थः । जन्मानेकशतैः समनुष्ठितसात्त्विकयज्ञदानादिसत्कर्मपरिपाकसमुत्पन्नं सात्त्विकं ज्ञानं मोक्षायैव भवति, राजसं तु स्वर्गाद्यभ्युदयाय निरुक्तलक्षणं, तामसं ज्ञानं तु केवलं मूढव्यवहारगोचरं जननमरणदुःखप्रवाहायैव भवति, न तु स्वर्गाय नाप्यपवर्गायेति सूचितं भवति ॥ २२ ॥

श्री० टी०—तामसं ज्ञानमाह—यत्त्विति । एकस्मिन्कार्ये देहे प्रतिमादौ वा कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तमेतावानेवात्मा ईश्वरो वेत्यभिनिवेशयुक्तम्, अहेतुकं निरुपपत्तिकम्, अतत्त्वार्थवत् परमार्थावलम्बनशून्यम् । अत एवाल्पं तुच्छमल्पविषयत्वादल्पफलत्वाच्च । यदेवंभूतं ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

म० टी०—भूतकार्येषु बहुषु विद्यमानेष्वनेकधा ॥ एकस्मिन्भौतिके देहे प्रतिमादौ विकारके ॥ १ ॥ अन्येषां भूतकार्याणामात्मत्वाभावतः कथम् ॥ एकस्य तादृशस्यात्मभाव इत्यविचारतः ॥ २ ॥ परिपूर्णवदासक्तमेतावानीश्वरोऽल्पकः ॥ आत्मा वातः परं नास्तीत्येवं चाभिनिवेशतः ॥ ३ ॥ दिगम्बरमते यद्वत्सावयवतया मतः ॥ आत्मा देहपरीमाणश्चार्वाकाणां यथा वपुः ॥ ४ ॥ एवं पाषाणदार्वादिमात्र ईशोऽपि संमतः ॥ इत्येकस्मिंस्तथासक्तमहेतुकतयैव च ॥ ५ ॥ तत्त्वार्थालम्बनं नास्ति निर्मुखत्वाग्रहात्तथा ॥ अल्पं चाल्पविषयत्वादत्यन्ताल्पफलत्वतः ॥ ६ ॥ एवं यन्नास्तिकादीनां ज्ञानं तत्तामसं बुधैः ॥ प्राकृतानां विमूढानां हेयत्वेन ह्युदाहृतम् ॥ ७ ॥ २२ ॥

भा० टी०—राजसं ज्ञानमुदाहृत्य तामसं तदाह—यत्त्विति । तुशब्दो राजसाद्वैलक्षण्यद्योतनार्थः । यत्तु ज्ञानमेकस्मिन्कार्ये देहे बहिर्वा प्रतिमादौ कृत्स्नवत् समस्तवत् परिपूर्णवत् एतावानेवात्मा ईश्वरो नातः परमस्तीति । यथा चार्वाकादीनां शरीरानुवर्तिदेहपरिमाणो जीवः, ईश्वरो वा पाषाणदार्वादिमात्र इत्येवमभिनिवेशयुक्तं यतोऽहेतुकमुपपत्तिशून्यमहेतुकत्वादतत्त्वार्थवत् यथाभूतोऽर्थस्तत्त्वार्थः सोऽस्य ज्ञेयभूतोऽस्तीति तत्त्वार्थवत् न तत्त्वार्थवदतत्त्वार्थवत्, तत एवाल्पं चाल्पविषयत्वादल्पफलत्वाद्वा तत्तामसानां प्राणिनामविवेकिनां परिदृश्यमानमीदृशं ज्ञानं हेयं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

प० टी०—तामसमाह—यत्त्विति । एकस्मिन् कार्ये देहे प्रतिमादौ वा सक्तम् एतावानीश्वर एवेत्यभिनिवेशयुक्तम् । अहेतुकं निरुपपत्तिकम्, अतत्त्वार्थवत् परमार्थावलम्बनशून्यम् । अत एवाल्पं तुच्छम् । यदेवंभूतं ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

रा० टी०—यत्त्विति । कार्यशब्दोऽत्र संसारिणं मुक्तत्वेन क्रियमाणत्वहेतुना जीवपरः । कृत्स्नशब्दो ब्रह्मपरो जगत्परश्च । अयमर्थः । एकस्मिन्कार्ये जीवे कृत्स्नवद्ब्रह्मवत् यज्ज्ञानं सक्तम् । कोऽर्थः ब्रह्म यथा स्वात्मानं विषयीकरोति । तथा जीवं ब्रह्मेति यज्ज्ञानं विषयीकरोतीत्यर्थः । जीवे ब्रह्माभेदविषयकं यज्ज्ञानं तत्तामसमिति यावत् । तथा एकस्मिन्कार्ये जीवे कृत्स्नवज्जगद्वद्यज्ज्ञानं सक्तं प्रपञ्चं यथा विषयीकरोति प्रपञ्चोऽयमिति । तथा जीवं यज्ज्ञानं विषयीकरोति जीवं जगदात्मकत्वेन विषयीकुर्वद्यज्ज्ञानं तत्तामसमिति यावत् । तथा एकस्मिन्कार्ये जीवे कृत्स्नवद्यज्ज्ञानं सक्तम्—एकमेव जीवं कृत्स्नजगदात्मकत्वेन यद्विषयीकरोति । एकजीवकल्पितं जगदिति यज्ज्ञानं विषयीकरोतीति त्रिधार्थः । किंच यज्ज्ञानमहेतुकं युक्तिशून्यम्, अतत्त्वार्थवदसत्यविषयकं सदसद्विलक्षणाद्यविद्यमानाकारकल्पनायुक्तमिति यावत् । अल्पं बहुलाज्ञानयुक्तत्वेन धर्मेणाल्पज्ञानसदृशं च यत्तत्तामसम् । अत्र ब्रह्मवदिति जीव इति च वाच्ये कृत्स्नवदित्युक्तिः

जगतोऽपि ग्रहणाय । तेनाकार्यत्वादिकृत्स्नगुणपरिपूर्णत्वेन कृत्स्नपदोक्तलक्षणा कार्यत्वादिना तद्दर्शनस्य जीवस्याभेदज्ञानं मिथ्याज्ञानत्वात्कथं न तामसमिति तामसत्वोपपादनायेति । कार्य इत्येव वाच्ये एकस्मिन्नित्युक्तिः एकजीवमतस्य संग्रहायेति । अत्र यद्यप्येकस्मिन्कार्यशब्दिते जीवे कृत्स्नवदकार्यत्वादिगुणपरिपूर्णब्रह्मवज्जगद्वच यज्ज्ञानं सक्तमित्यस्य चैकं जीवं ब्रह्मात्मकत्वेन जगदात्मकत्वेन च विपर्यीकारि यज्ज्ञानमित्यर्थः । तादृशं च ज्ञानमहैतुकम् । अतत्त्वार्थमल्पं च भवत्येवेति पुनरहैतुकमित्याद्युक्तिः पुनरुक्तिरेव । तथाप्यहैतुकज्ञानादित्रिवयं प्रत्येकमेकैकं तामसं, पूर्वोक्तमिथ्याज्ञानरूपविशेषणसहितमपि तामसमिति वक्तुमिति ज्ञेयम् । यद्वा सामानाधिकरण्येन पदानां विशेषणविशेष्यभावः । एवं च कार्ये जीवे कृत्स्नवज्जगद्वद्यत्सक्तम् । एकस्मिन्कार्ये जीवे कृत्स्नवद्ब्रह्मवद्यत्सक्तं, यदहैतुकं यथातत्त्वार्थकल्पनायुक्तं, यच्चाल्पं, तानि सर्वाण्यपि षड्विधाऽज्ञानानि प्रत्येकं तामसानीति योजना । अतो न पुनरुक्तिशङ्कावकाश इति ॥२२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ॥
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

त० टी०—एवं कर्मानुष्ठातुर्ज्ञानांशेन गुणतस्त्रैविध्यं प्रदर्श्येदानीं कर्मण एव गुणतस्त्रैविध्यमाह—**नियतमिति** । नियतं नित्यकर्तव्यतया विहितं, सङ्गरहितम्–सङ्गोऽहमस्य कर्ता फलभोक्तेत्यभिनिवेशस्तद्रहितम्, अरागद्वेषतः कृतं–रागोऽनेन लोकपूजास्तुत्यादि प्राप्स्यामीति प्रीतिविशेषः, द्वेषः शत्रुमरणाद्यनिष्टचिन्तनं, ताभ्यां न कृतमिति । अफलप्रेप्सुना स्त्रीपुत्रधनादिफलाभिलाषरहितेन कर्त्रा यत्कृतं कर्म तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

म० टी०—तदेवमौपनिषदानामद्वैतात्मदर्शनं सात्त्विकमुपादेयं मुमुक्षुभिः, द्वैतदर्शिनां तु नित्यविभुपरस्परविभिन्नात्मदर्शनं राजसम्, अनित्यपरिच्छिन्नात्मदर्शनं च तामसं हेयमुक्तम् । संप्रति त्रिविधं कर्मोच्यते–**नियतमिति** । नियतं यावदङ्गोपसंहारासमर्थानामपि फलावश्यंभावव्याप्तम् नित्यमिति यावत् । सङ्गोऽहमेव महायाज्ञिक इत्याद्यभिमानरूपोऽहङ्कारापरपर्यायो राजसो गर्वविशेषस्तेन शून्यं सङ्गरहितम् । यावद्ज्ञानं तु कर्तृत्वभोक्तृत्वप्रवर्तनोऽहङ्कारोऽनुवर्तत एव सात्त्विकस्यापि । तद्रहितस्य तु तत्त्वविदो न कर्माधिकार इत्युक्तमसकृत् । रागो राजसन्मानादिकमनेन लप्स्य इत्यभिप्रायः, द्वेष शत्रुमनेन पराजेष्य इत्यभिप्रायस्ताभ्यां न कृतमरागद्वेषतः कृतम् । अफलप्रेप्सुना फलाभिलाषरहितेन कर्त्रा यत् कृतं कर्म यागदानहोमादि तत् सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

शं० टी०—सत्त्वादिगुणभेदात्कर्मणस्त्रैविध्यं प्रतिपादयन्नादौ मुमुक्षूणामनुष्ठेयं सात्त्विकं कर्माह–**नियतमिति** । नियतं श्रुतिस्मृतिभ्यामवश्यकर्तव्यत्वेन विहितं यज्ञतपोदानलक्षणं सङ्गरहितं–सङ्गः कर्तृत्वाभिनिवेशोऽहंकारस्तच्छून्यमनहंकारम्, अरागद्वेषतः सुखसाध्यत्वे तत्फलसाधनत्वे वा कर्मणि रागः, दुःखसाध्यत्वे दुःखफलसाधनत्वे वा कर्मणि द्वेषश्च जायते रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ न रागद्वेषौ यस्येष्टानिष्टयोः कर्मणोः समबुद्धेरसावरागद्वेषः । तृतीयार्थे तसिः । तेनारागद्वेषेण सात्त्विकेनाफलप्रेप्सुना निष्कामेण कर्त्रा कृतं यत्तत्कर्म सात्त्विकं सत्त्वशुद्धिकारणमिति महर्षिभिः प्रोच्यते ॥ २३ ॥

श्री० टी०—इदानीं त्रिविधं कर्माह–**नियतमितित्रिभिः** । नियतं नित्यतया विहितं, सङ्गरहितमभिनिवेशशून्यं, अरागद्वेषतः पुत्रादिप्रीत्या वा शत्रुद्वेषेण वा यत्कृतं न भवति फलं प्राप्तुमिच्छतीति फलप्रेप्सुस्तद्विलक्षणेन निष्कामेण कर्त्रा यत्कृतं कर्म तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

स० टी०—अद्वैतदर्शिना ज्ञानमुपादेयमुदीरितम् ॥ तार्किकाणां तथा हेयं भेदज्ञानमनर्थदम् ॥ १ ॥

तामसं दुष्टमत्यन्तं हेयं संसृतिकारणम् ॥ इत्युक्तं त्रिविधं कर्म प्रोच्यते हरिणाऽधुना ॥ २ ॥ नित्यमावश्यकं कर्म गर्वासक्तिविवर्जितम् ॥ अनेनाहमिदं लप्स्ये राग इत्याशयः स्मृतः ॥ ३ ॥ अनेनारिं पराजेष्ये द्वेष इत्याशयस्तथा ॥ ताभ्यां न कृतमित्युक्तमरागद्वेषतः कृतम् ॥ ४ ॥ फलाभिलाषशून्येन कर्त्रा कर्मेह यत्कृतम् ॥ यागदानादिशास्त्रीयं तत्सात्त्विकमुदाहृतम् ॥ ५ ॥ २३ ॥

भा० टी०—एवं ज्ञानत्रैविध्यं विभज्य कर्मत्रैविध्यं विभजन्नादौ सात्त्विकं कर्मोदाहरति—नियतमिति । नियतं नित्यमवश्यकर्तव्यतया विहितं, सङ्गरहितमासक्तिवर्जितमभिनिवेशशून्यम्, अरागद्वेषतः कृतं—रागो विषयप्रेप्सा कारणभूता रञ्जननामिका चित्तवृत्तिः तत्प्रयुक्तेन द्वेषप्रयुक्तेन च कृतं रागद्वेषतः कृतं तद्विपरीतमरागद्वेषतः कृतं फलं प्रेप्सतीति फलप्रेप्सुः फलतृष्णः तद्विपरीतेनाफलप्रेप्सुना कर्त्रा यत्कर्म कृतं तत्सात्त्विकमुच्यते । फल्गु च लीयते चेति फलं क्रियया प्राप्यमनात्मवस्तु तदन्यदफलमनागन्तुकं परिपूर्णमविनाशि आत्मतत्त्वं तदप्रेप्सुना कृतं "विविदिषन्ति यज्ञेन" इति श्रुत्या आत्मलाभार्थं यज्ञादेर्विनियोगादित्यन्ये । आचार्यैस्तु फलेप्सुनेत्युत्तरानुरोधिक्लिष्टकल्पनाप्रसङ्गोऽयं पक्ष इत्यभिप्रेत्योपेक्षितः ॥ २३ ॥

प० टी०—इदानीं त्रिविधं कर्माह—नियतमितित्रिभिः । नियतं नित्यतया विहितं, सङ्गरहितमभिनिवेशशून्यम्, अरागद्वेषतः कृतं पुत्रप्रीत्या तदभ्युदयार्थं शत्रुद्वेषात्तदपकर्षार्थं यन्न भवति । फलं प्राप्तुमिच्छतीति फलप्रेप्सुः तद्विलक्षणेन कृतं कर्म सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

रा० टी०—प्राक् प्रतिज्ञातं गुणकृतकर्मत्रैविध्यमाह—नियतमित्यादि, त्रिभिः । हरेः सर्वोत्तमत्वज्ञानभक्तिपूर्वकं तदर्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्वैवर्णाश्रमोचितं हि नियतमित्युच्यते । मयि सर्वाणीत्यादौ भगवत्सर्वोत्तमत्वज्ञानतद्भक्तिपूर्वकं तदर्पणबुद्ध्या कर्मकरणस्य विधानात् । ये मे मत इत्यादौ तस्यैवमुक्तिहेतुत्वोक्तेः यत्करणे फलप्राप्तिः यदकरणे च प्रत्यवायः तस्यैव नियतत्वात्, सङ्गरहितं सर्वीयतास्नेहहीनं, कीर्त्यादौ रागादिहानतः अकीर्त्यादौ द्वेषत्यागतः कृतं फलप्राप्तीच्छाहीनेन कृतं यत्तत्कर्म सात्त्विकमुच्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ॥
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

त० टी०—राजसं कर्माह—यत्त्विति । यत्तु कामेप्सुना फलकामनायुक्तेन साहङ्कारेण च । वेति चार्थे । मत्समो याज्ञिकः ज्ञाता वा कोऽन्य इति गर्वयुक्तेन कर्त्रा यत्कर्म क्रियते पुनर्बहुलायासम्—उपक्रमात्समाप्तिपर्यन्तमत्यायासावहं तद्राजसमुदाहृतं विवेचकैः ॥ २४ ॥

म० टी०— यदिति । तु. सात्त्विकान्निनत्ति । कामेप्सुना फलकामेन कर्त्रा साहङ्कारेण प्रागुक्तसङ्गात्मकाऽर्वयुक्तेन च । वाशब्दः समुच्चये । पुनरित्यनियतं यावत्कामनं काम्यावृत्तेः । बहुलायासं सर्वाङ्गोपसंहारेण क्लेशावहं यत्काम्यं कर्म क्रियते तद्राजसमुदाहृतम् । अत्र सर्वविशेषणैः सात्त्विकसर्वविशेषणव्यतिरेको दर्शितः ॥ २४ ॥

शं० टी०—राजसं कर्माह—यत्त्विति । तुशब्दो वैलक्षण्यार्थः । वा चार्थः । पुनरप्यर्थः । कामेप्सुना काम्यत इति कामः कर्मफलं तमाप्तुमिच्छता कामेप्सुना साहंकारेणापि च अहमिदं कर्म करोमि फलयेत्यभिनिवेशोऽहंकारस्तद्रहितः सात्त्विकः पूर्वोक्तस्तयं राजसस्तेनापि च युक्तत्वात्साहंकारोऽहमिदं करोमीत्यभिमानाडम्बरयुक्तस्तेन साहंकारेणापि च कर्त्रा बहुलायासं बाहुभ्यां नद्युत्तरणे यथा तथा बहुलो महानायासः श्रमो यस्मिन्कर्मण्याचमनादौ भवति तद्बहुलायासं यत्तु कर्म क्रियते तत्कर्म राजसं फलकामनया चाहंकारेणापि रज.कार्येण युक्तेनाधिकारिणा क्रियमाणत्वाद्राजसं तत्कर्मेति मुनिभिरुदाहृतमित्यर्थः ॥२४॥

श्री० टी०—राजसं कर्माह—यत्त्विति । यत्तु कर्म कामेप्सुना फलं प्राप्तुमिच्छता साहंकारेण वा मत्समः कोऽन्यः श्रोत्रियोऽस्तीत्येवं निरूढाहंकारयुक्तेन च क्रियते, यच्च पुनर्बहुलायासमतिक्लेशयुक्तं तत्कर्म राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

स० टी०—फलकामेन कर्त्रा यद्दर्पयुक्तेन वा कृतम् ॥ यावत्तत्कामना काम्यावृत्तेरनियतं पुनः ॥ १ ॥ सकलाङ्गोपसंहारात्क्लेशदं काम्यमध्रुवम् ॥ क्रियते कर्म यत्तत्तु राजसं समुदाहृतम् ॥ २ ॥ सर्वैर्विशेषणैरत्र सात्विकादर्शिता भिदा ॥ ३ ॥ २४ ॥

भा० टी०—सात्विकं कर्मोक्त्वा राजसं तदुदाहरति—यत्त्विति । सात्विकाद्वैलक्षण्यद्योतकस्तुः । कामेप्सुना फलेप्सुना साहंकारेण वा पुनः मत्समः कोऽन्यः श्रोत्रियोऽस्तीत्येवमहंकाराभिनिवेशेन । तत्त्वज्ञानवतो निरहंकारस्य कर्मकर्तृत्वमपेक्ष्य साहंकारेणेति न भ्रमितव्यं, तस्य कर्मण्यनधिकृतत्वात् । किं तु मत्सदृशोऽन्यः श्रोत्रियो नास्तीत्यभिमानरहितोऽनात्मविदपि लोके निरहंकार इत्युच्यमानो यस्तमपेक्ष्य साहंकारेण वा पुनरित्युच्यते । बहुलायासं महता आयासेन क्लेशेन निर्वर्त्यं यत् कर्म क्रियते तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

प० टी०—राजसमाह—यत्त्विति । कामेप्सुना फलप्राप्तिमिच्छता साहंकारेण मत्समः कोऽन्यः श्रोत्रियोऽस्तीति निगू(रू)ढाहंकारेण कर्त्रा बहुलायासमतिक्लेशं यथा भवति तथा यत्कृतं तद्राजसम् ॥ २४ ॥

रा० टी०—यत्त्विति । यत्तु कामेप्सुना फलप्राप्तिच्छवता कर्तृत्वाभिमानसहितेन च । पुनःशब्दः समुच्चये । बह्वायासयुक्तं च क्रियते तत्कर्म राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ॥
मोहादारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

त० टी०—तामसकर्माह—अनुबन्धमिति । कृते कर्मण्यनु पश्चाद्बध्यतेऽनिच्छयाऽपि कर्मफलभोगायापद्यते इत्यनुबन्धः दुःखविपादादिस्तं, क्षयं द्रव्यबलादिनाश(शं), हिंसां प्राणिपीडां, पौरुषं स्वस्य कर्मनिवर्तनसामर्थ्यं च अनवेक्ष्य अपर्यालोच्य मोहात्सर्वकर्मसिद्धिहेतुपरमेश्वरायत्तत्वज्ञानाभावात् यत्कर्म आरभते तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

म० टी०—अनुबन्धमिति । अनुबन्धं पश्चाद्भाव्यशुभं, क्षयं शरीरसामर्थ्यस्य धनस्य सेनायाश्च नाशं, हिंसां प्राणिपीडां, पौरुषमात्मसामर्थ्यं च अनपेक्ष्य अपर्यालोच्य मोहात्केवलाविवेकादेवारभ्यते यत्कर्म, यथा दुर्योधनेन युद्धं, तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

श्रं० टी०—तामसं कर्माह—अनुबन्धमिति । अनुबन्धः उत्तरभाव्यनर्थस्तत्कर्मणः फलभूतस्तमनुबन्धं पश्चाद्भाव्यनर्थं, क्षयं यस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे धनक्षयो वा बलक्षयो वा पुण्यक्षयो वा आयुःक्षयो वान्यस्य वा क्षयस्तं क्षयं, हिंसा प्राणिपीडा, कर्मनिर्वाहे स्वसामर्थ्यं च पौरुषमेवं तत्सर्वमप्यनवेक्ष्य बुद्धिबलेनाविचार्य बालवन्मोहादविवेकाद्यत्कर्मारभ्यते तत्कर्म संमोहो विवेकाभावस्तमोगुणस्तेन कार्यत इति तामसमित्युच्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

श्री० टी०—तामसं कर्माह—अनुबन्धमिति । अनुबध्यते इत्यनुबन्धः पश्चाद्भावि शुभाशुभम्, क्षयं वित्तव्ययं, हिंसां परपीडां च पौरुषं स्वसामर्थ्यं वा अनवेक्ष्य अपर्यालोच्य केवलं मोहादेव यत्कर्मारभ्यते तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

१ अनपेक्ष्येति पाठ. । २ यत्र तामसमुच्यत इति भ. पाठ. । ३ आरभत इति त. टी. पाठः ।

स० टी०—पश्चाद्भाव्यशुभं देहसामर्थ्यस्य धनस्य च ॥ विनाशं प्राणिनां पीडामात्मसामर्थ्यमेव च ॥ १ ॥ अपर्यालोच्य मोहाद्यत्केवलादविवेकतः ॥ आरभ्यते जडैः कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २ ॥ २५॥

भा० टी०—राजसं कर्मोदाहृत्य तामसं तदाह—अनुबन्धमिति । अनुबध्यत इत्यनुबन्धः पश्चाद्भावि वस्तु तं, क्षयं शक्त्यर्थादेर्नाशं, हिंसां प्राणिपीडां च पौरुषं पुरुषकारमारब्धसमाप्तिसामर्थ्यमित्येतान्यनुबन्धादीन्यनवेक्ष्यापर्यालोच्य मोहादविवेकाद्यत्कर्म प्रारभ्यते तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

प० टी०—तामसमाह—अनुबन्धमिति । अनुबध्यत इत्यनुबन्धस्तं भावि शुभाशुभं, क्षयं व्ययं, हिंसां स्वपरपीडनं, पौरुषं स्वसामर्थ्यं चानपेक्ष्याविगणय्य केवलं मोहादेव यत्कर्मारभ्यते तत्तामसम् ॥ २५ ॥

रा० टी०—अनुबन्धमिति । अनुबन्धं कर्मान्तरमेवानुबध्यमानं, क्षयं नाशं, हिंसां परपीडां च अनवेक्ष्य पौरुषमात्मनः कर्म सामर्थ्यं चानवेक्ष्य अविमृश्य मोहादहं कर्तेति मिथ्याज्ञानाद्यत्कर्मारभ्यते तत्तामसमुच्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ॥
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

त० टी०—ज्ञेयेषु त्रिष्वशिष्टं कर्म कर्तुस्त्रैविध्यमाह—मुक्तसङ्ग इति त्रिभिः । मुक्तसङ्गः फलाभिलाषरहितः, अनहंवादी कर्तृत्वाभिमानरहितः, धृत्युत्साहसमन्वितः धृतिः कर्मारभ्य यावत्समाप्तिदुःखादिप्राप्तावनुद्वेगः, उत्साह उद्युक्तचित्तत्वं ताभ्यां समन्वितः आरब्धस्य कर्मणः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारोऽविकृतचित्तः । एवंभूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

म० टी०—इदानीं त्रिविधः कर्तोच्यते—मुक्तेति । मुक्तसङ्गस्त्यक्तफलाभिसंधिः, अनहंवादी कर्ताहमिति वदनशीलो न भवति स्वगुणश्लाघाविहीनो वा, धृतिर्विघ्नाद्युपस्थितावपि प्रारब्धापरित्यागहेतुरन्तःकरणवृत्तिविशेषः, धैर्यमुत्साह इदमहं करिष्याम्येवेतिनिश्चयात्मिका बुद्धिर्धृतिहेतुभूता ताभ्यां संयुक्तः धृत्युत्साहसमन्वितः, कर्मणः क्रियमाणस्य फलस्य सिद्धावसिद्धौ च हर्षशोकाभ्यां हेतुभ्यां यो विकारो वदनविकासम्लानत्वादिस्तेन रहितः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः केवलं शास्त्रप्रमाणप्रयुक्तो न फलरागेण, अत एवंभूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

शं० टी०—गुणभेदेन कर्तृभेदं वदन्सात्त्विककर्तारमाह—मुक्तसङ्ग इति । मुक्तसङ्गः मुक्तो मनसा संत्यक्तः सङ्गः फलाभिसंधिलक्षणः कामो येन स मुक्तसङ्गः निष्काम इत्यर्थः । अनहंवादी संकल्पेऽप्यहमिदं करोमीति वदनशीलो न भवतीत्यनहंवादी । अनहंमानित्वेऽपीदमुपलक्षणम् । धृत्युत्साहसमन्वितः धृतिः अर्थव्ययदेहायासादौ धैर्यमुत्साहश्चिकीर्षावेगस्ताभ्यां सम्यगन्वितः । सिद्ध्यसिद्ध्योरारब्धस्य कर्मणः सिद्धावसिद्धौ च निर्विकारः सम्यगीश्वरार्पितनियन्तृत्वादीशोऽच्छेत्ति हर्षविषादशून्य इत्यर्थः । एवं सत्त्वगुणसंपन्नो यः कर्ता कर्मणां स सात्त्विक इति ऋषिभिरुच्यत इत्यर्थः । एवंगुणविशिष्टत्वं सात्त्विकस्य लक्षणमिति सूचितं भवति ॥ २६ ॥

श्री० टी०—कर्तारं त्रिविधमाह—मुक्तसङ्ग इति त्रिभिः । मुक्तसङ्गस्त्यक्ताभिनिवेशः, अनहंवादी गर्वोक्तिरहितः, धृतिर्धैर्यम्, उत्साह उद्यमः ताभ्यां समन्वितः संयुक्तः, आरब्धस्य कर्मणः सिद्धावसिद्धौ च निर्विकारो हर्षविषादशून्यः, एवंभूतः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

स० टी०—इदानीं त्रिविधः कर्ता प्रोच्यते हरिणा त्रिभिः ॥ फलाभिसंधिशून्यो योऽहंकर्तेति मतिं विना ॥ १ ॥ संत्यक्तस्वगुणश्लाघोऽनहंवादीति वेरितः ॥ विघ्नाद्युपस्थितौ सत्यां प्रारब्धात्यागकारणम्

॥ २ ॥ चित्तवृत्तिविशेषो हि धृतिर्धैर्यमितीर्यते ॥ अवश्यं साधयिष्यामीत्येवं धीर्निश्चयात्मिका ॥ ३ ॥ धृतिकारणमुत्साहस्ताभ्यां संयुक्त उत्तमः ॥ कर्मणः क्रियमाणस्य सिद्ध्यसिद्ध्योः फलस्य यः ॥ ४ ॥ विकारो हर्षशोकाभ्यां विकासायात्मको मुखे ॥ तेन शून्यश्च शास्त्रेण प्रयुक्तो न तु भगवान् ॥ ५ ॥ एवंभूतो महाभागः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ ६ ॥ २६ ॥

भा० टी०—अधुना कर्तृत्रैविध्यं विभजन्नादौ सात्त्विकं कर्तारमाह—मुक्तेति । मुक्तसङ्गो मुक्तः परित्यक्तः सङ्गः फलाभिसंधिर्येन ॥ अनहंवादी नाहं वदनशीलः कर्ताहमेतादृशगुणसंपन्नः सर्वोत्तम इति वदनशीलो न भवति, धृतिर्विघ्नाद्युपस्थानेऽपि कार्यादेर्धारणं धैर्यमिति यावत्, उत्साह उद्यमस्ताभ्यां सम्यगन्वितः । कदापि कथमपि धृत्युत्साहरहितो न भवतीत्यर्थः । सिद्ध्यसिद्ध्योः क्रियमाणस्य कर्मणः फलसिद्धौ तदसिद्धौ च निर्विकारः हर्षविषादशून्यः केवलं शास्त्रप्रमाणप्रयुक्तो न फलरागादिना यः कर्ता स सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

प० टी०—अथ त्रिविधं कर्तारमाह—मुक्तसङ्ग इत्यादित्रिभिः । मुक्तसङ्गस्त्यक्ताभिनिवेशः, अनहंवादी गर्वश्लाघारहितः, धृतिर्धैर्यमुत्साहोऽनुद्वेगस्ताभ्यां समन्वितः सिद्धावसिद्धौ निर्विकारो हर्षविषादरहितः एवंभूतः कर्ता सात्त्विकः ॥ २६ ॥

रा० टी०—प्राक् प्रतिज्ञातं गुणत्रयकर्तृत्रैविध्यमाह—मुक्तेत्यादित्रिभिः । मुक्तसङ्गः फलस्नेहहीनः सर्वस्य भगवदधीनत्वनिश्चयादेवाहं करोमीति न वदतीत्यनहंवादी । आत्मकर्तृत्वाभिमानहीन इति यावत् । धृतिः कर्मण्यवर्जनीयदुःखसहनम्, उत्साहः कर्मकातरता ताभ्यां समन्वितः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः फलस्य सिद्धावसिद्धौ वा हर्षविषादहीनः स कर्ता सात्त्विक उच्यत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ॥
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

त० टी०—राजसकर्तारमाह—रागीति । रागोऽस्यास्तीति रागी इन्द्रियार्थेषु प्रीतिमान्, कर्मफलप्रेप्सुः प्रकर्षेण कर्मफलाकाङ्क्षी, लुब्धः आवश्यकेऽपि द्रव्यव्ययं कर्तुमशक्तः प्रत्युत परस्वाभिलाषी, हिंसात्मकः परवृत्तिहरणं हिंसा तदात्मकस्तत्स्वभावः, अशुचिः कर्मापेक्षितशौचवर्जितः कर्मफललाभालाभयोर्हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

म० टी०—रागीति । रागी कामाद्याकुलचित्तः, अत एव कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलार्थी, लुब्धः परद्रव्याभिलाषी धर्मार्थे स्वद्रव्यत्यागासमर्थश्च, स्वाभिप्रायप्रकटनेन परवृत्तिच्छेदनं हिंसा तदात्मकस्तत्स्वभावः, स्वाभिप्रायाप्रकटने तु नष्कृतिक इति भेदः, अशुचिः शास्त्रोक्तशौचहीनः, सिद्ध्यसिद्ध्योः कर्मफलस्य हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

श्रीं० टी०—राजसकर्तारमाह—रागीति । रागी कर्मफलापेक्षत्वात्तत्साधनेषु कर्मसु रागोऽस्यास्तीति रागी । यद्वा रागो विषयभोगेच्छा सोऽस्यास्तीति रागी, तत एव कर्मफलप्रेप्सुः कर्मणो फलं पुत्रकलत्रधनादिसंपत्तिं स्वर्गं च प्राप्तुमिच्छुः, स्वेन्द्रियतर्पणशीलत्वाल्लुब्धः परस्वाभिलाषी देवपितृयज्ञादौ धनत्यागासहिष्णुर्वा लुब्धः, हिंसात्मकः परपीडनशीलः, अशुचिः शास्त्रोक्तशौचरहितः, कर्मणः सिद्ध्यसिद्ध्योर्लाभालाभयोर्वा हर्षशोकान्वितो यः कर्मणां कर्ता स राजसः उक्तलक्षणे रजोगुणैर्विशिष्टत्वाद्राजस इति मुनिभिः परिकीर्तित इत्यर्थः । रागित्वादि राजसस्य लक्षणमिति सूचितं भवति ॥ २७ ॥

श्री० टी०—राजसं कर्तारमाह—रागीति । रागी पुत्रादिप्रीतिमान्कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलकामी, लुब्धः

परस्वाभिलाषी, हिंसात्मको मारकस्वभावः, अशुचिर्विहितशौचशून्यः, लाभालाभयोर्हर्षशोकाभ्यामन्वितः, कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

स० टी०—कामाद्याकुलचित्तो यः फलार्थी कर्मणः सदा ॥ परद्रव्याभिलाषी स्वं तीर्थेऽपि त्यक्तुमक्षमः ॥ १ ॥ स्वाशयोद्घाटनेनान्यवृत्तिच्छेदनशीलवान् ॥ शास्त्रोक्तशौचरहितः सिद्ध्यसिद्ध्योः फलस्य च ॥ २ ॥ हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ ३ ॥ २७ ॥

भा० टी०—सात्त्विककर्तारमुदाहृत्य राजसं तमाह—रागीति । रागी रागवान्, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफल-पशुस्वर्गाद्यर्थी, लुब्धः परद्रव्येषु संजाततृष्णः तीर्थादौ स्वद्रव्यापरित्यागी च, हिंसात्मकः वृत्तिच्छेदादिना परपीडाकरस्वभावः, अशुचिर्बाह्यान्तःशौचवर्जितः, इष्टप्राप्तावनिष्टवियोगे च हर्षः अनिष्टप्राप्ताविष्टवियोगे च शोकः ताभ्यां हर्षशोकाभ्यामन्वितो युक्तः तस्यैव कर्मणः संपत्तिविपत्त्योर्जाताभ्यां हर्षशोकाभ्यामन्वितः इति वा एवंविधो यः कर्ता स राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

प० टी०—राजसमाह—रागीति । रागी पुत्रादिप्रीतिमान्, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलकामी, लुब्धः स्वर्ग-सुखलम्पटः सन् हिंसात्मको हिंसायामात्मा मनो यस्याशुचिः शौचरहितः लाभालाभयोर्हर्षशोकाभ्यामन्वितः कर्ता राजसः ॥ २७ ॥

रा० टी०—रागीति । रागी कीर्त्यादिकामः । कर्मफलप्राप्तीच्छावान् । लुब्धः कर्मण्यपेक्षितद्रव्यव्यय-हीनः । हिंसात्मकः हिंसास्वभावः । अशुचिः द्रव्यादिषु शुद्धिहीनः । कार्यसिद्ध्यसिद्ध्योः हर्षशोकान्वितः स कर्ता राजसः ॥ २७ ॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ॥
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

त० टी०—तामसं कर्तारमाह—अयुक्त इति । अयुक्तः अनवहिततया कर्मानुष्ठानायोग्यः, प्राकृतः कर्तव्यविवेकहीनः, स्तब्ध आरब्धेऽपि कार्ये शिथिलः, शठः वञ्चनपरः, नैष्कृतिकः परवृत्ति-च्छेदनाभिप्रायेण धर्मादि प्रदर्श्य स्वार्थसाधकः, अलसः आवश्यकेऽपि कर्मण्यनुद्यमशीलः, दीर्घसूत्री च एकद्विदिवसेन साध्यं यत्तन्मासेनापि न साधयति । एवंभूतो यः कर्ता स तामस उच्यते ॥२८॥

म० टी०—अयुक्त इति । अयुक्तः सर्वदा विषयापहृतचित्तत्वेन कर्तव्येष्वनवहितः, प्राकृतः शास्त्रासंस्कृतबु-द्धिर्बालसमः, स्तब्धो गुरुदेवतादिष्वप्यनम्र, शठः परवञ्चनार्थमन्यथा[१] ज्ञानमप्यन्यथावादी, नैष्कृतिकः स्व-स्मिन्नुपकारित्वभ्रममुत्पाद्य परवृत्तिच्छेदनेन स्वार्थपरः, अलसः अवश्यकर्तव्येष्वप्यप्रवृत्तिशीलः, विषादी सत-तमसंतुष्टस्वभावत्वेनानुशोचनशीलः, दीर्घसूत्री चिरन्तरशङ्कासहस्रकवलितान्तःकरणत्वेनातिमन्थरप्रवृत्तिर्यदद्य कर्तव्यं तन्मासेनापि करोति न वेत्येवंशीलश्च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

शं० टी०—तामसकर्तारमाह—अयुक्त इति । अयुक्तोऽस्थिरचित्तश्चञ्चल इत्यर्थः । प्राकृतः पामरः कार्याकार्यज्ञानविहीन इत्यर्थः । स्तब्धोऽनम्रः महत्सु विनयशून्य इत्यर्थः । शठो गूढविप्रियकारी सर्ववञ्चक इत्यर्थः । नैकृतिकः निकृतिर्मनोवाक्कायैः परतिरस्करणं तत्प्रवणोऽनैकृतिकः परावमानीत्यर्थः । अलसो मन्दः कार्येष्ववश्यकर्तव्येष्वपि प्रवृत्तिरहितः श्रद्धाशून्य इत्यर्थः । विषादी क्लिष्टचित्तः इष्टे वस्तुनि लब्धेऽपि तृप्तिरहितत्वादीषदपि संतोषरहित इत्यर्थः । दीर्घसूत्री च सद्यः कर्तव्यमपि कार्यं पक्षेण मासेन वा यः

१ भयमादितश्चेता—पा० डि० पु० ।

करोति स दीर्घसूत्री चिरकारीत्यर्थः । य एवंलक्षणः कर्मकर्ता स तामसस्तमोद्रेकेण जडबुद्धित्वात्तामस इत्युच्यते । अयुक्तत्वादिकं तामसस्य लक्षणमिति सूचितं भवति ॥ २८ ॥

श्री० टी०–तामसं कर्तारमाह–अयुक्त इति । अयुक्तोऽनवहितः, प्राकृतो विवेकशून्यः, स्तब्धोऽनम्रः, शठः शक्तिगूहनकारी, नैष्कृतिकः परावमानी, अलसोऽनुद्यमशीलः, विषादी शोकशीलः, यदद्य वा श्वो वा कार्यं तन्मासेनापि न संपादयति यः स दीर्घसूत्री, एवंभूतः कर्ता तामस उच्यते। कर्तृत्रैविध्येनैव ज्ञातुरपि त्रैविध्यमुक्तं भवति । कर्मत्रैविध्येन च ज्ञेयस्यापि त्रैविध्यमुक्तं वेदितव्यम् । बुद्धित्रैविध्येन करणस्यापि त्रैविध्यमुक्तं भविष्यति ॥ २८ ॥

म० टी०–विषयाकृष्टचित्तत्वात्कर्तव्येष्वसमाहितः ॥ शास्त्रासंस्कृतबुद्धित्वाद्बालतुल्योऽतिपामरः ॥ १ ॥ अनम्रो गुरुदेवादौ परवञ्चनतत्परः ॥ स्वस्मिन्नौत्कृष्ट्यमुत्पाद्य परवृत्तिविघातकः ॥ २ ॥ अवश्यमेव कर्तव्येऽप्यप्रवृत्तिस्वभावकः ॥ सदा संतुष्टशीलत्वादनुशोचनतत्परः ॥ ३ ॥ सदा शङ्कासहस्रेण मन्थरचित्ततयाऽलसः ॥ अतिमन्दप्रवृत्तिः श्वो वाद्यकार्यं करोति न ॥ ४ ॥ मासेनापि य एवं स्यात्कर्ता प्रोक्तः स तामसः ॥ ५ ॥ २८ ॥

भा० टी०–एवं राजसं कर्तारमुदाहृत्य तामसं तमाह–अयुक्त इति । अयुक्तो विषयेषु विक्षिप्तचित्तत्वादसमाहितः, प्राकृतोऽत्यन्तासंस्कृतबुद्धिर्बालिशः, स्तब्धः कर्मेवैदण्डवन्न नमति सर्वदाऽनम्रो मन्दस्वभावः, शठः शक्तिगूहनकारी मायावी, नैकृतिकः परविच्छेदनपरः, अलसः कर्तव्येष्वप्रवृत्तिशीलः, विषादी सर्वदा खिन्नस्वभावः, दीर्घं सूत्रयितुं शीलमस्येति दीर्घसूत्री कर्तव्यानां दीर्घप्रसारणस्वभावः–एवं क्रियमाणे सत्यनिष्टमिदं कथंचिदापद्येत, यदा पुनरेवं क्रियते तदा त्वनिष्टमेव संभावनोपनीतमित्येवं शङ्कासहस्रव्याप्तचित्तत्वेनातिमन्थरप्रवृत्तिशीलः यदद्य श्वो वा कर्तव्यं तन्मासेनापि न करोति एवंविधो यः कर्ता स तामस उच्यते ॥ २८ ॥

प० टी०–तामसमाह–अयुक्त इति । अयुक्तो नियमरहितः, प्राकृतो विवेकशून्यः, स्तब्धोऽविनीतः, शठो मायावी, नैष्कृतिकः परारम्भसूचकः, अलसः किंचिन्न करोति, विषादी क्लेशव्ययादिना पश्चात्तापी, सूचनात्सूत्रं दीर्घं सूत्रं यस्मिन् देशकालाद्यनेकविधां सूचनां कृत्वाद्य श्वः परश्वः कर्तव्यमिति विलम्बयति स तामसः कर्ता ॥ २८ ॥

रा० टी०–अयुक्त इति । अयुक्तः भगवदर्पणादियोगरहितः । प्रकृष्टो अकृतः प्राकृतः 'भगवद्भक्तिसामर्थ्यादप्रकृष्टो न कृतो हि यः । स प्राकृतः' इति स्मृतेः । स्तब्धः आत्मसंभावनया क्वाप्यनम्रः । शठः गूढरूपेण कर्मकारी । नैकृतिको नीचकर्मकृत् । प्राप्तकालेऽपि कर्मण्युदासीनोऽलसः । विषादी सर्वव्यापारोपरतिहेतुमनोदौर्बल्यवान्, प्राप्तेऽपि कर्मकाले पश्चात्कुर्यामिति ध्यायन्वा । परकृतदोषं दीर्घकालकृतमप्यनुचितं सूचयन्वा दीर्घसूत्री । स तामसः कर्तेत्यर्थः ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ॥
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ॥ २९ ॥

त० टी०–एवमनुष्ठेयस्य कर्मणो ज्ञानतः स्वरूपतः कर्तृतश्च गुणतस्त्रैविध्यमुक्तमिदानीं सर्वव्यवहारासाधारणकारणभूताया बुद्धेर्धृतेश्च गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं प्रतिजानीते–बुद्धेरिति । बुद्धिरध्यवसायरूपा या तस्या धृतेश्च उद्वेगहेतौ प्राप्तावपि चित्तवृत्तेः स्थैर्यं धृतिस्तस्याश्च सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधं भेदमशेषेण निःशेषेण हे धनंजय ! पृथक्त्वेन मया प्रोच्यमानं यथावत्त्वं शृणु ॥ २९ ॥

म० टी०—तदेवं 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः' इति व्याख्यातम्। संप्रति धृत्युत्साहसमन्वित इत्यत्र सूचितयोर्बुद्धिधृत्योस्त्रैविध्यं प्रतिजानीते—बुद्धेरिति। बुद्धेरध्यवसायादिवृत्तिमत्या धृतेश्च तद्वृत्तेः सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधमेव भेदं मया त्वां प्रति स्वच्छालस्येन परमाप्तेन प्रोच्यमानमशेषेण निरवशेषं पृथक्त्वेन हेयोपादेयविवेकेन शृणु श्रोतुं सावधानो भव। हे धनञ्जयेति दिग्विजये प्रसिद्धं महिमानं सूचयन् प्रोत्साहयति। अत्रेदं चिन्त्यते—किमत्र बुद्धिशब्देन वृत्तिमात्रमभिप्रेतं किंवा वृत्तिमदन्तःकरणम्? प्रथमे ज्ञानं पृथङ्न वक्तव्यम्। द्वितीये कर्ता पृथङ्न वक्तव्यः, वृत्तिमदन्तःकरणस्यैव कर्तृत्वात्। ज्ञानधृत्योः पृथक्कथनवैयर्थ्यं च। न चेच्छादिपरिसंख्यार्थं तत्। वृत्तिमदन्तःकरणत्रैविध्यकथनेन सर्वासामपि तद्वृत्तीनां त्रैविध्यस्य विवक्षितत्वात्। उच्यते—अन्तःकरणोपहितश्चिदाभासः कर्ता। इह तूपहितान्निष्कृष्य उपाधिमात्रं करणत्वेन विवक्षितं, सर्वत्र करणोपहितस्य कर्तृत्वात्। यद्यपि च "कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" इति श्रुत्यनूदितानां सर्वासामपि वृत्तीनां त्रैविध्यं विवक्षितं, तथापि धीधृत्योस्त्रैविध्यं पृथगुक्तं ज्ञानशक्तिक्रियाशक्त्युपलक्षणार्थं न तु परिसंख्यार्थमिति रहस्यम्॥२९॥

शं० टी०—कर्तृवत्करणस्यापि त्रैविध्यं सूचयितुं बुद्ध्यादेस्त्रैविध्यं बोधयितुमाह—बुद्धेरिति। यया पदार्थतत्त्वमध्यवसाय कार्ये पुमान्प्रवर्तते तस्या बुद्धेः अन्तःकरणवृत्तिविशेषस्य धृतेश्च वृत्तिविशेषस्य। चकारः समुच्चयार्थः। एवकारोऽन्यव्यवच्छेदार्थः। पृथक्प्रत्येकं गुणतः सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिविधं भेदमशेषेण साकल्येन मयोच्यमानं शृणु। यद्यपि पूर्वं ज्ञानस्य त्रैविध्यं प्रतिपादितं, तथापि ज्ञानं वृत्तिसामान्यं बुद्धिस्तु वृत्तिविशेषः धृतिरपि वृत्तिविशेष एव ततो न पुनरुक्तिप्रसङ्गः॥२९॥

श्री० टी०—इदानीं बुद्धेर्धृतेश्चापि त्रैविध्यं प्रतिजानीते—बुद्धेरिति। स्पष्टोऽर्थः॥२९॥

स० टी०—ज्ञानं कर्म च कर्ता च तदेवं त्रयमीरितम्॥ इदानीं प्रतिजानीते त्रैविध्यं बुद्धिधैर्ययोः॥१॥ बुद्धेरध्यवसायादिवृत्तिमत्या धृतेस्तथा॥ सत्त्वादिगुणतो भेदं त्रिविधं त्वां प्रति स्फुटम्॥२॥ प्रोच्यमानं मयाप्तेन हेयादेयविवेकतः॥ सावधानो भव श्रोतुं साकल्येन धनञ्जय॥३॥ बुद्ध्युपाधिश्चिदाभासः कर्ता प्रोक्तः पुरात्र तु॥ करणत्वेन निष्कृष्योपाधिमात्रं विवक्षितम्॥४॥२९॥

भा० टी०—एवं ज्ञानस्य बुद्धिवृत्तेः, कर्मणः क्रियायाः, कर्तुः बुद्ध्युपहितस्य च त्रैविध्यमुक्त्वा वृत्तिमत्या बुद्धेस्तद्वृत्तेश्च धृत्याख्यायास्त्रैविध्यं वक्तुमारभते—बुद्धेरिति। बुद्धेर्वृत्तिमत्या धृतेश्च तद्वृत्तेर्गुणतः सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधभेदं मया प्रोच्यमानं कथ्यमानमशेषेण निःशेषतः पृथक्त्वेन हेयोपादेयविवेकतः शृणु श्रोतुं सावधानो भव। दिग्विजये मानुषं दैवं च प्रभूतं धनं यया बुद्ध्या धृत्या च त्वं जितवानसि सा त्वयाऽन्यैश्च धनादिसमस्तपुरुषार्थसिद्धये विजयहेतुभूता उपादेयेति बोधनाय मया प्रोच्यमानं बुद्धेर्धृतेश्च त्रिविधं भेदं शृण्विति द्योतनाय संबोधयति—धनंजयेति॥२९॥

प० टी०—अथ बुद्धेर्धृतेश्च त्रैविध्यमाह—बुद्धेरिति। स्पष्टार्थम्॥२९॥

रा० टी०—एवं ज्ञानकर्मकर्तॄणां गुणकृतं त्रैविध्यं निरूप्याधुना बुद्धेः धृतेश्च गुणतस्त्रैविध्यं प्रतिज्ञापूर्वमाह—बुद्धेरित्यादिभिः सप्तभिः। गुणतः सत्त्वादिगुणभेदतो निमित्तात्त्रिविधमेव बुद्धेर्भेदं धृतेश्च भेदं पृथक्त्वेन मया प्रोच्यमानमशेषेण शृणु। श्रुत्वा निष्ठा कुरु॥२९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये॥
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ! सात्त्विकी॥३०॥

त० टी०—तत्र त्रिविधबुद्धिमध्ये प्रथमं सात्त्विकीं बुद्धिमाह—प्रवृत्तिं चेति। प्रवृत्तिं त्रिवर्गसाधनभूतं

धर्मे, निवृत्तिं मोक्षसाधनभूतं धर्ममथवा प्रवृत्तिः स्ववर्णाश्रमोचिते धर्मे, निवृत्तिः परोचिते धर्मे कार्याकार्ये इदमस्मिन् देशे काले च कार्यं कर्तव्यमिदमस्मिन् देशे काले च न कर्तव्यमिति । भयाभये असत्कार्ये प्रवृत्तिर्भयं, सत्कार्ये प्रवृत्तिरभयं, बन्धं बन्धोपायं विषयाभिमुख्यं, मोक्षं मोक्षोपायं विषयवैराग्यं, च या वेत्ति हे पार्थ ! सा बुद्धिः सात्त्विकी । बुद्धेः करणत्वेन यया वेत्तीति वक्तव्ये तस्या वेदनासाधारणहेतुत्वात् कर्तृविवक्षया साध्वसिः छिनत्तीतिवत् या वेत्तीत्यविरुद्धम् ॥ ३० ॥

म० टी०—तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः—प्रवृत्तिमिति । प्रवृत्तिं कर्ममार्गं, निवृत्तिं संन्यासमार्गं, कार्यं प्रवृत्तिमार्गे कर्मणां करणम्, अकार्यं निवृत्तिमार्गे कर्मणामकरणं, भयं प्रवृत्तिमार्गे गर्भवासादिदुःखं, अभयं निवृत्तिमार्गे तदभावं, बन्धं प्रवृत्तिमार्गे मिथ्याज्ञानकृतं कर्तृत्वाद्यभिमानं, मोक्षं निवृत्तिमार्गे तत्त्वज्ञानकृतमज्ञानतत्कार्याभावं च या वेत्ति करणे कर्तृत्वोपचारात् यया वेत्ति कर्ता बुद्धिः सा प्रमाणजनितनिश्चयवती हे पार्थ ! सात्त्विकी । बन्धमोक्षयोरन्ते कीर्तनात्तद्विषयमेव प्रवृत्त्यादि व्याख्यातम् ॥ ३० ॥

धं० टी०—सत्त्वबुद्धेर्लक्षणमाह—प्रवृत्तिमिति । प्रवृत्तिं च श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितं धर्मं, निवृत्तिं ताभ्यां निषिद्धमधर्मं च कार्याकार्ये कार्यं देशकालादेरानुकूल्ये कर्तव्यं प्रातिकूल्ये त्यक्तव्यमकार्यम् । भयाभये भयं भयकारणमनर्थम्, अभयं भयाभावकारणमनर्थाभावम्, बन्धं बन्धहेतुं मोक्षं मोक्षहेतुं च बुद्धेर्ज्ञानकर्तृत्वासंभवात्करणार्थता । यया बुद्धया पदार्थतत्त्वनिश्चयकारिण्या धर्मादिकं पुरुषोऽधिकारी विजानाति सा बुद्धिः सात्त्विकी । यद्वा बन्धं मोक्षं चेत्यत्र बन्धमोक्षयोरेव प्रतिपाद्यत्वेन प्रवृत्त्यादिपदानां तद्विशेषणत्वेनान्वयो युक्तः, प्रवृत्ति—प्रवृत्तिः सत्त्वबुद्धेः कारणभूतः कर्ममार्गः यत्र प्रवृत्तः शुद्धात्मा सन्मोक्षाय कल्पते तां प्रवृत्तिं च, निवृत्तिं च—निवृत्तिर्निष्कर्मत्वमार्गः संन्यासो यत्र प्रवृत्तः संसारबन्धान्मुक्तो भवति तां निवृत्तिं [illegible] । चत्रयं समुच्चयार्थम् । कार्याकार्ये कार्यमारुरुक्षोः कर्मणि विषये काले काले यत्कर्तव्यं तत्कार्यम्, तथाऽकार्यमारूढस्य यदकर्तव्यं त्यक्तव्यं तदकार्यं ते चोभे कार्याकार्ये । भयाभये यस्माद्बिभेति तद्भयमज्ञानं संसारकारणं यस्मादभयं भयाभावः सिध्यति तदभयं ज्ञानं मोक्षकारणं ते चोभे भयाभये बन्धमध्यासलक्षणमज्ञानकार्यं मोक्षमध्यासाभावलक्षणं ज्ञानकार्यं च यया बुद्धया शुद्धात्मा विचक्षण एतत्सर्वं क्षीरनीरवद्विभज्य विजानाति अज्ञस्येदं साधनं तज्ज्ञस्येदं साधनमारुरुक्षोरिदं कर्तव्यमारूढस्येदं त्यक्तव्यमिदमज्ञानमिदं ज्ञानमयं बन्धोऽयं मोक्ष इति स्वाधिकारानुरूपेण साध्यसाधनभेदं बन्धं मोक्षं च सम्यग्यया वेत्ति पुरुषः सा बुद्धिः सात्त्विकी बहुजन्मसुकृतपरिपाकसमुत्पन्नशुद्धसत्त्वकार्यत्वात्सात्त्विकीति बुधैरुच्यते इत्यर्थः । एतेन सात्त्विक्येव बुद्धिर्मुमुक्षोः प्रयत्नेन संपादनीयेति सूचितं भवति ॥ ३० ॥

श्री० टी०—तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह—प्रवृत्तिं चेति त्रिभिः । प्रवृत्तिं च धर्मे, निवृत्तिं चाधर्मे यस्मिन् देशे काले च यत्कार्यमकार्यं च भयाभये कार्याकार्यनिमित्तावर्थानर्थौ कथं बन्धः कथं वा मोक्ष इति या बुद्धिरन्तःकरणं वेत्ति सा सात्त्विकी । यया पुमान् वेत्तीति वक्तव्ये करणे कर्तृत्वोपचारः काष्ठानि पचन्तीतिवत् ॥ ३० ॥

स० टी०—तत्रादौ भगवानाह बुद्धेस्त्रैविध्यमादरात् ॥ प्रवृत्तिं कर्ममार्गं च बन्धहेतुतया मतम् ॥ १ ॥ निवृत्तिं कर्मसंन्यासमार्गं मोक्षैकसाधनम् ॥ प्रवृत्तिमार्गे करणं कर्मणामधिकारिणः ॥ २ ॥ निवृत्तौ कर्मणां त्यागः प्रवृत्तौ भयमामृतम् ॥ निवृत्तावभयं बन्धं प्रवृत्तौ भ्रान्तिजं नृणाम् ॥ ३ ॥ मोक्षं निवृत्तिमार्गे वै तत्त्वज्ञानप्रसादजम् ॥ वेत्ति बुद्धिर्यथावद्या सात्त्विकी सा मतिः स्मृता ॥ ४ ॥ या वेत्तीत्यत्र करणे कर्तृत्वमुपचारतः ॥ यया वेत्ति प्रमाणोत्थबुद्धया कर्तेति चार्थतः ॥ ५ ॥ प्रवृत्तावस्ति कर्तव्यं विधिकिंकरता यतः ॥ तत्रास्ति भयमत्यन्तं बन्धस्तत्र दृढो भवेत् ॥ ६ ॥ निवृत्तौ नास्ति कर्तव्यं विध्यादेरप्यभावतः ॥ अभयं तत्र शान्तस्य मोक्षः स्यादात्मनि स्थितिः ॥ ७ ॥ ३० ॥

भा० टी०–तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यं विभजन्नादौ सात्त्विकीं बुद्धिमुदाहरति–प्रवृत्तिमिति । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च यस्मिन्वाक्ये बन्धमोक्षावुच्येते तस्मिन्नेव प्रवृत्तिनिवृत्त्योरुक्तत्वात् । कर्ममार्गस्य बन्धहेतुत्वात् निवृत्तिमार्गस्य मोक्षहेतुत्वात् च प्रवृत्तिनिवृत्ती कर्मसंन्यासमार्गावित्यवगम्यते । तथाच प्रवृत्तिः प्रवर्तनं बन्धहेतुः कर्ममार्गः, निवृत्तिः संन्यासहेतुर्मोक्षमार्गः, प्रवृत्तिं शास्त्रविहितविषया निवृत्तिं तत्प्रतिषिद्धविषयामित्यपि बोध्यम् । कार्याकार्ये कर्तव्याकर्तव्ये देशकालाद्यपेक्षया दृष्टादृष्टार्थानां कर्मणा करणाकरणे । बिभेत्यस्मादिति भयं भयकारणं तद्विपरीतमभयमभयकारणं भयं चाभयं च भयाभये । भयं दुःखमभयं सुखमिति तु सात्त्विक्या बुद्धेर्दुःखानुभवस्यायोग्यत्वं, भयं प्रवृत्तिमार्गे अभयं निवृत्तिमार्गे इति विवक्षायामध्याहारदोषं चाभिप्रेत्याचार्यैर्न व्याख्यातम् । बन्धं सहेतुकं मोक्षं च सहेतुकं या वेत्ति सा बुद्धिः सात्त्विकी, करणे कर्तृत्वोपचारात्प्रथमा । सात्त्विक्या बुद्ध्या युक्तायाः पृथायाः पुत्रस्त्वमपि तथैव भवितुं योग्योऽसीति सूचनार्थं पार्थेति संबोधनम् ॥ ३० ॥

प० टी०–तत्र प्रथमं बुद्धेस्त्रैविध्यमाह–प्रवृत्तिं चेति त्रिभिः । शास्त्रविहितविषया देशकालोचितां च धर्मे प्रवृत्तिं निवृत्तिमधर्मे देशकालानुसारं वयोवृत्तानुसारं वा कार्यमकार्यमिति अकार्ये भयं कार्येऽभयं बन्धं संसारबन्धं मोक्षमुद्धारप्रकारं च या वेत्ति सा बुद्धिः सात्त्विकी ॥ ३० ॥

रा० टी०–बुद्धेर्भेदमाह–प्रवृत्तिमित्यादित्रिभिः । प्रवृत्तिं संसारहेतुप्रवृत्तिहेतुं धर्मं च । कार्याकार्ये कर्तव्यमकर्तव्यं च । तन्निमित्तभयाभये बन्धमोक्षप्रकारं च या बुद्धिर्वेत्ति सा सात्त्विकीत्यर्थः । कर्तृत्वोपचाराद्या वेत्तीत्युक्तं । यया वेत्ति पुमानित्यर्थः ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ॥
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥ ३१ ॥

त० टी०–राजसीं बुद्धिमाह–ययेति । यया पूर्वोक्तं धर्ममधर्मं च कार्यमवश्यकर्तव्यमकार्यमुपेक्षणीयं च देशकालादिषु यथावन्न जानाति हे पार्थ ! सा बुद्धिः राजसी ॥ ३१ ॥

म० टी०–ययेति । धर्मं शास्त्रविहितं, अधर्मं शास्त्रप्रतिषिद्धं, अदृष्टार्थमुभयं कार्यं चाकार्यं च दृष्टार्थमुभयमयथावदेव प्रजानाति यथावन्न जानाति, किं स्विदमित्थं न वेति चानध्यवसायं संशयं वा भजते यया बुद्ध्या सा राजसी बुद्धिः । अत्र तृतीयानिर्देशादन्यत्रापि करणत्वं व्याख्येयम् ॥ ३१ ॥

शं० टी०–राजसीं बुद्धिमाह–ययेति । धर्मं विहितमधर्मं प्रतिषिद्धं च कार्यं चाकार्यं च देशकालादेरानुकूल्ये प्रातिकूल्ये च कर्तव्याकर्तव्ये कर्मणि चकाराद्धर्मानर्थनिदानसर्वानयथावदयथार्थवद्यावदर्थानिर्णयेनासाकल्येन संदेहेन यया बुद्ध्या प्रजानाति पुरुषः सा बुद्धिः राजसी रजोगुणसंपन्नत्वाद्राजसीत्युच्यते ॥३१॥

श्री० टी०–राजसीं बुद्धिमाह–ययेति । अयथावत्संदेहास्पदत्वेनेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ३१ ॥

स० टी०–दृष्टेण विहितं धर्मं चाधर्मं शास्त्रनिन्दितम् ॥ दृष्टार्थं वाप्यदृष्टार्थं करणाकरणे तथा ॥ १ ॥ यथावन्न विजानातीदमित्थं वा न वेत्ति च ॥ अनिश्चयं संशयं वा यया बुद्ध्या भजत्यसौ ॥ २ ॥ बुद्धिः सा राजसी यत्नाच्छोधनीया मुमुक्षुभिः ॥ ३ ॥ ३१ ॥

भा० टी०–सात्त्विकीं बुद्धिमुक्त्वा राजसीं तामाह–ययेति । यया बुद्ध्या धर्मं शास्त्रचोदितम् अधर्मं च तत्प्रतिषिद्धं कार्यं च कर्तव्यमकार्यमेव चाकर्तव्यम् अयथावत् न यथावत्प्रजानाति सर्वतो निर्णयेन न प्रजानाति सा बुद्धिः पार्थ, राजसी । पृथापुत्रस्य तव नेयं युक्तेति संबोधनाशयः ॥ ३१ ॥

प० टी०–राजसीमाह–ययेति । अयथावत् संदेहास्पदत्वेनेत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ३१ ॥

रा० टी०–ययेति । धर्मादिकं यया बुद्ध्या अयथावत्प्रजानाति नियमेन यथावन्न जानाति । किंचिद्यथावत्किंचिदयथावज्जानातीति यावत् । याथार्थ्यनियमहीना या बुद्धिः सा राजसीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता ॥
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥ ३२ ॥

त० टी०–तामसीं बुद्धिमाह–अधर्ममिति । या तमसाऽऽवृता तमोव्याप्ता सती अधर्मं धर्मं, धर्मं चाधर्ममिति मन्यते, सर्वार्थान् विपरीतांश्च मन्यते परतत्त्वमपरमपरतत्त्वं च परं, बद्धं जीवं मुक्तं, मुक्तं परमेश्वरं मायावच्छिन्नं परिच्छिन्नं प्रत्यगात्मानं विभुम्, अनन्तकल्याणगुणमीश्वरं निर्विशेषं, वेदान्तवेद्यं प्रमाणाविषयं, सत्यं विश्वमसत्यं, स्वभावतो जगद्भिन्नाभिन्नं ब्रह्म केवलभिन्नमभिन्नं चेत्येवं सर्वान्पदार्थान् विपरीतान्विपर्ययेण मन्यते सा तामसीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

म० टी०–अधर्ममिति । तमसा विशेषदर्शनविरोधिना दोषेणावृता या बुद्धिरधर्मं धर्ममिति मन्यते, अदृष्टार्थे सर्वत्र विपर्यस्यति । तथा सर्वार्थान्,सर्वान् दृष्टप्रयोजनानपि ज्ञेयपदार्थान् विपरीतानेव मन्यते सा विपर्ययवती बुद्धिस्तामसी ॥ ३२ ॥

श्रीं० टी०–तामसीं बुद्धिमाह–अधर्ममिति । धर्ममधर्मं कार्यमकार्यमर्थमनर्थं च यया तमसा तमोगुणेनावृतयाऽस्पष्टप्रकाशया बुद्ध्या सर्वार्थान् वैपरीत्येन मन्यते गृह्णाति पुरुषः सा तामसी बुद्धिरित्यर्थः ॥ ३२॥

स० टी०–तमसा दोषरूपेण मतिर्याच्छादिता सती ॥ अधर्मं धर्ममित्येवं मन्यते विपरीतगा ॥ १ ॥ विपर्यस्यति सर्वत्र विशेषादर्शनाद्यया ॥ दृष्टप्रयोजनान्सर्वान्पदार्थान्मन्यतेऽन्यथा ॥ २ ॥ विपर्ययवती बुद्धिस्तामसी सात्यनर्थदा ॥ ३ ॥ ३२ ॥

श्री० टी०–तामसीं बुद्धिमाह–अधर्ममिति । विपरीतग्राहिणी बुद्धिस्तामसीत्यर्थः । बुद्धिरन्तःकरणं पूर्वोक्तं, ज्ञानं तु तद्वृत्तिः, धृतिरपि तद्वृत्तिरेव । यद्वा अन्तःकरणस्य धर्मिणो बुद्धिरप्यध्यवसायलक्षणा वृत्तिरेव । इच्छाद्वेषादीनां तद्वृत्तीनां बहुत्वेऽपि धर्माधर्मभयाभयसाधनत्वेन प्राधान्यादेतासां त्रैविध्यमुक्तम् । उपलक्षणं चैतदन्यासाम् ॥ ३२ ॥

भा० टी०–राजसीं बुद्धिमुक्त्वा तामसीं तामाह–अधर्ममिति । अधर्मं प्रतिषिद्धं धर्मं विहितमिति या मन्यते जानाति तमसाऽविवेकेनावृता वेष्टिता सती सर्वार्थानेव ज्ञेयपदार्थान् विपरीतांश्च विपरीतमेव विजानाति सा बुद्धिस्तामसी पार्थ ! तव नेयमुचितेति संबोधनाशयः ॥ ३२ ॥

प० टी०–तामसीमाह–अधर्ममिति । या तमसाऽज्ञानेनावृता सत्यधर्ममेव धर्मं पश्यति यथा लक्षशो गोमक्षिकामारणेनैकोऽधः सुखी स्यादिति मन्यते, यद्वा पौंश्चल्येन परसंतुष्टिर्धर्म इति मन्यते, सर्वार्थान् पुत्रमित्रादीन् विपरीतान् प्रतिकूलकर्तृन् पश्यति सा तामसी । अत्र बुद्धिरव्यवसायात्मिकान्तःकरणवृत्तिर्न तु निश्चयात्मिका यतः सैकविधा न त्रिधा । तदुक्तम् 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' इति । तर्हि कथमन्येषामिच्छाद्वेषादीनामनुद्देश इति चेत्सत्यम् । धर्माधर्मप्रवृत्तौ बुद्धेर्धृतेर्वा प्राधान्यमिति ज्ञेयम् ॥ ३२ ॥

रा० टी०–अधर्ममिति । या च बुद्धिरधर्मं धर्ममिति मन्यते । नैतावन्मात्रं किंतु तमसाऽवृता अज्ञानेनावृता सती सर्वार्थान्विपरीतान् यैराकारैरर्थाः वर्तन्ते ततो विपरीतैरसत्यत्वानीश्वरत्वापराधीनत्वक्षणिकत्वादिप्रकारैश्च मन्यते सा बुद्धिस्तामसीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ॥
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

त० टी०-इदानीं धृतेस्त्रैविध्ये प्रथमां सात्त्विकीं धृतिमाह-धृत्येति । अव्यभिचारिण्या नित्यसमाध्यनुगतया यया धृत्या योगेन सात्त्विकविषये चित्तैकाग्र्येण मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रियाश्चेष्टाः पुमान् धारयते धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ज्ञेयेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

म० टी०-इदानीं धृतेस्त्रैविध्यमाह-धृत्येति त्रिभिः । योगेन समाधिनाऽव्यभिचारिण्याऽविनाभूतया समाधिव्याप्तया यया धृत्या प्रयत्नेन मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रियाश्चेष्टा धारयते-उच्छास्त्रप्रवृत्तेर्निरुणद्धि, यस्यां सत्यामवश्यं समाधिर्भवति, यया च धार्यमाणा मनआदिक्रियाः शास्त्रमतिक्रम्य नार्थान्तरमवगाहन्ते धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

शं० टी०-धृतेरपि त्रैविध्यं वदन् सात्त्विकीं धृतिमाह-धृत्येति । योगेन ब्रह्मणि चित्तैकाग्र्यलक्षणेन समाधिना अव्यभिचारिण्या अविनाभूतया धृत्या धारणात्मिकया धीवृत्त्या यया मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः मनसः प्राणानामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां च क्रियाः या याश्चेष्टाः बहिःप्रवृत्तिरूपास्ताः सर्वा धारयते ब्रह्मनिष्ठो धारयति नियच्छति ब्रह्मणि चित्तैकाग्रतायां स्थिरायां सत्यां मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः सर्वाः स्वयमेव स्थिरा भवन्ति, तेनैकाग्रताधारणाशक्त्योर्योगाव्यभिचारित्वं मनःप्राणेन्द्रियक्रियाधारकत्वं च सहैव सिध्यति, अत एवोच्यते योगेनाव्यभिचारिण्या । यया धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रिया धारयते सा धृतिर्धारणाशक्तिः सात्त्विकी शुद्धसत्त्वगुणसंभूतत्वात्सात्त्विकीत्युच्यते मुनिभिरित्यर्थः । पुण्यकर्मपरिपाकवशात्संप्राप्तशुद्धसत्त्वस्य पुरुषस्य ज्ञानं सात्त्विकं बुद्धिः सात्त्विकी धृतिरपि सात्त्विकी मनः प्राणेन्द्रियवृत्तयोऽपि सात्त्विक्य एव भवन्ति । ज्ञानादीनां सात्त्विकत्वं नाम बाह्यानालम्बनमेव ततो मुमुक्षोः सत्त्वशुद्धिरेव संपादनीयेति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

श्री० टी०-इदानीं धृतेस्त्रैविध्यमाह-धृत्येतित्रिभिः । योगेन चित्तैकाग्र्येण हेतुना व्यभिचारिण्या विषयान्तरमधारयन्त्या यया धृत्या मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रिया धारयते नियच्छति सा धृतिः सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

स० टी०-धृतेरिदानीं त्रैविध्यं प्राहोदारधियां गतिः ॥ समाधिना विनाभूतरूपया तत्र लग्नया ॥ १ ॥ यया धृत्या प्रयत्नेन प्राणस्य मनसः क्रियाः ॥ इन्द्रियाणां तथा चेष्टा निरुणद्धि कुमार्गतः ॥ २ ॥ यस्य सत्यामवश्यं हि समाधिर्जायते सताम् ॥ धार्यमाणा यया धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ॥ ३ ॥ नैव शास्त्रमतिक्रम्याऽवगाहन्तेऽन्यगोचरम् ॥ सा धृतिः सात्त्विकी पार्थ महत्पुण्यवतां भवेत् ॥ ४ ॥ ३३ ॥

भा० टी०-एवं बुद्धेस्त्रैविध्यं विभज्य धृतेस्त्रैविध्यं विभजन्नादौ सात्त्विकीं धृतिमाह-धृत्येति । धृत्या यया योगेन समाधानेनाव्यभिचारिण्या नित्यसमाध्यनुगतया मनःप्राणेन्द्रियाणां क्रियाश्चेष्टा उच्छास्त्रमार्गप्रवृत्तीर्धारयते-धृत्या हि धार्यमाणा उच्छास्त्रविषया न भवन्ति । एतदुक्तं भवति-उक्तक्रिया धार्यमाणा योगेन ब्रह्मणि समाधानेनैकाग्र्येणाव्यभिचारिण्या धृत्या धारयतीत्येवंलक्षणा या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

प० टी०-अथ धृतेस्त्रैविध्ये सात्त्विकीं धृतिमाह-धृत्येति । योगेन चित्तैकाग्र्येण हेतुनाऽव्यभिचारिण्या विषयान्तरमधारयन्त्या यया धृत्या मनसः प्राणानामिन्द्रियाणां च क्रिया धारयते नियच्छति सा धृतिः सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

रा० टी०-प्रतिज्ञातं धृतेस्त्रैविध्यमाह-धृत्येत्यादित्रिभिः । अव्यभिचारिण्या विहितविषयया योगेन भगवद्भक्तियोगेन युक्तयेति शेषः । यया धृत्या मनसः प्राणस्येन्द्रियाणां च क्रिया धारयते । सा धृतिः सात्त्विकीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन ! ॥
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥ ३४ ॥

त० टी०–राजसीमाह–यया त्विति । फलाकाङ्क्षी पुरुषः प्रसङ्गेनात्मनः कर्तृत्वाभिनिवेशेन यया धृत्या धर्मकामार्थान् धर्मं काममर्थं च धारयते प्राप्यतया धारयतेऽवधारयति न तु तद्विलक्षणं मोक्षाख्यं कदाचिदपि हे पार्थ ! सा धृती राजसी ॥ ३४ ॥

म० टी०–ययेति । तुः सात्त्विक्या भिनत्ति । प्रसङ्गेन कर्तृत्वाद्यभिनिवेशेन फलाकाङ्क्षी सन् यया धृत्या धर्मं काममर्थं च धारयते नित्यं कर्तव्यतयाऽवधारयति न तु मोक्षं कदाचिदपि धृतिः सा पार्थ राजसी ॥ ३४ ॥

शं० टी०–राजसीं धृतिमाह–ययेति । तुशब्दोऽन्यव्यावृत्त्यर्थः । यया तु धृत्या पुरुषो धर्मकामार्थान् धर्ममर्थं कामं च प्राधान्येन धारयते धरति न विमुञ्चति प्रसङ्गेन धर्मादीनां प्रसक्तौ संपादनकाले फलाकाङ्क्षी भवति सा धर्मादीनां धात्री धृतिः राजसी ॥ ३४ ॥

श्री० टी–राजसीं धृतिमाह–यया त्विति । यया तु धृत्या धर्मार्थकामान् प्राधान्येन धारयते न मुञ्चति तत्प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी च भवति सा राजसी धृतिः ॥ ३४ ॥

स० टी०–कर्तृत्वाभिनिवेशेन फलाकाङ्क्षी च सन् यया ॥ धर्ममर्थं तथा कामं नित्यं कार्यतया जनः ॥ १ ॥ धृत्यावधारयत्यच्छं न तु मोक्षं कदाचन ॥ सा धृती राजसी पार्थ संसारैकफलप्रदा ॥२॥३४॥

भा० टी०–सात्त्विकीं धृतिमुक्त्वा राजसीं तामाह–ययेति । यया तु धृत्या धर्मार्थकामान् धारयते मनसि नित्यकर्तव्यतारूपान् अवधारयति न तु शुद्धब्रह्ममोक्षाख्यमिति ध्वनयन्नाह–हे अर्जुनेति । प्रसङ्गेन यस्य यस्य धर्मादिधारणप्रसङ्गस्तेन तेन प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी प्रकर्षेण सङ्गः कर्तृत्वाभिनिवेशस्तेनेति केचित् । प्रसङ्गेन धर्मादेः संबन्धेनेत्यन्ये । आचार्यैस्तु प्रसिद्धार्थपरित्यागे विनिगमकाविरहमभिप्रेत्यैवं न व्याख्यातम् । यः पुरुषः प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी सन् यया धृत्या धर्मादीन्धारयते तस्य सा धृतिः हे पार्थ ! राजसी ॥ ३४ ॥

प० टी०–राजसीमाह–ययेति । यया धृत्या धर्मकामार्थान् प्राधान्येन धारयति न विमुञ्चति तत्प्रसंगेन च फलाकाङ्क्षी च भवति सा राजसी धृतिः ॥ ३४ ॥

रा० टी०–ययेति । यया धृत्या धर्मकामार्थान्धारयते । प्रसङ्गेन प्रकृष्टेन कर्मणि मदीयत्वास्नेहेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा राजसीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ॥
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥ ३५ ॥

त० टी०–तामसीं धृतिमाह–ययेति । यया धृत्या स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकमिष्टवियोगनिमित्तदर्शनजं विषादं खेदं मदं विरुद्धविषयानुभवजन्यं हर्षम्–एतान् दुर्मेधा दुष्टा निषिद्धार्थधारणावती मेधा बुद्धिर्यस्य स पुरुषो न विमुञ्चति सदा तत्रैव निष्ठां करोतीत्यर्थः । धृतिः सा पार्थ ! तामसी भवतीति संबन्धः ॥ ३५ ॥

म० टी०–ययेति । स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकमिष्टवियोगनिमित्तं संतापं, विषादमिन्द्रियावसादं, मदमशास्त्रीयविषयसेवोन्मुखत्वं च यया न विमुञ्चत्येव किंतु सदैव कर्तव्यतया मन्यते दुर्मेधाः विवेकासमर्थः, धृतिः सा पार्थ तामसी ॥ ३५ ॥

शं० टी०—तामसीं धृतिमाह—यथेति । दुष्टा तमोदोषदूषिता मेधा बुद्धिर्यस्य स दुर्मेधाः दुर्मना: पुरुषः यया धृत्या स्वप्नं निद्रां भयं शोकं विषादं च मदमेव सदा धारयते न तु कांचिदपि मुञ्चति सा निद्रादीनां धात्री धृतिस्तामसीत्युच्यते । सर्वव्यवहारहेतोर्बुद्धेस्त्रैविध्ये सिद्धे तद्वारभूतानां श्रोत्रादिकरणानामपि सात्त्विकत्वादिभेदसद्भावः सूचितः ॥ ३५ ॥

श्री० टी०—तामसीं धृतिमाह—ययेति । दुष्टा अविवेकबहुला मेधा यस्य सः दुर्मेधाः पुरुषः यया धृत्या स्वप्नादींश्च विमुञ्चति पुनः पुनरावर्तयति । स्वप्नोऽत्र निद्रा सा धृतिस्तामसी ॥ ३५ ॥

स० टी०—निद्रां त्रासं च संतापं स्वकीयेष्टवियोगजम् ॥ इन्द्रियाणयवसादं च भोगासक्तिकरं मदम् ॥ १ ॥ न विमुञ्चति किं स्वेतत्कर्तव्यत्वेन मन्यते ॥ निर्विवेको यया धृत्या सा धृतिः पार्थ तामसी ॥ २ ॥ ३५ ॥

भा० टी०—राजसीं धृतिं व्युत्पाद्य तामसीं तां व्युत्पादयति—ययेति । दुर्मेधाः दुष्टा कुत्सिता मेधा बुद्धिर्यस्य स दुर्बुद्धिर्यया धृत्या स्वप्नं निद्रां भयं त्रासं शोकं प्रियवियोगनिमित्तं संतापं विषादं विषण्णतामिन्द्रियखिन्नता विषयसेवामात्मनो बहुमन्यमानो मत्त इव यो मदमेव च मनसि नित्यमेव कर्तव्यरूपतया कुर्वन्न विमुञ्चति धारयत्येव सा धृतिः पार्थ ! तामसी ॥ ३५ ॥

प० टी०—तामसीमाह—यया स्वप्नमिति । दुष्टाऽविवेकबहुला मेधा यस्यासौ दुर्मेधाः पुरुषो यया धृत्या स्वप्नं स्वप्नस्थपदार्थदर्शनेन भविष्यं चिन्तयति तथा भयं शोकं विषादं मदं च न विमुञ्चति स्थिरीकरोति सा तामसी धृतिः ॥ ३५ ॥

रा० टी०—ययेति । यो दुर्मेधाः दुष्टबुद्धिः पुरुषः यया धृत्या स्वप्नमत्रैव निद्रां भयं शोकं दुःखं विषादं मनोदौर्बल्यं मदं च स्वप्नाद्युपलक्षितं सर्वं निषिद्धं भगवद्द्वेषादि न विमुञ्चति सा तामसीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ! ॥
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

त० टी०—एवं ज्ञानकर्मकर्तृबुद्धिधृतीनां त्रैविध्यं निरूपितमिदानीं सर्वजीवाभिलषितस्य सुखस्य गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं प्रतिजानीते—सुखं त्विस्यर्धेन । पूर्वोक्ता ज्ञानकर्मादयो यदर्थकास्तत्सुखं तु इदानीं मे मम वचनात्त्रिविधं शृणु, हेयोपादेयज्ञानार्थमवधारय । तत्र सात्त्विकं सुखमाह सार्धेन—अभ्यासादिति । यत्र यस्मिन्सुखे अभ्यासाच्चिरकालावर्तनाद्रमते अबाधितां रतिं प्राप्नोति दुःखान्तं च निगच्छति, दुःखस्यान्तं च नितरां गच्छति न तु विषयसुख इव दुःखोदर्कं प्राप्नोति ॥ ३६ ॥

म० टी०—एवं क्रियाणां कारकाणां च गुणतस्त्रैविध्यमुक्त्वा तत्फलस्य सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते श्लोकार्धेन—सुखमिति । सात्त्विकं सुखमाहार्धेन च मे मम वचनात् शृणु हेयोपादेयविवेकार्थं व्यासङ्गान्तरनिवारणेन मनः स्थिरीकुरु । हे भरतर्षभेति योग्यता दर्शिता । यत्र समाधिसुखे अभ्यासादतिपरिचयात् रमते परितृप्तो भवति न तु विषयसुख इव सद्य एव । यस्मिन् रममाणश्च दुःखस्य सर्वस्याप्यन्तमवसानं नितरां गच्छति न तु विषयसुख इवान्ते महद्दुःखम् ॥ ३६ ॥

शं० टी०—एवं गुणभेदेन कर्तृणां करणानां कर्मणां च त्रैविध्यमुक्त्वा कर्मफलस्य सुखस्यापि त्रैविध्यं वदन् सात्त्विकसुखस्य स्वरूपमाह द्वाभ्याम्—सुखं त्विति । स्पष्टार्थः ॥ ३६ ॥

श्री० टी०—सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते अर्धेन—सुखमिति । स्पष्टार्थः । तत्र सात्त्विकं सुखमाह—अभ्यासादिति सार्धेन । यत्र यस्मिन्सुखे अभ्यासादतिपरिचयाद्रमते न तु विषयसुख इव सहसा रतिं प्राप्नोति, यस्मिन् रममाणश्च दुःखस्यान्तमवसानं नितरां गच्छति प्राप्नोति ॥ ३६ ॥

सु० टी०—क्रियाणां कारकाणां च गुणात्त्रैविध्यमीरितम् ॥ त्रैविध्यं प्रतिजानीते तत्फलेऽप्यधुना सुखे ॥ १ ॥ हेयादेये विवेकाय वचनान्मे शृणु स्फुटम् ॥ सुखं त्रिविधमत्यन्तं सावधानेन चेतसा ॥ २ ॥ सार्धेन सात्त्विकं प्राह सुखमानन्दवारिधिः ॥ सावधानः सुखे यत्राभ्यासात्परिचयाद्रतिम् ॥ ३ ॥ प्रपद्यते तथा यत्र रममाणोऽनुभूतितः ॥ सर्वदुःखोपशमनं नितरां गच्छति स्वयम् ॥ ४ ॥ ३६ ॥

भा० टी०—एवं क्रियाणां कारकाणां च गुणतस्त्रिविधो भेद उक्तः । अथेदानीं फलस्य च सुखस्य त्रिविधं भेदं वक्तुमारभते—सुखमिति । सुखं तु इदानीं त्रिविधं मे-मम वचनाच्छृणु अवधारय । त्रिविधस्यापि सुखस्य सामान्यलक्षणमाह—अभ्यासादावृत्तेर्यत्र सात्त्विकादिसुखे रमते यत्र रममाणश्च दुःखस्यान्तमवसानं च निगच्छति निश्चयेन प्राप्नोति । भरतर्षभेति संबोधयन् सुखस्य त्रैविध्यं मम वचनाच्छ्रुत्वा सात्त्विकं सुखमनुभवितुं योग्योऽसीति सूचयति । तत्र सात्त्विकं सुखमाह—सार्धेन । यत्र यस्मिन्सुखेऽभ्यासवतिपरिचयाद्रमते न तु विषयसुख इव सहसा रतिं प्राप्नोतीत्यपरे । भाष्यस्य समानतया न तद्विरोधः ॥३६॥

प० टी०—अथ त्रिविधं सुखमाह—सुखमिति द्वाभ्याम् । इदानीं त्रिविधं सुखं मे मत्तः शृणु । तत्र सात्त्विकं सुखमाह—अभ्यासादिति । यत्र यस्मिन् सुखेऽभ्यासान्निरन्तरानुसंधानाद्रमते रममाणो दुःखान्तं दुःखावसानं निगच्छति नितरां प्राप्नोति ॥ ३६ ॥

रा० टी०—प्रतिज्ञापूर्वं गुणतः सुखस्य त्रैविध्यमाह—सुखं त्विति । यत्र यस्मिन्सुखे चिरकालमभ्यासात्पुनः पुनः रमते, दुःखान्तं दुःखनाशं च नितरां गच्छति प्राप्नोति तत्सुखं त्रिविधमित्यर्थः । यद्वा पूर्वार्धमेव प्रतिज्ञापरम् । उत्तरार्धम्—॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ॥
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥

त० टी०—तदेव विशिनष्टि—यत्तदिति । यत्तत्किमपि अग्रे वैराग्यासनयमनियमोपवासस्नानध्यानाद्युपासनारम्भे बह्वायाससाध्यत्वाद्विषमिवातिदुःखमिव भवति । परिणामे वैराग्यादिपूर्वकोपासनपरिपाके अमृतोपममतिमियं भवति । यत आत्मबुद्धिप्रसादजम्—आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादो रजस्तमःकार्यकामलोभमोहत्यागेन स्वच्छतया निरतिशयानन्दरूपेऽवस्थानं ततो जातं सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं तद्विद्भिः ॥ ३७ ॥

म० टी०—तदेव विवृणोति—यदिति । यत् अग्रे ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भेऽत्यन्तायासनिर्वाह्यत्वाद्विषमिव दुःखावहं भवति । परिणामे ज्ञानवैराग्यादिपरिपाके त्वमृतोपमं प्रीत्यतिशयास्पदं भवति । आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादो निद्रालस्यादिराहित्येन स्वच्छतयाऽवस्थानं ततो जातमात्मबुद्धिप्रसादजं, नतु राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं, न वा तामसमिव निद्रालस्यादिजम् । ईदृशं यदनात्मबुद्धिनिवृत्त्यात्मबुद्धिप्रसादजं समाधिसुखं तत्सात्त्विकं प्रोक्तं योगिभिः । अपर आह—अभ्यासादावृत्तेर्यत्र रमते प्रीयते यत्र च दुःखावसानं प्राप्नोति तत्सुखम् । तच्च त्रिविधं गुणभेदेन । शृण्विति तत्पदाध्याहारेण पूर्णस्य श्लोकस्यान्वयः । यत्तदग्र इत्यादिश्लोकेन तु सात्त्विकसुखलक्षणमिति । भाष्यकाराभिप्रायोऽप्येवम् ॥ ३७ ॥

शं० टी०—यदिति । यद्ब्राह्मं सुखं निरन्तरं नित्यप्राप्तमप्यग्रे स्वसिद्धेः पूर्वं स्वसिद्धिसाधनस्य विषयतरबीकर्तुं दुष्करत्वात्स्वयमपि विषमिव प्राप्तुमनुभवितुं चाशक्यमेव भवति, यतः स्वसाधनं सदसद्विवेको दुर्लभो मुमुक्षुत्वं ततो दुर्लभं वैराग्यं ततो दुर्लभं शमादिसंपत्तिस्ततो दुर्लभा संन्यासस्ततोऽपि दुर्लभः श्रद्धैकमूलः श्रवणादिस्ततो दुर्लभः मुक्तेरसाधारणकारणं तज्जन्यं ज्ञानमपरोक्षमतीव दुर्लभतरं तत्परिपाक-

हेतुः समाधिर्दुर्लभतमस्तत एव स्वसिद्धिसाधनस्य समाध्येकमूलस्य ज्ञानस्य प्राच्योदीच्याद्यैस्तीव्रमोक्षेच्छैककारणैः सह दुष्प्रापत्वात्स्वयमपि तद्वद्दुष्प्रापं भोक्तुमशक्यं च भवतीत्यर्थः। नन्वेवं सति यतीनां मोक्षसुखापेक्षावतां का गतिरित्याकाङ्क्षायामाह—परिणामेति। सद्गुरोरीश्वरस्यानुग्रहात्सिद्धस्य तत्प्राप्तिसाधनस्य ज्ञानस्य, नित्यनिरन्तरं समाधिना परिणामे परिपक्वत्वे सिद्धे सत्यमृतोपमं भवति, यथा कालकूटापायेन प्राप्तममृतं देवानां जरामृत्युनिवर्तकं भवति, तथा करणदोषापायेन प्राप्तं तद्ग्राह्यं सुखमपि यतीनां महात्मनां जन्ममरणदुःखप्रवाहविध्वंसकत्वादमृततुल्यं परमानन्दकरं च भवति। ततो ब्रह्मविद्भिः परमहंसैर्मोक्षसुखानुभूतिकामैः साधनशुद्धिसिद्धावेव प्रयत्नः कर्तव्यो न तु साध्यसिद्धये, साधने सिद्धे साध्यं स्वयमेव सिध्यति। यथा चक्षुःसौष्ठवे सिद्धे पूर्णचन्द्रदर्शनाह्लादः सिध्यति, तद्वदेतत्सुखमात्मबुद्धिप्रसादजं यया बुद्ध्या ज्ञानेनात्मा सच्चिदानन्दैकलक्षणोऽयमहमस्मीति साक्षात्क्रियते, तस्या एव बुद्धेः प्रसादश्चिरकालनित्यनिरन्तरसविकल्पकनिर्विकल्पकसमाध्यभ्यासातिशयेन रजसो रजःकार्याणां च रागद्वेषलोभमोहदम्भदर्पहर्षविषादासूयाहंकारादीनां तमसश्च तमःकार्याणां संशयासंभावनाविपरीतभावनालस्यालस्यप्रमादादीनां च सम्यग्भावप्रतिबन्धकानां निःशेषनिवृत्त्या समुत्पन्नः शुद्धस्फटिकवद्दर्पणवच्चभासमानो यः स्वच्छत्वगुणः शुद्धसत्त्वाभिधानस्तस्माज्जायते चक्षुषो दोषनिवृत्त्या पूर्णचन्द्रिकावद्बुद्धिवृत्तेः स्वयमेवाविर्भवतीत्यात्मबुद्धिप्रसादजमित्युच्यते। न तु विषयसुखवज्जायते, जन्यत्वे त्वनित्यत्वपरिच्छिन्नत्वसातिशयत्वादिदोषप्रसङ्गान्मुमुक्षूणामनाश्वासत्वोपपत्तेश्च। ततश्चक्षुषो नैर्मल्यापत्त्या रूपवद्बुद्धिवृत्तेः शुद्धसत्त्वापत्त्याऽप्रयत्नेन स्वयमेव विषयीभवति, नित्यसिद्धत्वात्स्वरूपसुखस्य। ननु ब्रह्मविदां ग्राह्यं सुखमतिक्लेशसाध्यं, विषयसुखं त्वतिसुलभं सुखार्थिभिस्तदेवानुभोक्तव्यमिति चेत्त्वमत्र प्रष्टव्यः। किं वैषयिकं सुखं विषयधर्मो वा करणधर्मो वा कर्मधर्मो वा भोक्तृधर्मो वा देशधर्मो वा कालधर्मो वाऽप्यज्ञानधर्मो वा ज्ञानधर्मो वात्मधर्मो वा स्वयं व्यापाराभावस्वरूपं वा दुःखाभावस्वरूपं वेति? नाद्यः, विषयसन्निधाने पूर्वक्षण इवोत्तरक्षणे सुखादर्शनात्तूपकाभावात् व्यङ्ग्यानुदय इति चेन्न, दूरदृष्टत्वे पूर्वक्षणेऽपि सुखानुदयप्रसङ्गात्ताहगिष्टविषयासिद्धेश्च। न द्वितीयः, विषयव्यवधाने सुखादर्शनात्। नापि तृतीयः, सुखस्य पुण्यकर्मकार्यत्वेन तद्धर्मत्वानुपपत्तेस्तथात्वे धर्म्युत्पत्त्युत्तरक्षण एव सुखोदयप्रसङ्गात्। न चतुर्थः, भोक्तुः सर्वदा विक्षेपदर्शनात्। नापि पञ्चमः, सुखार्थिनः स्वर्गगमनाभावप्रसङ्गात्स्वर्गस्थानामपि दुःखश्रवणाच्च। नापि षष्ठः, शीतातपवत्सार्वत्रिकत्वप्रसङ्गात्। नाप्यज्ञानधर्मः, वस्तुनो भोग्यत्वाज्ञाने सुखादर्शनात्। नापि ज्ञानधर्मः, वस्तुरम्यत्वज्ञानेऽपि विरक्तस्य सुखानुदयात्। सुखं करणव्यापाराभावस्वरूपं न भवति स्वप्ने सुखादर्शनात् करणव्यापारवति भोजनादौ सुखदर्शनाच्च। नापि च दुःखाभावस्वरूपं, दुःखाभाववति मृत्पिण्डे सुखादर्शनात्। अचेतनत्वात्तत्र तदभिव्यक्त्यभाव इति चेन्न, दुःखाभाववत्यां बुद्ध्यस्फूर्तौ सुखादर्शनाद्यदुक्तं मूढतमेन दुःखाभावः सुखमिति तन्न सुखस्य भावत्वेनाभावरूपत्वानुपपत्तेः। नैवैतेन पशुकल्पेन सौषुप्तिकसुखमनुभूतं निर्विषयमत एवोक्तं दुःखाभावः सुखमिति। तर्हि सुखमात्मन एव धर्म इति चेन्न, सुखमात्मनः स्वरूपं न तु धर्मः, धर्मत्वे धर्मनाशादात्मनोऽपि नाशप्रसङ्गात्। ननु स्वरूपत्वेऽपि सुखस्य क्षणिकत्वात्स्वरूपभूतसुखनाशे त्वात्मनोऽपि नाश एवेति चेन्न, "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" इत्यात्मनो नित्यत्वश्रवणात्तत्स्वरूपभूतसुखस्यापि नित्यत्वसिद्धेः। ननु सुखं यथात्मनः स्वरूपं तथा दुःखमप्यात्मन एव स्वरूपं भवतु सुख्यहं दुःख्यहमिति सुखदुःखप्रत्यययोरेकविषयत्वदर्शनादिति चेन्न, मृतोऽहमितिवत् दुःख्यहमितिप्रत्ययस्य संमोहकार्यत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेः। न हि पुत्रे मृते मृतोऽहमस्मीति वक्तुर्मरणमस्ति मोहादारोपणं विना, तद्दुःख्यहमिति दुःखित्वप्रत्ययस्यात्मनि मोहादारोपितत्वान्मिथ्यात्वमेव। दुःखस्यात्मनः स्वरूपत्वे सुषुप्तावुपलभ्येत सुखमहमस्वाप्समिति सुखोपलब्धिवत्तदुपलम्भाभावात् दुःखमात्मनः स्व-

रूपं न भवति । सुखमेवात्मस्वरूपं सुखस्यैवात्मस्वरूपत्वे सुखमहमस्म्याप्समिति प्रत्यक्षं प्रमाणम् । आत्मा सुखस्वरूपः सुषुप्तौ सुखमात्रोपलम्भात्समाधिवदित्यनुमानं च । सच्चिदानन्दमात्रमेकरसं बुद्धसुखस्वरूप आत्मा "सद्घनोऽयं चिद्घन आनन्दघनः" इति श्रुतिश्च । सुमुक्षुप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिरपि च प्रमाणम् । तर्हि दुःखं कस्य स्वरूपमिति चेदनात्मन एव स्वरूपमिति ब्रूमः, अनृतजडदुःखात्मकत्वमनात्मनः सर्वप्रसिद्धेः । अतोऽन्यदार्तमिति नाल्पे सुखमस्तीति । तदेतज्जडं मोहात्मकम् "अन्तवत्तुच्छम्" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेश्च । ननु सुखस्यात्मरूपत्वे सिद्धे विषयसुखमिति व्यपदेशः कथमिति चेदुच्यते । पुण्यकर्मवशात्पुरुषस्येष्टपदार्थसांनिध्ये सत्यन्तःकरणे सत्त्वमाविर्भवति, तत्रानन्दस्वरूप आत्मा प्रतिबिम्बति, प्रतिबिम्बात्मानन्दस्फूर्तिरेव विषयसानिध्याद्विषयसुखमित्युच्यते । पुण्यतारतम्यात्सत्त्वतारतम्यं, सत्त्वतारतम्यात्प्रतिबिम्बस्फूर्तेश्च तारतम्यं, तेन सुखस्यापि तरतमभावः । तत एव श्रूयते "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति । ततो विषयसुखमाभासिकं महान्तो ब्रह्मविदो नापेक्षन्ते पूर्णानन्दामृतरसपायिनः । नन्वात्मन आनन्दस्वरूपत्वात्परिपूर्णत्वाच्च सदा सर्वत्र सर्वेषामयत्नतः सुखानुभूतिः स्वयमेव स्यादिति चेन्न, वृत्तिशुद्धिसापेक्षत्वादात्मस्वरूपोपलब्धेः । यद्वदाकाशचन्द्रचन्द्रिकाया परिपूर्णत्वेऽपि तद्दर्शनाह्लादश्चक्षुःसौष्ठवमपेक्षते, तद्वदात्मानन्दानुभूतिरपि बुद्धिप्रसादमपेक्षते । तत एवोच्यते भगवताप्यात्मबुद्धिप्रसादजमिति । एवमात्मबुद्धिप्रसादजं नित्यं निरन्तरं निरपेक्षं निरतिशयं निरवधिकं यद्ब्राह्मं सुखं तत्सात्त्विकं सत्त्वाविर्भूत्या आविर्भूतत्वात्सात्त्विकमिति महर्षयो वदन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

श्री० टी०—कीदृशं तत्—यत्तदिति । यत्सात्त्विकमपि अग्रे प्रथमं विषमिव मनःसंयमाधीनत्वाद्दुःखावहमिव भवति, परिणामे त्वमृतसदृशम् । आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिस्तस्याः प्रसादेन रजस्तमोमलत्यागेन स्वच्छतयाऽवस्थानं ततो जातं यत्सुखं तत्सात्त्विकं प्रोक्तं योगिभिः ॥ ३७ ॥

स० टी०—तदेव विवृणोतीशः सुखं ब्रह्मप्रसादजम् ॥ ज्ञानवैराग्यसद्ध्यानसमाध्यारम्भ एव यत् ॥ १ ॥ अत्यन्तायाससाध्यत्वाद्विषवद्धेयकृद्भवेत् ॥ ज्ञानादिपरिपाके तु प्रीतिरतिशयास्पदम् ॥ २ ॥ निद्रालस्याविराहित्याद्बुद्धिर्या स्वच्छता गता ॥ तस्या आत्मावलम्बिन्याः प्रसादाज्जातमान्तरम् ॥ ३ ॥ तत्समाधिसुखं प्रोक्तं सात्त्विकं योगवित्तमैः ॥ ४ ॥ ३७ ॥

प्रा० टी०—सुखस्य त्रैविध्यं विभजन्नादौ सात्त्विकं सुखमाह—यत्तदिति । यत्सुखमग्रे पूर्वं प्रथमसन्निपाते ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भेऽत्यन्तायासपूर्वकत्वाद्विषमिव दुःखात्मकमिव भवति परिणामे ज्ञानादिपरिपाकेऽमृतोपमं तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं विद्वद्भिः कथितम् । आत्मनो बुद्धिरात्मबुद्धिरात्मबुद्धेः प्रसादो नैर्मल्यं सकार्यरजस्तमोमलत्यागेन सलिलवत्स्वच्छतयाऽवस्थानं ततो जातमात्मबुद्धिप्रसादजम्, आत्मविषया आत्मालम्बना बुद्धिर्वा आत्मबुद्धिस्तत्प्रसादात्प्रकर्षाद्वा जातम् ॥ ३७ ॥

प० टी०—तथा—यदिति । यदग्रे प्रारम्भे मनःप्रत्याहृतिकरणेन विषमिव दुःखमिव लगति, परिणामे स्वमृतोपमं परमानन्दसदृशं भवति, यच्चात्मबुद्धिप्रसादजमात्मविषया व्यवसायात्मिका बुद्धिस्तया यः प्रसादः प्रसन्नता ततो जातं तत्सात्त्विकं सुखम् ॥ ३७ ॥

रा० टी०—यत्तदिति श्लोकश्च सात्त्विकसुखोक्तिपरः । यत्प्रसिद्धं सुखमग्रे पूर्वं विषमिव आयाससाध्यत्वात् । परिणामे विपाके अमृतसदृशम् । आत्मबुद्धिप्रसादजम्—आत्मनो विष्णोः प्रसादादनुग्रहाज्जातं बुद्धेः प्रसादाच्च । बुद्धेः प्रसादो नाम स्वतो विषयेष्वप्रवृत्तिः, ततो जातं च यत्तत्सुखं सात्त्विकमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ॥
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

त० टी०—राजसं सुखमाह—विषयेन्द्रियेति । विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाद्यत्तल्लोकप्रसिद्धं स्त्रीप्रसङ्गादिजन्यं सुखमग्रेऽनुभवकाले अमृतोपमममृततुल्यं भवति, मनइन्द्रियादिसंयमक्लेशाभावात् । परिणामे विषमिव इहामुत्रापि दुःखजनकत्वात्तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

म० टी०—विषयेति । विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाज्जातं, न त्वात्मबुद्धिप्रसादात् यत्तद्यदतिप्रसिद्धं स्रक्चन्दनवनितासङ्गादिसुखमग्रे प्रथमारम्भे मनःसंयमादिक्लेशाभावादमृतोपमम्, परिणामे लौहिकपारत्रिकदुःखावहत्वाद्विषमिव—तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

शं० टी०—राजसं सुखमाह—विषयेति । विषयेन्द्रियसंयोगाद्विषयाणामिन्द्रियाणां च संसर्गाज्जायमानं यद्वैषयिकं सुखमग्रे पूर्वं स्वानुभूतिकाले स्वानुषेविणः पुरुषस्यामृतोपमं सुधाकल्पं तद्भूयो भूयो विवर्धत इति न्यायेन स्वविषयकाण्येवाविद्याकामकर्माणि प्रवर्धयति, परिणामे स्वकार्यफलकाले स्वानुषक्तं पुरुषं विषमिव हन्ति 'स्वकार्येण योजयित्वा सकामभिर्जायते तत्र तत्र' इति न्यायेन नानायोनिषु पातयित्वा मुहुर्मुहुर्मृत्युं गमयतीत्यर्थः । यदेवंलक्षणं वैषयिकं सुखं तद्राजसं रजोगुणेन कामेन संभावितत्वाद्राजसमिति मुनिभिः स्मृतमुक्तमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

श्री० टी०—राजसं सुखमाह—विषयेन्द्रियेति । विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगाद्यत्तत्प्रसिद्धं स्त्रीसङ्गादिसुखममृतमुपमा यस्य तादृशं भवत्यग्रे प्रथमं, परिणामे तु विषतुल्यं, इहामुत्र च दुःखहेतुत्वात् । तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

स० टी०—विषयेन्द्रियसंबन्धाद्यदत्यन्तप्रसिद्धिमत् ॥ स्रक्चन्दनस्त्रीसङ्गादिसुखं स्यात्प्रथमे क्षणे ॥ १ ॥ धीसंयमादिसंक्लेशाभावादमृतवत्क्षणम् ॥ परिणामे तु दुःखानामाकरत्वाद्विषोपमम् ॥ २ ॥ इहामुत्रातिसंस्कारजननद्वारतः सदा ॥ संसृतिश्रमदं तच्च सुखं राजसमीरितम् ॥ ३ ॥ ३८ ॥

भा० टी०—सात्त्विकं सुखमुदाहृत्य राजसं तदुत्पादयति—विषयेति । यत्सुखं विषयेन्द्रियसंयोगात् जायतेऽग्रे प्रथमे क्षणेऽमृतोपमममृतसदृशं, परिणामे तदुपभोगान्ते विषमिव बलवीर्यरसप्रज्ञादिहानिहेतुत्वादधर्मतज्जनितनरकादिहेतुत्वाच्च विषतुल्यं—तत्सुखं हेयं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

प० टी०—राजसमाह—विषयेति । यद्विषयेन्द्रियसंयोगादग्रे प्रारम्भेऽमृतोपमं, परिणामे विरसत्वाद्विषोपमं मत्स्यमस्तनाडिशामिषमिव तत्सुखं राजसम् ॥ ३८ ॥

रा० टी०—विषयेति । विषयेन्द्रियसंयोगाच्छब्दादिविषयाणां श्रोत्रादीन्द्रियाणां संयोगेनोत्पन्नविषयानुभवेन जायमानं यत्तत्प्रसिद्धं सुखमग्रे प्रथमममृतसदृशं विपाके विषमिव दुःखावहत्वात् । तत्सुखं राजसमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ॥
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

त० टी०—तामसं सुखमाह—यदग्र इति । यत्सुखमग्रेऽनुभवकाले अनुबन्धे परिणामे चात्मनो मोहनं सर्वस्तुयाथात्म्यज्ञानभ्रंशकं भवति । तदेव दर्शयति—निद्रालस्यप्रमादोत्थम् । निद्रालस्ये प्रसिद्धे, प्रमादः कर्तव्यानवधानं, तेभ्य उत्तिष्ठति उद्भवति तथाभूतं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

म० टी०—यदिति । अग्रे प्रथमारम्भे च अनुबन्धे परिणामे च यत्सुखमात्मनो मोहकरम् । निद्रालस्ये प्रसिद्धे, प्रमादः कर्तव्यार्थावधानमन्तरेण मनोराज्यमात्रम् । तेभ्य एवोत्तिष्ठति न तु सात्त्विकमिव बुद्धिप्रसादजं, न वा राजसमिव विषयेन्द्रियसंयोगजं, तन्निद्रालस्यप्रमादोत्थं तामसं सुखमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

शं० टी०—तामसं सुखमाह—यदग्र इति । अग्रे स्वोत्पत्तिकाले चानुबन्धे च परिणामकालेऽवसानेऽप्यात्मनः सदसद्विवेकहेतोर्बुद्धेर्मोहनं मोहकारकं विवेकशक्तिविरोधायकं, निद्रालस्यप्रमादोत्थं—निद्रा प्रसिद्धा, आलस्यं बुद्धिजाड्यं, प्रमादो बुद्धिपारवश्यमेतेभ्यः समुत्पन्नं यत्सुखं तत्तामसं तमोगुणनिष्पन्नत्वात्तामसमिति ऋषिभिरुदाहृतमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

श्री० टी०—तामसं सुखमाह—यदिति । अग्रे प्रथमक्षणे अनुबन्धे च पश्चादपि यत्सुखमात्मनो मोहकरम् । तदेवाह—निद्रा चालस्यं च प्रमादश्च कर्तव्यार्थावधानराहित्येन मनोराज्यम्—एतेभ्य उत्तिष्ठति यत्सुखं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

म० टी०—आद्यक्षणे तथा पश्चात्परिणामेऽपि यत्सुखम् ॥ अविवेककरं स्वस्य निद्रादिभ्यः समुत्थितम् ॥ १ ॥ अत्यन्तानर्थहेतुत्वात्तत्सुखं तामसं स्मृतम् ॥ २ ॥ ३९ ॥

भा० टी०—राजसं सुखमुक्त्वा तामसं तदुदाहरति—यदिति । यत्सुखमग्रे च प्रथमे क्षणेऽनुबन्धे चावसानोत्तरकाले; चाभ्यां प्रथमक्षणादुत्तरावस्थासु अनुबन्धात्पूर्वावस्थासु चात्मनो मोहनं मोहकरं निद्रालस्यप्रमादेभ्यः समुत्तिष्ठतीति निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्सुखं हेयं तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

प० टी०—तामसमाह—यदग्र इति । अग्रे प्रथमे क्षणे अनुबध्यतेऽनेनेत्यनुबन्धः परिणामस्तस्मिन्नात्मनोऽन्तःकरणस्य मोहनं व्यामोहकम् । तस्यावस्थानियममाह—निद्रा, आलस्यं, प्रमादोऽनवधानता । निद्रायां सुषुप्तिसुखं स्वाप्नविषयभोगसुखं चालस्येऽङ्गविमर्दोद्भवं प्रमादः उन्मत्तावस्था—यत्रोत्पन्नं यत्सुखं तत्तामसमुदाहृतम्, उदाहरणत्वेन निरूपितम् ॥ ३९ ॥

रा० टी०—यदिति । यत्सुखमग्रे चानुबन्धे च पश्चात् । विपाककाल इति यावत् । आत्मनः स्वस्य मोहनं मोहकरं पारवश्यकृत् निद्रालस्यप्रमादैरुत्थितं उत्पन्नम् । आलस्यं शरीरमान्द्यम् । प्रमादः अधर्मे बुद्धिः । तत्सुखं तामसमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ॥
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥

त० टी०—इदानीमुक्तं त्रैगुण्यप्रकरणमुपसंहरन्सर्वस्य प्राकृतस्य त्रैविध्यं संक्षिप्य दर्शयति—न तदस्तीति । प्रकृतिर्भगवतो मायाख्या शक्तिस्तत्संभवैरेभिः सत्त्वादिभिस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं हीनं यत्सत्त्वं प्राणिजातं स्यात् तत् पृथिव्यां मनुष्यादिषु पुनर्दिवि स्वर्गे देवेषु वाऽन्येषु सुतलादिष्वपि नास्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

म० टी०—इदानीमनुक्तमपि संगृह्णन् प्रकरणार्थमुपसंहरति भगवान्—नेति । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिस्ततो जातैर्वैषम्यावस्था प्राप्तैः प्रकृतिजैः, न तु साक्षाद्गुणानां प्रकृतिजत्वमस्ति तद्रूपत्वात् । तस्माद्वैषम्यावस्थैव तदुत्पत्तिरुपचारात् । अथवा प्रकृतिर्माया तत्प्रभवैस्तत्कल्पितैः प्रकृतिजैरेभिस्त्रिभिर्गुणैरनर्थहेतुभिः सत्त्वादिभिर्मुक्तं हीनं सत्त्वं प्राणिजातमप्राणि वा यत् स्यात् तत्पुनः पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा नास्ति, क्वापि गुणत्रयरहितमनात्मवस्तु नास्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

शं० टी०—क्रियाकारकफलानां विभज्य त्रिगुणात्मकत्वं प्रतिपाद्याविभागेन सर्वं त्रिगुणात्मकमेवेत्याह—न तदिति । पृथिव्यां मूर्लोके वाशब्दात्पाताले दिवि स्वर्गे वा देवेषु ब्रह्मादिषु वा । पुनःशब्दो वार्थः । प्रकृतिजैः प्रकृतिसमुत्पन्नैरेभिरुक्तलक्षणैस्त्रिभिर्गुणैः सत्त्वादिभिर्मुक्तं परित्यक्तमस्पृष्टं यत्स्यात्तद्द्रव्येषु सत्त्वं द्रव्यं प्राणि वा त्रिलोक्यां नास्ति त्रिगुणात्मकमायाकार्यत्वाज्जगत्सर्वमपि त्रिगुणात्मकमेवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

श्री० टी०–अनुक्तमपि संगृह्णन्प्रकरणार्थमुपसंहरति–न तदस्तीति । एभिः प्रकृतिसंभवैः सत्त्वादिभिस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं हीनं सत्त्वं प्राणिजातमन्यद्वा यत्स्यात्तत्पृथिव्यां मनुष्यलोकादिषु दिवि देवेषु च क्वापि नास्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

स० टी०–अनुक्तमपि संगृह्णन्नर्थं प्रकृतमीश्वरः ॥ उपसंहरतीदानीं गुणातीतो जगत्पतिः ॥ १ ॥ प्रकृतिर्यैश्वरी माया तयैव परिकल्पितैः ॥ सत्त्वादिभिर्गुणैरेभिस्त्रिभिर्बन्धनहेतुभिः ॥ २ ॥ हीनं सत्त्वं प्राणिजातं स्यादप्राण्यथ वेह यत् ॥ मनुष्यादिषु भूमौ वा देवेषु त्रिदिवेऽथ वा ॥ ३ ॥ पाताले वाथ कुत्रापि नास्त्येवेति विनिश्चितम् ॥ गुणत्रयविहीनं हि नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥ ४ ॥ यतो मायाकृतं विश्वं त्रिगुणात्मकमेव हि ॥ ५ ॥ ४० ॥

भा० टी०–क्रियाकारकफलानां प्रत्येकं सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमुक्त्वा किंचिदेभिस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तमपि भविष्यतीत्याकाङ्क्षापनुत्तयेऽनुक्तमपि संगृह्णन् प्रकरणार्थमुपसंहरति–नेति । न तदस्ति पृथिव्यां वा मनुष्यादि सत्त्वं प्राणिजातमन्यद्वाऽप्राणिजातं स्थावरादि दिवि देवेषु वा पुनः प्रकृतिजैः प्रकृतितो जातैः एभिस्त्रिभिर्गुणैः सत्त्वादिभिः मुक्तं परित्यक्तं यत्स्यात्तन्नास्तीत्यर्थः । अदिवीति परलोकत्वसादृश्याद्ब्राह्मण इतिवत् । पातालादिपरमितीतरे । आचार्यैस्तु तृतीयवाशब्दाभावात्पृथिवीविवरात्मकस्य पातालस्यापि पृथिवीशब्देन संग्रहसंभवात् प्रयोजनशून्यक्लिष्टकल्पनाया अयुक्तत्वाच्चैवं न व्याख्यातम् । तथाच क्रियाकारकफललक्षणः सर्वोऽपि संसारः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकोऽविद्यापरिकल्पितः समूलोऽनर्थः आत्मज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्या निवर्तितव्य इति भावः ॥ ४० ॥

प० टी०–अथानुक्तमपि संगृह्णन् प्रकरणार्थमुपसंहरति–न तदस्तीति । यदेभिः सत्त्वादिभिस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं सत्त्वं प्राणिजातं तत्तादृशं पृथिव्यां मनुष्येषु नास्ति, दिवि देवेष्वपि नास्ति । यावच्छरीरजातं तावत्त्रिगुणात्मकमेवास्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥

रा० टी०–सर्वजीवानां गुणत्रयबद्धत्वेन त्रैविध्यमाह–न तदस्तीति । यत्सत्त्वं जीवजातं प्रकृतिजैरेभिस्त्रिभिः सत्त्वादिगुणैर्मुक्तं स्यात्, तत्सत्त्वं पृथिव्यां दिवि देवेषु वा । पुनःशब्दः समुच्चये । नास्ति । मुक्तव्यावृत्त्यर्थं पृथिव्यामित्याद्युक्तिः । तत्रायं विवेकः सात्त्विकराजसतामसभेदेन जीवास्त्रिविधाः । सात्त्विकाद्योऽपि प्रत्येकं त्रिविधाः । पितृगन्धर्वपूर्वकाः सात्त्विकतामसाः । मुनयः सात्त्विकराजसाः । देवाः सात्त्विकसात्त्विकाः । सात्त्विकसात्त्विकेष्वपि बृहस्पत्यादयः सात्त्विकसात्त्विकतामसाः । इन्द्रः सात्त्विकसात्त्विकराजसः । ब्रह्मादिरुद्रावसानाः सात्त्विकसात्त्विकसात्त्विकाः । तेष्वपि रुद्रः सात्त्विकसात्त्विकसात्त्विकतामसः । ब्रह्माणीभारत्यौ तादृमाजस्यौ । प्राणवायु तु सात्त्विकसात्त्विकसात्त्विकसात्त्विकावेवेति । मध्यमोत्तमनराः राजसाः । तेऽपि प्रत्येकं त्रिविधाः । तेषु विप्रादिपुल्कसान्ताः ये भागवताः ते राजससात्त्विकाः । राजससात्त्विकेष्वपि विप्रा राजससात्त्विकसात्त्विकाः । क्षत्रियास्तु स्वल्परजोयुक्ततया राजसराजससात्त्विकाः । वैश्यास्तु समसत्त्वरजोयुक्ततया राजसराजससात्त्विकाः । शूद्रास्तु तमसोऽल्पसत्त्वेन रजोधिकेन युक्ततया तामसराजससात्त्विकाः । राजससात्त्विकसात्त्विकविप्रेष्वपि ये शुद्धसत्त्वात्मकास्ते परमहंसशब्दिताः शिखायज्ञोपवीतहीनाः एकदण्डिनः । किंचिद्रजोयुक्तसत्त्ववन्तो हंसशब्दिताः यज्ञोपवीतवन्तः एकदण्डिनः शिखाहीनाः । ततोऽधिकरजोयुक्तसत्त्ववन्तः त्रिदण्डिनः । शिखायज्ञोपवीतवन्तो भग्नैकरात्रिपराः • बहूदकसंज्ञकाः । ततोऽप्यधिकरजोयुक्तसत्त्ववन्तस्त्रिदण्डिनः शिखायज्ञोपवीतवन्तो यावज्जीवं पुनश्चाशनाः कुटीचकाः । तामसा अपि सात्त्विकादिभेदेन त्रिविधाः । तत्र नराधमाः सात्त्विकतामसाः । दैत्यभृत्या राजसतामसाः । महादैत्यास्तामसतामसा इति ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ! ॥
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

त० टी०—तदेवं श्रेयस्कामानां श्रेयसे ज्ञानकर्मकर्त्रादीनां सात्त्विकोपादानायेतरयोः परिहाराय सात्त्विकादिविवेकज्ञापनपूर्वकं त्रिलोकवर्तिप्राणिजातस्य त्रैगुण्यमेव प्रतिपादितमिदानीं सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वे सति राजसतामसपरिहारेण सात्त्विकज्ञानकर्मादिनिष्ठस्यापि अनित्यापायि सातिशयं स्वर्गादिसंबन्धि स्रक्चन्दनारामविहारदिव्यविमानसोमपानाप्सरोविहाराद्येव फलं स्यान्न तु नित्यानपायिनिरतिशयसुखरूपं मोक्षाख्यं फलं, तस्मात् कथं मोक्षो भवेदित्यपेक्षायां स्वस्ववर्णाश्रमाधिकारानुसारेण वेदविहितानि सात्त्विकानि कर्माण्येव परपुरुषाज्ञापालनबुद्ध्या फलकर्तृत्वाभावेनानुष्ठितानि तत्प्रसादजन्यज्ञानभक्तिद्वारेण भगवत्प्राप्तिलक्षणमोक्षफलकानि भवन्तीति प्रतिपादयितुं कर्माधिकारिणां ब्राह्मणादीनां स्वभावानुगुणानि सत्त्वादिगुणभिन्नानि कर्माणि वृत्तिभिः सह विवेक्तुं प्रतिजानीते—ब्राह्मणेति । ब्राह्मणक्षत्रियविशामिति त्रयाणां समासकरणं द्विजत्वेन वेदाध्ययनयज्ञाद्यधिकारज्ञापनार्थम् । शूद्राणां चेति समासात्पृथक्करणमेकजातितया वेदाध्ययनाद्यधिकारबहिर्भूतत्वज्ञापनार्थम् । वेदाध्ययनस्योपनयनसंस्कारतन्त्रत्वात् "तं होपनिन्ये अधीहि भगव इति होपससाद" इति श्रुतेः । शूद्रस्य तु "न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः" इति तन्निषेधात् । साक्षाद्वेदाध्ययननिषेधोऽपि "पद्यु ह वा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रस्य समीपे नाध्येतव्यम् । अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाछेदः, धारणे शरीरभेदः" इति श्रुतिस्मृतिभ्यां शूद्रस्य वेदश्रवणनिषेधादध्ययननिषेधः सुतरां सिद्धः, अध्ययनस्य श्रवणपूर्वकत्वात् । हे परन्तप ! ब्राह्मणादीनां कर्माणि प्रकर्षेण विभक्तानि इतरेतरविभागेन स्थितानि । कैः स्वभावप्रभवैर्गुणैः । तथा हि ब्राह्मणस्य स्वभावप्रभवो रजस्तमोऽभिभवेनोद्रिक्तः सत्त्वगुणः, क्षत्रियस्य स्वभावप्रभवस्तमःसत्त्वाभिभवेनोद्रिक्तो रजोगुणः, वैश्यस्य स्वभावप्रभवस्तमउपसर्जन उद्रिक्तो रजोगुणः, शूद्रस्य स्वभावप्रभवस्तु रजउपसर्जन उद्रिक्तस्तमोगुणः । एवमेतैः स्वभावप्रभवैर्गुणैश्चतुर्णां वर्णानां प्रविभक्तानि कर्माणि शास्त्रेषु प्रतिपादितानि मया वक्ष्यमाणानि त्वमवधारयेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

म० टी०—तदेवं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकः क्रियाकारकफललक्षणः सर्वः संसारो मिथ्याज्ञानकल्पितोऽनर्थश्चतुर्दशाध्यायोक्त उपसंहृतः । पञ्चदशे च वृक्षरूपककल्पनया तमुक्त्वा 'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा । ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।' इत्यसङ्गशस्त्रेण विषयवैराग्येण तस्य छेदनं कृत्वा परमात्माऽन्वेष्टव्य इत्युक्तम् । तत्र सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वे त्रिगुणात्मकस्य संसारवृक्षस्य कथं छेदोऽसङ्गशस्त्रस्यैवानुपपत्तेरित्याशङ्कायां स्वस्वाधिकारविहितैर्वर्णाश्रमधर्मैः परितोष्यमाणात् परमेश्वरादसङ्गशस्त्रलाभ इति वदितुमेतावानेव सर्ववेदार्थः परमपुरुषार्थमिच्छद्भिरनुष्ठेय इति च गीताशास्त्रार्थ उपसंहर्तव्य इत्येवमर्थमुत्तरं प्रकरणमारभ्यते । तत्रेदं सूत्रम्—ब्राह्मणेति । त्रयाणां समासकरणं द्विजत्वेन वेदाध्ययनादितुल्यधर्मत्वकथनार्थम् । शूद्राणामिति पृथक्करणमेकजातित्वेन वेदानधिकारित्वज्ञापनार्थम् । तथा च वसिष्ठः—'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां त्रयो वर्णा द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यास्तेषाम्—'मातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौञ्जिबन्धने । अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ' इति । तथा प्रतिनियतं चातुर्वर्ण्यं स्थानविशेषाच्च—"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः । ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत" इत्यपि निगमो भवति ।

गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत, त्रिष्टुभा राजन्यं, जगत्या वैश्यं, न केनचिच्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कारो विज्ञायते इति । 'शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः' इति च गौतमः । हे परन्तप शत्रुतापन तेषां चतुर्णामपि वर्णानां कर्माणि प्रकर्षेण विभक्तानि इतरेतरविभागेन व्यवस्थितानि । कैः ? स्वभावप्रभवैर्गुणैः, ब्राह्मण्यादिस्वभावस्य प्रभवैर्हेतुभूतैर्गुणैः सत्त्वादिभिः । तथाहि ब्राह्मणस्वभावस्य सत्त्वगुण एव प्रभवः प्रशान्तत्वात् । क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रजः ईश्वरस्वभावत्वात् । वैश्यस्वभावस्य तमउपसर्जनं रजः ईहास्वभावत्वात् । शूद्रस्वभावस्य रजउपसर्जनं तमः मूढस्वभावत्वात् । अथवा मायाख्या प्रकृतिः स्वभावः तत उपादानात् प्रभवो येषां तैः । प्राग्भवीयः संस्कारो वर्तमाने भवे स्वफलाभिमुखत्वेनाभिव्यक्तः स्वभावः स निमित्तत्वेन प्रभवो येषामिति वा । शास्त्रस्यापि पुरुषस्वभावसापेक्षत्वाच्छास्त्रेण प्रविभक्तान्यपि गुणैः प्रविभक्तानीत्युच्यन्ते । 'आख्यातानामर्थं बोधयतामधिकारिशक्तिः सहकारिणी' इति न्यायात् । तथा हि गौतमः—'द्विजातीनामध्ययनमिज्यादानं, ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः । पूर्वेषु नियमस्तु । राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानां न्यायदण्डत्वं, वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं च । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिस्तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचमाचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमेवैके श्राद्धकर्म भृत्यभरणं स्वदारवृत्तिः परिचर्योत्तरेषाम्' इति । अत्र साधारणा असाधारणाश्च धर्मा उक्ताः । पूर्वेषु अध्ययनेज्यादानेषु नियमः अवश्यकर्तव्यत्वं नतु प्रवचनयाजनप्रतिग्रहेषु वृत्त्यर्थत्वादित्यर्थः । वणिक् वाणिज्यं, कुसीदं वृद्ध्यै धनप्रयोगः । उत्तरेषामिति श्रेष्ठानां द्विजातीनामित्यर्थः । वसिष्ठोऽपि 'षट्कर्माणि ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति । त्रीणि राजन्यस्याध्ययनं यज्ञो दानं च शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत् । एतान्येव त्रीणि वैश्यस्य कृषिवणिक्पाशुपाल्यं कुसीदं च । तेषां परिचर्या शूद्रस्य' इति । आपस्तम्बोऽपि—'चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान् । स्वकर्म ब्राह्मणस्याध्ययनमध्यापनं यज्ञो याजनं दानं प्रतिग्रहणं दायाद्यं शिलोञ्छाद्यन्यच्चापरिगृहीतम् । एतान्येव क्षत्रियस्याध्यापनयाजनप्रतिग्रहणानीति परिहाय युद्धदण्डाधिकानि । क्षत्रियवत् वैश्यस्य दण्डयुद्धवर्जं कृषिगोरक्ष्यवाणिज्याधिकम् । परिचर्या शूद्रस्येतरेषां वर्णानाम्' इति । मनुरपि—'अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ एकमेव [illegible] शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया' इति । एवं चतुर्णामपि वर्णानां गुणभेदेन कर्माणि प्रविभक्तानि ॥ ४१ ॥

शं० टी०—एवं सर्वस्यापि जगतो गुणत्रयात्मकत्वे सिद्धे गुणत्रयातिक्रमणं कृतवत एव मुक्तिरिति गुणानत्येतुमिच्छोर्मुमुक्षोस्तदतिक्रमसिद्धेः परमकारणं ज्ञानं तत्सिद्धेः कारणं सत्त्वशुद्धिस्तत्कारणं तु कर्मैव सदेवावश्यं कर्तव्यमिति वैदिकानां कर्मणां सर्वेषां कर्तव्यतायां प्राप्तायां ब्राह्मणादीनां मुमुक्षूणां येषां येषां स्वस्वगुणानुरूपेण यानि यानि कर्माणि विभक्तानि भवन्ति तैस्तैस्तानि तान्येव कर्तव्यानि न त्वितराणीति नियमं दर्शयति—ब्राह्मणेति । ब्राह्मणाश्च क्षत्रियाश्च विशश्च तेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशामित्यत्र जात्या विषमत्वेऽपि उपनयनाध्ययनयजनादिकर्मभिराश्रमेण च समत्वाद्धर्मतः समानानां समासकरणमविरुद्धम् । शूद्राणां चेति पृथक्करणं जात्या धर्मेण क्रियया च विषमत्वात्तत्र विरुद्धम् । एवं तेषां ब्राह्मणादीनां शूद्राणां च नियमेन कर्तव्यानि कर्माणि स्वभावप्रभवैः स्वभावः प्रकृतिस्तत्प्रभवैर्गुणैः सत्त्वादिभिः प्रविभक्तानि प्रकर्षेण विभक्तानि गुणवता गुणभेदेन कर्माण्यपि भिन्नानि गुणैरसंकीर्णत्वेन व्यवस्थापितानि भवन्तीत्यर्थः । यद्वा स्वभावप्रभवैः ब्राह्मणस्वभावः केवलसत्त्वगुणप्रभवः, क्षत्रियस्वभावः सत्त्वमिश्रितरजः

प्रभवः, वैश्यस्वभावः रजोमिश्रिततमःप्रभवः, शूद्रस्वभावः केवलतमःप्रभवः, एवं सत्त्वादिगुणभेदेन तत्तद्गुणवत्त्वं ब्राह्मणादीनां शूद्राणां च कर्तव्यानि कर्माण्यपि भिद्यन्त इत्यर्थः। यद्वा "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इतिश्रुत्युक्तप्रकारेण चत्वारो वर्णाः ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयानितिन्यायेन च भव एव भावो जननं स्वः स्वकीयो भावः स्वभावः। यद्वा स्वेषां भावः स्वभावः मुखबाह्वादिभ्यो जननं प्रभवः कारणं येषां तैः स्वभावप्रभवैः स्वजन्मनिमित्तकैर्गुणैरुत्तमत्वमध्यमत्वनिकृष्टत्वातिनिकृष्टत्वैरुपलक्षितानां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां नियमेन कर्तव्यानि यानि कर्माणि तानि जन्मत उत्कृष्टत्वादिभेदेन विभक्तानि शास्त्रेण विभज्य विहितानीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

श्री० टी०—ननु च यद्येवं सर्वमपि क्रियाकारकफलादिकं प्राणिजातं च त्रिगुणात्मकमेव कथं तर्हि अस्य मोक्ष इत्यपेक्षायां स्वस्वाधिकारविहितैः कर्मभिः परमेश्वराराधनात्तत्प्रसादलब्धज्ञानेनेत्येवं सर्वगीतार्थसारं संगृह्य प्रदर्शयितुं प्रकरणान्तरमारभते—ब्राह्मणेत्यादि यावदध्यायसमाप्ति। हे परंतप शत्रुतापन! ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां विशां च शूद्राणां च कर्माणि प्रविभक्तानि प्रकर्षेण विभागतो विहितानि। शूद्राणां समासात्पृथक्करणं द्विजत्वाभावेन वैलक्षण्यात्। विभागोपलक्षणमाह—स्वभावः सात्त्विकादिः प्रभवति प्रादुर्भवति येभ्यस्तैर्गुणैरुपलक्षणभूतैः। यद्वा स्वभावः पूर्वजन्मसंस्कारस्तस्मात्प्रादुर्भूतैरित्यर्थः। तत्र सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणाः, सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियाः, तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्याः, रजउपसर्जनतमःप्रधानाः शूद्राः ॥ ४१ ॥

स० टी०—तदेवं सर्वसंसारो मिथ्याज्ञानप्रकल्पितः ॥ गुणत्रयात्मकोऽनर्थः क्रियाकारकलक्षणः ॥ १ ॥ उक्तश्चतुर्दशाध्याये पुनस्तत्रोपसंहृतः ॥ यथा पञ्चदशे वृक्षरूपकेणापि वर्णितः ॥ २ ॥ शितेनासङ्गशस्त्रेण भोगवैराग्यरूपिणा ॥ तस्य संछेदनं, कृत्वाऽन्वेष्टव्यं पदमीरितम् ॥ ३ ॥ सर्वस्य त्रिगुणात्मत्वे संसाराख्यतरोः कथम् ॥ छेदोऽप्यसङ्गशस्त्रेण संभवेत्त्रिगुणात्मनः ॥ ४ ॥ असङ्गशस्त्रं वैराग्यं तस्याप्यनुपपत्तितः ॥ एवं प्राप्ते हरिः प्राह साधनं श्रुतिसंमतम् ॥ ५ ॥ स्वस्वाधिकारविहितैर्धर्मैर्वर्णाश्रमोदितैः ॥ परितोष्यमाणादीशाद्वैराग्यप्राप्तिरञ्जसा ॥ ६ ॥ ततो वेदान्तवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः ॥ सकार्याज्ञानमावाध्य कृतकृत्योऽभिजायते ॥ ७ ॥ एतामान्सर्ववेदार्थोऽप्यनुष्ठेयो मुमुक्षुभिः ॥ तथैव गीताशास्त्रार्थ उपसंहारमर्हति ॥ ८ ॥ इत्येवमर्थमारम्भसंदर्भस्योत्तरस्य च ॥ त्रयाणां हि द्विजत्वेन स्वाध्यायाध्ययनादिना ॥ ९ ॥ तुल्यधर्मत्वबोधार्थं समासकरणं कृतम् ॥ शूद्राणामेकजातित्वात्स्वाध्यायानधिकारिता ॥ १० ॥ अस्तीति ज्ञापनार्थाय यत्पृथक्करणं कृतम् ॥ तेषां चतुर्णां वर्णानां परस्परविभागतः ॥ ११ ॥ व्यवस्थितानि कर्माणि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ तत्र सत्त्वगुणो विप्रस्वभावस्यास्ति कारणम् ॥ १२ ॥ प्रशान्तत्वाच्च धाभूपस्वभावस्य रजोगुणः ॥ सत्त्वोपसर्जनो यस्मादीश्वरत्वं नृपे भवेत् ॥ १३ ॥ तमो गौणरजो वैश्यस्वभावस्यास्ति कारणम् ॥ तस्यापीहास्वभावत्वाद्रजोमुख्यत्वमस्त्यतः ॥ १४ ॥ रजो गौणतमः शूद्रस्वभावस्यास्ति कारणम् ॥ तस्य मूढस्वभावत्वादित्येवं गुणनिर्णयः ॥ १५ ॥ मायाख्या प्रकृतिर्यद्वा स्वभावः सर्वग स्मृतः ॥ सत एवास्त्युपादानात्येषां प्रभव इत्यपि ॥ १६ ॥ प्राग्भवीयोऽपि संस्कारो वर्तमानभवेऽस्य ना ॥ स्वफलाभिमुखत्वेनाभिव्यक्तः प्रभवः स च ॥ १७ ॥ स्वभाव कारणं येषां तैर्विभक्तानि या गुणैः ॥ आगमेनैव कर्माणि प्रविभक्तानि यद्यपि ॥ १८ ॥ तथाप्यस्त्येव शास्त्रस्य तत्स्वभावाद्यपेक्षता ॥ १९ ॥ ४१ ॥

भा० टी०—एवं क्रियादिलक्षणस्य संसारस्य त्रिगुणात्मकत्वप्रतिपादकेन चतुर्दशसप्तदशाध्यायोक्तोऽर्थ उपसंहृतः। पञ्चदशे चोर्ध्वमूलमधःशाखमित्यादिनाऽविद्यापरिकल्पितं संसारं वृक्षरूपेणाभिधाय 'असङ्ग-

शस्त्रेण दृढेन छित्त्वा । ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः' इत्युक्तम् । पूर्वोत्तराध्याये-षु च स्वस्वाधिकारविहितैर्वर्णाश्रमधर्मैर्निष्कामैरुपासनासमुच्चितैराराधितात्परमेश्वराल्लब्ध्वाऽसङ्गशस्त्रः आसुर्या राक्षस्या च संपदा विनिर्मुक्तः दैव्या तया संपन्नः प्रत्यगभिन्नब्रह्मविचारतत्परः संसारवृक्षमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ब्रह्मज्ञानेन विमुच्यत इत्युक्तम् । तमिमं सर्वं गीताशास्त्रार्थमुपसंहर्तुं, एतावानेव सर्वो वेदस्मृत्यर्थः पुरुषार्थमिच्छद्भिरनुष्ठेय इति बोधनाय ब्राह्मणेत्यादिप्रकरणमारभते—ब्राह्मणेति । ब्राह्मणाश्च क्षत्रियाश्च विशश्च ब्राह्मणक्षत्रियविशः तेषामुपनयनसंस्कारवत्त्वे सति वेदाधिकारित्वं सममिति ब्राह्मणादित्रयाणां समासकरणं शूद्राणामुपनयनवर्जितत्वे सति वेदानधिकारित्वमभिप्रेत्य पृथक् निर्दिशति । शूद्राणां च कर्माणि शमदमादीनि प्रविभक्तानि इतरेतरविभागेन व्यवस्थितानि । कैरित्यपेक्षायामाह—स्वभावप्रभवैर्गुणैः । ईश्वरस्य त्रिगुणात्मिका प्रकृतिः स्वभावः सः प्रभवः कारणं येषां तैर्गुणैः । यद्वा स्वभावस्य प्रभवास्तैस्तथा च ब्राह्मण-स्वभावस्य सत्त्वगुणः प्रभवः कारणम्, तथा क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रजः प्रभवः, वैश्यस्वभावस्य तमउपसर्जनं रजः प्रभवः, शूद्रस्वभावस्य रजउपसर्जनं तमः प्रभवः—शान्त्यैश्वर्येहामूढस्वभावदर्शनाच्चतुर्णाम् । अथवा जन्मान्तरकृतसंस्कारः प्राणिनां वर्तमानजन्मनि स्वकार्याभिमुखत्वेनाभिव्यक्तः स्वभावः सः प्रभवो येषां तैः प्रकृत्युद्बोधितैर्गुणैः स्वकार्यानुरूप्येण ब्राह्मणादीनां शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि । शास्त्रेणापि ब्राह्मणादीनां सत्त्वादिगुणविशेषापेक्षयैव शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि, न तु गुणानपेक्षयेति शास्त्रविभ-क्तान्यपि तानि गुणविभक्तान्युच्यन्ते । क्षत्रियस्वभावजं शत्रुतापनरूपं कर्म त्यक्तुमशक्यमङ्गीकर्तुं योग्यो-ऽसीति सूचयति परंतपेतिसंबोधनेन ॥ ४१ ॥

प० टी०—यद्येवं प्राणिजातं त्रिगुणात्मकं तर्हास्य कथं मोक्ष इत्यपेक्षायां स्वस्वाधिकारविहितैः कर्मभिः परमेश्वराराधनात्तज्ज्ञानेन मोक्ष इति सकलगीतार्थं संगृह्य दर्शयितुं प्रकारान्तरमारभते—ब्राह्मणेति । हे परंतप शत्रुतापन, ब्राह्मणादीनां चतुर्णां वर्णानां कर्माणि प्रविभक्तानि प्रकर्षेण विभागतो विहितानि । विभागो-पलक्षणमाह—स्वभावप्रभवैर्गुणैरिति । स्वभावः सात्त्विकादिः प्रभवत्याविर्भवति येभ्यस्तैर्गुणैरुपलक्षणभूतैः । यद्वा स्वभावः पूर्वजन्मसंस्कारस्तस्मात्प्रादुर्भूतैः । तत्र सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणाः, सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियाः,तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्याः, रजउपसर्जनतमःप्रधानाः शूद्राः । तदुक्तम् 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' इति ॥ ४१ ॥

रा० टी०—इदानीं ब्राह्मणाद्यधिकारिगुणकृतकर्माणि भिन्नानि सन्तीत्याह—ब्राह्मणेति । त्रैवर्णिकाना-मिव द्विजन्मत्वं नेति बोधनाय शूद्राणामिति पृथङ्निर्देशः । स्वभावप्रभवैः ब्राह्मणादितत्तत्स्वभावानुबन्धि-भिः । सत्त्वादिगुणैः कर्माणि प्रविभक्तानि तानि मे शृण्विति भावः ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ॥
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥

त० टी०—तत्र ब्राह्मणानां स्वभावप्रभवाणि कर्माण्याह—शम इति । शमो बाह्येन्द्रियसंयमः, दमो मनोनियमनं, तपः शास्त्रीयव्रतोपवासनियमैः शरीरतापनं, शौचं शास्त्रीयकर्मयोग्यतापादनं बाह्या-भ्यन्तरं, तत्र बाह्यं मृज्जलादिना, आभ्यन्तरं रागद्वेषशून्यत्वं, क्षान्तिर्बहुपकृतस्याप्यविकृतचित्तत्वम्, आर्जवं भावकौटिल्यराहित्यं शरीरवाङ्मनोभिः समानाचरणमित्यर्थः, ज्ञानं परावरतत्त्वयाथात्म्यबोधः, विज्ञानं परस्परविरुद्धानां वाक्यानामविरोधेन महावाक्यार्थावबोधः, आस्तिक्यं वेदतदनुकूलस्मृतिपु-राणेतिहासपञ्चरात्राद्युक्तार्थस्य कृत्स्नस्य सत्यतानिश्चयः—एतद्ब्राह्मणस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४२ ॥

१ क्षात्रं कर्मेति पाठः ।

म० टी०—तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकगुणकृतानि कर्माण्याह—शम इति। शमोऽन्तःकरणोपरमः, दमो बाह्यकरणोपरमः प्रागुक्तः, तपः शारीरादि देवद्विजगुरुप्राज्ञेत्यादावुक्तं, शौचमपि बाह्याभ्यन्तरभेदेन प्रागुक्तं, क्षान्तिः क्षमा आक्रुष्टस्य ताडितस्य वा मनसि विकारराहित्यं प्राग्व्याख्यातं, आर्जवमकौटिल्यं प्रागुक्तं, ज्ञानं साङ्गवेदतदर्थविषयं, विज्ञानं कर्मकाण्डे यज्ञादिकर्मकौशल्यं ब्रह्मकाण्डे ब्रह्मात्मैक्यानुभवः, आस्तिक्यं सात्त्विकी श्रद्धा प्रागुक्ता। एतच्छमादिनवकं स्वभावजं सत्त्वगुणस्वभावकृतं ब्रह्मकर्म ब्राह्मणजातेः कर्म। यद्यपि चतुर्णामपि वर्णानां सात्त्विकावस्थायामेते धर्माः संभवन्ति तथापि बाहुल्येन ब्राह्मणे भवन्ति सत्त्वस्वभावत्वात्तस्य। सत्त्वोद्रेकवशेन त्वन्यत्रापि कदाचिद्भवन्तीति शास्त्रान्तरे साधारणधर्मतयोक्ताः। तथा च विष्णुः—'क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः। अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया ॥ आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्। अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते ॥' इति। सामान्यश्चतुर्णामपि वर्णानां, तथा प्रायेण चतुर्णामप्याश्रमाणामित्यर्थः। तथा बृहस्पतिः—'दया क्षमाऽनसूया च शौचानायासमङ्गलम्। अकार्पण्यमस्पृहत्वं सर्वसाधारणानि च ॥ परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा। आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता ॥ बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्। न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता ॥ न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि। नान्यदोषेषु रमते साऽनसूया प्रकीर्तिता ॥ अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिर्गुणैः। स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम् ॥ शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा। अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते ॥ प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम्। एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ स्तोकादपि प्रदातव्यमदीनेनान्तरात्मना। अहन्यहनि यत्किंचिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम् ॥ यथोत्पन्नेन संतोषः कर्तव्यो ह्यर्थवस्तुना। परस्याचिन्तयित्वार्थं साऽस्पृहा परिकीर्तिता ॥' इति। एत एवाष्टावात्मगुणत्वेन गौतमेन पठिताः—'अथाष्टावात्मगुणाः दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा' इति। तथा महाभारते—'सत्यं दमस्तपः शौचं संतोषो ह्रीः क्षमाऽऽर्जवम्। ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्मः सनातनः ॥ सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसो दमनं दमः। तपः स्वधर्मवर्तित्वं शौचं संकरवर्जनम् ॥ संतोषो विषयत्यागो ह्रीरकार्यनिवर्तनम्। क्षमा द्वन्द्वसहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता ॥ ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशान्तता। दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥' इति। देवलः—'शौचं दानं तपः श्रद्धा गुरुसेवा क्षमा दया। विज्ञानं विनयः सत्यमिति धर्मसमुच्चयः' इति। तथा—'व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनं तपः। प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता ॥ नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य कर्मकृत्यप्रयोजनम्। यत्पुनर्वैदिकीनां च लौकिकीनां च सर्वशः ॥ धारणं सर्वविद्यानां विज्ञानमिति कीर्त्यते। विनयं द्विविधं प्राहुः शश्वद्दमशमाविति ॥' इति। शेषं व्याख्यातप्रायमिति वचनानि न लिखितानि। याज्ञवल्क्यः—'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥' इति। इयं च सर्वा दैवी संपत् प्राग्व्याख्याता ब्राह्मणस्य स्वाभाविकी इतरेषां नैमित्तिकीति न विरोधः ॥ ४२ ॥

शं० टी०—तेषां जातिनियमेन विभक्तानि तानि कर्माणि कानीत्यत आह—शम इति। शमश्चित्तोपरमः दृष्टादृष्टविषये सर्वत्र निःशेषभोगाशानिवृत्तिः, दम इन्द्रियाणामुपरमः निषिद्धार्थेष्वप्रवृत्तिः, तपः सप्तदशे प्रोक्तं शारीरादित्रिविधं तपः, शौचं बाह्याऽऽभ्यन्तरा शुद्धिः, अनृतस्य परान्नस्य च त्यागेन वक्त्रस्य जिह्वायाश्च शुद्धिः, प्रतिग्रहत्यागेन पाणिशुद्धिः, विहितब्रह्मचर्येण कच्छशुद्धिः, रागद्वेषादिदोषत्यागेन मनःशुद्धिः, विहिताचरणेन क्रियाशुद्धिरिति षोढा शौचम्। क्षान्तिः क्षमा निन्दाक्रोशताडनादिप्रसक्तावपि चित्तविकारानुदयः, आर्जवं सर्वदा करणत्रयस्यैकरूपत्वं, ज्ञानं सम्यग्भगवद्वेदशास्त्राणां पदार्थस्यार्थ-

ज्ञानं, विज्ञानं त्वनुष्ठानानुष्ठापनक्षमं निरङ्कुशं शास्त्रार्थतत्त्वनिश्चयः, आस्तिक्यमास्तिकत्वमिदमवश्यं कर्तव्यमनेनेश्वरः प्रीयत इति कर्मणि कर्मफले च श्रद्धा । चकारोऽनुक्तयोराचार्यवेदेश्वरेषु भयभक्त्योः समुच्चयार्थः । एवकार एतत्त्वेव ब्राह्मणस्य मुमुक्षोः कर्तव्यं कर्मेत्यवधारणार्थः । स्वभावजं केवलसत्त्वप्रकृतितो मुखादुत्पत्तितो वा प्राप्तं ब्राह्मं ब्राह्मणजातेरर्हं कर्तव्यं कर्मेदं शास्त्रेण विहितमित्यर्थः । यद्यपि त्रैवर्णिकानां मुमुक्षूणां सर्वेषां शमाद्यास्तिक्यान्तं कर्म मोक्षसाधनत्वेन सममेव भवति तथापि केवलं सत्त्वप्रभवानां ब्राह्मणानां गुडस्य माधुर्यवन्निरुक्तं कर्म स्वाभाविकं नियतं च भवति तदितरेषां तु यत्नसाध्यमिति बोधयितुं ब्राह्मं कर्मेत्युक्तम् । तेन ब्राह्मणानामेव सत्त्वाधिक्याच्छमादिसंपत्तिस्तदेकसाध्ये ज्ञाने तत्फले मोक्षे चाधिकारो न त्वितरेषामिति सूचितं भवति । ततो मोक्षस्य संनिकृष्टं ब्राह्मणजन्म प्राप्तवद्भिः पण्डितैः क्षिप्रं मोक्षाय यतितव्यमिति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

श्री० टी०—तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह— शम इति । शमश्चित्तोपरमः, दमो बाह्येन्द्रियोपरमः, तपः पूर्वोक्तं शारीरादि, शौचं बाह्याभ्यन्तरं, क्षान्तिः क्षमा, आर्जवमवक्रता, ज्ञानं शास्त्रीयम्, विज्ञानमनुभवः, आस्तिक्यमस्ति परलोक इति निश्चयः—एतच्छमादि ब्राह्मणस्य स्वभावाज्जातं कर्म ॥४२॥

स० टी०—तत्र ब्राह्मणकर्माणि स्वाभाविकगुणेन वै ॥ कृतान्याह कृपासिन्धुः सर्वकर्मफलप्रदः ॥ १ ॥ शमोऽन्तःकरणे शान्तिर्बाह्येन्द्रियशमो दमः ॥ तपःस्वधर्मवर्तित्वं प्रागुक्तं वा त्रिधा तपः ॥ २ ॥ बाह्याभ्यन्तरभेदेन शौचं द्विविधमीरितम् ॥ क्षान्तिर्द्वन्द्वसहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता ॥ ३ ॥ ज्ञानं स्यात्साङ्गवेदार्थविषयं सत्त्वभागजम् ॥ विज्ञानं कर्मकाण्डे स्यात्कौशलं यज्ञकर्मसु ॥ ४ ॥ ब्रह्मकाण्डेऽपि वेदान्तनिर्णयेऽतिप्रगल्भता ॥ ज्ञानं वेदान्तविषयं प्रोक्तं चैव महर्षिभिः ॥ ५ ॥ यस्तुवैदिकीनां च लौकिकीनां च सर्वशः ॥ धारणं सर्वविद्यानां विज्ञानमिति कीर्त्यते ॥ ६ ॥ इत्यर्थं ऋषिभिः प्रोक्तः कर्मप्रस्ताव एतयोः ॥ आस्तिक्यं सात्त्विकी श्रद्धा ब्रह्मात्मैक्यादिदर्शने ॥ ७ ॥ एतच्छमादिनवकं शुद्धसत्त्वगुणोद्भवम् ॥ कर्म ब्राह्मणजातेस्तत्सत्त्वोद्रेकवशेन वै ॥ ८ ॥ चतुर्णामपि वर्णानां सत्त्वोद्रेकेण यद्यपि ॥ संभवन्ति गुणा एते तथापि ब्राह्मणे त्वमी ॥ ९ ॥ शुद्धसत्त्वस्वभावत्वाद्बाहुल्येन भवन्ति ते ॥ साधारणतयाप्युक्ता धर्मा एते यतो नृणाम् ॥१०॥ "क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः ॥ अहिंसा गुरुशुश्रूषा शास्त्रानुसरणं दया ॥ ११ ॥ आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् ॥ अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते" ॥१२॥ तथापि ब्राह्मणानां तु स्वभावात्संपदीरिता ॥ आगन्तुकीतरेषां स्याद्विशेषोऽयं विचार्यताम् ॥ १३ ॥ शमदमतपआदि ब्रह्मकर्माणुमात्रं न हि शरणमिहास्ति ब्रह्मन्धर्ममात्रा ॥ अशरणशरणं श्रीकृष्ण एवास्तु नित्यं शरणमिह भवाब्धौ मज्जतो भ्रान्त्यगाधे ॥ १४ ॥ ४२ ॥

भा० टी०—कानि पुनस्तानि कर्माणीत्यपेक्षायां तानि व्युत्पादयितुमादौ ब्राह्मणस्य कर्माणि दर्शयति— शम इति । शमः अन्तःकरणोपरम, दमः बाह्यकरणोपरम, तपः यथोक्तं, शारीरादिशौचं बाह्याभ्यन्तरभेदेन प्राग्व्याख्यातम् । क्षमा क्षान्तिः आक्रुष्टस्य ताडितस्य वा मनसि विकारराहित्यम्, आर्जवम् ऋजुत्वं, ज्ञानं शास्त्रीयम्—आत्मादिपदार्थज्ञानं, विज्ञानं शास्त्रार्थस्यानुभवारूढतापादनं, आस्तिक्यमास्तिकत्वभावः आगमोक्तार्थेषु श्रद्धानता, ब्रह्मकर्म ब्राह्मणजातेः कर्म स्वभावजं स्वभावप्रभवेन गुणेन सत्त्वगुणेन प्रविभक्तमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

प० टी०—तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शमो दम इति । शमश्चित्तोपरमः, दमश्चेन्द्रियोपरमः, तपः पूर्वोक्तं शारीरादि, शौचं बाह्याभ्यन्तरतः, क्षान्तिः क्षमा, आर्जवमवक्रता, ज्ञानं शास्त्रीयं, विज्ञानमनुभवः, आस्तिक्यमास्ति परलोक इति निश्चयः । एतद्ब्राह्मणस्य स्वभावसिद्धं कर्म ॥ ४२ ॥

रा० टी०—तत्र चतुर्वर्णकर्माणि क्रमात्त्रिभिराह—शम इत्यादिभिः । शमो भगवन्निष्ठा । दम इन्द्रियनिग्रहः । तपो ब्रह्मचर्यादि । शौचं बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः । क्षान्तिः क्रोधानुत्पत्तिः । आर्जवं मनोवाक्कायकर्मणामवैपरीत्यम् । ज्ञानं सामान्यतः । विज्ञानं विशेषतः । आस्तिक्यं धर्मादावस्त्यनेन प्रयोजनमिति भावना । एतत्सर्वं स्वभावजं सहजं ग्राह्यं ब्राह्मणसंबन्धि कर्मेति ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ॥
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म[1] स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

त० टी०—क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्माह—शौर्यमिति । शौर्यं पराक्रमः महत्तरानपि रिपून् हन्तुं निःशङ्कतया प्रवर्तनस्वभावत्वमित्यर्थः । तेजः परैरनभिभवयोग्यत्वे सति पराभिभवनसामर्थ्यं, धृतिः युद्धादिकर्मण्यारब्धे आपद्यपि अवसादशून्यत्वं, दाक्ष्यं सर्वक्रियासाधनचातुर्यं, युद्धे चाप्यपलायनं मरणे ज्ञातेऽपि परेभ्योऽपराङ्मुखत्वं, दानमर्थिभ्यस्तत्तदर्थत्यागः, ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमुत्पथगामिनां नियमनसामर्थ्यम्, एतत् क्षात्रं क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४३ ॥

म० टी०—क्षत्रियस्य गुणस्वभावकृतानि कर्माण्याह—शौर्यमिति । शौर्यं विक्रमो बलवत्तरानपि प्रहर्तुं प्रवृत्तिः, तेजः प्रागल्भ्यं परैरधर्षणीयत्वं, धृतिर्महत्यामपि विपदि देहेन्द्रियसंघातस्यानवसादः, दाक्ष्यं दक्षभावः सहसा प्रत्युत्पन्नेषु कार्येष्वव्यामोहेन प्रवृत्तिः, युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखीभावः, दानमसंकोचेन वित्तेषु स्वस्वत्वपरित्यागेन परस्वत्वापादानं, ईश्वरभावः प्रजापालनार्थमीशितव्येषु प्रभुशक्तिप्रकटीकरणं च । क्षत्रकर्म क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म स्वभावजं सत्त्वोपसर्जनरजोगुणस्वभावजम् ॥ ४३ ॥

श्री० टी०—एवं ब्राह्मं कर्मोक्त्वा क्षात्रं कर्माह—शौर्यमिति । शूरस्य भावः शौर्यं पराक्रमो वीराणामपि संहरणसामर्थ्यं, तेजः प्रागल्भ्यं बलवतामपि दुर्धर्षत्वं, धृतिर्विपदि चित्तस्य वैकल्यराहित्यं धैर्यं, दाक्ष्यं दक्षस्य भावो दाक्ष्यं प्रातिकूल्यशतेऽपि स्वकार्यनिर्वाहसामर्थ्यं च, युद्धे स्वपलायनं प्राणान्तेऽप्यपराङ्मुखत्वं, दानं पात्रेभ्यो वित्तसमर्पणं, ईश्वरभाव ऐश्वर्यं प्रभावातिशयेन सर्वनियन्तृत्वं धर्मेण प्रजापरिपालनमित्यर्थः । चकारोऽपिश्चोक्तसमुच्चयार्थः । शौर्यादैश्वर्यान्तं सर्वं कर्म स्वभावजं सत्त्वमिश्ररजःप्रकृतितो बाहुोत्पत्तितो वा प्राप्तं क्षात्रं क्षत्रियजातेरर्हं कर्तव्यं शास्त्रेण विहितमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

श्री० टी०—क्षत्रियस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शौर्यमिति । शौर्यं पराक्रमः, तेजः प्रागल्भ्यम्, धृतिर्धैर्यं, दाक्ष्यं कौशलं, युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखता, दानमौदार्यम्, ईश्वरभावो नियमनशक्तिः, एतत्क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४३ ॥

स० टी०—क्षत्रियस्य स्वभावोत्थकर्माण्याहाधुना हरिः ॥ शौर्यं पराक्रमस्तेजः प्रागल्भ्यं चान्यदुःसहम् ॥ १ ॥ धृतिर्महत्यां विपदि देहाद्यनवसादनम् ॥ उपस्थितेषु कार्येषु दाक्ष्यं सम्यक्प्रवृत्तिजम् ॥ २ ॥ युद्धेऽपराङ्मुखीभावो दानं पात्रेषु शास्त्रतः ॥ असंकोचेन वित्तेषु स्वस्वत्वत्यागपूर्वकम् ॥ ३ ॥ परस्वत्वापादनं स्यादीश्वरे भावदर्शनम् ॥ प्रजारक्षार्थमैश्वर्यादीशितव्येषु जन्तुषु ॥ ४ ॥ उद्घाटनं प्रभोः शक्तेः क्षत्रियस्य स्वभावजम् ॥ विहितं क्षत्रियाख्याया जातेः कर्म गुणानुगम् ॥ ५ ॥ ४३ ॥

भा० टी०—ब्राह्मणस्य कर्मोदाहृत्य क्षत्रियस्य तदाह—शौर्यमिति । शौर्यं शूरस्य भावो विक्रमो बलवत्तरानपि प्रहर्तुं प्रवृत्तिः, तेजः प्रागल्भ्यं परैरधर्षणीयत्वं, धृतिः धारणं यथा धृत्याऽनिमकेया चित्तवृत्त्या सर्वावस्थासु देहेन्द्रियसंघातस्यानवसादो भवति । दक्षस्य भावो दाक्ष्यं सहसा प्रत्युपस्थितेषु कार्येषु अव्यामोहेन बोधकौशल्यं, युद्धे चाप्यपलायनं शत्रुभ्योऽपराङ्मुखत्वं चकारात्पराङ्मुखस्याहननम् । दानं देयेषु वस्तुषु

[1] क्षत्रकर्म—पाठः ।

युत्तहस्तता, ईश्वरभावश्च ईश्वरस्य भाव ईशितव्यान् प्रति प्रभुशक्तिप्रकटीकरणम् । अनुक्तसमुच्चयार्थश्चः । क्षात्रं क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म स्वभावजं स्वभावप्रभवेन सत्त्वोपसर्जनरजोगुणेन प्रविभक्तमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

प० टी०—अथ क्षत्रियाणामाह—शौर्यमिति । शौर्यं पराक्रमः, तेजः प्रागल्भ्यम्, धृतिर्धैर्यम्, दाक्ष्यं दक्षत्वं कौशलमित्यर्थ. । युद्धेऽपलायनमपराङ्मुखता, दानमौदार्यम्, ईश्वरभावो नियामकत्वशक्तिरेतत्क्षत्रकर्म ॥ ४३ ॥

रा० टी०—शौर्यमिति । शौर्यमभीरुत्वं । तेजः शरीरगतवर्चोविशेषः । धृतिर्धैर्यं । दाक्ष्यं पाटवं । युद्धे चाप्यपलायनं भीत्या युद्धादनिवर्तनम् । दानं गोभूतिलहिरण्यादेः पात्रे प्रतिपादनम् । ईश्वरभावो दण्डनादिकर्तृत्वम् । 'प्रसह्य वित्ताहरणं शारीरो दण्ड एव च । अशिष्टानां शासनं च तथैवार्थविनाशनम् । एष ईश्वरभावः स्यान्न कार्यः क्षत्रियेतरैः' इति स्मृतेः । एतत्सर्वं स्वभावजं क्षत्रियसंबन्धि कर्मेत्यर्थः । अत्र ब्राह्मणधर्माः शमादयोऽपि तेभ्य. किंचिदूना क्षात्रधर्मेष्वपि ग्राह्याः । शमादेर्ब्राह्मणकर्मतोक्तिस्तु क्षत्रियधर्माद्यपेक्षयाऽऽधिक्यविवक्षयैव । येषु चक्रवर्तिषु विप्रेभ्योऽधिकशमादयस्तेऽत्र न विवक्षिताः । किंतु तदन्य एवेति ज्ञेयम् । क्षत्रधर्मा अपि विप्रादिषु क्रमादूना ज्ञेयाः ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

त० टी०—वैश्यशूद्रयोः कर्माह—कृषीति । कृषिरन्नोत्पादनार्थं भूमिकर्षणं, गोरक्षस्य भावो गौरक्ष्यं पशुपालनमित्यर्थः । वाणिज्यं वणिजः कर्म क्रयविक्रयलक्षणम्, अनेन कुसीदलक्षणं च ग्राह्यम्, एतद्वैश्यस्य स्वभावजं कर्म । परिचर्यात्मकं पूर्वोक्तवर्णत्रयाणां शुश्रूषात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् । एतैरेव त्रयाणां वर्णानां नित्यकर्तव्यतया वेदविद्भिर्मन्वादिभिर्विहितानि अन्यान्यध्ययनयज्ञादीनि तान्यप्यनुष्ठेयतया गृह्यन्ते इति ज्ञेयम् । तत्राध्ययनयज्ञदानानि त्रयाणां साधारणानि, ब्राह्मणस्याध्यापनादीनि त्रीण्यधिकानीति विवेकः । तथाऽऽह मनुः—"अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥" इति । शमदमादयस्तु यद्यपि सर्वेषां मुमुक्षूणां साधारणास्तथाऽपि ब्राह्मणस्य सत्त्वोद्रिक्तस्वभावत्वाद्विशिष्योक्ताः । कदाचिदन्यत्रापि सत्त्वोद्रेकवशात्ते भवन्तीति शास्त्रादेव ज्ञायते । तथोक्तं विष्णुस्मृतौ—"क्षमा सत्यं दमः शौचं दानमिन्द्रियसंयमः । अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं तथा ॥ आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम् । अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते" इति ॥ ४४ ॥

म०.टी०—कृषीति । कृषिरन्नोत्पत्त्यर्थं भूमेर्विलेखनं, गोरक्षस्य भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यं, वाणिज्यं वणिजः कर्म क्रयविक्रयादिलक्षणं, कुसीदमप्यत्रान्तर्गमनीयं, वैश्यकर्म वैश्यजातेः कर्म स्वभावजं तमउपसर्जनरजोगुणस्वभावजम् । परिचर्यात्मकं द्विजातिशुश्रूषात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजं रजउपसर्जनतमोगुणस्वभावजम् ॥ ४४ ॥

श्री० टी०—वैश्यशूद्रयोः कर्माह—कृषीति । कृषिः कर्षणं, गौरक्ष्यं गाः रक्षतीति गोरक्षस्तस्य भावो गौरक्ष्यं, पशुपालनं वाणिज्यं वणिज. कर्म वाणिज्यं क्रयविक्रयलक्षणमेतत्रिविधं कर्म स्वभावजं रजोमिश्रतम.प्रकृ-

वित ऊर्वोरुत्पत्तितो वा प्राप्तं वैश्यं विशो जातेरर्हं कर्तव्यं शास्त्रेण विहितमित्यर्थः । परिचर्यात्मकं त्रैवर्णिकानां शुश्रूषालक्षणं स्वभावजं केवलतमःप्रकृतितः पद्भ्यां जन्मतो वा प्राप्तं शूद्रस्य कर्तव्यं कर्म 'शुश्रूषा शूद्रस्य' इति शास्त्रेणोक्तमित्यर्थः । ननु ब्राह्मणक्षत्रियविशां नियमेन कर्तव्यानि कर्माणि वक्ष्यामीत्युपक्रम्य शमो दम इति शौर्यं तेज इति प्राकृत एव धर्म उपदिश्यते, न तु वैदिकं कर्म नियमेन कर्तव्यं येन कृतेनेश्वरः प्रीयते । न हि शमशौर्यकृष्यादिकर्मणाऽनुष्ठितेनेश्वरः प्रीयते, कथमिदं विपरीतं कर्मोपदिश्यत इति चेत्सत्यं, शमादिकं शौर्यादिकं च कर्म संध्यादिवदनुष्ठेयं न भवति, नापीदमीश्वरप्रीत्यै च भवति, तथापि विशेष उच्यते, 'अहरहः संध्यामुपासीत । सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति । यज्ञोऽध्ययनं दानम्' इति द्विजातीनामध्ययनमिज्या-दानमिति ब्राह्मणादीनां नियमेन नित्यं कर्तव्यं कर्म यथा शास्त्रेणोक्तं, तथा 'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति । दमेन दान्ताः किल्बिषमवधुन्वन्ति । तपसा किल्बिषं हन्ति' इति । राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानां न्यायदण्डत्वं बिभृयात्संग्रामे संस्थानमनिवृत्तिश्चेति । कृषिवाणिज्ये च स्वयंकृते कुसीदं चेति । शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजाति-स्तस्यापि सत्यमक्रोधः परिचर्या चेतरेषामित्येतान्यपि कर्माण्यनुष्ठेयत्वेन शास्त्रेणैवोक्तानि भवन्ति । किं त्वयमत्र विशेषः—ब्राह्मणादीनां संध्योपासनाग्निहोत्रादिरविभक्तो वर्णाश्रमधर्मः । शमशौर्यकृष्यादिस्तु प्रत्येकं विभक्तो जातिधर्मः । ततो जातिवर्णाश्रमनिमित्तकौ द्वावप्येतौ धर्मौ नित्यौ श्रौतस्मार्तकर्मवत्प्रधानावेव भवतो न तु तयोरङ्गाङ्गिभावः सिध्यति । उभावपि शास्त्रेण नियतत्वान्मुमुक्षूणां नियमेनानुष्ठातव्यावेव । नैवात्र किंचिद्विपरीतमस्ति गृहीतुं बोधयितुं वा । ततो जातिधर्मे नियमेन वर्तमानैर्ब्राह्मणादिभिः स्वस्ववर्णाश्रमार्हं कर्म वैदिकं नित्यमनुष्ठातव्यं नान्यथा । कर्मणः प्रधानस्यैकदेशानुष्ठानेन साकल्यासंभवान्न तत्फलं सिध्यति । न हि श्रौतस्मार्तयोरन्यतरानुष्ठानेन संकरस्य साकल्यं सिध्यति तद्वत् । ततः स्वधर्मे शमादौ शौर्यादौ सदा वर्त-मानैरेव ब्राह्मणक्षत्रियादिभिः संध्याग्निहोत्रादि नित्यं कर्म नियमेन कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ ४४ ॥

श्री० टी०—वैश्यशूद्रयोः कर्माह—कृषीति । कृषिः कर्षणं, गाः रक्षतीति गोरक्षस्तस्य भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यमित्यर्थः । वाणिज्यं क्रयविक्रयादि, एतद्वैश्यस्य स्वभावजं कर्म । त्रैवर्णिकपरिचर्यात्मकं शूद्रस्यापि स्वभावजं कर्म ॥ ४४ ॥

म० टी०—भूमेर्विलेखनं सस्यनिष्पत्त्यर्थं कृषिः स्मृता ॥ गौरक्ष्यं पाशुपाल्यं स्याद्वाणिज्यं क्रयविक्रयौ ॥ १ ॥ वैश्यजातेरिदं कर्म गुणनिष्ठस्वभावजम् ॥ द्विजशुश्रूषणं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ २ ॥ ४४ ॥

भा० टी०—क्षात्रं कर्म व्युत्पाद्य वैश्यशूद्रयोस्तद्दर्शयति—कृषिरिति । कृषिर्भूमेर्विलेखनं, गां रक्षतीति गोरक्षः तस्य भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यं, वाणिज्यं क्रयविक्रयादिलक्षणं वणिक्कर्म, कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्य-जातेः कर्म स्वभावजं स्वभावप्रभवेन तमउपसर्जनरजोगुणेन प्रविभक्तम् । परिचर्यात्मकं द्विजातिशुश्रूषा-स्वभावं कर्म शूद्रस्य शूद्रजातेरपि स्वभावजं स्वभावप्रभवेन रजउपसर्जनतमोगुणेन प्रविभक्तमित्यर्थः ॥४४॥

प० टी०—अथ वैश्यशूद्रयोराह—कृषीति । कृषिर्लाङ्गलादिभिर्भूमिकर्षणं, गा रक्षतीति गोरक्षस्तस्य भावो गौरक्ष्यं पशुपालनम्, वाणिज्यं क्रयविक्रयादि, एतद्वैश्यस्य । तथा त्रिवर्णस्य परिचर्यात्मकं सेवनात्मकं शूद्रस्य ॥ ४४ ॥

रा० टी०—कृषिरिति । कृषिः कर्षणेन जीवनं, गवां पालनं वाणिज्यं वार्तया जीवनम् । अत्रापि क्षत्रियादूनाः शमादयोऽपि वैश्यकर्ममध्ये ग्राह्याः । परिचर्यात्मकं त्रैवर्णिकसेवारूपम् । अत्रापि वैश्यादूनशमादिकं च ग्राह्यम् ॥ ४४ ॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥

त० टी०–एवं नियतस्वस्ववर्णाश्रमादिकर्मणः पुरुषार्थोपायत्वमित्याह—स्वे स्वे इति। स्वे स्वे यथोदितवर्णाश्रमोद्देशेन विहिते कर्मणि अभिरतः सम्यगनुष्ठानपरः नरो मनुष्यः संसिद्धिं सम्यग्ज्ञानयोग्यतां लभते। ननु तर्हि स्वकर्मनिरताः प्रायः सर्वेऽपि दृश्यन्ते, सम्यग्ज्ञानिनः कथं न भवन्ति? भवन्ति चेत्कश्चिदपि संसारी न स्यादिति चेत्तत्राह—स्वकर्मणि निरतो नितरां रतः श्रद्धयाऽनुष्ठानं कुर्वन् यथा येन प्रकारेण सिद्धिं ज्ञाननिष्ठां विन्दति लभते तत्तत्प्रकारं-शृणु॥ ४५॥

म० टी०–तदेवं वर्णानां स्वभावजा गौणाख्या धर्मा अभिहिताः। अन्येऽपि धर्माः शास्त्रेष्वाम्नाताः। तदुक्तं भविष्यपुराणे–'धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम्। स तु पञ्चविधः प्रोक्तो वेदमूलः सनातनः॥ वर्णधर्मः स्मृतस्त्वेक आश्रमाणामतः परम्। वर्णाश्रमस्तृतीयस्तु गौणो नैमित्तिकस्तथा॥ वर्णत्वमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते। वर्णधर्मः स उक्तस्तु यथोपनयनं नृप॥ यस्त्वाश्रमं समाश्रित्य अधिकारः प्रवर्तते। स खल्वाश्रमधर्मः स्याद्भिक्षादण्डादिको यथा॥ वर्णत्वमाश्रमत्वं च योऽधिकृत्य प्रवर्तते। स वर्णाश्रमधर्मस्तु मौञ्ज्याद्या मेखला यथा॥ यो गुणेन प्रवर्तेत गुणधर्मः स उच्यते। यथा मूर्धाभिषिक्तस्य प्रजानां परिपालनम्॥ निमित्तमेकमाश्रित्य यो धर्मः संप्रवर्तते। नैमित्तिकः स विज्ञेयः प्रायश्चित्तविधिर्यथा॥' इति। अधिकारोऽत्र धर्मः। चतुर्विधं धर्ममाह हारीतः–'अथाश्रमिणां पृथग्धर्मो विशेषधर्मः समानधर्मः कृत्स्नधर्मश्च' इति। पृथगाश्रमानुष्ठानात्पृथग्धर्मो यथा चातुर्वर्ण्यधर्मः। स्वाश्रमविशेषानुष्ठानात् विशेषधर्मो यथा नैष्ठिकयायावरानुष्ठायिकचातुराश्रम्यसिद्धानाम्। सर्वेषां यः समानो धर्मः, स समानधर्मो नैष्ठिकः कृत्स्नधर्म इति। नैष्ठिको ब्रह्मचारिविशेषः, यायावरो गृहस्थविशेषः, आनुष्ठायिको वानप्रस्थविशेषः, चातुराश्रम्यसिद्धो यतिविशेषः। सर्वेषामिति वर्णानामाश्रमाणां च। तत्रत्यो यथा महाभारते–'आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता। श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च॥ स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्याऽनसूयता। आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्मः साधारणो नृप' इति। सर्वाश्रमसाधारणस्तु प्रागुदाहृतः। निष्ठा संसारसमाप्तिस्तत्प्रयोजनो नैष्ठिकः। मोक्षहेत्वात्मज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकप्रत्यवायपरिहाराय निष्कामकर्मानुष्ठानं कृत्स्नधर्म इत्यर्थः। आश्रमाश्च शास्त्रेषु चत्वार आम्नाताः। यथाह गौतमः–'तस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवते ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः' इति। आपस्तम्बः–'चत्वार आश्रमाः गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थमिति। तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति' इति। वसिष्ठः–'चत्वार आश्रमा ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थपरिव्राजकास्तेषां वेदमधीत्य वेदौ वेदान्वाऽविशीर्णब्रह्मचर्यो यमिच्छेत्तमावसेत्' इति। एवं तेषां पृथग्धर्मा अप्याम्नाताः। तथा फलमप्यज्ञानामाम्नातम्। यथाह मनुः–'श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः। इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम्' इति। अनुत्तमं सुखमिति यथाप्राप्ततत्तत्फलोपलक्षणार्थम्। आपस्तम्बः–'सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परमपरिमितं सुखं ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं वृत्तं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते' इति। गौतमः 'वर्णा आश्रमाश्च स्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति' इति। अत्र शेषशब्देन भुक्तज्योतिष्टोमादिकर्मातिरिक्तं चित्रादिकर्मानुशयसञ्ज्ञितमुच्यते, नतु पूर्वकर्मण एकदेश इति स्थितम्–'कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च' इत्यत्र। भट्टैरप्युक्तम्–'गौतमीयेऽपि तच्छेषस्तत्समाप्तिचित्राद्यपेक्षया' इति। विष्वञ्चः सर्वतोगामिनो यथेष्टचेष्टाः 'विपरीता नरकादौ जन्म प्रतिपद्य विनश्यन्ति कृमिकीटादिभावेन सर्वपुरुषार्थेभ्यो भ्रश्यन्त इत्यर्थः। हारीतः–'काम्यैः केचित्प्रदानैस्तपोभिर्लब्ध्वा लोकान्पुनरायान्ति जन्म। कामैर्मुक्ताः सत्यपराः पुराणास्तपोनिष्ठाश्चाव्ययान्यान्ति लोकान्' इति। अत्र कामनासदसद्भावनिबन्धनः फलभेदो दर्शितः

भविष्यपुराणे—' फलं विनाप्यनुष्ठानं नित्यानामिष्यते स्फुटम् । काम्यानां स्वफलार्थं तु दोषघातार्थमेव तु ॥
नैमित्तिकानां करणे त्रिविधं कर्मणां फलम् । क्षयं केचिदुपात्तस्य दुरितस्य प्रचक्षते ॥ अनुत्पत्तिं तथा चान्ये
प्रत्यवायस्य मन्वते । नित्यां क्रियां तथा चान्ये अनुषङ्गफलं विदुः ॥ ' इति । अन्ये आपस्तम्बादयः—
' तद्यथा आम्रे फलार्थे निमिते ' इत्यादिवचनैरानुषङ्गिकफलत्वं नित्यकर्मणो विदुः । श्रुतिश्च 'त्रयो धर्मस्कन्धा
यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव । द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी । तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचा-
र्यकुलेऽवसादयन्' इति गृहस्थवानप्रस्थब्रह्मचारिण उक्त्वा ' सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ' इति तेषामन्तः-
करणशुद्ध्यभावे मोक्षाभावमुक्त्वा शुद्धान्तःकरणानामेषामेव परिव्राजकभावेन ज्ञाननिष्ठया मोक्षमाह—' ब्रह्म-
संस्थोऽमृतत्वमेति ' इति । तदेवं स्थिते ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थो वा मुमुक्षुः फलाभिसंधित्यागेन भगवद-
र्पणबुद्ध्या—स्वे इति । स्वे स्वे तत्तद्वर्णाश्रमविहिते न तु स्वेच्छामात्रकृते कर्मणि श्रुतिस्मृत्युदिते अभिरतः
सम्यगनुष्ठानपरः संसिद्धिं देहेन्द्रियसंघातस्याशुद्धिक्षयेण सम्यग्ज्ञानोत्पत्तियोग्यतां लभते नरः वर्णाश्रमाभि-
मानी मनुष्यः, मनुष्याधिकारित्वात् कर्मकाण्डस्य । देवादीनां वर्णाश्रमाभिमानित्वाभावादुक्त एव तद्धर्मेष्वन-
धिकारः । वर्णाश्रमाभिमानानपेक्षे तूपासनादावधिकारस्तेषामप्यस्तीति साधितं देवताधिकरणे । ननु बन्धहेतूनां
कर्मणां कथं मोक्षहेतुत्वम् ? उपायविशेषादित्याह—स्वकर्मनिरतः सिद्धिमुक्तलक्षणां यथा येन प्रकारेण
विन्दति तच्छृणु, श्रुत्वा तं प्रकारमवधारयेत्यर्थः ॥ ४५ ॥

शं० टी०—एवं ब्राह्मणादीनां नियमेन कर्तव्यानि शमादीनि कर्माणि तदुपलक्षितानि ' यज्ञो दानं तपः
कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ' इति श्रौतानि स्मार्तानि चोपदिश्य सत्त्वशुद्धये तेषामीश्वरार्पणबुद्ध्या कर्तव्यत्वं
बोधयितुं प्रवृत्तिसिद्धये फलं प्ररोचयति—स्वे इति । नरो ब्राह्मणादिर्मुमुक्षुरधिकारी पुरुषः स्वे स्वे शमो दम
इत्यादिना विभज्य प्रदर्शिते स्वकीये कर्मणि शमादौ श्रौतस्मार्ते चाभिरतो नियमेन परिनिष्ठितो
यथाविधि समनुष्ठितसत्कर्मसंक्षालितप्रचीयमानसर्वपापपटलः सन् संसिद्धिं सत्त्वशुद्धिं सकृदुपदेशमात्रेणात्मतत्त्वा-
वगत्याविर्भावयोग्यतालक्षणां विन्दति । ननु बहुभिर्ब्राह्मणादिभिरजस्रं कर्म क्रियते, न तेषां तत्कर्मानुष्ठानेन
सत्त्वशुद्धिरुक्तलक्षणा दृश्यते, कथं कर्मण्यभिरतः सत्त्वशुद्धिं लभत इत्याकाङ्क्षायाम् ' यो वा एतदक्षरं गार्ग्य-
विदित्वा अस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति' इति न्यायेन पूर्वोक्त-
शमाद्यभावेन कामसंकल्पाहंकाराभिनिवेशेन च कर्माण्यनुतिष्ठतः सत्त्वशुद्धिर्न सिध्यतीति बोधयितुमाह—
स्वकर्मेति । मुमुक्षुर्ब्राह्मणादिरुक्तशमदमादिसंपन्नः स्वकर्मनिरतः स्वस्य श्रुतिस्मृतिभ्यां विहिते वैदिके कर्मणि
निरतो निष्ठितः, सिद्धिं सत्त्वशुद्धिं यथा येन प्रकारेण विन्दति तं प्रकारं शृणु श्रुत्वा तथानुष्ठाने मतिं
कुर्वित्यर्थः ॥ ४५ ॥

श्री० टी०—एवंभूतस्य ब्राह्मणादिकर्मणो ज्ञानहेतुत्वमाह—स्वे स्व इति । स्वस्वाधिकारविहिते कर्मणि
अभिरतः परिनिष्ठितो नरः संसिद्धिं ज्ञानयोग्यतां लभते । कर्मणां ज्ञानप्राप्तिप्रकारमाह—स्वकर्मेति सार्धेन ।
स्वकर्मपरिनिष्ठिता यथा येन प्रकारेण तत्त्वज्ञानं लभते तं प्रकारं शृणु ॥ ४५ ॥

स० टी०—तदेवं स्वस्ववर्णे यो विहितं कर्म शास्त्रतः ॥ अनुतिष्ठति . तस्यास्ति सम्यक्सिद्धिर्महात्मनः
॥ १ ॥ अवान्तरफलं चैव स्वस्वकर्मानुतिष्ठताम् ॥ स्वर्गादि भवतीत्येवं पुराणे वैष्णवे स्मृतम् ॥ २ ॥
प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं क्रियावताम् ॥ स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां संग्रामेष्वनुवर्तिनाम् ॥ ३ ॥
वैश्यानां मारुतं स्थानं स्वधर्ममनुवर्तिनाम् ॥ गान्धर्वं शूद्रजातीनां परिचर्यानुवर्तिनाम् ॥ ४ ॥ एवं धीशु-
द्ध्यभावे तत्फलं धर्मानुसारिणाम् ॥ फलाभिसंधिसंत्यागादीश्वरार्पणधिया कृतम् ॥ ५ ॥ चित्तशुद्ध्यात्मनो-
धेन मोक्षहेतुः स्वकर्म तत् ॥ अतस्त्यक्त्वा फलासक्तिमीश्वरार्पणचेतसा ॥ ६ ॥ कर्म कर्तव्यमित्याह स्वयं

श्रीपरमेश्वरः ॥ यथोक्तलक्षणे स्वे स्वे तत्तद्वर्णे तथाऽऽश्रमे ॥ ७ ॥ विहिते वैदिके स्मार्ते कर्मण्यभिरतः पुमान् ॥ यथाशास्त्रमनुष्ठानपरोऽहंकारवर्जितः ॥ ८ ॥ कर्मानुष्ठानतः सिद्धिं चित्तशुद्धिपरिक्षयात् ॥ विज्ञानोत्पत्तियोग्यत्वं लभतेऽविकृतो नरः ॥ ९ ॥ वर्णाश्रमाभिमानित्वान्मनुष्योऽत्राधिकारवान् ॥ न देवादिर्यतस्तेषां देवादीनां न चास्त्यसौ ॥ १० ॥ वर्णाश्रमाभिमानोऽतो नास्ति कर्माधिकारता ॥ वर्णाश्रमाभिमानानपेक्षे ब्रह्मावबोधने ॥ ११ ॥ तेषामप्यधिकारोऽस्तीत्युक्तं शारीरके स्फुटम् ॥ नन्वेषां बन्धहेतूनां मोक्षकारणता कथम् ॥ १२ ॥ कर्मणामिति चेदित्थमुपायान्तरतः शृणु ॥ यथोक्तलक्षणां सिद्धिं येनोपायेन विन्दति ॥ १३ ॥ तच्छृणु त्वं समाकर्ण्य प्रकारमवधारय ॥ १४ ॥ ४५ ॥

भा० टी०—एतेषां जातिविहितानां कर्मणां सम्यगनुष्ठितानां मोक्षापेक्षामन्तरेण विहितत्वादेवानुष्ठानात्स्वर्गप्राप्तिः फलम् "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति", "वर्णा आश्रमाः स्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय, ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते", "यस्तु सम्यक्करोत्येवं गृहस्थः परमं विधिम् । तद्वर्णबन्धमुक्तोऽसौ लोकानाप्नोत्यनुत्तमान् ॥ यस्त्वेतां नियतं चर्यां वानप्रस्थश्चरेन्मुनिः । स दहत्यग्निवद्दोषाञ्जयेल्लोकांश्च शाश्वतान् ॥ मोक्षाश्रमं यश्चरते यथोक्तं शुचिः सुसंकल्पितबुद्धियुक्तः । अनिन्धनं ज्योतिरिव प्रशान्तं स ब्रह्मलोकं श्रयते द्विजातिः ॥" इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणेभ्यः । एतेषामेव मोक्षापेक्षया सम्यगनुष्ठितानां यत्फलं तद्वक्ष्यमाणमाह—स्वे स्व इति । स्वे स्वे यथोक्तभेदे कर्मण्यभिरतः तत्परोऽविकृतः पुरुषः संसिद्धिं स्वकर्मानुष्ठानादशुद्धिक्षये सति कायेन्द्रियमनसां ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां लभते प्राप्नोति । कथं लभते इत्यपेक्षायामाह—स्वकर्मनिरतः । यथा येन प्रकारेण सिद्धिमुक्तलक्षणां विन्दति लभते तत्तथा शृणु ॥ ४५ ॥

प० टी०—अथ ब्राह्मणादिकर्मणो ज्ञानहेतुत्वमाह—स्वे स्वे कर्मणीति सार्धेन । स्वे स्वे वर्णोचितकर्मण्यभिरतः श्रद्धया प्रवृत्तः सन्नरः संसिद्धिं लभते । स्वकर्मनिरतः पुरुषो यथा येन प्रकारेण सिद्धिं प्राप्नोति तन्मया वक्ष्यमाणं शृणु ॥ ४५ ॥

रा० टी०—अस्त्वेवं ब्राह्मणादिकर्म प्रविभक्तं ततः किमित्यत आह—स्वे स्व इति । प्रागुक्तब्राह्मणादिस्वकीये कर्मण्यभिरतः स्वस्वकर्मणा भगवदाराधनं कुर्वन्नरः संसिद्धिं मुक्तिं ज्ञानद्वारा लभते प्राप्नोति । एतदेव सम्यग्विशदयितुं प्रतिजानीते—स्वकर्मेति । विन्दति लभते । तमं प्रकारं शृणु इति ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६ ॥

त० टी०—तमेवाह—यत इति । यतः सर्वज्ञात्सर्वशक्तेर्भगवतो हेतोर्भूतानां ब्रह्मादिकीटान्तानां प्राणिनां प्रवृत्तिरुत्पत्तिश्चेष्टा वा भवति, येनैकेन सर्वमिदं जगत्ततं व्याप्तं, स्वकर्मणा स्वाभाविकेन वैदिकेन लौकिकेनापि तमभ्यर्च्य फलकर्तृत्वसमर्पणेन पूजयित्वा मानवः तत्प्रसादात् सिद्धिं तत्त्वज्ञाननिष्ठालक्षणां विन्दति लभते ॥ ४६ ॥

म० टी०—यतो मायोपाधिकचैतन्यानन्दघनात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेरीश्वरादुपादानात् निमित्ताच्च सर्वान्तर्यामिणः प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्मायामयी स्वाप्नरथादीनामिव भूतानां भवनधर्मणामाकाशादीनां येन चैकेन सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वमिदं दृश्यजातं त्रिष्वपि कालेषु ततं व्याप्तं स्यात्मन्येवान्तर्भावितं कल्पितस्याधिष्ठानानतिरेकात् । तथा च श्रुतिः—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति" इति । अत्र यत इति प्रकृतौ पञ्चमी । यतो येनेति चैकत्वं विवक्षितम् । "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।" इति च तस्य निर्णयवाक्यम् ।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च मायोपाधिलाभः । "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यादिश्रुत्यन्तरात्सर्वज्ञत्वादिलाभः । एवं च श्रौत एवायमर्थो भगवता प्रकाशितः 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्' इति । तमन्तर्यामिणं भगवन्तं स्वकर्मणा प्रतिवर्णाश्रमं विहितेनाभ्यर्च्य तोषयित्वा तत्प्रसादादैकात्म्यज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं विन्दति मानवः । देवादिस्तूपासनामात्रेणेति भावः ॥ ४६ ॥

श्री० टी०—'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इति ' कर्ता क्रियाणां स च भुज्यते क्रतुः । स एव तत्कर्मफलं च तस्य । स्रुगादि यत्साधनमप्यशेषम् । हरेर्न किंचिद्व्यतिरिक्तमस्ति ॥ ' इत्येवच्छ्रुतिस्मृत्युक्तरीत्या मुख्याधिकारिणो विदुषः कर्तृकर्मतत्साधनस्रुवस्रुचचरुपुरोडाशाग्न्यादिषु ब्रह्मदृष्ट्याऽन्याहतया कर्माण्यनुतिष्ठत इष्टानिष्टतन्मिश्रामिश्रतद्दुष्टादुष्टत्वादिविषमबुद्धिः क्रमेण विनश्यति । तत्राशान्नागद्वेषादिदोषा नश्यन्ति । तन्नाशादहंममेत्यभिमाना दोषा नश्यन्ति । तेषां रजस्तमोदोषाणां सर्वेषां क्रमेण निःशेषविनाशे सत्त्वं स्वयमेव प्रसीदतीति बोधयितुं सर्वस्य सगुणब्रह्ममात्रत्वज्ञानवतः पण्डितस्य तथा तदाराधनमेव कुर्वतः सत्त्वशुद्धिः सिध्यतीत्याह—यत इति । 'जन्माद्यस्य यतः', 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्युक्तप्रकारेण यतो यस्मान्मायोपाधिकाद्ब्रह्मणः सकाशाद्भूतानामाकाशादीनां तत्कार्याणां च प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्भूत्सकाशाद्भूतादिविषयस्मादिदं सर्वं समुत्पन्नमित्यर्थः । किंच येन कारणभूतेन ब्रह्मणा तत्कार्यमिदं जगत्सर्वं ततं व्याप्तं मृदा घटवद्बहिरन्तश्च पूर्णं भवति तं सर्वात्मकं परमात्मानं स्रुवस्रुगग्निहोत्रमन्त्रतन्त्रादिषु सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिर्भूत्वा मानवोऽधिकारी विद्वान् स्वकर्मणा श्रौतस्मार्तविना सात्त्विकेनाभ्यर्च्य श्रद्धाभक्तिभ्यां नियमेनेष्ट्वा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिं च कृत्वा सिद्धिं सत्त्वशुद्धिलक्षणां विन्दति—सत्त्वशुद्धिं तत्फलभूतां ज्ञानसिद्धिं च प्राप्नोतीत्यर्थः । यतः प्रवृत्तिर्येन सर्वमितिविशेषणद्वयं सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिकर्तव्यताबोधनार्थमेवेत्यवगम्यते । अधिकारिणां मध्यमादिभेदे तु " यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरः " इत्यादिश्रुत्युक्तरीत्या यतो यस्माद्भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां प्रवृत्तिश्चेष्टा सिध्यति—यः सर्वं प्रवर्तयतीत्यर्थः । सर्वं जगदिदं येन ततं व्याप्तं यः सर्वात्मक इत्यर्थः । तमग्नीन्द्रादित्यादिदेवतारूपेण वर्तमानं सर्वनियन्तारं परमेश्वरं स्वकर्मणाऽभ्यर्च्य श्रद्धाभक्तिभ्यामग्न्यादिदेवान्सर्वान्परमेश्वरबुद्ध्या इष्ट्वा तदनुग्रहेण मानवो मुमुक्षुरधिकारी ब्राह्मणादिःसिद्धिं सत्त्वशुद्धिं तत्फलभूतां ज्ञानसिद्धिं च क्रमेण विन्दतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

श्री० टी०—तमेवाह—यत इति । यतोऽन्तर्यामिणः परमेश्वराद्भूतानां प्राणिनां प्रवृत्तिश्चेष्टा भवति, येन च कारणात्मना सर्वमिदं विश्वं ततं व्याप्तं, तमीश्वरं स्वकर्मणाऽभ्यर्च्य पूजयित्वा सिद्धिं लभते मनुष्यः ॥ ४६ ॥

स० टी०—मायोपाधिकचैतन्यानन्दैकघनरूपतः ॥ सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः श्रीपरमेश्वरतो यतः ॥ १ ॥ उपादानान्निमित्ताच्च सर्वान्तर्यामिणः सतः ॥ मायामयी समुत्पत्तिर्भूतानां जनिधर्मिणाम् ॥ २ ॥ खादीनां भौतिकानां च कल्पितानां मृषात्मनाम् ॥ सत्तास्फुरणरूपेण येन चैकेन सर्वथा ॥ ३ ॥ दृश्यजातमिदं सर्वं सदा व्याप्तमसङ्गिना ॥ नातिरेकोऽस्त्यधिष्ठानात्कल्पितस्य मनागपि ॥ ४ ॥ यतो वेत्यादिवाक्योक्तो दार्ष्टान्तोऽर्थ इह स्फुटम् ॥ तमन्तर्यामिणं विष्णुं स्ववर्णाश्रमकर्मणा ॥ ५ ॥ तोषयित्वाऽऽत्मविज्ञानोत्पत्तियोग्यत्वलक्षणाम् ॥ तत्प्रसादाद्धि यः शुद्धिसिद्धिं स लभते नरः ॥ ६ ॥ वर्णाश्रमं यमधिकृत्य धियो विशुद्ध्यै धर्मः श्रुतौ विहित ईशसमर्चनाख्यः ॥ तेनेश्वरं यमधिकारिजनः समर्च्य प्राप्नोति सिद्धिमनिशं तमहं प्रपद्ये ॥ ७ ॥ ४६ ॥

भा० टी०—तमेव प्रकारं दर्शयति—यत इति । यतः यस्मात् जगज्जनकादन्तर्यामिणो भूतानां प्राणिनां

प्रवृत्तिरुत्पत्तिश्चेष्टा वा स्यात्, येनेश्वरेण सर्वं कृत्स्नमिदं ततं व्याप्तं कार्यस्य कारणसत्तातिरिक्तसत्ताकत्वाभावात् । तं परमात्मानं स्वकर्मणा प्रतिवर्णं पूर्वोक्तेन अभ्यर्च्य सम्यक् पूजयित्वा आराध्य मानवोऽधिकृतो मनुष्यः सिद्धिं केवलज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां विन्दति लभते ॥ ४६ ॥

प० टी०—यत इति । यतो यस्मादन्तर्यामिरूपाद्भूतानां देहानां चेष्टा भवति । येन कारणात्मनेदं दृश्यमानं सर्वं ततं विस्तारितं तमीश्वरं कर्मणा वर्णाश्रमोचितेनाभ्यर्च्याराध्य मानवः सिद्धिं विन्दति लभते । अस्मिन्नर्थे पूर्वं बहुवः श्रुतय उपन्यस्ताः सन्ति ॥ ४६ ॥

रा० टी०—यत इति । यतो यस्माद्भगवतो भूतानां प्राणिनां प्रवृत्तिश्चेष्टा भवति । येन च भगवता इदं सर्वं चराचरात्मकं जगत्ततं व्याप्तं तं भगवन्तं स्वकर्मणा समभ्यर्च्य शमदमादिपूर्वकं पूजयित्वा सिद्धिं मोक्षं विन्दति लभते मानवः मनुष्यो ब्राह्मणादिरित्यर्थः ॥ ४६ ॥

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ॥
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥

त० टी०—यतः परमेश्वराराधनलक्षणधर्मस्य तत्प्रसादात् सिद्धिहेतुत्वमतः सर्वजनस्य तथाविधः स्वधर्म एव श्रेयस्कर इत्याह—श्रेयानिति । स्वधर्मः स्वेनोपादातुं योग्यः परमात्माराधनरूपो धर्मः विगुणः किंचिदङ्गविहीनोऽपि स्वनुष्ठितात्सम्यगनुष्ठितादपि परधर्मात् श्रेयान् प्रशस्यतरः । यतः स्वभावनियतं पूर्वोक्तस्वभावेन नियतं नियमेनोक्तं कर्म युद्धादिकं कुर्वन्नपि किल्बिषं न प्राप्नोति ॥ ४७ ॥

म० टी०—यतः स्वधर्म एव मनुष्याणां भगवत्प्रसादहेतुरतः—श्रेयानिति । परधर्मात्सम्यगनुष्ठितादपि श्रेयान् प्रशस्यतरः स्वधर्मो विगुणोऽसम्यगनुष्ठितोऽपि । तस्मात् क्षत्रियेण सता त्वया स्वधर्मो युद्धादिरेवानुष्ठेयो न परधर्मो भिक्षाटनादिरित्यभिप्रायः । ननु स्वधर्मोऽपि युद्धादिर्बन्धुवधादिप्रत्यवायहेतुत्वान्नानुष्ठेय इति नेत्याह—स्वभावनियतं पूर्वोक्तं शौर्यं तेज इत्यादि स्वभावजं युद्धादि कर्म कुर्वन् किल्बिषं पापं बन्धुवधादिनिमित्तं न प्राप्नोति । तथा च प्राग्व्याख्यातं सुखदुःखे समे कृत्वेत्यत्र विहितज्योतिष्टोमाङ्गपशुहिंसाया इव विहितयुद्धाङ्गबन्धुहिंसाया अपि प्रत्यवायहेतुत्वाभावात् । तथा चोक्तमधस्तात् ॥ ४७ ॥

शं० टी०—ननु ब्राह्मणस्य भिक्षणे निमित्तमाचार्यो यज्ञो विवाह इति मुमुक्षोश्चित्तशुद्धिं तत्फलं वाऽऽमुमिच्छतो यज्ञादेः प्रतिग्रहद्रव्यैकसाध्यत्वात्प्रतिग्रहस्यैव पापहेतुत्वात् प्रतिगृहीतद्रव्येण क्रियमाणयागापेक्षया ब्रह्मचारिवदप्रतिगृह्य शुद्धवृत्त्याऽवस्थानमेव तस्य शोधकं निष्पापकं च भवति । तथा हिंसाप्रधानत्वाद्युद्धस्य तत्साध्येन द्रव्येण क्रियमाणराजसूयादियागाद्यनुष्ठानापेक्षया शुद्धिकामस्य क्षत्रियस्य प्रतिग्रहभीरुब्राह्मणवच्छुद्धवृत्त्याऽवस्थानमेव शोधकं निष्पापं च भवतीत्याशङ्कायामाह—श्रेयानिति । परधर्मात्परो जात्या वर्णेन वाऽऽश्रमेण वा स्वस्माद्भिन्नः स्वविलक्षणस्तस्य धर्मादाचारात्स्वनुष्ठितादङ्गलोपराहित्येन सम्यगाचरितात् विगुणोऽपि स्वलक्षणपौष्कल्यहीनोऽपि दोषवानपि ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वाऽन्यस्य वा स्वधर्म एव श्रेयान् श्रेष्ठो निःश्रेयसस्य साधनं भवति, न तु सम्यगनुष्ठितोऽपि परधर्मस्तस्याविहितत्वादित्यर्थः । तदेव विस्पष्टयति—स्वभावेति । ब्राह्मणस्याधिकारः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः । न दोषो हिंसायामाहवेऽन्यत्रेत्येवं स्वभावनियतं स्वभावस्तत्तज्जातिस्तमुद्दिश्य नियतं शास्त्रेण विहितं कर्म प्रतिग्रहं तदुपार्जितद्रव्येण यागाद्यनुष्ठानं च ब्राह्मणः, युद्धादिलक्षणं कर्म तदुपार्जितद्रव्येण यागाद्यनुष्ठानं च क्षत्रियः कुर्वन्किल्बिषं चित्तशुद्धिप्रतिबन्धकं नाप्नोति । स्वजातेः स्ववर्णस्य स्वाश्रमस्य विहितधर्मानुष्ठानेन पुरुषः पापी न भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

श्री० टी०—स्वकर्मणेतिविशेषणस्य फलमाह—श्रेयानिति । विगुणोऽपि स्वधर्मः सम्यगनुष्ठितादपि पर-

धर्माच्छ्रेयाञ्छ्रेष्ठः । न च बन्धुवधादियुक्ताद्युद्धादेः स्वधर्माद्भिक्षाटनादिपरधर्मः श्रेष्ठ इति मन्तव्यम्, यतः स्वभावेन पूर्वोक्तेन नियतं नियमेनोक्तं कर्म कुर्वन्किल्बिषं नाप्नोति ॥ ४७ ॥

स० टी०—यतः स्वधर्म एवास्ति भगवत्तोषकारणम् ॥ अतो वरेण्यः स्वो धर्मोऽसम्यक्त्वेनाप्यनुष्ठितः ॥ १ ॥ परधर्मादविहितात्सम्यक्त्वेनाप्यनुष्ठितात् ॥ क्षत्रियेण सता तस्मात्स्वधर्मो भवताऽधुना ॥ २ ॥ संग्रामादिरनुष्ठेयो न तु भिक्षादिरन्यगः ॥ ननु युद्धं स्वधर्मोऽपि बन्धुर्हिंसादिपापकृत् ॥ ३ ॥ कथं मयाऽस्त्यनुष्ठेय इत्याशङ्क्याह माधवः ॥ पूर्वोक्तं शौर्यमुख्यं यत्क्षत्रियस्य स्वभावजम् ॥४॥ युद्धादि कर्म कुर्वन्न पापं हिंसादिदोषजम् ॥ शास्त्रप्रमाणतस्त्वाऽऽप्नोति वैधी हिंसा न पापदा ॥ ५ ॥ ज्योतिष्टोमाङ्गपश्वादिर्हिंसाया इव शास्त्रतः ॥ युद्धाङ्गबन्धुहिंसायाः प्रत्यवाये न हेतुता ॥ ६ ॥ ४७ ॥

भा० टी०—यतः स्वकर्मणा परमात्मानमभ्यर्च्य सिद्धिं लभते तस्मात्—श्रेयानिति । स्वो धर्मः स्वधर्मो विगुणोऽसम्यगनुष्ठितोऽपि परधर्मात्स्वनुष्ठितात्सम्यगनुष्ठितात् श्रेयान्प्रशस्यतरः । ननु युद्धादिलक्षणं स्वधर्मं कुर्वन्नपि हिंसानिमित्तं पापं प्राप्नोति, तत्कथं स्वधर्मः श्रेयानिति तत्राह—स्वभावनियतं कर्म । 'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्' इत्यादि कर्म स्वभावजं कुर्वन् किल्बिषं नाप्नोति । यथा विषजः कृमिः विषकृतं दोषं न प्रतिपद्यते, तथाऽयमाधिकृतः पुरुषो दोषवदपि स्वभावनियतं कुर्वन् पापं नाप्नोतीत्यर्थः। तदुक्तं 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इति । एतेन तर्हि दोषरहितमेव भिक्षाटनादि सर्वैरनुष्ठीयताम्, अतो न पापप्रत्ययाशङ्केति न शङ्कनीयम्। तर्हि पापप्राप्तिशङ्कां परिहर्तुमकर्मनिष्ठैव सर्वैः कुतो न संपाद्यत इति शङ्कापि न कर्तव्या। 'नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'। 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' इत्यनात्मज्ञेनाकर्मनिष्ठायाः संपादयितुमशक्यत्वात् ॥ ४७ ॥

प० टी०—अथ स्वधर्मं प्रशंसन्नाह—श्रेयानिति । सम्यगनुष्ठितादपि परधर्मात्सकाशाद्विगुणो लौकिकदृष्ट्या गुणरहितोऽपि स्वधर्मः श्रेयान् श्रेयस्करः । यथा हिंसाप्रधानत्वेन विगुणोऽपि क्षात्रधर्मः परधर्माद्ब्राह्मणधर्मादुत्कृष्टादपि श्रेयान्। यतः स्वभावेन पूर्वोक्तेन स्वधर्मे नियतं नियमेनोक्तं कर्म कुर्वन् किल्बिषं पातकं न प्राप्नोति ॥ ४७ ॥

रा० टी०—स्वधर्मनिरततमावश्यकमित्येतदुपपादयति—श्रेयानिति । विगुणोऽङ्गहीनोऽपि स्वधर्मः सम्यगनुष्ठितात्परधर्माच्छ्रेयान्पुरुषार्थसाधनम् । विगुणः कथं श्रेयानित्यत आह—स्वभावेति । किल्बिषं वैगुण्यकृतदोषं नाप्नोति । वैगुण्यशङ्कया स्वधर्मत्यागो न कार्यः ॥ ४७ ॥

सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ॥
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥ ४८ ॥

त० टी०—ननु यदि कर्मणो ज्ञानोत्पत्तिरेवान्ततः फलं, चेत्तर्हि हिंसादिदोषयुक्तं कर्म परित्यज्य ज्ञानाभ्यास एव यत्नः कर्तव्यः, किमनेन हेयेन कर्मणेति चेत्तत्राह—सहजमिति । हे कौन्तेय ! सहजं स्वभावविहितं कर्म सदोषमपि न त्यजेत् । हि यस्मात् सर्वारम्भाः सर्वे परमेश्वराराधनव्यतिरिक्ता आरम्भाः कर्मज्ञानयोगाद्युपाया दोषेणावृताः । कथम्? धूमेनाग्निरिव । यथा शीततमोनाशकोऽपि अग्निरार्द्रेन्धनसंयोगजन्यधूमावृतो न सम्यग्ज्वलति प्रकाशते च, तथा कर्मानुष्ठानमन्तरेण सत्त्वशुद्ध्यभावेन यथार्थतत्त्वज्ञानं न स्यात् । असंभावनाविपरीतभावनादोषानिवृत्तेः । तस्मात्स्वभावविहितं कर्म फलकर्तृत्वत्यागेन यथाशक्ति अनुष्ठाय निर्मलेऽन्तःकरणे सति निखिलभ्रमान् विहाय तत्त्वज्ञाननिष्ठा स्वयमेव संपद्येत । "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति श्रुतेः । तस्मात्स्वाधिकारयोग्यकर्मणा परमात्मानमभ्यर्च्य ज्ञाननिष्ठालक्षणां सिद्धिं प्राप्नोतीति सिद्धम् ॥४८॥

म० टी०—यस्मादेवं विहितहिंसादेर्न प्रत्यवायहेतुत्वं, परधर्मश्च भयावहः, सामान्यदोषेण च सर्वकर्माणि दुष्टानि, तस्मादज्ञो वर्णाश्रमाभिमानी—सहजमिति। हे कौन्तेय! सहजं स्वभावजं कर्म सदोषमपि विहितहिंसायुक्तमपि ज्योतिष्टोमयुद्धादि न त्यजेदन्तःकरणशुद्धेः प्राग्भवानन्यो वा। नह्यनात्मज्ञः कश्चित्क्षणमपि कर्माण्यकृत्वा स्थातुं शक्नोति । न च परधर्माननुतिष्ठन्नपि दोषान्मुच्यते । सर्वारम्भाः स्वधर्माः परधर्माश्च सर्वे हि यस्मात् दोषेण त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येनावृता व्याप्ताः सदोषा एव । तथा च प्राग्व्याख्यातम्—'परिणामतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति । तस्मादगत्याऽनात्मज्ञः कर्माणि कुर्वन् विपक्वमिरिव विषं सहजं कर्म युद्धादि त्रिगुणात्मकत्वेन सामान्येन बन्धुवधादिनिमित्तत्वेन विशेषेण च सदोषमपि न त्यजेत् सर्वकर्मत्यागासमर्थत्वात् । सर्वकर्मत्यागसमर्थस्तु शुद्धान्तःकरणस्त्यजेदेवेत्यभिप्रायः ॥ ४८ ॥

शं० टी०—ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वा स्वधर्मस्याग्निष्टोमादेर्युद्धस्य च बहिर्दोषवत्प्रतीयमानत्वेऽपि विधियुक्तत्वेन निर्दुष्टत्वात्तदनुष्ठानं मुक्तय एव भवति, न तु बन्धायेति बोधयित्वा पुनरपि यागो वा संग्रामो हिंसाप्रधानत्वेन दोषवानेव भवतीति कथं कर्तुं शक्यत इत्याशङ्क्य सर्वथाऽपि न कर्तव्येत्युक्तमेवार्थं दृढयितुमाह—सहजमिति। सहजं 'कर्मणा जायते द्विजः' इतिन्यायेन सहजन्मना द्वितीयेन जायत इति सहजं जातितः प्राप्तं, जातिं वर्णं च निमित्तीकृत्य शास्त्रेण विहितं कर्म स्वधर्ममित्यर्थः। सदोषमप्युक्तरीत्या दोषयुक्तमप्यारुरुक्षुर्मोक्षेच्छुर्ब्राह्मणादिर्न त्यजेन्न संन्यसेदित्यर्थः । ननु दोषवत्कर्मणोऽनुष्ठानानिर्दुष्टस्य परधर्मस्याश्रयणं युक्तमेवेति चेत्तत्रात्र प्रष्टव्यः—कर्तव्यस्य कर्मणस्त्यागः दुष्टत्वबुद्ध्या वा, किमसाधनत्वबुद्ध्या वा, किमसत्त्वबुद्ध्या वा, परधर्मस्त्वदुष्ट इत्याश्रयणीय इति वा ? नाद्यः, विहितस्य परित्यागे प्रत्यवायप्रसङ्गात् । न द्वितीयः, अविरक्तस्यासाधनत्वबुद्ध्यनुत्पत्तेः विरक्तस्य त्यक्तव्ये कर्मणि गुणदोषविचारासंभवाच्च । न तृतीयः, अनात्मज्ञस्य कर्मतत्साधनफलेष्वसत्त्वबुद्ध्यनुत्पत्तेः । नापि चतुर्थः, परधर्मस्यापि कर्मत्वेन दोषवत्त्वाव्यभिचारादिति । कुटीचकस्याप्यविरक्तस्य शिखायज्ञोपवीतादिमत्त्वेन कर्मित्वात्तत्कर्मणोऽपि साधनसाध्यत्वेन दोषवत्त्वमेव निश्चित्य सर्ववर्णाश्रमिभिः क्रियमाणं कर्म दोषवदेव “न हिंस्यात्सर्वा भूतानि” इतिश्रुत्या भूतहिंसाया निषिद्धत्वात्सर्वस्यापि कर्मणो वैदिकस्य कुशसमिदादिद्रव्यसाध्यत्वेन हिंसाप्रधानत्वात् सर्ववर्णाश्रमिभिः क्रियमाणं कर्म सर्वमपि हिंसाप्रधानत्वेन दोषयुक्तमेव भवतीति सर्वस्यापि कर्मणो दोषवत्त्वं दर्शयितुमाह—सर्वारम्भा हीति । यद्वा ' काममय एवायं पुरुषः ' इति, ' यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ' इति, 'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् । तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ' इतिन्यायेन कर्मणः सर्वस्यापि कामसंकल्पादिरजोगुणकार्यत्वेन दोषवत्त्वात्सर्वाण्यपि कर्माणि दोषवन्त्येवेत्युच्यन्ते—सर्वेति । हि यस्मात्कारणात्सर्वारम्भा आरभ्यन्ते क्रियन्त इत्यारम्भाः सर्ववर्णाश्रमिभिः क्रियमाणानि कर्माणि सर्वाण्यपि हिंसादोषेण रजोदोषेण वाऽऽवृता व्याप्ता धूमेनाग्निरिव । यथा अग्नेः स्वोत्पत्तौ धूमेन विना भावाभावस्तथा वैदिकस्य कर्मणोऽपि हिंसया कामेन वा विना भावाभावात्सर्वमपि कर्म दोषवदेव । यस्मादेवं तस्मात्परधर्मोऽपि दोषवानेव भवति । परधर्माचरणेन स्वाभाविक एको दोषः, स्वधर्मत्यागकृतो द्वितीयश्च, अविहिताचरणं तृतीयः, ईश्वराज्ञोल्लङ्घनं चतुर्थश्चापतति । तस्मादारुरुक्षोरविरक्तस्य मोक्षकामस्य जातिं वर्णमाश्रमं च निमित्तीकृत्य श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितं कर्म सदोषमपि सत्त्वशुद्धयेऽवश्यं कर्तव्यम्। स्वधर्माचरणेनैव शुद्धात्मा ब्राह्मणादिर्मुक्तिं गच्छति । तथाच स्मृतिः—' वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः । तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम् ' इति । यत एवं ततो वर्णाश्रमिणा मुमुक्षुणा बन्धमुक्तये स्वधर्म एव कर्तव्य इति सिद्धम् ॥ ४८ ॥

श्री० टी०—यदि पुनः दुःखबुद्ध्या स्वधर्मे हिंसालक्षणं दोषं मत्वा परधर्मं श्रेष्ठं मन्यसे, तर्हि सदो-

पत्वं परधर्मेऽपि तुल्यमित्याशयेनाह–सहजमिति । सहजं स्वभावविहितं कर्म सदोषमपि न त्यजेत्, हि
यस्मात् सर्वेऽप्यारम्भा दृष्टादृष्टार्थानि सर्वाण्यपि कर्माणि दोषेण केनचिदावृता व्याप्ता एव, यथा सहजेन
धूमेनाग्निरावृतस्तद्वत् । अतो यथाग्नेर्धूमलक्षणं दोषमपाकृत्य प्रताप एव तमःशीतादिनिवृत्तये सेव्यते, तथा
कर्मणोऽपि दोषांशं विहाय गुणांश एव सत्त्वशुद्धये सेव्यत इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

स० टी०–यतो विहितार्हिंसादेः प्रत्यवाये न हेतुता ॥ भीविदः परधर्मश्च सर्वं कर्म कलङ्कवत् ॥ १ ॥
तस्माद्यज्ञोऽधिकारी यो वर्णाश्रममतिः पुमान् ॥ स्वभावजं त्यजेन्नैव कर्म दोषान्वितं ह्यपि ॥ २ ॥ ज्योति-
ष्टोमादिकं यद्वत्तथा युद्धादिकर्म च ॥ अन्तःकरणशुद्धेः प्राग्भवान्वान्योऽथवा जनः ॥ ३ ॥ नान्यः कश्चित्क्षणं
जातु विना कर्मेह तिष्ठति ॥ समुत्पन्नं यतः कर्म सर्वेषां जन्मना सह ॥ ४ ॥ न चान्यधर्मानुष्ठायी
दोषान्मुच्यत आग्रही ॥ स्वधर्माः परधर्माश्च सर्वारम्भपदेरिताः ॥ ५ ॥ यस्मात्त्रैगुण्यदोषेण सामान्येना-
वृताः किल ॥ विकारतापसंस्कारैर्गुणवृत्तिविरोधतः ॥ ६ ॥ दुःखमेव जगत्सर्वं कर्मजन्यं विवेकिनः ॥
केवलं मूढबुद्धीनां सुखवद्भासते जगत् ॥ ७ ॥ तस्मादगत्या नात्मज्ञः कुर्वन्कर्माणि शास्त्रतः ॥ तिष्ठेत्त्या-
गासमर्थश्च यतोऽसौ सर्वकर्मणाम् ॥ ८ ॥ कर्मत्यागसमर्थस्तु शुद्धान्तःकरणः पुमान् ॥ स वेदान्तविचा-
रार्थं सर्वं विक्षेपकं त्यजेत् ॥ ९ ॥ करोतु कर्माणि स मा करोतु वा मुकुन्दपादाब्जरसग्रहः सुधीः ॥
गृहे वने वा निवसन्भ्रमोज्झितो मुकुन्द एवास्ति स यो हि तद्विदः ॥ १० ॥ ४८ ॥

भा० टी०–सहजमिति । अतः सहजं जन्मनैवोत्पन्नं स्वभावजं कर्म न त्यजेत् । कुन्तीपुत्रेण त्वया
युद्धे अश्वत्थामादि सहजं कर्म न त्याज्यमिति संबोधनतोऽशयः । दोषवत्सहजमपि कर्म परित्यज्य निर्दोषमन्य-
दीयं कर्म कुतो नाश्रयणीयमित्याशङ्क्य दोषरहितस्य कर्मण एवाभावादित्याह–सर्वारम्भाः । हि यस्मादारा-
भ्यन्त इत्यारम्भाः सर्वकर्माणि त्रिगुणात्मकत्वात्सहजेन धूमेनाग्निरिवावृताः व्याप्ताः सदोषा इत्यर्थः ।
तथाच सहजस्य स्वधर्माख्यस्य कर्मणः परित्यागेन परधर्मानुष्ठानेऽपि सर्वकर्मणां दोषवत्त्वाद्दोषान्नैव मुच्यते,
भयावहश्च परधर्मः । न च शक्यतेऽशेषतो दोषवतः कर्म त्यक्तुं यतस्तस्मान्न त्यजेदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

प० टी०–तदेवाह–सहजमिति । भो कौन्तेय ! सहजं स्वभावविहितं कर्म सदोषमपि न त्यजेत् ।
हि यस्मात् कारणात् सर्वारम्भाः सर्वकर्माणि दोषेण लौकिकेनावृता व्याप्ताः सन्ति । अत्र दृष्टान्तमाह–
धूमेनेति । यथा प्रकाशके होमादौ वाम्रो धूमलक्षणो दोषोऽस्ति, तथाप्यग्निः "अग्निमीळे" इत्यादिश्रुतिभिः
स्तूयमानः सेव्यत एव, तथैव ब्राह्मणादिधर्मेषु दैन्यनिष्क्रियत्वगोपीडनाधिकार्थरूपा दोषाः सन्ति तथापि
शास्त्रविहितत्वात्त एवानुष्ठेया नान्य इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

रा० टी०–त्रैगुण्यदोषस्य सर्वत्रावर्जनीयत्वादित्याह–सहजमिति । हि यस्मात्सर्वारम्भाः सर्वकर्माणि
धूमेनाग्निरावृत इव दोषेणावृता एव । ततः सदोषमपि सहजं कर्म न त्यजेदिति ॥ ४८ ॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ॥
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

त० टी०–तदेवं स्वकर्मणाऽऽराधितपरमपुरुषस्य तत्त्वज्ञाननिष्ठालक्षणा सिद्धिरुक्ता । इदानीं
तस्या अपि यत्फलं स्यात्तन्निर्दिशति–असक्तबुद्धिरिति । असक्ता सर्वत्रासक्तिशून्या बुद्धिर्यस्य
सः, जितात्मा वशीकृतमनाः, यतो विगतस्पृहो विशेषेण गता दूरीभूता स्पृहा फलविषया इच्छा यस्य
॥ संन्यासेन " सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः " इत्युक्तलक्षणेन नैष्कर्म्यसिद्धिं
कर्मनिष्ठाविलक्षणां परमां प्रकृष्टां पूर्वोक्तसिद्धेर्ज्ञाननिष्ठाया अपि फलभूतां सर्वोत्कृष्टां श्रीभगवत्स्वरूप-
मङ्गलविग्रहविषयकश्रीगङ्गाप्रवाहवदनवच्छिन्नस्मृतिसंतानरूपां परां भक्तिमधिगच्छति प्राप्नोति ॥ ४९ ॥

म० टी०—कः पुनः सर्वकर्मत्यागसमर्थः ? यो नित्यानित्यवस्तुविवेकजेनेहामुत्रार्थभोगवैराग्येण शमदमादिसंपन्नः कर्मजां सिद्धिमशुद्धिपरिक्षयद्वारा मुमुक्षुः शुद्धब्रह्मात्मैक्यजिज्ञासां प्राप्तः सः स्वेष्टमोक्षहेतुब्रह्मात्मैक्यज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यश्रवणादि कर्तुं सर्वविक्षेपनिवृत्त्या तदङ्गभूतं सर्वकर्मसंन्यासं श्रुतिस्मृतिविहितं कुर्यादेव । "तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति श्रुतेः 'सत्यानृते सुखःदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्' इति स्मृतेश्च । उपरतस्त्यक्तसर्वकर्मा भूत्वाऽऽत्मानं पश्येदात्मदर्शनाय वेदान्तवाक्यानि विचारयेदिति श्रुत्यर्थः । एतादृश एव "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति श्रुत्या धर्मस्कन्धत्रयविलक्षणत्वेन प्रतिपादितः परमहंसपरिव्राजकः परमहंसपरिव्राजकं कृतकृत्यं गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारसमर्थो यमुद्दिश्य 'अथाऽतो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादिचतुर्लक्षणमीमांसा भगवता बादरायणेन समारम्भि । कीदृशोऽसावित्याह—असक्तबुद्धिरिति । सर्वत्र पुत्रदारादिषु सक्तिनिमित्तेष्वपि असक्तबुद्धिः अहमेषां ममैत इत्यभिष्वङ्गरहिता बुद्धिर्यस्य सः । यतो जितात्मा विषयेभ्यः प्रत्याहृत्य वशीकृतान्तःकरणः । विषयरागे सति कथं प्रत्याहरणं तत्राह—विगतस्पृहः । देहजीवितभोगेष्वपि वाञ्छारहितः सर्वदृश्येषु दोषदर्शनेन नित्यबोधपरमानन्दरूपमोक्षगुणदर्शनेन च सर्वतो विरक्त इत्यर्थः । य एवं शुद्धान्तःकरणः 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इति वचनप्रतिपादितां कर्मजामपरां सिद्धिं ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यविचाराधिकारलक्षणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतां प्राप्तः स संन्यासेन शिखायज्ञोपवीतादिसहितसर्वकर्मत्यागेन हेतुना तत्पूर्वकेन विचारेणेत्यर्थः । नैष्कर्म्यसिद्धिं निष्कर्म ब्रह्म तद्विषयं विचारपरिनिष्पन्नं ज्ञानं नैष्कर्म्यं तद्रूपां सिद्धिं परमां कर्मजाया अपरमसिद्धेः फलभूतामधिगच्छति साधनपरिपाकेण प्राप्नोति । अथवा संन्यासेनेतीत्थंभूतलक्षणे तृतीया । सर्वकर्मसंन्यासरूपां नैष्कर्म्यसिद्धिं ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतां नैर्गुण्यलक्षणां सिद्धिं परमां पूर्वस्याः सिद्धेः सात्त्विक्याः फलभूतामधिगच्छतीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

श्री० टी०—ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावे सर्वशास्त्रप्रसिद्धं बोधयितुमेवमारुरुक्षोर्मोक्षेकुकामस्य कर्तव्यस्य कर्मणो दोषवत्त्वेऽपि चित्तशुद्धेरन्यासाध्यत्वेनावश्यकरणीयत्वं, श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितत्वेन निर्दुष्टत्वं, श्रेयःसाधनत्वं, तेन सात्त्विकेन कर्मणा बहुजन्मभिः समाराधितपरमेश्वरप्रसादाच्चित्तशुद्धिं च प्रतिपाद्य सात्त्विक्यैव बुद्ध्या सात्त्विकेन च कर्मणा समाराधितपरमेश्वरप्रसादात्सम्यक्सत्त्वशुद्धिं प्राप्तवतः सद्गुरोः सकृदुपदेशमात्रेण संप्राप्तात्मज्ञानस्यारूढस्य संन्यासयोगेन ब्रह्मप्राप्तिं निर्दिशति—असक्तेति । असक्तबुद्धिः सर्वत्र विषयान्तरे कर्मान्तरे देशान्तरे लोकान्तरे देवतान्तरे च भोक्तुं कर्तुं स्थातुं प्राप्तुमुपासितुं च असक्ताऽननुरक्ता तत्तद्विषयैः संबन्धरहिता बुद्धिर्यस्य सोऽसक्तबुद्धिः—सर्वदृश्यमिथ्यात्वं निश्चित्य सर्वत्र विषयमात्रे सम्यग्विरक्त इत्यर्थः । सर्वमिथ्यात्वनिश्चयेन विषयाऽननुरक्तबुद्धित्वेऽपि चलचित्तस्य ज्ञाननिष्ठासंभवाद्विदुषो वश्यात्मत्वेन भवितव्यमित्याह—जितात्मेति । जितस्तीव्रवैराग्येण श्रद्धापूर्वकचिरकालिकनित्यनिरन्तरसत्कृत्ययावृत्त्यभ्यासेन निर्जितो ब्रह्मण्येव स्थिरतां गमित आत्मा मनो यस्य स जितात्मा वशीकृतचित्त इत्यर्थः । असक्तबुद्धित्वे जितात्मत्वेऽपि च सिद्धे शरीरसौख्यापेक्षावतः परिग्रहवतश्च योगिनो ज्ञाननिष्ठा न सिध्यत्यतस्तद्राहित्येन भवितव्यमित्याह—विगतस्पृह इति । देहात्परिग्रहाच्च विशिष्य गता विगता देहपरिग्रहक्षेमविषया स्पृहाऽपेक्षा यस्य स विगतस्पृहः—काले प्रारब्धप्रापितान्नभोजी कौपीनकन्थादण्डकुण्डिकामात्रधारी च भवेदित्यर्थः । एवमुक्तसाधनसंपन्नः सम्यग्विदितात्मतत्त्वस्तीव्रमुमुक्षुरारूढः संन्यासेन सति ब्रह्मणि स्वात्मना विदिते नितरामासः संन्यासः समाधिर्निरन्तरब्रह्मनिष्ठा तेन संन्यासेन निरन्तरज्ञाननिष्ठया । यद्वा, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्युक्तलक्षणं ब्रह्मैवाहमिति स्वस्य ब्रह्माकारेण नितरामितरभावापत्तिराहित्येनावस्थानं येन सिध्यति [illegible] संन्यासः—सम्यग्ज्ञानमहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहमेवेदं सर्वमित्येवंलक्षणं—तेन संन्यासेन

स्वयाथात्म्यविज्ञानेन नैष्कर्म्यसिद्धिं न यत्र कर्म तन्निष्कर्म निष्क्रियं परं ब्रह्म "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" इतिश्रुतेः। निष्कर्मणो भावो नैष्कर्म्यं ब्रह्मभावस्तत्प्राप्तिर्नैष्कर्म्यसिद्धिर्निर्विशेषब्रह्मात्मनाव-स्थितिलक्षणा तां नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां ब्रह्मभावापत्तेरुत्तमसिद्ध्यन्तराभावादनुत्तमां–सर्वा अप्य-णिमादिसिद्धयः सालोक्यादिसिद्धयो वा भेदप्रत्ययहेतुत्वेन मोहकतया पुरुषं संसारयन्ति। नैष्कर्म्य-सिद्धिस्तु स्वसिद्धिकारणेन सम्यग्दर्शनेन द्वैतप्रत्ययहेतुभूताज्ञानध्वान्तविध्वंसनं कारयित्वा संसारा-त्रिनिवर्त्य ब्रह्मविदं स्वाराज्यसाम्राज्यसुखे संस्थापयत्यतः परमत्वं युक्तं नैष्कर्म्यसिद्धेः। तामेतां नैष्क-र्म्यसिद्धिं ब्रह्मविद्यतिः संन्यासेन निरन्तरब्रह्मनिष्ठासंभावितसम्यग्दर्शनेनैवाधिगच्छति, नत्वन्येनेति सिद्धम्। यद्वा नैष्कर्म्यसिद्धिं नैष्कर्म्यं निर्विशेषब्रह्मभावस्तत्प्राप्तिर्नैष्कर्म्यसिद्धिस्तां संन्यासेन 'अहंकारं बलं दर्पम्' इति वक्ष्यमाणलक्षणेनाहंममाभिमानत्यागेनाधिगच्छति। यद्वा 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' इतिन्यायेन मुमुक्षोः सात्त्विकस्य सात्त्विकैर्धृतिबुद्धिश्रद्धादिभिर्युक्तस्य सात्त्विकेनैव कर्मणा वैदिकेनानेकजन्मभिः समाराधितपरमेश्वरानुमहात्स-मुपात्तसत्त्वशुद्धेस्ततः सकृदुपदेशमात्रेण संप्राप्तात्मतत्त्वविज्ञानस्य पण्डितस्य तु "ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च" इत्युक्तप्रकारेण सर्वकर्मसंन्यास एवाधिकारो न कथंचिदपि कर्मणीति बोधयितुमेवंलक्षणस्यैव संन्यासयोग्यत्व-मित्यधिकारिलक्षणानि वदन् परिपक्वान्तःकरणस्य नैष्कर्म्यसिद्धिं प्रतिपादयति–असक्तबुद्धिरिति। असक्तबुद्धिः सर्वत्र पुत्रमित्रकलत्रधनादिष्वसक्ता सक्तिर्मोहादनुरक्तिस्तद्रहितत्वादसक्ता रागममताविशेषनिर्मुक्ता बुद्धिर्य-स्य सोऽसक्तबुद्धिः सर्वतः सम्यग्विरक्त इत्यर्थः। तात्कालिकवैराग्ये सत्यप्यस्थिरात्मनः पश्चाद्रागादयो वि-षयप्रवृत्तिस्तया पातित्यं च स्यात्तत्तदभावेन भवितव्यमित्याह–जितात्मेति। जितो निर्जितस्तीव्रमुमुक्षया मुहुर्मुहुर्विषयदोषसंदर्शनेन तद्वर्धिततीव्रवैराग्येण तेषु बन्धकत्वबुद्ध्या भयेन चासत्त्वज्ञानेन च सम्यग्विषय-वैमुख्यं गमित आत्मा मनो यस्य स जितात्मा वशीकृतचित्त इत्यर्थः। तीव्रमोक्षेच्छादिभिर्जितात्मत्वे सिद्धेऽपि औषधवदन्नमाचरेदित्युक्तलक्षणाभावे देहसौख्यापेक्षावतो ज्ञानतत्फलासंभवात्संन्यासे नाधिकारोऽतस्तद-भावेन भवितव्यमित्याह–विगतस्पृह इति। देहसौख्यापरिग्रहसामीचीन्याद्विशिष्य गता स्पृहा आशा यस्य स विगतस्पृहो देहभरणापेक्षारहित इत्यर्थः। एवंलक्षणलक्षितः शुद्धात्मा सद्गुरुप्रसादाद्विज्ञातात्मस्वरूपो मुमुक्षुर्विद्वान् नैष्कर्म्यसिद्धिं श्रौतस्मार्तादिसर्वकर्मभ्यो निर्गतो यः स निष्कर्मा तस्य भावो नैष्कर्म्यं विहितप्रतिषिद्धादिसर्वकर्मसंबन्धराहित्येनावस्थानं नैष्कर्म्यं कर्मतद्विषयोरविषयत्वं तस्य प्राप्तिर्नैष्कर्म्यसि-द्धिस्तां परमां परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्य हेतुभूतज्ञाननिष्ठासाधनत्वात् परमां नैष्कर्म्यसिद्धिं–संन्यासेन हि वि-हितानां कर्मणां ससाधनानां विधिना परित्यागः संन्यासः–तेन संन्यासाश्रमेण यतिधर्मेणैव गच्छति। न तु ब्रह्मचर्याश्रमेण, नापि गार्हस्थ्येन, नापि च वानप्रस्थेन नैष्कर्म्यं सिध्यति। अतो ब्रह्मविदो नैष्कर्म्यं संन्यासेनैव प्राप्तव्यमिति सिद्धम्॥ ४९॥

श्री० टी०–ननु कथं कर्माणि क्रियमाणे दोषांशप्रहाणेन गुणांश एव संपत्स्यत इत्यपेक्षायामाह–अस-क्तेति। असक्ता सङ्गशून्या बुद्धिर्यस्य, जितात्मा निरहंकारः, विगतस्पृहो विगता स्पृहा फलविषयेच्छा यस्मात्सः–एवंभूतेन 'स त्यागः सात्त्विको मतः' इत्येवं पूर्वोक्तेन कर्मसक्तितत्फलयोस्त्यागलक्षणेन संन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिं सर्वकर्मनिवृत्तिलक्षणां सत्त्वशुद्धिमधिगच्छति। यद्यपि सङ्गफलयोस्त्यागेन कर्मानुष्ठानमपि नैष्कर्म्यमेव कर्तृत्वाभिनिवेशाभावात्। तदुक्तम्–'नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' इत्यादिश्लो-कचतुष्टयेन। तथाप्यनेनोक्तलक्षणेन संन्यासेन परमां नैष्कर्म्यसिद्धिम् 'सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी' इत्येवंलक्षणां पारमहंस्यापरपर्यायां प्राप्नोति॥ ४९॥

म० टी०–यो विवेकादिसामग्र्या संपन्नः सन् विशुद्धधीः॥ सत्त्वाद्युद्रेकप्रयद्वारा मुमुक्षुः संयतेन्द्रियः

॥ १ ॥ शुद्धब्रह्मैक्यजिज्ञासां प्राप्तो वेदान्तसद्गिराम् ॥ श्रवणाद्यादरात्कर्तुं निर्विक्षेपतया सदा ॥ २ ॥ तच्छेषभूतं संन्यासं श्रुत्यादिविहितं चरेत् ॥ स कीदृशोऽस्ति जिज्ञासुरित्यत्राह जगद्गुरुः ॥ ३ ॥ सर्वत्र पुत्रदारादौ ममेत्यासङ्गकारणे ॥ अहमेषां ममैते चेत्यभिष्वङ्गविवर्जिता ॥ ४ ॥ बुद्धिर्यस्य यतस्तेन स्ववशे स्थापितं मनः ॥ विषयेभ्योऽपि सर्वेभ्यः प्रत्याहृत्य विवेकतः ॥ ५ ॥ सति रागे कथं चेतः प्रत्याहरणमाचरेत् ॥ तत्राह सर्वदृश्येषु भोगजालेषु सर्वशः ॥ ६ ॥ दोषदृष्ट्या विरक्तः सञ्जातो यो विगतस्पृहः ॥ नित्यबोधपरानन्दरूपे मोक्षे च तत्परः ॥ ७ ॥ एवं पुरुषश्रेष्ठो विचारैकपरायणः ॥ निष्कर्मब्रह्मतल्लक्षणं नैष्कर्म्यं तत्स्वरूपिणीम् ॥ ८ ॥ सिद्धिं साधनसंपत्त्या प्रकृष्टां फललक्षणाम् ॥ संन्यासेनैव तत्पूर्वविचारेणाधिगच्छति ॥ ९ ॥ यद्वा संन्यासरूपां तां सिद्धिं नैर्गुण्यलक्षणाम् ॥ उत्कृष्टा पूर्वसात्विक्याः सिद्धेः फलस्वरूपिणीम् ॥ १० ॥ ब्रह्मात्मैक्यपरानन्दसाक्षात्कारैकयोग्यताम् ॥ प्राप्नोतीत्यर्थ एवास्तु चेत्यंभावे तृतीयया ॥ ११ ॥ ४९ ॥

भा० टी०–ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणायाः कर्मजायाः सिद्धेः फलभूतां ज्ञाननिष्ठालक्षणां नैष्कर्म्यसिद्धिमाह–असक्तेति । सर्वत्र सक्तिनिमित्तेषु पुत्रदारादिष्वसक्तबुद्धिरसक्ता सङ्गरहिता बुद्धिरन्तःकरणं यस्य स यतो जितो वशीकृत आत्मान्तःकरणं यस्य स जितात्मा, अत एव विगता स्पृहा देहजीवनभोगेषु तृष्णा यस्मात्स च एवंभूत आत्मज्ञः स नैष्कर्म्यसिद्धिं–निर्गतानि कर्माणि यस्मात् निष्क्रियात्मसंबोधात् स निष्कर्मा तस्य भावो नैष्कर्म्यं तच्च तत्सिद्धिश्च सा, नैष्कर्म्यस्य निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणस्य सिद्धिर्निष्पत्तिरिति वा, तां परमां कर्मजायाः सिद्धेः प्रकृष्टां सद्योमुक्त्यवस्थानरूपां संन्यासेन सम्यग्दर्शनेन तत्पूर्वकेण वा सर्वकर्मसंन्यासेनाधिगच्छति प्राप्नोति । तदुक्तम् ' सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी । नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ' इति ॥ ४९ ॥

प० टी०–अथ स्वधर्माचरणेऽपि गुणदोषविवेकमाह–असक्तबुद्धिरिति । असक्ता सर्वत्र गृहादिषु सङ्गशून्या बुद्धिर्यस्य, जितात्मा निरहंकारः, विगतस्पृहः कर्मफलानपेक्षः पुरुषः पूर्वोक्तेन कर्मासक्तिसात्विकत्यागलक्षणेन संन्यासेन नैष्कर्म्यसिद्धिं सर्वकर्मनिवृत्तिलक्षणां सत्त्वशुद्धिमधिगच्छति ॥ ४९ ॥

रा० टी०–स्वकर्मनिरतः सिद्धिं विन्दतीत्यत्रापेक्षितधर्मान्तराण्याह–असक्त इति । सर्वदारादिविषयेषु असक्तबुद्धित्वे हेतुर्जितात्मेति । वशीकृतमनस्कः वैषयिकसुखे क्षुद्रासुमिकसुखे चापगतेच्छः । परमां संपूर्णां नैष्कर्म्यसिद्धिं नैष्कर्म्याय मोक्षाय सिद्धिमुपायसिद्धिं प्रारब्धान्यसर्वानिष्टकर्मनाशरूपां सिद्धिं वा, संन्यासेन काम्यकर्मत्यागेन सर्वकर्मणां भगवति समर्पणेन वाऽधिगच्छति प्राप्नोति ॥ ४९ ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ॥
समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥

त० टी०–अधुना नैष्कर्म्यलक्षणा सिद्धिः, प्रेमलक्षणा भक्तिर्भगवत्प्राप्त्यन्तरङ्गहेतुरिति वक्तुं तस्याः प्राप्तिप्रकारमुपदिशति–सिद्धिमिति । ज्ञाननिष्ठाफलरूपां नैष्कर्म्यसिद्धिमनवरतध्याननिष्ठालक्षणां परां भक्तिं यथा येन प्रकारेण प्राप्तः सन् ब्रह्म प्राप्नोति तथा समासेन संक्षेपेण वक्ष्यमाणं प्रकारं मे मद्वचनान्निबोध निश्चयेन जानीहि । यथा सिद्धिं प्राप्तो ब्रह्म प्राप्नोतीति प्रतिज्ञातां ब्रह्मप्राप्त्यसाधारणोपायभूतां पराभक्तिं विशिनष्टि–निष्ठा ज्ञानस्य या परेति । या ज्ञानोत्तरभाविनी परा भक्तिः सा ज्ञानस्य परा निष्ठा उत्तमावस्थितिः फलमिति यावत् । स्वरूपतो विषयतश्च निरतिशयत्वात् ज्ञान्यग्रेसराणां सनकादिमह्लादादीनाम् । तथोक्तं श्रीभागवते भगवता स्वयमेव । " एताः

न्योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः। सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा" इति, "या प्रीति-रविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु" इति वैष्णवे प्रह्लादोक्तेश्च॥५०॥

म० टी०—प्रागुक्तसाधनसंपन्नस्य सर्वकर्मसंन्यासिनो ब्रह्मज्ञानोत्पत्तौ साधनक्रममाह—सिद्धिमिति। स्वकर्मणेश्वरमाराध्य तत्प्रसादजां सर्वकर्मत्यागपर्यन्तां ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म प्राप्नोति येन प्रकारेण शुद्धमात्मानं साक्षात्करोति तथा तं प्रकारं निबोध मे मद्वचनादवधारयानुष्ठातुम्। किमतिविस्तरेण? नेत्याह—समासेन। संक्षेपेणैव न तु विस्तरेण हे कौन्तेय। तदवधारणे किं स्यादित आह—निष्ठा ज्ञानस्य या परा। ज्ञानस्य विचारपरिनिष्पन्नस्य निष्ठा परिसमाप्तिः यदनन्तरं साधनान्तरं नानुष्ठेयमस्ति। परा श्रेष्ठा सर्वान्त्या वा साक्षान्मोक्षहेतुत्वात्। तां सिद्धिं प्राप्तस्य ब्रह्मप्राप्तिरूपां ज्ञाननिष्ठां परां संक्षेपेण निबोधेत्यर्थः॥ ५०॥

धं० टी०—ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावं सूचयितुं सात्त्विककर्मानुष्ठानसंभाविता सत्त्वशुद्धिरुक्ता। ततः संप्राप्ततत्त्वविवेकज्ञानारूढस्य यतेर्विदेहकैवल्यसिद्धिकारणस्य ज्ञानस्याप्रतिबद्धत्वसिद्धये नियमेन क्रमेण कर्तव्यां ज्ञाननिष्ठां सप्रकारां ज्ञानफलं च निरूपयितुमाह—सिद्धिमिति। सत्त्वशुद्ध्या सम्यग्विविदिषारूढस्ततो मुमुक्षुरारूढः संन्यासेन सिद्धिं नैष्कर्म्यसिद्धिं प्राप्तः सन् यथा येन प्रकारेण तत्तत्साधनानुष्ठानपूर्वकज्ञाननिष्ठासिद्धिक्रमेण परिपक्वज्ञानेन ब्रह्माप्नोति ब्रह्मभावं गच्छति। विदुषो ब्रह्मप्राप्तिर्नाम संशयासंभावनाविपरीतभावनादिविकल्पराहित्येन सम्यगपरोक्षीकृते स्वात्मनि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसच्चिदानन्दैकरसे निर्विशेषेऽद्वितीये परे ब्रह्मणीदमेवाहमिति आत्मत्वबुद्धिकरणमेव। यथाऽऽरोपितरूपेण स्वमन्यथा गृहीत्वा देवदत्तस्तन्निवृत्त्या देवदत्त एवाहमिति स्वात्मनि स्वबुद्धिं करोति। एवं स्वाज्ञानेन स्वं ब्रह्म विस्मृत्य गुरुप्रसादाद्वास्तविज्ञानेन तन्निवृत्त्या स्वात्मनि ब्रह्मणि स्वबुद्धिं करोति। तत्र स्वबुद्धिकरणमेव विदुषो ब्रह्मप्राप्तिर्न तु धनवत्प्राप्तिरुच्यते। देशतः कालतः स्वरूपतश्च प्राप्तव्यस्य ब्रह्मणो व्यवधानाभावात्। 'अयमात्मा ब्रह्म' इतिन्याये-नाप्तुर्विदुषः स्वरूपत्वान्नित्याप्तस्य वस्तुनः पुनराप्तिकल्पनायोगात्। अतो विस्मृतकण्ठाभरणस्यावमर्शनेनास्तित्वावधारणं यथा प्राप्तिः, तथाऽज्ञानेनान्यथा गृहीते स्वात्मनि ब्रह्मणि विचारजन्यज्ञानेन पुनः स्वभावावधारणमेवाप्तिः। एवं ब्रह्मविद्यथा येन ब्रह्मनिष्ठासिद्धिप्रकारेण विशुद्धबुद्ध्या ब्रह्माप्नोति, तथा तं ज्ञाननिष्ठासिद्धिप्रकारं समासेन संक्षेपेणैव न तु विस्तरेण, विशुद्धबुद्धेः सूक्ष्मग्राहिणो बहुगाथानुपयोगात्, स्वल्पग्रन्थेन तं प्रकारं मे निबोध नितरां बुद्ध्यस्व, बुद्ध्वा तदनुष्ठानपरो भव। श्रुतेर्बोधस्य च फलमनुष्ठानमेव, अन्यथाऽऽपणवार्तावदुपदेशो निरर्थक इत्यर्थः। क्वखलु सम्यग्ज्ञानं विदेहमुक्तेः परमकारणं, या परा निरतिशयपरिपाकलक्षणा निष्ठा परिसमाप्तिर्विकारनिर्मुक्ता निश्चला स्थितिः। कस्य निष्ठेत्यत आह—ज्ञानस्येति। 'न जायते म्रियते' इत्यारभ्य 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।·····प्रथितः पुरुषोत्तमः॥' इत्यन्तेन निर्विशेषविषयकेण ग्रन्थेन यादृश आत्मा निर्विशेषो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परः प्रत्यगेकरसोऽद्वितीयः सम्यङ्निरूपितस्तद्विषयं ज्ञानं यादृशम्। यादृग्ज्ञानेनाहमेवेदं 'सर्वमिदं सर्वमहमिति ब्रह्मविद्यातिः सर्वात्मकं दृश्यसंबन्धराहित्यं चिदेकरसमाकाशवत्परिपूर्णमद्वितीयमात्मानं पश्यति। तादृशज्ञानसिद्धौ कार्या या परा निष्ठा सा येन प्रकारेण सिध्यति तं प्रकारं मत्तो निबोधेत्यर्थः। ननु मुमुक्षोरात्मज्ञानमेव न सिध्यति कुतस्तन्निष्ठा परा सिध्येत्? कथं ज्ञानस्यासिद्धिरिति चेदुच्यते। यदाकारं ज्ञेयं तदाकारमेव भवति तज्ज्ञानम्। नरश्चेज्ज्ञेयस्तज्ज्ञानं च नराकारमेव भवति, पशुश्चेत्पश्वाकारं, नान्यथा। निराकारस्त्वात्मा, न ह्यात्मन आकारोऽस्ति। 'न सत्तन्नासदुच्यते' इति दृश्यत्वनिषेधात्सदसद्विलक्षणस्य वस्तुनोऽप्रसिद्धत्वादनाकारत्वाच्च विषयत्वानुपपत्तेः। आकारवत्त्वात्मनस्तदा सिध्येच्चात्मा युष्मत्प्रत्ययार्थः स्यात्। न ह्ययं

युष्मत्प्रत्ययार्थो भवति, "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" इत्यात्मनः सर्वदृश्यवैलक्षण्यश्रवणात् । ननु "तं देवा ज्योतिषां ज्योतिः" इति, " अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः " इत्यात्मनो ज्योतिःस्वरूपत्वं श्रूयते, कथमरूपत्वमिति चेन्न । 'अस्थूलम्' इति, 'यत्तदद्रेश्यम्' इति रूपवद्द्रव्यत्वनिषेधे सत्यरूपद्रव्यत्वापत्त्या जडत्वापत्तौ सत्यां श्रुत्या तन्निरस्यते—प्रकाशस्वरूप आत्मेति, न तु सूर्यादिवत् ज्योतिःस्वरूप आत्मेत्युच्यते । तथात्वे सत्यात्मनो भौतिकत्वज्ञेयत्वजडत्वानित्यत्वादिदोषः प्रसज्येत । सूर्यादिवदप्रयत्नेन विषयत्वं च स्यात्, तदप्युक्तम् "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" इत्यमूर्तत्वश्रवणात् । "न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य" इति आत्मनो निर्विषयत्वमेव श्रूयते । विषयभूते हि वस्तुनि ज्ञानस्य तदात्मना परिणामो न त्वविषयभूते परिणामः संभवति । ननु "स आत्मा स विज्ञेयः" इत्यात्मा निर्विशेषः श्रूयते । श्रुतार्थाकारेण ज्ञानस्य परिणाम उपपद्यत एवेति चेन्न । 'एष वन्ध्यासुतो याति' इत्यादि श्रुतार्थाकारज्ञानप्रसङ्गात्तादृशज्ञानस्य मनोराज्यवन्मिथ्यात्वोपपत्तेश्च । न हि श्रुतं श्रावितं वा, मनसा भावितं वा वस्तु तद्विषयकं ज्ञानं च सत्यं भवति, प्रमाणान्तरेण च बाध्यते । यत एवमत आत्मविषयकं ज्ञानमेव न संभवति । तदसंभवे विदुषः कथं तन्निष्ठा सिध्यतीति चेन्न । प्रत्यक्षादिप्रमाणगम्यत्वादात्मसत्तायास्तज्ज्ञानासंभवासिद्धेः । कुत्रचित्प्रत्यक्षं प्रमाणं कुत्रचिदनुमानं कुत्रचिच्छास्त्रं कुत्रचिदर्थापत्तिः । आत्मविषये त्वेतत्सर्वं प्रमाणमेव भवति तदुच्यते—देहेन्द्रियादयोऽधिष्ठातृमन्तः, स्वतो जडत्वे सति इष्टानिष्टप्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा शकटः, तदधिष्ठाताऽऽत्मा देहादिभ्यो भिन्नः नियामकत्वाद्रथिकवदित्याद्यनुमानेन 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञम्' इत्यादिशास्त्रेण चात्मावगन्तुं शक्यते पण्डितैः । यथा चाद्यैकादशी शिवरात्रिरिति शास्त्रेणोक्तमङ्गीकृत्योपोष्यते, तथा विदुषा 'नान्तःप्रज्ञमित्यादिना प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा' इत्यन्तेन शास्त्रेण सकलदृश्यसंबन्धं निषिध्यार्पितं केवलमात्मतत्त्वं स्वात्मनाऽवगन्तव्यम्, उभयोः शास्त्रप्रतिपाद्यत्वाविशेषात् । ननु " नान्तःप्रज्ञम् " इति श्रुत्युक्तार्थस्य निर्विशेषत्वेनोपलक्ष्यभावाद्वन्ध्यापुत्रवदसत्त्वमेवेति चेदेकादश्या अपि विशेषाकारादर्शनात्स्वरूपेण तत्तुल्यत्वादननुष्ठेयत्वप्रसङ्गात् । तत उभयोरपि शास्त्रैकगम्यत्वं तदुक्तत्वेनाभ्युपगम्यत्वं च सममेव । नन्वेकादशीवदात्मसद्भावः शास्त्रेणाङ्गीक्रियत एवेति चेत्तत्र यथा निश्चयेन प्रवृत्तिस्तथा नाहं देहादिरिति निश्चयेनानात्मन्यहंभावं परित्यज्य ब्रह्मैवाहमिति तूष्णीं स्थीयतां, न पुनर्विकल्प्यतामिदमेव प्रामाणिकस्य प्रमाणस्य च फलम् । नन्वस्माकं शास्त्रं प्रमाणमेव, तथाप्यविषयत्वादात्मनस्तदनुभवाभावात्प्रवृत्त्यभाव इति चेत्तर्हि एकादश्याः प्रत्यक्षत्वं तदनुभूत्या प्रवृत्तिरित्यज्ञत्वं स्वीयं प्रकटितम् । पण्डितानां शुद्धबुद्धीनामेव मुमुक्षूणां मोक्षशास्त्रे तत्प्रतिपादितार्थे च विश्वासो दृढप्रत्ययः प्रवृत्तिश्च सहस्रकोटिजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपरिपाकवशादीशप्रसादादेव सिध्यति, नान्यथा युक्तिकोटिभिरशुद्धात्मनाम् । यदुक्तम् 'अविषयत्वादप्रसिद्धत्वाच्चात्मनस्तदनुभवाभावात्प्रवृत्त्यभावः' इति—अत्रोच्यते । न तावदयमात्मा स्वयमेकादशीवदेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्ययार्थत्वेन नित्यापरोक्षत्वात्प्रकाशस्वरूपत्वात्सर्वप्रकाशकत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः । न ह्यात्मा यस्य कस्यचित्कदाचिदप्रसिद्धो भवति ज्ञातव्यः प्राप्तव्यो वा । सत्यप्रसिद्धत्वे आत्मनो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारस्तत्र न सिध्येत । सर्वेषामात्मानमुद्दिश्यैवेष्टानिष्टयोः प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च दृश्यते, न त्वनात्मानं देहं प्राणं वा बुद्धिं वान्यं वा । मर्त्यः स्वस्यात्मसुखायैव देहस्यारोग्यमिच्छति, बुद्धेः सौष्ठवमाहारस्योपशमं च प्राणनिरोधं योगं च करोति, भार्यामुद्वहते, देवान् यजते, हरिं भजति । ततो देहादिविलक्षण आत्मा प्रसिद्ध एवास्मत्प्रत्ययार्थः । न हि नाहमस्मीति कदाऽपि यस्य कस्यापि प्रत्ययोऽस्ति । स्वप्नमहमद्राक्षम्, सुखमहमस्वाप्सम्, अहं जागर्मीत्यवस्थात्रयेऽपि सर्वैरहमस्म्येवेत्यात्मसत्तायाः सदानुभूयमानत्वादात्मनो ज्ञेयत्वानुपपत्तेः सर्वदृश्यभिन्नत्वप्रसिद्धेश्च । न हि स्वमेकं साक्षादनुभवतः पण्डितस्य स्वस्य चासिद्धेः प्रमाणमपेक्ष्यते । सर्वेषां प्रमाणानां प्रामाण्यं यतः सिद्ध्यति तं सर्व-

प्रमाणप्रामाण्यसिद्धिकारणं स्वप्रकाशमात्मानं किंतु प्रकाशयेत्। नह्यचेतनं चेतनं प्रकाशयति स्वसत्त्वं स्वस्यैव
प्रत्यक्षम्। ततः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। व्यवहारान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिश्च प्रमाणम्। एवं प्रत्यक्षादिप्रमाणसि-
द्धस्यात्मनो वन्ध्यापुत्रवदसत्त्वं तज्ज्ञानस्य मनोराज्यवत्सगुणध्यानवन्मिथ्याविषयत्वं प्रमाणान्तरबाध्यत्वं च
संभावयितुं न शक्यते। तथात्वे तव त्वज्ज्ञानस्य चाभावत्वप्रसङ्गात्। ततो ज्ञातृत्वेनास्मत्प्रत्ययार्थत्वेन सर्वव्यवहा-
रकारणत्वेन परमप्रेमास्पदत्वेन ■ प्रसिद्धत्वादात्मा नायमत्यन्ताविषयो भवति, किंतु स्वच्छत्वान्निर्मलत्वात्सू-
क्ष्मत्वाच्च बुद्धिरात्मचैतन्यव्याप्त्या, सूर्यप्रकाशव्याप्त्या स्फटिकः सूर्यवद्यथा, तथात्मवदवभासते। तादृशबुद्धिव्या-
प्त्या मनआदिस्थूलान्तं सर्वमात्मवदवभासते। तेन देहेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्यादिष्वनात्मस्वहमित्यात्मबुद्धिः सर्वेषां
मनुष्योऽहं ब्राह्मणो यतिरिति, द्रष्टा श्रोता काणः खञ्जोऽहमिति, क्षुधितः पिपासितोऽहमिति, कर्ता भोक्ता-
ऽहं सुखी दुःखीत्येवमारोपितैरनात्मतत्प्रत्ययैः शैवालैर्जलमिव मेघपटलैश्चन्द्रवत्तिरोहिततया विस्पष्टं न प्रका-
शते। शतधा श्रुत्वा मत्वाऽप्यनाद्यविद्यावासनया पण्डिता अपि बहिरन्तःपरिपूर्णमप्यात्मानमतिसूक्ष्म-
मतीन्द्रियमनवगाह्य जडमारोपितमेव स्थूलमनात्मानमात्मत्वेन गृह्णन्ति, नत्वात्मानम्। ततोऽनाद्यविद्यारो-
पितानामन्तर्बुद्ध्यादीनां बहिर्घटपटादीनां तत्प्रत्ययानां च "सर्वमिदमहं ममैव" इति सर्वत्र प्रत्यग्दृष्ट्या ब्रह्मैक-
विषयया निरास एव कर्तव्यः। संततब्रह्मप्रत्ययावृत्त्या विपरीतप्रत्ययानां निःशेषनिवृत्तौ सत्यां, शैवाल-
निवृत्तौ स्वच्छं सुखकरं जलमिव, मेघापाये पूर्ण आनन्दकरश्चन्द्र इव, स्वच्छः शान्तश्चिद्घन आनन्दघन
आत्मा ज्ञानचक्षुषः सम्यग्विषयो भवति। यत एवं ततः आत्मावरकानात्मप्रत्ययनिरसन एव प्रयत्नः
कर्तव्यस्तीव्रमुमुक्षया विदुषा, न स्वात्मा-कीदृशः? किंलक्षणः? कथं तिष्ठति? कुत्रास्ते? कथं प्राप्यः? इत्यात्मस-
ज्ञाने तत्प्राप्तिवेदने च। तस्याहमर्थत्वेन स्वतः सिद्धत्वान्नित्यप्राप्तत्वाच्च। कालदिगादेर्निराकारस्यापि
च ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशाभ्यां सिध्यति। अद्यैकादशीयं प्राचीति। किमुत स्वस्वरूपत्वेन सिद्धस्यात्मनो
ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशेन सिध्यतीति? आत्मज्ञानेनैव हि स्वं च परं च विजानात्यहं ममेदमिति। यः
स्वप्नमद्राक्षं, यः सुखमस्वाप्सं, सोऽहं जागर्मीत्यनुभूयमानस्य स्वस्य देहेन्द्रियादिभिन्नत्वं स्वप्ने सुषुप्तौ बुद्ध्यादि-
भिन्नत्वं ज्ञातृत्वं च सर्वत्र ज्ञात्वाऽप्यात्मा कस्तज्ज्ञानं कथमिति वक्तुं पण्डितस्य न युक्तम्। यस्य प्रकाशेनेदं
सर्वं बहिरन्तर्विजानाति तज्ज्ञानं न सिध्यतीति वचनमतीव साहसम्। "एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः" इति
क्षेत्रं क्षेत्रधर्मजातं च सर्वं यो विजानाति सोऽहमात्मेत्यात्मज्ञानं यतेः शुद्धात्मनः परमेश्वरप्रसादा-
त्सुलभतममेव। यस्मादेवं तस्मादात्मा सुप्रसिद्धस्तज्ज्ञानमप्यात्मेश्वरप्रसादात्सुलभतममेवेति कृत्वा शुद्धात्मनो
यतेः सद्गुरूपदेशात्संप्राप्तस्यैवात्मज्ञानस्यानात्मवासनाकृतविपरीतप्रत्ययानिःशेषनिवृत्त्या अप्रतिबद्धफलसिद्धये मु-
मुक्षोर्ज्ञाननिष्ठा संपादनीयेत्युच्यते भगवता—निष्ठा ज्ञानस्य या परेति। ननु मुमुक्षोर्ज्ञाननिष्ठा संपादनीयेत्युच्यते।
ज्ञाननिष्ठा नाम ज्ञाने ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मणि चित्तस्य नैश्चल्येन स्थितिर्वा किं ज्ञानाभ्याससमाप्तिर्वा? नाद्यः,
चञ्चलत्वान्मनसो ब्रह्मणि स्थित्यसंभवात्। द्वितीये ज्ञानस्य ज्ञानहेतोर्वेदान्तशास्त्राभ्यासस्य परिसमाप्तिर्वा उत
ज्ञानस्य प्रत्ययावृत्तेः परिसमाप्तिर्वा? नाद्यः, केवलग्रन्थस्य शुष्कतर्कवदावृत्त्या क्लेशं विना प्रयोजनादर्शनात्। न
द्वितीयः, तत्त्वमसीति तत्त्वंपदार्थशोधनपूर्वकं वाक्यार्थश्रवणमात्रेणैवाहं ब्रह्मास्मीति विदुषो ब्रह्मात्मप्रत्यये संपद्य-
माने पुनः पुनस्तदावृत्तेः फलादर्शनात्। अहं ब्रह्मास्मीतिसंपन्नज्ञानस्यैव ब्रह्मात्मप्रत्ययस्य दार्ढ्याय पुनः पुन-
रावृत्तिः कर्तव्येति चेन्न, पट्टाभिषेकेणैव संप्राप्तराजत्वस्य नृपतेः पुनः पुनः राजाऽहमित्यावृत्तिवच्छ्रुतियुक्तिभिः
सम्यक्शोधितयोस्तत्त्वंपदार्थयोरेकत्वावबोधकवाक्यार्थश्रवणमात्रेणाहं ब्रह्मेति ब्रह्मात्मभावापन्नस्य यतेः पुनः
पुनर्ब्रह्मैवाहमिति प्रत्ययावृत्त्या पुनरुपाधिकृतपरिच्छित्तिं विना फलान्तरदर्शनादराज्ञ आवृत्तिक्रियया राजत्व-
मिव अब्रह्मणो ब्रह्मत्वमावृत्तिक्रियया कल्प्यं च स्यात्। घटोऽयमित्युपदेशमात्रेण घटविषयकं ज्ञानं झटिति,

यथा जायते, तथैव तत्त्वमसीत्युपदेशमात्रेणाहं ब्रह्मेति ब्रह्मात्मत्वापादकं ज्ञानं शुद्धात्मनो जायत एव, नात्र पुनः पुनः प्रत्ययावृत्तिरपेक्ष्यते। नहि चक्षुःसंनिकर्षमात्रेण घटज्ञाने जाते घटोऽयं घटोऽयमिति तज्ज्ञानदार्ढ्याय मुहुर्मुहुरावृत्तिरपेक्षिता भवति, प्रमाणप्रमेयसंबन्धमात्रैकसाध्यत्वात्प्रमायाः, न त्वावृत्तिसाध्यत्वमस्ति, वस्तुतन्त्रत्वाज्ज्ञानस्य, न पुरुषतन्त्रत्वम्। अतो ज्ञानाभ्यासो निष्प्रयोजन एवेति चेत्सत्यं, प्रमाणप्रमेयसंबन्धमात्रजन्यमेव ज्ञानं वस्तुतन्त्रं, न तु पुरुषतन्त्रं, नापि क्रियातन्त्रं; तथापि स्वोत्पत्तौ प्रमाणसौष्ठवमपेक्षते। वास्तवमपि ज्ञानं सति प्रमाणसौष्ठवे समीचीनं जायते, नत्वसौष्ठवे। यथा चक्षुषः काचकामलादिदोषेण तैमिरिकत्वे चन्द्रानेकत्वज्ञानमवास्तवमेव जायते, वस्तुनो विस्पष्टत्वेऽपि। तस्यैव निरन्तरौषधसेवया तद्दोषनिवृत्त्या निर्मलत्वे सिद्धे वास्तवमेव चान्द्रं ज्ञानं विस्पष्टं तद्दर्शनाह्लादश्च सिध्यति। तथैवानाद्यविद्यावासनाकृतैः सत्त्वरजस्तमोदोषैर्दूषिते सत्यन्तःकरणे समुत्पद्यमानैरहमिदमद इत्याद्यनात्मप्रत्ययैर्व्यवधीयमानमात्मतत्त्वं न विस्पष्टं भाति। तस्यैवान्तःकरणस्य चिरकालनित्यनिरन्तरसमनुष्ठितसमाधियोगेन सजातीयप्रत्ययावृत्तिलक्षणेन निरुक्तदोषाणां तत्कार्याणां च निःशेषनिवृत्त्या केवलशुद्धसत्त्वभावापत्तौ सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेत्यद्वैतात्मविज्ञानं सर्वदृश्यसंबन्धनिर्मुक्तमप्रतिबद्धं च जायते। ततो ज्ञानपरिपाकैकप्रयोजनत्वात्प्रत्ययावृत्तेः, सत्यामेव ज्ञानपरिपाकसिद्धौ, उक्तलक्षणं सम्यग्ज्ञानं कैवल्यपदावसानकमखण्डानन्दानुभावकं च सिध्यति। तथा च श्रुतिः—"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्" इति, 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' इति, 'अभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः' इति च, 'नास्ति ज्ञानात्परं किंचित्पवित्रं पापनाशनम्'। तदभ्यासादृते नास्ति संसारोच्छेदकारणम्' इति। ज्ञानस्य परिपाको नाम चिरकालनित्यनिरन्तरसमभ्यस्यमानसजातीयप्रत्ययावृत्त्या सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकानां सत्त्वरजस्तमोगुणानां तत्कार्याणां चाहमिदमद इष्टमनिष्टमित्यादिविपरीतप्रत्ययानां रागद्वेषमोहादिविकाराणां च निःशेषनिवृत्त्या समुत्पद्यमानोऽन्तःकरणस्य केवलशुद्धसत्त्वभाव एव प्रसादलक्षणः। यस्मिन्सति सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति स्वस्मिन्सर्वत्र ब्रह्मत्वधीव्यवस्थापकं परावरैकत्वविज्ञानं विकल्पनिर्मुक्तं वृत्तिव्यापारसमाप्तिलक्षणं संभवति। तदेवज्ञानं नित्यनिरन्तरसजातीयप्रत्ययावृत्त्येकगम्यं, नत्वयं घट इति परस्कृदुपदेशमात्रगम्यं, नापि राजत्वज्ञानवत्पट्टबन्धक्रियामात्रगम्यं च भवति। तत्र ज्ञेयस्य स्थूलत्वेन तज्ज्ञानस्यापि स्थूलत्वान्निष्प्रतियोगिकत्वाल्लौकिकत्वाच्च प्रत्ययावृत्तिर्नापेक्ष्यते। "सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यम्" इति, "तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्। गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्" इति श्रवणादत्र तु ज्ञेयं वस्तु परमसूक्ष्ममलौकिकं शैवालपटलैर्जलवदविद्यातत्कार्यैस्तिरोहितं भवति। ततस्तज्ज्ञानं, चक्षुः सूर्यालोकमिव, स्वविषयावरकवारणं सत्प्रत्ययावृत्तिलक्षणमपेक्षते। नैतेन ब्रह्मभावः कल्पितो भवति। नाहं मनुष्य इत्यत्रात्मनो मनुष्यत्वमपोह्यते, नत्वहमर्थत्वं कल्प्यते, नापि ब्रह्मभावः कल्प्यते। अहमर्थत्वस्य स्वतःसिद्धत्वात् 'अयमात्मा ब्रह्म' इति, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति ब्रह्मभावस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात्। सति तयोर्भेदे कथमद्वैतं सिध्येत्? "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। नेह नानास्ति किंचन"। "एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" इत्यादिश्रुतिभिरद्वैतमेव प्रतिपाद्यते। ततस्तयोर्घटाकाशमहाकाशयोरिव ब्रह्मात्मनोरभिन्नत्वं स्वतःसिद्धं, न तु क्रियया कल्पयितुं शक्यम्। किं तु सत्प्रत्ययया- वृत्त्यानादिवासनया प्रतीयमानविपरीतप्रत्ययापनोदनमात्रमेव क्रियते ब्रह्मविदा स्वस्य पूर्णत्वज्ञानदार्ढ्याय। यथा स्थूलमपि रत्नज्ञानं स्वदार्ढ्यार्थं नित्यपरिशीलनमपेक्षते, यथा रविबिम्बज्ञानं स्थूलमपि सर्वेषामपरोक्षत्वाय चिरकालनित्यनिरन्तराभ्यासमपेक्षते, तथैव ब्रह्माभिन्नत्वज्ञानमतिसूक्ष्मं सप्रतिपक्षं च किमुत स्वस्याप्रतिबद्धत्वसिद्धये सत्प्रत्ययावृत्तिमपेक्षत इति? "तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात्" इति, "तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे" इति, "निष्कलं ध्यायमानः" इति, "ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिम्" इत्यादिश्रुति-

मिरुत्पन्नात्मज्ञानस्याप्रतिबद्धत्वसिद्धये सजातीयप्रत्ययावृत्तिलक्षणः समाधिः कर्तव्यत्वेन श्रूयते "तमेव
धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति । यत एवमतः सार्वात्म्यसिद्धये द्वैतप्रत्ययापनोदकः सत्प्रत्ययावृ-
त्तिलक्षणो ज्ञानाभ्यासः कृतश्रवणस्य विदितात्मतत्त्वस्य मुमुक्षोर्यतेः सहकारिसाधनैस्तद्बुद्धित्वादिभिरद्वे-
ष्टृत्वादिभिश्च वक्ष्यमाणैश्च संपन्नस्यावश्यं कर्तव्य इति षष्ठाध्याये निरूपितमेवार्थं पुनर्द्रढयितुमुच्यते भग-
वता—'निबोध मे । समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा' इति । यदुक्तं ज्ञानहेतोर्वेदान्तशास्त्रस्यावृत्त्या
शुष्कतर्कवत् क्लेशं विना प्रयोजनाभावादिति तन्न, वेदान्तावृत्त्येकलभ्यत्वादात्मज्ञानस्य तदावृत्तेः
सफलत्वोपपत्तेः । न हि मुमुक्षोर्यतेः स्तोत्रमन्त्रजपादिभिर्ज्ञानं सिध्यति विनाऽजस्रवेदान्तविचा-
रेण । "संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्" इति, "श्रोतव्यो मन्तव्यः" इत्युपनिषदमावर्तयेदिति निरन्तर-
विचारस्यैव कर्तव्यत्वश्रवणात् । 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति, 'शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम्'
इति, "आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया" इति, 'तत्त्यागी पतितो भवेत्' इति विचारस्य नियमेन कर्त-
व्यत्वं तत्त्यागे प्रत्यवायश्च स्मर्यते । ततः प्रणवजपादिकमङ्गं कृत्वा विचारमङ्गिनं कृत्वा यावत्सम्य-
गात्मविज्ञानं नोदेति तावदजस्रं वेदान्तावृत्त्यैव नियमेन भवितव्यं, तदेकप्रयोजनं स्यात्संन्यासस्य ।
यदा ज्ञानं विज्ञानं च सिध्यति तदाऽऽवृत्तिस्त्यक्तव्या । तथाच 'ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः' इत्यतो जिज्ञासोर्निरन्तरावृत्तिः कर्तव्येति सिद्धम् । यदपि
प्रोक्तं चञ्चलत्वान्मनसो ज्ञानस्वरूपे ब्रह्मणि स्थित्यसंभवादिति तन्न, तदेकसाध्यत्वादात्मयाथात्म्या-
वधृतेः । निश्चलबुद्धिवृत्तेः सम्यग्विषयभूतस्यैव मण्यादेः स्वरूपावधारणा दृश्यते, न तु चञ्चलवृत्ते-
र्विषयभूतस्य । तद्वत्समाहितबुद्ध्या सम्यग्विषयीकृतस्यैव ब्रह्मणो याथात्म्यावधारणं तत्रात्मत्वबुद्धिकरणं
तत्फलं च सिद्ध्यति, नान्यथा । अतो मनसः स्थैर्यं समाधिना प्रयत्नेन संपादनीयं मुमुक्षोर्विज्ञाततत्त्वस्य यतेः
'समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति' 'सर्वमात्मानं पश्यति' इति समाहितबुद्धेरेवात्मयाथात्म्यवेदनं तत्रात्म-
त्वबुद्धिकरणं सार्वात्म्यदर्शनं च श्रूयते यतः, ततः केवलश्रुतिमात्रेण यतेरात्मन्येवात्मत्वसिद्धिः सार्वात्म्य-
सिद्धिश्च न सिध्यति, ततस्तदर्थैवैषा कृतश्रवणस्य ज्ञाननिष्ठोच्यते सर्वज्ञेनेश्वरेण—निष्ठा ज्ञानस्येति ॥ ५० ॥
श्री० टी०—एवंभूतस्य परमहंसस्य ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मभावप्रकारमाह—सिद्धिं प्राप्त इतिषड्भिः । नैष्क-
र्म्यसिद्धिं प्राप्तः सन् यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति तथा तं प्रकारं संक्षेपेणैव मे वचनान्निबोध ॥ ५० ॥
स० टी०—पूर्वोक्तसाधनैः सर्वैः संपन्नस्य विवेकिनः ॥ मुमुक्षोर्ब्रह्मविज्ञानसाधनक्रम उच्यते ॥ १ ॥
स्वकर्मणेशमाराध्य सिद्धिं तस्य प्रसादजाम् ॥ चित्तशुद्धिं परिप्राप्तो विज्ञानोत्पत्तियोग्यताम् ॥ २ ॥ ब्रह्म
येन प्रकारेण प्रत्यगद्वयचिद्घनम् ॥ साक्षात्करोति संशुद्धमात्मानं परमं सुखम् ॥ ३ ॥ मम वाक्यात्प्रकारं
तं कर्तुं त्वमवधारय ॥ संक्षेपेणैव कौन्तेय न तु विस्तरशः पुनः ॥ ४ ॥ तस्यावधारणे यत्नस्याप्तच्छृणु
त्वं समाहितः ॥ निष्पन्नस्य विचारेण ज्ञानस्याज्ञानघातिनः ॥ ५ ॥ निष्ठा परिसमाप्तिर्यां प्राप्य कार्यं न
किंचन ॥ साक्षान्मोक्षैकहेतुत्वात्सर्वान्त्या या परा स्मृता ॥ ६ ॥ तां त्वं संक्षेपतः श्रुत्वा तत्परो
भव सर्वदा ॥ ७ ॥ ५० ॥

भा० टी०—पूर्वोक्तेन स्वकर्मानुष्ठानेनेश्वराभ्यर्चनरूपेण जनितां केवलज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिं
प्राप्तस्योत्पन्नात्मविवेकविज्ञानस्य केवलात्मज्ञाननिष्ठा नैष्कर्म्यलक्षणा प्रकृष्टा सिद्धिर्येन क्रमेण भवति तं
श्रावयितुमाह—सिद्धिमिति । सिद्धिं स्वकर्मणेश्वरमभ्यर्च्य तत्प्रसादजां कायादीनां ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्ष-
क्षणां सिद्धिं प्राप्तः यथा येन प्रकारेण ज्ञाननिष्ठारूपेण ब्रह्म परमात्मानं प्राप्नोति तथा तं प्रकारं ज्ञाननि-
ष्ठाप्राप्तिकमं मे मम वचनान्निबोध त्वं निश्चयेनावधारय । किं विस्तरेण? नेत्याह—समासेनैव संक्षेपेणैव । यं

प्रकारमाश्रित्य मातृगर्भेण न संबध्यते तन्निबोधेति द्योतनार्थं कौन्तेयेति संबोधनम् । प्रतिज्ञाता ब्रह्मप्राप्ति-मिदंतया दर्शयितुमाह—निष्ठेति । या ब्रह्मप्राप्तिर्ज्ञानस्यात्मज्ञानस्य परा निष्ठा परा परिसमाप्तिः 'अव्यक्तो-ऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' । 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' । 'न जायते म्रियते वा' । 'सदेव सोम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्' । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' । 'तत्त्वमसि' इत्यादिभगवद्वाक्यैरुपनिषद्वाक्यैश्चोक्तः 'कूटस्थत्वमसङ्गत्वम्' इत्यादिन्यायाच्च प्रदर्शितो य आत्मा तस्य ज्ञानं तु न साकारवस्तुविषयकज्ञानव-त्रवितुमर्हति, आत्मन आकारवत्त्वस्यानिष्टत्वात् । "न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य । न चक्षुषा पश्यति कश्चिदे-नम्"। "अशब्दमस्पर्शमरूपम्" इत्यादिश्रुतेः । 'आदित्यवर्णो भारूपः स्वयंज्योतिः' इत्यादिवाक्यानि तु द्रव्य-गुणाद्याकारप्रतिषेधे आत्मनस्तमोरूपत्वे प्राप्ते तत्प्रतिषेधार्थानि । नन्वेवं तर्हि कथं निराकारस्यात्मनो ज्ञानम्? यतो यद्विषयं भवति यज्ज्ञानं तत्तदाकारम् । ज्ञानात्मनोश्चोभयोर्निराकारत्वेन कथमात्मज्ञानस्य पौनःपुन्येना-नुसंधानात्मिका भावना निष्ठेति चेदुच्यते—आत्मज्ञानमित्यात्मविषयं ज्ञानं न विधीयते, चैतन्यस्वरूपस्यात्मनः सुप्रसिद्धत्वेनाज्ञातत्वाभावात् । नहि यस्य चैतन्याभासता बुद्ध्यादिदेहान्ते आत्मत्वभ्रान्तिकारणं तस्याज्ञा-तत्वं शक्यं वक्तुम् । तस्मान्नामरूपाद्यनात्माध्यारोपणनिवृत्तिरेव प्रयत्नेन कार्या, बाह्याकारभेदनिवृत्तेरेवात्मस्वरू-पावलम्बने कारणत्वात् । नात्मचैतन्यविज्ञानं तस्यात्यन्तप्रसिद्धत्वात् । नन्वत्यन्तप्रसिद्धं सुविज्ञेयमासन्नतम-मात्मभूतमप्यप्रसिद्धं दुर्विज्ञेयमतिदूरमन्यदिव ब्रह्म सर्वेषां कथं प्रतिभातीति चेत्, अविद्याकल्पितनामरूपवि-शेषाकारापहृतबुद्धित्वेनाविवेकित्वात्तेषामिति गृहाण । बाह्याकारनिवृत्तबुद्धीनां विवेकिनां तु लब्धगुर्वात्मप्र-सादाना नातःपरं सुप्रसिद्धं सुविज्ञेयं स्वासन्नमस्ति । तथा चोक्तम्—'प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्' इति । एतेन निराकारत्वादात्मवस्तु नो बुद्धिरुपैत्यतो दुःसाध्या सम्यक्ज्ञाननिष्ठेति केषांचित्पण्डितंमन्या-नामुक्तिरपास्ता । गुरुसंप्रदायवतां श्रुतवेदान्तानां बहिर्विषयेष्वनासक्तबुद्धीनां सम्यक्प्रमाणेषु कृतश्रमाणां चैतन्यात्मव्यतिरेकेण वस्त्वन्तरस्यानुपलब्धेर्लौकिकग्राह्यग्राहकद्वैतवस्तुनि सद्बुद्धेरत्यन्तदुःसंपाद्यत्वात् । तदु-क्तम्—'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने.' इति । ज्ञानमप्यत्यन्तं प्रसिद्धमेव सुखादिवदभ्युपगन्तव्यम् । येषां निराकारं ज्ञानमप्रत्यक्षं तेषामपि ज्ञानवशेनैव ज्ञेयावगतेर्दर्शनात् ज्ञेयवज्ज्ञानस्य जिज्ञासानुपपत्तेश्च । तथाच ज्ञानस्य ज्ञातुश्चात्यन्तप्रसिद्धत्वादात्मज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः किंत्वनात्मन्यात्मबुद्धिनिवृत्तावे-वेति संक्षेपः ॥ ५० ॥

प० टी०—एवंभूतस्य परमहंसस्य ज्ञाननिष्ठया ब्रह्मभावनाप्रकारमाह—सिद्धिमिति षड्भिः । नैष्क-र्म्यसिद्धिं प्राप्तः यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति तथा मे मत्तो निबोध संक्षेपेण जानीहि, या वक्ष्यमा-णा ज्ञानस्य परा सर्वोत्कृष्टा निष्ठा मर्यादा ॥ ५० ॥

रा० टी०—प्रतिज्ञापूर्वं नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तं विवृण्वंस्तदनन्तरफलमाह—सिद्धिमिति । या नैष्कर्म्याख्य सिद्धिः ज्ञानस्य परिनिष्ठा तां नैष्कर्म्यसिद्धिं येन प्रकारेण प्रवर्तमानः प्राप्तो भूत्वा अपरं ब्रह्म लक्ष्मीमाप्नोति तं प्रकारं संक्षेपतो मे निबोध बुध्यस्व ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ॥
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥

त० टी०—प्रतिज्ञातं प्राप्तिप्रकारमेवाह—बुद्ध्येत्यादिपञ्चभिः । विशुद्धया यथाऽवस्थितपराव-रतत्त्वविषयया सात्त्विकया बुद्ध्या युक्तो धृत्या सात्त्विक्या आत्मानं मनो नियम्य अनात्मनः प्रत्याहारे-णात्मप्रवणीकृत्य च शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा तत्संसर्गं विहाय तद्विषयौ रागद्वेषौ च व्युदस्य तदेष्टा-निष्टबुद्धिं त्यक्त्वेत्यर्थः । इत्यादीनाम् " ब्रह्मभूयाय कल्पते " इति तृतीयश्लोकेनान्वयः ॥ ५१ ॥

म० टी०—सेयं ज्ञाननिष्ठा सप्रकारोच्यते—बुद्ध्येति । विशुद्धया सर्वसंशयविपर्ययशून्यया बुद्ध्याऽहं ब्रह्मास्मीति वेदान्तवाक्यजन्यया बुद्धिवृत्त्या युक्तः सदा तदन्वितः धृत्या धैर्येणात्मानं शरीरेन्द्रियसंघातं नियम्य उन्मार्गप्रवृत्तेर्निवार्यात्मप्रवणं कृत्वा । चशब्देन योगशास्त्रोक्तं साधनान्तरं समुच्चीयते । शब्दादीन् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान् विषयान् भोगेन बन्धहेतून्, सामर्थ्यात् ज्ञाननिष्ठार्थशरीरस्थितिमात्रप्रयोजनानुपयुक्तानतिनिषिद्धानपि त्यक्त्वा शरीरस्थितिमात्रार्थेषु च तेषु रागद्वेषौ व्युदस्य परित्यज्य । चकारादन्यदपि ज्ञानविक्षेपकं परित्यज्य । विविक्तसेवीत्यत्र स्यादित्यध्याहृतेन ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्यनेन वान्वयः ॥ ५१ ॥

शं० टी०—उक्तनियतसाधनानुष्ठानपूर्वकं निष्ठां कुर्वतो ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तिमाह—बुद्ध्येति त्रिभिः । बुद्धिरध्यवसायात्मिका । अध्यवसायस्तु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "अयमात्मा ब्रह्म" इतिन्यायेन ब्रह्मणः सत्यज्ञानानन्दरूपत्वनिश्चयः आत्मनो ब्रह्माभिन्नत्वनिश्चयः । 'विकल्पो न हि वस्तुनि' इतिन्यायेन प्रत्यगभिन्ने परे ब्रह्मणि, मरौ जलबुद्धयोऽग्नि नैत्यवत्, देहादिसर्वदृश्यप्रपञ्चस्य कल्पितत्वनिश्चयः । एवंलक्षणाध्यवसायवती बुद्धिरत्र विवक्षिता, स्वात्मनि ब्रह्मण्यारोपितानात्मप्रत्ययनिरसने प्रवृत्तत्वाद्विदुषः । सा च विशुद्धा श्रुतियुक्तिभिर्विनिश्चितार्थतया संशयविपर्ययनिर्मुक्ता । तया विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः सम्यगविनाभूतः सन् ब्रह्मनिष्ठायां प्रवृत्तो ब्रह्मवित् धृत्या सात्त्विक्योक्तयाऽऽत्मानं चित्तं बहिःप्रवृत्तेर्नियम्य चित्तस्य बहिःप्रावण्यं निरुध्य, चकारात्प्राणेन्द्रियक्रियाः सर्वाः सम्यङ्नियम्य शब्दादीन् शब्दस्पर्शरूपादीन् विषयान् त्यक्त्वा, विषयानुसंधानमकृत्वेत्यर्थः । यद्यपि बहिरन्तःकरणनिरोधे कृते सति विदुषः स्वतो विषयसंस्पर्शो न संभवति, तथाप्यवशात्प्राप्तानामप्यनुसंधानं न कुर्वीत्यर्थः । रागद्वेषौ व्युदस्य च भिक्षाकालेऽपि प्राप्तेष्वर्थेष्विष्टेषु रागमनिष्टेषु द्वेषं च व्युदस्य परित्यज्येत्यर्थः । यद्वा व्युत्थानदशायां दृष्टेषु श्रोत्रियेषु हिंस्रकादिषु साधुषु वा रागस्तद्विपरीतेषु द्वेषस्तावुभौ व्युदस्य, चकारात्समाधिविघ्नकारणं मोहमालस्यं जाड्यं प्रमादं च परित्यज्येत्यर्थः ॥ ५१ ॥

श्री० टी०—तदेवाह—बुद्ध्येति । उक्तेन प्रकारेण विशुद्धया पूर्वोक्तया सात्त्विक्या बुद्ध्या युक्तो धृत्या सात्त्विक्या आत्मानं कार्यकरणसंघातं तामेव बुद्धिं नियम्य निश्चलां कृत्वा शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा तद्विषयौ रागद्वेषौ च व्युदस्य बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः । इत्यादीनां ब्रह्मभूयाय कल्पत इति तृतीयेनान्वयः ॥५१॥

स० टी०—सप्रकारोच्यते सेयं ज्ञाननिष्ठा महाफला ॥ ब्रह्मैवास्मीति वेदान्तवाक्यनिष्पन्नया धिया ॥ १ ॥ सर्वसंदेहविभ्रान्तिशून्ययाऽतिविशुद्धया ॥ युक्तो धैर्येण देहादिसंघातं विनियम्य च ॥ २ ॥ निवार्योन्मार्गतो ब्रह्मतत्त्वेऽवधाप्य चिद्घने ॥ ज्ञाननिष्ठाविरुद्धांश्च त्यक्त्वा शब्दादिगोचरान् ॥ ३ ॥ शरीरस्थितिमात्रार्थे रागद्वेषौ विहाय च ॥ ज्ञानविक्षेपकं सर्वं संत्यजेदिति चकारतः ॥ ४ ॥ ५१ ॥

भा० टी०—ब्रह्मप्राप्तेः ब्रह्मज्ञानस्य परस्याः निष्ठायाः प्रमारोपिताऽवद्धर्मनिवृत्तिद्वारा ब्रह्मणि परिसमाप्तेः सुसंपाद्यायाः प्रतिज्ञातं क्रमं दर्शयति—बुद्ध्येति । बुद्ध्या व्यवसायात्मिकया । व्यवसायश्च ब्रह्मात्मज्ञानादेव मोक्षः स चावश्यं संपादनीय इति निश्चयः । विशुद्धया मायारहितया युक्तः संपन्नः, धृत्या धैर्येणात्मानं कार्यकरणसंघातं नियम्य वशीकृत्य षष्ठाध्यायादावुक्तनामनुक्तानां च साधनानां समुच्चयार्थश्चकारः । शब्दः आदिर्येषां तान् शब्दादीन्विषयान् त्यक्त्वा सामर्थ्याच्छरीरस्थितिमात्रान् केवलान्भुक्त्वा ततोऽधिकान् सुखार्थांस्त्यक्त्वेत्यर्थः । विषयमात्रत्यागे देहस्थित्यनुपपत्त्या, ज्ञाननिष्ठाया असिद्धिप्रसङ्गात् । शरीरस्थित्यर्थत्वेन प्राप्तेषु च रागद्वेषौ व्युदस्य परित्यज्य, चकारादन्यदपि ज्ञाननिष्ठाविक्षेपकं मात्सर्यादि परित्यज्य, विविक्तसेवी स्यादित्यध्याहृतेन ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्यनेन वा संबन्धः ॥ ५१ ॥

प० टी०—तामेवाह—बुद्ध्येति । एवंभूतः पुरुषो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति तृतीयेनान्वयः । किंभूतो

विशुद्धया व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या युक्तो धृत्या सात्त्विकयाऽऽत्मानं बुद्धिं नियम्य निश्चलां कृत्वा शब्दादीन् विषयान् परगोष्ठीदर्शनादींस्त्यक्त्वा तद्विषयौ रागद्वेषौ स्वस्तुतिनिन्दाप्रयुक्तौ व्युदस्य त्यक्त्वा ॥ ५१ ॥

रा० टी०—प्रतिज्ञातमाह—बुद्ध्येति । विशुद्धया विषयेष्वसक्तया बुद्ध्या युक्तः । धृत्या धैर्येण स्तम्भनशक्त्या आत्मानं मनो नियम्य विषयेभ्यो निवर्त्य च शब्दादीन् विषयाँस्त्यक्त्वा तदनुभवेच्छां विहायेति यावत् । यस्य यद्रागद्वेषौ यो रागद्वेषौ तौ च त्यक्त्वा । व्युदस्येति पाठे न तु क्लेशः ॥ ५१ ॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ॥
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

स० टी०—विविक्तसेवी । एकान्तदेशसेवनशीलः, लघ्वाशी शुद्धमितभोजी, यतवाक्कायमानसः वशीकृतशरीरेन्द्रियमनाः, ध्यानयोगपरो नित्यं अहरहः प्रतिसवनं ध्याननिरतः, तद्विरोधिपरिहाराय वैराग्यं समुपाश्रितः सम्यगुपाश्रितः सन् ॥ ५२ ॥

म० टी०—विविक्तेति । विविक्तं जनसंमर्दरहितं पवित्रं च यदरण्यगिरिगुहादि तत्सेवितुं शीलं यस्य स चित्तैकाग्र्यसंपत्त्यर्थं तद्विक्षेपकारिरहित इत्यर्थः । लघ्वाशी लघु परिमितं हितं मेध्यं चाशितुं शीलं यस्य स, निद्रालस्यादि चित्तलयकारिरहित इत्यर्थः । यतानि संयतानि वाक्कायमानसानि येन सः, यमनियमासनादिसाधनसंपन्न इत्यर्थः । ध्यानयोगपरो नित्यं चित्तस्यात्माकारप्रत्ययावृत्तिर्ध्यानं, आत्माकारप्रत्ययेन निर्वृत्तिकतापादनं योगः, नित्यं सर्वेव तत्परस्तयोरनुष्ठानपरो न तु मन्त्रजपतीर्थयात्रादिपरः कदाचिदित्यर्थः । वैराग्यं दृष्टादृष्टविषयेषु स्पृहाविरोधि चित्तपरिणामं समुपाश्रितः सम्यङ्निश्चलत्वेन नित्यमाश्रितः ॥ ५२ ॥

शं० टी०—किंच—विविक्तसेवीति । विविक्तसेवी विविक्तान् विजनानेव देशानरण्यनदीपुलिनगिरिकन्दरगुहादीन् चित्तप्रसादवदेकाग्रतासिद्ध्यर्थं सेवितुं शीलमस्यास्तीति विविक्तसेवी सर्वदा भवेन्निदिध्यासुर्यतिः । तथा लघ्वाशी च स्याल्लघु यथा तथाऽशितुं शीलमस्यास्तीति लघ्वाशी, लघ्वशनशीलस्यैव नैश्चल्येन समाधिनिष्ठासंभवात् । यद्वा लघु गुरुत्वरहितद्रव्यमश्नीयादिति लघ्वाशी । लघुपदं हितमितमेध्यानामप्युपलक्षणं, तेन लघु हितं मितं मेध्यं चान्नमश्नीयान्निदिध्यासुर्यतिरिति सिद्धम् । यतवाक्कायमानसश्च भवेत्—यतानि संयतानि सम्यङ् निरुद्धानि बाह्यप्रवृत्तेः सम्यग्विमुखीकृतानि वाक्कायमानसानि येन ॥ यतवाक्कायमानसः, विषयचिन्तनेन मनः स्थूलमेव भवति, न तु तनुत्वं गच्छति, वासना च प्रवर्धते, मनोनाशाय वासनाक्षयाय क्रियमाणः समाधिर्गजस्नानवन्निष्फल एव भवति । ततः सदा विषयचिन्तारहित्येन भवितव्यम् । तथा वाक्प्रवृत्त्या त्वमहमिदमद इत्यादिविपरीतप्रत्यया न विनश्यन्ति द्वैतमेव प्रवर्धते, रोगिणोऽपथ्येन रोगवृद्धिवत् । ततः सदा मौनेन भवितव्यम् । कायेन कर्मसु प्रवृत्त्या कर्तृतादात्म्यं कर्मवासना च । समाधिकाले कायचलनेन मनसश्चेन्द्रियाणां च चलनं समाधिविघ्नश्च भवति यतः, ततो वासनाक्षयाय मनोनाशाय च प्रवृत्तस्य यतेर्विषयाननुसंधानेन मौनेन नैष्कर्म्येण च सर्वदा भवितव्यमित्युच्यते—यतवाक्कायमानस इति । एतत्सिद्धये हेतुमाह—वैराग्यमिति । दृश्ये मिथ्यात्वबुद्ध्या तुच्छत्वबुद्ध्या च भोक्तुमनुसंधातुं च विषयेभ्यो विगतो निर्गतो राग इच्छा यस्य स विरागस्तस्य भावो वैराग्यं सर्वत्रेच्छाराहित्यं नित्यमविच्छिन्नं समुपाश्रितः सन् । एवं शुद्धबुद्धित्वादिसाधनयुक्तो ब्रह्मविद्यतिर्नित्यं निरन्तरम् । नित्यमिति विशेषणं देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते । नित्यपदं निदिध्यासोरनुष्ठानान्तराभावसूचनार्थम् । ततः सर्वदा ध्यानयोगपरः—ध्यानं च योगश्च ध्यानयोगौ तत्र परो ध्यानयोगपरः प्रत्यगभिन्ने सच्चिदानन्दैकरसे निर्विशेषेऽद्वि-

तीये परे ब्रह्मण्यधिष्ठाने आरोपितनामरूपादिविजातीयप्रत्ययतिरस्कारपूर्वकं बहिरन्तः सर्वत्र ब्रह्ममात्रैकविषयाणां सत्प्रत्ययानां प्रत्यग्भावापन्नया वृत्त्या निरन्तरतैलधारावदविच्छिन्नया यत्प्रवाहीकरणं तद्ध्यानम्। विजातीयप्रत्ययानन्तरितानां केवलसत्प्रत्ययानामेव चिरकालनित्यनिरन्तराभ्यासवशाद्विक्षेपकाणां वासनानां संक्षये सति तनुतां गताया बुद्धिवृत्तेर्ब्रह्मणि ब्रह्माकारेण निवातस्थलदीपवद्यो निश्चलीभावः स एव योगः, तयोर्ध्यानयोगयोरुक्तलक्षणयोर्नित्यं परः सन् तद्ध्यानयोगनिष्ठासंपन्न एव यतिः परिपक्वज्ञानो भवतीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

श्री० टी०—किंच—विविक्तेति । विविक्तसेवी शुद्धदेशावस्थायी, लघ्वाशी मितभोजी । एतैरुपायैर्यतवाक्कायमानसः संयतवाग्देहचित्तो भूत्वा नित्यं सर्वदा ध्यानेन यो योगो ब्रह्मसंस्पर्शस्तत्परः सन् ध्यानाद्यविच्छेदार्थं पुनः पुनर्दृढं वैराग्यं सम्यगुपाश्रितो भूत्वा ॥ ५२ ॥

स० टी०—विविक्तं जनसंदोहशून्यं गिरिगुहादिकम् ॥ पवित्रं सेवितुं शीलं यस्य लघ्वशितं तथा ॥१॥ यतानि यस्य वाक्कायमानसानि समन्ततः ॥ विक्षेपलयसामग्रीशून्यो युक्तो यमादिभिः ॥ २ ॥ ब्रह्मात्मप्रत्ययावृत्तिर्ध्यानं योगस्तथाऽऽत्मनि ॥ एकाग्रीकरणं वृत्तेस्तयोरेव परः सदा ॥ ३ ॥ न तु मन्त्रजपादौ यस्तत्परः सन्कदाचन ॥ दृष्टादृष्टेषु भोगेषु वैतृष्ण्यं नित्यमाश्रितः ॥ ४ ॥ ५२ ॥

भा० टी०—ततः—विविक्तेति । विविक्तदेशसेवी वनगिरिगुहानदीपुलिनादीन्विविक्तान् जनसमुदायशून्यान् देशान्सेवितुं शीलमस्येति विविक्तदेशसेवी । एतादृशस्य चित्तं विक्षेपकाभावादेकाग्रं सत्प्रसन्नं भवति। निद्रादिदोषनिवन्धनचित्ताप्रसादनिवृत्त्यर्थमाह—लघ्वाशी । हितमितमेध्याशनशीलः । यतानि वशीकृतानि वाक्कायमानसानि यस्य स ज्ञाननिष्ठो यतवाक्कायमानसः । एवमुपरतसर्वकरणः सन् ध्यानयोगपरः—ध्यानमात्मस्वरूपचिन्तनं मनस आत्मस्वरूपविषयं एकाग्रीकरणं योगः, ध्यानयोगौ परत्वेन कर्तव्यौ यस्य स नित्यं सदैव ध्यानयोगपरः । मन्त्रजपप्रदक्षिणप्रणामाद्यन्यकर्तव्याभावप्रदर्शनार्थं नित्यग्रहणम् । ध्यानयोगपरत्वसिद्ध्यर्थमाह—वैराग्यं विरागभावं दृष्टादृष्टेष्टविषयेषु वैतृष्ण्यं समुपाश्रितः सम्यक् निश्चलत्वेन नित्यमेवाश्रितः ॥ ५२ ॥

प० टी०—किं च—विविक्तेति । विविक्तं विवेकहेतुभूतमेकान्तस्थलं सेवते, तथा लघ्वाशी सात्त्विकप्रमिताशनभोजी । एतैरुपायैर्यतवाक्कायमानसः संयतवाग्देहचित्तो भूत्वा ध्यानेन चित्तैकाग्र्येण तादात्म्येन यो जीवब्रह्मयोगस्तत्परो भूत्वा वैराग्यं पुनर्विषयविशेषराहित्यं सम्यङ्नैष्ठिकत्वेनोपाश्रितः ॥ ५२ ॥

रा० टी०—विविक्तेति । विविक्तसेवी जनसंमर्दहीनदेशवासी, लघ्वाहारवान्, यतवाक्कायमानसः सद्विषय एव नियमितवागादिः, नित्यं ध्यानरूपोपायपरः, वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ॥
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

त० टी०—अहंकारमिति । अहंकारमनात्मन्यात्माभिमानं, बलमनात्मवस्तुविषयं देहेन्द्रियसामर्थ्यं, तन्निमित्तं दर्पं गर्वं, कामं प्रारब्धवशाद्यदृच्छयाप्राप्तेष्वपि विषयेषु स्वीकारेच्छा, तत्प्रतिबन्धके क्रोधं, परिग्रहं वस्त्रादेः सङ्ग्रहं विमुच्य विशेषेण त्यक्त्वा निर्ममः देहसंबन्धिषु ममताशून्यः, अत एव शान्तः सर्वविक्षेपवर्जितः । एवंभूतो ध्याननिष्ठो ब्रह्मभूयाय कल्पते । ब्रह्मणो भावो ब्रह्मभूयं तस्मै ब्रह्मभूयाय ब्रह्मवद्दोषास्पृष्टस्वभावतयाऽवस्थानाय कल्पते योग्यो भवति ॥ ५३ ॥

म० टी०—अहंकारमिति । अहंकारं महाकुलप्रसूतोऽहं महतां शिष्योऽतिविशुद्धोऽस्मि नास्ति द्वितीयो

ममेदम् इत्यभिमानं, बलमसदाग्रहं न तु शारीरं तस्य स्वाभाविकत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात्। दर्पं हर्षजन्यं मदं धर्मातिक्रमकारणम् 'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति' इति स्मृतेः। कामं विषयाभिलाषम्। 'वैराग्यं समुपाश्रितः' इत्यनेनोक्तस्यापि कामत्यागस्य पुनर्वचनं यत्नाधिक्यार्थम्। क्रोधं द्वेषम्। परिग्रहं शरीरधारणार्थमस्पृहत्वेऽपि परोपनीतं बाह्योपकरणं विमुच्य त्यक्त्वा शिखायज्ञोपवीतादिकमपि, दण्डमेकं कमण्डलुं कौपीनाच्छादनं च शास्त्राभ्यनुज्ञातं स्वशरीरयात्रार्थमादाय परमहंसपरिव्राजको भूत्वा निर्ममो देहजीवनमात्रेऽपि ममकाररहितः। अत एवाहंकारममकाराभावादपगतहर्षविषादत्वात् शान्तश्चित्तविक्षेपरहितो यतिर्ज्ञानसाधनपरिपाकक्रमेण ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्काराय कल्पते समर्थो भवति ॥ ५३ ॥

श्री० टी०—एवं बहुकालं निरन्तरसमाधिनिष्ठामेव कुर्वतो ब्रह्मविद्यतेः समाध्यग्निनिर्दग्धाशेषवासनामन्थैर्निःशेषनिवृत्तविपरीतभावस्य सम्यक्परिपक्वविज्ञानसिद्धेः फलमाह—अहंकारमिति। चिरकालनित्यनिरन्तरसमनुष्ठितसमाधिनिष्पन्नसम्यग्ज्ञानेन देहादिद्वैतप्रपञ्चस्य स्वव्यतिरिक्तत्वाभासत्वात्सत्त्वधीपूर्वकमधिष्ठाने स्वात्मनि ब्रह्मणीदमेवाहमस्मीति स्वात्मना विदिते ब्रह्मण्येवात्मत्ववासनादाढर्याद्वनात्मनि देहादावहंकारमहंकरणमनात्मन्यहमिति बुद्धिं विमुञ्चति ब्रह्मविद्यतिः। नह्यज्ञवदात्मतत्त्वज्ञः सर्वाधिष्ठानं नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं चिदेकरसं परिपूर्णं परं ब्रह्म स्वस्वरूपत्वेन विज्ञायारोपितमसत्तुच्छमहमित्यवलम्बते, किंतु प्रतिच्छायावदाभासरूपेण प्रतीयमानेऽस्मिन् देहेऽहंभावं परित्यजति। तत्रात्मत्वधीहेतोरज्ञानस्याधिष्ठानयाथात्म्यसंदर्शनेन विनष्टत्वात्ततः 'कारणनाशात्कार्यनाशः' इतिन्यायेन ब्रह्मवित्तत्राहंभावं न करोतीत्यर्थः। किंच बलं स्वमहमिदमव इत्यारोपितपदार्थग्रहणकारणमविद्यावासनाकृतं वृत्तिवेगलक्षणं विमुञ्चति। नित्यनिरन्तरसमाधिनिष्ठयाऽनाद्यविद्यावासनासंक्षये सति तत्कृतं बलं वेगलक्षणमन्तःकरणस्थं परित्यजति। पूर्वं वासनाबलादन्तःकरणं परिपूर्णमपि ब्रह्मस्वरूपमतिक्रम्य यथा प्रपञ्चं गृह्णाति, तथा समाधिना वासनासंक्षयात् विशिष्य नामरूपादिग्रहणं न करोति, किंत्वाभासप्रपञ्चं त्यक्त्वा सर्वत्र ब्रह्मैव पश्यति। व्युत्थानाव्युत्थानयोः सर्वदा ब्रह्मण्येव तिष्ठतीत्यर्थः। एतेन विदुषस्त्वहमिति भावेनेदमितिवासनाद्यभावः सूचितः। दर्पं च—कृतार्थोऽहमिति ब्रह्मविदहमित्यभिनिवेशलक्षणोऽन्तःकरणविकारो दर्पस्तं च विमुञ्चति, स्वकारणेऽज्ञानेऽहंकारे च समाधिना विनष्टे सति। 'कारणनाशात्कार्यनाशः' इतिन्यायेन स्वयमेव दर्पो विनश्यतीत्यर्थः। तथैव कामं क्रोधं च विमुञ्चति। संप्राप्तपदार्थभोगेच्छा कामः, स्वापकारिणं हन्तुमुद्योगः क्रोधः, तौ परित्यजति। स्वकारणस्य रजसः समाधिना निर्मूलितत्वाद्विनिर्मलान्तःकरणतया सम्यगप्रतिबद्धात्मविज्ञानेन अहमेवेदं सर्वमिति सर्वात्मभावं प्राप्तस्याहं भोक्तेदं भोग्यमिति, अयं हन्ताऽहं हन्य इति विपरीतभावनाभावात्स्वमात्रत्वात्सर्वत्र रागद्वेषयोरनवकाशापत्तौ 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इतिन्यायेन कामक्रोधौ स्वयमेव विनाशं प्राप्तावित्यर्थः। तत एव परिग्रहं शरीररक्षणार्थत्वेन प्राप्तो यः परिग्रहः कौपीनकाषायकन्थादिस्तं चापि विमुञ्चति। एवम् 'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं' च यद्बहिरन्तश्च विकल्पकारणं तत्सर्वं विमुच्य 'न दण्डं न कमण्डलुं न शिखां न यज्ञोपवीतं नाच्छादनं चरति परमहंसः' इत्युक्तरीत्या देहमात्रावशिष्टः परमहंसो भूत्वा। ननु शरीरस्थितिहेतोः काषायकन्थादेः परित्यागे शीतवातादिभिर्विकल्प एव संभवति, कथं निर्विकल्पत्वं ब्रह्मविदुत्तमस्य परमहंसस्येत्याशङ्क्य। न। देहादावहंममेत्यभिमानत एव शीतादिकृतविक्षेपो, न तु निरभिमानस्येति। तदसंभवे हेतुमाह—निर्मम इति। स्वकारणस्याहंकारस्य विनष्टत्वान्निःशेषेण गतो निर्गतो देहे ममभावो यस्य स निर्ममः परदेह इव स्वदेहे ममतारहित इत्यर्थः। "स्वतनुः शुनपमिव दृश्यते यतस्तत्र पुरपतवरतम्" इति श्रवणाद्ब्रह्मण्येवात्मत्वप्रत्ययवता महात्मना ब्रह्मविदाऽनात्मत्वेन त्यक्ते शवकल्पे शरीरे त्वहंभावो ममभावश्च न क्रियते। तस्मिन्निवृत्तत्वात्सर्वविकल्पस्य। विदुषस्तदभावात्तदभाव इति सूचयितुमेव निर्मम इत्यु-

त्कम् । यत एवं चिरकालनित्यनिरन्तरसमाधियोगनिर्धूताहंकारममकाराद्यविद्यावासनाप्रपञ्चो यो ब्रह्मविद्यतिः स सर्वेभ्यो गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तो भवति । तत एव शान्तः निरिन्धनाग्निवदुपशान्तान्तःकरणसर्वविकारस्तत एव प्रसन्नान्तःकरणतया संप्राप्तात्मयाथात्म्यविज्ञानो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय—ब्रह्मभावो नाम सच्चिदानन्दैकरसब्रह्मात्मनाऽवस्थानम्—तस्मै कल्पते ब्रह्माकारेण तिष्ठतीत्यर्थः । एतेनात्यन्तश्रद्धया चिरकालं नित्यं निरन्तरं समाधिनिष्ठामेवैकां नियमेन समनुतिष्ठतस्तन्निष्ठयाऽहमादिसर्ववासनाग्रन्थिविच्छित्ति सम्यक्कृतवतस्तद्विच्छित्त्या सम्यगात्मप्रसादं लब्धवतस्तल्लब्ध्वा संसिद्धात्मयाथात्म्यविज्ञानेनाहमेवेदं सर्वमिति सर्वमात्मानमेव पश्यतो ब्रह्मविदो ब्रह्मभावः सिध्यतीति सूचितम् ॥ ५३ ॥

श्री० टी०—किंच—अहंकारमिति । सतश्च विरक्तोऽहमित्याद्यहंकारं, बलं दुराग्रहं, दर्पं योगबलादुन्मार्गप्रवृत्तिलक्षणं, प्रारब्धवशात्प्राप्यमाणेष्वपि विषयेषु कामं क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य विशेषेण त्यक्त्वा बलादापन्नेषु निर्ममः सन् शान्तः परामुपशान्तिं प्राप्तो ब्रह्मभूयाय ब्रह्माहमितिनैश्चल्येनावस्थानाय कल्पते योग्यो भवति ॥ ५३ ॥

म० टी०—महाकुलप्रसूतोऽहं विरक्तोऽन्यो न मत्समः ॥ इत्येवमभिमानं च बलमत्रासद्ग्रहम् ॥ १ ॥ न शारीरं यतस्तस्य स्वाभाविकतया जनैः ॥ त्यागः कर्तुमशक्योऽस्ति दर्पं हर्षं च दुर्मदम् ॥ २ ॥ धर्मातिक्रमणे हेतुं तदुक्तं च स्मृतौ स्फुटम् ॥ हृष्टो दृप्यति दृप्तः सन्नतिक्रामति धर्मतः ॥ ३ ॥ कामं भोगाभिलाषं च क्रोधं द्वेषं परिग्रहम् ॥ बाह्योपकरणं सर्वं यथाद्विक्षेपकारणम् ॥ ४ ॥ परित्यज्याखिलानेवान् देहधारणमात्रके ॥ ममत्वरहितः शान्तश्चित्तविक्षेपवर्जितः ॥ ५ ॥ ज्ञानसाधनसामग्रीपरिपाकक्रमेण च ॥ ब्रह्मभावाय यतिराड् समर्थो भवति स्वयम् ॥ ६ ॥ अहंकारादिषट्कं च सम्यग्वैराग्यवैभवात् ॥ तथा विवेकसामग्र्या वेदान्तानां विचारणात् ॥ ७ ॥ नैरन्तर्येण सत्सङ्गद्वाराऽभ्यासादिवैभवात् ॥ त्यक्तुं शक्यं भवेद्यस्मान्नान्यथाऽतो विवेकवान् ॥ ८ ॥ भगवत्पदमालम्ब्य सतां सङ्गेन सर्वदा ॥ अभ्यसेद्ब्रह्मतत्त्वैक्यं श्रीहरेरयमाशयः ॥ ९ ॥ ५३ ॥

भा० टी०—किंच—अहंकारमिति । देहादिष्वहंकरणमहंकारस्तं देहे आत्मत्वाभिमानं, बलं कामरागादिप्रयुक्तं सामर्थ्यं नेतरच्छरीरादिसामर्थ्यं स्वाभाविकत्वेन तत्त्यागस्याशक्यत्वात् । दर्पो हर्षानन्तरभावी धर्मातिक्रमहेतुः 'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति' इति स्मरणात् तं च, काममिच्छाम् । वैराग्यशब्देन लब्धस्यापि कामत्यागस्य पुनर्वचनं तस्मिन्नाधिकयत्नः कर्तव्य इति बोधनाय प्रकृष्टत्वस्यापत्त्यर्थम् । इच्छितपदार्थालाभप्रयुक्तं क्रोधं, परिग्रहमिन्द्रियमनोगतदोषत्यागेऽपि शरीरधारणप्रसङ्गेन धर्मानुष्ठाननिमित्तेन वा प्राप्तं बाह्यपरिग्रहं च विमुच्य परित्यज्य परमहंसपरिव्राजको भूत्वा देहजीवनमात्रेऽपि विगतममभावो निर्ममोऽत एव शान्तः उपरतः संहृतायासो यतिर्ज्ञाननिष्ठो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय ब्रह्मणोऽनुसंधानपरिपाकपर्यन्तजाय साक्षात्काराय कल्पते समर्थो भवति ॥ ५३ ॥

प० टी०—अथ विक्षेपकारणोन्मूलनप्रकारमाह—अहंकारमिति । अहमेवाहंविरक्तोऽस्मीत्यहंकारं, बलं दुराग्रहं, दर्पं योगबलादुन्मार्गप्रवृत्तिलक्षणं, प्रारम्भे(?)कामं क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य विशेषेण मुक्त्वा बलात्कारेण प्राप्तेषु निर्ममो ममताशून्यः शान्तः परामुपशान्तिं प्राप्त एवंभूतो योगी ब्रह्मभूयाय ब्रह्माहमस्मीति नैश्चल्येनावस्थानाय कल्पते योग्यो भवति ॥ ५३ ॥

रा० टी०—अहंकारमिति । अहंकारं स्वकर्तृत्वाभिमानं, बलं स्वसमर्थताभिमानं, दर्पं भीतिद्वेषोत्पत्तिम्, कामं विषयाभिलाषम्, क्रोधं परिग्रहं च विमुच्य निर्ममः कर्माणि मदीयतावुद्धिहीनः, शान्तः हेतुभिरप्यनुत्थितकोपः ब्रह्मभूयाय ब्रह्मणि स्थितिर्ब्रह्मभूयं तस्मै सर्वदा ब्रह्ममनस्कत्वायेत्यर्थः, कल्पते समर्थो भवति ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ॥
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

त० टी०—इदानीं यस्य ब्रह्मभावयोग्यतोक्ता तस्य ब्रह्मभावप्राप्तस्य लक्षणं तत्फलं चाह—ब्रह्मभूत इति । आविर्भूतानवच्छिन्नज्ञानघनात्मस्वरूपानुभूतिस्तत एव प्रसन्नात्मा बाह्यविषयनिरपेक्षप्रसादयुक्त आत्मा चित्तं यस्य स तथा । तत्र लिङ्गम्—न शोचति । किंचिन्नष्टं वस्तु न शोचति । न वा अप्राप्तं किंचित् काङ्क्षति, आत्मानुभवसंतुष्टतया समलोष्टाश्मकाञ्चनदृष्टिरित्यर्थः । अत एव सर्वेषु भूतेषु समः स्वस्य स्तुतिपूजाकर्तृषु निन्दापकारकर्तृषु च मित्रारिभाववर्जितः । एवं ज्ञानसिद्धिं प्राप्तो मद्भक्तिं लभते परां—मद्विषयां निरतिशयप्रीतिलक्षणां परामव्यभिचारिणीं मत्साक्षात्कारासाधारणकारणभूतां भक्तिं लभते । पराभक्तिलाभ एव ज्ञानस्य परा निष्ठा फलमित्यर्थः । तथोक्तं श्रीभागवते—"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः । सनन्दनादयो ये च ब्रह्मभावनया युताः" इति विष्णुपुराणोक्तब्रह्मभावनावतां सनन्दनादीनामपि " हरिः शरणमित्येव नित्यं तेषां मुखे वचः " इति भागवतमाहात्म्ये अहर्निशभगवत्स्मरणस्य पराभक्तिलक्षणस्य प्रतिपादनात् । एवं विशुद्धबुद्ध्यादियोगपूर्वकप्रशान्तस्य ब्रह्मभूतस्यापि पराभक्तिलाभकथनेनोक्तसाधनप्रक्रियां विना सर्वभूतसमत्वलक्षणब्रह्मभावयोग्यता न भवति । उक्तब्रह्मभावं विना पराभक्तिर्न लभ्यते, तस्मात् पराभक्तेः क्षेत्रज्ञस्वरूपयाथात्म्यज्ञानोपचरमभावित्वं निश्चीयते ॥ ५४ ॥

म० टी०—केन क्रमेण ब्रह्मभूयाय कल्पत इति तदाह—ब्रह्मेति । ब्रह्मभूतः अहं ब्रह्मास्मीति दृढनिश्चयवान् श्रवणमननाभ्यासात् प्रसन्नात्मा शुद्धचित्तः शमदमाद्यभ्यासात् । अत एव न शोचति नष्टं न काङ्क्षत्यप्राप्तम् । अत एव निग्रहानुग्रहयोरनारम्भात् समः सर्वेषु भूतेषु आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च पश्यतीत्यर्थः । एवंभूतो ज्ञाननिष्ठो यतिर्मद्भक्तिं मयि भगवति शुद्धे परमात्मनि भक्तिमुपासनां मदाकारचित्तवृत्त्यावृत्तिरूपां परिपक्वनिदिध्यासनाख्यां श्रवणमननाभ्यासफलभूतां लभते । परां श्रेष्ठामव्यवधानेन साक्षात्कारफलाम् 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्यत्रोक्तस्य भक्तिचतुष्टयस्यान्त्यां ज्ञानलक्षणामिति वा ॥ ५४ ॥

शं० टी०—एवं विशुद्धबुद्धित्वादिसहकारिसाधनसंपत्त्या समनुष्ठितध्यानयोगनिष्ठासमुत्पन्नसम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मभावं गतवतो महात्मनो जीवन्मुक्तस्य कृतार्थस्य यतेः स्थितिमाह श्लोकार्धेन—ब्रह्मभूत इति । निरुक्तसाधनसंपत्त्या समनुष्ठितसमाधिनिष्ठाविध्वस्तरजस्तमस्तत्कार्यरागद्वेषाद्यहंकारममकाराद्यशेषमलतया प्रसन्नः केवलशुद्धसत्त्वभावापन्नः सर्वत्र ब्रह्ममात्रग्रहणेन प्रशान्तो विपरीतप्रत्ययनिर्मुक्त आत्मान्तःकरणं यस्य स प्रसन्नात्मा समाधिनिष्ठापरिपक्वविज्ञानः । तत एव दृश्यसंबन्धं परित्यज्य ब्रह्मभूतः—सद्घनं चिद्घनमानन्दघनं यत्परं ब्रह्म तदेवाहमिति तद्भावं गतो जीवन्मुक्तो ब्रह्मवित्तमो न शोचति शोकं न करोति, शोकहेतोरनर्थस्याभावात् । लोके यं कंचनानर्थमात्मनो दृष्ट्वा मूढः शोचति, तदभावान्नायं शोचति । न हि सर्वं स्वमेव पश्यतो विदुषः संभवत्यर्थान्तरमनर्थाय, यद्दृष्ट्वाऽयं शोचेत्—"द्वितीयाद्वै भयं भवति" इति द्वैतस्यैव भयहेतुत्वं श्रूयते दृश्यते च स्वव्यतिरिक्तस्यैव भयकारणत्वं दुःखकारणत्वं च । ततः स्वयमेव सर्वत्र चिदेकरसं प्रशान्तं वृद्धिक्षयादिवर्जितमानन्दघनमद्वितीयं च पश्यतोऽनर्थहेतोरन्यस्यादर्शनाद्ब्रह्मवित्तमः शोकनिमित्ताभावान्न शोचतीत्यर्थः । नन्वाभासरूपेण विदुषोऽप्युपाधिरस्त्येव, तद्वैकल्यवैगुण्ययोः शोकनिमित्तयोः संभवात्कथं विद्वान्न शोचतीति चेन्न । देहे ममताभावस्य प्रतिपादितत्वाद्देहे ह्यहंममेत्यभिमानवत एव तद्वैकल्यवैगुण्ययोः शोकः संभवति, किंतु ब्रह्मैवाहं न तु देह

इति निरभिमानस्य सर्वात्मन्येव तयोरविषये ब्रह्मण्यात्मभावापत्त्या तदात्मना निरूढवृत्तेर्विदुषः प्रतिच्छा-
यावदुपाधेरसत्त्वात्तन्निमित्तकः शोको न संभवति । तथा च श्रुतिः "किमिच्छन्कस्य कामाय" इति,
"मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" इति, "कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इति च । न काङ्क्षति च निरुकल-
क्षणो ब्रह्मविद्यावित्रं किंचिदर्थान्तरं कामयते । सर्वो ह्यप्राप्तमर्थं कामयते, न तथास्य ब्रह्मविदः प्राप्तव्यमर्थान्तर-
मस्ति यत्कामयेत ममेदं भूयादिति । "अहमन्नमहमन्नमहमन्नमहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः" इति, 'अहं मनुरभवं
सूर्यश्च' इतिन्यायेन स्वस्यैव भोक्तृभोग्यात्मनाऽवस्थितत्वात्स्वव्यतिरिक्तवस्त्वन्तराभावाच्च अहमेवेदं सर्वमिति
सर्वात्मभावापत्त्या सर्वस्यापि वस्तुनः स्वात्मत्वेन प्राप्तत्वाच्च कामनैव न संभवति, तत एव न काङ्क्षति ।
"सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इति ब्रह्मभावापन्नस्य यतेः सर्वकामाप्तिश्रवणाद्वाप्तसर्वका-
मस्य कामयितृत्वासंभवात्कामं क्रोधमिति कामस्य परित्यक्तत्वाच्च ब्रह्मवित्कश्चित्किंचिदपि न काङ्क्षती-
त्यर्थः । ज्ञानस्य सम्यक्त्वसिद्धये विशुद्धबुद्धित्वादिसाधनसंपत्त्या ज्ञाननिष्ठां कुर्वतोऽतत्त्यागपूर्विका
ब्रह्मप्राप्तिरेव सूचिता न तु निष्ठया संप्राप्तज्ञानस्वरूपम् । तेन वस्तुतत्त्वनिर्धारणप्रकारो निर्धारितवस्तुप्राप्तिश्च
जिज्ञासोर्विज्ञातव्यम् । तदेतत्सर्वं संक्षेपेण प्रतिपादयति सार्धेन—सम इति । विशुद्धबुद्धित्वादिभिस्तद्बुद्धित्वादिभिश्च
ज्ञाननिष्ठासहकारिसाधनैः सम्यक्संपन्नः समदर्शनपरः सम्यग्ज्ञानसिद्धये ज्ञाननिष्ठायां प्रवृत्तो ब्रह्मविद्यतिः
'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' इति, 'सर्वभूतेषु येनैकम्' इत्युक्तप्रकारेण भूतेष्वाकाशादिस्थूलान्तेषु भूत-
कार्येषु च ब्रह्मादिस्तम्बान्तशरीरेषु सर्वेषु सर्वत्र परां ज्ञाननिष्ठापरिपाकजन्यत्वात्संशयविपर्ययादिदोषनिर्मुक्त-
त्वादप्रतिबद्धत्वात्परमार्थबोधकत्वाच्च परा प्रकृष्टा तां परां मद्भक्तिम्—विषयाकारं भजति इति भक्तिशब्दितं निष्ठा-
परिपाकजं मम सर्वभूतात्मभूतस्य निर्विशेषस्यापरिच्छिन्नस्य सर्वोपाधिविनिर्मुक्तस्य चिदेकरसस्य परस्य ब्रह्मणो
भक्तिर्मद्भक्तिस्तां लभते । नित्यनिरन्तरध्यानाभिनिष्ठयान्तःकरणस्य शुद्धसत्त्वभावापत्तौ सर्वत्र मत्स्वरूपमा-
त्रमाहकमद्वैतविषयं ज्ञानं ब्रह्मविद्याप्नोतीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

श्री० टी०—ब्रह्माहमित्येवं नैश्चल्येनावस्थानस्य फलमाह—ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मभूतो ब्रह्मण्यवस्थितः प्रस-
न्नचित्तो नष्टं न शोचति न चाप्राप्तं काङ्क्षति देहाद्यभिमानाभावात् । अत एव सर्वेष्वपि भूतेषु समः सन्
रागद्वेषादिकृतविक्षेपाभावात् सर्वभूतेषु मद्भावनालक्षणां परां मद्भक्तिं लभते ॥ ५४ ॥

स० टी०—येन क्रमेण ब्रह्मात्मभावयोग्यो भवेन्मुनिः ॥ तदाह ब्रह्मभूतश्च ब्रह्मास्मीति सुनिश्चितः
॥ १ ॥ श्रवणादेः सदाभ्यासात्प्रसन्नात्मा विशुद्धधीः ॥ शमाद्यभ्यासतो नष्टमिष्टं वस्तु न शोचति ॥ २ ॥ ज्ञान-
नाप्राप्तं काङ्क्षति स्वस्थः सर्वभूतेषु यः समः ॥ आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च पश्यति ॥ ३ ॥ ज्ञान-
निष्ठः पुमानेवं मयि शुद्धे परात्मनि ॥ उपासनां मदाकारधीवृत्त्या वृत्तिरूपिणीम् ॥ ४ ॥ श्रवणादेः
सदाऽभ्यासफलभूतामनुत्तमाम् ॥ निदिध्यासनसंसिद्धां साक्षात्कारफलां पराम् ॥ ५ ॥ मद्भक्तिं लभते
धीरश्चतुर्थीं ज्ञानलक्षणाम् ॥ ६ ॥ ५४ ॥

भा० टी०—ब्रह्मभूत इति । अनेन क्रमेण ब्रह्मभूतः ब्रह्मभवनसमर्थत्वात् ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा प्रसन्नः
कर्तृत्वादिविनिर्मुक्तः आविर्भूतानन्द आत्मा प्रत्यगात्मा यस्य स लब्धात्मप्रसादः न शोचति किंचिदर्थवैक-
ल्यमात्मनो वैगुण्यं चोद्दिश्य न शोचति न संतप्यते, न काङ्क्षति अप्राप्तं वस्तु । ब्रह्मभूतस्य शोकाकाङ्क्षे-
रनुपपन्नत्वात्तस्य स्वभावोऽनूद्यते न शोचति न काङ्क्षतीति । न हृष्यतीति वा पाठः । रमणीयं प्राप्य नै
प्रमोदते तस्य मिथ्यात्वेन निश्चयादित्यर्थः । सर्वेषु भूतेषु समः सुखं दुःखं वा आत्मौपम्येन सममेव
पश्यतीत्यर्थः । नत्वात्मसमदर्शनमिह माह्यं भक्त्या मामभिजानातीति तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । य एवंभूतः
स मद्विषयां भक्तिं 'आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च' इत्यत्रोक्तां चतुर्थीं ज्ञानलक्षणां 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त
एकभक्तिर्विशिष्यते' इत्युक्तां परामनुत्तमां लभते प्राप्नोति ॥ ५४ ॥

श्री० टी०—तथाविधत्वस्य फलमाह—ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मण्यवस्थितः प्रसन्नचित्तः सन् न शोचति । न चाप्राप्तं काङ्क्षति देहाभिमानाभावात् । अत एव सर्वेषु भूतेषु समो न केवलं तारतम्यवर्जितः, किं तु परामुत्कृष्टां मद्भक्तिं लभते सर्वभूतेषु मद्भावनया भजते ॥ ५४ ॥

रा० टी०—ततः किमित्यत आह—ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मणि स्थितमनस्कः लक्ष्मीं प्राप्तः प्रसन्नात्मा स्वत एव विषयेष्वप्रवृत्तमनाः न शोचति न काङ्क्षति । सर्वेषु भूतेषु समः परां भक्तिं लभते ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥

त० टी०—ततश्च "भक्तिरेवैनं नयति, भक्तिरेवैनं दर्शयति, भक्तिवशः पुरुषो भक्तिरेव भूयसी" इति श्रुत्युक्तं भक्तेर्भगवद्दर्शनासाधारणकारणत्वं तद्वशीकरणत्वं चाह—भक्त्येति । ततस्तया भक्त्या यावान् यादृशगुणशक्तिविभूतिमानहं यश्च सच्चिदानन्दविग्रहः सर्वज्ञः सर्वकारणं सर्वान्तर्यामी देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यः सर्वव्यापकोऽपि सर्वदोषास्पृष्टः सकलचेतनाचेतनभिन्नाभिन्नस्वभावस्तं मां तत्त्वतः संशयविपर्ययराहित्येनाभिजानाति, साक्षादनुभवति । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं मयि विशते निरतिशयानन्दं मामनुभवन्निरतिशयानुरागेण सर्वदा मां परिचरन्नभिनिविष्टो मयि वर्तते, कदाचिन्मद्दृष्टिगोचरो न भवति । तद्भक्त्या वशीभूतोऽहमपि कदाचित्तद्दृष्टिगोचरो न भवामीत्यर्थः । "यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति । तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति" इत्युक्तरीत्या सर्वदा मद्दर्शनपरिचर्यया मदविनाभावेन मय्येव वर्तते । न च मत्तः कदाचिद्वियुज्यते इति भावः ॥५५॥

म० टी०—ततश्च भक्त्या निदिध्यासनात्मिकया ज्ञाननिष्ठया मामद्वितीयमात्मानमभिजानाति साक्षात्करोति । यावान् विभुर्नित्यश्च यश्च परिपूर्णसत्यज्ञानानन्दघनः सदा विध्वस्तसर्वोपाधिरखण्डैकरस एकस्तावन्तं चाभिजानाति । ततो मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वा अहमस्म्यखण्डानन्दमद्वितीयं ब्रह्मेति साक्षात्कृत्य विशते अज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ सर्वोपाधिशून्यतया मद्रूप एव भवति । तदनन्तरं बलवत्प्रारब्धकर्मभोगेन(ण) देहपातानन्तरं न तु ज्ञानानन्तरमेव । क्त्वाप्रत्ययेनैव तल्लाभे तदनन्तरमित्यस्य वैयर्थ्यापातात् । "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये" इति श्रुत्यर्थ एवात्र दर्शितो भगवता । यद्यपि ज्ञानेनाज्ञानं निवर्तितमेव दीपेनेव तमस्तस्य तद्विरोधिस्वभावत्वात्, तथापि तदुपादेयमहंकारदेहादि निरुपादानमेव यावत्प्रारब्धकर्मभोगमनुवर्तते दृष्टत्वादेव । नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । तार्किकैरपि हि समवायिकारणनाशाद्द्रव्यनाशमङ्गीकुर्वद्भिर्निरुपादानं द्रव्यं क्षणमात्रं तिष्ठतीत्यङ्गीकृतम् । नित्यपरमाणुसमवेतद्व्यणुकनाशे त्वसमवायिकारणनाशादेव द्रव्यनाशः । समवायिनिरूपितकारणनाशत्वमुभयोरनुगतमिति नाननुगमः । ये त्वसमवायिकारणनाशमेव सर्वत्र कार्यद्रव्यनाशकमिच्छन्ति तेषामाश्रयनाशस्थले क्षणत्रयमनुपादानं कार्यं तिष्ठति । एवं च तत्रैव प्रतिबन्धकसंनिपाते बहुकालावस्थितिः केन वार्यते । प्रारब्धकर्मणश्च प्रतिबन्धकत्वं श्रुतिसिद्धं, अन्तःकरणदेहाद्यवस्थित्यन्यथानुपपत्तिसिद्धं च । एवं शिष्यसेवकादृष्टमपि तत्प्रतिबन्धकं तदभावमपेक्ष्य च पूर्वसिद्ध एवाज्ञाननाशस्तत्कार्यमन्तःकरणादिकं नाशयतीति न पुनर्ज्ञानापेक्षा । तदुक्तम् 'तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम् । ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ॥' इति । न जानामीत्यादिप्रत्ययस्तु तस्य निवृत्ताज्ञानस्याप्यज्ञाननाशजनितादनुपादानात् साक्षादात्माश्रयाद्वाऽज्ञानसंस्कारात्तत्त्वज्ञानसंस्कारनिवर्त्यादन्तःकरणस्थितत्वाद्वेति विवरणकृतः । अहं ब्रह्मास्मीति चरमसाक्षात्कारानन्तरमहं ब्रह्म न भवामि न जानामीत्यादिप्रत्ययो नास्त्येव । यदि परं घटं न जानामीत्यादिप्रत्ययः स्यात्तदुपपादनाय चेयं संस्कार-

कल्पनेति नानुपपन्नम् । अज्ञानलेशपदेनाप्ययमेव संस्कारो विवक्षितः । नहि सावयवमज्ञानं, येन कियन्नश्यति
कियत्तिष्ठतीति वाच्यं, अनिर्वचनीयत्वात् । एकदेशाभ्युपगमे तु तन्निवृत्यर्थं पुनश्चरमं ज्ञानमपेक्षितमेव । तच्च
मृतिकाले दुर्घटमिति तत्त्वज्ञानसंस्कारनाश्यता तस्याभ्युपेया । ततश्च संस्कारपक्षान्न कोऽपि विशेष इति
पूर्वोक्तैव कल्पना श्रेयसी । ईदृशजीवन्मुक्त्यपेक्षया च प्राग्भगवतोक्तम् 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्व-
दर्शिनः' इति, स्थितप्रज्ञलक्षणानि च व्याख्यातानि । तस्मात्साधूक्तं विशते तदनन्तरमिति ॥ ५५ ॥

शं० टी०– एवं चिरकालं नित्यनिरन्तरसमभ्यस्तज्ञानयोगेन विपरीतप्रत्ययहेतूनामनाद्यविद्यावासनानां
तत्कार्याणां च विपरीतप्रत्ययानां निःशेषसंक्षये सति विकल्पं सर्वं परित्यज्य सर्वत्र समदर्शनलक्षणं ज्ञानं प्राप्त-
वतो ब्रह्मविद्यतेस्तज्ज्ञानोत्पन्नं वस्तुतत्त्वनिश्चयं प्रतिपादयंस्तादृग्दृष्टिश्रयवतो ब्रह्मप्राप्तिं दर्शयति–भक्त्येति ।
भक्त्या बहिरन्तः सर्वत्र वस्तुमात्रावगाहिन्या निर्विकल्पया प्रत्यग्दृष्ट्या सम्यगधिष्ठानसंदर्शनजन्यज्ञानेन
ब्रह्मविद्यतिर्मां परं ब्रह्माभिजानात्यभितः सर्वत आभिमुख्येन विकल्पराहित्यं यथा तथा साक्षात्कृतस्य वस्तु-
नस्तत्त्वं विनिश्चिनोति, सामान्यतो विशेषतश्चाधिगतस्य वस्तुनस्तत्त्वनिर्धारणं करोतीत्यर्थः । निर्धारणप्रकारमे-
वाह–यावानिति । अव्यक्तमहदादितत्कार्योपाधियोगादहं यावान् मायाकल्पितोपाधिभेदैरहं यादृशोऽस्मि सम-
ष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणोपाधिभिर्विराड् हिरण्यगर्भ ईश्वर इति, व्यष्टिस्थूलसूक्ष्मकारणोपाधिभिर्विश्वस्तैजसः प्राज्ञ इति,
गुणत्रयोपाधितो ब्रह्मा विष्णुरीश्वर इत्यवान्तरवृत्तिभिर्देवास्तिर्यञ्चो मनुष्या इत्युपाधिभेदैर्यादृग्रूपः प्रतीतोऽस्मी-
त्यर्थः । स्वयमविकृतमेव सदधिष्ठानमारोपितनामरूपाण्यनुकरोति, यथा रज्जुरविकारिण्येवारोपितसर्पशिरः-
पुच्छाद्याकारेण भाति मरीतुर्महणदोषेण, 'मरुरेवारोपितजलप्रवाहतरङ्गादिरूपेण प्रतीयते, तथाऽधिष्ठानभूतम-
विक्रियमेव परं ब्रह्माध्यारोपितनामरूपाण्यनुकुर्वन्नानेव प्रतीयते । तथैव श्रूयते स्मर्यते च–"इन्द्रो मायाभिः पुरु-
रूप ईयते । एकः सन् बहुधा विचचार । एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । स एकधा भवति त्रिधा
भवति पञ्चधा सप्तधा भवति नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृत.' इति, 'बहुरूप इवाभाति मायया बहुरूपया ।
नित्यः सर्वगतोऽप्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ॥ एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या मायया न तु तत्त्वतः' इति । य एवं
मायापरिकल्पितोपाधिविशेषैः परिच्छिन्न इव धर्मीव कर्मीव गुणीव प्रतीतः, स एवाहं श्रुत्यनुगतयुक्त्या
समाहितबुद्ध्या च परिशील्यमान उपाधितद्धर्मतत्कर्मतद्गुणतद्विकाररहितोऽपरिच्छिन्नो नित्यो निर्विशेषो मुक्तो-
ऽस्मीत्याह–यश्चास्मि तत्त्वत इति । "अथात आदेशो नेति नेति । यत्र नान्यत्पश्य-
पसृष्य एक एवाविक्रियोऽस्मीत्याह–यश्चास्मि तत्त्वत इति । "अथात आदेशो नेति नेति । यत्र नान्यत्पश्य-
ति । यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रम् । अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" इत्यादिश्रुत्यनुकूलैर्नेतिनेतिवा-
क्यैरारोपितनामरूपादेरपवादे क्रियमाणे तन्निषेधावधिभूतं युक्तिशतैरप्यनपोह्यमपवदितुरात्मभूतमहेयमनुपादेयं
निर्विशेषं निराभासं निराधारं निराकारं निरवद्यं निरञ्जनं निष्कलं निष्क्रियं शान्तमनन्तमनाद्यन्तं नित्यशु-
द्धबुद्धमुक्तस्वभावमखण्डानन्दैकरसं परं तत्त्वं यदस्ति, ततः पारमार्थिकस्वरूपेण कालत्रयेऽपि प्रमाणान्तराबा-
धितसत्तावत्तया स्थितो नित्यः शाश्वतो योऽहमेक एवाद्वितीयोऽस्मि सच्चिदानन्दैकलक्षणस्तं मा परं ब्रह्माभि-
जानाति "सर्वात्मा यं हि सर्वं नैवोतोऽद्वयो ह्ययमात्मैकल एव । नह्ययमोतो नानुज्ञाताऽसङ्गत्वादविकारि-
त्वादसत्त्वादन्यस्य । एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म । नेह नानास्ति किंचन । सर्वं यदयमात्मा" । "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च
मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् । ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषतो भाति निरस्तसङ्गम्" इति । "इदं सर्वं
ब्रह्ममात्रं ब्रह्मण्यारोपितत्वाच्छुक्तिरजतवत्" इत्यादिश्रुतिस्मृतियुक्तिभिः समाहितबुद्ध्या च सम्यक्परिशील्य
भ्रमकृतं विकल्पं परित्यज्य सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेत्यभिजानाति विनिश्चिनोतीत्यर्थः । श्रुतियुक्तिगुरूक्तिस्वा-
नुभवैः पूर्वं यदनेकधा भातं तत्केवलमविक्रियं निर्विशेषं परं ब्रह्मैवेति सामान्यविशेषाभ्यां सविकल्पनिर्वि-
कल्पकाभ्यामवगतस्वरूपं वस्त्वेकमेव निर्विशेषं नान्यदस्तीति तत्त्वतः परमार्थस्वरूपेण चिन्मात्रकेण मां परं

ब्रह्मैवं प्रत्यग्दृष्ट्या सर्वतः सम्यग्विषयीकृतं सदेकरसतया ज्ञात्वाऽवधार्य रज्जोः स्वरूपसंदर्शनेन यत्सर्पात्मना भातं तद्रज्जुरेव केवलेति करगृहीताया रज्जोः कैवल्यमिव । 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्वं प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्' इत्येवं दृष्ट्या ज्ञाननिष्ठापरिपक्वया 'सर्वं ब्रह्मैव केवलम्' इति ब्रह्मणः कैवल्यं निश्चित्य सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति सर्वस्य च स्वस्य च ब्रह्ममात्रत्वं सम्यगनुभूयेत्यर्थः । 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्युक्तरीत्या ज्ञानादेव मुक्तिर्नान्यथा इति श्रुत्यनुगतं स्वनिश्चयमाह—तत इति । तदनन्तरं—यदैवं विज्ञानं वस्तु तत्त्वनिश्चयात्मकं निरूढमप्रतिबद्धं जायते—तदनन्तरमेव प्रबोधस्थूलदेहप्राप्त्योरिव ब्रह्मवेदनतत्प्राप्त्योरन्तरालाभावात्सम्यग्ज्ञानोत्तरक्षण एव ब्रह्मनिष्ठो यतिस्ततस्तेनैव ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानेन विशते, अहं ब्रह्मास्मीति स्वात्मना साक्षात्कृते निर्विशेषे चिदेकरसे परे ब्रह्मण्यानन्दात्मन्येतदेवाहमस्मीत्यहंबुद्धिं प्रवेशयति। स्थूले स्वस्वरूपे निद्रयाऽन्यथाभावं गतः पुरुषः प्रबोधेन तन्निवृत्तौ सत्यां तत्राहंबुद्धिं यथा करोति तथा स्वाज्ञानेन विपरीतभावं गतो विद्वान् विवेकविज्ञानेन तन्निवृत्तौ सत्यां स्वात्मन्येव ब्रह्मणि एतदेवाहमिति तत्राहंबुद्धिं करोति, न तु देवदत्तो गृह इव ब्रह्मणि प्रविशति, ब्रह्मणः परिपूर्णत्वान्निरवयवत्वेन संकोचव्याकोचशून्यत्वादाप्तुः स्वरूपत्वान्नित्याप्तत्वाच्च प्रवेश्यत्वायोगात् । "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते । ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । तमेवं विद्वानमृत इह भवति" इति विदुष उत्क्रमणराहित्येन ब्रह्मात्मनाऽवस्थितत्वेनैव ब्रह्मप्राप्तेः श्रूयमाणत्वाद्गन्तृगन्तव्यगमनक्रिया न संभवन्ति, किंतु 'एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते' इति श्रवणाददृश्यत्वादिलक्षणलक्षिते प्रत्यस्तमिताशेषविशेषे अजरेऽमृतेऽभयेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्ये नित्यानन्दाखण्डैकरसेऽद्वितीये परे ब्रह्मण्यहंबुद्धिं प्रतिष्ठापयति श्रुत्याचार्येश्वरात्मप्रसादसंपत्त्या कृतार्थो ब्रह्मवित्तमो यतिः सविशेषं परित्यज्य निर्विशेषब्रह्मात्मना सुखं तिष्ठतीत्यर्थः ॥५५॥

श्री० टी०—ततश्च—भक्त्या मामिति । तया च परया भक्त्या तत्त्वतो मामभिजानाति । कथंभूतम्? यावान् सर्वव्यापी यश्चास्मि सच्चिदानन्दघनस्तथाभूतम् । ततश्च मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं तस्य ज्ञानस्याप्युपरमे सति मां विशते परमानन्दरूपो भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

म० टी०—निदिध्यासनरूपिण्या भक्त्याऽऽत्मज्ञाननिष्ठया ॥ मामद्वितीयमात्मानं सम्यक्साक्षात्करोति सः ॥ १ ॥ यावान्विभुश्च नित्यश्च यश्चानन्दघनोऽद्वयः ॥ सत्यज्ञानवपुः सर्वोपाधिशून्यः सदाऽमलः ॥ २ ॥ अखण्डैकरसः शुद्धस्तावन्तं मां च तत्त्वतः ॥ अभिजानाति सर्वज्ञस्ततो मां स यथार्थतः ॥ ३ ॥ ज्ञात्वाहमस्म्यखण्डैकानन्दब्रह्मेति सद्धिया ॥ साक्षात्कृत्य निवृत्त्यात्मा ज्ञानस्य सकलस्य च ॥ ४ ॥ सर्वोपाधिविनिर्मुक्तो मद्रूपः केवलो भवेत् ॥ प्रारब्धकर्मभोगेन देहपातादनन्तरम् ॥ ५ ॥ कैवल्याख्यं परं धाम मामेव विशते मुनिः ॥ यद्यपि ज्ञानसंप्राप्तिसमये भगवद्वपुः ॥ ६ ॥ ज्ञानी तथापि प्रारब्धकर्माभासेन तद्वपुः ॥ नराकारतया भाति व्यवहारेऽन्यदेहवत् ॥ ७ ॥ प्रारब्धकर्मणि क्षीणे त्यक्त्वा मायामयं वपुः ॥ चिदानन्दपदे स्वात्मतत्त्वे तद्रूप एव सन् ॥ ८ ॥ तिष्ठतीति हरेरेवं तात्पर्यमिह गम्यते ॥ यद्यपि ब्रह्मबोधेनाज्ञानं सर्वं निवर्तितम् ॥ ९ ॥ दीपेनेव तमस्तस्य तद्विरोधिस्वभावतः ॥ तथापि तदुपादेयं देहादिब्रह्मवेदिनः ॥ १० ॥ निरुपादानमेवानुवर्तते निजकर्मणा ॥ दृष्टत्वादेव दृष्टे नानुपपन्नं मनागपि ॥ ११ ॥ तार्किकैरपि हेतोश्च विनाशात्समवायिनः ॥ निरुपादानकं द्रव्यं क्षणमात्रं हि तिष्ठति ॥ १२ ॥ इत्येवं स्वीकृतं तद्वदस्माकमपि संभवेत् ॥ तथापि कल्पनाऽनाविद्यया योग्यः क्षणः किल ॥ १३ ॥ शरीरादिस्थितेरेवमिष्यतेऽतोऽप्यदोषता ॥ यैरप्यज्ञानलेशोऽत्र स्वीकृतस्तैरपि स्फुटम् ॥ १४ ॥ देहादिस्थितिसिद्ध्यर्थं निर्वाहं दृश्यते च ॥ आभासमात्रदेहादावहंकारोऽपि तादृशः ॥ १५ ॥ नहि तेन विना तज्ज्ञदेहादि-

स्थितिसंभवः ॥ न वा तेनाप्यहंकाराभासेनात्मविदः क्षतिः ॥ १६ ॥ तदुक्तं जानकीनाथं राघवं प्रति सद्वचः ॥ वसिष्ठेनापि निर्वाणे पापाणाख्यायिकास्थले ॥ १७ ॥ अहंभावं विना देहस्थितिस्तज्ज्ञाज्ञयो- रिह ॥ आधेयस्य निराधारा न संस्थेहोपपद्यते ॥१८॥ अहंभावपिशाचोऽयमज्ञानशिशुना विना ॥ अवि- द्यमान एवान्तःकल्पितत्वेन सुस्थितः ॥ १९ ॥ अज्ञानमपि नास्त्येव प्रेक्षितं यन्न लभ्यते ॥ विचारिणा दीपवता स्वरूपं तमसो यथा ॥ २० ॥ किन्तु सत्यामविद्यायामद्यतोदेति शाश्वती ॥ बुद्धिमोहात्मिका यक्षी निर्देहैव यथा निशि ॥ २१ ॥ एवं स्थिते कुतः सर्गः कुतो विद्या क चाज्ञता ॥ ब्रह्म शान्तं घनं सर्वं क्वाहंकारादयः स्थिताः ॥ २२ ॥ अहंभावस्य संशान्तिरेपाऽसौ कथिता तव ॥ अहंभावः परिज्ञातः पिशाच इव शाम्यति ॥ २३ ॥ चित्राग्निदाहो विज्ञातो यथा दाहेषु निष्फलः ॥ तथाहंभावसर्गादि ज्ञातं निष्फलतामियात् ॥ २४ ॥ एवं तत्त्वविदां दृष्ट्या नास्त्यहंकार एव च ॥ अतो नित्यविमुक्तः सन्मु- च्यते संनिवर्तते ॥ २५ ॥ इत्येवं श्रीहरेर्भावो गम्यते वेदवाक्यतः ॥ २६ ॥ ५५ ॥

भा० टी०—ततश्च—भक्त्येति । ज्ञानलक्षणया भक्त्या मामभिजानाति यावानहमुपाधिकृतविस्तारभेदो य- श्चास्मि विध्वस्तसर्वोपाधिभेद उत्तमः पुरुष आकाशवदसङ्गो निर्विकारस्तं मामद्वैतचैतन्यमात्रैकरसमजमजरमभ- यमनिधनं भक्त्या तत्त्वतोऽभिजानाति, ततो मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं मामेव विशते प्राप्नोति । अत्र ज्ञानप्र- वेशक्रिये भिन्ने न विवक्षिते, भेदोक्तिस्त्वौपचारिकी बोध्या । ब्रह्मप्राप्तिस्तु ज्ञानान्नातिरिच्यते, क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीति ब्रह्मात्मनोऽभेदस्योक्तत्वात् । भक्त्या निदिध्यासनात्मिकया मामद्वितीयमात्मानमभिजानाति साक्षात्क- रोति । तदनन्तरं फलरूपारब्धकर्मभोगेन देहपातानन्तरं न तु ज्ञानानन्तरमेव । क्त्वाप्रत्ययेनैव तल्लाभे तदनन्तर- मित्यस्य वैयर्थ्यापातादिति केचित् । इतरे तु विशत्यात्मानि स्वसिद्धयेऽनिर्वचनीयसंबन्धेनेति विशस्तदनर्थमूल- मज्ञानं तस्मै तत्सविलासमुन्मूलयितुं शास्त्राऽपरोक्षीकृत्य तदनन्तरम्—अन्तरं भेदस्तच्छून्यं शाश्वतं पदमव्ययमा- प्नोतीत्युत्तरश्लोकस्थानुपङ्गेन व्याख्येयमिति वदन्ति । यत्तत्त्वतो याथात्म्येन ज्ञात्वा साक्षात्कृत्य ततो ब्यात: ब्रह्मभावं गतो भवतीत्यर्थः । "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति श्रुतेः । यद्वा तत इति कारणब्रह्मभावापत्तिः सार्वात्म्यरूपा प्रथममुक्ता । अनन्तरं कारणभावापत्तेरनुपदमेव तद्वत् तत्पदाभिधेयं शुद्धं ब्रह्म विशते दर्पणाद्यपाये प्रतिबिम्बो बिम्बमिव प्रविशतीत्यर्थ इत्यन्ये । तदेतद् व्याख्यानत्रयमपि सर्वैराचार्यैः ध्यानयोगपरो नित्यमि- त्यत्र निदिध्यासनस्योक्तत्वात्, भक्तिं लभत इत्यस्य परामितिविशेषणस्य च वैयर्थ्यं तच्छब्देनाप्रस्तुतपरा- मर्शस्यानुपङ्गाध्याहारादिक्लेशव्याख्यायाः कुकल्पनायाश्चानौचित्यमभिप्रेत्य अकृत्वादुपेक्ष्यम् । तथाचायमर्थः "आचार्यवान्पुरुषो वेद" इतिश्रुत्या शास्त्रानुसार्याचार्योपदेशेन ज्ञानोत्पत्तिः, तस्य च परिपाके असंभाव- नादिप्रध्वंसे हेतुभूतमुपदेशस्यैव सहकारिकारणं बुद्धिविशुद्धत्वादि अमानित्वादिगणं चापेक्ष्य तस्मादेवोप- देशाज्ज्ञानितस्य क्षेत्रज्ञपरात्मैकत्वज्ञानस्य कारकभेदबुद्धिनिबन्धनसर्वकर्मसंन्याससहितस्य स्वात्मानुभवरूपेण स्वात्मन्येव सर्वकल्पनारहितस्य यदवस्थानं सा ज्ञानस्य परा निष्ठेत्युच्यते । सेयं ज्ञाननिष्ठा आर्तादिभक्तित्र- यापेक्षया परा चतुर्थी भक्तिरित्युक्त्वा तया परया भक्त्या भगवन्तं तत्त्वतोऽभिजानाति, यदनन्तरमेवेश्वर- क्षेत्रज्ञभेदबुद्धिरशेषं ततो निवर्तते । क्त्वाप्रत्ययेनोक्तमानन्तर्यमव्यवहितं, न तु किंचिद्व्यवधानयुक्तमिति बोध- नायानन्तरमित्युक्तमिति ॥ ५५ ॥

प० टी०—ततश्च—भक्त्येति । तया सर्वात्मकत्वभावनरूपया भक्त्याऽहं यावान् विश्वव्यापी यश्च पर- मानन्दस्वरूप एवंभूतं मामभितः- स्थावरजङ्गमेष्वनुवर्तमानं जानाति, ततश्च मां तत्त्वतश्चित्संविद्रूपेण ज्ञात्वा तदनन्तरं तत्त्वज्ञानोपरमे मां विशते मदाकारो भवति ॥ ५५ ॥

रा० टी०—ततश्च किमित्यत आह—भक्त्येति । अहं यावान्देशकालगुणैर्याबान्व्याप्तोऽस्मि । यश्च

यन्नामा यद्रूपश्चास्मि । तादृशं मां प्रागुक्तया परमभक्त्या तत्त्वतः अभि स्वयोग्यतानुसारेण जानाति । तेनापि किमित्यत आह—तत इति । भक्तिबलात्तत्त्वतो मां ज्ञात्वा तदनन्तरं मां विशते मदनुप्रविष्टो भवति मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ॥
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

त० टी०—एवं वर्णाश्रमोचितनियतकर्मणां फलकर्तृत्वाभिसंधानरहितानां नैष्कर्म्यसिद्धिप्राप्तिद्वारेण भगवत्प्राप्तिफलकत्वमुक्तम् । इदानीं नैष्कर्म्यसिद्ध्यभावे कर्मकर्तुः किं फलं स्यादित्यपेक्षायामाह—सर्वकर्माणीति । सर्वकर्माणि वैदिकलौकिकानि विधिहीनान्यपि सदा कुर्वाणोऽनुतिष्ठन् मद्व्यपाश्रयः अहं सर्वेश्वर एव व्यपाश्रयः समाश्रयणीयो न त्वन्यो देवः फलं वा यस्य स मत्प्रसादात् शाश्वतमनादिमव्ययं परिणामशून्यं नित्यं पदं मद्धाम मामोति ॥ ५६ ॥

म० टी०—ननु योऽज्ञातमज्ञोऽशुद्धान्तःकरणः सोऽन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तं सहजं कर्म न त्यजेत् । यस्तु शुद्धान्तःकरणः स नैष्कर्म्यसिद्धिं संन्यासेनाधिगच्छतीत्युक्तम् । संन्यासश्च ब्राह्मणेनैव कर्तव्यो न क्षत्रियवैश्याभ्यामिति प्रागुक्तं भगवता 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' इत्यत्र । तत्र शुद्धान्तःकरणेन क्षत्रियादिना किं कर्माण्यनुष्ठेयानि किंवा सर्वकर्मसंन्यासः कर्तव्यः ? नाद्यः—' आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ' इत्यादिना योगमन्तःकरणशुद्धिमारूढस्य कर्मानुष्ठाननिषेधात् । न द्वितीयः । 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इत्यादिना ब्राह्मणधर्मस्य सर्वकर्मसंन्यासस्य क्षत्रियादिकं प्रति निषेधात् । नच कर्मानुष्ठानकर्मत्यागयोरन्यतरमन्तरेण तृतीयः प्रकारोऽस्ति । तस्मादुभयोरपि प्रतिषिद्धत्वेन गत्यन्तराभावेन चावश्यकर्तव्ये प्रतिषेधातिक्रमे कर्मत्याग एव श्रेयान् बन्धहेतुपरित्यागेन मोक्षसाधनपौष्कल्यात्, न तु कर्माण्यनुष्ठेयानि चित्तविक्षेपहेतुत्वेन मोक्षसाधनज्ञानप्रतिबन्धकत्वादित्यभिप्रायमर्जुनस्यालक्ष्याह भगवान्—सर्वेति । यः पूर्वोक्तैः कर्मभिः शुद्धान्तःकरणः सोऽवश्यं भगवदेकशरणः भगवदेकशरणतापर्यन्तत्वात् अन्तःकरणशुद्धेः । एतादृशश्चेत् ब्राह्मणः संन्यासप्रतिबन्धरहितः सर्वकर्माणि संन्यस्यतु नाम । संसारविमोक्षस्तु तस्य भगवदेकशरणस्य भगवत्प्रसादादेव । एतादृशश्चेत् क्षत्रियादिः संन्यासानधिकारी स करोतु नाम कर्माणि, किंतु मद्व्यपाश्रयः अहं भगवान् वासुदेव एव व्यपाश्रयः शरणं यस्य स मदेकशरणो मय्यर्पितसर्वात्मभावः संन्यासानधिकारात् सर्वकर्माणि सर्वाणि कर्माणि वर्णाश्रमधर्मरूपाणि लौकिकानि प्रतिषिद्धानि वा सदा कुर्वाणो मत्प्रसादान्ममेश्वरस्यानुग्रहात् अवाप्नोति हिरण्यगर्भवन्मद्विज्ञानोत्पत्त्या शाश्वतं नित्यं पदं वैष्णवमव्ययमपरिणामि । एतादृशो भगवदेकशरणः करोत्येव न प्रतिषिद्धानि कर्माणि, यदि कुर्यात्तथापि मत्प्रसादात्प्रत्यवायानुत्पत्त्या मद्विज्ञानेन मोक्षभाग्भवतीति भगवदेकशरणतास्तुत्यर्थं सर्वकर्माणि सर्वदा कुर्वाणोऽपीत्यनूद्यते ॥ ५६ ॥

शं० टी०—स्वकर्मणा तमभ्यर्च्येत्यारभ्य विशते तदनन्तरमित्यन्तेन ग्रन्थेन मुमुक्षोरीश्वरार्पणबुद्ध्या समनुष्ठितकर्मभिरेव सत्त्वशुद्धिः, शुद्धात्मन एव ज्ञानं, ज्ञानवत एव मोक्ष इति ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभावं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं निर्धारयितुं कर्मभिश्चित्तशुद्धिं शुद्धात्मनो ज्ञानं तस्य फलं मोक्षं च क्रमेण प्रतिपाद्याधुना आरुरुक्षोर्गृहिणश्चारूढस्य च यतेश्चोभयोर्मोक्षैककामनयोर्नित्यं नियमेन कर्तव्यार्थनिर्णयायोत्तरग्रन्थ आरभ्यते । तथाहि ज्ञानं मोक्षफलकं चित्तशुद्धिं विना न सिध्यति, चित्तशुद्धिश्च स्वकर्मभिरेवेश्वरार्पणबुद्ध्या कृतैर्न तु कामनया, आरुरुक्षोरीश्वरप्रीत्यै कर्मैवावश्यं कर्तव्यमिति बोधयितुं मत्प्रीत्यै कर्माणि कुर्वाणो

मत्प्रसादान्मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह—सर्वेति । मद्व्यपाश्रयः योऽहम् "अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ" इत्युक्तलक्षणः
सर्वभूतः सर्वात्मकः परमेश्वरः स एव व्यपाश्रयो भवमुक्त्यै स्वकर्मभिराराधनीयो यस्य ॥ मद्व्यपाश्रयः
स्वाराध्येषु देवेष्वग्न्यादिषु योगे यागीयेषु चरुपुरोडाशस्रुगादिषु च सर्वत्र मद्भावनायुक्तो भूत्वा मुमुक्षुः
सर्वकर्माणि सर्वाणि श्रौतानि स्मार्तानि च नित्यानि नैमित्तिकानि च कर्माणि विध्युक्तानि मत्प्रीत्यै श्रद्धया
भक्त्या च कुर्वाणः सन् मत्प्रसादान्मम भक्त्याऽनेकजन्मसु समनुष्ठितकर्मभिः संतोषितस्य परमेश्वरस्य
प्रसादोऽनुग्रहस्तस्मात्सत्त्वशुद्धिं ज्ञानं च लब्ध्वा अव्ययं वृद्धिक्षयवर्जितं न्यूनाधिकभाववर्जितं सदैकरूपं
शाश्वतं नित्यं पदं मोक्षाख्यं प्राप्नोति कर्मभिः संतुष्टेश्वरानुग्रहान्मुक्तिं विन्दतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

श्री० टी०—स्वकर्मभिः परमेश्वराराधनादुक्तं मोक्षप्रकारमुपसंहरति—सर्वकर्माणीति । सर्वकर्माणि नित्य-
नैमित्तिकानि काम्यानि च कर्माणि पूर्वोक्तक्रमेण सर्वदा कुर्वाणः सन् मद्व्यपाश्रयः अहमेव व्यपाश्रय आश्रय-
णीयो न तु स्वर्गादिफलं यस्य सः मत्प्रसादाच्छाश्वतमनादि अव्ययं नित्यं सर्वोत्कृष्टं वैष्णवं पदं प्राप्नोति ॥५६॥

स० टी०—अहो धीशुद्धिपर्यन्तं सहजं कर्म न त्यजेत् ॥ शुद्धान्तःकरणो यस्तु नैष्कर्म्यं सोऽधिग-
च्छति ॥ १ ॥ संन्यासेनेति पूर्वोक्तं संन्यासो ब्राह्मणेन वै ॥ कर्तव्यो नान्यवर्णैरित्युक्तं भगवता पुरा
॥ २ ॥ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥ चित्तशुद्धिमतस्तत्र किं कर्मकरणं वरम् ॥ ३ ॥
नृपादेर्वाथ संन्यास इत्यत्राह जगत्पतिः ॥ पूर्वोक्तैः कर्मभिर्यस्तु शुद्धान्तःकरणः पुमान् ॥ ४ ॥ सोऽव-
श्यं भगवत्कृष्णपादैकशरणो भवेत् ॥ श्रीमद्भगवतः पादसरोजे भक्तिरुत्तमा ॥ ५ ॥ चित्तशुद्धेः फलं
श्रेष्ठं ततो ज्ञानाद्विमुक्तता ॥ ईदृशो ब्राह्मणश्चेत्स्यात्परवैराग्यसंयुतः ॥ ६ ॥ स सर्वं कर्म संन्यस्य भग-
वच्छरणं व्रजेत् ॥ तस्य संसारतो मोक्षः स्याद्भगवत्प्रसादतः ॥ ७ ॥ ईदृशः क्षत्रियादिश्चेत्संन्यासे-
ऽधिकृतो न सः ॥ स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ८ ॥ इति ब्राह्मणधर्मस्य संन्यासस्य च
कर्मणाम् ॥ क्षत्रियादिं प्रति श्रीमद्विष्णुनैव निषेधतः ॥ ९ ॥ संन्यासानधिकारात्स कुर्वाणः सन्सदैव
च ॥ सर्वकर्माणि वर्णादिधर्मरूपाणि सत्वरः ॥ १० ॥ भगवान्वासुदेवोऽहं कृष्ण एव व्यपाश्रयः ॥
शरणं यस्य नित्यं स मदेकशरणो महान् ॥ ११ ॥ मय्येवार्पितसर्वात्मभावोऽसौ मदनुग्रहात् ॥ हिरण्य-
गर्भवत्सम्यक्समृद्धिज्ञानजनेस्ततः ॥ १२ ॥ नित्यकूटस्थं स्वं ज्योतिःपदं प्राप्नोति वैष्णवम् ॥ १३ ॥ ५६ ॥

भा० टी०—एवं शुद्धान्तःकरणस्य संन्यासाधिकारिणो ब्रह्मप्राप्तिक्रममभिधायानात्मज्ञस्याशुद्धान्तःकर-
णस्य संन्यासानधिकारिणो ब्रह्मप्राप्तिसाधनं भगवद्भक्तियोगं तत्र तत्र प्रतिपादितं शास्त्रार्थोपसंहारप्रकरणे
शास्त्रार्थनिश्चयदार्ढ्याय स्तौति—सर्वेति । सर्वाणि नित्यनैमित्तिकादीनि प्रतिषिद्धान्यपि सदा कुर्वाणोऽनु-
तिष्ठन्नपि मद्व्यपाश्रयोऽहं वासुदेव ईश्वरो व्यपाश्रय आश्रयणीयो यस्य स मद्व्यपाश्रयो मय्यर्पितसर्वा-
त्मभावः मत्प्रसादात् ममेश्वरस्य प्रसादात् शाश्वतं नित्यमव्ययमपक्षयशून्यं पदं वैष्णवमवाप्नोति । निषि-
द्धान्यप्याचरन् शाश्वतं पदमव्ययमवाप्नोतीत्युक्त्या पापस्यापि मोक्षफलहेतुत्वं स्यादित्याशङ्कानिरासाय
मद्व्यपाश्रयः मत्प्रसादादित्युक्तम् । तथाच येन भक्तियोगेन प्रसादितादीश्वरात्सर्वकर्माण्यनुतिष्ठतोऽपि
वैष्णवपदप्राप्तिस्तस्य माहात्म्यं किं वक्तव्यमिति भावः ॥ ५६ ॥

प० टी०—अथ बुद्ध्या विशुद्धयेत्याद्युक्तमोक्षप्रकारस्यातिप्रयाससाध्यत्वात्सुगमं प्रकारमाह—सर्वकर्मेति ।
सदा निरन्तरं मद्व्यपाश्रयः, अहमेवाश्रय आश्रयणीयो नतु स्वर्गादिफलं यस्य स सर्वकर्माणि नित्यनैमि-
त्तिकादीनि कुर्वाणोऽपि सन् मत्प्रसादान्नित्यं सर्वोत्कृष्टं च पदं स्थानमवाप्नोति । श्रुतिरपि ऋक्संहितासु—
" अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः । यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं
तं सुमेधाम् " इति । भाष्यम्—अहमेव स्वयमिदं ब्रह्माख्यं वस्तु वदामि, इदं ब्रह्म स्वयमेवात्मेति वदा-

मीत्यर्थः । देवेभिर्देवैरिन्द्रादिभिर्जुष्टं सेवितम् । उतापि मानुषेभिर्मनुष्यैः सेवितम् । अथ तदेव प्रकटयन्नाह— ईदृग्वस्त्वात्मकोऽहं स्वां मायामधिष्ठाय धृतमानुषवेषा(?)सती यं कामये यं पुरुषं रक्षितुमहं वाञ्छामि तं पुरुषमुग्रं कृणोमि सर्वेभ्योऽभ्यधिकं रुद्रं करोमि रुद्रपदवीं प्रापयामि । तमेव ब्रह्माणं स्रष्टारं करोमि तमेव ऋषिमतीन्द्रियद्रष्टारं करोमि । तमेव सुमेधां शोभनप्रज्ञं ज्ञानिनं करोमि ॥ ५६ ॥

रा० टी०—पुनरन्तरङ्गसाधनान्युक्त्वा शास्त्रार्थमुपसंहरति—सर्वेति । यद्वा यतः प्रवृत्तिर्भूतानामित्यत्र स्वकर्मणा तमभ्यर्च्येत्युक्तं, तत्र कर्मकरणं विशिष्य फलं व्यनक्ति—सर्वेति । मद्व्यपाश्रयः मय्येव समर्पयन्नेव सर्वाणि विहितानि कर्माणि सदा कुर्वाणः मत्प्रसादाच्छाश्वतं पदमव्ययं मत्स्वरूपमवाप्नोति शाश्वतमव्ययमिति कूटस्थतयाऽऽद्यन्तहीनमित्यर्थः । अत्र अपिशब्दो नैकमपि कर्म अतदाश्रयेण कार्यमित्यर्थसूचनाय ॥ ५६ ॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्य य मत्परः ॥
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

त० टी०—तस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेण वैराग्यादि कर्तुं न शक्नोषि चेत्त्वमप्येवं कुर्वित्याह—चेतसेति । चेतसा मत्तन्त्रकर्तृत्वविचारेण सर्वाणि कर्माणि लौकिकानि वैदिकानि स्वभावप्राप्तानि च फलकर्तृत्वोद्देश्यदेवतासहितानि मयि संन्यस्य सम्यगर्प्य मत्परः अहमेव परः प्राप्यः प्रापकश्च यस्य सः बुद्धियोगं व्यवसायात्मिकबुद्ध्या सर्वसंबन्धमुपाश्रित्य सर्वात्मना मामेव सर्वश्रेयोहेतुं श्रेयोरूपं च निश्चित्य सततं मच्चित्तो भव इत्येवमनुसंधानं कुरुष्वेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

म० टी०—यस्मान्मदेकशरणतामात्रं मोक्षसाधनं न कर्मानुष्ठानं कर्मसंन्यासो वा तस्मात् क्षत्रियस्त्वम्—चेतसेति । चेतसा विवेकबुद्ध्या सर्वकर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि मयीश्वरे संन्यस्य 'यत्करोषि यदश्नासि' इत्युक्तन्यायेन समर्प्य मत्परः अहं भगवान् वासुदेव एव परः प्रियतमो यस्य स मत्परः सन् बुद्धियोगं पूर्वोक्तसमत्वबुद्धिलक्षणं योगं बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्षहेतुत्वसंपादकमुपाश्रित्य अनन्यशरणतया स्वीकृत्य मच्चित्तः मयि भगवति वासुदेव एव चित्तं यस्य न राजनि कामिन्यादौ वा स मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥

शं० टी०—तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वतेत्युक्तो बुद्धेरात्मवस्त्वप्रकाशनलक्षणो यो मत्प्रसादस्तेनैकलभ्यो मोक्षो यस्मात्तस्मात् मत्परो भवेत्याह—चेतसेति । कर्मणा संतुष्टेश्वरानुग्रहादेव मुक्तिरिति ज्ञानं चेतस्तेन चेतसा विवेकबुद्ध्या त्वं मत्परः अहमेव परः परमपुरुषार्थः प्राप्यं वस्त्विति बुद्धिर्यस्य स मत्परस्तीव्रमुमुक्षुः सन्नित्यर्थः । मत्प्रसादसिद्धये 'कर्ता भोक्ता जनार्दनः' इति न्यायेन सर्वकर्माणि श्रौतानि स्मार्तानि च सर्वाणि कर्माणि कृतानि मयि परमेश्वरे संन्यस्य कर्माणि कर्मफलानि च मह्यं समर्प्येत्यर्थः । बुद्धियोगं बुद्धेर्मय्येव योगः स्थितिस्तमुपाश्रित्य सततं मद्भजनपरो भूत्वेत्यर्थः । यद्वा 'भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः' इतिन्यायेन सर्वत्र परमेश्वरत्वबुद्धिर्बुद्धियोगस्तं सततमाश्रित्य । यद्वा 'न्यायार्जितधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः' इति गृहिणोऽपि वेदान्तविचारस्य कर्तव्यत्वस्मरणात्कर्माणि कुर्वन्सन् बुद्धियोगं ज्ञानसिद्धिहेतुः श्रवणमननादिस्तं बुद्धियोगमुपाश्रित्य सर्वदा वेदान्तार्थविचारपरो भूत्वा सततं मच्चित्तः मय्येव सर्वमये परमात्मनि चित्तं यस्य स मच्चित्तः ज्ञानसिद्धये तत्फलसिद्धये च सर्वदा मच्छरणो भवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

श्री० टी०—यस्मादेवं तस्मात्—चेतसेति । सर्वकर्माणि चेतसा मयि संन्यस्य समर्प्य मत्परः अहमेव

१ अपाभिरर्पति पाठः ।

परः प्राप्यः पुरुषार्थो यस्य सः व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या योगमाश्रित्य सततं कर्मानुष्ठानकालेऽपि 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः' इतिन्यायेन मय्येव चित्तं यस्य सः तथाभूतो भव ॥ ५७ ॥

स० टी०—यस्मान्मदेकशरणभावो मोक्षस्य साधनम् ॥ न कर्मकरणं नापि कर्मसंन्यास एव वा ॥१॥ तस्माद्विवेकबुद्ध्या त्वं दृष्टादृष्टार्थकान्यपि ॥ सर्वकर्माणि मय्याद्ये वासुदेवे समर्प्य च ॥ २ ॥ यत्करोषि यदश्नासीत्युक्तन्यायेन मत्परः ॥ भगवान्वासुदेवोऽहं यस्य प्रियतमः परः ॥ ३ ॥ स मत्परस्त्वं पूर्वोक्तं समताबुद्धिलक्षणम् ॥ योगं ह्यनन्यशरणतया स्वीकृत्य सर्वदा ॥ ४ ॥ वासुदेवे भगवति यस्य चित्तं मयीश्वरे ॥ नान्यत्र राजनि हयादौ समचित्तः सदा भव ॥ ५ ॥ हृत्पद्मे रूढमनाविलं रसपदं हासप्रकाशोज्ज्वलं कारुण्यादिगुणौघशैत्यशरणं शान्त्यान्वितं छायया ॥ अज्ञानार्कभवातपर्मशमनं सद्भावकैरर्थितं ब्रह्मानन्दसुवर्षणोन्मुखमहं कृष्णाख्यमेघं श्रये ॥ ६ ॥ ५७ ॥

मा० टी०—यतो भक्तियोगस्यैवं माहात्म्यं तस्मान्मत्प्रसादार्थं भवता मदाराधने प्रयतितव्यमित्याह—चेतसेति । चेतसा विवेकबुद्ध्या सर्वकर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि मयि संन्यस्य 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्' इत्युक्तन्यायेन समर्प्य मत्परोऽहं वासुदेव एव परः प्रकृष्टः प्राप्यो यस्य न तु स्वर्गादिः स मत्परः सन् बुद्धियोगं समाहितबुद्धित्वं सिद्ध्यसिद्धिजन्याभ्यां हर्षविषादाभ्यामक्षुभितबुद्धित्वमुपाश्रित्यानन्यशरणत्वेनाङ्गीकृत्य मच्चित्तो मय्येव चित्तं यस्य ■ त्वं सततं सर्वदा मच्चित्तो भव ॥ ५७ ॥

प० टी०—यस्मादेवं तस्मात्त्वमपि तथा भवेत्याह—चेतसेति । चेतसा सह सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य समर्प्य मत्परः अहमेव परः परमो यस्य तथाविधः सततं भव ततश्च व्यवसायात्मिकबुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः मदाकारं चित्तं यस्य तथाविधो भवेत्यनेन विशते तदनन्तरमित्येव पर्यायेणोक्तमित्यर्थः ॥ ५७ ॥

रा० टी०—यदि भगवदाश्रयेण विहितकर्म कुर्वतो मुक्तिस्तर्हि त्रैविद्यस्यापि सा स्यात् । तस्यापि विहितकर्मकरणभगवदर्पणयोः सत्त्वेन भगवदाश्रयत्वादित्यत आह—चेतसेति । चेतसा सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः अहमेव परः सर्वोत्तम इति भावो यस्य स मत्परः भव । किंच बुद्धियोगं बुद्धेर्योगं प्रत्याहारादिरूपमुपायमाश्रित्य मच्चित्तः मय्येव निरुद्धचित्तः सततं भवेत्युक्त्या त्रैविद्यस्यैवंरूपत्वाभावान्न तस्य मुक्तिशङ्केति भावः ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥

त० टी०—एवं मदुक्तार्थे विश्वस्तो यत् प्राप्स्यसि तच्छृणु—मच्चित्त इति । उक्तप्रकारेण मच्चित्तः सन् सर्वकर्माणि कुर्वन्नपि सर्वाणि दुर्गाणि दुस्तराणि सांसारिकाणि दुःखानि मत्प्रसादादेव तरिष्यसि । विपक्षे दोषमाह—अथ चेदिति । यदि पुनस्त्वमहङ्कारादहमेव कर्तव्याकर्तव्यं सर्वं जानामीत्यभिमानान्मदुक्तमेव न श्रोष्यसि पुरुषार्थाद्भ्रश्यसे । यतः सर्वस्य हिताहितज्ञाता प्रशास्ता च मदन्यः कश्चिन्न विद्यते ॥ ५८ ॥

म० टी०—ततः किं स्यादिति तदाह—मच्चित्त इति । मच्चित्तस्त्वं सर्वदुर्गाणि दुस्तराणि कामक्रोधादीनि संसारदुःखसाधनानि मत्प्रसादात् स्वव्यापारमन्तरेणैव तरिष्यसि अनायासेनैवातिक्रमिष्यसि । अथ चेत् यदि तु त्वं मदुक्ते विश्वासमकृत्वाऽहंकारात्पण्डितोऽहमिति गर्वान्न श्रोष्यसि मद्वचनार्थं न करिष्यसि ततो विनङ्क्ष्यसि पुरुषार्थाद्भ्रष्टो भविष्यसि कामकारेण संन्यासमाचरन् ॥ ५८ ॥

श्रीं० टी०—वेदान्तार्थविचारपरत्वस्य त्वदेकशरणत्वस्य किं फलमिति चेदुच्यते शृणु—मच्चित्त इति ।

मच्चित्तः सर्वदा ध्येयत्वेन सर्वत्र विषयत्वेन चाहमेव परमात्मा चित्ते यस्य सः । यद्वा सर्वात्मनि मय्येव चित्तं यस्य स मच्चित्तः सदा मदेकचित्तः संस्त्वं मत्प्रसादान्मदनुग्रहप्राप्तात्मविज्ञानात्सर्वदुर्गाणि सर्वाणि दुर्गाणि दु खेनातिगन्तुमशक्यानि दुर्गाणि दुस्तराण्यविद्याकामकर्माणि । यद्वा सत्त्वरजस्तमांसि सकार्याणि जन्मजरामृत्युदु खप्रवाहकारणानि तरिष्यसि, तानि तीर्त्वा विदेहमुक्तिसुखं प्राप्स्यसीत्यर्थः । एतेनेश्वरार्थं कर्म कुर्वाण एव तरति न त्वकुर्वाण इति सूचितं भवति । ननु कर्मणा द्रव्यसाध्यत्वेन हिंसाप्रधानत्वा-त्साधुना हिंसाप्रधानकं कर्म कर्तुं न शक्यते, तत्रापि स्वजनवधलक्षणं युद्धं तु सुतरां कर्तुं न शक्यत एवेति सांख्यगतमनुस्मृत्याहंकारेण स्वधर्मवैमुख्यं न कर्तव्यमिति मुमुक्षोः स्वधर्मप्रवृत्तिमेव दृढीकर्तुमाक्षेपपूर्वकं स्वधर्मनिष्ठामेवार्जुनमङ्गीकारयति सार्धद्वयेन—अथेति । अथशब्दः पक्षान्तरारम्भार्थः । त्वमहंकाराच्छास्त्रा-न्तरज्ञानकृताभिनिवेशाच्चेतसा सर्वकर्माणीत्युक्तं मद्वचनं न श्रोष्यसि चेद्विधिमुल्लङ्घ्य यदि कर्म न करिष्यसी त्यर्थः । ततो विनङ्क्ष्यसि विनाशमेष्यसि 'अकृत्वा वैदिकं कर्म द्विजः पतनमृच्छति' इतिन्यायेन स्व-धर्मत्यागात्पातित्यं प्राप्स्यसि । विध्युल्लङ्घनमेको दोष , स्वधर्मत्यागो द्वितीयः, परधर्माश्रयस्तृतीयः, पुरुषार्थभ्रं-शश्चतुर्थः, एवमनर्थपरंपरा स्यादित्यर्थ. ॥ ५८ ॥

श्री० टी०—ततो यद्भविष्यति तच्छृणु—मच्चित्त इति । मच्चित्तः सन् मत्प्रसादात्सर्वाण्यपि दुर्गाणि दुस्त-राणि सासारिकाणि दु.खानि तरिष्यसि । विपक्षे दोषमाह—अथ चेद्यदि पुनस्त्वमहंकाराज्ज्ञातृत्वाभिमाना-न्मदुक्तमेतन्न श्रोष्यसि तर्हि विनङ्क्ष्यसि पुरुषार्थाद्भ्रश्यसि ॥ ५८ ॥

स० टी०—मच्चित्तस्त्वं हि सर्वाणि दुस्तराणि समुद्रवत् ॥ संसारदुःखदायीनि कामक्रोधादिकान्यपि ॥ १ ॥ मत्प्रसादात्सुखेनैव स्वव्यापारं विना वि च ॥ अतिक्रमिष्यसि· प्रत्यग्ब्रह्मज्ञानमुखेन च ॥ २ ॥ यदि तु त्वं मदुक्तेऽर्थे नि.संदिग्धेऽपि मोह्यत: ॥ अविश्वासादहंकारात्पण्डितोऽस्मीति गर्वत: ॥ ३ ॥ न श्रोष्यसि वचो मत्तः श्रुत्वाऽपि न करिष्यसि ॥ विनङ्क्ष्यसि तदा सम्यक्पुरुषार्थात्परिच्युत. ॥ ४ ॥ काम-कारेण यत्किंचित्कुर्वन्नाप्नोति शोभनम् ॥ ५ ॥ अज्ञानार्कसुतापितं भवमरौ धावन्तमर्थोज्झितं तृष्णातृट्परि-तापितेन्द्रियगणं भोगाम्बुकामाकुलम् ॥ व्यर्थक्रोधमरुप्रततसिकतावग्धाग्रमार्गाङ्घ्रिकं दीनं त्वां शरणागतं यदुपते मा मामुपेक्षस्व भो. ॥ ६ ॥ ५८ ॥

भा० टी०—ततः किमित्यपेक्षायामाह—मच्चित्त इति । मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि संसारहेतुभूताज्ञानादीनि मत्प्रसादात्तरिष्यसि अतिक्रमिष्यसि । व्यतिरेके दोषमाह—अथ चेद्यदि मदुक्तमहंकारात् पण्डितेन मया स्व-बुद्ध्या यद्विचारितं तदेव सम्यक् इत्यभिमानात्र श्रोष्यसि न ग्रहीष्यसि ततस्त्वं विनङ्क्ष्यसि विनाशं गमिष्यसि पुरुषार्थात् भ्रष्टो भविष्यसि ॥ ५८ ॥

प० टी०—अतो यद्भविष्यति तच्छृणु—मच्चित्त इति । प्रागुक्तरीत्या मच्चित्तस्त्वं मत्प्रसादात् सर्वदुर्गाणि आधिदैविकादीनि सर्वदु खानि तरिष्यसि । अथ विपक्षे दोषमाह—अथेति । अथ चेद्यदि त्वमहंकाराज् ज्ञातृत्वाभिमानान्मदुक्तमेतन्न श्रोष्यसि, तर्हि विनङ्क्ष्यसि पुरुषार्थाद्भ्रश्यसे, अधमां योनिं प्राप्स्यसि । अत्र भगवतो हार्दं तु—कुरुकुलदहने खेदं वेदोच्छेदे ह निर्वेदम् । यन्मनुतेऽधमजनुषे दत्ते धनुषे तिलाञ्जलिं यस्मादिति(?) ॥ ५८ ॥

रा० टी०—भगवच्चित्तस्य फलमाह—मच्चित्त इति । मच्चित्तो मय्येव निरुद्धमनस्कः । सर्वाणि दुर्गाणि दुस्तराणि दु खेन तर्तव्यानि कष्टानि मत्प्रसादात्तरिष्यसि । एवं स्वविहितवृत्त्या भगवदाराधनस्य परधर्म-त्यागपूर्वकस्वविहितकर्म भगवत्प्रीत्यर्थमेवावश्यं कार्यमित्येतावता प्रबन्धेन प्रतिपादितम् । तदकरणेऽनिष्ट-माह—अथ चेदिति । अर्थान्तरे त्वथशब्दः । अहं न योत्स्यामीत्यहंकारात् गुप्यसेति मदीयवचनं त्वं न

श्रोष्यसि चेत् श्रुत्वा न करोषि चेत् , विनङ्क्ष्यसि पुरुषार्थहीनो भविष्यसि । मद्वचनाकरणे विनाशं इत्यभ्यु-
पेत्योक्तम् ॥ ५८ ॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ॥
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥

त० टी०—किंचाहं स्वतन्त्रो बन्धुवधार्थं त्वन्नियोगं कथं करिष्यामीति त्वया न मन्तव्यमित्याह—
यदिति । यद्यहंकारमात्मनि स्वातन्त्र्याभिमानमाश्रित्य मदुक्तमनादृत्य न योत्स्ये युद्धं न करिष्या-
मीति मन्यसे व्यवस्यसे तर्ह्यपि ते व्यवसायो मिथ्यैव स्यात् । यतः प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति प्रकृति-
स्त्रिगुणमयी प्रकृतिस्त्वा रजोगुणरूपेण परिणता सती रजःप्रधानक्षत्रियजातानुरूपं त्वां युद्धे प्रवर्त-
यिष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

म० टी०—त्वं च—यदिति । अहङ्कारं धार्मिकोऽहं क्रूरं कर्म न करिष्यामीति मिथ्याभिमानमाश्रित्य न
योत्स्ये युद्धं न करिष्यामीति मन्यसे यत् मिथ्या निष्फल एष व्यवसायो निश्चयस्ते, तव यस्मात्प्रकृतिः क्षत्र-
जात्यारम्भको रजोगुणस्वभावस्त्वां नियोक्ष्यति प्रेरयिष्यति युद्धे ॥ ५९ ॥

शं० टी०—तथापि नाहं योत्स्य इति चेन्न तव संकल्पो व्यर्थ एव भविष्यति । स्वभावादपि कर्म कर्त-
व्यमेव स्यादिति स्वयमपि सांख्यमतावष्टम्भेन कर्मणोऽवश्यकर्तव्यतां प्रतिपादयति—यदिति । दोषवत्कर्म
न कर्तव्यमेवेत्यहंकारमविवेककृतं पाण्डित्याभिमानमाश्रित्य "ये युध्यन्ते प्रधनेषु" इति वेदोक्तं धर्ममविज्ञाया-
वैदिकमताश्रयेण न योत्स्य इति यदि मन्यसे, स एष ते तव व्यवसायो निश्चयः शास्त्रविरुद्धो मिथ्याकाश-
गमनेच्छावन्निरर्थक एव भवति । कथं मे संकल्पो निरर्थक इत्यत आह—प्रकृतिरिति । तेजःशौर्यधैर्यदक्ष-
स्वाभिमानादिगुणोत्पत्तिहेतुः क्षत्रत्वयोनिः रजोगुणमयी प्रकृतिः क्षत्रियस्वभावस्त्वामस्वतन्त्रमस्वाधीनं
नियोक्ष्यत्यधिक्षेपासहिष्णुत्वलक्षणं गुणमुत्पाद्य युद्धं कारयिष्यतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

श्री० टी०—कामं विनङ्क्ष्यामि, न तु बन्धुभिर्युद्धं करिष्यामीति चेत्तत्राह—यदिति । मदुक्तमनादृत्य
केवलमहंकारमवलम्ब्य युद्धं न करिष्यामीति त्वं यन्मन्यसे अध्यवस्यसि, एष ते व्यवसायो मिथ्यैव अस्व-
तन्त्रत्वात्तव । तदेवाह—प्रकृतिस्त्वां रजोगुणरूपेण परिणता सती नियोक्ष्यति युद्धे प्रवर्तयिष्यत्येव ॥ ५९ ॥

स० टी०—धार्मिकोऽहं न च क्रूरं कर्म हिंसादिलक्षणम् ॥ करिष्यामीति मिथ्याभिमानमाश्रित्य केव-
लम् ॥ १ ॥ युद्धं नैव करिष्यामीत्येवं त्वं यदि मन्यसे ॥ एष ते निश्चयो मिथ्या निष्फलः सर्वथा यतः
॥ २ ॥ रजोगुणस्वभावस्त्वां क्षत्रियत्वनिबन्धनः ॥ अत्यन्तधार्मिकं क्रूरे प्रेरयिष्यति संगरे ॥ ३ ॥ अतो
मिथ्याभहं त्यक्त्वा मद्वचः शरणं कुरु ॥ ४ ॥ ५९ ॥

भा० टी०—स्वतन्त्रोऽहं परोक्तं न करिष्यामीति त्वया न मन्तव्यं, परतन्त्रत्वात् तवेत्याशयेनाह—
यदिति । यचेत्त्वमहंकारं मिथ्याभिमानमाश्रित्य न योत्स्ये युद्धं न करिष्यामीति मन्यसे निश्चयं करोषि,
एष ते व्यवसायोऽहं स्वतन्त्रोऽनर्थहेतुभूतं युद्धं न करिष्यामीति निश्चयो मिथ्याभ्रममूलको निष्फलः,
यतः प्रकृतिः क्षत्रियस्वभावस्त्वां क्षत्रियं नियोक्ष्यति बलात्कारेण युद्धे प्रेरयिष्यति ॥ ५९ ॥

प० टी०—कामं विनङ्क्ष्यामि न तु बन्धुभिः संयोत्स्य इति चेदित्याह—यदिति । यद्यपि मदुक्तमनादृ-
त्य केवलमहंकारमवलम्ब्य युद्धं न करिष्यामीति मन्यसे, तर्ह्यपि व्यवसायश्चित्तोद्वेगो मिथ्या निरर्थक एव ।
यतः प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति प्रवर्तयिष्यत्येव । तस्या अपि मदधीनत्वादिति भावः ॥ ५९ ॥

रा० टी०—मदुक्ताकरणमशक्यं च तवेत्याह—यदिति । मिथ्यैव वृथैव ते निश्चयः । कुतः ? प्रकृति-
रिति । ईश्वरेच्छा त्वां नियोक्ष्यति प्रेरयति ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ॥
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥

न० टी०—तदेवोपपादयति—स्वभावजेनेति । हे कौन्तेय ! यत्स्वधर्मभूतं युद्धाख्यं नियतं कर्म मोहात्कर्तुं नेच्छसि—तत्स्वभावजेन स्वभावः पूर्वकर्मनिबन्धनसत्त्वादिगुणवृत्तिरूपः; तस्माज्जातेन राजसेन क्षत्रियत्वप्रयोजकेन पूर्वोक्तेन शौर्याख्येन स्वेन कर्मणा निबद्धो यन्त्रितः अवशोऽपि शत्रूणामवाच्यवादानसहमानस्त्वं स्वयमेव करिष्यसि ॥ ६० ॥

म० टी०—प्रकृतिं विवृणोति—स्वभावजेनेति । स्वभावजेन पूर्वोक्तक्षत्रियस्वभावजेन शौर्यादिना स्वेनानागन्तुकेन कर्मणा निबद्धो वशीकृतस्त्वं हे कौन्तेय! यद्बन्धुवधादिनिमित्तं युद्धं मोहात् स्वतन्त्रोऽहं यथेच्छामि तथा संपादयिष्यामीति भ्रमात् कर्तुं नेच्छसि, तदवशोऽपि अनिच्छन्नपि स्वाभाविककर्मपरतन्त्रः परमेश्वरपरतन्त्रश्च करिष्यस्येव ॥ ६० ॥

शं० टी०—अहं करोमि नाहं करोमीति चाभिमानी बद्ध एव भवति, न तु मुक्तः, अमुक्तस्याखिलकर्मत्यागासंभवात् । अतः स्वाभाविकेन कर्मणा निबद्धस्य तव कर्मत्यागः कर्तुं न शक्यते । यदविवेकात्त्यक्तुमिच्छसि तदेव प्रकृतिवशो भूत्वा करिष्यसि । ततः प्रकृतिबद्धस्य प्राप्तं कर्म कर्तव्यमेवेत्याशयेनाह—स्वभावेति । जन्मान्तरीयपुण्यापुण्यकर्मसंस्कारो वर्तमानजन्मनि प्रवृत्तिनिवृत्तिसुखदुःखादिसिद्धिहेतुः स्वभाव इत्युच्यते प्रकृतिगुणविशेषः । तस्माज्जायत इति स्वभावजं तेन, स्वाभाविकेन स्वेन स्वकीयेन क्षात्रेण 'शौर्यं तेजो धृतिः' इत्युक्तेन कर्मणा निबद्धः संश्लिष्टस्त्वं मोहाद्युद्धादेः स्वधर्मत्वाज्ञानाद्यत्स्वजातितः प्राप्तं कर्म कर्तुं नेच्छसि ममेदं न कर्तव्यमिति त्यक्तुमिच्छसि, तदेव कर्म अवशः स्वप्रकृतेर्वशो भूत्वा करिष्यस्येवास्वतन्त्रत्वात्प्रकृत्या बलात्कारेण चोदितः सन्करोष्येव न तु त्यक्तुं शक्नोषि । अतः कर्तव्यत्वेन प्राप्तं स्वीयं शास्त्रीयं कर्म विदुषाऽवश्यं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ ६० ॥

श्री० टी०—किंच—स्वभावजेनेति । स्वभावः क्षत्रियत्वे हेतुः पूर्वकर्मसंस्कारस्तस्माज्जातेन स्वकीयेन कर्मणा शौर्यादिना पूर्वोक्तेन निबद्धो यन्त्रितस्त्वं मोहाद्यत्कर्म युद्धलक्षणं कर्तुं नेच्छसि अवशोऽपि तत्कर्म करिष्यस्येव ॥ ६० ॥

स० टी०—प्रकृतिं विवृणोतीशः सर्वतोऽपि बलीयसीम् ॥ यस्माच्छौर्यादिना स्वेन यथोक्तेनात्मकर्मणा ॥ १ ॥ वशीकृतस्त्वं कौन्तेय क्षत्रियत्वैकहेतुना ॥ यद्युद्धं बन्धुहिंसादिनिमित्तमविवेकतः ॥ २ ॥ स्वतन्त्रोऽहं यथेच्छामि करिष्यामि तथेति च ॥ भ्रमान्नेच्छसि कर्तुं त्वमनिच्छन्नपि कर्म तत् ॥ ३ ॥ स्वभावपरतन्त्रः सन्नीश्वराधीन एव च ॥ करिष्यस्येव तस्मात्त्वं मा कार्षीराग्रहं वृथा ॥४॥ त्यक्त्वाऽऽग्रहं कृष्णपदारविन्दभक्तिं पुरस्कृत्य सदा स्वकर्म ॥ कुर्वञ्जनो नैति पराभवं श्रीमुकुन्दधामेति न संशयोऽत्र ॥५॥६०॥

भा० टी०—प्रकृतिपारतन्त्र्यं विशदयति—स्वभावजेनेति । स्वभावजेन शौर्यादिना यथोक्तेन स्वेन स्वकीयेन कर्मणा निबद्धः निश्चयेन बद्धः यन्मोहादविवेकात्कर्तुं नेच्छसि, तदवशोऽपि परवश एव करिष्यसि । यस्माचैवं तस्मात्कुन्तीपुत्रस्य क्षत्रियशिरोमणेरस्मत्संबन्धिनस्तव युद्धवैमुख्यं नोचितमिति सूचयन्संबोधयति—हे कौन्तेयेति ॥ ६० ॥

प० टी०—किं च—स्वभावजेनेति । स्वभावः क्षत्रियत्वप्रापकः पूर्वकर्मसंस्कारस्तस्माज्जातेन स्वकीयेन कर्मणा शौर्यादिना पूर्वोक्तेन निबद्धो नियन्त्रितः सन् यदि—मोहादित्युपलक्षणं—कर्म कर्तुं नेच्छसि तथाप्यवशः सन् कर्म करिष्यस्येव—'शास्त्रसंस्कारपरंपरापरिणतं प्रायो मन प्राणिना कस्तस्य प्रकृतिं निरस्य

सहजां कर्तान्यथा स्यान्नरः। दौर्गन्ध्यं लशुनादिकस्य सहजं यत्नात्समुत्सारयन् सौरभ्यं वितनोति कः सुरभिता कर्पूरमुख्यस्य वा' इति। तदेवं सांख्यमीमांसकादिमतेन प्रकृतिपारतन्त्र्यं स्वभावपारतन्त्र्यं च निरूप्य युद्धानादरो निषिद्धः॥ ६०॥

रा० टी०—ईश्वरेच्छाया जीवनियमे निमित्तत्वादिकं दर्शयन्नुक्तं विवृणोति—स्वभावजेनेति। स्वभावः संस्कारस्तज्जातेन स्वेन कर्मणा निबद्धः। हे कौन्तेय यत्कर्म मोहाद्बन्धुस्नेहमोहात्कर्तुं नेच्छसि, तत्कर्मावशोऽपि स्वानधीनोऽपि भगवदिच्छाधीनोऽपि सन्करिष्यसि॥ ६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति॥
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ ६१॥

त० टी०—तदेवं सांख्यमतानुकूलं प्रकृतिपारतन्त्र्यं स्वभावाधीनं च कर्मकर्तृत्वमुक्तम्। इदानीम् "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः, एतदक्षरस्य प्रशासने गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इत्यादिश्रुतिनिर्णीतं सर्वस्य प्राणिनः परमेश्वराधीनत्वमाह—ईश्वर इति। ईश्वरः सर्वचेतनाचेतननियमनशीलो भगवान्वासुदेवः सर्वभूतानां हृद्देशे हे अर्जुन! तिष्ठति। किं कुर्वन्? सर्वभूतानि मायया निजशक्त्या भ्रामयन् तत्तदनादिबीजभूतकर्मानुसारेण शुभाशुभकर्मसु प्रवर्तयन्। कथंभूतानि? यन्त्रारूढानि प्रकृतिपरिणामदेहेन्द्रियरूपं यन्त्रमारूढान्यारोपितानि यथा दारुमययन्त्रमारूढानि कृत्रिमाणि पक्षिमृगादिभूतानि सूत्रबद्धानि सूत्रधारो लोके भ्रामयति तद्वदित्यर्थः॥ ६१॥

म० टी०—स्वभावाधीनतामुक्त्वेश्वराधीनतां विवृणोति—ईश्वर इति। ईश्वर ईशनशीलो नारायणः सर्वान्तर्यामी 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति'। 'यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' इत्यादिश्रुतिसिद्धः सर्वभूतानां सर्वेषां प्राणिनां हृद्देशेऽन्तःकरणे तिष्ठति सर्वव्यापकोऽपि तत्राभिव्यज्यते सप्तद्वीपाधिपतिरिव राम उत्तरकोसलेषु। हेऽर्जुन हे शुक्ल शुद्धान्तःकरण, एतादृशमीश्वरं त्वं ज्ञातुं योग्योऽसीति द्योत्यते। किं कुर्वन्तिष्ठति भ्रामयन् इतस्ततश्चालयन् सर्वभूतानि परतन्त्राणि मायया छद्मना यन्त्रारूढानीव सूत्रसंचारादियन्त्रमारूढानि दारुनिर्मितपुरुषादीन्यत्यन्तपरतन्त्राणि यथा मायावी भ्रामयति तद्वदित्यर्थशेषः॥ ६१॥

श्रीं० टी०—प्रकृत्यधीनस्य स्वातन्त्र्याभावात् स्वाभाविकं कर्म त्यक्तुं न शक्यते। किंतु कर्तव्यमेवेत्युक्त्वाऽधुनेश्वराधीनस्य कर्म त्यक्तुं न शक्यं, तत्प्रेरणया प्राप्तं कर्म कर्तव्यमेवेति कर्मणोऽवश्यं कर्तव्यत्वं बोधयितुमाह—ईश्वर इति। ईश्वरः ईशनशीलः सर्वलोकनियन्ता परमेश्वरः सूत्रधारी यन्त्रारूढानि दारुमयप्रतिमा यथा तथा सर्वभूतानि ब्रह्मादिस्तम्बान्तानि वासनात्मिकया मायया विक्षेपशक्त्या भ्रामयन् स्वस्वकर्मसु प्रवर्तयन् हृद्देशे हृदये बुद्धिगुहाया तिष्ठति। यद्वा "एष एव साधु कर्म कारयति यम्" इति "यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति" इति श्रवणाद्यन्त्रारूढानि यन्त्राणि शरीराणि तेष्वात्मत्वाभिमानेनाधिष्ठितानि भूतानि प्राणिनो भ्रामयन् तत्तत्कर्मसु प्रवर्तयन् ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति, अतस्तत्प्रेरणया प्राप्तं कर्म तत्परतन्त्रस्य त्यक्तुं न शक्यते। ततो 'यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' इति मुमुक्षोः कर्तव्यतया प्राप्तं कर्मावश्यं करणीयमित्यर्थः॥ ६१॥

श्री० टी०—तदेवं श्लोकद्वयेन सांख्यादिमतेन प्रकृतिपारतन्त्र्यं स्वभावपारतन्त्र्यं कर्मपारतन्त्र्यं चोक्तम्। इदानीं स्वमतमाह—ईश्वर इतिद्वाभ्याम् । सर्वभूतानां हृदयमध्ये ईश्वरोऽन्तर्यामी तिष्ठति । किं कुर्वन्? सर्वाणि भूतानि मायया निजशक्त्या भ्रामयन् तत्तत्कर्मसु प्रवर्तयन् यथा दारुयन्त्रमारूढानि कृत्रिमाणि भूतानि सूत्रधारो लोके भ्रामयति तद्वत् । यद्वा यन्त्राणि शरीराणि आरूढानि भूतानि देहाभिमानिनो जीवान् भ्रामयन्नित्यर्थः । तथाच श्वेताश्वतराणां मन्त्रः—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" इति । अन्तर्यामिब्राह्मणं च "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यादि ॥६१॥

म० टी०—स्वभावाधीनतामुक्त्वेश्वराधीनत्वमुच्यते ॥ हरिरीशनशीलो यो नाराणपदाभिधः ॥ १ ॥ सर्वान्तर्यामिता यस्य प्रसिद्धा बहुधा श्रुतौ ॥ तिष्ठन्पृथिव्यां यस्तस्या आन्तरो यं न वेद सा ॥ २ ॥ यस्य पृथ्वी शरीरं यस्तामन्तर्यमयत्यजः ॥ यच्च किंचिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ॥ ३ ॥ अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥ इत्यादिश्रुतिवाक्यानि सन्ति श्रीपरमेश्वरे ॥ ४ ॥ स सर्वव्यापकोऽपीशः सर्वेषां प्राणिनां विभुः ॥ अन्तःकरणदेशेऽतिनिर्मले तिष्ठतीत्यसौ ॥ ५ ॥ सार्वभौमो यथा रामो महाराजो रघूत्तमः ॥ उत्तराकोसलायां वै तिष्ठतीति तथैव च ॥ ६ ॥ व्यापकोऽपि परेशानो ह्यभिव्यज्यते विभुः ॥ शुद्धान्तःकरणत्वात्त्वमीदृशं परमेश्वरम् ॥ ७ ॥ ज्ञातुं योग्य इति स्पष्टं सूच्यतेऽर्जुनशब्दतः ॥ किं कुर्वंस्तिष्ठतीशान इत्यत्राह स्वयं विभुः ॥ ८ ॥ भ्रामयंश्चालयन्सर्वभूतानीश इवस्ततः ॥ दारुनिर्मितपुत्रादीन्यवशानि यथा नरः ॥ ९ ॥ यन्त्रारूढानि मायावी भ्रमयंस्तिष्ठतीतरः ॥ मायया छद्मना तद्वत्सर्वभूतानि सर्वतः ॥ १० ॥ स यन्त्राधिष्ठितानीव भ्रामयंस्तिष्ठतीश्वरः ॥ यद्वा मायामयं यन्त्रं शरीरादित्रयं जडम् ॥ ११ ॥ तत्रारूढाभिमानेन प्राणिजातं हि तिष्ठति ॥ तत्सर्वं भगवानीशो मायया भ्रामयन्न जगत् ॥ १२ ॥ तिष्ठतीति स्वतन्त्रः सन्निर्लेपो निरुपद्रवः ॥ तदुक्तं सर्वविद्यानां पारगैरपि योगिभिः ॥ १३ ॥ देहादिपञ्जरं यन्त्रं तदारोहोऽभिमानता ॥ विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत् ॥ १४ ॥ अविद्याकामकर्मादिसामग्री सकला जडा ॥ जीवोऽप्यज्ञतया भ्रान्त्या परतन्त्रो जडानुगः ॥ १५ ॥ न किंचित्कर्तुमस्त्यस्य सामर्थ्यं न स्वतन्त्रतः ॥ अतः श्रीभगवानेवात्र सर्वकर्महेश्वरः ॥ १६ ॥ समस्तं स्ववशे कृत्वा लोकं लोकेश्वरैः सह ॥ मायया भ्रामयन्स्वामी तिष्ठति प्राणिनां हृदि ॥ १७ ॥ समस्तानुपपत्तीनां परिहाराय सर्वथा ॥ माययेति स्वयं प्रोक्तं श्रीमद्भगवतेत्यपि ॥ १८ ॥ हृदि गतममलाभादिलाभं सर्वलाभं रविशशिनयनाभं श्याममेघोज्ज्वलाभम् ॥ श्रुतिविषयरसाभं पद्मनाभं सुनाभं सकलमुनिनताभं नौमि कृष्णं रमाभम् ॥ १९ ॥ समस्तलोककर्तारं गोप्तारं सर्वदेहिनाम् ॥ सर्वविश्वनियन्तारं मुकुन्दं हृदिगं श्रये ॥ २० ॥ ६१ ॥

भा० टी०—स्वभावपारतन्त्र्यमुक्त्वेदानीमन्तर्यामिपारतन्त्र्यमाह—ईश्वर इति । ईश्वरः ईशनशीलः नारायणः सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां हृद्देशे तिष्ठति, सर्वत्र स्थितोऽपि हृदयेऽभिव्यक्ततया तिष्ठति "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" इतिश्रुतौ अर्जुनशब्दस्य शुक्लशब्दपर्यायतया प्रयोगदर्शनात् शुद्धान्तरात्मस्वभावो विशुद्धान्तःकरणोऽर्जुनस्त्वं संबोधयन्नर्जुनस्य तवाविवेकेन नियन्तव्यं स्वस्वातन्त्र्याध्यारोपणं नोचितं, किंतु ईश्वरप्रेरितः सर्वं करोमीति परिज्ञानमिति सूचयति । किं कुर्वन् तिष्ठतीत्याकाङ्क्षायामाह—भ्रामयन् भ्रमणं कारयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि यन्त्राण्यारूढान्यधिष्ठितानीव यथा मायावी दारुकृतपुरुषादीनि यन्त्रारूढानि मायया छद्मना भ्रामयंस्तिष्ठति, तद्वदीश्वरो यन्त्रसदृशशरीरारूढानि भूतानीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

प० टी०—इदानीं मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरमिति स्वमतमुद्दिश्य स्वाश्रयवर्तित्वं चाह—

ईश्वर इति । भो अर्जुन ! सर्वभूतानां हृद्देशे ईश्वरोऽन्तर्यामित्वेन तिष्ठति । किं कुर्वन् ? सर्वभूतानि जीवान्
यन्त्राणि शरीराण्यारूढान्यधिष्ठितानि मायया स्वशक्त्या भ्रामयन् संनिधिमात्रेण व्यापारयन्, न तु स्वयमि-
त्यर्थः । श्रुतिरपि कण्वशाखारण्यके "यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य
वित्तमेव पञ्चदश कला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवाऽऽच पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा
प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीयत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनाऽगादित्याहुः" इति । भाष्यम्—य इति पूर्वोक्तः
संवत्सरः कालरूपः षोडशकलः प्रजापतिरयमपि तन्निदिध्यासनात्तद्रूप एव । पूर्वोक्त एवंवित्पुरुषः सोऽपि
षोडशकलः प्रजापतिस्तस्य वित्तं पञ्चपञ्चसूक्ष्मभूतेन्द्रियप्राणात्मकं लिङ्गदेहं ता एव पञ्चदशकला आत्मै-
वास्य षोडशी कला स प्रागुक्तेन वित्तेन पूर्यतेऽपक्षीयते च—प्रवृत्तिमार्गेण पूर्यते, निवृत्तिमार्गेणापक्षीयते च
उपरमं प्राप्नोति, तदा षोडशी कलाऽवशिष्टा भवति । तत्र तदेतन्नभ्यं नाभौ भवं नाभ्यम् । अत्र छान्दसः प्रयोगो
नभ्यमिति । यद्वा मध्यप्रदेशोपस्थितं स्थिरं वस्तु विवक्षितम् । तेन नभसि हृदयाकाशेऽवस्थितं नभ्यम् ।
तत्किम् ? यदयमात्मा "अजस्य नाभावध्येकमर्पितम्" इति श्रुतेः । अयमर्थः—यथा कुलालचक्रस्य मध्यछिद्रे
स्थितः कीलकश्चक्रचलनेऽपि न चलति तदेव नभ्यं, तथा वित्तं प्राङ्निरूपितलिङ्गदेहं प्रधिः चक्रपरिधिवद्बाह्य-
परिधिस्थानीयम् । तस्माद्वित्ताद्यद्यपि सर्वज्यानिं सर्वस्वहानिं जीयते प्राप्नोति, तथाप्यात्मना चेत्संपद्यते तदा
जीवति जीवन्मुक्तो भवति । अथ प्रधिना शरीरेण चेत्संपद्यते तदागाद् गमनागमनं करोति ॥ ६१ ॥
नन्वीश्वरेच्छायाः प्रवर्तकत्वे ईश्वरः प्रवर्तको नेतिशङ्कामीश्वरस्वरूपं दर्शयन्परिहरति—ईश्वर
रा० टी०—यन्त्राणि शरीराणि तदारूढानि तत्रस्थानि भूतानि प्राणिनः मायया स्वरूप-
इति । ईश्वरः यन्त्रारूढानि यन्त्राणि शरीराणि तदारूढानि तत्रस्थानि भूतानि प्राणिनः मायया स्वरूप-
भूतेच्छया भ्रामयन्नानाकर्मसु प्रवर्तयन्सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति ॥ ६१ ॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ! ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥

म० टी०—नन्वेवं चेत्तर्हि मायायास्तत्प्रयोजकस्य च नित्यत्वात्कस्यापि कदाऽपि संसारनिवृ-
त्तिर्न स्यात्कथं मोक्षाशेति चेत्तत्राह—तमेवेति । सर्वभूतानां भ्रामको मायाया अपि नियन्ता वात्स-
ल्यकारुण्यसौहार्दादिगुणपारवश्येन त्वत्सारथ्यमङ्गीकृत्य त्वद्धितं चिकीर्षुस्त्वत्प्रत्यासिता, तमेव सर्व-
भावेन सर्वात्मना शरणं गच्छ, तदुक्तं सर्वं निर्मायिकत्वेन कुरुष्व । हे भारतेति संबोधनेन भरत-
वंश्येन त्वया सर्वशत्रुनिग्रहेण स्वकीर्तिख्यापनमुचितमिति सूचितम् । तस्मान्मदुक्तप्रकारेण युद्धाख्यं
स्वधर्मं कुर्वन् तत्प्रसादात्तस्य ममानुग्रहात् परां शान्तिं निःशेषाऽविद्यानिवृत्तिपूर्वकपरमानन्दरूपां
भगवद्भावापत्तिं शाश्वतं प्रकृतिकालकर्मसंबन्धशून्यं नित्यैकरसं स्थानं परमपदविष्णुपदादिशब्दा-
भिधेयं धाम प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥
चेत्प्राप्तं विधिप्रतिषेधशास्त्रस्य सर्वस्य पुरुषकारस्य
म० टी०—ईश्वरः सर्वभूतानि परतन्त्राणि प्रेरयति सर्वभावेन सर्वात्मना
चानर्थक्यमित्यत आह—तमेवेति।तमेवेश्वरं शरणमाश्रयं संसारसमुद्रोत्तरणार्थं गच्छाऽऽश्रय सर्वभावेन सर्वात्मना
मनसा वाचा कर्मणा च हे भारत ! तत्प्रसादात्तस्यैवेश्वरस्यानुग्रहात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तात् परां शान्तिं
सकार्याविद्यानिवृत्तिं स्थानमद्वितीयस्वप्रकाशपरमानन्दरूपेणावस्थानं शाश्वतं नित्यं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥
शं० टी०—आरुरुक्षोश्चित्तशुद्धये कर्मैव कर्तव्यमिति निर्धारयितुमेवं नयेन भयेन च कर्मणः कर्तव्यत्व-
मेव संपाद्याधुना तस्यैव मोक्षैककामस्य तदेकशरणतया स्वकर्मणा तदाराधनं कुर्वतस्तत्प्रसादाज्ज्ञानं मोक्षश्च
सिध्यत्यतस्तत्प्रीत्यै कर्म कुर्वन् तमेव शरणं व्रजेत्याह—तमेवेति । हे भारत ! स्वकर्मणा तदाराधनपरो

भूत्वा त्वं सर्वभावेन नारायण एवेदं सर्वमिति सर्वात्मभावः सर्वभावस्तेन सर्वभावेन सर्वत्र परमेश्वरत्वबुद्धया सर्वात्मानं तमेव परमेश्वरं शरणं गच्छ 'संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगत्प्रभो' इति संसारदुःखनिवृत्त्यै तमेवाश्रय, तदेकशरणो भूत्वा तत्प्रसादात्तस्यैवेश्वरस्य प्रसादादनुग्रहात्समुत्पन्नात्मविज्ञानात्परां द्वयालम्बनरहितत्वात्प्रकृष्टां परमानन्दानुभूतिहेतुत्वाद्वा परां शान्तिं मृत्युपरतिं सर्वत्र समदृष्टिं वा प्राप्स्यसि, शाश्वतं नित्यं सर्वदा चिदानन्दैकरसरूपेणाविक्रियात्मना तिष्ठतीति स्थानं स्वस्वरूपं कूटस्थासङ्गचिदात्मकं परं ब्रह्म प्राप्स्यसि, विदेहमुक्तिमुच्चं गमिष्यसीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

श्री० टी०—तमिति । यस्मादेवं सर्वे जीवाः परमेश्वरपरतन्त्रास्तस्मादहंकारं परित्यज्य सर्वभावेन सर्वात्मना तमीश्वरमेव शरणं गच्छ । ततस्तस्यैव प्रसादात्परमामुपशान्तिं स्थानं च पारमेश्वरं शाश्वतं नित्यं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

स० टी०—ईश्वरः सर्वभूतानि परतन्त्राणि मायया ॥ प्रेरयत्येव चेत्प्रासमानर्थक्यं श्रुतेः स्मृतेः ॥ १ ॥ विध्याद्विप्रतिपादिन्याः पौरुषस्य तथैव च ॥ इत्यत्राह तमेवेशं शरणं गच्छ सर्वथा ॥ २ ॥ संसारजलधेः पारोत्तरणार्थं तमाश्रय ॥ मनसा कर्मणा वाचा सर्वभावेन भारत ॥ ३ ॥ तस्येश्वरस्य श्रीविष्णोः कल्याणगुणवारिधेः ॥ अनुग्रहात्परब्रह्मज्ञानोत्पत्त्यवधेः पराम् ॥ ४ ॥ सकार्याज्ञानबाधाख्यां शान्तिं स्थानं परं पदम् ॥ स्वप्रकाशपरानन्दात्मनावस्थानमक्षरम् ॥ ५ ॥ नित्यकूटस्थमद्वैतं निर्मलं प्राप्स्यसि स्वयम् ॥ अतो विध्यादिशास्त्रस्य पौरुषस्य च सर्वथा ॥ ६ ॥ इत्येव हि सार्थक्यं यदीशशरणं व्रजेत् ॥ न ह्यावज्ञ्यात्कश्चित्किंचित्प्राप्नोतीह फलं नरः ॥ ७ ॥ ईश्वरानुग्रहादेव सर्वं सर्वस्य जायते ॥ ईश्वरानुग्रहे तस्माद्यतितव्यं मुमुक्षुभिः ॥ ८ ॥ यथा प्रसन्नो भगवान्परयेदेदं कटाक्षतः ॥ सर्ववेदेषु शास्त्रेषु पुराणे भारते तथा ॥ ९ ॥ सर्वं विहाय कर्तव्यमिदमेव सुनिश्चितम् ॥ वासुदेवैकशरणः सर्वं प्राप्नोति शोभनम् ॥ १० ॥ अतस्तमेव शरणं गच्छेत्याह रमापतिः ॥ ११ ॥ ईशत्वेन हरिं भजस्व निगमप्रोक्तेन मार्गेण भो दासं तस्य समाश्रयस्व सुमनोभक्त्या भयेनादरात् ॥ सख्यं सौहृदमाश्रयस्व नृहरेः प्रेम्णा गुरुत्वेन च ह्यात्मानं प्रकटीकरोति भजतामेवं स बुद्धौ हरिः ॥ १२ ॥ ६२ ॥

भा० टी०—यस्मादीश्वर एव तत्तत्कर्मफलप्रदाता भ्रामयति तस्मात्तमेव ईश्वरं शरणमाश्रयं संसारार्तिहरणार्थं सर्वभावेन सर्वात्मना मनसा वाचा कर्मणा च गच्छ आश्रय । हे भारतेति संबोधयन् उत्तमवंशोद्भवत्वं योग्योऽसीति द्योतयति । तत्प्रसादात्तस्य सम्यगाराधितस्येश्वरस्य प्रसादादनुग्रहात् परां प्रकृष्टां शान्तिमविद्योपशमरूपां सर्वानर्थनिवृत्तिस्थानं च मुक्तास्तिष्ठन्ति यस्मिन्निति स्थानं मम विष्णोः परमं पदं शाश्वतं सदैकरसमवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

प० टी०—एवमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतेस्तदनुरूपसंस्काराणां वा ईश्वराधीनत्वात्सर्वत्र स एव शरणमिति ज्ञात्वा मदुक्तमनुसरेत्याह—तमेवेति । तमेव मामीश्वरमन्तर्यामिणं सर्वभावेन सर्वात्मना शरणं व्रज । तत्प्रसादात्परामुत्कृष्टां शान्तिं निर्वृतिं शाश्वतं नित्यं स्थानं च प्राप्स्यसि । तदुक्तम्—'स्थूलं वपुः परिचिरान्तरमस्य सूक्ष्मं देवालयं तदिह देवपतिः परात्मा । तत्पूजनोपकरणान्यखिलेन्द्रियाणि कृत्वा तमेव शरणं व्रज जीव नान्यम् ॥' इति ॥ ६२ ॥

रा० टी०—यस्मादेवमीश्वर एव स्वतन्त्रः जीवास्तदधीनास्तस्मादहंकारमुत्सृज्य तमेवेश्वरं सर्वभावेन सर्वप्रकारेण शरणं गच्छ याहि । मा शरणं याहीति वक्तव्ये ईश्वरस्तिष्ठतीति तं शरणं याहीति परोक्षनिर्देशः कृष्णस्यैश्वर्यत्वनिश्चयार्थत्वाभिप्रायेण 'निश्चयार्थः स तु ज्ञेयो यत्रात्मैव परोक्षवत् । उच्यते' इति

स्मृतेः। तत्प्रसादादीश्वरप्रसादात्परां शान्तिं बुद्धेर्भगवन्निष्ठतां, शाश्वतं स्थानं वैकुण्ठादिलोकं प्राप्स्यसीति। 'वैकुण्ठादिस्थानस्य शाश्वतत्त्वं च चित्प्रकृत्यात्मकत्वात्। 'अंशेन लोकरूपेण विष्णोस्तिष्ठति' इत्यादेः ॥६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ॥
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

त० टी०—इदानीं प्रसादं दर्शयितुमुपदेशमुपसंहरन्नुपदिष्टार्थं स्तौति—इतीति। इत्येवमुक्तप्रकारेण ते तुभ्यं हितैषिणा परमकारुणिकेन मया मुमुक्षूपादेयं ज्ञानमाख्यातमुपदिष्टम्। कथंभूतम्? गुह्याद्गुह्यतरं कर्मज्ञानभक्तियोगविषयमतिरहस्यमेतन्मदुपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषेण विमृश्य पर्यालोच्य तदनन्तरं स्वाधिकारानुरूपं यथेच्छसि तथा कुरु। कर्मज्ञानभक्तिषु यदेकं हिततरं मन्यसे तदेवानुतिष्ठेत्यर्थः ॥६३॥

म० टी०—सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह—इतीति। इति अनेन प्रकारेण ते तुभ्यमत्यन्तप्रियाय ज्ञानमात्ममात्रविषयमोक्षसाधनं गुह्याद्गुह्यतरं परमरहस्यादपि संन्यासान्तात् कर्मयोगाद्रहस्यतरं तत्फलभूतत्वात् आख्यातं समन्तात् कथितं मया सर्वज्ञेन परमाप्तेन। अतो विमृश्य पर्यालोच्य एतन्मयोपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषं सामस्त्येन सर्वैकवाक्यतया ज्ञात्वा स्वाधिकारानुरूपेण यथेच्छसि तथा कुरु, न त्वेतदविमृश्यैव कामकारेण यत्किंचिदित्यर्थः। अत्र चैतावदुक्तम्—अशुद्धान्तःकरणस्य मुमुक्षोर्मोक्षसाधनज्ञानोत्पत्तियोग्यताप्रतिबन्धकपापक्षयार्थं फलाभिसंधिपरित्यागेन भगवदर्पणबुद्ध्या वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानं, ततः शुद्धान्तःकरणस्य विविदिषोत्पत्तौ गुरुमुपसृत्य ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यविचाराय ब्राह्मणस्य सर्वकर्मसंन्यासः, ततो भगवदेकशरणतया विविक्तदेशसेवादि ज्ञानसाधनाभ्यासाच्छ्रवणमनननिदिध्यासनैरात्मसाक्षात्कारोत्पत्त्या मोक्ष इति। क्षत्रियादेस्तु संन्यासानधिकारिणो मुमुक्षोरन्तःकरणशुद्ध्यनन्तरमपि भगवदाज्ञापालनाय लोकसंग्रहाय च यथाकथंचित्कर्माणि कुर्वन्तोऽपि भगवदेकशरणतया पूर्वजन्मकृतसंन्यासादिपरिपाकाद्वा हिरण्यगर्भन्यायेन तदनपेक्षणाद्वा भगवदनुग्रहमात्रेणैव तत्त्वज्ञानोत्पत्त्याऽग्रिमजन्मनि ब्राह्मणजन्मलाभेन संन्यासादिपूर्वकज्ञानोत्पत्त्या वा मोक्ष इति। एवं विचारिते च नास्ति मोहावकाश इति भावः ॥ ६३ ॥

वं० टी०—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्यारभ्य 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे' इत्यन्तेन कर्मभिः समाराधितेश्वरप्रसादाच्चित्तशुद्धिस्ततो ज्ञानं ततो मोक्ष इत्युक्तमेवार्थं दृढीकर्तुं पुनः संक्षेपेणोपन्यस्येदानीमुपक्रान्तं शास्त्रमुपसंहरति—इतीति। 'नत्वेवाहं जातु नासम्' इत्यारभ्य 'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्' इत्येतदन्तं ज्ञानं ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानोत्पत्तिकारणमेतद्गीताशास्त्रं गुह्याद्गोपनीयान्मणिमन्त्रादेरणिमादिसिद्धिहेतोरपि प्रयत्नेन संवरणीयत्वाद्गुह्यतरं परमरहस्यं ज्ञानशास्त्रं मुमुक्षवे शुद्धात्मने शरणं गताय ते तुभ्यं मया सर्वज्ञेन परमकारुणिकेनावाप्तसर्वकामेनेश्वरेणाख्यातं ज्ञानतत्सिद्धिसाधनप्रकाशकं मोक्षशास्त्रं समग्रमुपदिष्टम्। ज्ञानस्य तत्साधनसंपत्तेश्च बोधकमेतद्गीताशास्त्रं पदवाक्यप्रमाणनिपुणस्त्वमशेषेण सर्वमवमृश्य साधनं साध्यं तत्सिद्धिप्रकारं स्वाधिकारं च सम्यगालोच्य, सत्त्वशुद्धेरभावे साधने कर्मणि, तत्सद्भावे सत्यात्मविज्ञाननिष्ठायां च स्वस्य योग्यत्वं निश्चित्य यथेच्छसि यथा कर्तुमिच्छसि तथा कुरु तथा वर्तस्व। स्वतृप्तिवत्स्वाधिकारस्य स्वज्ञेयत्वात्परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वाच्च स्वाधिकारं स्वयमेव निश्चित्य कर्मणि ज्ञाने वा यत्राधिकारस्तत्र तिष्ठेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

श्री० टी०—सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह—इतीति। इति अनेन प्रकारेण ते तुभ्यं सर्वज्ञेन परमकारुणिकेन मया ज्ञानमाख्यातमुपदिष्टम्। कथंभूतम्? गुह्यात् गोप्याद्रहस्यमन्त्रयोगादिज्ञानादपि गुह्यतरम्। एतन्मयोपदिष्टं गीताशास्त्रमशेषतो विमृश्य पर्यालोच्य पश्चाद्यथेच्छसि तथा कुरु। एतस्मिन्पर्यालोचिते सति तव मोहो निवर्तिष्यत इति भावः ॥ ६३ ॥

स० टी०–इदानीं सर्वगीतार्थमाहेदमुपसंहरन् ॥ इत्यनेन प्रकारेण तुभ्यं प्रेमास्पदाय च ॥ १ ॥ ज्ञानमात्मैक्यविषयं मोक्षसाधनमान्तरम् ॥ यदेवात्यन्तसङ्गोप्यादपि गोप्यतरं महत् ॥ २ ॥ कर्मसंन्यासपर्यन्तात्कर्मयोगादपीरितात् ॥ रहस्यतरमत्वीदं तत्फलत्वादनुत्तमम् ॥ ३ ॥ सर्वज्ञेनेश्वरेणाप्तवमेनागमहेतुना ॥ आसमन्तान्मया साक्षात्कथितं परमेष्ठिना ॥ ४ ॥ एतन्मयोपदिष्टं त्वं गीताशास्त्रमशेषतः ॥ पर्यालोच्य धिया शुद्धया साकल्येन विवेकतः ॥ ५ ॥ एकतात्पर्यतया ज्ञात्वा स्वाधिकारानुरूपतः ॥ श्रेयोमार्गं विनिश्चित्य यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६ ॥ एवदुक्तं भवत्यत्र गीताशास्त्रार्थसंग्रहे ॥ नरस्याशुद्धचित्तस्य मुमुक्षोर्मोक्षसाधनम् ॥ ७ ॥ कर्मयोगो यथाशास्त्रं फलासक्त्यादिवर्जितः ॥ ईशार्पणधिया सम्यक्कृतः सत्त्वविशुद्धिकृत् ॥ ८ ॥ ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ॥ कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥ ९ ॥ इति स्मृत्या तथा श्रुत्या तमेतमितिवाक्यतः ॥ निष्कामः कर्मयोगोऽसौ प्रथमं साधनं मतम् ॥१०॥ ततः शुद्धधियः सम्यग्वैराग्यादियुतस्य च ॥ सम्यग्विविदिषोत्पत्त्या चाचार्यमुपसृत्य च ॥११॥ ज्ञानसाधनवेदान्तवाक्यविचाराय शास्त्रतः ॥ समस्तकर्मसंन्यासो ब्राह्मणस्य विधीयते ॥ १२ ॥ ततः कृष्णैकशरणतया पूर्वोक्तसाधनैः ॥ अमानित्वादिभिर्नित्यं श्रवणादिपरस्य च ॥ १३ ॥ ब्रह्मात्मैक्यावबोधस्य साक्षात्कारस्य सन्मतेः ॥ प्रादुर्भावेन मोक्षोऽस्ति सिद्ध इत्येव निर्णयः ॥ १४ ॥ क्षत्रियादेस्तु संन्यासानधिकारितया तथा ॥ मुमुक्षोश्चेतसः शुद्धौ जातायां तदनन्तरम् ॥ १५ ॥ ईशाज्ञापालनार्थं च लोकसंग्रहसिद्धये ॥ यथाकथंचित्कर्माणि कुर्वतोऽपि विरागिणः ॥ १६ ॥ कृष्णैकशरणत्वेन पूर्वजन्मकृतादपि ॥ संन्यासादेः परब्रह्मज्ञानं कृष्णप्रसादतः ॥ १७ ॥ जायते येन सिद्धः स्यान्मोक्षस्तस्येति निर्णयः ॥ एवं विचारिते शास्त्रे पौर्वापर्यानुरोधतः ॥ १८ ॥ नास्ति मोहावकाशोऽणुमात्रमित्याशयो हरेः ॥ १९ ॥ सकलनिगमसारं मोक्षदानेऽत्युदारं भ्रमतिमिरविदारं संसृतिव्रीडः कुठारम् ॥ दृढमतिसविहारं ब्रह्मविद्याविहारं निखिलगुणविचारं नौमि लक्ष्म्येकदारम् ॥ २० ॥ ६३ ॥

भा० टी०–शास्त्रमुपसंहर्तुमिच्छन्नाह–इतीति । इत्येतत्ते तुभ्यं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं गीताशास्त्रं गुह्यात् गोप्यात् गुह्यतरमतिशयेन गोप्यं रहस्यं मया सर्वज्ञेनाप्ततमेन शास्त्रयोनिना आख्यातं कथितम् । एतद्यथोक्तशास्त्रमशेषेण समस्तं विमृश्य विमर्शनमालोचनं कृत्वा यथेच्छसि तथा कुरु, तदेतत्साकल्येनाविमृश्यैवेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

प० टी०–अथ सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह–इतीति । इत्येवं प्रकारेण ते तुभ्यं मया करुणार्णवेन ज्ञानमात्मविवेकरूपमाख्यातम् । किंभूतम् ? गुह्यान्मन्त्रादिरहस्यादपि गुह्यं गोप्यतमम् । एतदशेषेण पूर्वापरवाक्यानुसंधानपूर्वकं विमृश्य विचार्य यथेच्छसि मोक्षमार्गमपेक्षसे तथैवोक्तमुपायं कुरु ॥ ६३ ॥

रा० टी०–एवं भगवानर्जुनस्यातिगोप्यं तत्त्वमुपदिश्य तदनुवादपूर्वं तूष्णीं स्थितमर्जुनमाक्षिपति–इतीति । गुह्याद्गुह्यतरमतिगोप्यमिति प्रागुक्तप्रकारेण ज्ञानं ज्ञेयं तुभ्यं मया आख्यातम् । एतदशेषेण विमृश्य विचार्य यथेच्छसि तथा कुर्वित्याक्षेपः ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ॥
इष्टोऽसि मे दृढमतिस्ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥

त० टी०–अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्याशेषेण विमर्शनक्लेशपरिहाराय स्वयमेव कृपया तत्सारं संगृह्य ग्राहयितुं दृढीकरोति–सर्वगुह्यतममिति । पूर्वं गुह्यतरमुक्तमिदानीं तस्मादन्येभ्योऽपि गुह्यतरेभ्यो गुह्यतममतिरहस्यं परमं प्रकृष्टं मे वचः भूयस्तत्र तत्रोक्तमपि त्वदनुग्रहार्थं पुनर्वक्ष्यमाणं

शृणु । नन्वतिरहस्यं कुतः कथयसि । तत्राह—यतस्त्वं मे ममेष्टः प्रियोऽसि दृढमतिर्विश्वासयुक्तस्ततस्ते हितं वक्ष्यामि ॥ ६४ ॥

म० टी०—अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्याशेषतः पर्यालोचनक्लेशनिवृत्तये कृपया स्वयमेव तस्य सारं संक्षिप्य कथयति—सर्वेति । पूर्वं हि गुह्यात् कर्मयोगात् गुह्यतरं ज्ञानमाख्यातम्, अधुना तु कर्मयोगात्तत्फलभूतज्ञानाच्च सर्वस्मादतिशयेन गुह्यं रहस्यं गुह्यतमं परमं सर्वतः प्रकृष्टं मे मम वचो वाक्यं भूयः तत्र तत्रोक्तमपि त्वदनुग्रहार्थं पुनर्वक्ष्यमाणं शृणु । न लाभपूजाख्यात्याद्यर्थं त्वां ब्रवीमि । किं तु इष्टः प्रियोसि मे मम दृढमतिशयेन इति यतस्ततस्तेनेष्टत्वेन वक्ष्यामि कथयिष्याम्यपृष्टोऽपि सन्नहं ते तव हितं परमं श्रेयः ॥ ६४ ॥

श्री० टी०—एवमारुरुक्षोरारूढस्य च कर्तव्यांशं निर्धार्य ज्ञानतत्फलसिद्धेश्चित्तशुद्धिरेवासाधारणकारणं, चित्तशुद्धौ सिद्धायां ज्ञानसिद्धिः सुलभतरा, तदभावे ज्ञानं ज्ञाननिष्ठा संन्यासश्च न फलति, साधनदार्ढ्यैनैव भवितव्यमतश्चित्तशुद्धये कर्मैवारुरुक्षोरीश्वरार्पणबुद्ध्या सम्यक्कर्तव्यमिति दृढतरमुपदेष्टुमुपदेष्टव्यं स्तौति मुमुक्षोः श्रद्धयाऽत्रैव प्रवृत्तिसिद्धये—सर्वेति । सर्वाणि यानि गुह्यानि गोप्यान्यणिमादिसिद्धिसाधनानि मन्त्रौषधादीनि तेभ्यो मोक्षसुखैकसाधनत्वेन गुह्यतरं ज्ञानतत्सिद्धेः कारणत्वादीश्वरैकशरणत्वेन कर्माचरणं गुह्यतममत्यन्तरहस्यं तद्बोधकं मम वचनमपि सर्वगुह्यतममेव । किंच परमं परमपुरुषार्थसाधनत्वात्परमुत्कृष्टं मे मम वचो वचनं 'मत्कर्मपरमो भव' इति 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इति तत्र तत्रोक्तमपि भूयः पुनरपि दार्ढ्यायोच्यमानं शृणु, श्रद्धया श्रुत्वा तत्परो भवेत्यर्थः । नन्वस्य वचनस्य सर्वगुह्यतमत्वे कथमुपदेश उपयुज्यत इत्यत आह—इष्ट इति । यतः पितुः पुत्रवत् त्वं सर्वशरणत्वान्मे ममेष्टः प्रियोऽसि ततस्तस्मादेव हेतोस्ते तव इत्येवं वक्ष्यमाणलक्षणं दृढं फलाव्यभिचारि पूर्वोक्तमपि दृढं यथा तथा हितं हितसाधनं वक्ष्याम्युपदेक्ष्यामि शृणुहीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

श्री० टी०—अतिगम्भीरं गीताशास्त्रमशेषतः पर्यालोचयितुमशक्नुवतः कृपया स्वयमेव तस्य सारं संगृह्य कथयति—सर्वगुह्यतममिति त्रिभिः । सर्वेभ्योऽपि गुह्येभ्यो गुह्यतमं मे वचः तत्र तत्रोक्तमपि भूयः पुनरपि वक्ष्यमाणं शृणु । पुनः पुनः कथने हेतुमाह—दृढमत्यन्तं मे मम त्वमिष्टः प्रियोऽसीति मत्वा । तत एवंहेतोस्ते हितं वक्ष्यामि । यद्वा त्वं ममेष्टोऽसि, मया वक्ष्यमाणं च दृढं सर्वप्रमाणोपेतमिति निश्चित्य ततस्ते वक्ष्यामीत्यर्थः । दृढमतिरिति केचित्पठन्ति ॥ ६४ ॥

स० टी०—अतिगम्भीरभावस्य गीताशास्त्रस्य सर्वतः ॥ पूर्वापरपरामर्शबुद्धिक्लेशनिवृत्तये ॥ १ ॥ कृपया स्वयमेवेशः सारं संक्षिप्य तस्य च ॥ कथयत्यात्मसिद्धान्तं भगवान्करुणानिधिः ॥ २ ॥ कर्मयोगात्पुरा गुह्याज्ज्ञानं गुह्यतरं स्मृतम् ॥ इदानीं कर्मयोगाच्च तत्फलात्तत्त्वबोधतः ॥ ३ ॥ सर्वस्मादपि संगोप्याद्रहस्यमतिदुर्लभम् ॥ प्रकृष्टं सर्वतो वाक्यं ममात्मेश्वरस्य च ॥ ४ ॥ तत्र तत्रोक्तमप्येतत्पुनस्त्वे प्रीतिकाम्यया ॥ वक्ष्यमाणं शृणु त्वं भोः किमर्थं ते ब्रवीम्यहम् ॥ ५ ॥ न लाभपूजाख्यात्यादिसिद्धये किंतु मे हरेः ॥ प्रियोऽस्यतिशयेनेति यस्मात्तेनैव हेतुना ॥ ६ ॥ कथयिष्याम्यपृष्टोऽपि श्रेयस्ते परमं ह्यहम् ॥ ७ ॥ भक्तिर्हरौ प्रेमघनातिदुर्लभा न गुह्यसिद्धान्त इतःपरं नृणाम् ॥ आश्रित्य तां मोक्षपदं करे स्थितं न तां विना श्रेय उपैति कश्चन ॥ ८ ॥ ६४ ॥

भा० टी०—अतिगम्भीरस्य गीताशास्त्रस्य पौर्वापर्येण विमर्शनद्वारा प्रतिपत्तुमसमर्थं प्रति स्वयमेव करुणानिधिः श्रीभगवान्वासुदेवस्तस्य सारं संगृह्य कथयति, तथा भूयोऽपि मयोच्यमानं सर्वगुह्यतमं सर्वगुह्येभ्योऽत्यन्तरहस्यमुक्तमप्यसकृत् भूयः पुनः मे मम परमं प्रकृष्टं वचो वाक्यं शृणु । यत्तु पूर्वं गुह्यात्कर्मयोगात् गुह्यतरं ज्ञानमाख्यातम्, अधुना तु कर्मयोगात् तत्फलभूतज्ञानयोगाच्च सर्वस्मादतिशयेन गुह्यतममिति

तु नादर्तव्यम् । पूर्वस्मिञ्श्लोके ज्ञानं करणव्युत्पत्त्या गीताशास्त्रपरमिति व्याख्यातत्वात् । 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे' इत्यादौ ज्ञानस्य गुह्यतमत्वाभिधानायाऽत्र ज्ञानादपि गुह्यतममन्यदित्यभिधानस्यानुचितत्वाच्च । किमर्थं पुनः पुनः श्रावयसीति चेत्, न भयाच्चाप्यर्थकारणाद्वा वक्ष्यामि, किं तु दृढमव्यभिचारेणास्यत्वं मे मम इष्टः प्रियोऽसि ततस्तस्मात्कारणाद्वक्ष्यामि कथयिष्यामि ते तव हितं परं ज्ञानप्राप्तिसाधनं, तद्धि सर्वहितानां हिततमम् ॥ ६४ ॥

प० टी०—अथोक्तप्रकारेणोपायं कर्तुमशक्तमर्जुनं प्रति परमकारुणिकः परमात्मा संक्षेपेण सर्वगीतार्थसारं वक्तुमुपक्रमते—सर्वगुह्यतममिति त्रिभिः । सर्वेभ्योऽपि परमं गुह्यतमं वक्ष्यमाणं मे वचः शृणु । न त्वसंगोपासीनस्य परमात्मनस्तव मयि कथमेतावाननुग्रहोऽनुपन्न इत्याह—इष्ट इति । यतस्त्वं दृढमतिर्दृढसंकल्प इति मे इष्टोऽभीष्टः संगतोऽसि ततस्तेन कारणेन ते हितमुपकारं वक्ष्यामि ॥ ६४ ॥

रा० टी०—तत्त्वसारमुपसंहृत्य साधनसारकथनमुपसंहर्तुं प्रतिजानीते—सर्वेति । चतुर्दशाद्यौ साधनसारस्योक्तत्वात्पुनः इत्युक्तम् । पुनरित्यर्थः । सर्वसाधनेषु गोप्यतमं मे परमं वचः शृणु मे इष्टोऽसि । दृढमिति निश्चय. । ततस्ते हितं वक्ष्यामि उपसंहाररूपेण कथयिष्यामीत्यर्थः ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥

त० टी०—तदेवाह—मन्मना भवेति । मयि भगवति पुरुषोत्तमे चेतसः शुभाश्रये मनो यस्य स मन्मनास्तथा भव, पराभक्तिलक्षणं सर्वदा मद्ध्यानं कुर्वित्यर्थः । तत्साधनमाह—मद्भक्तो भवेति । मद्भक्तिं कुर्वित्यर्थः । सा च भगवदर्था क्रियैव । "स्वरूपे विहिता शास्त्रे हरिमुद्दिश्य या क्रिया । सैव भक्तिरिति प्रोक्ता यया भक्तिः परा भवेत्" इति वचनात् । तामेवोपदिशति—मद्याजीति । द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा इत्यादिनोक्तैः पञ्चयज्ञैः अभिगमनोपादानेज्यास्वाध्याययोगैः पञ्चकालोक्तमद्भजनैर्वा मत्पूजनशीलो भवेत्यर्थः । तत्र द्रव्ययज्ञो विभवे सति सर्वसमृद्धिमदुपचारैर्मदाराधनं, निष्किंचनानां यथाशक्ति पत्रपुष्पफलादिभिर्यथोपलब्धैरविभीत्या भगवदाराधनं, तपोयज्ञश्च स्वधर्मक्षुत्पिपासाशीतोष्णादिसहनं, योगयज्ञश्च यमनियमासनादिनियमपूर्वकसगर्भप्राणायामैश्चेतसो जयाभ्यासः, स्वाध्याययज्ञश्च यथाधिकारमुपनिषद्गीतासहस्रनामादिस्तोत्रपाठरूपः, ज्ञानयज्ञश्च श्रुताधीतोपनिषद्गीतार्थस्य मननकथनरूपः । अथ कृतस्य यजनस्य वैगुण्यपरिहारार्थमाह—मां नमस्कुरु । मां सर्वेश्वरं सर्वशक्तिं वात्सल्यकारुण्यादिगुणार्णवं नियमेन नित्यमष्टाङ्गैः प्रणमेत्यर्थः । एतत्साधनभक्तेः फलमुक्तं विष्णुधर्मे "अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः समाचरेत् । नासौ तत्फलमाप्नोति मद्भक्त्या यदवाप्नुयात्" इति । एवं पञ्चविधमदाराधनेन निरन्तरध्याननिष्ठो भूत्वा मत्साक्षात्कारेण ब्रह्मरुद्रादिभिर्दुराराध्यं परमप्राप्यं परमानन्दघनं मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि, एतत्सत्यं न प्रलम्भनमिति ते तुभ्य प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि । यतस्त्वं मे प्रियोऽसि, प्रियस्य प्रलम्भनमनुचितमिति भावः । अत एव महाभारते ध्यानस्यैव परमश्रेयोहेतुत्वं श्रीव्यासेन निर्णीतम् "आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः । इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा" इति । मोक्षधर्मे मेधाविनाऽपि तथैव निश्चितं "सोऽहं त्वहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधविवर्जितः । जितेन्द्रियः शमी भूत्वा मृत्युं जेष्याम्यमर्त्यवत् । अन्तर्बहिश्च यत् किंचिन्मनोव्यासङ्गकारणम् । तत्सर्वं संपरित्यज्य ध्यानेऽभ्यस्येन्मनः सदा । मनसश्चेन्द्रियाणां च कृत्वैकाग्र्यं समाधितः । यावत्स्थास्यामि नियतो यावत्संक्षयमागतम् ।

विमुक्तविषयासङ्गं सन्निरुध्य मनो हृदि । यदा यात्युन्मनीभावं तदा निर्वाणमृच्छति । कामक्रो-
धभयेनेह तमसाऽऽवृतचेतसः । पिशुनाश्च कृतघ्नाश्च नास्तिका भिन्नवृत्तयः । एतन्मूढा न पश्यन्ति
मोक्षद्वारमपावृतम् । अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च । ध्यानयोगस्य माहात्म्यं कलां नार्हन्ति
षोडशीम् " इति । अत एवमुक्ते सर्वगुह्यतमे त्वद्धिते परमे मद्वचसि त्वं सर्वात्मना श्रद्दधानो यथो-
क्तमनुतिष्ठेति भावः ॥ ६५ ॥

म० टी०—तदेवाह—मन्मना इति । मयि भगवति वासुदेवे मनो यस्य स मन्मनाः भव सदा मां
चिन्तय । द्वेषेण कंसशिशुपालादिरपि तथाऽत आह—मद्भक्तः प्रेम्णा मय्यनुरक्तः, मद्विषयेणानुरागेण सदा
मद्विषयं मनः कुर्विति विधीयते । त्वद्विषयोऽनुराग एव केन स्यादित्यत आह—मद्याजी मां यष्टुं पूजयितुं
शीलं यस्य स सदा मत्पूजापरो भव । पूजोपकरणाभावे तु मां नमस्कुरु—कायेन वाचा मनसा च प्रह्वी-
भवनेनाराधय । इदं चार्चनं वन्दनं चान्येषामपि भागवतधर्माणामुपलक्षणम् । तथा चोक्तं श्रीभागवते
'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसाऽर्पिता
विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा । क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥' इति । एतच्च भक्तिरसायने
व्याख्यातं विस्तरेण । एवं सदा भागवतधर्मानुष्ठानेन मय्यनुरागोत्पत्त्या मन्मनाः सन् मां भगवन्तं
वासुदेवमेव एष्यसि प्राप्स्यसि वेदान्तवाक्यजनितेन मद्बोधेन । त्वं चात्र संशयं मा कार्षीः, सत्यं यथार्थं
ते तुभ्यं प्रतिजाने—सत्यामेव प्रतिज्ञां करोम्यस्मिन्नर्थे । यतः । प्रियोऽसि मे, प्रियस्य प्रतारणा नोचितैवेति
भावः । सत्यन्ते प्रारब्धकर्मणामन्ते सति मामेष्यसीति वा । अनुवादापेक्षया विश्वासदार्ढ्यप्रयोजनं प्रथमं
व्याख्यानमेव श्रेयः । अनेन यत्पूर्वमुक्तं 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य
सिद्धिं विन्दति मानवः' इति तद्व्याख्यातं मच्छब्देनेश्वरत्वप्रकटनात् ॥ ६९ ॥

शं० टी०—वक्ष्यामीति यत्प्रतिज्ञातं तमेव गुह्यतमं भागवतं कर्मयोगं साङ्गमुपदिशति—मन्मना इति ।
मद्याजी मद्यजनशीलो भव, मन्मनाः मय्येव मनो यस्य स मन्मना मच्चित्तो भव, मद्भक्तः मामेव भजतीति
मद्भक्तो मद्भजनो भव, मां नमस्कुरु नमस्कारमपि मह्यमेव कुरु । यद्वा मद्याजी वेदोक्तैरेव स्वकर्मभिरौपा-
सनाद्यश्वमेधान्तैर्मामेव परमेश्वरं यष्टुमाराधयितुं शीलमस्यास्तीति मद्याजी भव, स्वकर्मभिर्मामेव यज मत्प्री-
तये सर्वाणि कर्माणि कुर्वित्यर्थः । पुत्रादिकामनयैव परमेश्वरस्याराधनं कृतवतः परमपुरुषार्थासंभवात्कामरा-
हित्येन भवितव्यमित्याशयेनाह—मन्मना इति । मयि मोक्षस्वरूप एव मनो यस्य स मन्मना मोक्षैककामो
भव, न तु पुत्रकामः पशुकामो राष्ट्रकामः स्वर्गकामो मल्लोककामश्च भवेत्यर्थः । स्वकर्मभिः परमेश्वरमेवारा-
धयतः क्रतुष्वग्नये स्वाहेत्यग्न्यादिषु देवतान्तरत्वबुद्धौ सत्यां परमेश्वरभक्तिर्विच्छिद्यते, ततः सर्वत्र मद्बुद्धिः
कर्तव्येत्याशयेनाह—मद्भक्त इति । 'ब्रह्मा नारायणः शिवश्च नारायणः' इति 'तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु
चन्द्रमाः' इति परमेश्वरस्यैव सर्वदेवतात्मकत्वश्रवणात्सर्वदेवतात्मकं मामेकमेव भजतीति मद्भक्तो भव—वह्न्या-
दिषु सर्वत्र मद्बुद्ध्या सर्वात्मकं मामेकमेव भजेत्यर्थः । फलेषु कामत्यागेनाग्न्यादिष्वीश्वरत्वबुद्ध्या च
रागद्वेषादिदोषा न संभवन्ति । तथाप्यहं ब्राह्मणो याजी पण्डित इत्याद्यभिमानलक्षणं कालुष्यं चित्तप्रसत्ति-
प्रतिबन्धकं त्वस्ति तन्निवर्तयितुमाह—मामिति । 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति' 'वासुदेवः सर्वम्'
इति न्यायेन देहाभिमाननिवृत्तये सर्वभूतात्मकं मां सर्वत्र नमस्कुरु न तु केवलदारुपाषाणादिरूप-
मित्यर्थः । एवं साधनसंपत्त्या स्वकर्मणा मदाराधनतत्परस्त्वं मत्प्रसादाच्चित्तशुद्धिं प्राप्य संप्राप्तात्मतत्त्ववि-
ज्ञानः सन् मामेव त्रिविधपरिच्छेदशून्यं सच्चिदानन्दैकरसं परं ब्रह्मैष्यसि मद्भावं प्राप्स्यसि । सत्यं ब्रवीमि
नात्र संदेहः कर्तव्यः । ते तवाहमस्मिन्नर्थे प्रतिजाने प्रमाणं करोमि, यस्मान्मे मम त्वमुत्तमभक्त्या प्रियोऽसि,

तस्मात्तव मद्भावापत्तौ संशयो नास्तीति प्रतिज्ञां करोमीत्यर्थः। श्रद्धाभक्तिभ्यां स्वकर्मभिर्मदाराधनमेव कुर्वाणो निरुक्तसाधनसंपन्नो मुमुक्षुः सत्त्वशुद्धिसंभावितात्मविज्ञानेन मद्भावं याति, नास्त्यत्र संशय इति भगवति प्रतिज्ञां कृतवति सति कस्य ब्राह्मणस्य प्रामाणिकस्य योनिबीजशुद्धिमतो विश्वासो न स्यात्? अत आरुरुक्षोर्मोक्षैककामस्याकामनयेश्वरप्रीत्यै कर्मैवावश्यं कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥ ६५ ॥

श्री० टी०—तदेवाह—मन्मना इति। मन्मना भव, मच्चित्तो भव, ममैव भक्तो भव। मद्याजी मद्यजनशीलो भव। मामेव नमस्कुरु। एवं वर्तमानस्त्वं मत्प्रसादाल्लब्धज्ञानेन मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि। अत्र च संशयं मा कार्षीः। त्वं हि मे प्रियोऽसि, अतः सत्यं यथा भवत्येवं तुभ्यमहं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि ॥ ६५ ॥

स० टी०—तदेवाह कृपासिन्धुः स्वभक्तायार्जुनाय च ॥ वासुदेवे भगवति मयि यस्य मनः स च ॥ १ ॥ सदा मां चिन्तयात्यर्थं मद्भक्तो भव सर्वदा ॥ प्रेम्णा मय्यनुरक्तः सन्मद्विषयं मनः कुरु ॥ २ ॥ मामेव श्रीपतिं यष्टुं शीलं यस्य तथा भव ॥ मय्येवात्यनुरागेण मत्पूजातत्परो भव ॥ ३ ॥ पूजोपकरणाभावे मामेव त्वं नमस्कुरु ॥ कायेन मनसा वाचा प्रह्वीभावेन मां भज ॥ ४ ॥ एवं च भगवद्धर्मानुष्ठानेन मयीश्वरे ॥ अनुरागोद्भवेनैव भवेद्भागवतोत्तमः ॥ ५ ॥ एवं भागवतो भूत्वा भगवन्तं स मां हरिम् ॥ प्राप्स्यसि श्रुतिगीर्जन्यबोधेनात्मानमद्वयम् ॥ ६ ॥ त्वमत्र संशयं दुष्टं मा कार्षीर्मद्वचस्यतः ॥ सत्यामेव प्रतिज्ञां ते ह्यस्मिन्नर्थे करोम्यहम् ॥ ७ ॥ यतः प्रियोऽसि मे तस्मात्त्व प्रियस्य प्रतारणा ॥ उचितातोऽविश्वासं मदुक्तेऽर्थे सदा कुरु ॥ ८ ॥ यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ॥ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ९ ॥ इत्यत्रोक्तस्य यच्छब्दप्रतिपाद्यस्य वस्तुनः ॥ मच्छब्देनात्र कथनं कृतं भगवता स्वयम् ॥ १० ॥ स एव भगवान्कृष्णो वासुदेवाभिधो विभुः ॥ अर्च्यो ध्येयस्तथा ज्ञेयः शरण्य इति निश्चितम् ॥ ११ ॥ नातः परतरं किंचिच्छ्रेयःसाधनमिष्यते ॥ समस्तेषु च वेदेषु पुराणादिषु वा स्मृतौ ॥ १२ ॥ ६५ ॥

भा० टी०—किं तदित्यपेक्षायामाह—मन्मना इति। मन्मना मयि भगवति वासुदेवे मनो यस्य स मच्चित्तो भव—सर्वदा मामेव चिन्तय। मद्भक्तो मच्छ्रवणकीर्तनादिमद्भजनो भव। मद्याजी मद्यजनशीलो भव। मां नमस्कुरु नमस्कारमपि मामेव कुरु। तत्रैवं वर्तमानो मयि वासुदेवे एव समर्पितसाध्यसाधनप्रयोजनो मामेवैष्यसि आगमिष्यसि मदभेदज्ञानं प्राप्स्यसि। अस्मिन्नर्थे सत्यं ते तव प्रतिजाने सत्यां प्रतिज्ञां करोमि, यतः प्रियोऽसि मे। तथा च मम भगवतः सत्यप्रतिज्ञत्वं बुद्ध्वा मद्भक्तेरवश्यंभावि मत्प्राप्तिफलत्वमवधार्य मच्छरणैकपरायणो भवेति वाक्यार्थः ॥ ६५ ॥

प० टी०—तत्किमित्याह—मन्मना इति। यदान्तर्दृष्टिर्भवसि तदा मन्मना अहमेव मनसि यस्यासौ मन्मना न विषयान्तरम्। चित्तभित्तौ चित्रन्यस्तमिव मां कुर्वित्यर्थः। बाह्यदृष्टौ भक्तो भव नवप्रकारभक्तियुक्तो भव। कर्माणि क्रियमाणे मद्याजी मद्यजनशीलो भव। तत्र कर्माङ्गदेवतास्वन्तर्यामित्वेन स्थितं मामेव नमस्कुरु। अनेनोपायेन मामेवैष्यसि प्राप्स्यसीति न प्ररोचनामात्रं, किं तु सत्यं यथा तथा प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि, यतस्त्वं मद्रूपत्वान्मे प्रियोऽसि परमप्रेमास्पदमसि ॥ ६५ ॥

रा० टी०—तदाह—मन्मना इति। यतो मे प्रियोऽसि, अतो मन्मनस्त्वादिसाधनसारचतुष्टयेन मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि। ते सत्यं प्रतिजाने अवश्यं मत्प्राप्तिर्भवतीति प्रतिज्ञां करोमि, नात्र संदेहः कार्य इति भावः ॥ ६५ ॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ॥
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

त० टी०–एवं भगवदुपदिष्टे सर्वशास्त्रगुह्यतमसिद्धान्ते सर्वात्मना स्वानन्यभजने श्रद्दधानमपि धर्मविन्मन्वादिमहर्षिविहितयज्ञदानतपःस्वाध्यायाग्निहोत्रमहायज्ञाद्यनुष्ठाने कर्तव्ये यथोक्तं केवलभगवद्भजनं नोपपद्येत तत्परित्यागे च विहितधर्मत्यागजन्यपापापत्तिप्रसङ्गेन भजनभङ्गः स्यात् । किंच "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् । एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च । कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् । पुनः "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" इत्येवमादिवचनैस्तेषामवश्यकर्तव्यतया भगवता स्वयमपीह विहितत्वात् कथं तत्त्यागो युज्येत ? अत्यागे च भगवति मनोनिवेशनपूर्वकं तदेकान्त्यभजनं न स्यादन्यकर्मादौ प्रवृत्तत्वात् । एवं च किं हेयं किमुपादेयमित्यनिश्चयात् संदेहव्याकुलचित्तमर्जुनमालोच्य श्रीभगवान्वासुदेवस्तत्संदेहमपाकुर्वन् स्वस्य निरङ्कुशेश्वरत्वं च ख्यापयन् स्वशरणागतस्य सर्वपापक्षयकर्तृत्वेन स्वप्रपत्तिमेव दृढयति–सर्वधर्मानिति । सर्वान् धर्मान्यज्ञदानतपोऽग्निहोत्रदर्शपौर्णमासादीन्नित्यनैमित्तिकान्साधनाङ्गफलसहितान्परित्यज्य एतैरेव मे श्रेयो भविष्यतीति तेष्वादरं विहाय तदनुष्ठानं कुर्वन्नकुर्वन्वा तत्करणाकरणयोर्गुणदोषबुद्धिमकृत्वेत्यर्थः । मामेकं शरणं व्रज मां निखिलहेयगन्धशून्यं भगवन्तं ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्यवात्सल्यकारुण्यदयासमाद्यनन्तकल्याणगुणार्णवं सर्वनियन्तारं सर्वफलप्रदातारं सच्चिदानन्दमूर्तिमेकमतिशयसाम्यशून्यं ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिवन्द्यं सर्वमुमुक्षूपास्यं शरणं शरण्यं प्राप्यं रक्षकं च विज्ञाय मदानुकूल्यसंकल्पाद्याचरणाध्यवसायेन कर्मदेवादिनिरपेक्षाद्भगवदनुग्रहादेवाहं कृतार्थो भविष्यामीति विश्वासपूर्वकं स्वस्य स्वतन्त्रकर्तृत्वाभिमानं विहाय स्वहिताहितं सर्वं मदधीनं निश्चित्य प्रेमप्रकर्षेण गङ्गाप्रवाहवदनवच्छिन्नचिन्तनेन प्रपद्यस्वेत्यर्थः । न चैवं सर्वधर्मानादरेण मम पापसंबन्धः स्यादिति शङ्कनीयमित्याह–अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामीति । अहं स्वतन्त्रः सर्वेश्वरः स्वभक्तिमार्गसंरक्षणाय स्वीयाराधनधर्मप्रवर्तनाय स्वेच्छयैव भक्तानुग्रहाय यदुकुलेऽवतीर्णः मयि भक्त्यतिशयान्नित्यनैमित्तिककर्मानादरकारिणं मदेकशरणं त्वा सर्वपापेभ्योऽनेकजन्मस्वकृत्यकरणकृत्याकरणजनितानि बहुपापानि इह च मायश्चित्ताद्यकरणात्स्ववर्णाश्रमोचितधर्मानादरणाच्च बन्धुवधादिनिमित्ताच्च जायमानानि प्राक्तनभविष्यद्वर्तमानानि पापानि तेभ्यः सर्वेभ्यो मोक्षयिष्यामि स्वसामर्थ्यादेव । अतो मा शुचः प्रायश्चित्ताकरणात्स्वधर्मानादराद्बन्धुवधाच्च यानि मे पापानि तानि कथं तरिष्यामीति शोकं मा कृथाः । नचैवं "न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते । नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः" इत्यादिस्वधर्माचरणावश्यकत्वप्रतिपादकस्ववचनविरोध इति वाच्यं, यथोक्तभक्तिहीनानां तदधिकारयोग्यतापादनाय तेषां नियतत्वेनाङ्गीकार्यत्वात् । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति श्रुत्या तेषां विविदिषायामेवोपयोगस्य निर्णीतत्वात् जिज्ञासोत्पादनेन तेषामुपक्षीणत्वात् । तथोक्तं श्रीभागवतैकादशे "निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् । जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत् कर्मचोदनाम् । तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ।" इति । अन्यथा "न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः । एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ! ॥ नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥" इति पारमेश्वररूपदर्शनं प्रति यज्ञदानादीनामकिंचित्करत्वमभिधायानन्यभक्तेरेव तद्धेतुत्वकथनपूर्वकं स्वकर्मकर्तुर्निर्वैरस्य स्वम-

क्तस्यैव स्वमाप्त्यभिधायकवाक्यद्वन्द्वविरोधः कथं न शङ्क्यते बुधैः। किंच "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः। तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तं निगच्छति" इत्यन्वयव्यतिरेकवाक्याभ्यां निःशेषदुःखकर्मसंशयनिवृत्तिहेतुत्वेन परमात्मज्ञानस्यैव हेतुत्वाभिधानात्तस्य च पूर्वोक्तानन्यभक्तेरेव हेतुत्वात्। "शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्। न स शक्यः सुरैर्द्रष्टुं न चान्यैरपि सत्तम!। यस्य प्रसादं कुरुते स वै तं द्रष्टुमर्हति" इति श्रुतिस्मृतिभ्यां भगवत्प्रसादस्यैव तद्दर्शनहेतुत्वात्। प्रसादविषयोऽपि तदनन्यभक्त एव। "नास्य भक्तात्प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते। अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज!॥ साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः। नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना॥ श्रियमात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा। न मे प्रियश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः॥ तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम्" इति महाभारतश्रीभागवतरेवाखण्डादिपूक्तभगवद्वचनेभ्यः। तथा धर्मविदग्रेसरेण याज्ञवल्क्येनाप्युक्तम् "इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्। अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणादिवाक्यैर्भगवदनन्यभक्तिरेव परमो धर्म इति सिद्धम्। तस्माद्यथोक्तभक्तिहीनो मत्प्रपत्तिशून्यः यथेष्टाचारेण स्ववर्णाश्रमोचितधर्मत्यागी मदाज्ञाविरुद्धाचरणात् पतितः स्यात्। ननु मदनन्यशरणो मद्भक्त्यावेशाद्यज्ञादिकर्म कुर्वन्नुपेक्षको वा कदाऽपि (न) कथमपि पुरुषार्थैर्हीयते मदनुग्रहात्। तथा मोक्षधर्मे'नारायणीयाख्याने भगवदनन्यशरणस्य प्रपत्त्यैव सर्वपापक्षयपूर्वकं सर्वपुरुषार्थावाप्तिरभिहिता। तथाहि "अनेनैव प्रपन्नस्य भगवन्तं सनातनम्। तस्यानुबन्धाः पाप्मानः सर्वे नश्यन्ति तत्क्षणात्॥ कृतान्यनेन सर्वाणि तपांसि तपतां वर। सर्वतीर्थाः सर्वयज्ञाः सर्वदानानि तत्क्षणात्॥ कृतान्यनेन मोक्षश्च तस्य हस्ते न संशयः। यद्येन कामकामेन संसाध्यं साधनान्तरैः॥ मुमुक्षुणा यत्सांख्येन योगेनापि च भक्तितः। प्राप्यते परमं धाम यतो नावर्तते यतिः॥ तेन तेनाप्यते तत्तन्न्यासेनैव महामुने। परमात्मा च तेनैव साध्यते पुरुषोत्तमः। या वै साधनसंपत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः" इति पुण्डरीकाख्याने च "अश्वमेधशतैरिष्ट्वा वाजपेयशतैरपि। नाप्नुवन्ति च सुगतिं नारायणपराङ्मुखाः। ये नृशंसा दुरात्मानः पापाचाररतास्तथा। तेऽपि यान्ति परं धाम नारायणपदाश्रयाः" इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां भगवदनन्यशरणानामेव परमपदप्राप्त्यभिधानं, न तु केवलयज्ञादिकर्मनिष्ठानामिति निर्णीतम्। अत्र नृशंसत्वादिविशेषणानि प्रपत्तिपूर्वकालानीति बोध्यम्। तथोक्तं सात्वततन्त्रे "दुराचारोऽपि सर्वाशी कृतघ्नो नास्तिकः पुरा। समाश्रयेदादिदेवं श्रद्धया शरणं हि यः। निर्दोषं विद्धि तं जन्तुं प्रभावात्परमात्मनः" इति। अपिशब्देन यद्येवंविधा दुराचारिणोऽपि भगवन्तं प्रपद्य सर्वदोषनिरासेन परं धाम प्राप्नुवन्ति चेत्तर्हि सदाचारनिष्ठा ज्ञानवैराग्ययुक्ता भगवदनन्यशरणास्तदारान्तेतरकर्मापेक्षकास्तत्पदं प्राप्नुयुरिति किमु वक्तव्यमिति कैमुत्यं दर्शितमित्यलं विस्तरेण॥ ६६॥

• म० टी०—अधुना तु 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'। 'तमेव सर्वभावेन शरणं गच्छ' इति यदुक्तं तद्विवृणोति—सर्वेति। केचिद्वर्णधर्माः केचिदाश्रमधर्माः, केचित्सामान्यधर्मा इत्येवं सर्वानपि धर्मान् परित्यज्य विद्यमानानविद्यमानान्वा शरणत्वेनानादृत्य मामीश्वरमेकमद्वितीयं सर्वधर्माणामधिष्ठातारं फलदातारं च शरणं व्रज, धर्माः सन्तु न सन्तु वा किं तैरन्यसापेक्षैः भगवदनुग्रहादेव त्वन्यनिरपेक्षादहं कृतार्थो भविष्यामीति निश्चयेन परमानन्दघनमूर्तिमनन्तं श्रीवासुदेवमेव भगवन्तमनुक्षणभावनया भजस्व, इदमेव

परमं तत्त्वं नातोऽधिकमस्तीति विचारपूर्वकेण प्रेमप्रकर्षेण सर्वानात्मचिन्ताशून्यया मनोवृत्त्या तैलधारा-
वदविच्छिन्नया सततं चिन्तयेत्यर्थः। अत्र मामेकं शरणं व्रजेत्यनेनैव सर्वधर्मशरणतापरित्यागे लब्धे सर्व-
धर्मान् परित्यज्येति निषेधानुवादस्तु तत्कार्यकारितालाभाय यज्ञायज्ञीये साम्नि 'ऐरं कृत्वोद्गेयम्' इत्यत्र
'न गिरा गिरेति ब्रूयात्' इतिवत्। तथाच ममैव सर्वधर्मकार्यकारित्वान्मदेकशरणस्य नास्ति धर्मापेक्षेत्यर्थः।
एतेनेदमपास्तं सर्वधर्मान् परित्यज्येत्युक्ते नाधर्माणां परित्यागो लभ्यते, अतो धर्मपदं कर्ममात्रपरमिति।
नह्यत्र कर्मत्यागो विधीयते अपि तु विद्यमानेऽपि कर्मणि तत्रानादरेण भगवदेकशरणतामात्रं ब्रह्मचारि-
गृहस्थवानप्रस्थभिक्षूणां साधारण्येन विधीयते। तत्र सर्वधर्मान् परित्यज्येति तेषां स्वधर्मादरसंभवेन तन्नि-
वारणार्थम्। अधर्मे चानर्थफले कस्याप्यादराभावात्तत्परित्यागवचनमनर्थकमेव शास्त्रान्तरप्राप्तत्वाच्च। तस्मा-
द्वर्णाश्रमधर्माणामभ्युदयहेतुत्वप्रसिद्धेर्मोक्षहेतुत्वमपि स्यादिति शङ्कानिराकरणार्थमेवैतद्वच इति न्याय्यम्।
नच सर्वधर्माधर्मपरित्यागोऽत्र विधीयते, संन्यासशास्त्रेण प्रतिषेधशास्त्रेण च लब्धत्वादेव। न चेदमपि
संन्यासशास्त्रं, भगवदेकशरणताया विधित्सितत्वात्। तस्मात्सर्वधर्मान् परित्यज्येत्यनुवाद एव। सर्वेषां तु
शास्त्राणां परमं रहस्यमीश्वरशरणतैवेति। तत्रैव शास्त्रपरिसमाप्तिर्भगवता कृता, तामन्तरेण संन्यासस्यापि
स्वफलापर्यवसायित्वात्, अर्जुनं च क्षत्रियं संन्यासानधिकारिणं प्रति संन्यासोपदेशायोगात्। अर्जुनव्याजे-
नान्यस्योपदेशे तु—वक्ष्यामि ते हितं त्वा मोक्षयिष्यामि सर्वपापेभ्यस्त्वं माशुच इति चोपक्रमोपसंहारौ न
स्याताम्, तस्मात्संन्यासधर्मेष्वप्यनादरेण भगवदेकशरणतामात्रे तात्पर्यं भगवतः। यस्मात्त्वं मदेकशरणः सर्व-
धर्मानादरेण अतोऽहं सर्वधर्मकार्यकारि त्वा त्वां सर्वपापेभ्यो बन्धुवधादिनिमित्तेभ्यः संसारहेतुभ्यो मोक्ष-
यिष्यामि प्रायश्चित्तं विनैव 'धर्मेण पापमपनुदति' इति श्रुतेर्धर्मस्थानीयत्वाच्च मम। अतो मा शुचः युद्धे
प्रवृत्तस्य मम बन्धुवधादिनिमित्तप्रत्यवायात् कथं निस्तारः स्यादिति शोकं मा कार्षीः। 'भाष्यकारैर्निर-
स्तानि दुर्मतानीह विस्तरात्। ग्रन्थव्याख्यानमात्रार्थी न तदर्थमहं यते॥ 'तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाह-
मिति त्रिधा। भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः॥ विशेषो वर्णितोऽस्माभिः सर्वो भक्तिरसायने।
ग्रन्थविस्तरभीरुत्वादिङ्मात्रमिह कथ्यते'॥ तत्राद्यं मृदु यथा—'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकी-
नस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥' द्वितीयं मध्यं यथा—'हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि
बलात् कृष्ण किमद्भुतम्। हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥' तृतीयमधिमात्रं यथा—'सकल-
मिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः। इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान्
विहाय दूरात्॥' इति दूतं प्रति यमवचनम्। अम्बरीषप्रह्लादगोपीप्रभृतयश्चास्यां भूमिकायामुदाहर्तव्याः।
अस्मिन् हि गीताशास्त्रे निष्ठात्रयं साध्यसाधनभावापन्नं विवक्षितमुक्तं च बहुधा। तत्र कर्मनिष्ठा सर्वकर्म-
संन्यासपर्यन्तोपसंहृता 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्यत्र। संन्यासपूर्वकश्रवणादिपरि-
पाकसहिता ज्ञाननिष्ठोपसंहृता 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इत्यत्र। भगवद्भक्तिनिष्ठा तूभय-
साधनभूतोभयफलभूता च भवतीत्यन्त उपसंहृता 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इत्यत्र। भाष्य-
कृतस्तु सर्वधर्मान्परित्यज्येति सर्वकर्मसंन्यासानुवादेन मामेकं शरणं व्रजेति ज्ञाननिष्ठोपसंहृतेत्याहुः। भग-
वदभिप्रायवर्णने के वयं वराकाः? वचो यद्गीताख्यं परमपुरुषस्यागमगिरां रहस्यं तद्व्याख्यामनतिनिपुणः
को वितनुताम्। अहं त्वेतद्व्याख्यां यदिह कृतवानस्मि कथमप्यहेतु खेदानां तदपि कुतुकायैव महताम्॥६६॥

शं० टी०—एवमारुरुक्षोर्मोक्षार्थमीश्वरैकशरणत्वेन कर्तव्यः कर्मयोग एवेति निर्णीय त्वारूढस्याविर्भूता-
त्मविज्ञानस्याप्रतिबद्धत्वसिद्धये सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं ज्ञाननिष्ठैव कर्तव्येति निर्धारयितुमाह—सर्वधर्मानिति।
नन्वस्य वचनस्य कर्मप्रकरणान्तःपातित्वात्कर्मपरत्वमेव, न त्वकर्मपरत्वमिति चेन्न। सर्वधर्मानिति सर्वकर्म-

संन्यासश्रवणान्नारुरुक्षोर्मुमुक्षोर्गृहिणः सर्वकर्मसंन्यास उपयुज्यते 'ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्। सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः' इति, 'सर्वकर्मबहिष्कृतः' इति 'तद्विहीनः पतत्येव ह्यालस्यादहितान्यथन्' इति स्मरणात्सर्वकर्मपरित्यागे दुर्वारागत्यपवित्रत्वादिदोषापत्तेः। ननु मामेकं शरणं व्रजेतीश्वरभजनात्मकस्य कर्मणो विहितत्वात्यक्तत्वादुक्तदोषा न संभवन्तीति चेन्न। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्येति स्मरणाच्छ्रामकीदर्शादिलक्षणस्य कर्मणः श्रुतिस्मृतिविहितत्वात्स्वधर्मत्वानुपपत्तेर्विहितत्यागाविहितकरणदोषौ च प्रसज्येयाताम्, श्रेयान्स्वधर्मो विगुण इति विगुणस्यापि स्वधर्मस्य श्रेष्ठत्वस्मरणात्। 'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' इति, कर्मण्येवाधिकारस्त इति, न कर्मणामनारम्भादिति, नहि संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छतीति, तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचरेति, मत्कर्मकृन्मत्परम इति, यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तदिति, उपनयनं वेदाध्ययनं फलवन्ति च कर्माणीति, दारं कृत्वाग्नीनाधाय कर्माण्यारभन्त इति, पाणिग्रहणादिगृह्यं परिचरेत्, इति, उदिते सूर्ये प्रातर्जुहोति, यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादि श्रुतिस्मृतिकोटिभिर्ब्राह्मणादेर्विहितस्यैव कर्मणः स्वधर्मत्वेन कर्तव्यत्वविधानात्। ननु सर्वधर्मान् परित्यज्येत्यत्र लक्षणया सर्वकर्मफलत्याग एवोच्यते, न तु कर्मपरित्यागस्ततः कर्मप्रकरणाद्गत्यन्तराभावादस्य वचनस्येति चेन्न, संबन्धानुपपत्तिभ्यां लक्षणेति न्यायेनाऽत्रार्थानुपपत्त्यभावाल्लक्षणाऽप्रसक्तेः। मुख्यस्य गत्यन्तराभावे खलु लक्षणा, गत्यन्तराभावाभावाल्लक्षणा नात्र प्रसज्यते। कथं गत्यन्तरमिति चेदुच्यते 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ। ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' इति योगिनामारुरुक्षूणां कर्मिणां कर्मयोगेन निष्ठा, सांख्यानामारूढानां संन्यासिनां ब्रह्मविदां ज्ञानयोगेन निष्ठेति निष्ठाद्वयमुपक्रम्य 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' इति कर्मयोगमारभ्य प्रतिजाने प्रियोऽसि मे इत्यन्तेन ग्रन्थेनारुरुक्षोर्नियमेन कर्तव्यतया, कर्मयोगं साङ्गं सफलं च निर्धार्याथ सांख्यानां ब्रह्मविदां सर्वकर्मसंन्यासिनामारूढानां यस्त्वात्मरतिरेव स्यादित्यारभ्य सर्वकर्माणि मनसेति, योगारूढस्य तस्यैवेति, योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित इति, ध्यानयोगपरो नित्यमिति, ब्रह्मभूयाय कल्पत इति, ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमित्यन्तेन ग्रन्थेन सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं नियमेन कर्तव्यतया ज्ञाननिष्ठा सफला निर्धार्यान्ते तामेव निष्ठामुक्तलक्षणां साङ्गां सफलामुपसंहरति—सर्वधर्मेति। यतस्ततो नास्य वचनस्य कर्मप्रकरणान्तःपातित्वं कर्मिपरत्वं च सिध्यति। नन्वारूढस्यापि यतेः सर्वकर्मसंन्यासो न युक्तः, किं तु यत्किंचित् स्मार्तेन कर्मणा भवितव्यमेवेति न शङ्कनीयं, तृतीयाध्याये श्रीभाष्यकृद्भिरेवैषा शङ्का परिहृता तत्र द्रष्टव्या, ग्रन्थविस्तरभयान्नात्र मीमांस्यते। जन्मान्तरानेकशतेषु श्रद्धाभक्तिभ्यां समनुष्ठितैरीश्वरप्रसादैकप्रयोजनैः श्रौतस्मार्तकर्मभिर्निःशेषनिर्धूताशेषपापौघतया विशुद्धान्तःकरणत्वे सम्यग्विज्ञातात्मस्वरूपो भूत्वोत्पन्नज्ञानस्याप्रतिबद्धत्वसिद्धये ज्ञाननिष्ठां कर्तुकामः स्नानादौ प्रयोजनरहितानसद्विषयाभिनिष्ठाप्रतिबन्धकत्वेन दुष्टांश्च सर्वधर्मान् सर्वे च ते धर्माश्च तान् श्रौतानि स्मार्तानि च सर्वाण्यपि च कर्माणि सत्साधनानि परित्यज्य। ननु कर्मणां शास्त्रोक्तानामसद्विषयत्वमप्रयोजनवत्त्वं चानुपपन्नं "ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन" इति यज्ञदानादीनां फलवत्त्वश्रवणात्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्येति कर्मणामीश्वराराधनात्मकत्वादस्त्येव सद्विषयत्वं फलत्वं चेति चेत्सत्यमस्त्येव कर्मणामीश्वराराधनात्मकत्वं चित्तशुद्ध्येकप्रयोजनत्वं च। तथापि तदज्ञविषयं कर्तृत्वादिकारकभेदबुद्धिनिबन्धनत्वान्नात्मैकत्वदर्शिनो विदुषः कर्मोपयुज्यते। ज्ञानकर्मणोः परस्परविरोधिनोः सहभावायोगाच्चित्तशुद्धिं तत्फलं ज्ञानं च प्राप्तवतस्तैः प्रयोजनमपश्यतो ब्रह्मविदस्तत्परित्यागो युक्त एव भवति "सत्यानृते सुखदुःखे वेदानिमं लोकममुं च परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्" इति, "स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्य" इति विदुषः सर्वकर्मपरित्यागश्रवणात्। ननु कर्मणेश्वरः प्रीयते, तत्प्रीत्यै कर्म कर्तव्यमेवेति चेन्न ब्रह्मनिष्ठया परमेश्वरस्य ततोऽधिकतरप्रीत्युत्पत्तेः "जीवेशा-

वाभासेन करोति" इति श्रवणान्ममाभासिकं मायिकमसत्यस्वरूपं परित्यज्य माया तत्कार्यसंबन्धरहितं
नित्यं निरन्तरं निराभासं निष्कलं निष्क्रियं शान्तमनन्तमनाद्यन्तं सच्चिदानन्दैकरसं प्रमाणान्तराबाध्यं परिपू-
र्णमद्वैतं परं ब्रह्म मामेकमेवाद्ययुपास्त इति यथार्थदर्शिनि सत्यवादिनि सत्यनिष्ठे ब्रह्मविदि परमेश्वरस्याधिकत-
रप्रीतिसंभवान्मम वैभवमयं निर्वहतीति यथा राज्ञः शूरतमे तद्वत्। 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम
प्रियः' इत्युक्तत्वात् ब्रह्मविदि परमा प्रीतिः परमेश्वरस्य युक्ता, पितुः पुत्रादौ गुणाधिक्ये प्रीत्याधिक्यं दृश्यते
तद्वत्। ततः सिद्धं परमेश्वरस्य निर्गुणं नित्यममायिकं स्वरूपं प्राप्तुमिच्छया श्रवणमनननिदिध्यासनादावेव
श्रद्धया नियमेन प्रवृत्तेषु सत्यनिष्ठेषु सत्सु मुमुक्षुषु परमा प्रीतिरिति। ननु सर्वधर्मान् परित्यज्येति धर्म-
स्यैव परित्यागो विधीयते, न त्वधर्मस्यातस्तत्र प्रवृत्तिः प्रसक्तैवेति चेन्न। 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इति
पूर्वमेव परित्यक्तस्य कलञ्जभक्षणादेरधर्मस्योत्तरकाले प्रसक्त्यसंभवाद्ब्रह्मचर्य एव परित्यक्तस्य पर्युषिता-
न्नभोजनस्य गार्हस्थ्ये यथा प्रवृत्तिर्न प्रसज्यते तद्वत्तथापि त्यज धर्ममधर्मं चेति, न तेषां धर्माधर्माविति
वचनात्सर्वधर्मपदेनाधर्मोऽपि गृह्यते, ततो धर्ममधर्मं च परित्यज। यद्यपि अर्जुनस्य संन्यासोऽनुपयुक्तस्त-
थापि मुमुक्षुं ब्राह्मणं विषयीकृत्योच्यते सर्वधर्मान्परित्यज्येति ज्ञानकर्मणोस्तमस्तेजसोरिव परस्परप्रति-
योगित्वेनैकाश्रयत्वानुपपत्तिं निर्धार्य भगवता। ततः सर्वधर्मान्परित्यज्य विधिना संन्यस्य मामेकम् "अय-
मात्मा ब्रह्म। तत्त्वमसि" इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मात्मनोरेकत्वप्रतिपादनात् "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" इति, "सर्वं
ह्येतद्ब्रह्म" इत्यादिश्रुतिभिरारोपितस्य जगतोऽपवादपूर्वकं सर्वस्य ब्रह्ममात्रत्वनिरूपणात् "एकमेवाद्वितीयं
ब्रह्म। एक एव हि भूतात्मा। एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः" इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मण एकत्वावधा-
रणादेकं सजातीयविजातीयस्वगतभेदरहितं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमखण्डं चिदे-
करसमद्वितीयं मा परं ब्रह्म शरणं व्रज; सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति प्रत्यग्दृष्ट्याऽनुसंधेहि। साधकस्यैवाभ्यास-
दशायां 'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा' इत्यादिदेशकालह-
ष्टिस्थापनादिनियमः, न तु सर्वमिदमहं च ब्रह्मैवेति प्रत्यग्दृष्ट्या स्वं च सर्वं चारोपितनामरूपाग्रहणपू-
र्वकं ब्रह्मैव पश्यतो ब्रह्मवित्तमस्यातो गच्छन् तिष्ठन्नुपविशन् शयानो वान्यथा वा स्थितः सन् सर्वदा
सर्वत्र मामेकमेव परं ब्रह्मानुसंधेहि। एवं दृष्टं स्पृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातं च सर्वं सर्वदा ब्रह्मैव पश्यन्तं त्वामहं
परमात्मा स्वात्मत्वेन सवितेवाक्षतचक्षुषो रूपवद्बहिरन्तश्च सर्वत्रोपलभ्यमानः सन् सर्वपापेभ्यः—
अत्र पापशब्देन पुण्यपापात्मकानि कर्माणि गृह्यन्ते, तेभ्यः पापेभ्यः पापकार्येभ्यो जन्मजरामृत्युबन्धेभ्यो
मोक्षयिष्यामि जन्मादिबन्धनिर्मुक्तं करिष्यामीत्यर्थः। यद्वा पापानि कर्माणि, पापपदेन तत्कारणभूताव्या-
विद्याकामाश्च गृह्यन्ते। सर्वेभ्यः पापेभ्योऽविद्याकामकर्मभ्यः संततजराजन्ममृत्युदुःखप्रवाहहेतुभ्यः सम्यङ्मो-
चयिष्यामि—नित्यः कूटस्थोऽसङ्गश्चिदेकः परिपूर्ण एवाहमिति नित्यकूटस्थासङ्गचिन्मात्रस्वरूपस्य स्वात्मनो
याथात्म्यप्रकाशनेनारोपितदेहेन्द्रियादिसर्वदृश्यतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थासंबन्धरहितमेवात्मानमाकाशवदसङ्गमवि-
क्रियं परिपूर्णमेकरसमेव सदा सर्वत्र ग्राहयित्वा, सर्वत्र स्वमात्रग्रहणेनाविद्या वासनात्मिका कामाश्च कर्मा-
ण्यपि सर्वाणि निर्मूल्य, विपरीतभावं निःशेषं विध्वस्य, पूर्णश्चिदानन्द एक एवाहमस्मीति वृत्तिमप्यविद्यां-
कारयित्वा, सर्वदा मुक्तोऽहमिति मुक्तमेवात्मानं भावयिष्यामि। एवमात्मानमविद्यातत्कार्यबन्धनिर्मुक्तं निर्वि-
शेषब्रह्मात्मना स्थितं साक्षादपरोक्षीकृत्य जीवन्नेव मुक्तस्त्वं मा शुचः। तत्र "को मोहः कः शोक एकत्वमनुप-
श्यतः" इति स्वात्मैकत्वं पश्यतो विदुषः शोकाभावश्रवणात्सर्वमात्मानमेव पश्यन्मुक्तस्त्वं, शोकं मा कार्षीः।
स्वातिरिक्तमनर्थकारणमर्थान्तरं पश्यत एव मूढतमस्य शोको नत्वहमेवेदं सर्वमिति स्वमेव सर्वं पश्यतो
विदुषः शोककारणं संभवति, तदभावात्त्वं मा शुच इत्यर्थः। यद्वा अशोच्यानन्वशोचस्त्वमित्युपक्रान्तं शोका-

पनोदनमुपसंहरति भगवान्मा शुचस्त्वमिति । अद्वैतं पश्यतश्चात्मनोऽकर्तृत्वं च पश्यतस्तव शोको न युक्त इत्युपक्रान्तशोकापनोदनमेवानूद्यते, न तु विदुषः शोकं संभाव्य तस्यापनोदः क्रियते 'तत्र को मोहः कः शोकः' इत्यादिश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् 'न शोचति न काङ्क्षति' इत्युक्तस्ववचनव्याघातप्रसङ्गाच्चोपसंहारार्थकमेवेदं वचनमिति युक्तम् । एवं निर्विशेषमेव परं ब्रह्म स्वात्मना समधिगतमनुसंदधतो विदुषस्तदनुसंधानफलं सम्यग्ज्ञानं तत्फलं विदेहकैवल्यं च 'ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' इति पूर्वमेव निरूपितं, न पुनरत्र निरूपितव्यं भवति, यस्माज्ज्ञानकर्मणोः साध्यसाधनभाव एवात्र सम्यङ्निरूपितः सर्वज्ञेनेश्वरेण, तस्मात्सिद्धं कर्मकाण्डस्य ब्रह्मकाण्डस्य च मोक्षकारणत्वम् ॥ ६६ ॥

श्री० टी०—ततोऽपि गुह्यतममाह—सर्वेति । मद्भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति दृढविश्वासेन विधिकैङ्कर्यं त्यक्त्वा मदेकशरणो भव । एवं वर्तमानः कर्मत्यागनिमित्तं पापं स्यादिति मा शुचः, शोकं मा कार्षीः । यतस्त्वां त्वां मदेकशरणं सर्वपापेभ्योऽहं मोचयिष्यामि ॥ ६६ ॥

स० टी०—पूर्वोक्तभक्तियोगस्य प्रारम्भस्य विरोधिनः ॥ पापाख्यप्रतिबन्धाश्चेऽनेकजन्मार्जिता मलाः ॥ १ ॥ तद्विनिर्मुक्तपुंसः स्याद्भक्तियोगेऽधिकारिता ॥ आनन्त्याच्चैव पापानां भक्त्यारम्भविरोधिनाम् ॥ २ ॥ तत्प्रायश्चित्तरूपैस्तु धर्मैर्नानाविधैरपि ॥ अल्पकालकृतैस्तेषां पापानां दुस्तरत्वतः ॥ ३ ॥ इत्येवमात्मनो भक्तियोगारम्भेऽप्ययोग्यताम् ॥ आलोच्य शोचतो जिष्णोः शोकं चापनुदन्हरिः ॥ ४ ॥ आहानुग्रहवात्सल्यवारिधिः पार्थसारथिः ॥ सर्वधर्मान् श्रुतिप्रोक्तप्रायश्चित्तात्मकान्बहून् ॥ ५ ॥ कृच्छ्रचान्द्रायणेष्ट्यादींस्त्वत्पापानुरूपिणः ॥ नानाविधांस्त्वया धर्मान्स्वल्पकालानुयायिनः ॥ ६ ॥ दुरनुष्ठानरूपांश्च परित्यज्यैव सर्वशः ॥ निर्विघ्नभक्तियोगस्य सम्यगारम्भसिद्धये ॥ ७ ॥ मामेकमीश्वरं सर्वासाधारणगुणाश्रयम् ॥ शरण्यं करुणासिन्धुं शरणागतवत्सलम् ॥ ८ ॥ तवास्मीति धिया शुद्धया प्रपद्यस्व सुखास्पदम् ॥ शरणं हे हरे कृष्ण मां गृहाण स्वसेवकम् ॥ ९ ॥ अनन्यशरणत्वान्मे त्वमेव शरणं भव ॥ इत्येवमनुसंधाय सर्वं कृत्यं विहाय माम् ॥ १० ॥ आश्रयस्व ततोऽहं त्वा पापेभ्योऽत्यन्तशोकिनम् ॥ भक्त्याऽऽरम्भविरोधिभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ११ ॥ सकलमपि विहाय भ्रान्तिजालं श्रमाढ्यं भज हरिशरणं श्रीमहाविद्यातिहेतुम् ॥ भजनमपि हरेः श्रीकृष्णचन्द्रप्रसादात्त्वयमिह सुजनस्य प्रेमयुक्तं सुसिद्ध्येत् ॥ १२ ॥ यद्वा श्लोकद्वयस्याह तात्पर्यं भगवान्हरिः ॥ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥ १३ ॥ तमेव शरणं गच्छेत्येवं प्रागीरितस्य च ॥ धर्माः केचन वर्णानां केचिदाश्रमवासिनाम् ॥ १४ ॥ केचित्सामान्यधर्माश्च वेदस्मृतिगिरेरिताः ॥ विद्यमानांश्च तान्धर्मान्समस्तान्सफलानपि ॥ १५ ॥ अविद्यमानान्वा शास्त्रविहितानपि सर्वशः ॥ संसारेऽस्मिन् हि ये पूर्वं शरणत्वेन संमताः ॥ १६ ॥ आसंस्तांस्त्वमनादृत्य मामीश्वरमजं विभुम् ॥ आनन्दं सर्वधर्माणामधिष्ठातारमक्षरम् ॥ १७ ॥ धर्माणां फलदातारमुदारं शरणं व्रज ॥ धर्माः सन्तु न वा सन्तु किमेतैः परतन्त्रकैः ॥ १८ ॥ भगवद्वासुदेवस्यानुग्रहादेव सर्वथा ॥ कृतार्थोऽहं भविष्यामीत्येवं निश्चित्य चेतसा ॥ १९ ॥ वासुदेवमनन्तं श्रीपरमानन्दविग्रहम् ॥ करुणासागरं सर्वकल्याणगुणसंश्रयम् ॥ २० ॥ कृतज्ञं दीनबन्धुं मां भगवन्तमनुक्षणम् ॥ भक्तिभावनया सार्द्रं भजस्व सततं हरिम् ॥ २१ ॥ इदमेव परं तत्त्वं नातोऽधिकमिति स्वयम् ॥ विचारपूर्वकेणैव प्रेमाधिक्येन सर्वथा ॥ २२ ॥ चिन्तय त्वं मनोवृत्त्या संत्यक्तानात्मचिन्तया ॥ तैलधारावदाच्छिन्नरूपयाऽत्यन्तशुद्धया ॥ २३ ॥ मदेकशरणस्यास्य नास्ति धर्माद्यपेक्षणम् ॥ सर्वेषामपि शास्त्राणां रहस्यं परमं त्विदम् ॥ २४ ॥ यदीशशरणत्वं स्यात्पुण्यसंततिहेतुकम् ॥ अत्रैव गीताशास्त्रस्य समाप्तिर्हरिणा कृता ॥ २५ ॥ भगवच्छरणत्वेन विना सर्वस्य कर्मणः ॥ संन्यासस्य फले नास्ति स्वतः पर्यवसायिता ॥ २६ ॥

मदेकशरणो यस्मात्त्वं धर्मानप्युपेक्ष्य तान् ॥ मच्चिन्तनपरो नित्यं विसृज्यानन्यमानसः ॥ २७ ॥
अतोऽहं सर्वधर्माणां कार्यकारित्वयेश्वरः ॥ संसारानर्थहेतुभ्यः सर्वपापेभ्य एव च ॥ २८ ॥ बन्धुहिं-
सादिजन्येभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ मम युद्धे प्रवृत्तस्य स्वकुलाचार्यघातिनः ॥ २९ ॥ नि-
स्तारोऽतः कथं मे स्यान्मा कार्षीरिति शोचनम् ॥ प्रायश्चित्तं विनैवाहं धर्मस्थानीय ईश्वरः ॥ ३० ॥
पापान्यतमसस्त्वां वै मोक्षयिष्यामि भास्करः ॥ संदेहो नात्र कर्तव्यो मानमौलेर्वचस्यतः ॥ ३१ ॥
निगमविहितधर्मांस्तद्विरुद्धानधर्मानपि भयभूयांस्तज्जभोगानुपेक्ष्य ॥ भवमृतिभयसिन्धौ पोतभूतं शरण्यं
हरिपदमकरन्दं चित्तमित्राश्रयस्व ॥ ३२ ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यत्र भाष्यकृतां मतम् ॥ सम-
स्तकर्मसंन्यासानुवादेनैव युक्तिभिः ॥ ३३ ॥ मामेकं शरणं व्रजेति ज्ञाननिष्ठोपसंहृता ॥ श्रीम-
द्भगवतेत्येवं संमतं साधुसंमतम् ॥ ३४ ॥ अत्रायमाशयो भाति श्रीमद्भाष्यकृतां सताम् ॥
गीतासु सर्ववेदार्थं संगृह्य करुणानिधिः ॥ ३५ ॥ प्रोक्तवाञ्छ्रीरमानाथो बोधसौकर्यसिद्धये ॥ उक्त-
महाद्दशाध्यायैरुपसंहृतवान्मतम् ॥ ३६ ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यत्र श्लोके रमापतिः ॥ ज्ञाननिष्ठा
ह्युपक्रान्ता मुख्यागमविदां मता ॥ ३७ ॥ तत्राधिकारसिद्ध्यर्थं कर्मनिष्ठेरिता परा ॥ तयाऽधिकारे सिद्धे-
ऽपि भगवद्भक्तिरुत्तमा ॥ ३८ ॥ अन्तरङ्गतया प्रोक्ता तृतीया ज्ञानसाधनम् ॥ यस्य देवे परा भक्ति-
र्यथा देवे तथा गुरौ ॥ ३९ ॥ तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ इति श्रुतेर्मुमुक्षोर्भक्तिः
स्यात्साधनं परम् ॥ ४० ॥ प्रधानानुगुणं न्याय्यमित्यतोऽन्ते हरिः स्वयम् ॥ उपसंहृतवाञ्ज्ञाननिष्ठामेव
ससाधनाम् ॥ ४१ ॥ तत्रापि प्रथमे पादे सर्वधर्मपदेन च ॥ धर्माधर्मद्वयं प्रोक्तं त्याज्यत्वेनात्र संमतम् ॥
॥ ४२ ॥ तेनोपसंहृतः कर्मसंन्यासो ज्ञानसाधनम् ॥ चित्तशुद्धिं विना नासौ सा न कर्म विना भवेत् ॥
॥ ४३ ॥ तेनोपसंहृता कर्मनिष्ठापि संफला यता ॥ पादे द्वितीये भगवत्तत्त्वधीरुपसंहृता ॥ ४४ ॥
भगवद्भक्तिसहिता पुरुषार्थैकजन्मभूः ॥ उत्तरार्धेन मुख्याया निष्ठायाः फलमीरितम् ॥ ४५ ॥ अवि-
द्यायाः सकार्याया निवृत्तिश्चेत्यतो हरिः ॥ प्रतिश्रुत्य जगादेमं श्लोकं गुह्यतमं परम् ॥ ४६ ॥ इत्येवं
गूढतात्पर्यमविदित्वाऽन्यथाऽन्यथा ॥ कल्पयित्वा मतं स्वीयं दूषणोद्घाटनं कृतम् ॥ ४७ ॥ कैश्चिद्यत्तत्र
साधूक्तमित्यलं बहुनाऽधुना ॥ तत्त्वज्ञानैकसूर्याणां श्रीमद्भाष्यकृतां पुरः ॥ ४८ ॥ अस्मदादिजनः स्वल्पः
स खद्योतायते न किम् ॥ अन्ये त्वेवं व्यवस्था च प्राहुरत्रोपसंहृतौ ॥ ४९ ॥ साध्यसाधनभावेन
गीताशास्त्रे विवक्षितम् ॥ निष्ठात्रयं भगवताध्यायेऽस्मिन्नुपसंहृतम् ॥ ५० ॥ तत्र संन्यासपर्यन्ता
कर्मनिष्ठोपसंहृता ॥ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ५१ ॥ इत्यत्र सफला सांगा
श्रीमद्भगवता स्वयम् ॥ संन्यासपूर्ववेदान्तश्रवणादिनिरन्तरा ॥ ५२ ॥ सफला च सहोपायैर्ज्ञाननि-
ष्ठोपसंहृता ॥ ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशतेऽत्रेति विष्णुना ॥ ५३ ॥ भगवद्भक्तिनिष्ठा तु मेढीभूता
द्वयोरपि ॥ सैवान्ते वासुदेवेन सम्यगेवोपसंहृता ॥ ५४ ॥ सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यत्रैवात्यन्तपावनी ॥
यस्य देवे पराभक्तिरिति श्रुत्या हरेर्विभोः ॥ ५५ ॥ परा भक्तिः परब्रह्मज्ञाने मुख्यतयेरिता ॥
सर्वोपायेन भगवान् शरण्यो भक्तवत्सलः ॥ ५६ ॥ आराध्य इति तात्पर्यं सर्ववेदविदां सताम् ॥ आरा-
धिते हरौ मोक्षहेतुर्ज्ञानमनान्तरम् ॥ ५७ ॥ भवत्येव फलं तस्मादाराध्यो हरिरीश्वरः ॥ इत्यस्यामपि
निर्णीतव्यवस्थायां मनागपि ॥५८॥ विरोधो नास्ति भगवद्भाष्यकारानुयायिनाम् ॥ निर्विवादा हरेर्भक्तिर्ज्ञा-
नमोक्षप्रदायिनी ॥ ५९ ॥ सर्वोपरि वर्तते सिद्धमित्येव मङ्गलम् ॥ क च निगमशिरोवाग्वेद्यवैकुण्ठ-
वाणी क च परिमितबुद्धिर्मादृशः कर्मवश्यः ॥ हरिपदशरणा ये दुर्लभं नास्ति तेषां किमपि जगति
कृत्यं ज्ञेयमाप्यं विचार्यम् ॥ ६० ॥ विषयविषयिभावभ्रान्तिशून्यं विशुद्धं सकलनिगमवाणीभावगम्यं सु-
रम्यम् ॥ हृदि सकलजनानामीशितारं निविष्टं यदुपतिमभिवन्दे सर्वविज्ञानसारम् ॥ ६१ ॥ ६६ ॥

भा० टी०—परमेश्वरयजनात्मकं कर्मयोगं, तन्निष्ठायाः परमरहस्यमीश्वरशरणतालक्षणं भक्तियोगं चोपसंहृत्याथेदानीमुभयफलभूतं सम्यग्दर्शनं सर्ववेदान्तप्रतिपादितं तत्र तत्र विस्तरेण प्रोक्तमुपसंहरति—सर्वेति । सर्वधर्मान् सर्वे च ते धर्माश्च सर्वधर्मास्तान् । धर्मशब्देनात्राधर्मोऽपि गृह्यते, नैष्कर्म्यस्य विवक्षितत्वात् " नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः, नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् " 'त्यज धर्ममधर्मं च' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वधर्मान् सर्वाणि कर्माणि परित्यज्य संन्यस्य मामेकं सर्वात्मानं समं सर्वभूतस्थमीश्वरमच्युतं गर्भजन्मजरामरणवर्जितमहमेवेत्येवंभूतं परमात्मेत्येवमेकं शरणं व्रज, न मत्तोऽन्यदस्तीत्यवधारयेत्यर्थः । अहं त्वामेवं निश्चितबुद्धिं सर्वपापेभ्यः सर्वेभ्यो धर्माधर्मबन्धनरूपेभ्यो मोक्षयिष्यामि स्वात्मभावप्रकाशकरणेन । उक्तं च दशमे—' नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ' इति, अतो मा शुचः शोकं मा कार्षीरित्यर्थः । यत्तु कश्चिदप्रलाप 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्यत्र कर्मनिष्ठा कर्मसंन्यासपर्यन्तोपसंहृता । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमित्यत्र संन्यासपूर्वकश्रवणादिपरिपाकसहितज्ञाननिष्ठोपसंहृता, अधुना तु 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति । तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन' इति यदुक्तं तद्विवृण्वन् भगवद्भक्तिनिष्ठामुभयसाधनत्वादुभयफलभूतत्वाच्चान्ते उपसंहरति—सर्वधर्मानिति । सर्वान् वर्णाश्रमादिधर्मानविद्यमानान् विद्यमानान्वा परित्यज्य शरणत्वेनानादृत्य मामीश्वरमेकमद्वितीयं सर्वधर्माणामधिष्ठातारं फलदातारं च शरणं व्रज । धर्माः सन्तु न सन्तु वा, किं तैरन्यसापेक्षैः ? भगवदनुग्रहादेव अन्यनिरपेक्षादहं कृतार्थो भविष्यामीति निश्चयेन परमानन्दघनमूर्तिमनन्तं श्रीवासुदेवमेव भगवन्तमनुक्षणभावनया भजस्व । इदमेव परमं तत्त्वं नातोऽधिकमस्तीति विचारपूर्वकेण प्रेमप्रकर्षेण सर्वानात्मचिन्ताशून्यया मनोवृत्त्या तैलधारावदविच्छिन्नया सततं चिन्तयेत्यर्थः । अत्र मामेकं शरणं व्रजेति सर्वशरणतापरित्यागे लब्धे सर्वधर्मान्परित्यज्येति निषेधानुवादस्तत्कार्यकारितालाभाय यथाग्नहोत्रे साग्नि "ऐन्द्रं कुर्वीत" इत्यत्र "न गिरा गिरेति ब्रूयात्" इतिवत् । तथाच ममैव सर्वधर्मकारित्वान्मदेकशरणस्य नास्ति धर्मापेक्षेत्यर्थः । एतेनेदमपास्तं सर्वधर्मान्परित्यज्येत्युक्ते नाधर्माणां परित्यागो लभ्यतेऽतो धर्मपदं कर्मपरमिति । नह्यत्र कर्मत्यागो विधीयतेऽपि तु विद्यमानेऽपि कर्मणि तदनादरेण भगवदेकशरणतामात्रं ब्रह्मचारिगृहस्थवानप्रस्थभिक्षूणां साधारण्येन विधीयते । तत्र सर्वधर्मान्परित्यज्येति तेषां स्वधर्मादरसंभवेन तन्निवारणार्थम् । अधर्मे चानर्थफले कस्याप्यादराभावात् त्यागवचनमनर्थकमेव, शास्त्रान्तरप्राप्तत्वाच्च । तस्माद्वर्णाश्रमधर्माणामभ्युदयहेतुत्वमसिद्धेर्मोक्षहेतुत्वमपि स्यादेव""न चैवमपि संन्यासशास्त्रं, भगवदेकशरणताया विधित्सितत्वात् । तस्मात्सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यनुवाद एव । सर्वेषां तच्छास्त्राणां परमरहस्यमीश्वरशरणतैवेति तत्रैव परिसमाप्तिर्भगवता कृता । तामन्तरेण संन्यासस्यापि स्वफलापर्यवसायित्वात् । अर्जुनं च क्षत्रियं संन्यासानधिकारिणं प्रति संन्यासोपदेशायोगात् । अर्जुनव्याजेनान्यस्योपदेशे तु वक्ष्यामि ते हितं, त्वा मोक्षयिष्यामि सर्वपापेभ्यः, त्वं मा शुचः इत्युपक्रमोपसंहारौ न स्याताम् । तस्मात्संन्यासधर्मेष्वप्यनादरेण भगवदेकशरणतामात्रे तात्पर्यं भगवतः । यस्मात्त्वं मदेकशरणः सर्वधर्मानादरेणातोऽहं सर्वधर्मकार्यकारी त्वा त्वां सर्वपापेभ्यो बन्धुवधादिनिमित्तेभ्यः संसारहेतुभ्यो मोक्षयिष्यामि प्रायश्चित्तं विनैव "धर्मेण पापमपनुदति" इतिश्रुतेर्धर्मस्थानीयत्वाच्च मम । अतो मा शुचः युद्धे प्रवृत्तस्य मम बन्धुवधादिनिमित्तप्रत्यवायात्कथं निस्तारः स्यादिति शोकं मा कार्षीरित्यादि । तन्नादर्तव्यं, श्रीमता सर्वज्ञानां भगवदात्मत्वात्, भगवदभिप्रायविदा भगवता भाष्यकृताभिप्रायापरिज्ञानविजृम्भितत्वात् । तथाहि समस्तगीताध्यायान्तर्गतगीताशास्त्रार्थोपसंहारात्मकेऽस्मिन्नध्याये प्रतिपादितेन कर्मादिना एतदध्यायान्तसमस्तशास्त्रोपसंहारो नोपपद्यते । नहि 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्यत्र कर्मनिष्ठानिरू-

पणस्य समाप्तिर्दृश्यते 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्प-
रः ॥' इत्युक्त्वानन्तरमात्तत्र तत्र प्रतिपादितं कर्मयोगं भक्तियोगं ज्ञानं चास्मिन्नध्याये संग्रहेणोपपाद्य सर्वशास्त्रान्ते
उपसंहरतीत्येव युक्तम् । अन्यथा 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव । मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरि-
ष्यसि' इत्यत्र भक्तियोग उपसंहृत इत्यपि कुतो न स्यात् । तस्मात्कर्मयोगादिप्रतिपादनपरिसमाप्तावेव यथासं-
भवमुपसंहारवर्णनं युक्तं, न तु यत्रकुत्रचित् । 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन
मामुपयान्ति ते ॥ नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । इदं तु ते गुह्यतमं, नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासे-
नाधिगच्छति' इत्यादिना प्रतिपादितायाः समस्तवेदान्ततात्पर्यभूतायाः कर्मयोगभक्तियोगफलभूतायाः संन्या-
सपूर्विकायाः ज्ञाननिष्ठायाः उपसंहारस्य शास्त्रान्ते कर्तव्यत्वावश्यकत्वेन सर्वधर्मान्परित्यज्येत्यनेन सर्वकर्मसं-
न्यासस्य स्पष्टतया प्रतीयमानत्वेन च तादृशज्ञाननिष्ठोपसंहारस्य युक्ततामभिप्रेत्याचार्यैः सैवास्मिञ्श्लोके
उपसंहृता । ईश्वराभिप्राय ईश्वरेणैव ज्ञायते न तु वराकैरस्मदादिभिः । विष्णुशिवयोरेकात्मत्वं परमात्मत्वं च
श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिसिद्धम् । तमेव शरणं गच्छेत्यस्य विवरणमनेन क्रियत इत्यपि न । असंदिग्धार्थस्य
संदिग्धार्थेन विवरणायोगात् । सर्वधर्मान्परित्यज्येति तु तत्र तत्रार्जुनं निमित्तीकृत्य संन्यासपूर्वकज्ञान-
निष्ठाप्रतिपादनमिवार्जुनस्य क्षत्रियत्वादुक्तसंन्यासद्वारा ज्ञाननिष्ठायामनधिकारेऽपि तं पुरस्कृत्याधिकारि-
भ्यस्तस्योपदिदिक्षितत्वान्न विरुध्यतेऽर्जुनं निमित्तीकृत्य लोकोपकाराय भगवतः प्रवृत्तिरिति संमतम् ।
अन्यथा क्षत्रियस्यार्जुनस्य श्रोतुर्यस्मिन्नधिकारस्तस्यैव वक्तव्यत्वे संन्यासपूर्विकायाः ज्ञाननिष्ठायाः वर्णन-
मनर्थकं स्यात् । वस्तुतोऽर्जुनस्य स्वाधिमहस्य सर्वज्ञत्वेनोपदेशानर्थक्यं च भवेत् । अपि च तं प्रति सर्वधर्म-
परित्यागकथनं भगवतः पूर्वापरविरुद्धम् 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन । मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा-
ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः । स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु । स्वकर्मणा
तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः । श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः । सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः । स्वभावजेन कौन्तेय' इत्यादिना तत्रतत्र कर्मापरित्यागमस्या-
ग्रहेण प्रतिपाद्यात्रैवं कथने परस्परविरोधस्य स्पष्टत्वात् । एतेन सर्वधर्मान्परित्यज्य शरणत्वेनानादृत्य धर्माः
सन्तु न सन्तु वा किं तैरित्यादिवर्णनमपास्तम् । 'यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । यज्ञो दानं
तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् । मत्कर्मकृन्मत्परमः । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' इत्यादिवचनानां विरोधस्या-
स्मिन्नश्रुतकल्पनेऽपि तुल्यत्वात् । कर्माधिकृतेनाज्ञेन वेदविहितं धर्ममनादृत्य मद्रूपोपासनं कार्यमिति सर्व-
स्मिन्गीताशास्त्रे क्वाप्यनुक्तत्वेन तदुपसंहारवर्णनस्यानुचितत्वात् । "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥" 'मामनुस्मर युध्य च,' 'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे ते उल्लङ्घ्य प्रवर्तते ।
आज्ञाभङ्गी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥ वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान् । विष्णुराराध्यते
पन्था नान्यस्तत्तोषकारणम् ॥ तस्मात्सदाचारवता पुरुषेण जनार्दनः । आराध्यते स्ववर्णोक्तधर्मानुष्ठानका-
रिणा ॥' इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः कर्मसमुच्चितोपासनाया वैशिष्ट्यबोधनाच्च । यत्र तु कर्मणो निन्दा पुराणा-
दिषु श्रूयते, न सा भगवदाराधनलक्षणस्य निष्कामकर्मणो वेदविहितस्य नियतस्य, अपि [illegible] भगवत्पराङ्मु-
खेनानुष्ठानस्य सकामस्य । तस्मादर्जुनेन सर्वकर्मत्यागः कर्तव्य इति भगवतो नाभिप्रेतं, किंतु त्यागाधिकारिभिः
कर्ममात्रं संन्यस्याहमेव भगवान्स वासुदेवः न तु मत्तोऽन्योऽस्तीति ज्ञाननिष्ठा सम्यक् संपादनीयेति, वक्ष्यामि
ते हितं त्वां, मोक्षयिष्यामि सर्वपापेभ्यस्त्वं मा शुच इति चोपक्रमोपसंहारात् । 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन
सेवया । उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः.' इत्यादिवत् अर्जुनव्याजेनान्यस्योपदेशेऽपि न विरुध्यते ।

यदपि सर्वपापेभ्यः बन्धुवधादिनिमित्तेभ्यः—इत्यादि तदपि साहसमात्रं, 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' इत्यादौ अग्नीषोमीयपशुहिंसावत् युद्धे शत्रुहननरूपायाः विहितायाः हिंसायाः पापजनकत्वाभावस्यात्याग्रहेण स्वेनैव स्थापितत्वात्। यदप्यत्रेत्यादि तदपि बालविमोहनमात्रम्, उक्तयुक्त्या मामेकं शरणं व्रजेत्यत्राचार्योक्तार्थस्यैव विवक्षितत्वात्। मामेकं शरणं व्रज स्वधर्माचरणादिना मामेवाराधय न तु देवतान्तरमित्यर्थस्यापि संभवेन सर्वधर्मत्यागस्य स्वाभायोगाच्च। यदप्येवेनेदमवास्तवमित्यादि तदपि तुच्छमेव 'नाविरतो दुश्चरितात्, त्यज धर्ममधर्मं च' इति भाष्योदाहृतश्रुतिस्मृत्यनवलोकनविजृम्भितत्वात्। तथाच—सर्वस्याप्यज्ञस्य कामिनो विषयरागवशात् अधर्माचरणं दृश्यते, शरीरस्थितिमात्रविषयकामनया तदाचरणं संन्यासाधिकारिणोऽपि संभाव्य तत्परित्यागवचनस्य श्रुतिस्मृत्यनुरोधेन सार्थक्यम्। अधर्मेऽनर्थफले कस्याप्यादरो नास्तीति वक्तुमशक्यं, लोके तदादरस्योपलभ्यमानत्वात्, अन्यथा 'न सुरां पिबेत्। न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादिनिषेधवाक्यानां वैयर्थ्यं स्यात्। तस्मादर्जुनं निमित्तीकृत्याधिकारिभ्यो वेदविहितः कर्मत्यागो गीताशास्त्रे उपपाद्य तदन्ते उपसंह्रियते, भगवदेकशरणतायाः तमेव शरणं गच्छेत्यनेनोक्तत्वात्। मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजीत्यनेन भक्तियोगस्य कर्मयोगस्य चोपसंहृतत्वात्। यत्तु संन्यासशास्त्रेण श्रविविद्धशास्त्रेण च लब्धत्वान्नात्र सर्वधर्मत्यागो विधीयते इति तत्र विधिनिषेधरूपेण वेदेन प्राप्तत्वात्। तदर्थप्रतिपादकस्मृतीतिहासपुराणानां वैयर्थ्यप्रसङ्गादित्यास्तां तावत्। एवमन्येषामपि कुकल्पना भाष्यविरुद्धाः सम्यग् विचार्य निराकर्तव्याः॥ गोभाराहरणार्थिना सुविहिता वेदार्थनाशे रता येनाद्यं जगतां निदानममलं शास्त्रस्य योनिं विभुम्। यत्कारुण्यकटाक्षतोऽभिलषितं पूर्णं ममाप्यद्भुतं तं वन्दे परमामृतं शिवमहं कृष्णं गुरूणां गुरुम्॥ ६६॥

प० टी०—अतो गुह्यतममाह—सर्वधर्मानिति। मद्भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति दृढविश्वासेन विधिकैङ्कर्यं त्यक्त्वा मामेकमद्वितीयं शरणं व्रज मदेकशरणो भव। एवं वर्तमानस्य कर्मत्यागभवं पापं भविष्यतीत्याह—मा शुच इति। शोकं मा कार्षीर्यतोऽहं त्वां मदेकशरणं सर्वपापेभ्यो मोचयिष्यामि, यथा घनैकशरणस्य चातकस्य घनादेवाभीष्टसिद्धिरित्यर्थः। अनेन स्वसामर्थ्यातिशयो दर्शितः। एतदर्थेऽस्माभिः पूर्वं व्याख्यातम्। "अहमेव स्वयमिदं वदामि" इति श्रुतिरपि (श्लो. ५६) दर्शिता। यद्वा पूर्वश्लोके सेव्यसेवकभावत्वेन मन्मना भवेत्यादयो मत्प्रापकाश्चत्वारो धर्माः प्रोक्ताः, तान् सर्वधर्मान् परित्यज्यावाग्गेवमुक्त्वा ततो मामेकमखण्डैकरसं शरणं व्रज मज्ज्ञानात्सकलविकाररहित्येन मदाकारतां भज। एवं जाते सत्यहमास्मैव अयमहमिति भेदभावनोद्भूतेभ्यः पापेभ्यो दुःखहेतुभ्यो मोचयिष्यामि, तदुक्तम्—'दग्धाखिलविकारश्चेद् ब्रह्मज्ञानाग्निना मुनिः। वर्तमानः श्रुतेर्मूर्ध्नि नैव स्याद्विधिकिंकरः' इति मा शुचः—अनन्तरं शोकः कार्य इत्यर्थः। तदुक्तम्—' स्वान्तैकान्तमुपागते यदुपतौ शान्त्या समं क्रीडितुं निर्यातं बहिरन्तरङ्गगतिभिस्तत्राष्टभिः सात्त्विकैः। प्राणापानगती गतागुपरते स्वानन्दपूर्णं मनः श्रुत्वा गानमनाहतध्वनिभवं न त्वं न चाहं जगत्॥ १॥' एतदर्थे—"यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः" इति श्रुतिः पूर्वं सभाष्या दर्शिता॥ ६६॥

शा० टी०—कथं मन्मनस्त्वादिकमित्यत उक्तम्—सर्वधर्मानिति। अन्यसर्वधर्मान्परित्यज्य मन्मनाः मद्भक्तो मद्याजीत्येवम्। पूर्वशेषोऽयम्। मन्मना भवेत्यादिना किमुक्तं भवतीत्यतस्तस्योपसंहाररूपेण व्याख्या क्रियते—मामेकं शरणं व्रजेति। मन्मनस्त्वादेरेव शरणागतिरूपत्वात्। उक्तं हि—'सर्वोत्तमत्वविज्ञानपूर्वं यत्र मनः सदा। सर्वाधिकप्रेमयुक्तं सर्वस्यात्र समर्पणम्। अखण्डा त्रिविधा पूजा तद्रत्यैव स्वभावतः। रक्षतीत्येव विश्वासस्तदीयोऽहमिति स्मृतिः॥ शरणागतिरेषा स्याद्विष्णौ मोक्षफलप्रदा' इति। यद्वा सर्वधर्मान्परित्यज्येति, सर्वधर्मफलानि परित्यज्येत्यर्थः। अन्यथा युद्धविधिविरोधः स्यात्। यद्वाऽवैष्णवसर्वधर्मान्प-

रित्यजयेत्यर्थः । अनादिजन्मकृतप्रतिबन्धकसत्त्वात्कथं मामेव एष्यसीत्युक्तिरित्यत आह—अहं त्वेति । त्वा
त्वामनादिजन्मकृतपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि विनिर्मुक्तं करिष्यामि। मा शुचः संसारभयाच्छोकं मा कार्षीः ॥६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ॥
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥

त० टी०—एवं सर्वशास्त्रस्य सारभूतं गीताशास्त्रमुपदिश्येदानीमस्य शास्त्रस्योपदेशाधिकारिनिय-
ममाह—इदमिति । इदं कर्मज्ञानभक्तिविषयं गुह्यतमं शास्त्रं तुभ्यं मया कृपयोपदिष्टं, ते त्वया अतप-
स्काय वाङ्मयमानसशारीरेतित्रिविधतपोरहिताय, तपः स्वधर्मवर्तित्वं तद्रहितायेति वा न वाच्यं
नोपदेष्टव्यं, तपोयुक्ताय अभक्ताय गुरावीश्वरे च भक्तिशून्याय कदाचन न वाच्यं, न चाशुश्रूषवे
वाच्यं भक्तायापि अशुश्रूषवे परिचर्यामकुर्वते न च वाच्यं, न च मां योऽभ्यसूयति मां भगवन्तं
वासुदेवं दोषारोपेण यः पश्यति दोषगन्धास्पृष्टस्वरूपे दिव्याप्राकृतानन्तगुणे ब्रह्माद्यचिन्त्यनित्यै-
श्वर्येऽपि दोषमारोपयतीत्यर्थः तस्मै तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽपि कदाचन न वाच्यं, तपस्विने भक्ताय
शुश्रूषवेऽनसूयवे श्रीकृष्णेऽनुरागयुक्ताय वाच्यमित्यर्थः ॥ ६७ ॥
समाप्तः शास्त्रार्थः । शास्त्रसंप्रदायविधिमधुना कथयति—इदमिति । इदं गीताख्यं सर्व-
म० टी०—समाप्तः शास्त्रार्थः । शास्त्रसंप्रदायविधिमधुना कथयति—इदमिति । इदं गीताख्यं सर्व-
शास्त्रार्थरहस्यं ते तव संसारविच्छित्तये मयोक्तं नातपस्काय असंयतेन्द्रियाय न वाच्यं कदाचन कस्या-
मप्यवस्थायामिति पर्यायत्रयेऽपि संबध्यते । तपस्विनेऽप्यभक्ताय गुरौ देवे च भक्तिरहिताय न वाच्यं
कदाचन । तपस्विने भक्तायापि अशुश्रूषवे शुश्रूषां परिचर्यामकुर्वते च न वाच्यं कदाचन । चशब्दो
'वाच्यं' 'कदाचन' इति पदद्वयाकर्षणार्थः । न च मां योऽभ्यसूयति मां भगवन्तं वासुदेवं मनुष्यमसर्वज्ञत्वादि-
गुणकं मत्वा अभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेनेश्वरत्वमसहमानो द्वेष्टि यः तस्मै श्रीकृष्णोत्कर्पासि-
ष्णवे तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽपि न वाच्यम् । कदाचनेत्यनुकर्षणार्थश्चकारः । तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवे
श्रीकृष्णानुरक्ताय च वाच्यमित्यर्थः । एकैकविशेषणाभावेऽप्ययोग्यताप्रतिपादनार्थाश्चत्वारो नकाराः । मेधाविने
तपस्विने वेत्यन्यत्र विकल्पदर्शनात् शुश्रूषा गुरुभक्तिभगवदनुरक्तियुक्ताय तपस्विने तद्युक्ताय मेधाविने वा
वाच्यम् मेधातपसोः पाक्षिकत्वेऽपि भगवदनुरक्तिगुरुभक्तिशुश्रूषाणां नियम एवेति भाष्यकृतः ॥ ६७ ॥
(विभज्य) ...संसारदुःखोपशान्तये नियमेन कर्तव्यार्थं विभज्य
शं० टी०—एवमारुरुक्षोरारूढस्य चोभयोरात्यन्तिकसंसारदुःखोपशान्तये नियमेन कर्तव्यार्थं विभज्य
दर्शयित्वा तत्फलमभ्युपपाद्य ज्ञानकर्मणोर्मोक्षसाधनत्वावधारणेन सर्वेषामपि वेदानां सकलाया अपि गीता-
याश्च निर्विशेषब्रह्मपरत्वमेव सूचयित्वा इति ते ज्ञानमित्युपक्रान्तं शास्त्रमुपसंहृत्याधुना शास्त्रप्रवर्तकानामस्य
मोक्षशास्त्रस्य संप्रदायप्रवर्तने नियममाह—इदमिति । इदं मोक्षशास्त्रं ते त्वया अतपस्काय "ऋतं तपः सत्यं
तपः" इत्यादिश्रुत्युक्तं तपो न यस्यास्ति सोऽतपस्कस्तस्मै अतपस्काय वेदोक्तकर्मानुष्ठानविहीनाय न वाच्यं
कदाचन नोपदेष्टव्यमित्यर्थः । स्वधर्मनिष्ठायाप्यभक्ताय यस्य देवे परा भक्तिरितिन्यायेन गुरौ देवे भक्ति-
रहितस्त्वभक्तस्तस्मा अभक्ताय कदाचन न वाच्यम् । तपस्विने भक्तिमतेऽप्यशुश्रूषवे गुरुशुश्रूषामकुर्वते कदा-
चन न वाच्यं, किंतु विशेषणद्वयवते गुरोः शुश्रूषां कुर्वत एव वाच्यम् । चकारान्मेधाविने ग्रन्थतदर्थधारणशक्ति-
मत एव वाच्यं, न तु पूर्वोक्तविशेषणवतेऽपि मेधाशून्याय कदाचन वाच्यम् । तथा चतुर्विशेषणवतेऽपि यो मा
वासुदेवं प्राकृतं मनुष्यं मत्वाऽभ्यसूयति निन्दति तस्मै तु न कदाचन वाच्यम् । यद्वा मां निर्विशेषं परं
ब्रह्माभ्यसूयति ब्रह्मणो निर्विशेषत्वं केवलत्वं सजातीयादिभेदरहितत्वमद्वितीयत्वं चायुक्तमिति विदेहकैवल्य-
मपि लोकशास्त्रविरुद्धमित्यनेव ब्रह्मप्राप्तिश्चायुक्तेत्यद्वैतमद्वैतलक्षणं विदेहकैवल्यं चासहमानो यो निन्दति

तस्मै चतुर्वेदिनेऽपि शतक्रतवेऽपि च सगुणभक्तिमतेऽपि चाद्वैतद्वेषिणे कथंचिदपि नोपदेष्टव्यम्। उपदेष्टव्यस्याद्वैतशास्त्रत्वादद्वैते प्रीतिमत एवोपदेष्टव्यं, न तु ज्ञानशास्त्रवदर्थासहिष्णव इत्यर्थः। चकारान्मुमुक्षवे यथारोग्यकामिन एव दिव्यौषधं, तथा मोक्षेच्छावत एव ज्ञानशास्त्रमुपदेष्टव्यं नान्यस्मा इति सिद्धम् ॥६७॥

श्री० टी०—एवं गीतार्थतत्त्वमुपदिश्य तत्संप्रदायप्रवर्तने नियममाह—इदमिति। इदं गीतार्थतत्त्वं ते त्वयाऽतपस्काय स्वधर्मानुष्ठानहीनाय न वाच्यं, न चाभक्ताय गुरौ ईश्वरे च भक्तिशून्याय कदाचिदपि न वाच्यम्। न चाशुश्रूषवे परिचर्यामकुर्वते श्रोतुमनिच्छवे वा वाच्यम्। मां परमेश्वरं योऽभ्यसूयति मनुष्यदृष्ट्या दोषारोपेण निन्दति तस्मै च न वाच्यम् ॥ ६७ ॥

स० टी०—समासः सर्वशास्त्रार्थः शास्त्रस्यैवाधुना हरिः ॥ संप्रदायविधिं प्राह सर्वज्ञो भगवानिति ॥ १ ॥ इदं समस्तशास्त्रार्थरहस्यं ब्रह्मसंमितम् ॥ गीताख्यं तव संसारबन्धविच्छित्तये मया ॥ २ ॥ सर्वज्ञेनेरितं सम्यग्ज्ञानसाधनमुत्तमम् ॥ नासंयतेन्द्रियायोक्तं तपःशून्याय कर्हिचित् ॥ ३ ॥ वाच्यं यस्मात्तपोहीने निष्फलं स्यादुदीरितम् ॥ तपस्विनेऽपि नो वाच्यं भक्तिहीनाय केशवे ॥ ४ ॥ सद्गुरौ भक्तिहीनाय न वाच्यं कर्हिचित्तथा ॥ कस्याचिदप्यवस्थायां भक्तायापि तपस्विने ॥ ५ ॥ न चाशुश्रूषवे वाच्यं परिचर्यामकुर्वते ॥ यो मां श्रीवासुदेवं हि भगवन्तमधोक्षजम् ॥ ६ ॥ स्वप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेन ममेशताम् ॥ अजानन्प्रत्युत द्वेष्टि मन्दभाग्यतयाऽधमः ॥ ७ ॥ शुश्रूषवेऽपि भक्ताय गुरावपि तपस्विने ॥ न तस्मै जातु वाच्यं श्रीकृष्णोत्कर्षासहिष्णवे ॥ ८ ॥ सर्वे धर्मा अतिक्रान्ता न कुर्युस्तादृशं महत् ॥ अनर्थजालं यद्वच्छ्रीकृष्णासूया करोत्यघम् ॥ ९ ॥ यतो वेदान्तसिद्धान्तरहस्यं मुनिसंमतम् ॥ श्रीकृष्णाख्यं परं धाम सदानन्दघनं परम् ॥ १० ॥ अतो यस्य हृषीकेशे कृष्णे भगवतीश्वरे ॥ अवज्ञास्ति न सोऽस्यज्ञः संभाष्योऽपि कदाचन ॥ ११ ॥ कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः ॥ जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न संभाष्याः कदाचन ॥ १२ ॥ किं पुनर्ब्रह्मविद्याया जनन्यो भगवद्गिरः ॥ तस्मै वाच्या सुधीमद्भिर्निरपेक्षैरितीरितम् ॥ १३ ॥ तपस्विने च भक्ताय गुरुशुश्रूषवे सते ॥ श्रीकृष्णे चानुरक्ताय वाच्यं शास्त्रमिदं परम् ॥ १४ ॥ विशेषणानां सर्वेषामस्त्यपेक्षेति सिद्धये ॥ चत्वारोऽत्र नकाराः श्रीहरिणा संप्रयोजिताः ॥ १५ ॥ एकस्यापि ह्यभावेन योग्यता प्रविनश्यते ॥ अतो विचार्य गीताख्यं शास्त्रं श्राव्यं मुमुक्षवे ॥ १६ ॥ ६७ ॥

भा० टी०—एवं सप्तदशाध्यायान्तगीताशास्त्रार्थं सर्वं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थमस्मिन्नध्याये विस्तरेणोपसंहृत्यान्ते मन्मना भवेति द्वाभ्यां पुनः स्वशास्त्रदार्ढ्याय संक्षेपतस्तस्योपसंहारं कृत्वाथेदानीं शास्त्रसंप्रदायविधिमाह—इदमिति। इदं शास्त्रं संसारविच्छित्तिहेतुभूतं तव हिताय मयोक्तम्। अतपस्काय उक्तशारीरादितपोरहिताय न वाच्यं कदाचन—कस्यांचिदप्यवस्थायामपि—सर्वत्र संबध्यते। तपस्विनेऽप्यभक्ताय गुरौ देवे च भक्तिरहिताय कदाचन न वाच्यं विशेषणद्वययुक्तायाप्यशुश्रूषवे शुश्रूषावर्जिताय कदापि न वाच्यम्। यो मां वासुदेवं मनुष्यं प्राकृतं मत्वाऽभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेन मत्स्वरूपानभिज्ञो ममेश्वरत्वं न सहते तस्मै ममेश्वरत्वासहिष्णवेऽतपस्विनेऽभक्ताय शुश्रूषवेऽपि कदाचन न वाच्यम्। तपस्विने भक्ताय शुश्रूषवेऽनसूयवे शास्त्रं वाच्यमिति प्रतिषेधसामर्थ्याद्गम्यते। तत्र मेधाविने तपस्विने वा इति स्मृत्यन्तरे मेधावितपस्विनोर्विकल्पदर्शनात्। शुश्रूषाभक्तियुक्ताय भगवदसूयारहिताय तपस्विने वाच्यम्। शुश्रूषाभक्त्यनसूयासहिताय मेधाविने वा वाच्यम्। शुश्रूषाभक्तिवियुक्ताय तपस्विने मेधाविने वापि न वाच्यम्। भगवदसूयायुक्ताय समस्तगुणवतेऽपि न वाच्यम्। गुरुशुश्रूषाभक्त्यनसूयायुक्ताय तपस्विने मेधाविने वा वाच्यमित्येष शास्त्रसंप्रदायविधिः ॥६७॥

प० टी०—एवं गीतार्थतत्त्वमुपदिश्य तत्संप्रदायप्रवर्तने नियममाह—इदमिति। इदं गीतातत्त्वं ते त्वया-

तपरकाय स्वधर्मानुष्ठानहीनाय न वाच्यं, न वाभक्ताय परमेश्वरभक्तिशून्याय, न चाशुश्रूषवे परिचर्यामकुर्वते ।
तथा यो मां परमेश्वरमभ्यसूयति मनुष्यदृष्ट्या दोषारोपेण निन्दति तस्मै न वाच्यम् । श्रुतिरपि नैरुक्ती–
"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया अवी-
र्यवती स्याम्" इति । भाष्यम्–विद्या औपनिषद्यात्मविद्या एतदुक्तं ब्राह्मणं ब्रह्मनिष्ठं प्रतीयाभिमुख्येन
समक्षं जगाम प्राप्ता । तत्किं मा इति मां त्वं गोपाय । वक्ष्यमाणाय पुरुषायेति चतुर्थ्यां द्वितीयोक्ता । तं
पुरुषं प्रति गुप्तं कुरु न कथयेरर्थः । यतोऽहं ते शेवधिर्निरत्वधिरस्मि । चतुर्विधपुरुषार्थसाधनत्वात् ।
यथा निधिर्गुप्तः क्रियत इत्यर्थः । किंलक्षणायेत्याह । असूयकाय निन्दकाय । अनृजवे सद्भावकाय । अयताय
नियमशून्याय । मामात्मविद्यां न ब्रूया न कथय । एवं सति यदि ब्रूषे तदा वीर्यवती स्याम् । त्वय्यपि
सामर्थ्यं न स्थापयतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

शं० टी०–गीताशास्त्रेऽनधिकारिनिरासेन लक्षणयाऽधिकारिणमाह–इदमिति । इदं गीताशास्त्रं तपोहीनाय
ते त्वया न वाच्यम् । अशुश्रूषवे सेवामकुर्वते न वाच्यम् । तपोहीनोपदेशादप्यशुश्रूषोरुपदेशो महादोषकर इति
सूचनायात्र चशब्दः ' समुच्चयेऽथवाधिक्ये न्यूनत्वे च प्रयुज्यते ' इत्युक्तेः । चकार इत्यर्थः । अशुश्रूषू-
पदेशादप्यभक्ताय कदाचन कदापि न वाच्यमित्युक्तिः अल्पमात्रतपःशुश्रूषावतो भक्तिमतः कदाचिदुपदे-
शोऽपि भक्तिहीनायोपदेशे महान्दोष इति सूचनाय । मां योऽभ्यसूयति तस्मै न वाच्यमित्यत्रापि चशब्दः
तपोहीनादित्रितयोपदेशादप्यसूयावत उपदेशे दोषाधिक्यज्ञापनार्थः । एतेन तपःप्रभृतिगुणयुक्तोऽधिका-
रीति सूचितम् ॥ ६७ ॥

य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ॥
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

त० टी०–एवमुक्तदोषरहितेभ्यो भगवद्भक्तेभ्यो यो ददाति तस्य फलमाह–य इदमिति । यः
कश्चिद्गीतासंप्रदायप्रवर्तक इदं मदुक्तं परमं गुह्यमतिरहस्यत्वात्सर्वत्र प्रकाशनानर्हमतो मद्भक्तेषु मयि
भगवति वासुदेवे भक्तियुक्तेषु योऽभिधास्यति अभितो ग्रन्थतोऽर्थतश्च स्थापयिष्यति, पूर्वश्लोकेऽभ-
क्तस्य निषेधेन भक्तस्यैवार्थतो ग्रहणेऽपि पुनर्भक्तग्रहणात् तपआद्यभावेऽपि भक्तिमात्रेणाप्यस्य
शास्त्रस्य संप्रदानपात्रता भवति । भक्तेरेव तदधिकारापादनत्वमिति सूचितम् । कथमभिधास्यति
तत्राह–भक्तिं मयि परां कृत्वेति । गीतावक्तुर्भगवतो गरीयसः परमप्रीत्यर्थं मया भक्तेभ्यो दीयते,
नतु केनचिदुपाधिनेति निश्चित्य यो वक्ष्यति स मामेवैष्यत्यत्र संशयो न कर्तव्यः । अथवा यो मद्भ-
क्तेभ्योऽभिधास्यति स मयि परां प्रेमलक्षणां भक्तिं कृत्वा तया मामाराध्य मामेवैष्यति । अवधारणे-
नोक्तार्थसिद्धौ सत्यां पुनरसंशयवचनं यथा यज्ञादिकर्मनिष्ठो भक्तिहीनज्ञाननिष्ठो वाऽन्यदेवान्तपरफलं
प्राप्नोति, न तथा मद्भक्त इति दार्ढ्यायेति भावः ॥ ६८ ॥

म० टी०–एवं संप्रदायस्य विधिमुक्त्वा तस्य कर्तुः फलमाह–य इति । यः संप्रदायस्य प्रवर्तकः,
इदमावयोः संवादरूपं ग्रन्थं परमं निरतिशयपुरुषार्थसाधनं गुह्यं रहस्यार्थत्वात् सर्वत्र प्रकाशयितुमनर्हं
मद्भक्तेषु मां भगवन्तं वासुदेवं प्रत्यनुरक्तेषु अभिधास्यति अभितो ग्रन्थतोऽर्थतश्च धारयति स्थापयिष्यति ।
भक्तेः पुनर्ग्रहणात् पूर्वोक्तविशेषणत्रयराहित्यस्यापि भगवद्भक्तिमात्रेण पात्रता सूचिता भवति । कथमभिधा-
स्यति तत्राह–भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोः शुश्रूषेयं मया क्रियत इत्येवं कृत्वा निश्चित्य
योऽभिधास्यति स मामेवैष्यति मां भगवन्तं वासुदेवमेष्यत्येव । अभिधानेनोक्तैव एव संसारादत्र संशयो नैव ।

कर्तव्यः'। अथवा मयि परां भक्तिं कृत्वाऽसंशयो निःसंशयः सन्मामेष्यत्येवेति वा मामेवैष्यति नान्यमिति यथाश्रुतमेव वा योज्यम् ॥ ६८ ॥

शं० टी०—तपस्वित्वं भक्तिमत्त्वं शुश्रूषुत्वमसूये प्रीतिमत्त्वं मुमुक्षुत्वं चाधिकारिणः शुद्धात्मत्वे ज्ञानशास्त्रोपदेशयोग्यत्वे च लिङ्गमित्यधिकारिलक्षणमुक्त्वा, निरुक्तलक्षणलक्षितेभ्य एवाधिकारिभ्यो ज्ञानशास्त्रमुपदेष्टुः फलमाह—य इति । यः श्रोत्रियो ब्रह्मनिष्ठो यतिर्मद्भक्तेषु मामेव परमेश्वरं संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुं मोक्षेच्छया स्वकर्मभिराराधयन्तो ये भजन्ति ते मद्भक्तास्तेषु तपस्विने भक्तायेति पूर्वमुक्त्वा मद्भक्तेष्विति पुनर्भक्तिग्रहणम् "तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" इति, "अमृतस्यैष सेतुः" इति शिवप्रसादेन विना न सिद्धिरिति मोक्षस्येश्वरप्रसादैकलभ्यत्वश्रवणान्मुमुक्षूणामीश्वरैकशरणत्वेन भवितव्यं, परमेश्वरैकशरणैरेव कृतं श्रवणादिकं फलवद्भवति तत्रैव दृढा भक्तिः कर्तव्येति ज्ञापनार्थं मद्भक्तेषु मदेकशरणेषु पूर्वोक्तविशेषणवत्सु च। अत्र विषयसप्तमी। मद्भक्तानात्मतत्त्वजिज्ञासूनुद्दिश्येत्यर्थः। परमं परमपुरुषार्थसाधनं गुह्यं गोप्यमयोग्येष्वप्रयोक्तव्यमिदं गीताख्यं ज्ञानमयं शास्त्रमभिधास्यति परमकरुणयैवोपदेक्ष्यति, न तु शुश्रूषाद्यपेक्ष्य मन्त्रं तदर्थं च यथा गृहीतुस्तथा व्याख्यास्यतीत्यर्थः। ननु ब्रह्मनिष्ठस्य विदेहकैवल्यार्थिनः शिष्येभ्यो गीताशास्त्रोपदेशो नोपयुज्यते, ज्ञाननिष्ठातत्फलप्रतिबन्धकत्वात् "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' इतिश्रुत्या स्मृत्या च ब्रह्मविदो बहिर्मुखत्वं मुक्तिप्रतिबन्धकं निषिध्यत इति चेद्भवानत्र प्रष्टव्यः—तत्त्वोपदेष्टा साधको वा सिद्धो वा संसिद्धो वेति। नाद्यः। साधकस्यात्मयाथात्म्यविज्ञानाभावाद्ग्रन्थार्थोपदेशमात्रं विना निर्विचिकित्सं तत्त्वोपदेशानुपपत्तेः। यथा शास्त्रेण लक्षणेन स्वरूपेण च तत्त्वमणिं विज्ञातवत एव मणितत्त्वोपदेश उपपद्यते, न तु शास्त्रमात्राध्येतुर्नापि लक्षणं श्रुतवतो नापि चापातदर्शनवतः सिध्यति तद्वत्। नापि तृतीयः; सप्तमीं भूमिकामधिरुह्य प्रपञ्चं विस्मृत्य परप्रयत्नाच्छारीरं कर्म कुर्वत उपदेशायोगात्पारिशेष्यात्सिद्धस्यैवोपदेशयोग्यत्वम्। ननु सिद्धस्यापि बहिःप्रवृत्त्या ज्ञानं प्रतिबध्येतेति चेन्न, मुमुक्षुभ्यः शिष्येभ्यस्तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थोपदेशेनात्मज्ञानं दृढमेव भवति। ततः शिष्येभ्यो मुमुक्षुभ्यः सिद्धेनोपदेष्टव्यम्, अन्यथा त्वाचार्याभावप्रसङ्गाच्छास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गान्मुमुक्षूणामगतित्वप्रसङ्गाच्च। ततः 'स्वयं तीर्णः परान् तारयति' इतिन्यायेन सिद्धः स्वयं मुक्तोऽन्यान् शरणागतान् मुमुक्षून् बन्धान्मोचयति, तदेव फलमैहिकज्ञानसंपत्तेर्विदुषः। ननु सदेतत्सत्यं, तथापि मूढानामुपदेशप्रवृत्त्या द्वैतवासना प्रवर्धते, तया विपरीतप्रत्ययवृद्धिः, तया सर्वात्मत्वज्ञानं प्रतिबद्ध्यते, तेन मोक्षश्च। कथमात्महानिं विद्वानङ्गीकृत्योपदेक्ष्यतीत्यत आह—भक्तिमिति। 'पुत्रानुपुत्रविषयेषु च तत्परोऽपि ब्रह्मावलोकननिरूढमना हि योगी। संगीततालपरिनृत्यवशं गतापि मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव' इतिन्यायेन परोपदेशे प्रवृत्तोऽपि सिद्धो यतिर्मयि सर्वात्मन्यद्वितीये परे ब्रह्मण्यारोपितं सर्वदृश्यं चिरकालनित्यनिरन्तरसमाध्यभ्यासबलेन सन्मात्रतया गृह्णातीति परा प्रकृष्टा तामुत्तमां भक्तिं सर्वत्र सन्मात्रग्राहिणीं प्रत्यग्दृष्टिं कृत्वा। सदा सर्वत्र सर्वं ब्रह्मैव पश्यन्, निःशेषविनष्टद्वैतभावो विद्वान्मामेवाद्वितीयं निर्विशेषं परं ब्रह्मैष्यति प्राप्स्यति, न तूत्क्रमणं नापि लोकान्तरं नापि देशान्तरं नैव च देहान्तरं यास्यति। अत्र संशयो न कर्तव्यः। ब्रह्मविदो यतेः सिद्धस्य कश्चित्परोपदेशे प्रवृत्तस्य ब्रह्मप्राप्तौ शङ्कामेवकारेणैव निरस्य तस्यापि दार्ढ्यार्थमसंशय इत्युक्तम्। तेन सिद्धं ब्रह्मविद्यतिः सिद्धः कश्चित्परोपदेशे प्रवृत्तोऽपि स्वयं सर्वत्र ब्रह्मदृष्टिमुख्यात्मनो ब्रह्मभावमेव गच्छति, नास्त्यत्र संशय इति ॥ ६८ ॥

श्री० टी०—एतैर्दोषैर्विरहितेभ्यो गीताशास्त्रोपदेष्टुः फलमाह—य इति। मद्भक्तेष्वभिधास्यति मद्भक्तेभ्यो यो वक्ष्यति, स मयि परां भक्तिं करोति, ततो निःसंशयः सन्मामेव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

स० टी०—संप्रदायविधिं प्रोच्य तत्कर्तुः फलमुच्यते ॥ य आवयोरिमं ग्रन्थं संवादात्मकमद्भुतम् ॥१॥
रहस्यार्थतया गुह्यं सत्पुरुषार्थसाधनम् ॥ वक्तुं योग्यं न सर्वत्र मद्भक्तेष्वभिधास्यति ॥ २ ॥ मां श्रीम-
द्वासुदेवाख्यं भगवन्तं जगद्गुरुम् ॥ हरिं प्रत्यनुरक्तेषु योऽभितो ग्रन्थतोऽर्थतः ॥ ३ ॥ स्थापयिष्यति
मद्भक्त्या संप्रदायप्रवर्तकः ॥ भगवद्वासुदेवस्य समस्तजगतां गुरोः ॥ ४ ॥ शुश्रूषैव मयापीयं क्रियते
मनसा गिरा ॥ इत्येवं निश्चयाकारां भक्तिं कृत्वा मयीश्वरे ॥ ५ ॥ योऽभिधास्यति सोऽत्यन्तप्रियं मामेव
चिद्घनम् ॥ भगवन्तं जगन्नाथं वासुदेवमधोक्षजम् ॥ ६ ॥ एष्यत्येवाशु संसारान्मुच्यते नात्र संशयः ॥
भगवद्भक्तिमात्रेण पात्रतां याति मानवः ॥ ७ ॥ इति सूचयितुं भक्तेरुपादानं पुनः कृतम् ॥ ८ ॥ ६८ ॥

भा० टी०—एवं संप्रदायस्य विधिमुक्त्वा शास्त्रसंप्रदाने प्रवृत्त्यर्थं तस्य कर्तुः फलमाह—य इति । इमं
यथोक्तं केशवार्जुनयोः संवादरूपं ग्रन्थम् । इदमितिपाठस्त्वाचार्यैरव्याख्यातत्वादनादरणीयः । य इमं निःश्रे-
यसार्थत्वात्परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं रहस्यार्थविषयत्वात् । मद्भक्तेषु मयि भक्तिमत्सु योऽध्यापकोऽभिधास्यति
ग्रन्थतोऽर्थतश्चाध्यापयिष्यति। यथा मयि वासुदेवे नित्यभक्ते त्वयि मया ग्रन्थतोऽर्थतश्च स्थापितस्तथा मद्भक्तेषु
यो ग्रन्थमिमं स्थापयिष्यति, स भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोः शुश्रूषा मया क्रियत इत्येवं कृत्वा
मामेवैष्यति नान्यं, मुक्तो भविष्यत्येवेत्यर्थः। अत्र संशयो न कर्तव्यः। मद्भक्तेष्विति भक्तेः पुनर्ग्रहणं भक्तिमात्रेण
शास्त्रसंप्रदाने पात्रं भवतीति गम्यते, भक्तिं परामद्वैतलक्षणामुपासनां कृत्वेति तु गीताशास्त्रप्रदानलक्षण-
भक्तेः फलं वक्तुं प्रवृत्तस्येतरभक्तिफलकथनमनुचितमित्यभिप्रेत्याचार्यैर्न व्याख्यातम् ॥ ६८ ॥

प० टी०—एतैर्दोषैर्विरहितेभ्यो भक्तेभ्यो गीताशास्त्रोपदेष्टुः फलमाह—य इति । य आचार्य इदं परमं
गुह्यं गोप्यं गीतार्थतत्त्वं मद्भक्तेषु जिज्ञासया प्राप्तेषु सत्स्वभिधास्यति वक्ष्यति साभिप्रायं निरूपयिष्यति,
स मयि जगदीश्वरे परामव्यभिचारिणीं भक्तिं कृत्वाऽसंशयः सन् मामेव प्राप्नोति । आत्माख्यदक्षिणादातुः
किमन्यत् फलं वाच्यमित्यर्थः । श्रुतिरपि ऋग्वेदे—" आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवन्तमसो निर-
मोचि । महिज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि " इति । अत्र रावणभाष्यम्—एषा-
माचार्याणां माघोनं महि आविरभूत् । इन्द्रति जानातीति व्युत्पत्त्या मघोन इन्द्रस्य परमात्मन इदं
माघोनं महि महत्त्वमाविरभूत् । कुत इत्याह—महीति । महित्वं ज्योतिर्ज्ञानं च पितृभिरस्माभिर्दत्तं सदागात्
प्राप्तं तेष्वाचार्येषु परिणतं, येन ज्योतिषा विश्वं जीवं सर्वं जगत् तमसोऽज्ञानान्निरमोचि निर्मोचितम् ।
अथ कथमस्माभिस्तेभ्य एवार्पितमित्याह—तैः उरुर्निरवधिकफलो दक्षिणायाः पन्था मार्गोऽदर्शि दृष्टः । मोक्षा-
र्थिभ्य आत्माख्यदक्षिणाया मार्गस्य फलं निरवधिकमिति ज्ञातमित्यर्थः । अत एव सावधिकफला दक्षिणा-
मग्निमश्नुत्याह—उच्चादिवीति ॥ ६८ ॥

रा० टी०—गीताशास्त्रस्य व्याख्याने फलोक्त्या प्रशंसति—य इत्यादिद्वाभ्याम् । परमं गुह्यमति-
गोप्यमिदं गीताशास्त्रं योऽधिकारी मद्भक्तेषु मम भक्तेभ्योऽभिधास्यति उपदेक्ष्यति स इति योज्यम् ।
मयि परां भक्तिं कृत्वा मामेवैष्यति प्राप्स्यति । असंशयः नास्ति संशयः ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ॥
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥

त० टी०—मामेवैष्यतीत्युक्तं तत्र हेतुमाह—न चेति । मद्भक्तेषु यो गीताशास्त्राभिधायकस्त-
स्मादन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिन्मे मम प्रियकृत्तमः अतिशयेन प्रियकृन्नास्ति वर्तमानकाले, न च मे
तस्मादन्यः कश्चित्प्रियतरो भुवि अस्मिँल्लोके भविता भविष्यति ॥ ६९ ॥

म० टी०—किंच—नेति । तस्माद्भक्तेषु शास्त्रसंप्रदायकृतः सकाशादन्योऽत्र मनुष्येषु मध्ये कश्चिदपि मे

मम प्रियकृत्तमः अतिशयेन प्रियकृत् मद्विषयप्रीत्यतिशयवानासीत् वर्तमाने काले, नापि प्रागासीत्तादृक् कश्चित्। न च कालान्तरे भविता भविष्यति। ममापि तस्मादन्यः प्रियतरः प्रीत्यतिशयविषयः कश्चिदप्यासीन्न अधुना च भुवि लोकेऽस्मिन्नास्ति। न च कालान्तरे भवितेत्यावृत्त्या योज्यम् ॥ ६९ ॥

शं० टी०—एवं करुणयैव मुमुक्षुभ्यो गीताशास्त्रं तदर्थं चोपदिशन्तं स्तौति—न चेति। यो ब्रह्मवित् विमुमुक्षुभ्यो निरुक्तविशेषणवद्भ्यो गीतां तदर्थं चोपदिशति, तस्माद्गीताशास्त्रोपदेष्टुर्यतोऽन्यः प्रियकृत्तमः मे प्रियमिष्टं मत्प्राप्तेरन्तरङ्गसाधनं श्रवणमननध्यानादिकं नित्यं प्रयत्नेन ये कुर्वन्ति ते प्रियकृतस्तेभ्यः सर्वेभ्योऽप्युत्तमः प्रियकृत् प्रियकृत्तमः। मनुष्येषु स्तोत्रमन्त्रजपपूजादिबहिरङ्गसाधनपरेषु कश्चिन्नास्ति, बहिरङ्गसाधनपरेभ्योऽन्तरङ्गसाधनपराः मम प्रियास्तेभ्यः सर्वेभ्यः प्रियो गीतार्थोपदेष्टा। यतः स्वयं तीर्णः परेषामपि तारणाय प्रवृत्तस्ते तु स्वतरण एव प्रवृत्तास्तस्मादयमेव प्रियकृत्तमो नान्यः कश्चिदिदानी-मित्यर्थः। इतः परमपि मे मम तस्मान्मम भक्तेभ्यो गीताशास्त्रोपदेष्टुरन्यः प्रियतरः प्रियकृत्तरो भुवि भूलोके न भविता च न भविष्यति। संसारदुःखसागरनिमग्नान् मद्भक्तान् मुमुक्षून् दययैव ज्ञानशास्त्रार्थो-पदेशेन यो ब्रह्मवित्तमः समुद्धरति स एव कालत्रयेऽपि मम परमेश्वरस्य प्रियकृत्तम इति तात्पर्यार्थः॥६९॥

श्री० टी०—किंच—न चेति। तस्मान्मद्भक्तेभ्यो गीताशास्त्रव्याख्यातुः सकाशादन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिदपि मम प्रियकृत्तमोऽत्यन्तं परितोषकर्ता नास्ति, नच कालान्तरे भविता भविष्यति ममापि तस्मादन्यः प्रियतरोऽधुना भुवि तावन्नास्ति न च कालान्तरेऽपि भविष्यतीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

म० टी०—तस्मान्मय्यनुरक्तेषु संप्रदायप्रवर्तकात् ॥ पुरुषात्परः कश्चित्तेषु मध्ये समेधितुः ॥ १ ॥ न चैवातिशयेनास्ति प्रियकृत्सांप्रतं क्वचित् ॥ नापि कश्चित्पुरा तादृगासीद्वा पुरुषोत्तमः ॥ २ ॥ न च कालान्तरे कश्चिद्भविष्यति नृणोत्तमः ॥ तस्मात्कश्चिन्ममाप्यन्यो नासीत्प्रियतरो भुवि ॥ ३ ॥ वर्तमाने-ऽधुना नास्ति न चाप्यग्रे भविष्यति ॥ ४ ॥ ६९ ॥

भा० टी०—ननु सर्वेषां मुक्तिसाधनानां ध्यानस्य श्रेष्ठत्वात्तन्निष्ठस्य मुमुक्षोः कुत एतच्छास्त्रसंप्रदाने प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—न चेति। न च तस्माच्छास्त्रसंप्रदायकृतो मनुष्येषु मद्भक्तिमत्सु वर्तमानेषु मध्ये क-श्चिन्मे प्रियकृत्तमोऽतिशयेन प्रीतिकृत्ततोऽन्यो नास्त्येव नाप्यतीतेष्वेतादृक् कश्चित् आसीदिति शेषः। तस्मादेतच्छास्त्रसंप्रदानकर्तुरन्यो द्वितीयो भुवि लोकेऽस्मिन्कालान्तरेऽपि न च भविता न भविष्यतीत्यर्थः। ध्यानकर्तुः श्रेष्ठत्वेऽपि एतच्छास्त्रसंप्रदानकर्तुरन्यस्य कालत्रयेऽपि श्रेष्ठतमत्वाभावादेतच्छास्त्रसंप्रदाने प्रवृत्तिरुचितैवेति भावः ॥ ६९ ॥

प० टी०—अथैतमेवाभिप्रायमाह—न च तस्मादिति। तस्मान्मदुक्तं गुह्यमात्मतत्त्वं मद्भक्तेभ्यो दातुः पुरुषात्सकाशादन्यः कश्चिदपि मे प्रियकृत्तमो न चास्ति न वर्तते। कालान्तरेऽप्येतादृङ्मत्प्रियकरो भुवि न भविता। अनेन बहुजन्मकृतसुकृतसामग्रीसंनाह्यतिरेकेणैतादृग्वक्ता न भविष्यतीति तस्य दुर्लभत्वमुक्तम्। तथा सर्वभजनापेक्षयेदं भजनं मम परमप्रीतये भवतीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

रा० टी०—न चेति। तस्माद्गीताव्याख्यातुः मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः न चास्ति नैवास्ति। तस्मादन्यो मे प्रियतमो भविता च न, नाऽभूदिति च ज्ञेयम्। अत्र मनुष्येष्वित्युक्त्या देवाना फला-भिनयं सूचयति ॥ ६९ ॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ॥
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥

त० टी०—एवमध्यापकस्य फलमुक्त्वा अध्येतुः फलमाह—अध्येष्यत इति । आवयोर्वासुदेवार्जुनयोरिमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संवादं सर्वशास्त्रार्थनिर्णयं यश्चाध्येष्यते यथोक्तार्थविशिष्टं सद्गुरोः सम्यगवधार्यार्थानुसंधानसहितं नियमेन पठिष्यति, तेन पुंसा ज्ञानयज्ञेन चतुर्थाध्यायोक्तसर्वयज्ञेषु 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते । श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप' इति विशिष्टतयोक्तेन अहमिष्टः पूजितः स्यामिति मे मतिर्मम निश्चयः । यद्यपि ज्ञानयज्ञस्त्वर्थविचारेणैव भवति तथाऽपि यो मद्भक्तः केवलपाठमात्रेणापि मां स्तौति सोऽपि स्वमाहात्म्यं शृण्वतो मम प्रियो भवति । यथा लोके कश्चिदल्पबुद्धिरपि कस्यचिन्महाजनस्य यथाबुद्धि माहात्म्यं वाङ्मात्रेणापि ख्यापयति स तस्य प्रियो भवति, तथा गीतापाठमात्रकृदपि ममैश्वर्यगुणसूचकोऽयमिति मे प्रियो भवतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

म० टी०—अध्यापकस्य फलमुक्त्वाऽध्येतुः फलमाह—अध्येष्यत इति । आवयोः संवादमिमं ग्रन्थं धर्म्यं धर्मादनपेतं योऽध्येष्यते जपरूपेण पठिष्यति ज्ञानयज्ञेन ज्ञानात्मकेन यज्ञेन चतुर्थाध्यायोक्तेन द्रव्ययज्ञादिश्रेष्ठेनाहं सर्वेश्वरः तेनाध्येत्रा इष्टः पूजितः स्यामिति मे मतिर्मम निश्चयः । यद्यप्यसौ गीतार्थमबुध्यमान एव जपति तथापि तच्छृण्वतो मम मामेवासौ प्रकाशयतीति बुद्धिर्भवति । अतो जपमात्रादपि ज्ञानयज्ञफलं मोक्षं लभते सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारा । अर्थानुसन्धानपूर्वकं पठतस्तु साक्षादेव मोक्ष इति किं वक्तव्यमिति फलविधिरेवायं नार्थवादः । 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप' इति हि प्रागुक्तम् ॥ ७० ॥

शं० टी०—श्रद्धया भक्त्या च नित्यं यो मुमुक्षुर्गीतापारायणं करोति तस्य फलमाह—अध्येष्यत इति । तव च मम चावयोः संवादं संल्लापरूपं धर्म्यं धर्मस्य मोक्षैककारणस्य ज्ञानस्य सिद्धिहेतुत्वाद्धर्मादनपेतं धर्म्यमिमं ग्रन्थं गीताशास्त्रं यश्च मुमुक्षुर्ब्राह्मणादिः श्रद्धया भक्त्या चार्थज्ञानपूर्वकमध्येष्यते नित्यं नियमेन पठिष्यतीत्यर्थः । तेनार्थज्ञानपूर्वकं गीताप्रवृत्तिं कुर्वता मद्भक्तेनाहं परमेश्वरः सततं ज्ञानयज्ञेन ज्ञानमात्मैकत्वविषयं ज्ञानमेव यज्ञो ज्ञानयज्ञस्तेन ज्ञानयज्ञेन इष्टः आराधितः स्यां भवेयम् । गीतापठनस्यार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्ब्रह्मण एव तदर्थत्वात्तदनुसंधानेन यत्फलं कैवल्यलक्षणं तत्क्रमेण गीताध्येता प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

श्री० टी०—पठतः फलमाह—अध्येष्यत इति । आवयोः कृष्णार्जुनयोः इमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संवादं योऽध्येष्यते जपरूपेण पठिष्यति तेन पुंसा सर्वयज्ञेभ्यः श्रेष्ठेन ज्ञानयज्ञेनाहमिष्टः स्यां भवेयमिति मे मतिः । यद्यप्यसौ गीतार्थमबुद्ध्यमान एव केवलं जपति तथापि मम तच्छृण्वतो मामेवासौ प्रकाशयतीति बुद्धिर्भवति । यथा लोके यदृच्छयाऽपि कश्चित्कदाचित्कस्यचिन्नाम गृह्णाति तदासौ मामेवायमाह्वयतीति मत्वा तत्पार्श्वमागच्छति तथाहमपि तस्य सन्निहितो भवेयम् । अत एव अजामिलक्षत्रबन्धुप्रमुखानां कथंचिन्नामोच्चारणमात्रेण प्रसन्नोऽस्मि, तथैवास्यापि प्रसन्नो भवेयमित्यर्थः ॥ ७० ॥

स० टी०—फलमध्यापकस्योक्त्वा फलमध्येतुरुच्यते ॥ य आवयोरिमं ग्रन्थं संवादात्मकमादरात् ॥ १ ॥ धर्म्यं धर्मादनपेतं च पठिष्यति जपात्मना ॥ ज्ञानात्मकेन यज्ञेन तुर्याध्यायेरितेन वै ॥ २ ॥ द्रव्ययज्ञादिश्रेष्ठेन सर्वयज्ञेश्वरो ह्यहम् ॥ तेनाध्येत्राऽतिपुण्येन पूजितः स्यामितीशितुः ॥ ३ ॥ ममास्ति निश्चयस्तेन कृतकृत्योऽस्ति मत्प्रियः ॥ यद्यप्यसौ जपत्येवाबुद्ध्यमानोऽर्थमाशयम् ॥ ४ ॥ तच्छृण्वतस्तथापीति भवत्येवं मतिर्मम ॥ प्रकाशयति मामेवाध्येताऽयमिति धीपतेः ॥ ५ ॥ ज्ञानयज्ञफलं तस्माज्जपमात्रादपीरितम् ॥ चित्तशुद्ध्यात्मविज्ञानद्वारा मोक्षमुदारधीः ॥ ६ ॥ प्राप्नोति भगवद्गीताशास्त्राध्येता न संशयः ॥ पठतोऽर्थानुसंधानपूर्वकं पुरुषस्य तु ॥ ७ ॥ साक्षादेव भवेन्मोक्ष इति किं वाच्यमित्ययम् ॥ साक्षात्फलं-

विधेरेवोद्देशो नास्यार्थवादता ॥ ८ ॥ श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ॥ इत्येवं पूर्वमेवोक्तमतो नित्यं मुमुक्षुभिः ॥ ९ ॥ अत्यादरेण गीताख्यं शास्त्रमध्येयमित्यलम् ॥ १० ॥ ७० ॥

भा० टी०—एवमेतच्छास्त्रसंप्रदानकर्तुरध्यापकस्य फलमुक्त्वाऽध्येतुस्तदाह—अध्येष्यते इति । योऽध्येता धर्म्यं धर्मादनपेतमिममावयोः संवादमध्येष्यते च पठिष्यति तेन अध्येत्रा ज्ञानयज्ञेनाहमिष्टः स्यां 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' इति सर्वयज्ञेभ्यः श्रेष्ठतमत्वेनाभिहितस्य देवतादिविषयज्ञानयज्ञस्य फलं कैवल्यं तत्तुल्यं देवताद्याःमत्वमस्य फलं भवतीत्यर्थः । तेनाध्येत्रा ज्ञानयज्ञफलतुल्यफलेनाध्ययनेनाहमिष्टः पूजितः स्यां भवेयमिति मे मम मतिर्निश्चयः । फलविधिरेवायं न स्तुतिवादः ॥ ७० ॥

प० टी०—अथ गीताशास्त्रस्य पठनफलमाह—अध्येष्यते चेति । आवयोः कृष्णार्जुनयोरिमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संवादं योऽध्येष्यते जपरूपेण पठिष्यति, तस्य जपयज्ञफलेन भवितव्यम् । परं तु तेन पुंसा सर्वयज्ञेभ्यः श्रेष्ठेन ज्ञानयज्ञेनाहमिष्टः स्या ज्ञानयज्ञेन संतर्पितो भवेयमिति मे मतिर्मम संमतम् । यद्यप्यसौ गीतार्थमबुद्ध्वाऽपि (ऽपि जपति) तथापि मत्प्रसादकर एव । यतो गीतारूपछन्दऋषिदेवतायुतो मालामन्त्रः । तत्र छन्दांस्यनुष्टुबादीनि, ऋषिर्वेदव्यासः, देवता श्रीकृष्णस्तत्र मन्त्रशब्दार्थस्तु—मन्तारं त्रायतेऽसौ मन्त्र इति व्युत्पत्त्या जपमात्रेणैव सिद्धिदो भवति, नहि तत्र मन्त्रार्थो मृग्यते । तथा च यद्देवताको मन्त्रस्तेन मन्त्रेण सा देवता प्रीयते । प्रकृते तु चित्तशुद्धिद्वाराहं प्रीतः सन् स्वरूपं दर्शयामीत्यर्थः ॥ ७० ॥

रा० टी०—गीताध्ययनमपि फलकथनेन प्रशंसति—अध्येष्यते चेति । धर्म्यं धारकत्वाद्धर्मो भगवान् । तदीयं धर्म्यम् । धर्मसाधनमिति वा । इममावयोः संवादं गीताप्रबन्धं यः अध्येष्यते च पठिष्यति च । तेन पुंसा ज्ञानयज्ञेन ज्ञानाख्ययज्ञेनाहमिष्टः पूजितः स्यां भवेयं, इति मे मतिः ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ॥
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥ ७१ ॥

त० टी०—इदानीमन्यस्य पठतो योऽन्यः शृणोति तस्य फलमाह—श्रद्धावानिति । यः कश्चिन्नरः अन्यस्य विदुषो योगैः पठतः सकाशात् केवलं शृणुयादपि । कथंभूतः ? श्रद्धावान् साक्षाद्भगवद्गीतत्वान्महाफलमिति विश्वासवान् । पुनरनसूयश्च—सम्यङ्न पठति, अयं पठितुमनर्ह इति दोषारोपमकुर्वन् यः शृणुयात्सोऽपि पापैर्मुक्तः पुण्यकर्मणामश्वमेधादिपुण्यकर्मकृतां शुभाँल्लोकान् पुण्यफलभोगभोग्यान्प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

म० टी०—प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलं कथयति—श्रद्धेति । यो नरः कश्चिदपि अन्यस्योच्चैर्जपतः कारुणिकस्य सकाशात् श्रद्धावान् श्रद्धायुक्तः, तथा किमयमयमुच्चैर्जपत्यसाद्धं वा जपतीति दोषदृष्ट्याऽसूयया रहितोऽनसूयश्च केवलं शृणुयादिमं ग्रन्थम्—अपिशब्दात् किमुतार्थज्ञानवान्—सोऽपि केवलाक्षरमात्रश्रोतापि मुक्तः पापैः शुभान् प्रशस्तान् लोकान् पुण्यकर्मणामश्वमेधादिकृतां प्राप्नुयात् । ज्ञानवतस्तु किं वाच्यमिति भावः ॥ ७१ ॥

शं० टी०—प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलमाह—श्रद्धावानिति । विचाराध्ययनयोरनधिकारी योऽपि—यश्च नरो नरमात्राकारवान् मूढो वा वृद्धो वा स्त्रीजनो वा, अन्वहं श्रद्धावान् वक्तरि गीतायामपि परमेश्वरे च श्रद्धाभक्तिसंपन्नस्तथानसूयुरसूयादिदोषरहितो भूत्वा नित्यमिदं गीताशास्त्रं शृणुयात्, सोऽपि श्रोतापि ज्ञानाज्ञानकृतेभ्यः पापेभ्यो मुक्तः सन् पुण्यकर्मणामश्वमेधादियागकर्तॄणां ये लोकास्तान् शुभान् अत्यन्तसुखकरान् प्राप्नुयात् । नित्यं गीताश्रवणमात्रेण सत्यादिपुण्यलोकान् प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

श्री० टी०—अन्यस्य जपतो योऽन्यः कश्चिच्छृणोति तस्यापि फलमाह—श्रद्धावानिति । यो नरः श्रद्धायुक्तः केवलं शृणुयादपि । श्रद्धावानपि कश्चित्किमर्थमुच्चैर्जपति अबद्धं जपतीति वा दोषदृष्टिं करोति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—अनसूयश्च । असूयारहितो यः शृणुयात् सोऽपि सर्वैः पापैर्मुक्तः सन् अश्वमेधादिपुण्यकृतां लोकान्प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

स० टी०—फलं प्रवक्तुरध्येतुश्चोक्त्वा श्रोतुः फलं हरिः ॥ इदानीं कथयत्यद्धा करुणारससागरः ॥ १ ॥ यः कश्चन मनुष्योऽपि जपतोऽन्यस्य कस्यचित् ॥ उच्चैर्दयानिधेः पुंसः सकाशाच्छ्रद्धयाऽन्वितः ॥ २ ॥ उच्चैर्जपत्यबद्धं वा किमर्थमिति दोषदृक् ॥ असूया तद्विहीनः सन्केवलं शृणुयादिमम् ॥ ३ ॥ ग्रन्थम॰ ग्रापिशब्दात्तु किमुतार्थविबोधवान् ॥ केवलाक्षरमात्रस्य श्रोतापि त्यक्तकिल्बिषः ॥ ४ ॥ लोकान्प्रशस्ता॰ नाप्नोति सोऽश्वमेधादियाजिनाम् ॥ किं वाच्यं भगवद्गीताशास्त्रार्थविद इत्यलम् ॥ ५ ॥ ७१ ॥

भा० टी०—प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरपि फलं कथयति—श्रद्धावानिति । श्रद्धावान् श्रद्॰ धानोऽनसूयश्च—पौरुषेयत्वात् श्रुतितो निकृष्टमिदमिति दोषदृष्टिरसूया—तद्रहितः सन्निमं ग्रन्थं यो नरो यः कश्चिच्छृणुयादपि । नरशब्देनैतच्छ्रवणेनापि यो हीनो नासौ नरः किंतु पशुरिति सूचयति । सोऽपि मुक्तः पातकाद्रहितः पुण्यकर्मणामग्निहोत्राश्वमेधादिपुण्यकर्मवतां लोकान् शुभान् प्रशस्तान् प्राप्नुयात् । अपिशब्दात् किमुतार्थज्ञानवान् ॥ ७१ ॥

प० टी०—अथ श्रवणफलमाह—श्रद्धावानिति । यो नरः श्रद्धायुक्तः सन् केवलं शृणुयादपि कश्चित्किम॰ र्थमयमुच्चैर्जपत्यबद्धं वेति दोषदृष्ट्या शृणोति तन्निवृत्त्यर्थमाह—अनसूयश्चेति । असूयारहितः शृणुयात्सोऽपि सर्वैः पापैर्मुक्तः सन्नश्वमेधादिपुण्यकृतां लोकान् प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

रा० टी०—गीताश्रवणमपि फलोक्त्या प्रशंसति—श्रद्धावानिति । अस्मादपि मे फलमित्यास्तिक्यबु॰ द्धिमान् । अनसूयः असूयादिदोषरहितश्च नरः इममावयोः संवादं शृणुयाच्चेदपि । सोऽपि मुक्तः सन्पुण्य॰ कर्मणां शुभान्लोकानवाप्नुयात् । अत्र सोऽपि श्रवणं कुर्वन्नपि मुक्तः । किमु तदध्येतेत्युक्त्या श्रवणं कुर्व॰ तोऽपि तदध्येतुर्मुक्तावधिकसुखमिति सूचितम् । तथा तस्मादपि व्याख्यातुर्मुमुक्षुस्याधिकं सुखम् । ततो देवानामिति ज्ञातव्यम् ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ॥
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ! ॥ ७२ ॥

त० टी०—एतद्गीताशास्त्रस्य वक्तुरध्येतुः श्रोतुश्च फलमुक्तम् । इदानीं यावच्छिष्यस्याज्ञानं न नश्येत्तावद्गुरुणा शिष्यः पुनरुपदेष्टव्य इति गुरुधर्मं शिक्षयन्सर्वज्ञोऽपि भगवानर्जुनं मोहनिवृत्तिं पृच्छति—[कच्चिदिति ।] कच्चिदिति प्रश्ने । एतन्मयोक्तं गुह्यतममज्ञाननाशनं गीताशास्त्रं हे पार्थ ! त्वयैकाग्रेणाविक्षिप्तेन चेतसा श्रुतं किं, सद्युक्तिभिरवधारितम् ? तेन तवाज्ञानसंमोहः अज्ञानहेतुको विपर्ययः प्रणष्टः कच्चित् हे धनञ्जय ? येन संमूढः सन्न योत्स्यामीत्युक्तवान्स यदि न नष्टः स्यात्तर्हि पुनरुपदेक्ष्यामीति भावः ॥ ७२ ॥

म० टी०—शिष्यस्य ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं गुरुणा कारुणिकेन प्रयासः कार्य इति गुरोर्धर्मं शिक्षयितुं सर्वज्ञोऽपि पुनरुपदेशापेक्षा नास्तीति ज्ञापनाय पृच्छति—कच्चिदिति । कच्चिदिति प्रश्ने । एतन्मयोक्तं गीताशास्त्रमेकाग्रेण व्यासङ्गरहितेन चेतसा हे पार्थ ! त्वया किं श्रुतमर्थतोऽवधारितम् ? कच्चित्—किं अज्ञान- संमोहो अज्ञाननिमित्तः संमोहो विपर्ययः अज्ञाननाशात् प्रनष्टः प्रकर्षेण पुनरुत्पत्तिविरोधित्वेन नष्टस्ते तव हे धनंजय ? यदि स्यात् पुनरुपदेशं करिष्यामीत्यभिप्रायः ॥ ७२ ॥

शं० टी०—शास्त्रार्थे सम्यग्ज्ञाते शिष्यः कृतार्थ एव स्यात्, अज्ञाते तु प्रकारान्तरेण बोधयित्वा तदज्ञानविपरीतग्रहणादिदोषमपास्य तस्य कृतार्थता संपादनीया—अयमाचार्यस्य धर्म इत्युपदेष्टॄणां सूचयितुमर्जुनस्य स्वबोधितार्थग्रहणं तदग्रहणं च विज्ञातुमिच्छया पृच्छति श्रीभगवान्—कच्चिदिति। हे पार्थ तत्त्वजिज्ञासुना त्वया एतन्मयोपदिष्टमात्मतत्त्वप्रकाशकवाक्यजातमेकाग्रेण सावधानेन चेतसा श्रुतं कच्चित्किं?—मयोक्तं सर्वं सावधानेन गृहीतं न गृहीतं वा वक्तव्यमित्यर्थः। एवमुपदेशं पृष्ट्वा तत्कार्यं पृच्छति—कच्चिदिति। ते तवाज्ञानसंमोहः अज्ञानमात्मतत्त्वावरकं तिमिरवदावरणलक्षणं तन्निमित्तकः संमोहो विपरीतग्रहः नष्टो नाशं गतः कच्चित्? मयोक्तवचनजन्यज्ञानेन तव बुद्धिभ्रमो नष्टः किं न वेत्यर्थः॥ ७२॥

श्री० टी०—सम्यग्बोधानुत्पत्तौ पुनरुपदेक्ष्यामीत्याशयेनाह—कच्चिदिति। कच्चिदितिप्रश्नार्थे। अज्ञानसंमोहः तत्त्वाज्ञानकृतो विपर्ययः। स्पष्टमन्यत्॥ ७२॥

स० टी०—विज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं शिष्यस्यानुगतस्य च॥ सम्यक्प्रयासः कर्तव्यो गुरुणा करुणाब्धिना॥१॥ इति शिक्षयितुं सम्यग्गुरोर्धर्मं कृपानिधिः॥ सर्वज्ञोऽपि स्वयं शिष्यं पृच्छति स्वानुगं जयम्॥ २॥ एतन्मयोक्तं गीताख्यं शास्त्रं हे पार्थ चेतसा॥ व्यासंगान्तरशून्येन किं त्वया श्रवमर्थतः॥ ३॥ अवधारितमेतत्किं मोहोऽज्ञाननिमित्तकः॥ अज्ञाननाशतो नष्टः प्रकर्षेणैव किं तव॥ ४॥ यदर्थोऽयं ममायास उपवेष्टृतया तथा॥ तवापि श्रवणायासः स किं नष्टो धनंजय॥ ५॥ यदि स्यादुपदेशं ते करिष्यामि पुनर्ह्यहम्॥ ६॥ ७२॥

भा० टी०—त्वं तु प्रयत्नमास्थाय सर्वप्रकारेण शिष्यः कृतार्थः कर्तव्य इत्याचार्यधर्मं दर्शयितुमुपदिष्टार्थग्रहणे ज्ञाते पुनर्मोहयिष्याम्युपायान्तरेणेत्यभिप्रायवान् शिष्यस्य शास्त्रार्थग्रहणं बिबित्सुः पृच्छति—कच्चिदिति। कच्चिदिति प्रशस्तप्रश्नार्थे। एकाग्रेण चेतसा चित्तेन त्वया एतन्मयोक्तं श्रुतं श्रवणेनावधारितं किंवा प्रमादेन नावधारितम्? अज्ञानसंमोहः अज्ञाननिमित्तः संमोहः अविवेकस्वभावः कच्चिदिति किं तेऽज्ञाननाशात्प्रनष्टः प्रकर्षेण पुनरुत्पत्तिविरोधित्वेन नष्टः? यदर्थोऽयं तव शास्त्रश्रवणायासो मम चोपदेष्टृत्वायासः प्रकृतः। हे पार्थेति संबोधयन् स्त्रीस्वभावशोकमोहनिवर्तकमेतत्त्वयैकाग्रेण चेतसा श्रुतमिति सूचयति। यदि त्वया न श्रुतं स्यात्तर्हि पुनर्मया वक्तव्यं, पृथापुत्रेण प्रेमास्पदेन त्वया यावन्नावधारितं तावन्मया पुनः श्रावणीयमिति वा संबोधनाशयः। मदाज्ञया लोकोद्धारार्थं त्वया स्त्रीस्वभावौ शोकमोहावङ्गीकृतौ। लोकोद्धारोपायस्य च मया प्रोक्तस्यैतस्य त्वयैकाग्रेण मनसा श्रुतत्वादिदानीं तौ विहाय स्वस्वभावमाविर्भावयेति पार्थेतिसंबोधनस्य गूढाभिसंधिः। धनंजयेति संबोधयन् यदि ते मोहः प्रनष्टस्तर्हि धनंजयो भव, नोचेत्पुनस्तन्नाशाय यत्प्रष्टव्यं तत्पृच्छेति सूचयति। गूढाभिसंधिपक्षे ‘वीरोऽनन्तो धनंजयः’ इत्यत्रोक्तेन धनंजयेन स्वनाम्ना संबोधयन् मदवतारस्य तवाज्ञाननिमित्तकमोहाभावान्मदाज्ञया लोकोपकारायाङ्गीकृतोऽज्ञानसंमोहः कच्चित्प्रनष्टः—अज्ञाननिमित्तकसंमोहप्रणाशनसामर्थ्यं मदुपदेशस्यास्ति कच्चिदिति ध्वनयति॥ ७२॥

प० टी०—सम्यग्बोधानुत्पत्तौ पुनरुपदेक्ष्यामीत्याशयेनाह—कच्चिदिति। अज्ञानसंमोहस्ते प्रनष्टः कच्चिदिति प्रश्नार्थविपर्ययः। स्पष्टमन्यत्॥ ७२॥

रा० टी०—एतावदनुपदेशः अरण्यरुदितवज्जातो न भवति किलेतिभावेन पृच्छति—कच्चिदिति। किमित्यर्थेऽव्ययमेतत्। हे पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा एतन्मदुक्तं गीताप्रमेयं श्रुतं किम्? अज्ञानोत्थः संमोहः कच्चित्ते प्रणष्टः?॥ ७२॥

अर्जुन उवाच–नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥

त० टी०–एवं पृष्टः स्वकृतार्थतामर्जुन उवाच—नष्ट इति । य आत्मविषयो मोहोऽन्यथा-
ज्ञानजो विपर्ययोऽभूत्स नष्टः । तत्र हेतुमाह–त्वत्प्रसादादिति । मोहनाशे गमकमाह–स्मृतिर्ल-
ब्धेति । यथाऽवस्थिततत्त्वज्ञानमवाप्तं, तच्च पूर्वजन्मन्यासीन्नररूपनारायणसखित्वात् । पूर्वसिद्धमेवेह
जन्मनि विनष्टं पुनर्भगवत्कृपया लब्धमतः स्मृतिर्लब्धेत्युक्तम् । मम ज्ञानं च्युतं, त्वं तु सदैकरसज्ञान
इत्यभिप्रायेण संबोधयति—हे अच्युतेति । एतेन त्वत्प्रसादात्सत्यज्ञानानन्दस्वरूपमनन्तगुणशक्तिकं
सर्वनियन्तारं सर्वस्य भवाभवहेतुं परमात्मानं साक्षाद्भगवन्तं वासुदेवं त्वां जानामीति सूचितम् ।
स्मृतिलाभस्य "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इति श्रुत्युक्तं संदेहनिवृत्तिरूपं फलमाह–स्थितो-
ऽस्मि गतसंदेह इति । गता मुक्ताः संदेहाः संशया आत्मपरमात्मस्वरूपगुणसंबन्धमोक्षप्राप्ति-
साधनविषया यस्य सोऽहं स्थितोऽस्मि, निश्चितत्वदुक्तशास्त्रार्थो निःसंशयोऽस्मीत्यर्थः । तथा हि 'न
त्वेवाहम्' इत्यादिनाऽऽत्मनित्यत्वनानात्वाविनाशित्वनिश्चयादनित्यत्वैकत्वविनाशित्वसंशयो नष्टः ।
तत 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये' इत्यारभ्य यावदध्यायसमाप्ति पूर्वोक्तात्मज्ञानप्राप्तिसाधनतया कर्म-
योगज्ञानयोगभक्तियोगाः संक्षिप्य दर्शिता ज्ञाताः । तत्र कर्मज्ञानाधिकारिविशेषानिश्चयजाप्रमत्संदेह-
निरासपूर्वकासंगकर्मानुष्ठानतन्माहात्म्यकर्माकर्मादिज्ञानं, तदनासक्त्यां नैष्कर्म्यकर्मणि ब्रह्मदृष्टियज्ञभेद-
स्तज्ज्ञानमाहात्म्यमात्मनोऽकर्तृत्वानुसंधानेन कर्मानुष्ठानसंन्यासयोरैक्यं, देहेन्द्रियमनोनियमनेन ध्यानयो-
गनिष्पत्त्या सर्वत्र समात्मस्वरूपानुसंधानाद्याभ्यासवैराग्यभगवद्भक्तियोगनिष्ठेति तृतीयादिषष्ठाध्याया-
न्तेन साधनसंशयो गतः । ततो भजनीयभगवत्पदार्थतद्भक्तिनिरूपणोपयुक्तचिदचिल्लक्षणपरापरप्रकृतिद्व-
यविभागः स्वस्य तत्स्वामित्वसर्वात्मत्वसर्वकारणत्वसर्वपरत्वं गुणमायया जगन्मोहकत्वं स्वाश्रितानां
ततो मोचकत्वं भक्ताभक्तादिभेदतत्फलकथनेनात्मनः सर्वमुमुक्षूपास्यत्वं परमफलरूपत्वं भक्तिमाहा-
त्म्यानन्तविभूत्यैश्वर्यं ब्रह्मेशानदेवर्ष्यादिसुरासुरनरदुर्दर्शदिव्याप्राकृताद्भुतैश्वररूपदर्शने भक्त्यैकलभ्यं
भक्तसुलभत्वं भक्तसंसारोद्धारकत्वं भक्तप्रियमिति सप्तमादिद्वादशाध्यायान्तेन निश्चयाद्भगवद्विभूतिगुणै-
श्वर्यभक्तलक्षणभक्तिप्राप्तिविषयकसंशयो गतः । ततः परापरप्रकृती एव क्षेत्रक्षेत्रज्ञशब्दवाच्ये तयोर्भ-
गवच्छक्तित्वेन स्वरूपेण भिन्नत्वेऽपि पृथक्स्थितिप्रवृत्त्यनर्हतया तत्तादात्म्यं क्षेत्रस्वरूपकथनपूर्वकं
क्षेत्रज्ञस्वरूपज्ञानोपायममानित्वादिविंशकं ज्ञानशब्दवाच्यं तत्स्वरूपं तु सदसद्विलक्षणं स्वयंप्रकाशं
नित्यमेव । तथाविधस्य सदसद्योनिजन्मसु प्रकृत्युद्भवसत्त्वादिगुणसङ्गः कारणं, तस्याणुपरिमाणकत्वेन
देहाद्यावरणे धर्मभूतज्ञानेन सर्वक्षेत्रप्रकाशकत्वं, तद्बन्धकगुणानामुत्पत्तौ स्वस्य हेतुत्वं तल्लक्षणबन्धक-
त्वप्रकारतत्कार्यभेदगुणातीतलक्षणगुणातिक्रमणप्रकारो गुणातीतस्य ब्रह्मभावप्राप्तिरिति त्रयोदशचतुर्द-
शाध्यायाभ्यां निश्चयात् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः परमात्मना केवलभेदो वैक्यं वेति संबन्ध-
विषयः, पुरुषस्य पारमार्थिकं स्वरूपं कीदृशं ? कथं संसारः ? कथं वा मोक्षः ? कीदृशो मोक्षः ? इति
स्वरूपविषयश्च संशयो गतः । ततो ब्रह्मभावप्राप्त्यर्हस्य पुरुषस्य बन्धनिरासहेतुवैराग्यार्थं संसारस्या-
श्वत्थरूपकेण ज्ञानासिना छेदनपूर्वकपरमपुरुषप्रपत्त्या मानमोहादित्यागेन परमपदप्राप्तिः । प्रपद्यस्य
प्राप्यभूतस्य परमात्मनः सर्वचेतनाचेतनात्मत्वसर्वप्रकाशकत्वसर्वजीवनहेतुत्ववेदवेद्यत्ववेदान्ताचार्य-
त्वसर्ववेदार्थवेत्तृत्वक्षराक्षरपुरुषद्वयातीतत्वेन पुरुषोत्तमत्वं, तथा ज्ञातुः सर्वज्ञत्वं कृतकृत्यत्वमिति पञ्चदशेन

निश्चयादनादिसंसारस्य कथं केन साधनेन वा निवृत्तिः स्यात्, परमात्मा किंस्वरूपः कीदृशगुणशक्त्यैश्वर्यवानिति संशयो गतः। तथा उक्ततत्त्वाधिकार्यनधिकारिनिर्णयाय हेयोपादेयदैवासुरसंपद्द्वयविभागनिरूपणं, दैव्याः संपदो मोक्षहेतुत्वम्, आसुर्याः कामक्रोधलोभमूलकत्वेन नित्यासुरभाववृद्ध्या अधमगतिनारकयादियोनिप्राप्तिफलम्। ततो हेयोपादेयप्रदर्शनार्थं सत्त्वादिगुणत्रयविभागेन श्रद्धाऽऽहारयज्ञतपोदानविभाग इति षोडशाद्यध्यायद्वयेन निश्चयः। तेन तत्त्वज्ञानस्य कोऽधिकारी को वाऽनधिकारी किं हेयं किमुपादेयमिति संदेहो नष्टः। ततोऽन्तिमेऽस्मिन्नध्याये सर्वाध्यायोक्तार्थं संगृह्य ग्राहयितुं तावत्पराभक्त्यनधिकारिणामविशुद्धबुद्धियुक्तानां यज्ञदानतपआदिकर्मानिष्ठयैव श्रेयो, नान्यथा। विशुद्धबुद्ध्यादियुक्तस्य विगतकामक्रोधरागद्वेषस्य ब्रह्मभूतस्य पराभक्तिलाभः, तयैव त्वत्स्वरूपगुणैश्वर्ययाथात्म्यज्ञानेन त्वत्प्राप्तिः, सर्वजीवानां त्वन्नियम्यत्वं, तव स्वतन्त्रत्वं, निरङ्कुशैश्वर्यवत्त्वम्। अतस्त्वदाज्ञानुवर्तिनोऽनन्यशरणस्य निरतिशयप्रेम्णा त्वां भजतो निष्कामस्य स्वेच्छया किंचित् कर्म कुर्वतोऽकुर्वतो वा न किंचित् पापस्पर्शस्त्वत्प्राप्तिसंदेहश्चेति त्वद्वचनान्निश्चिततत्त्वो निर्गतसंदेहो निर्भयोऽस्मि। अतस्त्वच्छासने यावज्जीवं स्थितोऽस्मि, युद्धादिविषयं सर्वं त्वद्वचनं करिष्ये, परमगुरोर्भगवतस्तवाज्ञापालनमेव करिष्ये इत्यर्थः। अत्र मामेकं शरणं व्रजेति शरणागतावेव शास्त्र(स्य)समापनात् "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्" इत्युपक्रमेऽपि प्रपन्नशब्देन शरणागतस्यैवोपदेश्यत्वज्ञापनात् "निवासः शरणं सुहृत्" इति मध्येऽपि उपास्यस्य सर्वशरणत्वाभिधानाच्छरणागतिप्रमेयेदं गीताशास्त्रमित्यवगम्यते। सा च षड्विधा "आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः" इति नारदपञ्चरात्रवचनात्। तत्रानुकूल्यादिपञ्चाङ्गानि, आत्मनिक्षेपोऽङ्गी। तथा च "सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः" इत्यादिनाऽऽनुकूल्यसंकल्पाख्यः प्रथमोऽङ्गो दर्शितः। हेयतया आसुरीसंपत्प्रतिपादनम्। अन्यत्रापि निर्वैरत्वादिप्रतिपादनं प्रातिकूल्यवर्जनाख्यो द्वितीयोऽङ्गो दर्शितः। "योगक्षेमं वहाम्यहम्" इति विश्वासाख्यस्तृतीयोऽङ्गो दर्शितः। "पितासि लोकस्य चराचरस्य" इत्यादिना "प्रसीद देवेश! जगन्निवास" इत्यन्तेन गोप्तृत्ववरणाख्यश्चतुर्थोऽङ्गो दर्शितः। "दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥ नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्" इति कार्पण्यरूपः पञ्चमोऽङ्गो दर्शितः। आत्मात्मीयस्य सर्वस्य विधिश्रद्धया भगवत्यर्पणमात्मनिक्षेपः; स च "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये मामेकं शरणं व्रज" इति षष्ठोऽङ्गो दर्शितः। अवशिष्टो ज्ञानकर्मभक्तिप्रतिपादको ग्रन्थः प्रपत्तृप्रपदनप्रपत्तव्यस्वरूपगुणाद्यैश्वर्यप्रतिपादनेन तत्रैव परम्परया संबध्यते इति विवेकः। अथवोपास्यस्वरूपमुपासकस्वरूपं तदुपासनस्वरूपं तदुपासनफलं तद्विरोधिस्वरूपमित्यर्थपञ्चकं निरूपितम्। तत्र सप्तमाध्यायादिषु तत्र तत्र सर्वज्ञसर्वकारणसर्वनियन्तृभक्तवात्सल्यादिगुणार्णवं भगवत्तत्त्वमुपास्यस्वरूपमुक्तम्। १। तत्प्राप्तृतया तत्र तत्र जीवक्षेत्रज्ञाक्षरपुरुषादिशब्दवाच्यं ज्ञानं ज्ञातृप्रतिशरीरभिन्नमसंख्यकं भगवदधीनं बन्धमोक्षार्हं नित्यमित्युपासकस्य स्वरूपं निर्णीतम्। २। तत्प्राप्तिसाधनं कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिगुर्वनुवृत्तिभेदात् पञ्चविधं तदुपासनं तत्र तत्र निर्दिष्टम्। ३। निःशेषाविद्यानिवृत्त्या परमानन्दस्वरूपतत्साधर्म्यभगवद्भावादिशब्दाभिधेयं मोक्षाख्यं तदुपासनजं तत्कृपाफलम्। ४। एतच्चतुष्टयस्य प्रतिबन्धकं कामक्रोधरागद्वेषादिकमासुरीसंपच्च विरोधस्वरूपमित्यर्थपञ्चकमेव गीतायां श्रीभगवतोपदिष्टमिति बोध्यम्। ५। तदुक्तं भगवता आद्याचार्येण श्रीनिम्बादित्येन—"उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्। विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः" इति॥ ७३॥

म० टी०—एवं पृष्टः कृतार्थत्वेन पुनरुपदेशानपेक्षतामात्मनः अर्जुन उवाच—नष्ट इति । नष्ट उच्छिन्नो मोहः अज्ञानकृतो विपर्ययः । तन्नाशकमाह—स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मया । यस्मात्त्वदुपदेशादात्मज्ञानं लब्धं सर्वसंशयानाक्रान्ततया प्रातमतः सर्वप्रतिबन्धशून्येनात्मज्ञानेन मोहो नष्ट इत्यर्थः । हे अच्युत ! आत्मत्वेन निश्चितत्वात् वियोगायोग्य । "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" इति श्रुत्यर्थमनुभवन्नाह—स्थितोऽस्मि गतसंदेहः निवृत्तसर्वसंदेहः स्थितोऽस्मि युद्धकर्तव्यतारूपे त्वच्छासने । यावज्जीवं च करिष्ये वचनं तव—भगवतः परमगुरोराज्ञां पालयिष्यामीति प्रयाससाफल्यकथनेन भगवन्तमर्जुनः परितोषयामास । अनेन गीताशास्त्राध्यायिनो भगवत्प्रसादादवश्यं मोक्षफलपर्यन्तं ज्ञानं भवतीति शास्त्रफलमुपसंहृतं "तद्धास्य विजज्ञौ" इतिवत् ॥ ७३ ॥

धं० टी०—एवं पृष्टवन्तं भगवन्तं प्रति कार्यकथनेन कारणसिद्धिरुक्तप्रायेति मत्वा भगवदुपदेशजन्यज्ञानफलं वक्तुमर्जुन उवाच—नष्ट इति । जन्मजरामरणदुःखप्रवाहकारणं सर्वानर्थहेतुर्दुरन्तो मोहः स्वाज्ञानसंभवः शार्वरतमसमोऽपि हे अच्युत कूटस्थभगवन् त्वत्प्रसादात् त्वदुपदेशजन्यज्ञानान्नष्टः स्वरूपेणादर्शनं गत इत्यर्थः । एवं भगवदुपदिष्टवाक्यजातस्य तदर्थस्य च ग्रहणं कार्यप्रकाशनेनैव ज्ञापयित्वा तत्प्रसादसिद्धायाः स्वाज्ञानतत्कार्यनिवृत्तेः फलमाह—स्मृतिरिति । अविद्याकृतकर्तृत्वभोक्तृत्वादिसर्वसंसारनिर्मुक्तो नित्यकूटस्थोऽसङ्गचिद्रूपो निष्कलो निष्क्रियः शान्तो य आत्मा सर्ववेदान्तप्रसिद्धः स एवाहमस्मीति स्वात्मतत्त्वविषया स्मृतिर्लब्धा, यथा प्रमावाप्तिस्तत्त्वार्थस्यातथ्येन स्मृतिस्तथा त्वत्प्रसादान्मया लब्धा भवति । सर्वहृदयग्रन्थीनां निर्मूलनकारणं यतस्ततो गतसंदेहः गतोऽभावं गतः संदेहः स्वजनवधो दोषः कर्तुं शक्यते वा न वा, मत्कृतेन कर्मणा लेपोऽस्ति वा न वा, कर्तृत्वमात्मनोऽस्ति वा न वेत्येवमादिद्विकोटिकः स्वतत्त्वनिर्धारणविषये यस्य सोऽहं गतसंदेहः । गतसंदेह इत्यनेन विपरीतभावस्य तत्कारणस्य च निःशेषनिवृत्तिः सूचिता । सति विपरीतभावे तत्कारणसद्भावे च संदेहनिवृत्त्यसंभवादतः संदेहनाशात्सर्वविकल्पनाशः सिद्धो भवति । एवं त्वदुपदेशजनितविज्ञानेन सर्वानर्थबीजे मोहे सकारणे विनष्टे सति संप्राप्तात्मयाथात्म्यविज्ञानोऽहं गतसंदेहः सच्चिदानन्दस्वभावेन स्थितोऽस्म्यविद्यातत्कार्यतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थानिर्मुक्तो विक्रियात्मस्वरूप एव । नन्वविद्यातःपरं मम न किंचिज्ज्ञातव्यं प्राप्तव्यं वापीयदस्ति, तथापि सद्गुरोरीश्वरस्य तव वचनं करिष्ये । नन्वविद्याबन्धनिर्मुक्तेनार्जुनेन करिष्ये वचनं तवेति यदुक्तं तदयुक्तमेव, मुक्तस्य कर्तव्याऽसंभवान्ममेदमीश्वरस्य वचनं कर्तव्यमिति करणमज्ञधर्मो, न तु तत्त्वज्ञधर्मः तज्ज्ञस्यायमीश्वरोऽहं तद्वचनं करिष्य इति भेदज्ञानासंभवात् । नह्यहमेवेदं सर्वमिति सर्वमात्मानमेव विजानतो विदुषस्त्वयमीश्वर इति तस्येदं वचनमहं करिष्य इति भेदज्ञानं संभावयितुं शक्यते, कार्यशेषो वा "तस्य कार्यं न विद्यते" इति विदुषः कृत्यनिषेधात् । "नैवास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्" इति कृत्यशेषवतोऽज्ञत्वस्मरणाच । ततो ज्ञानित्वं कर्मित्वं चैकस्य न संभवति, परस्परविरुद्धं सम्राट्त्वं भिक्षुत्वं चैकस्य यथा तद्वत् । यदर्जुनस्य कर्तव्यशेषस्त्वं चैकस्य न संभवति, परस्परविरुद्धं ... कण्ठरवेणोक्ता, अतोऽहिं ज्ञत्वमेव न संभवति । ननु नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धेत्यज्ञाननिवृत्तिज्ञानप्राप्तिश्च कण्ठरवेणोक्ता, अतो ज्ञत्वमपि संभवति । नन्विष्टोऽसि मे ऽस्त्येव ज्ञत्वमिति चेन्न करिष्ये वचनं तवेत्येवमपि कण्ठरवेणोक्तत्वादज्ञत्वमपि संभवति । तच्च स्यादप्यर्जुनस्य युक्तमेवेति दृढमिति हितबुद्ध्या दयया च मद्याज्ञी भवेति भगवतोक्तहितवचनकरणं तज्ज्ञस्याप्यर्जुनस्य युक्तमेवेति चेन्न । तदारुरुक्षुविषयत्वादारूढस्यास्यानुपयुक्तेः । मद्याजनमारुरुक्षोः कर्तव्यमित्युक्तकर्माचरणमर्जुनस्यारूढस्यानुपयुक्तमेवेति चेत्त्वयोक्तं सत्यम् । ब्रह्मविद आरूढस्य कर्मानुपयुक्तमेव तथाप्यधिकारिकत्वादर्जुनस्य तदुपपद्यते । यथा जनकाश्वपतिप्रभृतीना मुक्तानामप्याधिकारिकाणां लोकसंग्रहचिकीर्षया कर्माचरणं तद्वदर्जुनस्याप्याधिकारिकस्य लोकहिताय कर्माचरणमविरुद्धमेव 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि । यद्यदाचरति

प० टी०—कृतार्थः सन्नर्जुन उवाच—नष्ट इति । आत्मविषयो मोहो नष्टः । यतः अचमहमस्मीति
स्वरूपानुसंधानरूपा स्मृतिस्त्वत्प्रसादान्मया लब्धा , अतः स्थितोऽस्मि युद्धायोत्थितोऽस्मि । गतः स्वधर्मविषये
संदेहो यस्य सोऽहं तवाज्ञां करोमि ॥ ७३ ॥

रा० टी०—इति पृष्टस्योत्तरमाहार्जुनः—नष्ट इति । नष्टो मोहः प्रथमाध्यायोक्तो विपरीतज्ञानलक्षणो मोहो
नष्टः । त्वत्प्रसादान्मया स्मृतिर्लब्धा । नारायणद्विट्तदनुबन्धिनिग्रहः परमो धर्मोऽवश्यं कार्य एवेत्यादि-
स्मृतिर्मम जाताऽस्ति । गतसंदेहः युद्धे स्थितोऽस्मि । यथेच्छसि तथा कुर्विति भगवत्कृताक्षेपपरिहाराय भग-
वन्तमनुसरति—करिष्ये वचनं तवेति ॥ ७३ ॥

सञ्जय उवाच—इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ॥
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

त० टी०—तदेवं सर्वं श्रीकृष्णार्जुनसंवादं धृतराष्ट्रायावेद्य स्वयमनुसंदधानः सञ्जय उवाच—
इतीति । इत्येवमुक्तप्रकारेण वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मन इत्युभयोर्विशेषणम् । अद्भुतमाश्चर्यरूपमत
एव रोमहर्षणं रोमाञ्चकरं संवादं यथोक्तमहमश्रौषं श्रुतवानस्मि ॥ ७४ ॥

म० टी०—समाप्तः शास्त्रार्थः । कथासंबन्धमिदानीमनुसंदधानः सञ्जय उवाच—इतीति । अद्भुतं चेतसो
विस्मयाख्यविकारकरं लोकेष्वसंभाव्यमानत्वात् । रोमहर्षणं शरीरस्य रोमाञ्चाख्यविकारकरं तेनातिपरिपुष्टत्वं
विस्मयस्य दर्शितम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ७४ ॥

परिसमाप्तिं

श्रीं० टी०—एवमर्जुनस्याविद्यातत्कार्यभ्रममार्जनायोपक्रान्तस्य ज्ञानशास्त्रस्य तदर्थस्य च परिसमाप्तिं
ज्ञात्वा तच्छ्रवणतदर्थानुभवसंजाताश्चर्यरसातिरेकेण स्वगुरोरनुग्रहं स्वतृप्तिं चाविष्कर्तुं कथासंदर्भमवता-
रयितुं च संजय उवाच—इतीति । " सर्वभूताधिवासं यद्भूतेषु च वसत्यपि " इतिश्रुतलक्षणलक्षितत्वा-
द्वासुदेवः सर्वज्ञः परमेश्वरस्तस्य वासुदेवस्य महात्मनो महानुभावस्य पार्थस्य चार्जुनस्य इत्युक्तप्रकारकं
संवादं प्रश्नप्रतिवचनरूपमिमं गीताग्रन्थमद्भुतमत्यन्तविस्मयकरं रोमहर्षणमश्रुतपूर्वत्वेनातिगम्भीरत्वेनामे-
यार्थत्वेनालौकिकत्वेनाद्भुतरसत्वेन च रोमाञ्चावहं तयोः संवादमहमश्रौषं श्रुतवानस्मि ॥ ७४ ॥

श्री० टी०—तदेवं धृतराष्ट्रं प्रति श्रीकृष्णार्जुनसंवादं कथयित्वा प्रस्तुतां कथामनुसंदधानः संजय
उवाच—इतीति । रोमहर्षणं रोमाञ्चकरं संवादमश्रौषं श्रुतवानहम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ७४ ॥

स० टी०—शास्त्रार्थोऽयं समाप्तोऽथ कथासंबन्धमुत्तमम् ॥ इदानीं संजयः प्राह धृतराष्ट्रनृपं प्रति
॥ १ ॥ इतिशब्दः समाप्तौ स्याच्छास्त्रार्थस्येरितस्य च ॥ रोमाञ्चनकरं बुद्धेर्विस्मापकतयाऽद्भुतम् ॥ २ ॥
लोके संभाव्यमानत्वात्स्पष्टमन्यत्तथाऽर्थतः ॥ ३ ॥ ७४ ॥

भा० टी०—परिसमाप्तः कृष्णपार्थसंवादात्मकः शास्त्रार्थः । अथेदानीं कथासंबन्धप्रदर्शनार्थं संजय उवाच—
इतीति । इत्येवं वासुदेवस्य सर्वात्मनः सर्वज्ञस्य सर्वेश्वरस्य पार्थस्य पृथापुत्रस्य च महात्मनोऽक्षुद्रस्वभावस्य
भगवदनुगृहीतस्य सम्यग्वादं संवादं गुरुशिष्यवचनेन प्रश्नप्रतिवचनाभिधानमिमं त्वां प्रत्युक्तमद्भुतमत्यन्त-
विस्मयकरं, रोमाणि हृष्यन्ति पुलकीभवन्त्यनेनेति रोमहर्षणं, हर्षनिमित्तकरोमाञ्चकरमश्रौषं श्रुतवानस्मि ।
अतिधन्यो वसुदेवो यद्गृहे स्वयं भगवानवतीर्णः, पृथा च धन्या यस्याः पुत्रः परमभागवतो भगवदनुगृहीतः
प्रतिक्षणं भगवता संवदमानः । त्वं त्वत्यन्ताधन्यो यस्य पुत्रो दुर्योधनः कृष्णपराङ्मुखस्तद्द्रोही चेति
वासुदेवपार्थेतिशब्दाभ्यां ध्वनितम् ॥ ७४ ॥

प० टी०—तदेवं धृतराष्ट्रं प्रति श्रीकृष्णार्जुनसंवादं कथयित्वा प्रस्तुतां कथामनुसंदधानः संजयः

प्राह-इत्यहमिति। अद्भुतमपूर्वमाश्चर्यकरमत एव रोमहर्षणं रोमाञ्चकरं संवादमश्रौषं श्रुतवानहम्। स्पष्टमन्यत्॥ ७४॥

रा० टी०-एकान्ते संजातः कृष्णार्जुनसंवादः कथं त्वया ज्ञात इति धृतराष्ट्रहृद्गतशङ्कां निराह संजय इत्याह-इत्यहमिति। इतिपदेन प्रथमाध्यायाद्युक्तस्य सर्वस्य परामर्शः। महानात्मा मनो यस्य तस्य महात्मनः। अद्भुतं प्राक्कुत्रापि न श्रुतमाश्चर्यं रोमाञ्चकरम्॥ ७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्॥
योगं योगेश्वरात् कृष्णात्साक्षात् कथयतः स्वयम्॥ ७५॥

त० टी०-असन्निकृष्टस्य व्यवहितस्य संवादस्यात्मनः श्रवणयोग्यतायां हेतुमाह-व्यासप्रसादादिति। दिव्यचक्षुःश्रोत्रादिलाभरूपाद्व्यासप्रसादादेतद्गुह्यं गोप्यं परं सर्वोत्कृष्टं परमपुरुषार्थोपायं योगेश्वरात् कृष्णात्स्वयमेवेश्वररूपेण कथयतः साक्षादहं श्रुतवानस्मि, नतु परम्परया। अहो मे भाग्यमित्यभिप्रायः॥ ७५॥

पप योगस्तं श्रुतवान् योगेश्वरात् कृष्णात्साक्षात्स्वयं कथयतः न तु परंपरातः । योगानामीश्वरादित्युक्त्या
व्यवहितेन मया येन योगसामर्थ्येन श्रुतं तत् तस्यैव योगेश्वरस्य सामर्थ्यं न तु ममेति सूचयति कृष्णादि-
त्यनेन कृष्णप्रसाद एव कृष्णद्वैपायनप्रसादो न त्वन्य इति ध्वनयति ॥ ७५ ॥
मत्सेवया प्रसन्नेन भगवता व्यासेन महा-
प० टी०—अथात्मन ईदृशश्रवणासंभावनामाह्—व्यासेति । किं तदित्याह—परं योगम् । परत्वमेवाह—
मलौकिकं मचक्षुःश्रवणादिकं दत्तं तेनाहं श्रुतवानस्मि । कथयतः श्रुतवान् । तदुक्तं महाभारते
योगेश्वराच्छ्रीकृष्णात्स्वरूपं स्वयमेव वा साक्षात्स्वमुखेनार्जुनं प्रति कथयतः श्रुतवान् । तदुक्तं महाभारते
भीष्मपर्वणि संजयेन धृतराष्ट्रं प्रति—'नमस्तस्मै भवत्पित्रे पाराशर्याय धीमते । यस्य प्रसादादिदं मे
प्रज्ञाविज्ञानमुत्तमम् ॥ दृष्टिश्चातीन्द्रिया राजन् दूराच्छ्रवणमेव हि । परचित्तस्य विज्ञानमतीतानागतस्य
च ॥ व्युत्थितोत्पत्तिविज्ञानमाकाशे च गतिः सदा । अस्त्रैरसङ्गो युद्धे च वरदानान्महात्मनः ॥ प्रत्यक्षं यन्मया
दृष्टं दृष्टं योगबलेन च । शृणु तत्पृथिवीपाल मा च शोके मनः कृथाः ' ॥ ७५ ॥
रा० टी०—व्यासेति । व्यासेन हि संजयस्य कुरुक्षेत्रे युद्धसमाप्तिपर्यन्तं तत्र प्रवृत्तस्य सर्वस्यापि दर्श-
नश्रवणे तव स्यातामिति दिव्यदृष्टिदानाद्धृतराष्ट्रप्रसादादित्युक्तम् । योगं पुमर्थोपायं योगेश्वरात्सर्वोपायानामी-
श्वरात् स्वयमेव कथयतः कृष्णात् साक्षादन्याव्यवधानेन श्रुतवानित्यन्वयः ॥ ७५ ॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ॥
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥

केशवार्जुनयोरिमं पुण्यं श्रवणमात्रेण पापहरं पुण्यो-
त० टी०—तदेव विशदयति—राजन्निति । त्पादनमद्भुतं संवादं संस्मृत्य मुहुर्मुहुर्वारंवारं हृष्यामि हर्षं प्राप्नोमि ॥ ७६ ॥
त्पादनमद्भुतं संवादं संस्मृत्य मुहुर्मुहुर्वारंवारं हृष्यामि हर्षं प्राप्नोमि ॥ पुण्यं श्रवणेनापि सर्वपापहरं केशवार्जुनयोरिमं संवादमद्भुतं न केवलं श्रुत-
म० टी०—राजन्निति । पुण्यं श्रवणेनापि सर्वपापहरं केशवार्जुनयोरिमं संवादमद्भुतं न केवलं श्रुत-
वानस्मि, किंतु संस्मृत्य संस्मृत्य, संभ्रमे द्विरुक्तिः । मुहुर्मुहुर्वारंवारं हृष्यामि च हर्षं प्राप्नोमि च, प्रतिक्षणं
रोमाञ्चितो भवामीति वा ॥ ७६ ॥
संतुष्यामीत्याह—राजन्निति । पुण्यं पुण्यकरं पावनं
श्रं० टी०—श्रुत्वा किं कृतवानसीत्याकाङ्क्षायां संतुष्यामीत्याह—राजन्निति । संवादमुक्तलक्षणमिमं गीताख्यं ग्रन्थं श्रवं
श्रवणपठनाभ्यां ज्ञानाज्ञानकृतसर्वपापविध्वंसकं केशवार्जुनयोः संवादमुक्तलक्षणमिमं गीताख्यं ग्रन्थं श्रवं
मुहुर्मुहुश्च स्मृत्वा स्मृत्वा हृष्यामि । किं मया जन्मान्तरशतेषु पुण्यं कृतं, किं तप्तं, किं दत्तं, किं हुतं, किं दृष्टं
वा न जाने, येन तयोरिदं संवादलक्षणं गीताशास्त्रं मैया श्रुतमित्यर्थः ॥ ७६ ॥
श्री० टी०—किंच—राजन्निति । हृष्यामि रोमाञ्चितो भवामि, हर्षं प्राप्नोमीति वा । स्पष्टमन्यत् ॥ ७६ ॥
श्री० टी०—किंच—राजन्निति । कश्च प्रजापतिः प्रोक्त ईशः श्रीशंकरः स्मृतः
स० टी०—पुण्यं श्रवणमात्रेण सर्वपापहरं शुभम् ॥ तदुक्तं हरिवंशे श्रीशंभुना केशवं प्रति ॥ २ ॥
॥ १ ॥ तयोरपि पिताऽऽचार्यः स्वामी चात्मेति केशवः ॥ आवां तवाङ्गसंभूतौ तस्मात्केशवनामवान् ॥ ३ ॥ युद्धसंप-
क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् ॥ संवादो यस्तयोः साक्षात्तमिमं परमाद्भुतम् ॥ ४ ॥ न केवलमहं
रसमायुक्तः सद्विद्याधिकृतोऽर्जुनः ॥ किं तु संस्मृत्य संस्मृत्य द्विरुक्तिरिति संभ्रमे ॥ ५ ॥ वारंवारं परं हर्ष-
सम्यक् श्रुतवानस्मि विस्मयात् ॥ रोमाञ्चितो भवामीह प्राप्तोऽहं विस्मयान्वितः ॥ ६ ॥ ७६ ॥
मवाप्नोमि प्रतिक्षणम् ॥ इममेव केशवार्जुनयोः संवादमद्भुतं पुण्यं श्रवणमात्रेणापि पापहरं
भा० टी०—किंच—राजन्निति । प्रतिक्षणं हृष्यामि रोमाञ्चितो भवामि, हर्षं प्राप्नोमीति
श्रुत्वा, संस्मृत्य संस्मृत्य पुनः पुनः स्मृत्वा मुहुर्मुहुः ।

वा । तयोः संवादं श्रुतवान् त्वमपि वैरं विहाय कृष्णभक्तिमत्यादरेणाङ्गीकुर्वन्नत्यन्तदीप्तिमान्त्वयन्तद्दृष्टो वास्तवो राजा भवेति बोधयन् संबोधयति—हे राजन्निति ॥ ७६ ॥

प० टी०—अथ व्यासप्रसादसामर्थ्यमेवानुवदति—राजन्निति । राजन् धृतराष्ट्र इममद्भुतं केशवार्जुनयोः संवादं संस्मृत्य सकृच्छ्रुतमपि स्मरणारूढं कृत्वा पुनर्यथावत्संस्मृत्य मयि निश्चलोऽयं गीतार्थसंग्रह इति हृष्यामि रोमाञ्चितो भवाम्येतावतैव कृतकृत्योऽस्मीति हर्षं प्राप्नोमि ॥ ७६ ॥

रा० टी०—तच्छ्रवणेन स्वस्य जातं तात्कालिकं फलमाह—राजन्निति । हे राजन्! धृतराष्ट्रस्य संबोधनम् । पुण्यं पारत्रिकं सुखहेतुत्वदृष्टकरम् ॥ ७६ ॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ॥
विस्मयो मे महान्राजन्! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

त० टी०—अथार्जुनाय दर्शितं विश्वरूपमनुसंदधान आह—तच्चेति । यदर्जुनाय प्रकाशितमत्यद्भुतमैश्वरं हरे रूपं मया साक्षात्कृतं तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य हे राजन्! संस्मरतो मे महान् विस्मयो जायते, पुनः पुनश्च हृष्यामि रोमाञ्चितो भवामि ॥ ७७ ॥

म० टी०—यद्विश्वरूपाख्यं सगुणं रूपमर्जुनाय ध्यानार्थं भगवान् दर्शयामास तदिदानीमनुसंदधान आह—तच्चेति । तदिति विश्वरूपम् । हे राजन्मम महान्विस्मयोऽत एव हृष्यामि चाहम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ७७ ॥

धं० टी०—विश्वरूपसंदर्शनजां तृप्तिं वर्णयति—तच्चेति । हरेः स्वसाक्षात्कारमात्रेणाविद्यां तत्कार्यं च हरति स्वस्मिन्नेव तिरोभावयतीति हरिः । सच्चिदानन्दस्वरूपः परमेश्वरस्तस्य ' अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ' इत्युक्तलक्षणं तच्च रूपं विश्वरूपमपि अत्यद्भुतं महाश्चर्यकरं पुनः पुनश्च संस्मृत्य संस्मृत्य स्मृत्वा स्मृत्वा हृष्यामि, धन्योऽहं धन्योऽहं कृतकृत्योऽहमिति संतोषसागरे मज्जामीत्यर्थः ॥ ७७ ॥

श्री० टी०—किंच—तच्चेति । तदिति विश्वरूपं निर्दिशति । स्पष्टमन्यत् ॥ ७७ ॥

स० टी०—यत्पूर्वं विश्वरूपाख्यं सगुणं रूपमद्भुतम् ॥ अर्जुनाय हरिः साक्षाद्दर्शयामास सर्ववित् ॥ १ ॥ आहानुसंदधानः सन्निदानीं ध्येयमैश्वरम् ॥ तच्चेति विश्वरूपं भो राजन्संस्मृत्य चेतसा ॥ २ ॥ स्मारं स्मारं महानस्ति विस्मयो मे पुनः पुनः ॥ अत एव महाभाग्यफलं हर्षं गतोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥ ७७ ॥

भा० टी०—यत्तु विश्वरूपं सगुणमर्जुनाय भगवान्ध्यानार्थं दर्शितवान् । तच्च हरेरत्यद्भुतं रूपं संस्मृत्य संस्मृत्य मे महान् विस्मयो भवति हृष्यामि च पुनः पुनः । हरेः ' यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ' इत्यर्जुनसंशयस्य विश्वरूपप्रदर्शनेन हरणे प्रवृत्तस्य सर्वोपसंहरणं प्रदर्शयतः विश्वरूपं श्रुत्वापि त्वं तु द्रोहं परित्यज्य संप्यर्थमुद्यतः सन् न लज्जस इत्याश्चर्यमिति ध्वनयन्नाह—हे राजन्निति ॥ ७७ ॥

प० टी०—किं च—तच्चेति । तच्चाद्भुतं हरे रूपं विश्वरूपमुभयवाक्यैः श्रुतं न च दृष्टम् । तथाविधमपि यथमक्षरतः संस्मृत्य पुनरर्थं च संस्मृत्य मे महान् विस्मयो भवति । अहो कथमर्जुनस्य भाग्यं यद्देवैरपि दुर्लभमस्यं परमात्मनः समष्टिरूपं साक्षात्कृतवांस्तथा सकलागमागोचरोऽपि परमात्मा कृपया पारमार्थिकं स्वरूपं दर्शितवानिति सविस्मयत्वेनाद्भुतरसस्याभिर्भावेन रोमहर्षाद्यष्टसात्त्विकोद्रेकद्वारा पुनः पुनर्भवामीत्यर्थः । तत्रैवं विश्वरूपदर्शने—'द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् । मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा' इत्यादिभगवद्वाक्यानि, तथा 'अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः'''''संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः' इत्यर्जुनवाक्यानि च त्वया मत्मुखाच्छ्रुतान्येव ॥ ७७ ॥

रा० टी०—तदिति । तच्च रूपं विश्वरूपरूपम् ॥ ७७ ॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥

इति श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु संन्यासयोगो नामाऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

त० टी०–एवं चेश्वरेश्वरकृष्णपराङ्मुखस्वपुत्रसैन्यविजयादिदुराशां ते त्यजैवेत्याह–यत्रेति । यत्र यस्मिन् पक्षे योगेश्वरः योगोऽघटितघटनापटीयस्त्वसामर्थ्यं राज्यैश्वर्यादिप्राप्त्युपायो वा योगस्तस्येश्वरो निवर्तको नियामको वा सर्वकर्मसिद्धीनामपीश्वरः सर्वकर्मफलप्रभुः सर्वज्ञोऽचिन्त्यशक्तिर्भगवान् कृष्णः स्वाश्रितदुःखकर्षकस्तिष्ठति, यत्र पार्थस्तत्पितृस्वस्रीयो धनुर्धरो गाण्डीवधन्वाऽर्जुनो वर्तते तत्रोभयाधिष्ठिते धर्मराजपक्षे श्रीः राज्यलक्ष्मीः, विजयः शत्रुविनाशः, भूतिः सर्वसंपत् ऐश्वर्यं वा, नीतिर्न्यायोऽपि तत्रैव । ध्रुवा निश्चितेति सर्वत्रान्वेतव्यम् । इति मे मम मतिर्निश्चयबुद्धिः । तस्मात्स्वपुत्रविजयाशां त्यक्त्वा श्रेयस्कामनया श्रीभगवदाश्रितैर्लक्ष्मीविजयार्थैः पाण्डवैः सह राज्यार्पणेन सन्धिं विधाय स्वीयानां संरक्षणं कुर्विति भावः ॥ ७८ ॥

स्वतन्त्रः सर्वफलदः सर्वोपास्यो हि यो हरिः ॥ कर्तृत्वं सर्वजीवानां तत्तन्त्रमिति निश्चयात् ॥ १ ॥
श्रेयस्कामो मुमुक्षुर्वा तमेव शरणं व्रजेत् ॥ स्वाभिमानं परित्यज्य ह्येतदन्ते दृढीकृतम् ॥ २ ॥
संसाराम्बुधिमग्नानां स्वभक्तकृपया हरिः ॥ चकार गीतानावं तं वन्दे सर्वगरीयसम् ॥ ३ ॥

हंसस्वरूपं सनकादिकेभ्यस्तत्त्वोपदेशाय विधाय शुद्धम् ॥
तत्त्वं परं भागवतं च धर्मं सत्संप्रदायार्थमुपादिशद्यः ॥ ४ ॥
श्रीवासुदेवो भगवान्स एव भक्ताय पार्थाय तु भारते वै ॥
मोहापहं शास्त्रमुवाच गीतां सर्वेश्वरं तं शरणं प्रपद्ये ॥ ५ ॥
व्याख्यातमादौ तदद्भ्रबोधादाचार्यवर्येण हरिप्रियेण ॥
निम्बार्कनाम्नाऽतिगभीरबोधं श्रीनारदानुग्रहभाजनेन ॥ ६ ॥
तत्पादचिन्ताप्रतिबुद्धबुद्धिना भट्टेन श्रीकेशवसंज्ञकेन ॥
तदर्थबोधाय तदाश्रितानां संक्षिप्य चैतद्विहितं सुबोधम् ॥ ७ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां तत्त्वप्रकाशिकायां धरामण्डलविजयिश्रीभारतिकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यवर्यविरचितायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

म० टी०–एवं च सति स्वपुत्रे विजयादिसंभावनां परित्यजेत्याह–यत्रेति । यत्र यस्मिन् युधिष्ठिरपक्षे योगेश्वरः सर्वयोगसिद्धीनामीश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्भगवान् कृष्णो भक्तदुःखकर्षणस्तिष्ठति नारायणः, यत्र पार्थो धनुर्धरः यत्र गाण्डीवधन्वा तिष्ठत्यर्जुनो नरः, तत्र नरनारायणाधिष्ठिते तस्मिन् युधिष्ठिरपक्षे श्रीः राज्यलक्ष्मीः, विजयः शत्रुपराजयनिमित्त उत्कर्षः, भूतिरुत्तरोत्तरं राजलक्ष्म्या विवृद्धिर्ध्रुवाऽवश्यंभाविनीति सर्वत्रान्वयः । नीतिर्नयः । एवं मम मतिर्निश्चयः । तस्मादिदानीमपि पुत्रविजयाशां त्यक्त्वा भगवदनुगृहीतैर्लक्ष्मीविजयादिभागिभिः पाण्डवैः सह संधिरेव विधीयतामित्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥ १ ॥
काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं गीताख्यं येन निर्मितम् ।
आदिमध्यान्त्यषट्केषु तस्मै भगवते नमः ॥ २ ॥

श्रीगोविन्दमुखारविन्दमधुना मिष्टं महाभारते
गीताख्यं परमं रहस्यमृषिणा व्यासेन विख्यापितम् ।
व्याख्यातं भगवत्पदैः प्रतिपदं श्रीशङ्कराख्यैः पुन
र्विस्पष्टं मधुसूदनेन मुनिना स्वज्ञानशुद्ध्यै कृतम् ॥ ३ ॥
इह योऽस्ति विमोहयन् मनः परमानन्दघनः सनातनः ।
गुणदोषमृतेष एव नस्तृणतुल्यो यदयं स्वयं जनः ॥ ४ ॥
श्रीरामविश्वेश्वरमाधवानां प्रसादमासाद्य मया गुरूणाम् ।
व्याख्यानमेतद्विहितं सुबोधं समर्पितं तच्चरणाम्बुजेषु ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविश्वेश्वरसरस्वतीपूज्यपादशिष्यश्रीमधुसूदनसरस्वती-
विरचितायां श्रीभगवद्गीतागूढार्थदीपिकायां संन्यासयोग-
प्रतिपादनं नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

शं० टी०—किमतः परं वक्तव्यमस्ति ? मम निश्चयं शृण्वित्याह—यत्रेति । योगेश्वरः योगास्तेजोबलपौरुषविद्याराज्यजयधनधान्यपुत्रपौत्राद्यभ्युदयानां घटनास्तेषामीश्वरः । यद्वा “ विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ” इति श्रवणात् युज्यते आभ्यामिति योगौ विद्याविद्ये ईशितुं शीलमस्यास्तीति योगेश्वरः । यद्वा युज्यते समाधीयते चित्तमेतेष्विति योगाः ऐहिकामुष्मिकसुखविशेषाः कर्मसाध्या उपासितसाध्याश्च, तेषां प्रदाने शक्त ईश्वरो योगेश्वरः । यद्वा योगौ ज्ञानयोगः कर्मयोगो वा तयोः फलसिद्धेरीश्वराधीनत्वाद्योगेश्वरः । “ संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ” इतिश्रुतेः । एवंलक्षणः परमात्मा श्रीकृष्णो यत्र यस्मिन्पक्षे तिष्ठति, धनुर्धरो धनुर्विद्यापारगोऽतिरथो गाण्डीवधन्वाऽर्जुनः यत्र यस्मिन् पक्षे तिष्ठति, तत्र तस्मिन् पक्ष एव ध्रुवा अव्यभिचारिणी नीतिः शास्त्रदृष्टा मर्यादा तिष्ठति, धर्मस्तत्रैव तिष्ठतीत्यर्थः । ‘ यतो धर्मस्ततो जयः ’ इति न्यायेन विजयोऽपि तत्रैव तिष्ठतीत्यर्थः । श्रीर्ध्रुवा निश्चला राज्यलक्ष्मीस्तत्रैव तिष्ठति । भूतिर्गजतुरगधनधान्यादिसंपत्तिस्तत्र तस्मिन्नेव पक्षे ध्रुवा निश्चला तिष्ठतीति मम मतिर्निश्चयः । त्वमतः पुत्राणां जयाशां परित्यजेत्यर्थः । गुरुभ्रात्रादिहिंसालक्षणं घोरं कर्माहं क्रूरतः पापी स्यां, तेन नरकं यास्यामीत्यनात्मकर्तृके कर्मण्यकर्तारमेवात्मानं कर्तारं भोक्तारं मत्वा मोहेन शोचतोऽर्जुनस्य मोहसागरे निमग्नस्योद्धरणमात्मयाथात्म्यविज्ञानेन विना नान्येन सिध्यति, आत्मयाथात्म्यविज्ञानं च तत्त्वंपदार्थयोः शोधितयोरैक्यप्रतिपादनेन विना न सिध्यत्यतस्तयोः शोधनं कर्तव्यमिति ‘न त्वेवाहं जातु नासम्’ इत्यारभ्य प्रथमषट्केण त्वंपदार्थं शोधयित्वा, द्वितीयेन तत्पदार्थं च शोधयित्वा, तृतीयेन तयोरेकत्वं प्रतिपाद्य कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यविद्यातत्कार्यसंबन्धरहितं सर्वसंसारधर्मनिर्मुक्तमात्मतत्त्वं बोधयित्वा तस्यैव बोधस्याप्रतिबन्धस्य सिद्धये ज्ञाननिष्ठामुपदिश्य तत्परिपक्वज्ञानेन ‘भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्’ इत्यात्मयाथात्म्यावधारणं, तेन ब्रह्मप्राप्तिश्च प्रतिपादिता । अतः सर्वस्या अपि गीतायाः प्रतिपाद्यं प्रत्यगभिन्नं परं ब्रह्मैव । तज्ज्ञानमेव मोक्षसाधनमिति पर्यवसितम् । तथैव सर्वस्या अपि गीतायाः श्रवणं कृतवतोऽर्जुनस्योक्तिरप्यनुभवारूढा ‘नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा’ इति ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिं तत्फलभूतमात्मलाभं च द्योतयति । अतः सिद्धं ज्ञानमेव मोक्षस्य परमकारणमिति । तथा च श्रुतिः “ज्ञानादेव तु कैवल्यम्” । “तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” इति, ‘एषा तेऽभिहिता सांख्ये’ इति ज्ञानयोगमुपदिश्य स्वेनोपदिष्टज्ञानसंपादने पुरुषस्य प्रज्ञामान्द्यमाशङ्क्य ‘बुद्धियोगे त्विमां शृणु’ इति कर्मयोगमुपक्रम्य ‘ बुद्धौ शरणमन्विच्छ’, ‘योगः कर्मसु कौशलम्’ इति ज्ञानयोगं च पुनः प्रस्तुत्य ‘ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन

योगिनाम्' इति तयोर्विषयभेदव्यवस्थां कृत्वा, राजसतामसत्यागनिन्दापूर्वकं सात्त्विकत्यागस्यैव श्रेष्ठत्वमुक्त्वा, तथापि परमेश्वरप्रीत्यै कर्तव्यमिति निश्चित्य, कर्मनिष्ठया परिशुद्धचित्तस्य ज्ञानं प्राप्तवतो ज्ञाननिष्ठा विहिता । ततः कर्मयोगो ज्ञानयोगस्य साधनमेव भवति, न तु साक्षान्मोक्षकारणमित्येव सिद्धान्तितं भवति । अत्र गीतायां ज्ञानकर्मयोगयोरेव द्वयोरुपक्रमोपसंहारदर्शनाद्योगान्तरस्य न प्राधान्यं प्रतीयते । अमानित्वादम्भित्वशुद्धबुद्धित्वादयो यथा ज्ञानतत्फलसिद्धिसाधनानि, तथा मुमुक्षुत्वनिष्ठावत्त्वसात्त्विकश्रद्धासक्तिमत्त्वादयः कर्मफलसिद्धिसाधनानीति सिद्धं सर्वमनवद्यम् ॥ ७८ ॥

कालकूटसमो दोषो यस्य कण्ठे लतायते ।
गुणोऽपि वा कलामात्रो यस्य भूषायते ततः ॥
तमहं पुरुषं वन्देऽविद्यादोषहरं परम् ॥ १ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दात्मसरस्वतीभगवत्पादपूज्यशिष्यश्रीशंकरानन्दसरस्वतीकृतौ गीतातात्पर्यबोधिन्यामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्री० टी०—अतस्त्वं स्वपुत्राणां राज्यादिशङ्कां परित्यजेत्याशयेनाह—यत्रेति । यत्र येषां पाण्डवानां पक्षे योगेश्वरः श्रीकृष्णो वर्तते, यत्र च पार्थो गाण्डीवधनुर्धरः, तत्रैव श्रीः राज्यलक्ष्मीः, तत्रैव च विजयः, तत्रैव च भूतिरुत्तरोत्तराभिवृद्धिश्च, नीतिर्नयोऽपि तत्रैव । ध्रुवा निश्चितेति सर्वत्र संबध्यते । इति मम मतिर्निश्चयः । अत इदानीमपि तावत्सपुत्रस्त्वं श्रीकृष्णं शरणमुपेत्य पाण्डवान्प्रसाद्य सर्वस्वं च तेभ्यो निवेद्य पुत्रप्राणरक्षणं कुर्विति भावः ॥ ७८ ॥

भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधतः । सुखं बन्धविमुक्तिः स्यादिति गीतार्थसंग्रहः ॥ १ ॥

तथाहि, 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ॥' इत्यादौ भगवद्भक्तेर्मोक्षं प्रति साधकतमत्वश्रवणात् तदेकान्तभक्तिरेव तत्प्रसादोत्थज्ञानावान्तरव्यापारमात्रयुक्ता मोक्षहेतुरिति स्फुटं प्रतीयते । ज्ञानस्य च भक्त्यवान्तरव्यापारत्वमेव युक्तम् । 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते' इत्यादिवचनात् । न च ज्ञानमेव भक्तिरिति युक्तम् 'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् । भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ॥' इत्यादौ भेदेन निर्देशात् । नचैवं सति "तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इत्यादिश्रुतिविरोधः शङ्कनीयः, भक्त्यवान्तरव्यापारत्वाज्ज्ञानस्य । नहि काष्ठैः पचतीत्युक्ते ज्वालानामसाधनत्वमुक्तं भवति । किंच "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" । "देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे" । "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिपुराणवचनान्येवं सति समञ्जसानि भवन्ति । तस्माद्भगवद्भक्तिरेव मोक्षहेतुरिति सिद्धम् ।

तेनैव दत्तया मत्या तद्गीताविवृतिः कृता । स एव परमानन्दस्तया प्रीणातु माधवः ॥ २ ॥
परमानन्दपादाब्जरजःश्रीधारिणाऽधुना । श्रीधरस्वामियतिना कृता गीतासुबोधिनी ॥ ३ ॥
स्वप्रागल्भ्यबलाद्विलोड्य भगवद्गीतां तदन्तर्गतं तत्त्वं प्रेप्सुरुपैति किं गुरुकृपापीयूषदृष्टिं विना ।
अम्बु स्वाञ्जलिना निरस्य जलधेरादित्सुरन्तर्मणीनावर्तेषु न किं निमज्जति जनः सत्कर्णधारं विना ॥ ४ ॥

इति श्रीमन्महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे योगशास्त्रनिर्णयसंन्यासादितत्त्वनिर्णये सुबोधिन्यां टीकायां श्रीधरस्वामिकृतायां मोक्षयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

स० टी०—एवं च सति पुत्रे स्वे जयस्याशा बलीयसीम् ॥ त्यज त्वं सर्वथा राजन्भगवन्तं हरिं स्मर ॥ १ ॥ यस्मिन्यौधिष्ठिरे पक्षे योगमायेश्वरो हरिः ॥ समस्तयोगसिद्धीनां योगस्याप्यथ योगिनाम् ॥ २ ॥ ईश्वरो भगवान्कृष्णः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् ॥ भक्तदुःखहरः श्रीशो विभुर्नारायणोऽच्युतः ॥३॥ तिष्ठत्यात्मीयरूपेण गृहीत्वा पाण्डुनन्दनान् ॥ यत्र गाण्डीवधन्वा च तिष्ठत्यपोऽर्जुनो नरः ॥ ४ ॥ तस्मिन्यौधिष्ठिरे पक्षे नरनारायणाश्रिते ॥ श्री राज्यलक्ष्मीर्विजयः शत्रुहानिनिमित्तकः ॥ ५ ॥ समुत्कर्षस्तथा भूतिः श्रीविशेषोऽतिविस्तरः ॥ राज्यलक्ष्म्या विवृद्धिश्चेत्यवश्यंभाविनी ध्रुवा ॥ ६ ॥ ध्रुवेत्यस्यान्वयो ज्ञेयः सर्वत्रैवाविशेषतः ॥ नीतिर्नयो यथाशास्त्रमेवं मे निश्चयो नृप ॥ ७ ॥ तस्मात्त्वं सर्वथा राजन् वृथा पुत्रजयाशिषम् ॥ त्यक्त्वा श्रीभगवत्कृष्णानुगृहीतैश्च पाण्डवैः ॥ ८ ॥ लक्ष्म्यादिभागिभिः सार्कं संधिरेव विधीयताम् ॥ इत्यभिप्राय एवास्य संजयस्यात्र गम्यते ॥ ९ ॥ यतो धर्मस्ततः कृष्णो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ इत्युक्तरीत्या धर्माद्या संपत्तस्माद्बलीयसी ॥ १० ॥ तस्या एव जयस्तस्मादासुर्यास्तु पराजयः ॥ महामोहोद्भवा संपन्नाश्या दैव्या सुसंपदा ॥११ ॥ सा धर्ममूलिका यस्मात्कृष्णपक्षावलम्बिनी ॥ आसुरी कृष्णविमुखा बलहीनतयाऽबला ॥ १२ ॥ अतो धर्मं समाश्रित्य कृष्णपादरतो भवेत् ॥ तेनैव संसृतेः पुंसो निस्तारः सुलभः स्वयम् ॥ १३ ॥ इत्येवं रूपकस्योपसंहारो मुनिना कृतः ॥ अतः सर्वं सुसंपन्नं कृष्णपादानुरागिणाम् ॥ १४ ॥ नैवास्ति दुर्लभं किंचित्तत्कटाक्षैकभागिनाम् ॥ सिद्धमित्येवशास्त्रीयं रहस्यं सर्वमङ्गलम् ॥ १५ ॥ ७८ ॥

स्वाभाविकानवधिकातिशयेऽशनौजस्तेजोऽवबोधबलधैर्यगुणैकवार्धिः ॥
वेदान्तवाक्यपरिशीलनतत्त्वनिष्ठैर्ध्येयाङ्घ्रिरक्षरपदोऽवतु नो मुकुन्दः ॥ १ ॥
शुद्धो बुद्धो विमुक्तः श्रुतिशिखरगिरा मुख्यवाच्यार्थभूमि-
र्यस्माज्जातं समस्तं जगदिदममृताद्व्याप्य सर्वं स्थितो यः ॥
यस्यांशांशावतारैः सुरनरदनुजै रक्षितं सर्वमेत-
त्तं भूमानं मुकुन्दं हृदि गतममलं कृष्णमेव प्रपद्ये ॥ २ ॥
अत्यन्तगम्भीरमतीव विस्तृतं निर्मथ्य वेदाब्धिमिदं विनिर्मितम् ॥
सुधारसं शास्त्रमगाधगोचरं सुबोधनिष्ठं किल येन तं श्रये ॥ ३ ॥
यदुपतिमभिरामं सर्वविश्रामधामाभयपददमकामं वामदेवादिरामम् ॥
सकलसुरललामं श्याममारामसूर्तिं भवजलधिविरामं नौमि कृष्णं सरामम् ॥ ४ ॥
क शास्त्रं गीताख्यं हरिमुखसरोजाद्विगलितं क चास्माकं बुद्धिर्विषयविषपङ्के निपतिता ॥
तथापि श्रीकान्तप्रचुरगुणलक्ष्मीविरचितं कटाक्षं स्वच्छाच्छं ह्यनुसृतवतां किं न सुलभम् ॥५॥
इदं गीताशास्त्रं परमपुरुषार्थैकनिलयं त्रिकाण्डं वेदार्थं सकलमिह संगृह्य कथितम् ॥
स्वयं श्रीकृष्णेन श्रुतिविशदतत्त्वेन विभुना जगद्धधात्राज्ञानाच्छुतमपि फलत्येव सुधियाम् ॥ ६ ॥
कृतिभिरपि कृतं यत्र प्रशंसन्ति लोके किमु मितमतिनेदाहं प्रवृत्तस्तथापि ॥
मम भवतु कथंचित्कृष्णपादेऽनुरागस्त्विति मनसि निधाय क्षन्तुमर्हन्ति सन्तः ॥ ७ ॥
नरत्वमाप्य सप्रयत्नामयं विरम्य भोगेभ्य इदं विलोक्यताम् ॥
यदाशयं कृष्णमशेषसाक्षिणं स्वयं विदित्वा कृतिनः कृतैरलम् ॥ ८ ॥
गीताशास्त्रमगाधमन्धहृदयश्रीमन्मुकुन्दानना-
म्भोजान्निःसृतमात्मतत्त्वमतिभिर्व्याख्यातमत्यादरात् ॥

गद्यैस्तद्धृदयं विलोड्य सुगमैः पद्यैः सदानन्दवि-
श्चक्रे तद्विवृतिं स्वमङ्गलकृते भावप्रकाशाभिधाम् ॥ ९ ॥

गीताभावप्रकाशः श्रीसदानन्देन निर्मितः ॥
श्रीमत्कृष्णपदाम्भोजसेवामुद्दिश्य केवलम् ॥ १० ॥

दीनबन्धुः कृपासिन्धुः सुखाराध्यो जगत्पतिः ॥
प्रीयतां तेन भगवान् श्रीकृष्णो भक्तवत्सलः ॥ ११ ॥

मुनिगुणवसुचन्द्रे विक्रमादित्यराज्याच्छुभफलवति वर्षे माघमासे सितेंऽशे ॥
पशुपतितिथिसंघौ चन्द्रवारे सुलग्ने विवृत इति निबन्धः सिद्ध ईशप्रसादात् ॥ १२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताभावप्रकाशे सारस्वतवंशावतंसश्रीसदानन्दविदुषा विरचिते
गीतार्थनिष्ठात्रयोपसंहारवर्णनं नामाष्टादशोऽध्यायः ।

टीका-श्लोकसंख्या ॥ ६८९ ॥ आदितष्टीकाश्लोकसंख्या ॥ ९२१९ ॥

संवादस्य प्रामाण्यार्थं जयाशाशातनार्थं च परमसु-
भा० टी०—द्वयोरपि कृष्णार्जुनयोः नरनारायणयोः योगेश्वरो योगानां कर्मयोगादीनामघटितघटनापटीयसीनां माया-
स्वरूपं दर्शयति—यत्रेति । यत्र यस्मिन्पक्षे 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः । तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधी-
शक्तीनां चेश्वरः कृष्णः सच्चिदानन्दघनोऽपाकर्षणश्च यत्र यस्मिन्पक्षे, यत्र च पार्थोऽर्जुनो धनुर्धरो गाण्डीवधन्वाऽस्ति,
यते' इत्युक्तः श्रीः लक्ष्मीः, विजयः परम उत्कर्षः, विभूतिः गजादिरूपेण श्रियो विस्तारः, ध्रुवा-
तत्र तस्मिन्पाण्डवानां पक्षे नीतिः नयः—एतत्सर्वं तस्मिन्पक्षेऽस्तीति मम मतिः निश्चयः॥७८॥
ऽव्यभिचारिणीति सर्वत्र संबन्धनीयम् ।

एतत्संप्रदायप्रवर्तकादेरना-
तदनेनाष्टादशाध्यायेन समस्तगीताशास्त्रार्थं विस्तरतः संक्षेपतश्चोपसंहृत्य परमेश्वराराधनलक्षणेन शुद्धचित्तस्य
यासेन सर्वशास्त्रज्ञानफलं कैवल्यं भवतीति प्रकाशितम् । निष्कामकर्मणां तत्त्वसाक्षात्कारात्केवलादन्यनिरपेक्षान्मोक्ष
भक्तिवशीकृतपरमेश्वरस्य लब्धतत्प्रसादस्य तत्त्वज्ञानाधिकारिणः भस्मसात्कुरुते तथा ।'''नहि ज्ञानेन सदृशं
इति गीताशास्त्रार्थसंग्रहः । तथाहि—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि 'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्म-
पवित्रमिह विद्यते ।''''ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति', 'अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्', 'ज्ञान-
षाः', 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः', 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतम-
वान्मां प्रपद्यते', 'ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्', 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्य-
श्नुते' इत्यादिना तत्त्वज्ञानस्यैव मोक्षानन्यसाधनत्वेनोक्तत्वात् 'चतुर्विधा भजन्ते माम्''''आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरत-
या' इत्यत्र भक्तिपदं तु ज्ञानलक्षणभक्तिपरम्, 'एकभक्तिर्विशिष्यते' इत्यत्र ज्ञानलक्षणायाः भक्तेरुक्तत्वात् । अन्यथा ज्ञानल-
र्षभ ॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त 'भक्त्या मामभिजानाति' इत्यादौ भेदनिर्देशस्तु 'ज्ञानेन तु
भ्यो भक्तिलभ्य इत्युक्ते परस्परविरोधः स्यात् । तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्' इत्यादिवत् बोध्यः । यत्रापि
तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः । तत्रापि ज्ञानद्वारेति व्याख्येयं, ज्ञानस्य श्रुतियुक्तिसिद्धमोक्षानन्यसाधन-
भक्तिपदं ज्ञानेतरसाधनभक्तिपरं, 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परा-
त्वस्य त्यागायोगात् । तथाच श्रुतयः—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि', तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मा-
वरे', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन', 'त्वं हि नः पिता योऽस्माकमवि-
स्मीति', 'तस्मात्तत्सर्वमभवत्तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः', 'तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा
द्यायाः परं पारं तारयसि', 'श्रुतꣳह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु', 'तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः', 'तमेव वि-'

दित्वाऽतिमृत्युमेति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्', 'ऋते ज्ञानान्न मोक्षः' इत्येवमाद्या अज्ञानपरिकल्पितस्य संसारस्य ज्ञानेनैव निवृत्तिर्युक्ता, न तु कर्मणा, उपास्तिक्रियया वा, तथा सति मोक्षस्यानित्यत्वं, सातिशयत्वं च प्रसज्येत इत्यन्यत्र विस्तरः। एतेनोपासनायाः साक्षान्मोक्षसाधनत्वं ज्ञानस्य चावान्तरव्यापाररूपत्वं च वदतामपरेषामुक्तिर्निरस्ता। वेदान्तडिण्डिमेषु मोक्षानन्यसाधनत्वेन प्रसिद्धस्य तत्त्वज्ञानस्यावान्तरव्यापाररूपत्वप्रदर्शनानौचित्यात्। अन्यथा मुख्यफलस्याप्यवान्तरव्यापारत्वकल्पनायाम् 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' इत्युक्तत्वात्कर्मैव साक्षान्मोक्षसाधनं भक्तिर्ज्ञानं चावान्तरव्यापार इत्यपि कुतो न स्यादित्यास्तां तावत्॥

आज्ञया भाष्यकाराणां तैर्दत्ताभिः सुयुक्तिभिः। आपातरम्यव्याख्यानां मया निरसनं कृतम्॥१॥
जयरामाख्यकृतिभिः शास्त्राभिज्ञैः सुसाधुभिः। विरक्तैरतिरक्तैश्च रामे कृष्णे शिवेऽद्वये॥२॥
प्रेरितः कृतवान् गीताभाष्यस्योत्कर्षदीपिकाम्। सद्भिर्विलोक्यतां सम्यक् प्रमादः क्षम्यतां बुधैः॥३॥
क्षेत्रादन्यमनादिमध्यनिधनं सत्त्वादिसत्ताप्रदं लभ्यं संसृतिवृक्षच्छेदनपरैर्युक्तैः सदा संपदा।
सद्यज्ञाविदिभूतमानसमलैर्गीताख्यशास्त्रार्थगैर्वन्दे स्वात्मसुखाप्तये शिवमहं कृष्णं परं केवलम्॥४॥
कृत्या धनपतेः कृष्णः प्रीयतां परमेश्वरः। शिवाख्यः कृष्णसंज्ञश्च शिवः सर्वेश्वरेश्वरः॥५॥
रामेष्वहीन्दुसंवत्सरस्य प्रभवसंज्ञिनः। फाल्गुने कृष्णपञ्चम्यां गुरौ सिद्धा गुराविय॥६॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीबालस्वामिशिष्यदत्तवंशावतंसरामकुमारसूनुधनपतिविदुषा सारस्वतेन विरचितायां गीताभाष्योत्कर्षदीपिकायामष्टादशोऽध्यायः॥१८॥

प० टी०—अतः परं तव पुत्राणां जीवनसंदेहः, किं पुना राज्यप्राप्तिरिति मनसा विचार्य पाण्डवेभ्यः सर्वस्वं दत्त्वा श्रीकृष्णं शरणं गत्वा प्राणसंरक्षणं कार्यमित्याशयेनाह—यत्रेति। यत्र येषां पक्षे योगमायेश्वरः कृष्णो वर्तते। टिप्पणिकासु—कर्षणेन मनोभूमेर्निवृत्तिः फलमाप्यते। कृष्णनाम्ना समाम्नातस्तस्मात्त्वं देव ईदृशः॥' इति। यत्र च तत्पक्षपातसाधितसकलपुरुषार्थः पार्थो धनुर्धरो गाण्डीवधन्वा परमेश्वरस्य विभूतिर्वर्तते तत्रैव श्रीराज्यलक्ष्मीस्तत्रैव विजयस्तत्रैव भूतिरुत्तरोत्तरैश्वर्यं तत्रैव ध्रुवाचला नीतिर्नयमार्गः। न त्वन्यायिनां तव पुत्राणां लाक्षागृहे गरदानभ्रातृजायावस्त्राहरणादिकूटकारिणामिति मे मतिर्निश्चयः। तदुक्तं भारते आदिपर्वणि धृतराष्ट्रं प्रति संजयेन 'तव पुत्रा दुरात्मानः प्रतप्ताश्चैव मन्युना। लुब्धा दुर्वृत्तभूयिष्ठा न तान् शोचितुमर्हसि॥' इति। तथारण्यकेऽपि 'द्रौपदीहरणे भग्नो युधि राजा जयद्रथः। शिवं प्रसाद्य तपसा ययौ च जयमर्जुनात्॥ इति राजा ब्रवीद्देवं नेति देवस्तमब्रवीत्। ऋतेऽर्जुनं महाबाहुं देवैरपि दुरुत्सहम्॥ यमाहुरजितं देवं शङ्खचक्रगदाधरम्। प्रधानं शास्त्रविदुष तेन कृष्णेन रक्षितम्॥' इति॥७८॥

अथ संजयस्य धृतराष्ट्रस्य च हार्दं व्याख्यायते।

यो लाक्षावेश्मदाहादतिविषमविषाद्विप्रशापाद्वनान्ते
दुष्ट्यूतात्सभायां युवतिपरिभवात्सञ्जुगोप स्वभक्तान्॥
दूतः सूतश्च भूत्वा स युधि निजजने किं करिष्यत्युपेक्षां
सत्येवं तावकानां त्रिगुणहतधियां जीवितेच्छाऽधुनापि॥१॥
उपनिषदुपदेशतीक्ष्णबाणैर्हृदि वसतोऽपि जघान यः सपत्नान्॥
स्वचरणशरणस्य पाण्डुसूनोः स च किमु न प्रभवेन्निहन्तुमेतान्॥२॥
कृष्णोऽखिलप्रलयहेतुरचिन्त्यशक्तिः शत्रेषु तेन तनयेषु कियान् पुमर्थः॥
पार्थस्य वा निहतमारणके तु पुण्यं पुण्यैर्यशो भवति संजय नार्जवेन॥३॥

रणे मरणमस्ति चेच्छरणमागवैः किं भवेत्ततोऽपि यदि जीवनं किमु तदच्युतोक्तिर्मृषा ॥
अथाऽपि यदि जीव्यते परमतो मृतिर्भूभुजामिदं मनसि चिन्तयन्, कुरुपिताऽथ तूष्णीमभूत् ॥४॥

अथाध्यायतात्पर्यम्—

अध्यायैर्यश्च सप्ताधिकदशभिरभिप्राय उक्तः क्रमेण
संन्यासत्यागपूर्वत्रिविधमतिधृतिज्ञानकर्तृक्रियादिः ॥
ब्रह्मप्राप्त्युपायः पुनरपि गदितोऽष्टादशे संग्रहार्थं
पार्थस्तेनोद्विग्नत्तु समरकृते त्यक्तसंदेहजातः ॥ १ ॥

जयति समरवीर्णामत्र साक्षाद्वर्णा सदसि द्रुपदकन्या कुर्वता वस्त्रशून्याम् ॥
रणभुवि निहतानामप्यभूदुद्धतानां यदुपतिनिगुप्ताना रौरवः कौरवाणाम् ॥ १ ॥
रणशिरसि शरौघैर्धार्तराष्ट्रानमोघैस्तदनुगजनभीष्मद्रोणकर्णांश्च हत्वा ॥
फलितविजयलक्ष्मीर्यादवेशोपदेशादधिगतपरमार्थः पार्थ आसीत्कृतार्थः ॥ २ ॥

छन्दःसंदर्भगर्भप्रभुगहनगिरामृग्यजुःसामसीमा—
मीमांसामांसलान्तःकरणपरिणमत्संगतीनां गतिः क ॥
कास्माकं धीरधीरा तदपि रचयितुं भाष्यमुद्योगभाजा
प्रागल्भ्यं डिम्भवाचामिव कुतुकरताः क्षन्तुमर्हन्तु सन्तः ॥ ३ ॥

अभिप्रायः प्रायः सकलनिगमानामधिगतः सुधीभिर्यैर्यं स्तुर्भगवदनुकम्पाश्रयवशात् ॥
चिरं सान्द्रानन्दानुभवरसिकास्तत्र सुजनाः सुविश्रान्तिं यान्ति प्रसभमपरे नेह विरतौ ॥४॥
गभीराभिप्रायान् सुगमवचनैरुद्धृतवता कवीनां स्वमन्ये भवति बहुविस्तारणभयम् ॥
कृते सूत्रप्राये दुरधिगमता दूषणमतः सविस्तारः श्लाघ्यः शमयति हि यः संशयभरम् ॥५॥
विदित्वा वेदार्थं दशवदनवाणीपरिणतं शतश्लोकव्याख्या परमरमणीयामकरवम् ॥
ततो गीताभाष्यं निखिल निगमार्थैकनिलयं विधिज्ञार्यः सूर्यो नृहरिकरुणापाङ्गशरणः ॥६॥
गोदोदत्तदपूर्णतीर्थनिकटे पार्थाभिधानं पुरं तत्र ज्योतिषिरान्वये समभवच्छ्रीज्ञानराजाभिधः ॥
तत्सूनुर्निगमागमार्थनिपुणः सूर्याभिधानः कविः कृष्णप्रेरणया तदर्पणधिया गीतार्थभाष्यं व्यधात् ॥७॥

इति श्रीमद्दैवज्ञपण्डितसूर्यविरचितायां भगवद्गीताटीकायां परमार्थप्रपायां सकल-
गीतार्थसंग्रहे ब्रह्मार्पणसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

रा० टी०—युद्धकरणनिश्चयं श्रुतवतो राज्ञः कुत्र जयादिरिति हृद्गतराज्ञा निराह संजय—यत्रेति। यत्र सेनायां योगीश्वरः सर्वोपायवता स्वामी, तत्र श्रीः राज्यलक्ष्मीर्भूतिः संपत् नीतिर्न्यायः ध्रुवा निश्चलेति मम मतिः निश्चय इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अशेषगुणपूर्णाय दोषदूराय विष्णवे। नमः श्रीप्राणनाथाय भक्ताभीष्टप्रदायिने ॥ १ ॥
इति श्रीकृष्णगीताभाष्याद्युक्तार्थसंग्रहः। राघवेन्द्रेण यतिना कृतः सज्जनसंविदे ॥ २ ॥

इति श्रीमत्सर्वतन्त्रस्वतन्त्रसुधीन्द्रपूज्यपादशिष्येण राघवेन्द्रेण कृते श्रीमद्गीतार्थसंग्रहे
अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इति तत्त्वप्रकाशिकाद्यष्टटीकोपेता
श्रीमद्भगवद्गीता समाप्ता।